-भारतीय अनुशीलन-

0152cM63
G4

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

0152wM63 8496
G4
Mishra, Shyambahadur,
shilan

0152ওM63
G4

14/13 8496

SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR
(LIBRARY)
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

❁❁❁❁❁

Please return this volume on or before the date last stamped
Overdue volume will be charged 1/- per day.

चितामेली —

·१६:)

महामहोपाध्याय

गौरीशंकर हीराचंद ओझा

के सम्मान में समर्पित

भारतीय अनुशीलन-ग्रन्थ

"उचित प्रति"
पं. वीरभद्र शर्मा जी को लिए

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग
१९९०

प्रकाशक
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन
प्रयाग

0152w-M63
G4

I JAGADGURU VISHWARADHYA
ANA SIMHASAN JNANAMANDAL
LIBRARY
Jangamwadi Math, Varanasi
ACC No. 8496

मुद्रक
के० मित्र द्वारा इंडियन प्रेस, लिमिटेड
प्रयाग

ज्ञानसिंहासन
जंगमवाडीमठ - काशी

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा
[७०वें वर्ष की पूर्ति पर]

महामहोपाध्याय

गौरीशंकर हीराचंद ओझा

के करकमलों में

उन के ७०वें वर्ष की पूर्त्ति के उपलक्ष में
उन के देश-विदेश के मित्रों, सहयोगियों और शिष्यों के
ये अनुशीलन

अनेक मंगल-कामनाओं के साथ

समर्पित

११ चैत्र, सं० १९९०
२३वाँ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, दिल्ली

प्राक्कथन

यह ओझा-अभिनन्दन-ग्रन्थ सर्व-साधारण, विशेषतः हिन्दीमर्मज्ञ जनता, के सम्मुख उपस्थित करने में मुझे वर्णनातीत हर्ष हो रहा है। मेरे प्राचीन एवं प्रतिष्ठित मित्र महामहोपाध्याय रायबहादुर पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा ने हिन्दी एवं विद्वत्ता की जो कुछ प्रकाण्ड सेवा की है वह केवल हिन्दी-संसार ही क्यों बरन भारतीय एवं योरोपीय विद्वन्मण्डली को भी भली भाँति विदित है। उस का बहुत-कुछ परिचय इस ग्रन्थ-रत्न के अवलोकन से सूक्ष्मरीत्या मिल जायगा और यह भी प्रकट होगा कि विद्वानों में ओझा जी का कैसा मान है। मेरे सभापतित्व में दिसम्बर १९३२ में जो अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की बैठक ग्वालियर में हुई उस अवसर पर यह प्रस्ताव पास हुआ कि ओझा जी की आयु के ७० वें वर्ष की पूर्ति के उपलक्ष्य में सम्मेलन के अगले अधिवेशन पर उन्हें भारतीय और विदेशी विद्वानों के सहयोग से एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जाय। उक्त ग्रन्थ के आयोजन और सम्पादन के लिए सम्मेलन ने छः सज्जनों की एक उपसमिति नियुक्त की जिस के संयोजक का काम प्रोफ़ेसर जयचन्द्र जी विद्यालंकार को दिया गया।

विद्यालंकार जी ने इस महत् कार्य्य में किस योग्यता और उत्साह से काम किया इस का परिचय मुझे इस कारण से बहुत-कुछ हो सका कि सम्मेलन के तत्कालीन सभापति के नाते से प्रायः समस्त साल भर बरन कुछ अधिक समय तक अपीलों, पत्रों इत्यादि पर मुझे निरन्तर हस्ताक्षर करना पड़ा और कभी कभी मैंने उन में कुछ अपनी ओर से भी बढ़ा देने की धृष्टता की। हर्ष का विषय है कि जैसे एतद्देशीय एवं विदेशी विद्वानों ने इस ग्रन्थ के लिए उत्तमोत्तम और महत्त्व-पूर्ण लेख भेजे वैसे ही राजा-महाराजाओं के साथ अनेक धनी-मानी मनुष्यों तथा सर्वसाधारण ने भी अच्छी आर्थिक सहायता की, जिस से ग्रन्थ समय पर आप लोगों की सेवा में उपस्थित हो सका। कहना न होगा कि यदि हमारे रईस एवं अन्य धनी भाई कुछ विशेष उदारता से तथा अधिक संख्या में आर्थिक सहायता करने की अनुकम्पा दिखाते तो कार्य्यकर्त्ताओं को समय समय पर कुछ भी कष्ट उठाना न पड़ता। अस्तु, जैसे-तैसे काम चल ही गया और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पिछले (दिल्ली वाले) अधिवेशन के अवसर पर (जिस में मैं भी उपस्थित था) श्रीमान् ओझा जी के कर-कमलों में इस ग्रन्थ की एक प्रति समर्पित की जा सकी। पं० जयचन्द्र जी विद्यालंकार भी वहाँ थे और उन्हों ने अपनी वक्तृता में ग्रन्थ के उपस्थित करने में जो कुछ कठिनाइयाँ पड़ी थीं तथा उस में कौन कौन विशिष्ट बातें हैं इन का रोचक वर्णन किया।

किन किन विद्वानों ने इस ग्रन्थ के लिए कौन कौन से, किन विषयों पर लेख दिये इस के विशेष वर्णन की आवश्यकता नहीं क्योंकि पाठक-गण उसे आप ही देख लेंगे। मैं समझता हूँ कि मित्रवर ओझा जी के उत्कट पाण्डित्य, पुरातत्व-ज्ञान एवं व्यक्तित्व का ही यह फल है कि हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती,

उड़िया, आसमिया, सिंहली, मलयालम, फ़ारसी, अँगरेज़ी, जर्मन, अमेरिकन, ओलन्देज़, फ्रेंच, स्वीड तथा रूसी विद्वानों ने ऐसे ऐसे उत्कृष्ट लेख दे कर इस ग्रन्थ-रत्न की शोभा बढ़ाई है। इन के विषय बहुत गम्भीर हैं एवं ढंग गवेषणा-पूर्ण और महत्त्वगर्भित हैं। वैदिक एवं पिछले प्राचीन काल से ले कर वर्तमान समय तक की बातें इन में आई हैं और अवश्य ही इन के अवलोकन से हिन्दी-रसिकों की ज्ञान-वृद्धि होगी। जैसी कि आशा की जा सकती थी यह ग्रन्थ वास्तव में हिन्दी-भण्डार का एक बड़ा ही देदीप्यमान रत्न होगा और सभी हिन्दी-रसिकों को इस का ध्यानपूर्वक पठन एवं मनन करना चाहिए। "को बड़ छोट कहत अपराधू" के भय से हम किसी लेखक अथवा लेखविशेष का विशिष्ट वर्णन करना उचित नहीं समझते। ग्रन्थावलोकन से पाठकों को इस का भान आप ही हो जायगा। तो भी इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि इस में कम से कम एक दर्जन लेख बड़े ही उच्च श्रेणी के हैं और ऐसा लेख एक भी नहीं जिस में कुछ न कुछ विशेषताएँ अथवा महत्त्व की सामग्री न हो।

जिन महानुभावों ने दान दे कर इस महत् कार्य्य में सहायता की है उन के शुभ नाम अन्यत्र मिलेंगे। इन महानुभावों की उदारता के विना कुछ हो ही नहीं सकता था और ये हिन्दी-रसिकों के विशेष धन्यवाद-पात्र हैं। इन में प्रायः सर्वोच्च दान देने वाले एक-दो ऐसे महापुरुष हैं जिन्हों ने इतनी उदारता दिखलाते हुए भी अपना कुछ भी पता एवं नाम तक प्रकट नहीं किया। ऐसे दानियों से भारत का शिर अब भी ऊँचा है।

ग्रन्थ-सम्पादन का मुख्य काम भी श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार ने ही बड़ी योग्यता से सँभाला और पूरा किया। विद्वान सम्पादकों की इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। आप महानुभावों के उत्साह एवं निरन्तर उद्योग के विना इस में सफलता प्राप्त होना प्रायः असम्भव हो जाता। इन्हें इस कार्य्य में जो जो सहायताएँ मिलीं एवं कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं उन का कुछ विस्तृत वर्णन "वस्तु-कथा" नामक सम्पादकीय भूमिका में लिखा गया है। अपनी तथा पाठकों की ओर से विद्यालंकार जी एवं अन्य सम्पादकों तथा लेखकों और सहायकों को भूरि भूरि धन्यवाद देते हुए हम इस वक्तव्य को यहीं समाप्त करते हैं।

श्यामबिहारी मिश्र
(रावराजा, रायबहादुर)
तत्कालीन सभापति हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन।

गोलागंज, लखनऊ
रविवार, ज्येष्ठ कृ०
६ संवत् १९९१,
ता० ३-६-१९३४,

वस्तु-कथा

महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपना जीवन भारतीय इतिहास की खोज के लिए अर्पित किया है। वे हम लोगों के बुजुर्ग हैं। अपनी सब रचनायें उन्हों ने हिन्दी में ही की हैं। उन्हें एक ग्रन्थ भेंट करने का प्रस्ताव कर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने एक शुभ अनुष्ठान किया। इस ग्रन्थ के द्वारा ओझा जी के अनेक मित्रों और सहयोगियों को उन्हें पत्र-पुष्प भेंट करने का अवसर मिला है। इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य सम्मेलन ने हमें सौंपा। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (२२ वें अधिवेशन, ग्वालियर) का वह प्रस्ताव इस प्रकार था :—

"यह सम्मेलन निश्चय करता है कि प्रसिद्ध भारतीय ऐतिहासिक और पुरातत्ववेत्ता रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा की आयु के ७० वें वर्ष की पूर्ति के उपलक्ष्य में सम्मेलन के अगले अधिवेशन पर उन्हें भारतीय और विदेशी विद्वानों के सहयोग से एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जाय। उस ग्रन्थ के आयोजन और सम्पादन के लिए सम्मेलन निम्नलिखित सज्जनों की एक उपसमिति नियुक्त करता है :—

१. श्रीयुत काशीप्रसाद जी जायसवाल
२. ,, दीवानबहादुर हरविलास जी सारडा
३. ,, रायबहादुर हीरालाल जी
४. ,, सरदार माधव विनायक किबे
५. ,, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
६. ,, प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार (संयोजक)।"

सम्मेलन में यह प्रस्ताव आने से पहिले भी हीरालाल, हरविलास, काशीप्रसाद और जयचन्द्र ने इस विषय पर परस्पर परामर्श किया था। सम्मेलन के प्रधानमंत्री पं० रमाकान्त मालवीय ने कार्य में बड़ी रुचि दिखलाई, इसी से यह प्रस्ताव सम्मेलन में उपस्थित हुआ। प्रस्ताव की सूचना पाने पर माधवराव किबे और सुनीति चटर्जी ने भी सहर्ष अपना सहयोग दिया।

जनवरी १९३३ में काशीप्रसाद और जयचन्द्र ने पटना में मिल कर तथा अन्य सदस्यों से पत्रों-द्वारा परामर्श कर के ग्रन्थ की योजना निश्चित की। यह निश्चय हुआ कि ग्रन्थ में केवल भारतीय खोज-विषयक लेख हों, वे लेख चाहे किसी भी भाषा में हों, और भारतीय भाषाओं के सब लेख नागरी लिपि में छापे जायँ। इस के अनुसार विद्वानों से लेख माँगे गये। देश-विदेश के विद्वानों से हमें जो सहयोग मिला, वह बहुत ही उत्साहजनक था।

जर्मनी से तीन लेख हमें इण्डिया इन्स्टिट्यूट ऑफ़ डायूशे एकाडमी की कृपा से प्राप्त हुए हैं, इसी प्रकार श्रीयुत दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य का लेख वरेन्द्र-अनुसन्धान-समिति राजशाही की कृपा से। हम इन संस्थाओं के

बड़े कृतज्ञ हैं, और विशेष कर इण्डिया इन्स्टीट्यूट के मंत्री डा० फ़ांत्स थियरफ़ेल्डर के। जर्मनी से आने वाले तीन लेखों में से दो अँगरेज़ी में थे, और उन के विषय में हमें आदेश मिला था कि उन का हिन्दी अनुवाद छापा जाय। गिरनार अभिलेखों के बीच ओझा जी का जो पुराना चित्र दिया गया है वह श्रीयुत चिरंजीलाल नाथूलाल व्यास की कृपा से मिला है।

इच्छा रहते हुए भी बीमारी बुढ़ापे आदि के कारण कुछ विद्वान् इस कार्य में सम्मिलित न हो सके, उन्हों ने अपनी शुभकामनायें भेजीं। उन में से विशेष उल्लेखयोग्य नाम सिंहल के श्रीयुत विक्रमसिंह, इँग्लैण्ड के सर एडवर्ड गेट, सर ज्यॉर्ज ग्रियर्सन, डा० टर्नर, धूलिया (खानदेश) के पं० श्रीधरशास्त्री पाठक, नेपाल के राजगुरु श्रीयुत हेमराज पंडितज्यू तथा तोकियो के प्रो० गामो के हैं।

समूची समिति की बैठक कभी एक स्थान पर नहीं हुई, पर जब तब मिल कर तथा पत्रों द्वारा हम लोग इस ग्रन्थ के सम्पादन के विषय में बराबर परामर्श करते रहे हैं। जनवरी १९३३ में काशीप्रसाद और जयचन्द्र पटना में मिले, फ़रवरी में किबे और जयचन्द्र इन्दौर में, अप्रैल में हरविलास और जयचन्द्र दिल्ली में, मई में हीरालाल, काशीप्रसाद और जयचन्द्र काशी में, सितम्बर में काशीप्रसाद और जयचन्द्र प्रयाग में, दिसम्बर में हीरालाल, काशीप्रसाद, सुनीति और जयचन्द्र बड़ौदा में।

सितम्बर में पं० रमाकान्त मालवीय के प्रयाग से चले जाने और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कार्य छोड़ देने से कठिनाई उपस्थित हुई। उन के उत्तराधिकारियों ने ग्रन्थ के ख़र्च जुटाने का दायित्व लेने से इनकार कर दिया; तब आगरा के अध्यापक रामरत्न जी तथा इस समिति के संयोजक ने वह दायित्व अपने ऊपर लिया।

हमें आर्थिक सहायता दिलवाने का जिन सज्जनों ने विशेष उद्योग किया उन में से सीतामऊ के महाराजकुमार श्री रघुवीरसिंह जी एम० ए०, एल० एल० बी० का, जो स्वयं एक होनहार ऐतिहासिक हैं, डूँगरपुर के महाराजा साहब श्री नागेन्द्रसिंह जी का, इन्दौर राज्य के प्रधान-मंत्री वज़ीरुद्दौला रा० ब० श्री सिरेमल जी बापना बी० ए०, बी० एस-सी०, एल० एल० बी०, सी० आई० ई० का, और अजमेर के श्रीयुत किशनलाल दुर्गाशंकर दुबे तथा श्रीयुत नाथूलाल भगीरथ व्यास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सब सज्जनों के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। सहायता देने वाले महानुभावों की सूची अलग प्रकाशित की जा रही है। इण्डियन प्रेस प्रयाग के मालिकों और संचालकों के भी हम अनुगृहीत हैं कि उन्हों ने रियायती दर पर हमारा ग्रन्थ छापना स्वीकार किया।

प्रेस में ग्रन्थ के सम्पादन के लिए श्रीयुत वीरसेन मेहता विद्यालंकार नियुक्त किये गये। प्रो० हाउअर तथा प्रो० स्ट्रॉस के लेखों के अनुवाद तथा अधिकांश लेखों के हिन्दी सार श्रीयुत वीरसेन ही के किये हुए हैं। भाषातत्व-विभाग के अँगरेज़ी लेखों के सारों का हिन्दी अनुवाद श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा ने करने की कृपा की है। विभिन्न भाषाओं से नागरी लिप्यन्तर और अनुवाद करने के काम में निम्नलिखित सज्जनों और संस्थाओं ने सहायता देने की कृपा की है।

बँगला—श्री नारायणदत्त पाण्डेय, बी० ए०, प्रयाग।
श्री अमलानन्द घोष, एम० ए०, प्रयाग।
श्री जयगोपाल चट्टोपाध्याय एम० ए०, प्रयाग।

उड़िया—श्री शरच्चन्द्र पटनायक, गोरखपुर।
श्री सामन्त राय, बी० एस-सी०, प्रयाग।
सिंहली—श्री अभयसिंह पेरेरा, काशी।
मलयालम—दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा, मद्रास।
फ़ारसी—श्री मुहम्मद नैमुर्रहमान, एम० ए०, प्रयाग।
,, मुहम्मद गुलाम क़ादिर, बी० ए०, प्रयाग।
जर्मन—श्री पाउल हूगो तेओदोर तेमि, प्रयाग।
श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय एम० ए०, प्रयाग।

रूसी लेख का अँगरेज़ी सार लिख देने की कृपा कलकत्ता-विश्वविद्यालय के अरबी-फ़ारसी विभाग के श्रीयुत बोग्दानोव ने की है। श्रीयुत अभयसिंह पेरेरा, श्रीयुत नैमुर्रहमान तथा श्री अमलानन्द घोष ने सिंहल, फ़ारसी और जर्मन लेखों के प्रूफ़ देखने की भी कृपा की है।

दूसरी भाषाओं के कई उच्चारणों के लिए जो नये संकेत हम ने नागरी में बनाये हैं, वे अभी केवल काम-चलाऊ हैं; हम उन्हें पूर्ण और परिपक्व नहीं कहते। इस अंश में और खोज तथा अध्ययन की आवश्यकता है। हमें खेद है कि फ़ारसी से नागरी में लिप्यन्तर आधुनिक जीवित फ़ारसी उच्चारण के अनुसार नहीं हो सका, प्रत्युत फ़ारसी के भारत में प्रचलित उच्चारण के अनुसार हुआ है। श्रीयुत नैमुर्रहमान की सहायता यदि हमें पहले मिल गई होती तो यह त्रुटि न रहने पाती। बँगला और आसमिया से नागरी लिप्यन्तर करने में उन भाषाओं की लिखावट का अनुसरण किया गया है न कि उच्चारण का। किन्तु इस सम्बन्ध में सुनीति चटर्जी ने निम्नलिखित नियम बना दिये थे—

(१) तद्भव शब्दों में—
'य' के बजाय 'ज' और 'व' के बजाय 'ब' लिखा जाय, जैसे 'याइव' के बजाय 'जाइब', 'याय' के बजाय 'जाय'।

(२) तद्भव भाव-वाची शब्दों के अन्त में 'या' के बजाय 'आ' लिखा जाय, जैसे 'याओया' के बजाय 'जाओआ'।

इन अंशों में बँगला और आसमिया का नागरी लिप्यन्तर उच्चारणानुसार किया गया है।

समिति के मंत्री का ध्यान ख़र्च जुटाने में लग जाने से तथा आर्थिक सहायता आने में देर होने से, ग्रन्थ के सम्पादन में अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की तरफ़ से छपाई आदि का प्रबन्ध बहुत देर में होने के कारण लेखकों के पास प्रूफ़ भेजने को समय नहीं रहा। जनवरी १९३४ के अन्त में प्रेस के साथ प्रबन्ध हो पाया और वास्तविक छपाई ५ मार्च से शुरू हुई। २५ मार्च को ग्रन्थ दिल्ली में ओझा जी को भेंट किया जाने को था। इस दौड़-धूप में छपाई की बहुत भूलचूक रह गई, जिस के लिए हमें अत्यन्त खेद है। हमें विशेष कर उन लेखकों से क्षमा माँगना है जिन्हों ने हमें प्रूफ़ भेजने का आदेश दिया था।

२४ मार्च की संन्ध्या तक ग्रन्थ के पूर्ण हो जाने का सब प्रबन्ध कर लिया गया था; परन्तु अन्तिम दिनों हमें सूचना मिली कि राजपूताना के दो तीन और राज्य ग्रन्थ की सहायता में योग देना चाहते हैं; इस लिए सहायता की सूची और प्रस्तावना आदि छपाये बिना तथा कुछ लेखों की छपाई भी स्थगित कर के ग्रन्थ की एक

प्रति तैयार की गई और वही १२ चैत्र सं० १९९० (२६ मार्च सन् १९३४ ई०) को दिल्ली में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के २३ वें अधिवेशन में ओझा जी को भेंट की गई।

इस ग्रन्थ से एक नई पद्धति स्थापित हो रही है। विभिन्नभाषी भारतीय विद्वान् अभी तक एक दूसरे की कृति अँगरेज़ी में पढ़ते हैं। परन्तु इस ग्रन्थ से प्रकट होगा कि वे अपनी-अपनी भाषा में लिखें, और उन के लेखों का केवल नागरी लिप्यन्तर कर दिया जाय तो थोड़े ही यत्न से वे एक दूसरे का अभिप्राय समझ सकते हैं। गत वर्ष के आरम्भ में जब हम ने इस शैली का प्रस्ताव किया, तभी बहुत से विद्वानों ने इस का स्वागत किया और अनेक ने स्वयं अपने लेख नागरी में लिख कर भेजे। अनेक महाराष्ट्र, बंगाली और गुजराती विद्वानों ने हिन्दी में ही अपने लेख दिए हैं। भारतीय विद्वानों में अपने विचारों के परस्पर आदान-प्रदान की यह पद्धति क्रमशः पुष्ट होती जाय तो हमारा प्रयत्न सफल होगा। जिन ओझा जी ने आधुनिक हिन्दी में इतिहास-ग्रन्थ लिखने की शैली पहले-पहल चलाई है, उन्हीं के सम्मान में समर्पित इस ग्रन्थ से इस नई पद्धति का सूत्रपात होना आशाप्रद और मंगल-मूलक है।

हीरालाल,
हरविलास सारडा,
का० प्र० जायसवाल,
मा० वि० किबे,
श्री सुनीतकुमार चटर्जी,
जयचन्द्र नारङ्ग ।

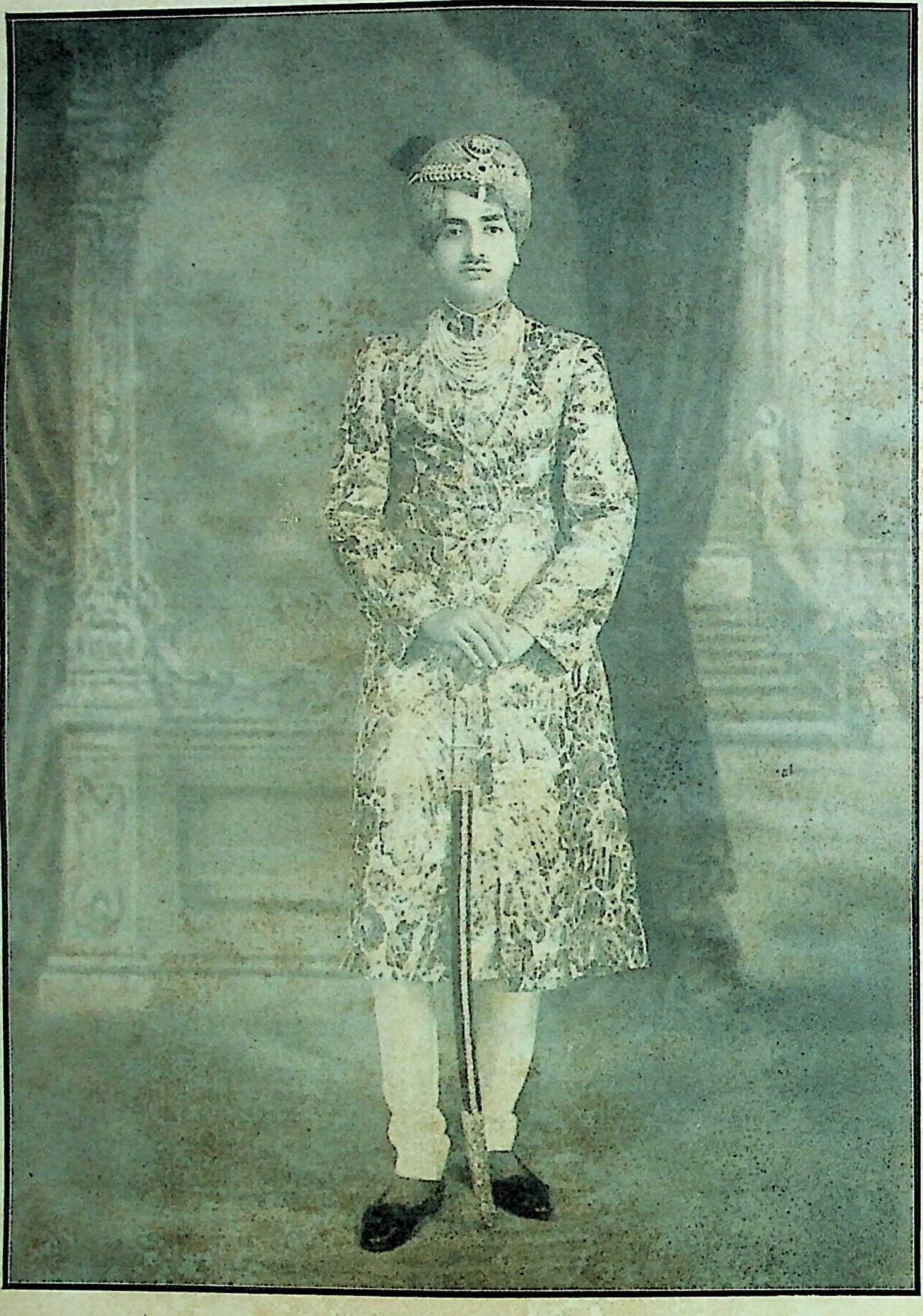

श्रीमान् हिज़ हाइनेस रायरायाँ महाराजाधिराज महारावलजी श्री लक्ष्मणसिंहजी बहादुर डूंगरपुर-नरेश

[आप मेवाड़ के गुहिल राजवंश की बड़ी शाखा के प्रमुख वंशधर हैं। आप होनहार एवं साहित्य-प्रेमी नरेश हैं। आपको इतिहास से विशेष अभिरुचि है।]

सहायता की सूची

(प्राप्ति-तिथि-क्रम से)

१५०)	गुप्त दान।
२००)	विद्याधिकारी बड़ौदा राज्य।
५००)	श्रीमान् हिज़ हाइनेस राय-ए रायान्, महारावल श्री लक्ष्मणसिंह जी बहादुर, डूँगरपुर।
२००)	श्रीमान् मेजर-जनरल हिज़ हाइनेस् महाराजाधिराज राजराजेश्वरशिरोमणि महाराणा श्री सर गंगासिंह जी बहादुर, जी० सी० एस्० आई०, जी० सी० आई० ई०, जी० सी० वी० ओ०, जी० बी० ई०, के० सी० बी०, एल्-एल्० डी०, ए० डी० सी०, बीकानेर।
५०)	श्रीमान गोस्वामी श्री व्रजभूषणलाल जी, काँकरोली, मेवाड़।
३००)	श्रीमान् हिज़ हाइनेस् महाराजाधिराज राज-राजेश्वर सवाई यशवन्तराव जी होल्कर बहादुर, इन्दौर।
१२५)	श्रीमान् हिज़ हाइनेस् महाराणा श्री वीरभद्रसिंह जी रत्नसिंह जी बहादुर, लूणावाड़ा।
५००)	गुप्त दान।
२००)	श्रीमान् हिज़ हाइनेस् राय-ए रायान् महारावल जी सर पृथ्वीसिंह जी बहादुर, के० सी० आई० ई०, बाँसवाड़ा।
२००)	श्रीमान् हिज़ हाइनेस् महाराजाधिराज महाराणा जी सर भूपालसिंह जी बहादुर, जी० सी० एस्० आई०, के० सी० आई० ई०, उदयपुर (मेवाड़)।
३५०)	श्रीमान् महाराजा रामानुजशरणसिंह जी देव, सी० बी० ई०, सरगुजा।
५०)	श्रीमान् हिज़ हाइनेस् धर्मदिवाकर महाराजाधिराज महाराजराना जी राजेन्द्रसिंह जी देव बहादुर, झालरापाटन (झालावाड़)।
२५०)	श्रीमान् लेफ्टिनेण्ट-कर्नल हिज़ हाइनेस् राजराजेश्वर महाराजाधिराज नरेन्द्रशिरोमणि महाराजा सर उम्मेदसिंह जी बहादुर, जी० सी० आई० ई०, के० सी० एस्० आई०, के० सी० वी० ओ०, जोधपुर (मारवाड़)।

प्रतिष्ठापकों की सूची

(तिथि-क्रम से)

सूचना—प्रतिष्ठापक शुल्क २५) रक्खा गया था ।

१ अध्यापक रामरत्न जी, रत्नाश्रम; आगरा ।
२ पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ, साहित्याचार्य, अध्यक्ष पुरातत्त्व विभाग, जोधपुर (मारवाड़) ।
३ रावबहादुर वासुदेव अनन्त बाम्बर्डेकर, नासिक ।
४ सेठ लालचन्द्र जी सेठी, विनोद मिल्स, उज्जैन ।
५ पं० हरिनारायण जी पुरोहित, तहबीलदारों का रास्ता, जयपुर ।
६ पं० शिवदत्त जी शर्मा; रेलवे क्लियरिंग आफ़िस, दिल्ली ।
७ रावराजा सरदारसिंह जी बहादुर, उणियारा, जयपुर-राज्य ।
८ रायबहादुर बाबू नाँदमल जी जैन, चन्दननिवास, अजमेर ।
९ सेठ भागचन्द जी सोनी, अनूप चौक, अजमेर ।
१० दीवानबहादुर हरविलास जी सारडा, अजमेर ।
११ स्व० रायबहादुर डा० हीरालाल जी, डी० लिट०, कटनी ।
१२ रायबहादुर डा० सरजूप्रसाद जी तिवारी, १२ तुकोगंज, इन्दौर ।
१३ रावसाहब श्री विजयसिंह जी, मसूदा-भवन, मसूदा, अजमेर-मेरवाड़ा ।
१४ रावराजा रायबहादुर पं० श्यामविहारी मिश्र, एम० ए०, १०५ गोलागंज, लखनऊ ।
१५ श्रीयुत मेलाराम जी वैश्य, भिवानी, हिसार ।
१६ पं० सर सुखदेवप्रसाद जी, के० टी०, सी० आई० ई०, प्राइम मिनिस्टर, उदयपुर, मेवाड़ ।
१७ रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास जी, भेलूपुर, काशी ।
१८ बा० दुर्गाप्रसाद जी खेतान, ४३ ज़करिया स्ट्रीट, कलकत्ता ।
१९ श्रीयुत गांगेय नरोत्तम शास्त्री, गांगेय-भवन, नं० १२ आशुतोष दे लेन, चितरञ्जन एवेन्यू नॉर्थ, कलकत्ता ।
२० राजा जी साहेब श्री अमरसिंह जी, बनेड़ा, मेवाड़ ।
२१ श्रीयुत बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त, सेवा-उपवन, नगवा, काशी ।
२२ राय रामचरण जी अग्रवाल, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, रईस, बड़ी कोठी, दारागंज, प्रयाग ।
२३ श्रीयुत बेनीप्रसाद जी अग्रवाल, एम्० ए०, एल्-एल० बी०, कटरा, इलाहाबाद ।
२४ सरदार माधव विनायक किबे, सरस्वतीसदन, इन्दौर ।

विषय-तालिका

पृष्ठ
समर्पण ... ... (३)
प्राक्कथन ... ... (५)
वस्तुकथा ... ... (७)
सहायता की सूची ... ... (११)
प्रतिष्ठापकों की सूची ... ... (१२)
विषय-तालिका ... ... (१३)
चित्र-सूची ... ... (१७)
संक्षेप और संकेत ... ... (१८)

विभाग १. वेद, अविस्ता, प्रागैतिहासिक

१. हमारा वैदिक तथा आधुनिक प्रचलित पञ्चांग (हिन्दी) ५
गोविन्द सदाशिव आप्टे
२. व्रात्यसमस्या और अथर्ववेद का १५वाँ काण्ड (हिन्दी) १३
याकोब विल्हेल्म हाउअर
३. सद्रु (हिन्दी) २३
ऑटो स्ट्राउस
४. ऋग्वेदेर देवता (बँगला) २४
विनयतोष भट्टाचार्य
५. शिश्नदेव (हिन्दी) ३२
विधुशेखर भट्टाचार्य
६. ऋग्वेद की दानस्तुतियों में ऐतिहासिक उपादान (हिन्दी) ३४
मणिलाल पटेल
७. ईरान वैज (फ़ारसी) ४३
पूर्-ए-दाऊद
८. Aryans and the Indus Valley Civilisation (अँगरेज़ी) ५८
आर्थर बेरिडेल कीथ

९. वैदिक साहित्ये उद्भिदेर कथा (बँगला) ६७
एकेन्द्रनाथ घोष

१०. भारतीय संस्कृति का सूत्रपात (हिन्दी) ८१
सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय

विभाग २. पिछला प्राचीन काल

१. The Buddha and his Maternal Clan. (अँगरेज़ी) ३
ज़ीन प्रज़ुलूस्की

२. Note on Takshaśilā and Its Name (अँगरेज़ी) ५
स्टेन कोनौ

३. आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (हिन्दी) १०
काशीप्रसाद जायसवाल

४. Some Rajput Traditions in South India (अँगरेज़ी) १५
साक्केट्टै कृष्णस्वामी ऐयंगर

५. The Initial Year of the Little Known Eastern Ganga Era (अँगरेज़ी) २०
रल्लबौडि सुब्बाराव

विभाग ३. मध्य काल

१. New light on the History of the Gujarat Râshṭrakûṭas (अँगरेज़ी) ३
अनन्त सदाशिव अल्तेकर

२. कवि धोयी और उस का पवनदूत काव्य (हिन्दी) ७
केशवलाल हर्षदराय ध्रुव

३. कर्ण सोलंकी (गुजराती) १४
रामलाल चुनीलाल मोदी

४. महाराज कुमारपाल चौलुक्य (हिन्दी) २६
हिमांशुविजय

५. जावा के हिन्दू साहित्य के कुछ मुख्य ग्रन्थों का परिचय एवं उन की ऐतिहासिक उपयोगिता (हिन्दी) ३८
बहादुरचन्द छाबड़ा

६. ओड़िशार मध्ययुग राजवंशादिर परिचय (उड़िया) ५०
परमानन्द आचार्य

७. How Scholars were Honoured in Ancient India (अँगरेज़ी) ६१
चिन्ताहरण चक्रवर्ती
८. लङ्कावे राज्पुत्जनया (सिंहली) ६४
सेनरत पर्णवितान
९. माधवाचार्य और अमात्य माधव (हिन्दी) ७०
बलदेवप्रसाद उपाध्याय
१०. आहोम राज्यर शासन-प्रणाली (आसमिया) ७६
मथुरानाथ गोस्वामी
११. श्री चैतन्यदेव कोन् शके अन्तर्हित हन (बँगला) ८२
दीनेशचन्द्र भट्टाचार्य
१२. मध्ययुग में राजस्थान और बङ्गाल के बीच साधना का सम्बन्ध (हिन्दी) ८५
क्षितिमोहन सेन

विभाग ४. अर्वाचीन काल

१. भारतीय दुसरा रणसंग्राम (मराठी) ३
वासुदेव सीताराम वेन्द्रे
२. हीरविजय सूरि और अकबर (हिन्द) ८
विद्याविजय
३. राजपूत और मराठे (हिन्दी) १७
भास्कर रामचन्द्र भालेराव
४. The Author of the First Grammar of Hindustani (अँगरेज़ी) ३०
येन फ़िलिप्प फ़ोख़ल
५. चौथ आणि सरदेशमुखी (मराठी) ३७
यशवन्त वासुदेव खरे
६. हिन्दुस्थानचा लष्करी इतिहास (मराठी) ५३
नानासाहेब शिन्दे
७. शिवाजी का क्षत्रियत्व (हिन्दी) ६४
बालकृष्ण
८. राजपूताने में प्राचोन शोध (हिन्दी) ७४
हरविलास सारडा

विभाग ५. अभिलेखों, मुद्राओं, लिपि तथा प्राचीन पोथियों का अनुशीलन

१. प्राचीन राजशासनांतील दानच्छेदाचा निषेध करणारं श्लोक (मराठी) ३
पाण्डुरंग वामन काणे

२. विजयादित्य का अम्मणिगि ताम्रपत्र (हिन्दी) १६
वीरभद्र शर्मा तैलंग
३. एकटि शिवकालीन मुद्रा (बँगला) २०
सुरेन्द्रनाथ सेन
४. मुड़िया लिपि में एक ग्रन्थ (हिन्दी) २२
कामताप्रसाद जैन
५. चित्रप्रश्नम् (मलयालम) २४
अनुजन अचन

विभाग ६. ललित कला

१. Zur Vorgeschichte des Buddha-Bildes (जर्मन) ३
हेलमुथ फ़ान ग्लाज़नाप
२. Pallava Painting (अँगरेज़ी) ७
तिरुवेंकडु नारायणशास्त्री रामचन्द्रन्

विभाग ७. मानुषविज्ञान, जनविज्ञान

१. Some Tibetan Customs and a Few Thoughts Suggested by Them (अँगरेज़ी) ... ३
जीवनजी जमशेदजी मोदी
२. Kṣatriyas in Greater India (अँगरेज़ी) २०
बिजनराज चटर्जी
३. मध्यप्रदेश तथा मध्य भारत के राजपूत (हिन्दी) २३
हीरालाल
४. वराह अवतार (हिन्दी) ३२
रामेश्वर गौरीशंकर ओझा
५. राजपूत जाति (हिन्दी) ५६
विश्वेश्वरनाथ रेऊ
६. राठोड़ राजवंश का मूल इतिहास (हिन्दी) ६५
जगदीशसिंह गहलोत

विभाग ८. भूवृत्त

१. नकुल का पश्चिम-दिग्विजय (हिन्दी) ३
जयचन्द्र नारंग
२. गोमन्त-शोध (मराठी) १०
वासुदेव अनन्त बाम्बर्डेकर

विभाग ९. भाषातत्त्व

१. Dravidic Names for the Parts of Human Body (अँगरेज़ी) ३
विश्वनाथ रामस्वामी ऐय्यर
२. Conjunctive Participles as Pleonastic Suffixes in the Magadhan Dialects (अँगरेज़ी) ... २२
वाणीकान्त काकति
३. Some Lexical Material in Jain Mahārāṣṭrī Prakrit (अँगरेज़ी) २७
नार्मन ब्राउन
४. O nĕkotoryx javlĕnijax rotatsizma v jazykĕ xindi (रूसी) ३३
श्रा. वरान्निकोफ़
५. देरेवाली कहावतें (हिन्दी) ४२
सुमित्रादेवी नारंग

विभाग १०. वैयक्तिक

१. परिचय (हिन्दी) ३
सम्पादकीय
२. Mahamahopadhyaya Gourishankar Ojha : An Impression (अँगरेज़ी) ... ७
पुण्डि शेषाद्रि
३. मंगल-कामना (संस्कृत) १०
गंगानाथ झा

चित्र-सूची

१. महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द श्रोझा ... ... पृ० (३) के सामने
२. श्रीमान् डूंगरपुर-नरेश ... ... ,, (११) ,,
३. अम्मणिगि-ताम्रपत्र ... . वि० ५ ,, १६ ,,
४. (१) मुड़िया लिपि की एक पोथी का एक पृष्ठ तथा वर्णमाला ... ,, ,, ,, २२ ,,
(२) ,, ,, ,, एक दूसरी पोथी का एक पृष्ठ ... ,, ,, ,, २३ ,,
५. चित्रप्रश्नम् नामक पोथी के दो पृष्ठ ... ,, ,, ,, २५ ,,
६. पाँच वराह प्रतिमाएँ ... ... ,, ७ ,, ३२-३३ ,,
७. श्रोझाजी सन् १८६८ ई० में ... ... ,, १० ,, ३ ,,
८. रा० ब० श्री सिरेमलजी बापना ... ... ,, १० ,, ६ ,,

संक्षेप और संकेत

(१) नये अक्षर-चिह्न

अ़ = फ़ारसी ऐन को प्रकट करने के लिए।

ऎ = ह्रस्व एकार।

ॆ = ह्रस्व एकार की मात्रा।

ॅ = हिन्दी 'ऐ' का उच्चारण, जैसा "जैसे" शब्द में। ै का वास्तविक उच्चारण "अइ" सा होता है, न कि "अय" सा; हिन्दी शब्दों में हम उसे "अय" सा बोलते हैं, और इस ग्रन्थ के हिन्दी अंश में भी उस का उसी उच्चारण के लिए प्रयोग हुआ है। किन्तु अन्य भारतीय भाषाओं में ै का उच्चारण "अइ" सा है, इसलिए हिन्दी 'ऐ' उच्चारण को ॅ से प्रकट किया गया है।

ॊ = ह्रस्व ओकार।

च़ = "च" का "स" में ढलता हुआ उच्चारण।

झ़ = जैसा फ़ारसी पझ़ या अंग्रेज़ी लेझ़र (leisure) में।

(२) ग्रन्थ-निर्देश-विषयक

अथ० = अथर्ववेद।

अ० हि० = विन्सेंट स्मिथ कृत अर्ली हिस्टरी आफ़् इंडिया।

आप० = आपस्तम्ब धर्मसूत्र।

आ० स० इं० = आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़् इन्डिया, ऐन्युअल रिपोर्टें।

आ० स० प० भा० = आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़् वेस्टर्न इंडिया (पश्चिमी भारत की आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्टें)।

आ० स० रि० = कनिंघम कृत आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़् इंडिया की रिपोर्टें।

इं० आ० = इंडियन आण्टिक्वेरी।

इं० हि० क्वा० = इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली।

ऋ० = ऋग्वेद।

ए० इं० = एपिग्राफ़िया इंडिका।

उप० = उपनिषद्।

ऐ० ओ० = ऍक्टा ओरंटेलिया।

ऐत० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण।

क० सं० सि० सू० = कॅटलॉग ऑफ़् कॉइन्स इन इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता (कलकत्ता-संग्रहालय सिक्का-सूची)।

ज० अ० ओ० सो० = जर्नल ऑफ़् दि अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी।

ज० ए० सो० बं० = जर्नल ऑफ़ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल।

ज० बं० रा० ए० सो० = जर्नल ऑफ़ दि बम्बई ब्राञ्च ऑफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी।

ज० बि० ओ० रि० सो० = जर्नल ऑफ़ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी।

ज० रा० ए० सो० = जर्नल ऑफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैण्ड।

जैमि० ब्रा० = जैमिनीय ब्राह्मण।

तै० आ० = तैत्तिरीय आरण्यक।

ना० प्र० प० = नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका।

पु० = पुराण।

प्रा० ध० ग्र० = सैक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट (प्राच्य-धर्म-ग्रन्थमाला)।

बौ० = बौधायन धर्मसूत्र।

बं० ग० = बंबई गज़ेटियर।

भा० अ० स० = कॉर्पस् इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम् (भारतीय अभिलेख-समुच्चय)।

भा० भा० प० = लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया (भारतीय भाषा-पड़ताल)।

मनु० = मनुस्मृति।

म० भा० = महाभारत।

मा० पु० = मार्कण्डेय पुराण।

वा० पु० = वायु पुराण।

वि० पु० = विष्णु पुराण।

शत० = शतपथ ब्राह्मण।

साधारणत: वे ही संकेत बर्ते गये हैं जो 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में हैं। युरोपीय भाषाओं के संकेत सुपरिचित हैं।

भारतीय अनुशीलन

१

वेद, अविस्ता, प्रागैतिहासिक

हमारा वैदिक तथा आधुनिक प्रचलित पञ्चाङ्ग

(तीन संशोधन)

प्रिंसिपल गोविन्द सदाशिव आपटे, एम्० ए०, बी० एस्–सी०, गणकचूडामणि, सुपरिंटेंडेंट,
श्री जिवाजी वेधशाला, उज्जयिनी।

(१) वैदिक काल में जिस पञ्चाङ्ग के अनुसार हमारे पूर्वज चलते थे, अर्थात् जिस के आधार पर यज्ञयागादि सर्व धर्मकृत्य करते थे, उसे वेदाङ्ग-ज्योतिष कहते हैं। इस में यजुर्वेद-काल में ऋक्-काल की अपेक्षा तेरह श्लोक अधिक थे। कुल श्लोक ४९ हैं। ये सब अङ्कमय हैं। अतः कम से कम आज से ३३०० वर्ष पूर्व उन का जो स्वरूप रहा होगा उस में कई स्थानों में परिवर्तन अवश्य हुआ है। यहाँ तक कि मूल शब्दों का केवल अनुमान करना पड़ता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के समय उत्तरायण की प्रवृत्ति सूर्य के धनिष्ठा में आने पर होती थी, ऐसा यजुर्वेद-ज्योतिष श्लोक ६ में लिखा है। इस आधार पर भारतीय ज्योतिर्विद् शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित तथा लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक जैसे विद्वानों ने वेदाङ्ग-काल शकपूर्व लगभग १४०० या १५०० वर्ष माना है। खींच-खाँच कर बहुत होगा तो वह शकपूर्व ११०० वर्ष पर्यन्त आ सकता है। किन्तु इस से आधुनिक नहीं हो सकता। इस वेदाङ्गज्योतिष-काल में वर्षमान ३६६ दिन का मानते थे। तथा ५ वर्षों के अनन्तर तिथि नक्षत्र जैसे के तैसे ही आते थे। ऐसा उन का गणित था। ५ वर्षों में दो अधिक मास मानते थे। उस पञ्चाङ्ग की आधुनिक पञ्चाङ्ग से तुलना करने के लिए निम्न लिखित अङ्क दिये जाते हैं।

सौर-चान्द्र-चक्र	वेदाङ्ग-काल में	५ वर्ष	तथा वर्तमान में	१९ वर्ष	है
पाँच वर्षों की दिन-संख्या	,,	१८३०	,,	१८२६·१८	,,
६२ चान्द्रमासों के दिन	,,	१८३०	,,	१८३०·८९	,,
पाँच सौर वर्षों में चान्द्रमास	,,	६२	,,	६१·८४	,,
पाँच सौर वर्षों में तिथि	,,	१८६०	,,	१८५५·२६३	,,

इतना अन्तरित पञ्चाङ्ग दीर्घ काल पर्यन्त चलना अशक्य है। तब क्या इस अन्तर को हमारे पूर्वज पुराण-प्रियता के हठ से सैकड़ों हज़ारों वर्ष पर्यन्त यों ही बढ़ने देते थे, अथवा जो स्थिति बारम्बार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती थी उस के अनुसार उपरोक्त मानों में सुधार करते थे? यह हम को देखना है।

काल-महिमा से इन ४९ श्लोकों में जो पाठान्तर आ गए हैं उन का यथार्थ ज्ञान कर के सुसङ्गत अर्थनिष्पत्ति करने के लिए कई विद्वानों ने प्रयत्न किया है। स्वयं सोमाकर की इन श्लोकों पर टीका है। इस में साधारणतः

आधे से अधिक श्लोकों का अर्थ सोमाकर से नहीं लगा है। ई० स० १८७९ में डाक्टर थीबो ने यह प्रयत्न किया। उन से ६ श्लोकों का अर्थ सोमाकर से अधिक लगा। आगे सन् १८८५ में जनार्दन बालाजी मोड़क ने और दो तीन श्लोकों का अर्थ लगाया। सन् १८९६ में शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने और ८ श्लोकों का व्याख्यान किया। उस के अनन्तर १९०७ में यू० पी० के एक एंजिनियर लाला छोटेलाल ने, बार्हस्पत्य नाम धारण कर के अपनी टीका-टिप्पणी के साथ सब श्लोकों का अँगरेज़ी भाषान्तर प्रकाशित किया, और सन् १९१४ में अपनी पुस्तक ज्योतिषवेदाङ्ग लोकमान्य तिलक के पास समालोचना के लिए भेजी। वह उन को माँडले की बन्दीशाला (जेल) में मिली। लाला छोटेलाल ने जो १०,१२ श्लोक लगाये थे उन पर तिलक महाशय ने अपनी टिप्पणी लिख कर उन्हें दी। सन् १९१८ में, जब मैं पूना में फर्लो पर था, तिलक महाशय ने प्रकाशित करने से पहले अपनी टिप्पणी देखने के लिए मेरे पास भेजी। मैंने अपनी टिप्पणी लिख कर लोकमान्य को दे दी। उन में से आधे भाग पर उन की मेरे साथ चर्चा भी हुई और शेष भाग के ऊपर उन्हों ने 'फुरसत से बातचीत करेंगे, फिर आओ' ऐसी आज्ञा दी। किन्तु दुर्भाग्य से फिर दूसरी बैठक न हुई और चर्चा का काम अधूरा ही रहा। फलस्वरूप लोकमान्य के पुत्रों ने अपने पिता की टिप्पणी जैसी की तैसी ही प्रकाशित कर दी। मैं ने अपनी टिप्पणी के आधार पर यह संशोधन-निबन्ध लिखा है। सन् १९०८ में पं० सुधाकर द्विवेदी ने "याजुष ज्योतिष" करके अपनी टीका समेत एक पुस्तक और छपवाई है। उन्हों ने भी उस में सभी श्लोकों का अर्थ दिया है।

इतने प्रयत्न होने पर भी उन ४९ श्लोकों में कई स्थान अद्यापि वादग्रस्त हैं। पर मैं समझता हूँ तो भी इस बात का पता हम को चल सकता है कि दीर्घ काल तक वह पञ्चाङ्ग-पद्धति कैसे चली और प्रस्तुत पद्धति उस पद्धति से किस प्रकार सम्बद्ध है।

यजुर्वेदज्योतिष में लिखा है—

दुहेयं पर्व चेत्पादे पादस्त्रिंशत्तु सैकिका ।
भागात्मनाऽवपृज्यांशान् निर्दिशेदधिको यदि ॥१२॥

इस श्लोक का प्रथम चरण थोड़ा ध्यान देने लायक़ है। उसी के ऊपर मेरा संशोधन निर्भर है। उस का आपाततः जो अन्वय नज़र आता है सो यों है 'पर्व पादे चेत् दुहेयम्'। किन्तु इस में दुहेयम् पद दुर्बोध है। यह दुह् धातु का कोई रूप नहीं, क्योंकि यह धातु अदादिगण का होने से उस का दुह्याम् रूप होगा, न कि दुहेयम् और आर्ष समझ कर उस रूप को यदि ठीक मान भी लिया जाय तो उस से कोई अर्थ नहीं लगता। इस से यह अनुमान निकालना चाहिए कि दुहेयम् यह किसी अन्य शब्द का अपभ्रष्ट रूप है। कई प्रकार की कल्पना करने के बाद लोकमान्य तिलक ने द्युहेयम् यह पाठ सूचित किया और वह मुझे भी बहुत पसन्द आया। किन्तु उस से लोकमान्य तिलक ने जो अर्थ निकाला है[1], वह मुझे मान्य नहीं। द्युहेयम् इस का सीधा अर्थ 'एक दिन का त्याग करना चाहिए' ऐसा है। और वह कब? इस का उत्तर पर्व चेत् पादे में है। यानी पर्व की समाप्ति यदि पाद अर्थात् नक्षत्र के चरण पर हो तब। पाँच वर्षों का यह पञ्चाङ्ग मध्यम मानों से बनाया हुआ है। मन्दफल इत्यादि संस्कार उन दिनों में अज्ञात थे। वैदिक पञ्चाङ्ग का कोष्ठक दीक्षित महाशय ने अपने भारतीय ज्योतिष में दिया

---

[1] दे. तिलक—वैदिक क्रोनोलॉजी एंड वेदाङ्ग ज्योतिष (पूना १९२५), पृ० ८६—९९।

है[1]। उस पर दृष्टि डालने से व्यक्त होता है कि वेदाङ्ग-काल में युग[2] के पाँचों वर्षों के पृथक् पृथक् नाम क्रम से संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर थे। इन में परिवत्सर की वैशाख-पूर्णिमा, इदावत्सर के अधिक श्रावण की अमावास्या, अनुवत्सर की कार्त्तिकी पूर्णिमा और इद्वत्सर की श्रावणी अमावास्या, ये चार पर्व ऐसे हैं जो नक्षत्र के चरणों के अन्त पर ही समाप्त होते हैं। नक्षत्र-चरण ३१ अंशों का होता है क्योंकि **पादः त्रिंशत् तु सैकिका** ऐसा श्लोक के द्वितीय चरण में लिखा है (त्रिंशत् = ३०, सैकिका = एक से युक्त)। जैसे हम आजकल नक्षत्र की ८०० कला मानते हैं उस प्रकार की गणना उन दिनों नहीं थी। वे एक पञ्चवर्षी युग में ६२ चान्द्रमास एवं ६२ × २ = १२४ पर्व (पक्ष) मानते। सूर्य १२४ पर्वों में २७ × ५ = १३५ नक्षत्र भ्रमण करता है। एक पक्ष में $\frac{१३५}{१२४}=१\frac{११}{१२४}$ नक्षत्र हुए। अर्थात् १ पक्ष में सूर्य १ नक्षत्र और १२४ अंशों में ११ अंश और अधिक चला। इस प्रकार नक्षत्र के पूरे अंश १२४ माने जाते हैं। हर एक पक्ष में ११ के हिसाब से ३१ वें पर्व के अन्त में $\frac{३१\times११}{१२४}=२\frac{९३}{१२४}$ यानी ९३ अंश होते हैं। इसी प्रकार ६२ वें पर्व के अन्त में १८६ अंश यानी ६२ अंश, ९३ वें पर्व में ३१ अंश और १२४ वें पर्व के अन्त में १२४ अंश होते हैं; अथवा इन पर्वों के समाप्ति-काल में क्रम से नक्षत्र का ३ रा, २ रा, १ ला तथा ४ था चरण पूर्ण होता है। इन चारों समयों पर १ दिन त्यागने की आज्ञा है। श्लोक में पादे यह एकवचनान्त प्रयोग है तथापि जातिदर्शक एकवचन का प्रयोग व्याकरणसम्मत है। अर्थात् पादे का अर्थ 'प्रथम पाद के अन्त में', 'द्वितीय पाद के अन्त में' इत्यादि समझना चाहिए। १२४ में से और किसी पर्व के अन्त में ३१ या ३१ के किसी पट के बराबर अंश नहीं आ सकते। इसलिए ५ वर्ष के चक्र में यानी ४ पर्वान्त पर एक एक दिन छोड़ना चाहिए। इस प्रमाण से पाँच वर्षों में चार दिन छोड़े जाते थे। उपरोक्त श्लोक ऋग्वेदज्योतिष में न होने से यह ज्ञात होता है कि आरम्भ में यह बात कि इस प्रकार ४ दिनों का त्याग करना चाहिए, ध्यान में नहीं आई थी; किन्तु जब आई तब आचार्यों ने पुराण-प्रिय न होते हुए यजुर्वेद-काल में उन का त्याग किया। इस का परिणाम स्पष्टतया ऐसा हुआ कि ५ वर्ष में स्थूल मान से जो ४ दिन अधिक मानते थे उन को छोड़ने से चान्द्र और सौर मान का मेल ठीक बैठने लगा। आरम्भ में इस की आवश्यकता ज्ञात होने का कारण यह मालूम होता है कि गणितागत विषुवदिन नहीं मिलते थे। ३० घटी-पात्रों के समय में दिन पूरा होना चाहिए किन्तु जब कभी प्रारम्भ में २०, २५ वर्षों में विषुव दिन में २० दिनों का अन्तर पड़ा होगा तब संशोधन करना आवश्यक हुआ होगा।

तीसरे तथा चौथे चरण का अन्वय ऐसा होता है :—'यदि अधिकः तर्हि अंशान् भागात्मना अवपृज्य निर्दिशेत्'। इस अन्वय में मैंने मूल श्लोक के **अधिकः** के स्थान में **अधिकाः** इतना पाठान्तर किया है। क्योंकिउस से अर्थ सुलभ और विशद होता है। इस अन्वय से यह अर्थ व्यक्त होता है कि प्रत्येक पर्व के अन्त में समाप्त होने वाले नक्षत्र के अंश यदि अधिक (यानी १२४ अंश से अधिक) हों, तो नक्षत्र के **भागों** का जो **आत्मा** यानी १२४ अंशों का समुच्चय हो, उस को अवपृज्य यानी घटा कर शेष जो अंश बचें उन्हें ही गणक को यानी (उस काल के) पञ्चाङ्ग-कर्त्ता को बता देना चाहिए। उदाहरणार्थ १२ वें पर्व की समाप्ति पर यदि कोई उस से पूछे तो

---

[1] दे० शं० बा० दीक्षित—भारतीय ज्योतिःशास्त्र या भारतीय ज्योतिषा चा प्राचीन आणि अर्वाचीन इतिहास (पूना, बुधवारपेठ १८८९). पृ० ७०-७८।

[2] तिथि नक्षत्र आदि के एक पूरे चक्कर का नाम युग है; अर्थात् एक के बाद दूसरे युग में ये फिर पहले की तरह ही लौटते हैं।

१३२ अंश हुए हैं यह न कह कर उसे १३२ में से १२४ घटा कर बाक़ी ८ अंश ही बताने चाहिए। ताकि प्रश्नकर्त्ता यह जान ले कि दिन घटाने का समय अभी नहीं आया। अर्थात् १२४ से घटाने के व्यतिरिक्त पर्वान्त नक्षत्र-पाद की समाप्ति पर होता है या नहीं इस का पता सुलभता से नहीं लग सकता। दीक्षित ने १२४ पर्वों की समाप्ति के समय के नक्षत्रांश दिये हैं। उन को देखने से यह अर्थ सुलभता से व्यक्त हो सकता है।

पाँच सौर वर्षों के दिन १८२६ होने चाहिए, उन के स्थान में वेदाङ्ग-ज्योतिषकार ने १८३० माने हैं। किन्तु वस्तुस्थिति से मिलान के लिए चार दिन का त्याग किस प्रकार करते थे यह ऊपर बतलाया है, इस युक्ति से सौरवर्ष की शुद्धि हो गई। किन्तु ६२ चान्द्र मासों के दिन १८३० के स्थान में १८३१ लेने चाहिए थे, इस के लिए कौन-सी योजना की जाती थी यह समझना आवश्यक है। वह योजना भी **यजुर्वेद ज्योतिष** के उपरिनिर्दिष्ट श्लोक के अनन्तर एक श्लोक छोड़ कर दूसरे श्लोक में दी है।

स्युः पादोर्ध्वं त्रिपद्यायास्त्रिद्वयेकेऽह्नःकृते स्थिताः।
साम्येनेन्दोस्तृणोऽन्येतु पञ्चकाः पर्वसम्मिताः ॥१४॥

मैंने एक हस्तलिखित पोथी प्राप्त की थी। उस में इस श्लोक के प्रथमार्ध में **स्थितम्** पद था। उस में थोड़ा परिवर्तन कर के मैंने **स्थिताः** ऐसा पाठ माना है। इस से इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार हो सकता है। 'पादोर्ध्व, त्रिपद्यायाः अह्नः कृते त्रिद्वयेके पादाः इन्दोः स्तृणः साम्येन स्थिताः स्युः। अन्ये तु पञ्चकाः पर्वसम्मिताः (इति मन्यन्ते)।' इस में **त्रिपद्या** का अर्थ प्रतिपदा तथा **स्तृ** का अर्थ नक्षत्र होता है, इतना ध्यान में रखना चाहिए। वह रखने पर उपरोक्त श्लोक का अर्थ निम्नलिखित निष्पन्न होता है।

यजुर्वेद-ज्योतिष श्लोक १२ के अनुसार नक्षत्र-पाद के अन्त में पर्व-समाप्ति होने के अनन्तर जो प्रतिपदा आवेगी उस तिथि के विषय में तीसरा, दूसरा, पहला, यानी तीनों पादों के लिए जिस नक्षत्र के सान्निध्य में चन्द्रमा प्रत्यक्ष होगा उसी नक्षत्र के तुल्य उस दिन का नक्षत्र समझना चाहिए (न कि तिथिपत्रों में लिखा हुआ; यदि वह भिन्न हो)। प्रतिपदा का चौथा पाद कुछ कर्मों के लिए निषिद्ध माना गया है। इस कारण जो विशुद्ध तीन पाद हैं, उन्हीं के उपलक्ष में प्रतिपदा को त्रिपदा कहते हैं। कई अन्य आचार्यों के मतानुसार प्रतिपदा के चारों पाद और उस के निकट का पूर्णिमा का अन्तिम पाद इन पाँचों के लिए पर्वान्त के समय प्रत्यक्ष दिखने वाला चन्द्र-नक्षत्र मानना चाहिए; यह एक मतान्तर है। तथापि इतनी बात स्पष्ट है कि नक्षत्र-पादों पर समाप्त होने वाले पर्व आते ही उन दिनों के लिए गणितागत नक्षत्र को त्याग कर आकाश में जो नक्षत्र चन्द्र के पास नज़र आवे उसी नक्षत्र के ग्रहण करने की आज्ञा है। इस का वस्तुतः तो यह आशय समझना चाहिए कि ऐसे मौक़ों पर दृग्गोचर नक्षत्र को मान कर उसी के अनुसार आगे चलते थे। अब भी हम देखते हैं कि चन्द्रमा का मध्यम गणितागत स्थान तथा स्पष्ट स्थान इन में सदैव अन्तर रहता है, और वह अनियत है। उस को जानने के नियम उन दिनों में अज्ञात थे। तथापि यागकर्ता ऋत्विजों की यह इच्छा अवश्य थी कि उस दिन का कर्म आकाश में जो नक्षत्र प्रत्यक्ष हो उसी पर होना चाहिए, और उस इच्छा के अनुसार वे क्या प्रयत्न करते थे, उस का कथन इस श्लोक में है। चन्द्र का गणित थोड़ा जटिल है। उस में बहुत संस्कार करने पड़ते हैं, आधुनिक आविष्कारों से तो चन्द्र के ४० तक संस्कार हैं, जिन को किये बिना वह ठीक दृग्गोचर नहीं होता। कोई १०,१२ संस्कार करते हैं, कोई ८,६ करते हैं। किन्तु कम से

कम पाँच तो अत्यन्त आवश्यक हैं। उतने संस्कार न करें तो ग्रहण नहीं मिलते। वेदाङ्ग-काल में तो इन में से एक भी संस्कार ज्ञात न होने से हमारे आचार्यों ने प्रत्यक्ष नक्षत्र को ही देखने की प्रथा डाली थी। गणित की रीतियों में वे सुधार न कर सके। किन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि वे प्रत्यक्ष फल से काम लेते थे; ६२ चान्द्रमासों के वे १८३० दिन मानते थे। उन में एक दिन कम आता था। वह अन्तर इस युक्ति से उन्हों ने हटाया। इस उपाय से चान्द्रमास दिन-संख्या की शुद्धि हो गई।

आचार्यों ने सौरमान शुद्ध किया तथा चान्द्रमान भी शुद्ध किया। किन्तु पाँच सौरवर्षों में ६२ चान्द्रमास मानते थे उस में ग़लती रही। वास्तव में ६२ के स्थान में ६१·८४ मानना चाहिए था। इस का अर्थ यह है कि पाँच वर्ष में सौरमास ६० मानते थे तथा चान्द्रमास दो अधिक लेते थे अथवा इस गणित से ९५ वर्ष में ३८ अधिक मास मानते थे। इस में तीन मास अधिक लेते थे। यह तीन मास का अन्तर निकाल डालने के लिए ९५ वर्ष में तीन क्षयमास मानने पड़ते हैं। अथवा स्थूलत: ३२ वर्ष में एक क्षयमास मानना चाहिए। इन दो मार्गों में से आचार्य कौन-से मार्ग का अवलम्बन करते थे यह हम नहीं कह सकते, किन्तु गणित-शुद्धि के लिए क्षयमास मानते थे इस में सन्देह नहीं; क्योंकि आगे भारत काल में इन क्षयमासों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। भारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म में लिखा है कि—

क्षयं संवत्सराणां च मासानां च क्षयं तथा।
पक्षक्षयं तथा दृष्ट्वा दिवसानां च संक्षयम्॥ अ० ३०१।

इस श्लोक में दिवस, पक्ष, मास तथा वर्ष इन सभी का क्षय लिखा है। दिन के क्षय के प्रसङ्ग श्लोक १२ में ज्ञात होते हैं। कभी प्रति पञ्च-वर्षी युग में चार दिनों का क्षय मानने की विस्मृति हुई तो २० वर्ष में एक पक्ष के त्याग करने का प्रसङ्ग आता ही होगा। मास का क्षय प्रति ३२ वर्ष में मानना अनिवार्य हुआ था सो ऊपर बतलाया ही है। परन्तु क्षय-वर्ष का कोई विचार हमने अब तक नहीं किया है। आधुनिक आविष्कार ऐसा है कि १९ वर्ष में चन्द्र तथा सूर्य क्रान्तिवृत्त में अपने पूर्व स्थान पर आते हैं, और फिर उसी पर्याय का प्रारम्भ होता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के स्थूल नियम से पाँच वर्ष में एक पर्याय, अथवा २० वर्ष में चार पर्याय मानते थे। वस्तुत: वह चार पर्यायों का एक वड़ा पर्याय १९ वर्ष में मानना चाहिए। उसी के अनुसार प्रत्यक्ष अनुभव था। इस कारण प्रत्यक्ष स्थिति से मेल करने के लिए २० वर्ष में १ वर्ष का त्याग करना पड़ता था। इस गणित से हम समझ सकते हैं कि उपरोक्त श्लोक में जो संवत्सर का क्षय लिखा है वह यथार्थ था। ऋग्वेद-काल में इतनी सूक्ष्मता ध्यान में नहीं आ सकी। किन्तु उस काल के आचार्यों ने इतना अवश्य जाना था कि पाँच वर्षों में कुछ दिन का क्षय मानना चाहिए। इसी कारण ऋग्वेदज्योतिष में ५ वाँ श्लोक इस प्रकार का लिखा है :—

स्वरार्कमेते सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ।
स्यात्तदादियुगं माघस्तप: शुक्लौ दिनं त्यज:॥५॥

यद्यपि ऋग्वेदकाल में दिन, मास तथा संवत्सर का कौन कौन-से प्रसङ्ग पर त्याग करना चाहिए इस का ज्ञान नहीं हुआ था, तथापि कुछ दिनों का त्याग न करें तो पञ्चाङ्ग का प्रत्यक्ष से मेल नहीं बैठता इतना तो तत्कालीन आचार्यों ने माना था।

सारांश यह है कि वेदकालीन परम्परा से वर्तमान काल पर्यन्त यदि हम इतिहास का विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि आवश्यकतानुसार वे आचार्य और ज्योतिषी अपने गणित में सुधार करने के लिए उद्यत थे। आधुनिक काल में पाश्चात्य राष्ट्रों के पञ्चाङ्ग-विषयक इतिहास के परिवर्तन पर यदि दृष्टि दी जावे तो भी यह व्यक्त होता है कि ईसवी सन् १५८२ में तेरहवें पोप ग्रेगरी ने आज्ञापत्र निकाला था कि उक्त वर्ष के अक्टोबर को ४थी तारीख़ के दूसरे दिन १५ ता० मानी जावे। इस आज्ञापत्र के अनुसार कई देशों के पञ्चाङ्ग में परिवर्तन हुआ। खुद इँग्लैंड में भी पार्लियामेंट की आज्ञा से सन् १७५२ के सितम्बर महीने में ता०२ के दूसरे दिन ता०१४ मानी गई[1]। इस विषय में संसार में किस प्रकार प्रगति हो रही है इस पर यदि हम ध्यान दें तो हमें लज्जित होना चाहिए कि हम सूर्य-सिद्धान्त के काल से आज तक अपने वर्षमान में प्रतिवर्ष ८॥ पल अधिक मानते आये और इस कारण जो ४ दिन सञ्चित हुए हैं उन का त्याग करने की हमारी सम्मति नहीं है। हमें महाराष्ट्र में आजकल जिसे तिलक-पञ्चाङ्ग कहते हैं उसी का स्वीकार करना उचित है। चन्द्रादि ग्रहों के सम्बन्ध में जो आविष्कार नये हुए हैं, जिन का हमें आकाश में प्रत्यक्ष अनुभव होता है, हमें अपने आधुनिक प्रचलित पंचाङ्ग में उन का संशोधन कर लेना चाहिए।

(२) हमारा वर्तमान पञ्चाङ्ग वेदाङ्ग-ज्योतिष से किस प्रकार सिद्ध हो सकता है इस का विवरण मैं ने अपनी पुस्तक में दिया है[2]। इस लिए उस की पुनरुक्ति यहाँ करना अनावश्यक है।

(३) अन्त में ऋग्वेदाङ्गज्योतिष के १९ वें श्लोक के विषय में मैंने जो संशोधन किया है उसे विद्वानों की सेवा में उपस्थित करता हूँ। इस श्लोक को कई संशोधकों ने दुर्बोध समझ कर छोड़ दिया है, तथा अन्य विद्वानों ने जो उस का अर्थ किया है वह मेरे मत से आक्षेपार्ह है।

श्रविष्ठाभ्यां गुणऽभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्।
सूर्यान् मासान् षडभ्यस्तान् विद्याच्चान्द्रमसान् ऋतून्॥

इस श्लोक का उत्तरार्द्ध सुलभ सा दिखता है किन्तु पूर्वार्द्ध के अर्थ का कुछ पता नहीं चलता। मैं समझता हूँ मेरे लगाये हुए अर्थ में कुछ सुबोधता है।

पूर्वार्द्ध का **गुणाभ्यस्त** पद एक दुर्भेद चट्टान-सा ज्ञात होता है। मैं उस का काठिन्य इस प्रकार शिथिल करता हूँ। **अभ्यस्त** का अर्थ है गुणा हुआ। जब **गुण** शब्द का प्रयोग संख्या सूचित करने के लिए होता है तब उस का अर्थ 'तीन' होता है यह गणितज्ञ जानते हैं। **गुणाभ्यस्त** का अर्थ 'तीन से गुणा हुआ' ऐसा होता है। परन्तु यह अर्थ यहाँ पर नहीं जमता। इसलिए **अभ्यस्त** का मूल अर्थ क्या है यह देखना चाहिए। किसी वस्तु को बारम्बार करना इसे हम उस वस्तु का अभ्यास करना समझते हैं। जैसे किसी पाठ को बारम्बार पढ़ने से हम उसे उस पाठ का अभ्यास समझते हैं। व्याकरण में भी एक पद की पुनरावृत्ति करने की क्रिया को **अभ्यास** कहते हैं। उदाहरणार्थ लिट् के रूप को सिद्ध करते समय चर धातु के प्रथमाक्षर को दुहरा कर **चचार**, चचर ऐसे रूप होते हैं। और

---

[1] दे. नॉटिकल ऐल्मनक (अँगरेज़ी पञ्चाङ्ग) पृ. ७५९-६०।

[2] सर्वानन्द करणम् पृ० १६५-७०।

यहाँ पर च को **अभ्यस्त** किया है ऐसा कहते हैं। यानी वस्तु को दुहराना इसे उस का अभ्यास करना कहते हैं। इस नियम के अनुसार **गुणभ्यस्त** का अर्थ 'तीन तीन से पुनरावृत्त होने वाला' कर सकते हैं। **गुणभ्यस्तान्** यह **मासान्** का विशेषण है। इस लिए **गुणभ्यस्तान् मासान्** इस का अर्थ 'तीन तीन के अनन्तर आने वाले मास को' ऐसा कर सकते हैं। ये 'तीन तीन मास' कहाँ से गिनने चाहिए इसे बताने के लिए **श्रविष्ठाभ्याम्** पद लिखा है। **श्रविष्ठा** शब्द का अर्थ धनिष्ठा नक्षत्र है। उस का प्रयोग एकवचन में अथवा बहुवचन में होता है परन्तु इस स्थान में उसे द्विवचन में प्रयुक्त किया है। कदाचित् यह प्रमाद होगा ऐसा कोई कह सकते हैं, किन्तु मेरे विचार में यह द्विवचन हेतुपूर्वक है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के काल में सूर्य के धनिष्ठा पर आते ही वर्षारम्भ मानने की प्रथा थी। उस समय उदगयन अथवा प्रस्तुत समय का सायन मकरारम्भ होता था। उस के अनन्तर तीन महीनों के पश्चात् (२१ मार्च को) सूर्य मेष में आता है, और उस समय पहला अथवा वासन्तिक विषुवदिन (जिस रोज़ दिन और रात्रि समान होते हैं) आता है। विषुवदिन का महत्त्व वार्षिक यज्ञों में बहुत था। यह हम को **तैत्तिरीय संहिता** (७·४·८) तथा **ऐतरेय ब्राह्मण** (१८·१८) इत्यादि से ज्ञात होता है[1], और इसी कारण उस की उन दिनों में बहुत प्रतीक्षा करते थे। वासन्तिक विषुवदिन से ६ महीनों के अनन्तर दूसरा विषुवदिन (सितम्बर २१ को) आता है। इस क्रम से पहले विषुवदिन से ९ महीने बीतने पर यानी दूसरे विषुवदिन के तीन महीने पश्चात् फिर उदगयनारम्भ (२२ दिसम्बर) अथवा धनिष्ठार्क होता था। अर्थात् वर्षारम्भ के धनिष्ठार्क के तीन महीने अनन्तर वासन्तिक विषुवदिन आता था। तथा वर्ष के अन्त में जो धनिष्ठार्क होता था उस के तीन महीने पहले शारद विषुवदिन होता था। इस प्रकार एक ही वर्ष के आदि तथा अन्त में होने वाले धनिष्ठार्क से तीन तीन महीनों के अन्तर पर विषुवदिन आया करते थे। अर्थात् दो धनिष्ठाओं से तीन तीन मास आगे तथा पीछे विषुवदिन की पुनरावृत्ति होती थी। जिन महीनों में विषुवदिन आते हैं वे सायन मेषार्क के तथा सायन तुलार्क के महीने होते हैं। इन महीनों के प्रारम्भ में सूर्य ठेठ पूर्व दिशा में उगता है। उस समय उस की अग्रा (उदय समय में पूर्व बिन्दु से उस का अन्तर) शून्य होती है। इस कारण उन दोनों मासों को **प्राग्विलग्न** अर्थात् 'पूर्व बिन्दु से लगने वाले' ऐसा कह सकते हैं। इस से यह विशद होगा कि दो धनिष्ठाओं से तीन तीन महीने पूर्व व पश्चात् पूर्व बिन्दु पर संलग्न होने वाले मास कैसे आ सकते थे। पाँच वर्षों के युग में ऐसे १० मास आते थे इसी कारण से पञ्चवार्षिक पञ्चाङ्ग के लिए "मासान्" यह बहुवचनात्मक प्रयोग यथार्थ है। तस्मात् प्रथमार्द्ध का अन्वय अब इस प्रकार बैठता है :—श्रविष्ठाभ्यां गुणभ्यस्तान् (मासान्) प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्। संक्षेप में शब्दश: इस का अर्थ यह है :—'दो धनिष्ठाओं से तीन मास पहले तथा अनन्तर पुनरावृत्त होनेवाले मासों को पूर्व दिशा में लग्न मास बता देना चाहिए'। एंजिनियर लाला छोटेलाल ने 'गुण' का अर्थ ८ किया है, और उस का कारण यह दिया है कि धनिष्ठा के आगे आठवाँ नक्षत्रपुञ्ज कृत्तिका का होता है और कृत्तिका नक्षत्र का उदय ठीक पूर्व दिशा में होता है ऐसा **शतपथब्राह्मण** में लिखा है। इस कल्पना से इस श्लोक का अनुवाद वे इस प्रकार करते हैं "श्रविष्ठा से आठवाँ नक्षत्र कृत्तिका होता है और वह प्राग्विलग्न भी है"। हमारा इस पर यह आक्षेप है कि इस से

---

[1] दे० भा० ज्यो० पृ० ३८,४७,४८।

अभ्यस्त पद का अर्थ ठीक नहीं बैठता तथा **प्राग्विलग्नान्** इस पुल्लिंगी द्वितीयान्त पद को **नक्षत्रान्** इस अध्याहृत पद का विशेषण मानना पड़ता है। किन्तु नक्षत्र शब्द नपुंसक होने के कारण यह कल्पना अग्राह्य है। व्याकरण के नियम को तोड़ने का दोष इस में स्पष्ट है। इस के अतिरिक्त और भी एक न्यूनता है। वह यह है कि **धनिष्ठाभ्याम्** इस द्विवचन का इस में थोड़ा भी समर्थन नहीं है, तथा गुण शब्द का अर्थ 'आठ' करने के लिए गणितशास्त्र में कहीं भी आधार नहीं। वेदकाल (शकपूर्व ३००० वर्ष) में कृत्तिका ठेठ पूर्व दिशा में उदित होती थी यह सच है; परन्तु वेदाङ्गकाल में यह स्थिति कैसी रही इस प्रश्न का उत्तर आपने कहीं भी नहीं दिया है। इन कारणों से उन का किया हुआ अर्थ मान्य नहीं हो सकता।

पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने उपरोक्त कारणों से लाला छोटेलाल की कल्पना नापसंद की और मूल श्लोक में "श्रविष्ठाभ्यो गणाभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्। स्वार्क्षान् मासान् षडभ्यस्तान् इत्यादि"। इस प्रकार बहुत परिवर्तन कर के जो अर्थ किया है वह यह है—"गण यानी नक्षत्रगण अथवा २७, इस से, श्रविष्ठा का उदय होने से इष्ट काल पर्यन्त तक में नक्षत्रों के अंश को गुणने से पूर्व बिन्दु पर उदित होने वाले नक्षत्र के अंश मिलते हैं।" इस अर्थ के विरुद्ध बड़े बड़े आक्षेप हो सकते हैं। **श्रविष्ठाभ्यां** के स्थान में **श्रविष्ठाभ्यः** यह पाठभेद किसी भी पोथी में नहीं मिलता, न किसी अन्य पण्डित ने सूचित किया है। तीसरे चरण में **स्वार्क्षान्** यह पाठभेद भी नया है। गुण के स्थान में गण माना है और उस का अर्थ भगण अथवा नक्षत्रों की संख्या यानी २७ किया है। धनिष्ठा प्रतिदिन जब कभी उदित होती है उस समय से इष्ट काल पर्यन्त जो सावयव नक्षत्र बीतते हैं उन्हें २७ से गुणने को कहा है। अर्थात् धनिष्ठोदय से इष्ट काल कितना व्यतीत हुआ यह नक्षत्रांश से ज्ञात कर लेना चाहिए।

किन्तु वह काल और उस काल में भुक्त होने वाले भांश अथवा नक्षत्रांश किस रीति से निकालने चाहिए इस का नियम वेदाङ्गज्योतिष में कहीं भी लिखा हुआ नहीं है, तथा इस अर्थ में **भांशान्** पद का पूर्णतया अध्याहार करना पड़ता है, और वह मुख्य है। जो अर्थ इतनी खींचातानी से किया गया है वह ग्राह्य नहीं हो सकता। लोकमान्य तिलक ने भी उस को अपनी सम्मति नहीं दी।

श्लोक के उत्तरार्द्ध का अन्वय इस प्रकार हो सकता है:—सूर्यान् मासान् षडभ्यस्तान् चान्द्रमसान् ऋतून् विद्यात्। इसका अर्थ यह है—'पञ्चसंवत्सर युग में जितने सौरमास होते हैं उन्हें ६ से गुणने से चान्द्रऋतुओं की संख्या का ज्ञान होता है।' किन्तु इस अर्थ के अनुसार इस श्लोकार्द्ध में पाँच सौरवर्ष में कितनी चान्द्रऋतुएँ हुई इस का ठीक ज्ञान नहीं होता। क्योंकि पाँच वर्षों में सौरमास ६० होते हैं। उन को ६ से गुणा करने से ३६० चान्द्रऋतुएँ होती हैं। वास्तव में जब चन्द्रमा का नक्षत्रों में एक पर्याय होता है तब उस की ६ ऋतु मान सकते हैं। परन्तु पाँच वर्ष में चन्द्रमा के ६७ पर्याय होते हैं; अर्थात् ६७ × ६ = ४०२ चान्द्रऋतुएँ होती हैं यानी ४२ ऋतुएँ अधिक होती हैं। यह अन्तर उपेक्षणीय नहीं है। तथापि यह सत्य है कि ये ४०२ ऋतुएँ ६,६ ऋतुओं के पर्याय से अपने को पुनरावृत्त करती हैं। और इस अर्थ को निकालने के लिए षडभ्यस्त का अर्थ '६,६ के पर्याय से जिन की पुनरावृत्ति होती है' ऐसा समझ सकते हैं। इस अर्थ में असत्यता का तथा व्याकरण के नियमों के विरुद्ध होने का दोष नहीं है।

इतना संशोधन कर के मैं यह अवश्य कहूँगा कि वेदाङ्गज्योतिष का पूर्णतया अर्थ अब तक लगा नहीं है, किन्तु, प्रत्येक प्रयत्न दूसरे संशोधन का मार्गदर्शक होता है इस नियम के अनुसार आशा है मेरा यह अल्प प्रयत्न भी भविष्य में और संशोधकों को लाभदायी होगा। वह आशा सफल हो तथा जिन महामहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा के पुण्य प्रताप से यह संशोधन प्रसिद्ध करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे दीर्घायु हो कर सुखी रहें ऐसी प्रार्थना कर के इस निबन्ध को समाप्त करता हूँ।

व्रात्यसमस्या और अथर्ववेद का १५वाँ काण्ड*

(प्रो० डा० हावर, ट्युबिंगेन विद्यापीठ, जर्मनी)

अथर्ववेद का १५ वाँ काण्ड वैदिक वाङ्मय की सब से कठिन पहेली समझी जाती है। हमारे प्रमुख संस्कृतज्ञों को इस के बारे में अत्यन्त क्षुद्रतासूचक बातें कहनी पड़ी हैं[1]। प्रो० लॅन्मन ने इस के महत्त्व को थोड़ा-बहुत पहिचाना है। ह्विटनी के अनुवाद पर अपनी प्रारम्भिक टिप्पणी में उन्हों ने लिखा है कि, 'इस में दीखने वाले लड़कपन और अस्पष्टता रहते भी यह काण्ड अनुशीलन के अनुपयुक्त नहीं।'[2] जब से मुझे पहले पहल इस में योग के कुछ आरम्भिक तत्त्वों का पता लगा[3], मैं इस दुर्बोध प्रबन्ध का बार बार परिशीलन करता रहा हूँ।

ध्यानपूर्वक विवेचन के बाद मुझे स्पष्टतया विदित हो गया कि यह प्रबन्ध प्राचीन भारत के ब्राह्मणेतर आर्य-धर्म को मानने वाले व्रात्यों के उस बृहत् वाङ्मय का कीमती अवशेष है जो प्रायः लुप्त हो चुका है[4]।

अपनी पुस्तक देर व्रात्य० में मैंने बताया है कि व्रात्य शब्द व्रात से व्युत्पन्न हुआ है, जिस का अर्थ है व्रत (=पुण्य-कार्य) में दीक्षित मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय। यह ब्राह्मणों के दीक्षित का ठीक प्रतिवाचक है; ब्राह्मणों के यहाँ ब्राह्मण को सर्वोत्तम दीक्षित कहा गया है। इसी कारण मतपरिवर्तन के बाद जब व्रात्यों ने ब्राह्मण-धर्म स्वीकार किया तो ये लोग ब्राह्मण वर्ण में लिये गये। व्रात्य लोग असल में उस विधर्मी सम्प्रदाय के पूज्य व्यक्ति थे, जिस का प्रधान देवता रुद्र था। शुरू में ये लोग अद्भुत वेश वाली टोलियों में घूमने वाले धर्मगुरु और जादूगर थे, जिन की कई श्रेणियाँ थीं और अपना एक अलग ही पवित्र ज्ञान था; और बाद में एकाकी योगी और सिद्ध जो अपने गुप्त ज्ञान और पवित्र अनुष्ठानों का खजाना लिये देश में घूमते फिरते।

व्रात्यों का अधिदेव रुद्र-ईशान-महादेव, जिस ने भ्रमण कर के सब पदार्थों के आरम्भ में विश्व का सृजन किया, स्वयं भी व्रात्य या एकव्रात्य कहाता। और जैसा कि बृहत्सर्वानुक्रमणी में माना है, अथर्ववेद का १५ वाँ काण्ड इस अनादि व्रात्य का ही एक स्तुतिपरक प्रकरण है। उस में इस का यों बखान है—अध्यात्मकं मन्त्रोक्तदेवत्या उत व्रात्यदैवतम्। यह व्रात्य लौकिक व्रात्य की सनातन प्रतिमूर्ति है।

---

* इंडिया इन्स्टीट्यूट ऑफ़ ड्यूश एकॉडमी, म्युन्शन (जर्मनी) की कृपा से प्राप्त।

[1] मिलाइए, ब्लूमफ़ील्ड—दि अथर्ववेद ऐंड गोपथ-ब्राह्मण (ग्रुन्ड्रिस देर इन्दोईरानिश् फिलालॉजी अन्द अन्तरतुम्सकुंदे—हिन्द-ईरानी आर्य खोज का विश्वकोष) ६४; रुडाल्फ रॉथ कृत अथर्ववेद का जर्मन अनुवाद (पाण्डुलिपि—ट्युबिंगेन विद्यापीठ, जर्मनी, के पुस्तकालय में)।

[2] ह्विटनी—अथर्व संहिता जि० २, पृ० ७७०।

[3] दी अनफ़ैंग देर योगप्राक्सिस इम आल्तन इंडिएन पृ० १७२ प्र।

[4] हावर—देर व्रात्य उंतरसुशिंगनऑवर दी निश्त ब्राह्मनिश रेलीजिऑन आल्तइंडिएन्स्, जि० १, स्तुतगर्त, १९२७ (आगे संक्षिप्त—देर व्रात्य०)।

यह काण्ड लगभग दो समान भागों में विभक्त है। प्रथम अनुवाक १—७ सूक्तों तथा द्वितीय अनुवाक ८—१८ सूक्तों का है। इन में पहला अनुवाक तो सुसम्बद्ध और सम्पूर्ण है; उस में व्रात्य का वर्णन आदिदेव-रूप में तथा उस की उत्पादक चेष्टाओं के साथ है। दूसरा अनुवाक मेरी राय में व्रात्य अनुश्रुति के विभिन्न अंशों का सङ्कलन है। ८ और ९ सूक्त जिन में राजन्य की उत्पत्ति का विषय है एक स्वतन्त्र भाग है; तथा वैसे ही १०—१३ सूक्त भी जिन में अकेले व्रात्य के पृथ्वी-विचरण का वर्णन है; सूक्त १५—१७ में व्रात्य के श्वास-प्रश्वास को विश्व की धारक शक्ति बताया है; और अन्त में सूक्त १८ वें में उस का वर्णन विश्व-पुरुष के रूप में है।

इन सूक्तों की साहित्यिक शैली पर्य्यायों की है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि व्रात्य रचनाओं की शैली मुख्यतः यही थी। ये भजन हैं, जो कि वैदिक साहित्य के वर्णवृत्तों की योजना में नहीं बैठते (यद्यपि बृहत्सर्वानुक्रमणी में उन्हें बैठाने का जतन किया गया है)। तथापि इन में छन्दों की सी गति लगातार विद्यमान है, और शब्दों का अनुपात रखने की स्पष्ट प्रवृत्ति है।

पहले सूक्त में सब पदार्थों के उद्भव का वर्णन है। वह यों चलता है—

१. (आरम्भ आरम्भ में) व्रात्य घूम रहा था। उस ने प्रजापति को प्रेरित किया[1]।

२. उस ने प्रजापतिरूप में सुवर्ण को अपने में देखा। उसे जना (प्राजनयत्)।

३. वह एक हो गया। वह माथे का ललाम (तिलक) हो गया। वह महद् हुआ, ज्येष्ठ हुआ, ब्रह्म हुआ, सृजने वाली गर्मी (तप) हुआ, सत्य हो गया और इस प्रकार प्रकट हुआ (प्रजायत)।

४. वह उद्दीप्त हो उठा, वह महान् हो गया, महादेव बन गया।

५. वह देवताओं के ईश्वरत्व को लाँघ गया, ईशान हो गया।

६. वह एकव्रात्य हो गया। उस ने एक धनुष उठा लिया, वही इन्द्रधनुष है।

७. उस का पेट नीला, पीठ लाल है।

८. नीले से ही वह अप्रिय भ्रातृव्य को आवृत (प्र-ऊर्णु) करता है; लाल से ही विद्वेषी को बींधता है। ब्रह्मवादियों का यह कहना है।

यहाँ आदिदेव को व्रात्य कहा गया है। व्रात्य-देवविदों ने सब पदार्थों के मूल और एक-मात्र कारण की कल्पना पृथ्वी पर पुण्यात्मा व्यक्ति-विशेष के रूप में की थी, जैसे कई बार आदिदेव को पहला ब्राह्मण (ज्येष्ठब्राह्मण, अथ० १०.७.१७) कहा जाता है। इन महात्माओं का परिभ्रमण और अनुष्ठान पृथ्वी पर सभी सचेष्ट शक्ति का कारण था। अतः सनातन और सर्वोत्तम व्रात्य को भी सब पदार्थों का मूल कारण कल्पित करना और यह सोचना कि उस के परिभ्रमण से विश्व की प्रसुप्त कार्योत्पादक शक्तियाँ जाग उठीं, कोई दूर की या कठिन बात न थी। कहना होगा कि ब्राह्मणों के तप और यज्ञ की तरह यहाँ व्रात्यों के पुण्य कार्यों को ही देवत्व प्रदान किया गया और मूल कारण माना गया। व्रात्य के इस देवत्व का प्रमाण यह सूक्त ही नहीं—जैमिनीयब्राह्मण २.२२२ में भी ईशान का, जिस का वहाँ वायु से एकत्व माना गया है, स्वरूप एकव्रात्य[2] बताया है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३.२१ में वायु को, जो कि विश्वदेव है तथा अन्य सब देवता जिस की नाना

---

[1] 'व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्।' परन्तु पैप्पलादसंहिता में "व्रात्यो वा इदमग्र आसीत्" यह पाठ है।

[2] हेर व्रात्य० पृ० ५६।

अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं, व्रात्य, एकव्रात्य, अकृत, सब देवों की योनि (बिल) और (विकास की) चरमावधि[१] कहा है। प्रश्नोपनिषद् २.११ में सर्वोच्च देवेश के लिए कहा गया है,—"हे प्राण, एकर्षि, विश्व के भोक्ता, तुम ही एक-मात्र असल स्वामी व्रात्य हो।"[२] अतः वैदिक काल में किसी न किसी एकेश्वरवादी या एकराजेश्वरवादी सम्प्रदाय की अनुश्रुति अवश्य रही होगी, जिस के अनुसार परमेश्वर वायु-ईशान, व्रात्य था। हम इसे ब्राह्मण-धर्म के मुकाबले में व्रात्य-धर्म कह सकते हैं। केवल सामवेदीय और आथर्वणिक वाङ्मय में ही यह अनुश्रुति सुरक्षित है, अन्यथा ब्राह्मणों के सारे वाङ्मय से इस व्रात्य-धर्म की पृथक् सत्ता के चिह्नों को चुन चुन कर नष्ट कर दिया गया है।

प्रजापति, जो कि आदि व्रात्य के प्रजनक पर्यटन से प्रेरित हो कर प्रकट होने वाली प्रथम दैवी सत्ता है, जैमि० ब्रा० में सहायक देवता है, जो कि एकव्रात्य को त्यागने वाले व्रात्यों को शरण देता है। पर हमारे पहले सूक्त में प्रजापति आदिव्रात्य की सृष्टि है। अतः यह उस समय रचा गया होगा जब कि प्रजापति व्रात्यदेव के मुकाबले में प्रधानता हासिल करने की स्पर्धा कर रहा था और व्रात्यों के बहुत से प्रमुख नेता उस की तरफ़ हो गये थे। ये ही वे लोग थे जो व्रात्य-स्तोमों द्वारा ब्राह्मण वर्ण में ले लिये गये थे। यह सूक्त श्रद्धालु व्रात्यों की तरफ़ से अपने पुरखों के देवता के प्रति किए गए इस विद्रोह का जवाब था। वे प्रजापति की तथा तप, एकम् आदि ब्राह्मणों के अन्य विचारों की उपेक्षा न कर सके, पर उन्हों ने उन को व्रात्यदेव का आश्रित बना दिया, जिस ने कि उन्हें उत्पन्न किया। ब्राह्मणों के देवताओं और सिद्धान्तों के साथ ही उन्हों ने अपने परम्परागत ललाम[३], महत्, महान् आदिक को भी रक्खा। "सुवर्णमात्मन्नपश्यत्, तत् प्राजनयत्" यह वाक्य बड़े ही महत्त्व का है, क्योंकि सुवर्ण के स्थान में हिरण्यगर्भ बदल कर शेष सारा वाक्य लगभग इसी रूप में व्रात्य अनुश्रुति से सम्बद्ध एक उपनिषद् ने यों दुहराया है,—यो देवानां प्रभवश्च उद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिर्हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्।[४] मेरे विचार में यह अब तक का अप्रजनित सुवर्ण ही पिछले सांख्यों का अव्यक्त प्रधान या प्रकृति है, जिस में से व्यक्त (संसार) का विकास होता है। व्रात्य अनुश्रुति के एक दूसरे[५] सूक्त में त्रिगुणवाद की तरह यहाँ हम पिछले सांख्यों की बहुत-सी परिभाषाओं—महत्, महान्, आदि का मूल भी पाते हैं।

इस सूक्त का, जिसे मैं व्रात्यकाण्ड में सब से अर्वाचीन समझता हूँ, रचनाचातुर्य इस से प्रकट है कि अव्यक्त सुवर्ण से व्यक्त पहली परम्परा जिस का अन्त सत्य पर होता है, सब नपुंसकलिङ्गी वस्तुओं की है, तब दिव्य पुरुष-सत्ताओं की दूसरी परम्परा आरम्भ होती है जिस का अन्त एकव्रात्य पर होता है। वह व्रात्यों के चामत्कारिक धनुष-स्थानीय ज्याहृड को उठाता है और उस से सारे विरोधियों को जीत डालता है और तब अपने विश्व-भ्रमण का आरम्भ करता है, जिस का सूक्त २ प्र में वर्णन है।

---

[१] देर व्रात्य० ३०७।

[२] देर व्रात्य० ३१०।

[३] ललाम शैवों के साम्प्रदायिक चिह्न पुण्ड्र का पर्याय है। कालाग्निरुद्र नामक एक सारी की सारी उपनिषद् इसी पुण्ड्र के विराट् स्वरूप के वर्णन में लिखी गई है।

[४] श्वेत० ३. ४. २।

[५] अथ० १०. ८. ४३।

सूक्त १ में एक बड़ी कठिनाई है जिस की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मंत्र ६ का एकव्रात्य आदिव्रात्य की अन्तिम अभिव्यक्ति है। अतः जै मि० उ प० ब्रा० की तरह हमारे इस सूक्त में ये दोनों एक नहीं। इस विरोध का कारण यह है कि यह सूक्त आदिव्रात्य से प्रकट होने वाली एक परम्परा स्थापित करना चाहता है; जिस में कि आदिव्रात्य को इस प्रकार हर एक अव्यक्त पदार्थ से परे, देवगाथाओं के क्षेत्र से अलग, एक अध्यात्म-पुरुष के रूप में माना गया है। इस प्रकार विश्वपुरुष व्रात्य की पुरानी परम्परागत देवगाथायें, जो २—९ तथा १४—१८ सूक्तों में हैं, आदिव्रात्य के एकाकी स्वरूप से मेल नहीं खातीं। अतः इन सूक्तों का मुख्य विषय व्रात्यों के देवगाथाओं में कल्पित मुखिया एकव्रात्य को बना दिया गया है, यद्यपि मूल प्रसंग व्रात्य का ही था[1]। इसी से पिछले वाङ्मय में व्रात्य और एकव्रात्य को एक माना गया है। सो ठीक भी है, क्योंकि ये एक ही सत्ता के दो विभिन्न रूप हैं।

२—७ सूक्तों में विश्वपुरुष व्रात्य के भ्रमण और कर्मकाण्ड का वर्णन है, जो कि लौकिक व्रात्य के नमूने पर है। इन सूक्तों में दो मूल कल्पनायें हैं। पहली कर्मकाण्ड-सम्बन्धी, अर्थात् लौकिक व्रात्य के पर्यटन तथा उस के पवित्र अनुष्ठान; इन में प्रधान कर्म महाव्रत है, जैसा कि मैंने अपनी पुस्तक देरव्रात्य० (पृ० २४६ प्र) में दिखाया है। दूसरी विश्वरचनाविषयक; अर्थात् विश्व का भ्रमण करने वाला आदिव्रात्य वायु है, जिसे हम भारतीय हेर्मेस (Hermes) या ओदिन (Odin) कह सकते हैं। इन दोनों कल्पनाओं का समन्वय इन सूक्तों में हुआ है; और जैसे लौकिक महाव्रत की परिसमाप्ति वर्षा, अन्न और भूमि का उपजाऊपन आदि विश्व की पोषक शक्तियों की उत्पत्ति से होती है, ठीक वैसे ही पहले अनुवाक के अन्त और दूसरे के आरम्भ में ये शक्तियाँ प्रकट हो कर पृथ्वी और द्युलोक में अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं। निस्सन्देह हम कह सकते हैं कि प्रथम अनुवाक के ये सूक्त एक प्रकार से सृष्टि-महाव्रत का वर्णन करते हैं, जिस में मुख्य पात्र सनातन व्रात्य है। यही विचार १४ वें सूक्त में, जिस में कि विश्वपुरुष व्रात्य की सवारी द्वारा दिव्य शक्तियों का अवतार होता है, तथा १५—१७ सूक्तों में भी जहाँ कि व्रात्य का उछ्वास-प्रछ्वास संपूर्ण विश्व की प्राण-धारक क्रिया के रूप में वर्णित है, है। सृजनेवाली शक्ति के रूप में चमत्कारी उछ्वास-प्रछ्वास महाव्रत का एक मुख्य अङ्ग था।

दूसरा सूक्त ४ गणों में विभक्त है जिन में से हर एक फिर ७ गणावसानन: में विभक्त है। पहला गण यों है—"वह (विश्व-व्रात्य) उठ खड़ा हुआ; वह पूर्व दिशा को चला (=अनुव्यचलत्), बृहत् रथन्तर आदित्य और सब देवता (=विश्वेदेवाः) उस के पीछे चले। ऐसे विद्वान् व्रात्य की जो बुराई करता है, बृहत् रथन्तर आदित्य और विश्वदेव सब से अपने को जुदा कर लेता है। जो यों जानता है, वह बृहत् रथन्तर आदित्य और विश्वदेवों का प्रेम-पात्र (=प्रियंधाम) हो जाता है। पूर्व में इस व्रात्य की श्रद्धा रखैल (=पुँश्चली), मंत्र भाट (=मागध), विज्ञान वस्त्र, दिन पगड़ी (=उष्णीश) रात्रि केश, दोनों पीले (=हारीतौ) गोले सूर्य चाँद दो अलंकार (कुण्डल), भूत और भविष्य आगे पीछे चलने वाले दो अनुचर (=परिष्यन्दौ), मन वाहन (=विपथ) मानसून (=मातरिश्वा) और ढाढ़ (=पवमान) खींचने वाले (=विपथवाहौ), तूफ़ान सारथी, बबूला (=वातूल) चाबुक (=प्रतोद), कीर्ति और यश चोबदार (=पुरःसरौ) हैं। जो यह जाने उसे कीर्ति और यश मिलता है।"

---

[1] मि० अथ० ३.१५ प्र; १८।

चारों गण इसी तरह हैं। उन में व्रात्य चारों मुख्य दिशाओं में भ्रमण करता है। हर एक दिशा में उस का मार्ग भिन्न है, तथा देवता साम और हर दिशा में अनुसरण करने वाली अन्य शक्तियाँ विभिन्न हैं। यहाँ विश्वव्रात्य के साथी सामान आदि सब वही हैं जो धर्मानुष्ठान के लिए देश में घूमने वाले लौकिक व्रात्यों के। जैसे ऋ० १०.८५ में सूर्या के विवाह में उस के वस्त्र सामान सखियाँ आदि मंत्रों सूक्तों व अन्यान्य प्राकृतिक व दैवी सत्ताओं को बनाया गया है, वैसे ही यहाँ विश्व-व्रात्य के। दूसरी तरफ़ एक छायामयी तुलना द्वारा लौकिक व्रात्य के साथी सामान आदि भी सब वही हैं, यह सूक्त ३ से सिद्ध किया जा सकता है। °वहाँ विश्वव्रात्य की आसन्दी (=चौकी) को बनाने वाली विभिन्न शक्तियों की तुलना लौकिक पुरोहित की आसन्दी के अवयवों से की गई है।

सूक्त का सामान्य अभिप्राय स्पष्ट है। व्रात्य पहले पूरब को प्रस्थान करता है, फिर दक्खिन को मुड़ता है, तब पच्छिम और उत्तर को। यों उस की सवारी पूरा चक्कर काटती है। यह पवित्र प्रदक्षिणा है। महाव्रत में वेदी की प्रदक्षिणा, जिस से कि बहुत-सी गुप्त सिद्धियाँ उस पवित्र आंगन में प्रकट हो जातीं और उस की क्रियाशक्तियाँ जाग पड़तीं मानी जाती हैं, इसी का प्रतीक है। विश्वव्रात्य मानों अपनी अमलदारी की तरह संसार की, जो कि उस की जगत् सृजने और पालने वाली चेष्टाओं की पुण्य लीलाभूमि है, परिक्रमा करता है।

छठे सूक्त में इसी प्रकार एक दूसरी परिक्रमा का वर्णन है। वहाँ प्राकृतिक शक्तियों की एक अत्यन्त कौतुकमयी परम्परा उस का अनुसरण करती है। ज़्यादा विस्तार न कर के संक्षेप में मैं इतना ही कह देता हूँ कि इन दिशाओं में, जिन में व्रात्य घूमता है, और उन में व्रात्य का अनुसरण करने वाली शक्तियों में ख़ास प्रकार का सम्बन्ध है। सारा विश्व यहाँ विश्वव्रात्य के सञ्चालन में चलायमान है। दिशायें किन्हीं अचिन्त्य प्रान्तों की तरफ़ ऊँची-सी उठ रही हैं, जिन में से एक मानव कल्पना से इतना दूर है कि यह समझा गया है कि व्रात्य वहाँ से न लौटेगा। सचमुच ही वह उस के बाद महिमा-सद्रु: (=बहती हुई महानता) में परिवर्तित हो जाता—संसार को घेरने वाला महासमुद्र बन जाता—है (सूक्त ७)। व्रात्य वायु की तरह विश्व के कोने कोने में व्याप जाता है, कोई जगह उस की सचेष्ट समुपस्थिति से नहीं बचती; और जहाँ जहाँ वह जाता है प्राकृतिक शक्तियाँ जाग उठतीं और उस का अनुगमन करती हैं।

इस सूक्त से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि व्रात्य-देववादियों की अपनी एक आधिदैविक सृष्टि थी, जिस में बहुत-से लोकों का, जो ब्राह्मण वाङ्मय से एक प्रकार से अपरिचित थे, उल्लेख था, जिन में हर एक का एक अधिष्ठातृदेवता अलग था, और वे सब सनातन व्रात्य—एक सार्वभौम परमेश्वर—के अधीन थे।

तीसरे सूक्त में विश्वव्रात्य पूरे एक वर्ष सीधा खड़ा रहता है। व्रात्य का यह अनुष्ठान भी लौकिक महाव्रत के उस अनुष्ठान के नमूने पर है, जहाँ एक मनुष्य बहुत देर तक खड़ा रह कर सूर्य का स्तवन करता और बड़े प्रभावोत्पादक स्तोत्र पढ़ता हुआ सूर्य के साथ साथ घूमता है। मैं समझता हूँ स्कम्भ के अनुष्ठान की कल्पना भी, जिस का व्रात्य-कल्पना से निकट सम्बन्ध है, इसी नमूने पर हुई है।

और ठीक जैसे कि महाव्रत में उद्गाता के लिए आसन्दी बनाई जाती है, यहाँ देवता लोग साम और अन्य विश्वशक्तियों से व्रात्य के लिए एक आसन्दी तैयार करते हैं। यह समता कोई मेरा अपना अनुमान नहीं, साम के मूल सन्दर्भों[१] द्वारा इसे सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि व्रात्य की आसन्दी में

---

[१] जैमिनीय ब्रा० २. २५. २६; लाट्यायन श्रौत सूत्र ३. ६. ७ और हेर व्रात्य० २४६ प्र।

आसन्दी के भिन्न भिन्न अवयवों और कतिपय रहस्यमयी शक्तियों का साम्य वैसा ही है जैसा कि महाव्रत की आसन्दी में। आसन्दी की बनावट के रहस्य का विषय-व्रात्य आधिदैविकों को बड़ा प्रिय था। इसी से यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं कि इस आसन्दी-कल्पना को व्रात्यों के एक नेता कुशीतक के सम्प्रदाय ने व्रात्य-मत छोड़ने के बाद भी जारी रक्खा और बढ़ाया; कौशीतकी उपनिषद् (१.५) का वह एक मुख्य भाग है।

क्योंकि व्रात्य की आसन्दी महाव्रत के उद्गाता की आसन्दी है और प्रमुख सामों द्वारा बनी है, इस से यह प्रकट है कि व्रात्य को महान् विश्वउद्गाता के रूप में कल्पित किया गया है, जो साम-गान और ओङ्कार-नाद से विश्व को शब्दब्रह्म से परिपूर्ण कर देता है। तब समस्त देव-प्रजा उस की पदाति बन जाती है और उस के मन के संकल्प ही उस के दूत।

यही विचार चौथे और पाँचवें सूक्त में प्रकट हुआ है। वहाँ वर्ष के बारहों महीने—जिन के उपजाऊपन के लिए उद्गाता गा रहा है—तथा सब महासाम और परमात्मा के अर्थात् स्वयं आदिव्रात्य के अपने सात विभिन्न रूप उस के सहायक साथी बनाये गये हैं, जो उसे एक जीवित शक्ति के रूप में, जिस में विश्व की अन्य सब सत्तायें केन्द्रित हैं, सब दिशाओं और प्रदिशाओं में घेरे हैं।

महाव्रत में उद्गाता आसन्दी पर बैठ सामगान करता था, जिस के पश्चात् महदुक्थ का पाठ होता। अब दोनों को मिला कर एक पुरुष—अर्थात् महाव्रत के अधिष्ठातृदेवता—के रूप में कल्पित किया गया। ऐतरेय आ० २.३.३. के अनुसार यह पुरुष ही संसार के चारों तरफ़ का महासमुद्र है। इस महासमुद्र से जल और जलों से अन्न पैदा होते हैं। ठीक इसी कल्पना की तुलना में ७ वें सूक्त में विश्व-महाव्रत का प्रमुख पुरुष 'वहती महानता' हो जाता, पृथ्वी के अन्त तक पहुँचता और महासमुद्र बन जाता है। और उस के पीछे पीछे प्रजापति और परमेष्ठी, पिता और पितामह, और जल वर्षा बन कर वहते हैं। और तब श्रद्धा और यज्ञ, जगत् और अन्न, तथा अन्न खाने की शक्ति (अन्नाद्य) अर्थात् जगत् की पोषक शक्तियाँ पैदा हो कर चलती हैं। विश्व-महाव्रत यों सफल और सम्पूर्ण हो गया।

अब चूँकि जगत् और उस की पोषक शक्तियाँ—श्रद्धा, यज्ञ, अन्न और अन्नाद्य पैदा हो गये, अतः अनादि व्रात्य से, जो कि (विश्व-महाव्रत की प्रेरक शक्तियों द्वारा) रज से प्रदीप्त हो उठता है (=अरज्यत्), राजन्य की उत्पत्ति होती है। राजन्य एकाएक विशः (कबीलों) सजात वान्धवों (=सबन्धून्) अन्न और अन्नाद्यों के ऊपर होने का आकांक्षी हो जाता है (अभ्युदतिष्ठत्)[1]।

९ वें सूक्त में व्रात्य विशः की तरफ़ बढ़ता—विशः की सत्ता स्थापित करता—और इस प्रकार राजन्य के मनोरथ को पूर्ण करता है। उस के पीछे पीछे सभा, समिति, सेना और सुरा अर्थात् उन ब्राह्मणेतर लोगों के बड़े बड़े जमाव और उत्तेजनापूर्ण पान-गोष्ठियाँ चलती हैं। इस सूक्त की व्याख्या उन सुरापान-महोत्सवों को ध्यान में रख कर करनी चाहिए, जिन की झलक शतरुद्रिय में है तथा जिन का वर्णन मेगॉस्थनेस् ने भारतीय दिओनुसस् अर्थात् रुद्र-शिव की पूजा का उल्लेख करते हुए किया है। समयाभाव से मैं ज़्यादा बारीकियों में नहीं जा रहा हूँ, उन का सविस्तर वर्णन अपने ग्रन्थ देर व्रात्य जि० २ में दूँगा।

---

[1] सूक्त ८।

१०—१३ सूक्तों में लौकिक व्रात्य को अतिथि के रूप में देश में घूमते हुए तथा राजन्यों और जन-साधारण के घरों में जाते हुए दिखलाया गया है। इन सूक्तों का, अतिथिब्राह्मण वाले सूक्तों[1] से, जो कि इसी तरह पर्यायों में रचे गये हैं और व्रात्य अनुश्रुति से सम्बन्ध रखते हैं, तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र[2] के अतिथि-सन्दर्भों से, जहाँ इन्हीं सूक्तों के अक्षरशः उद्धरण दिये गये हैं, गहरा सम्बन्ध समझना चाहिए। इस प्रकार की तुलना से यह सिद्ध किया जा सकता है कि अतिथि घूमने फिरने वाला साधु ही है, जो पूर्वकाल में पुरोहित या जादूगर होता, और वाद में सिद्ध, जो अपने साथ अलौकिक वातों का गुप्त ज्ञान लाता और अपना स्वागत करने वालों को असीस देता। ऋग्वेद और अन्य धर्मों से तुलना करने पर मालूम पड़ता है कि यह आर्यावर्त्त और युरोप की उभयनिष्ठ संस्था थी; और प्राचीन भारत में व्रात्य लोग उस के ब्राह्मणेतर प्रतिनिधि थे। वह जहाँ जाता उस की आव-भगत वड़ी श्रद्धा-भक्ति से होती और व्रात्य देवता की तरह, जिस का कि वह पार्थिव प्रतिनिधि है (१३.८.९) उस का स्वागत किया जाता। इस आतिथ्य का वड़ा माहात्म्य है। यदि वह किसी घर में एक रात ठहरे तो गृही पृथ्वी के सव पुण्यलोकों को पा जाता है, दूसरे दिन ठहरे तो अन्तरिक्ष के, तीसरे दिन द्यु के, चौथे दिन पुण्य के पुण्यलोकों को तथा पाँचवें दिन अपरिमित पुण्यलोकों को।

ऐसा मालूम होता है कि बहुत-से कपट-व्रात्य (व्रात्यब्रुव) भी होते थे, जो सिर्फ़ व्रात्यों के नाम का फ़ायदा उठाने के ख़याल से व्रात्य वनने का ढोंग करते[3]। १३ वें सूक्त में गृहपति को एक वड़ा मज़ेदार आदेश है जिस से कि वह कपट-व्रात्य के आने से भी वही फल पा सके जो सच्चे व्रात्य के आने पर[4] होता है।

१२ वें सूक्त के आरम्भ में यह पता चलता है कि अतिथि अव घूमते धर्मगुरु और जादूगर के रूप में पहले व्रात्यों वाली सजधज और मण्डली के साथ नहीं आता; अव तो यह एवं विद्वान् व्रात्यः है, जिस के ज्ञान ने अव पुराने कर्मकाण्ड की जगह ले ली है। प्राचीन भारत में एक ही व्यक्ति ऐसा है जिस पर यह वात घट सके, वह है परिव्राजक योगी या संन्यासी। योगियों-संन्यासियों का सव से पुराना नमूना व्रात्य है।

पहले पहल अजव जान पड़ने वाला १४ वाँ सूक्त जिसे रूडाल्फ़ रॉथ ने तो एकदम ही फ़िज़ूल और निरर्थक करार दिया था, प्रारम्भिक होते हुए भी रहस्यवाद का एक उत्तम गम्भीर सन्दर्भ है, जिस का भाव अथ० ९.६ के अतिथिब्राह्मण वाले प्रकरण में भी स्फुट हुआ है, और सम्भवतः यहाँ भी यही कारण है कि अतिथि-सूक्तों के वाद ही इसे स्थान मिला है। इस में भी १२ गण हैं जिन की रचना उसी क्रम से हुई है।

"ज्यों ही वह (व्रात्य) पूरव को चला मरुत की सेना उत्पन्न हो कर (=भूत्वा) और मन को भोक्ता (=अन्नाद्य) वना कर उस के पीछे हो ली। जो यों जाने, वह मन के अन्नाद्य से अन्न खाता है।"

वारहों दिशाओं में इसी प्रकार विश्व-शक्तियों व दैवी सत्ताओं की १२ विभिन्न मंडलियाँ उठती हैं और व्रात्य के पीछे हो लेती हैं। वे वारहों अलग अलग अन्नाद्य भी वनाती हैं, जिन सव के साथ दीक्षित लौकिक व्रात्य भोजन करता है।

---

[1] अथ० ९. ६ ।

[2] २. ३. ७ ।

[3] अथ० १५. १३. ६ ।

[4] वहीं, ६—९ ।

इस सूक्त की ठीक व्याख्या के लिए प्राचीन भारतीयों के उस तत्त्वज्ञान को समझना आवश्यक है जिसे हम अन्न-मीमांसा कह सकते हैं और जो व्रात्य-विचारकों का एक प्रिय विषय था।

इन समस्यांओं ने कि अन्न शरीर और मन की पोषक शक्ति के रूप में कैसे परिवर्त्तित हो जाता है, कि खाद्य पदार्थों (अन्नों) में वस्तुतः खाद्य (अन्न) क्या है, और कि मनुष्य में वह कौन सी शक्ति है जो उसे हज़्म करती है, बहुत से वैदिक विचारों को जगाया था। और सच ही प्रकृति और चेतन की समस्या का, जिस का हल आज भी नहीं किया जा सका, यह आरम्भिक स्वरूप था। इन्हीं चिन्ताओं में अन्न और अन्नाद का विचार जन्मा,—अन्न अर्थात् विश्व का पोषक तत्त्व जो अपने को विभिन्न रूप, तनु या मूर्ति में बाँट लेता है, और अन्नाद या भोक्ता अर्थात् सचेष्ट तत्त्व जिसे कि प्रायः अन्तरतम में बसने वाला अग्नि या प्राण माना जाता है, और जो अपने को विभिन्न लोकों में बाँट लेता है।

यही प्रधान और पुरुष का निराला द्वैतवाद है?[1]

अन्नाद बन कर अथवा विश्व अन्नाद्य के साथ विशेष दिशा में बैठ कर अन्न खाने से, साधक विश्व के उस भाग से जीवित सम्पर्क स्थापित कर लेता है। १४ वें सूक्त का निर्माण इन्हीं विचारों से हुआ है, और इसी लिए यह सूक्त हमारे व्रात्यकाण्ड के गूढ अभिप्राय का द्योतक है। जो आध्यात्मिक चित्र यह खींचता है वह बहुत ही विशाल है;—विश्व का कोना कोना व्रात्य की उत्पादक चेष्टाओं और दैवी सत्ताओं से समाक्रान्त है, वे अपने अपने स्थान की अधिष्ठात्री हैं, और वहाँ अन्नादों को नियुक्त करती हैं जो कि साधकों को अपने विशेष क्षेत्र की गुप्त शक्तियों में दीक्षित करते हैं। यह विश्व एक सुव्यवस्थित सजीव देह है, जिस की मूल प्रेरक शक्ति सनातन व्रात्य है और इस लोक में उस का हिस्सेदार विद्वान् व्रात्य। योगदर्शन में इसी आशय को यों स्पष्ट किया है, 'योगी का मन मूल प्रकृति अथवा प्रधान से, जो कि सब पदार्थों की अभिव्यक्ति और लय का स्थान है, सीधे सम्पर्क में रहता है, और इसी से सब दिशाओं कालों और पदार्थों से भी।' योगी की ऐहलौकिक चमत्कारपूर्ण सभी विभूतियों का मूल स्रोत यही है।

हमारे काण्ड में बारबार आने वाले वाक्य—प्रियं धाम भवति · य एवं वेद—में इसी आशय को तनिक दूसरे ढंग से कहा है—साधक में अभिव्यक्त होने वाली संपूर्ण शक्तियाँ उस में सजीव रूप में अवतरित हो जाती हैं।

यह सूक्त क्या निरर्थक आँय बाँय है? हमें यह न भूलना चाहिए कि विश्व के क्रम-नियम और उस से अपने सम्पर्क के बारे में वैदिक ऋषियों की धारणायें हमारी धारणाओं से मिलें यह आवश्यक नहीं है।

१५—१७ सूक्तों के आध्यात्मिक विचार भी कम महत्त्व के नहीं। व्रात्य 'तीन बार सात गुणे' ताल से विश्व के अन्तरङ्ग में प्राणवायु फूँकता है, और इस तरह इसे अनुप्राणित रखता है। उस के इक्कीस प्राण हैं—७ प्राण अर्थात् आगे-श्वास, ७ अपान अर्थात् नीचे-श्वास और ७ व्यान अर्थात् बीचोंबीच-श्वास; उस में से कइयों के विभिन्न नाम हैं, और हर एक परोक्ष या अपरोक्ष विश्व का भाग, अर्थात् उस की गूढ धारक शक्ति, है।

---

[1] दे०—ऐ० आ० २.२; तै० उप० २.२; ऐ० उप० १.३; बृ० उप० १.५; ५.६; मैत्री उप० ६.११ प्र; कठोप० ३.४; महा-नारा० उप० ११; तथा ऋ० १.१८७; छा० उप० ३.१३.७-८।

हम जब अपने इस काण्ड के अन्तिम सूक्त पर निगाह डालते हैं तो व्रात्य-विचार का एक नया पहलू सामने आता है—अर्थात् सनातन व्रात्य विश्व-पुरुष के रूप में। जैमि० उप० ब्रा०[1] से ज्ञात होता है कि व्रात्य लोग "ऊर्ध्व-लोकों में स्थित तथा यज्ञ की बलि से घृणा करने वाले देवाधिदेवों का," तथा ओ३म् इस अक्षर का गूढ ज्ञान भी रखते थे। इस प्रकार हम व्रात्य-विचार के प्रमुख आध्यात्मिक विषयों को पहचान सकते हैं; और आगे प्रश्न, श्वेताश्वतर, मैत्रो आदि रुद्र-शिव की अनुश्रुतिपरक उपनिषदों में इन्हीं का विवेचन और अधिक दार्शनिक ढंग से पाते हैं। इन के साथ सम्बद्ध काठक, मुण्डक और महानारायणोपनिषद् का नाम भी जोड़ा जा सकता है। क्योंकि उपनिषदों में स्पष्ट ही सांख्य परिभाषाओं—मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार—का प्रयोग है, और क्योंकि अथर्ववेद के एक व्रात्य-सूक्त में त्रिगुणवाद का उल्लेख भी हम देख चुके हैं, इस लिए हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि आरम्भिक सांख्य और योग की नींव, जिन का आरम्भ इतना पहले वैदिक काल में मिल रहा है, पहले पहल व्रात्य सम्प्रदाय में ही पड़ी।

अब मैं अन्त में थोड़े से वाक्यों में इस प्रश्न पर विचार करता हूँ कि आया मेरी यह स्थापना कि अथर्ववेद के १५वें काण्ड का व्रात्य वाद के योगियों का अग्रगामी है, मान्य हो सकती है। निश्चय ही महादेव के रूप में व्रात्य-ईशान की स्थिति पिछले योग-दर्शन के ईश्वर अथवा परम पुरुष की स्थिति से ठीक मेल खाती है। तब, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १०—१३ सूक्तों का एवं विद्वान् व्रात्यः परिव्राजक योगी का पूर्वरूप है।

पर क्या यहाँ हमें पिछले योग की किन्हीं विशेष क्रियाओं का आभास मिल सकता है?

इस काण्ड में वर्णित विश्वव्रात्य और लौकिक व्रात्य का पारस्परिक सम्बन्ध यहाँ संक्षेप में बता देना आवश्यक है। यह बात ख़ास कर सूक्त २ से स्पष्ट है कि सनातन व्रात्य के कार्यों और स्वरूप को लौकिक व्रात्य के नमूने पर ही गढ़ा गया है। अतः सनातन व्रात्य के वर्णन से लौकिक व्रात्य के विषय में कुछ बातें हम जान सकते हैं। यदि सनातन व्रात्य तीन-बार-सतगुने ताल से साँस लेता है तो लौकिक व्रात्य भी इसी तरह की कोई क्रिया अर्थात् कोई ख़ास तरह का प्राणायाम अवश्य करता होगा। फिर यदि सनातन व्रात्य पूरे एक वर्ष भर सीधा खड़ा रहता है तो देर तक सीधे खड़े रहने की क्रिया लौकिक व्रात्य से छिपी न होगी; क्योंकि विशेषतः मैत्रायणी उपनिषद् के अनुसार, जिस का व्रात्य-अनुश्रुति से निकट सम्बन्ध है, राजा बृहद्रथ ने एक हज़ार दिन तक ऐसा किया था और तब देवताओं ने प्रकट हो कर उस के सम्मुख औपनिषद ज्ञान का प्रकाश कर दिया था।

यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि व्रात्यों की बहुत-सी क्रियाओं का मूल पुराने कर्मकाण्ड में निहित है। उदाहरणार्थ, सामगायकों के नियमित प्राणायाम, और उन के साथ प्राणों के विषय में आध्यात्मिक विचार—जैसा कि हम उन्हें विशेषतः जैमि० उप० ब्रा० में पाते हैं—उपासकों के कर्मकाण्ड छोड़ने पर बन्द नहीं हो गये, बल्कि वे नये प्रकार के पवित्र जीवन में ध्येय-प्राप्ति के साधन रूप में अङ्गीकार कर लिये गये। इसी प्रकार, जब कि सामों का गायन कर्मकाण्ड के साथ साथ छोड़ दिया गया, तब भी ओंकार के जाप को मन की एकाग्रता में सहायक मान कर प्रचलित रक्खा गया। व्रात्य लोग ओ३म् इस अक्षर के रहस्य के ज्ञाता थे, सो पहले ही कह चुका हूँ। इसी तरह बैठने का निश्चित आसन तब भी जारी रहा जब कि आसन्दी को अकेले फिरने वाले व्रात्य

---

[1] १.१०.३४; मि० देर व्रात्य० पृ० २६८।

की स्वच्छन्दता में बाधक मान कर छोड़ दिया गया[1]। इन सब योग-तत्वों का वर्णन ३—५ सूक्तों में है, जहाँ उन का तब तक महाव्रत-अनुष्ठान से, जिस में से कि उन का विकास हुआ, सम्बन्ध है।

यह कहते समय कि अथर्व का १५वाँ काण्ड एक योग-ग्रन्थ है[2] निःसन्देह मैंने अत्युक्ति की थी। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस काण्ड में उस सनातन व्रात्य-विषयक गुह्य अनुश्रुति विद्यमान है जिस का कि दीक्षित साधक लोग असली एवं विद्वान् व्रात्यः बनने के लिए ध्यान किया करते थे। अतः स्पष्ट ही विश्वशक्ति का ध्यान और परमेश्वर से साहचर्य-संपादक यह पवित्र ज्ञान उन व्रात्यों के जीवन का एक मुख्य अंग था, जो कर्मकाण्ड को छोड़ तत्त्वज्ञान और तत्सम्पादक अभ्यासों की ओर झुके।

और क्योंकि वे अपने आप को सब देवताओं और विश्व शक्तियों का प्रियं धाम अनुभव करते तथा विश्व के सब भागों की अधिष्ठात्री शक्तियों से अपना सजीव सम्बन्ध समझते; यही नहीं बल्कि स्वयं अपने को देवाधिदेव व्रात्य अनुभव करते थे, इस लिए यह मनःस्थिति, जो कि अपनी चरमावस्था में समाधि—अर्थात् अपरिमित आत्मविस्तार और अभ्युदय—की एक दशा में परिणत हो जाती है, अवश्य ही इन तत्त्वज्ञों में से कुछ अत्यधिक प्रतिभावान् महाभागों की हो जाती होगी। अतः इस काण्ड में पिछले योग के प्रायः सभी मुख्य तत्त्वों का पूर्वाभास मिलता है।

मैं यह नहीं कहता कि व्रात्य-प्रकरण की सभी पहेलियाँ बूझ लो गईं। पर अनेक अब तक अनसुलझी सूक्ष्म गुत्थियों के अलावा इस काण्ड का सामान्य आशय भी प्रकट हो गया है और वैदिक काल के इतिहास में इस का स्थान निश्चित हो गया है। व्रात्य-धर्म का सम्बन्ध अथर्व से पहले या पिछले काल से स्थापित करना अब अगले अनुसन्धान का कार्य होगा। अब तक की मेरी खोज से जो बातें पाई गई हैं, उन से यह सम्भावना होती है कि व्रात्य लोग, जो आर्य तो निश्चय से थे ही, भारत में आने वाले आर्य प्रवासियों के पहले समूह में से थे। यदि कहीं पञ्चविंश ब्राह्मण २४.१८.५ प्र में उल्लिखित लुप्त ब्राह्मण की प्रति मिल सके तो यह इतिहास बहुत कुछ सुलझ सकेगा, क्योंकि उस में व्रात्यों के नेता बुध की अनुश्रुति थी।

और दूसरे यह सिद्ध हो गया कि सांख्य-योग की जड़ भी यहीं खोजी जानी चाहिए।

इस प्रकार अथर्व का बहुत बदनाम १५वाँ काण्ड भारत के प्राचीन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। यह एक लुप्तप्राय वाङ्मय का एकमात्र अवशेष है अतः इस का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।[3]

---

[1] एक जातक-चित्र से सिद्ध है कि पिछले काल में भी योगी लोग आसन्दी बरतते थे। दे॰—देर व्रात्य पृ॰ ३२ टि॰।

[2] दी अनफ़ैंग देर योगप्राक्सिस पृ॰ १८४।

[3] इन स्थापनाओं का विस्तृत पोषण मेरी पुस्तक देर व्रात्य जिल्द २ में होगा।

सद्रु*

प्रो० डा० ऑटो स्ट्रॉस, पीएच० डी०, ब्रेस्लाउ विद्यापीठ, जर्मनी

अथर्ववेद-संहिता के व्रात्यकाण्ड (१५) के सातवें पर्याय का पहला मन्त्र यह है :—

स मंहिमा सद्रुंर्भत्वान्तं
पृथि्व्या अंगच्छत्समुद्रो'ऽभवत् ।

इस पङ्क्ति का अनुवाद ह्विटूनी-लॅन्मॅन ने इस प्रकार किया है[1] :—

'वह महत्ता उस में से सीधी निकल कर (Becoming Sessile) पृथ्वी के अन्त तक गई। समुद्र हो गई।' इस के समर्थन में वहीं निम्नलिखित टिप्पणी दी गई है, "ह्वि० ने हाशिये पर पेंसिल के नोट से इस प्रकार सुझाया है—'अथवा वह उस में से सीधी निकलने वाली महानता बन कर इत्यादि'। ऑफ्रेख़्त और संस्कृत-वोर्टेर्बुख ने सन्देह प्रकट किया है कि सद्रु और समुद्र शब्द में सम्बन्ध दीख पड़ता है। पर समानता इतनी थोड़ी है कि निश्चय से कुछ कहा नहीं जा सकता। आफ्रेख़्त सद्रुर्भूत्वा का अर्थ 'अपने आप को गति दे कर' (स + द्रुः भूत्वा) करता है। और वोर्टेर्बुख भी इसी व्युत्पत्ति का समर्थक प्रतीत होता है। परन्तु यह मनाना कठिन है……।"

हमारा पहला सवाल यही होगा कि क्या कोई पुराना भारतीय प्रमाण भी सद्रु, की इन व्याख्याओं का समर्थक है ? और इस का जवाब है हाँ, क्योंकि पाणिनि की अष्टाध्यायी के ३·२·१५९ सूत्र दाधेट्सिशदसदो रु के अनुसार इन धातुओं के आगे रु होता है, और ३·२·१३४ सूत्र के अनुसार इस उकारान्त प्रत्यय का अर्थ होता है तच्छील तद्धर्म तत्साधुकारि। इस के अतिरिक्त काशिका में ३·२·१५९ का उदाहरण सद्रु दिया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि पाणिनि सद्रु का अर्थ समासन्न (Sessile) करने के पक्ष में है।

अब हम दूसरी व्युत्पत्ति पर आते हैं, जिसे लॅन्मन के मत में ठीक मानना कठिन है। "अपने आप को गति दे कर" इस अनुवाद के प्रस्तावक दोनों जर्मन विद्वान् ऑफ्रेख़्त और रोडॉल्फ रॉथ इतने बड़े विद्वान् हैं कि उन की सम्मति को इतनी आसानी से उड़ाया नहीं जा सकता। रॉथ जो कि वोर्टेर्बुख के वैदिक लेखों के लिए ज़िम्मेदार हैं, वैदिक विचारों को समझने में बहुत प्रवीण थे। क्या वास्तव में ऐसी कोई युक्ति नहीं है जिस से उन का द्रु धातु से सद्रु शब्द की व्युत्पत्ति करना, और समुद्र शब्द से उस का सम्बन्ध स्थिर हो सके ?

मेरे विचार में पाणिनि से भी पुराने एक आचार्य का मत इस के पक्ष में है। निरुक्त (२.१०) में यास्क ऋक् १०.९८.५ पर टीका करते हुए कहते हैं—

समुद्रः कस्मात् ? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः । समभिद्रवन्त्येनमापः ।…

---

* इंडिया इन्स्टीट्यूट् आफ़ ड्यूश एकॉडमी, म्युन्शन (जर्मनी) की कृपा से प्राप्त।

[1] हार्वर्ड ओरियंटल सीरीज़, जि० ८, पृ० ७८१।

इस से यह स्पष्ट है कि यास्क ने समुद्र और द्रु धातु में सम्बन्ध समझा था। आधुनिक दृष्टि से यह सम्बन्ध भले ही अद्भुत प्रतीत हो, और पाणिनि के वैज्ञानिक सम्प्रदाय-द्वारा यह भले ही परित्यक्त है, पर ब्राह्मण-ग्रन्थों के ढंग से यह मेल खाता है। और अथर्ववेद १५.७.१ के रचयिता का भी यही अभिप्राय था। स्पष्ट ही उस ने समुद्र के साथ साथ सद्रु को उसी प्रकार रक्खा है जैसे पर्याय ८.१ में राजन्य के साथ अरज्यत को।

इस लिए मेरा विचार यह है कि व्रात्य-काण्ड में हमें द्रु से ही सद्रु की व्युत्पत्ति करनी चाहिए, और इस का अनुवाद 'उस ने अपने आप को गति दे कर' यही करना चाहिए।

बहुत से पीछे के कवियों ने भी समुद्र और द्रु धातु के इस सम्बन्ध का अनुभव किया है और अलङ्कार रूप में इस का प्रयोग करते रहे, चाहे निरुक्ति की दृष्टि से वे इसे ठीक न मानते रहे हों। जैसे भगवद्गीता (११.२८):—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगा:
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥

ऋग्वेदेर देवता

श्रीविनयतोष भट्टाचार्य, एम०ए०, पिएच्०-डि०, बड़ोदा

[ऋग्वेद के देवता केवल प्रकृति-देवता नहीं हैं जैसा कि साधारणतः समझा जाता है। यह विचार कि ऋग्वेद में वर्णित सब देवता प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियों की अभिव्यक्तियां हैं, गलत है। यह भ्रम ऋग्वेद पर लिखने वाले पुराने और नये लेखकों की ग़लत व्याख्याओं के फल-स्वरूप फैला है। ऋग्वेद की व्याख्या के लिए—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छहों वेदाङ्गों का अच्छा ज्ञान आवश्यक है; और ख़ास तौर पर ज्योतिष का, जो कि सब वेदाङ्गों में प्रमुख है। पर सब से अधिक दुःख का विषय यही है कि ऋग्वेद की व्याख्या में ज्योतिष का उपयोग भले प्रकार नहीं किया गया। इसी त्रुटि के कारण ऋग्वेद के देवताओं का प्रश्न इतना जटिल हो गया है।

वेदाङ्ग-ज्योतिष में २७ राशियों के, जिन में कि उत्क्रान्ति-वृत्त विभक्त है, २७ नक्षत्र-देवताओं अथवा अधिष्ठातृदेवों का वर्णन है। ये सत्ताइसों देवता सूर्य के सत्ताइस विभिन्न नक्षत्रों में पहुँचने पर पड़ने वाले नाम हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण हर एक देवता को एक ख़ास नक्षत्र के साथ जोड़ता है। उदाहरण के लिए जब रुद्र का उल्लेख हो तो समझना चाहिए कि वह आर्द्रा का सूर्य है, जब कि बादल उमड़ते हैं, बिजली कड़कती है और मूसलाधार बरसता है। वैसे ही जब पूषा का वर्णन हो तो समझना चाहिए कि वह रेवती नक्षत्र का सूर्य है जिस का काम पशु-संसार का पालन करना है।

यह तो अच्छी तरह विदित है कि ऋग्वेद की प्रत्येक ऋचा किसी न किसी एक देवतापरक है, और जब तक उस देवता को ठीक तरह समझ और पहचान न लिया जाय, उस ऋचा का असली अभिप्राय समझ में आना कठिन है। और क्योंकि अधिकांश देवता किसी न किसी नक्षत्र-देवता के या सूर्य के विभिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं, अतः ऋग्वेद की किसी भी ऋचा का अर्थ करने का तब तक साहस न किया जाना चाहिए जब तक कि उस के देवता का किसी ख़ास नक्षत्र के साथ सम्बन्ध न पहचान लिया जाय।

अगर इस सम्बन्ध को समझ लिया जाय तो ऋग्वेद की दुर्बोध भाषा का धुँधलापन बहुत कुछ साफ़ हो जाता है।]

ऋग्वेदेर देवता सम्बन्धे अनेककाल हइते अनेक प्रकार मत-भेद चलिया आसितेछे। केह बलेन, वैदिक ऋषिरा पौत्तलिक छिलेन; केह बलेन, ताँहारा प्राकृतिक सौन्दर्येर उपासक छिलेन, ताँहारा सूर्य-चन्द्रेर उपासना करितेन, कखन-ओ मेघ ओ वृष्टि, कखन-ओ नदी उपनदी एवं कखन-ओ गाछ-पालार उपासना करितेन। अनेके बलेन, एइ रूप उपासना पुरातन काले सकल असभ्य ओ वर्वर जातिदिगेर मध्ये वर्तमान छिल, एवं एखन-ओ कोल, भील, साँओतालदिगेर मध्ये एवं आफ्रिकार वर्वर जातिदेर मध्ये देखिते पाओआ जाय; अतएव पुरातन वैदिक ऋषिरा-ओ अनेकटा सेइ श्रेणीभुक्त छिलेन। ऋग्वेदेर धर्मके इउरोपीय पण्डितेरा "हिनोथिस्म्"[८] (Henotheism) नाम दियाछेन, अर्थात् ऋषिरा जखन जाहाके पूजा करितेन, जाँहार उद्देशे सूक्त लिखितेन, ताँहाके-इ सर्वापेक्षा बड़ो करिया तुलितेन, एवं अन्य समस्त देवताके एकेवारे छोटो करिया दितेन। आवार अन्य एकटि देवताके जखन धरितेन, तखन बाकी सकलगुलिके-इ छोटो करिया दितेन। अर्थात् वेदेर धर्म एक प्रकार खोशामोद-वादे इउरोपीय पण्डितेरा परिणत करिया फेलियाछेन। काजे-इ, वेदेर एइ सनातन खोशामोद-वाद हइते-इ भारतवर्षेर आबाल-वृद्ध-वनिता खोशामोद-प्रिय हइया पड़ियाछे, एवं ताहा हइवार-इ कथा!

एखन देखा जाक्, कथाटा कतोदूर सत्य। ऋग्वेद कोन् काले लेखा हइयाछिल ताहार-इ ठिक नाइ। पश्चिम भारतेर सिन्धु-प्रदेश मोहेन-जो-दड़ो हइते जाहा नूतन आविष्कार हइयाछे, ताहा हइते अनेकटा अनुमान करा जाय जे ऋग्वेदेर सभ्यता सिन्धु-देशीय प्राचीन सभ्यता हइते-ओ किञ्चित् पुरातन। ताहा हइले-इ ऋग्वेदके खीष्ट-पूर्व ३००० वत्सरेर परे आना जाय ना। ताहाइ यदि हय, एखन आमरा ऋग्वेदेर अर्थ जाहा करितेछि ताहा-इ ठिक, ना सायणाचार्य चतुर्दश शताब्दीते जे अर्थ करियाछेन ताहा-इ ठिक। सायणाचार्य यदि ऋग्वेदेर अर्थ स्पष्ट बुझितेन, ताहा हइले तिनि एकटि अर्थेर बदले कोनो कोनो स्थले पाँच-छयटि अर्थ देन केनो? एकटि ऋकेर अर्थ एक प्रकारइ हइवे,—सायणाचार्य एक-इ ऋकेर जन्य, पाठकेरा जाहाते वाछिया लइते पारे ताहार जन्य, एकेवारे दोकान साजाइया देन केनो? काजे-इ वेश बोझा गेलो, एखन-ओ ऋग्वेदेर अर्थ करा ठिक हय नाइ, एवं बहु पण्डितेरा चेष्टा करिया ताहार प्रकृत अर्थ धरिते पारेन नाइ।

तुलनात्मक भाषाशास्त्रेर साहाय्य लइया ऋग्वेदेर दुइ-चारिटि शब्देर अर्थ करा हइयाछे। एवं एइ रूप तुलना-मूलक पद्धतिते शब्देर अर्थ करा खुब-इ विज्ञान-सम्मत, सन्देह नाइ। किन्तु अति सामान्य शब्देर अर्थ लइया कि करिया एइ वृहत्कलेवर ऋग्वेदेर सम्पूर्ण अर्थ करा सम्भवपर हइते पारे? ताहार पर आवार जे लाटिन, ग्रीक, अवेस्ता इत्यादि भाषार मारफते ऋग्वेदेर शब्देर अर्थ करा हइतेछे, देखा दरकार ताहादेर प्राचीनतम साहित्य ऋग्वैदिक कालेर समसामयिक कि ना। ग्रीक ओ लाटिनेर सर्वापेक्षा पुरातन साहित्य-ओ ऋग्वेदेर कयेक सहस्र वत्सर परे रचित हइयाछे। से क्षेत्रे ग्रीक, लाटिन, अवेस्ता इत्यादि साहित्य हइते आजकाल जे अर्थ करा हइतेछे, ताहाइ जे ऋग्वेदेर समयकार शब्देर अर्थ, ताहा कि करिया अनुमान करा जाइते पारे? कारण भाषा कखन-ओ एक थाके ना; भाषा समय-हिसावे एवं स्थान-हिसावे सदा-इ परिवर्तित हइतेछे। संस्कृत हइते प्राकृत, प्राकृत हइते अपभ्रंश, एवं अपभ्रंश हइते प्रादेशिक वर्तमान भाषा-सकल, एइ परिवर्तन-वाद-इ समर्थन करिया थाके। काजे-इ तुलना-मूलक भाषाशास्त्रेर मारफते-ओ ऋग्वेदेर मतन प्रकाण्ड साहित्येर कणा-मात्र-ओ बुझा जाय ना।

अतएव, एइ रूप आंशिक भावे विवेचित दुइ-चारिटि तथ्येर उपर भरसा करिया पण्डितेरा जे सकल

अभिनव मत प्रदर्शन करियाछेन, ताहार उपर सम्पूर्ण आस्था स्थापन करा कोनो बुद्धिमानेर काज नहे।

आर एकटि कथा। इउरोपीय पण्डितदेर निकट वेद प्रागैतिहासिक युगेर असभ्यता ओ वर्वरतार-इ एकटा निदर्शन। एवं वेदे-इ जे ताहारा आपनादेर मनोभाव प्रकाश करीयाछे, एइ कथा मुक्तकण्ठे ताँहारा प्रचार करेन। किन्तु भारतवर्षे वेदेर सम्मान सकलेर चेये बड़ो; न्याय-वेदान्तेर अतो सम्मान नाइ। ताहा छाड़ा, 'हिन्दु' बलिते गेले-इ बुझिते हय—जाँहारा वेदे विश्वास करेन। वेदेर दोहाइ ना दिले भारतवर्षेर कोन-ओ शास्त्र सम्मान पान ना—एवं से शास्त्रके केहो माने ना। वेदेर भितर जाहाते कोनोरूप भुल-भ्रान्ति प्रवेश करिते ना पार, से-जन्य नानारूप पाठेर व्यवस्था करा हइयाछे; ताहाते-इ पदपाठ, स्वरपाठ, जटापाठ, घनपाठ इत्यादिर प्रतिष्ठा हइयाछे। एखन-ओ भारतेर नाना स्थाने जटापाठी, घनपाठी देखिते पाओआ जाय। इहादेर-इ वहु सहस्र वत्सरेर प्रचेष्टार फले वेदेर आदि स्वरूप रक्षित हइयाछे। यदि वेद, मात्र वर्वरतार-इ अभिव्यक्ति हय, ताहा हइले ताहा रक्षा करिवार जन्य एतो बहुकालव्यापी चेष्टाइ वा केनो, आर कोनोशास्त्र लिखिते गेले, से वेदेर दोहाइ देओआ-इ वा केनो ?

ताहार कारण, भारते वेदेर सर्वापेक्षा वेशी मान। वेद-इ सर्वशास्त्रेर आकर, वेद-इ सकल रसेर उत्स। वेदके वले अपौरुषेय। ताहार अर्थ इहा नहे जे पुरुषे उहा तेयारी करे नाइ। उहार अर्थ एइ जे, उहा मानवेर क्षमतार अतीत; यदि मानवे-इ करिया थाकेन, तो तिनि अतिमानव, तिनि ऐश्वरिक-शक्ति-सम्पन्न। वेद विद्-धातु हइते सिद्ध हइयाछे; विद्-धातुर अर्थ जाना, ताइ वेद बलिते ज्ञानेर भाण्डार बुझाय। सव चाइते वेशी जानार दरकार यज्ञ-क्रिया, जे यज्ञेर जन्य वेदिर दरकार हय ना, पुरोहित, ऋत्विकेर प्रयोजन हय ना, घी, दुध, चरु, पुरोडाशेर दरकार हय ना। से यज्ञ एइ विराट सृष्टि-यज्ञ, जाहाते एइ अद्भुत सृष्टि, स्थिति ओ प्रलयेर लीला अनादि अनन्त काल हइते चलिया आसितेछे। एइ लीलार प्रकृत ज्ञान-इ मानवेर वाञ्छित ज्ञान, एइ ज्ञानके-इ आत्मज्ञान वले, आर एइ ज्ञान हइले-इ प्रकृत मोक्षलाभ करा जाय। एइ आत्मज्ञानके-इ आमादेर शास्त्रे श्रेष्ठ ज्ञान वलियाछे। जतोदिन नाना विपद आपद, झञ्झार भितर दिया एइ सृष्टि-अतिवाहित हइवे, ततोदिन एइ ज्ञान मानवेर थाकिवे, एवं अन्यान्य सकल ज्ञानेर उपर आसन पातिया बसिया थाकिवे। वेदे एइ विराट सृष्टि-रहस्येर द्वार खुलिया दियाछे, आत्मज्ञान लाभ करिवार रास्ता देखाइया दियाछे,—ताइ आमादेर देशे वेदेर एतो सम्मान।

एइ सृष्टि-यज्ञे सर्वशक्तिमान् सूर्य-इ कर्ता; तिनि एकटि संवत्सरे उत्पत्ति, स्थिति ओ ध्वंसेर वीज वपन करिया जाइतेछेन। तिनि विष्णु, तिनिइ सर्वव्यापी, तिनि-इ सर्वशक्तिमान, स्व-इच्छाय आपनाके वहुधा विभक्त करियाछेन, एवं एइ विराट सृष्टि-यज्ञे उत्पत्ति, स्थिति ओ लयेर लीला प्रवर्तन करियाछेन। वेदेर ज्ञान सर्वोच्च दर्शनेर ज्ञान—ताइ वेद हइते सर्वशास्त्रेर उद्भव, एवं सेइ-जन्य वेद सर्वज्ञानेर उत्स रूपे परिकल्पित हइयाछे। आमादेर काछे वेद वर्वरतार अभिव्यक्ति नहे, सर्वोच्च सभ्यतार अभिव्यक्ति,—से सभ्यता आर कखनओ आसिवे किना सन्देह।

वलितेछिलाम, वेदेर अर्थ जाना सहज नहे। सायणाचार्य कर्म-मीमांसक छिलेन, तिनि-ओ कर्म-मीमांसार चशमार भितर दिया-इ वेदके देखियाछेन, वेदे ज्ञान देखिते पान नाइ। तुलनात्मक भाषाशास्त्र प्राय अन्ध, ताहार सवे चक्षु फुटितेछे। भाषाशास्त्रेर मध्य दिया वेदके देखिले ज्ञान हइबे ना, अज्ञानेइ आच्छन्न थाकिते

हइबे। वेदेर ज्ञान जाहाते सम्यक् प्रचार हय एवं सम्यक् बोधगम्य हय, ताहा सकले-इ कामना करेन, किन्तु ए प्रबन्ध से प्रचारेर उद्देश्य लइया लिखितेछि ना। इहाते शुधु वैदिक देवता सम्बन्धे दुइ-चारिटि कथा बलिबो। विलाती पण्डितेरा वैदिक देवता सम्बन्धे जाहा बलियाछेन, ताहा-इ शेष कथा नय; ताहा-इ बुझाइबार जन्य एतो बड़ो भूमिका दिते बाध्य हइयाछि।

वैदिक देवता सम्बन्धे विस्तारित विवेचना करिते गेले एकटि बृहत् ग्रन्थेर आवश्यक हय, कारण एइ विषय-ओ वेदेर-इ न्याय गहन, एवं एकटि समुद्र-विशेष। काजे-इ एइ विषये दुइ-एकटि नूतन तथ्य एखाने पाठकके उपहार दिबो, मनःस्थ करियाछि। सकले-इ जानेन, वेदेर छयटि करिया अङ्ग आछे, अर्थात् वेदेर सहित घनिष्ठभावे संयुक्त छय प्रकारेर साहित्य आछे। एइ छय साहित्य के 'वेदाङ्ग' बला हइया थाके। वेद बुझिते हइले एइ छय अङ्गेरइ साहाय्य लइते हय। व्याकरण ओ निरुक्तेर साहाय्ये वेदेर शब्द सम्बन्धे बोध हय, एवं इहार-इ साहाय्य बेशी करिया सायनाचार्य्य ओ आधुनिक पण्डितेरा ग्रहण करियाछेन। किन्तु ज्योतिष शास्त्र-ओ एकटि वेदेर अङ्ग बलिया परिचित। वेदेर अर्थ निर्णय करिबार जन्य ज्योतिष-शास्त्रेर साहाय्य आज पर्यन्त अति अल्प-इ लओआ हइयाछे। वेदाङ्ग ज्योतिषेर पुस्तके ज्योतिष सम्बन्धे निम्नलिखित श्लोक देखिते पाओआ जाय—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम्॥

—लगधकृत वेदाङ्गज्योतिष

अर्थात्, मयूरेर शिखा जेमन ताहार माथाय थाके, नागेर मणि जेमन ताहार माथाय थाके, सेइ रूप वेदाङ्ग-शास्त्रेर मध्ये ज्योतिष सकलेर उपरे अवस्थान करिया थाके।

आर एक जायगाय बले "ज्योतिषं अयनं चक्षुः" अर्थात् वेदेर चक्षु-इ ज्योतिष, अथवा वेद देखिते गेले ज्योतिष दियाइ ताहाके देखिते हय। एवं एइ-सकल कथार सारवत्ता एकटु चेष्टा करिले-इ बुझिते पारा जाय। आर कोनो कथा बुझा जाक्, वा ना जाक्, वेदेर देवता बुझिते हइले ज्योतिष-शास्त्रेर सहायता बिना आर कोनो उपाय नाइ।

बलिबार दरकार नाइ जे वेदे नाना देवतार नाम पाओआ जाय,—यथा प्रजापति, त्वष्टा, अहिर्बुध्न, यम, अश्विनी इत्यादि। इँहारा कारा, इँहादेर काहार सहित सम्बन्ध, इँहादेर कार्य कि, इत्यादि कोनो प्रश्नेर भालो उत्तर पाओआ जाय ना। ए विषये केह किछु लिखियाछेन कि ना, जानि ना। वेदेर देवता सम्बन्धे किन्तु वेदाङ्ग ज्योतिषे एकटि बेश श्लोक आछे—

अग्निः प्रजापतिः सोमो रुद्रोऽदितिर्बृहस्पतिः।
सर्पाश्च पितरश्चैव भगश्चैवार्यमापि च॥
सविता त्वष्टाऽथ वायुश्चेन्द्राग्नी मित्र एव च।
इन्द्रो निर्ऋतिरूपो वै विश्वेदेवास्तथैव च॥
विष्णुर्वसवो वरुणोऽज एकपात्तथैव च।
अहिर्बुध्नस्तथा पूषाश्विनौ यम एव च॥

—लगधकृत वेदाङ्गज्योतिष

उपरोक्त श्लोके कयेकटि देवतार तालिका देओआ हइयाछे। एइ-सकल देवताके वेदाङ्ग ज्योतिषे "नक्षत्र देवता" बला हइयाछे। इहादेर भितर सविता सूर्येर नाम, विष्णु सूर्येर नाम, अर्यमा ओ भग सूर्येर नाम। काजेइ एइ-गुलि सब-इ जे सूर्येर भिन्न भिन्न नाम, से विषये सन्देह करिवार युक्तियुक्त कारण देखिते पाओआ जाय ना। एइगुलिके आबार जखन नक्षत्र-देवता बला हइतेछे, एवं जखन २७-टिर बेशी नाम पाओआ जाइतेछे ना, तखन स्वत:-इ मने हय जे सूर्य जखन भिन्न भिन्न नक्षत्रे अधिष्ठान करेन, तखन ताँहार एइ रूप भिन्न भिन्न नाम हइया थाके। काजे-इ बुझा जाय, एइ जे समस्त देवता, इँहारा सूर्य हइते भिन्न नहेन, एवं सूर्य आपनाके गुण-कर्म-भेदे एइ रूपे भिन्न भिन्न देवतारूपे भाग करिया थाकेन। साताश नक्षत्रे एइ रूपे आपनाके भाग करा, "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"—एइ मतेर-इ पोषकता करिया थाके।

कोन् नक्षत्रे अधिष्ठान करिले सर्वशक्तिमान् सूर्यदेवेर कि नाम हइया थाके, एवं ताँहार गुण एवं कर्मेर किरूप भेद हइया थाके, ताहा परवर्ती ब्राह्मण-युगेर पुस्तक तैत्तिरीय ब्राह्मणे[1] देखिते पाओआ याय। एइ पुस्तके प्राप्त विवरण निम्नलिखित कोष्ठके देओआ हइलो—

संख्या	देवता	नक्षत्र	संख्या	देवता	नक्षत्र
१	अग्नि	कृत्तिका	१५	मित्र	अनुराधा
२	प्रजापति	रोहिणी	१६	इन्द्र	ज्येष्ठा
३	सोम	मृगशिरा	१७	निऋ'ति	मूला
४	रुद्र	आर्द्रा	१८	आप:	पूर्वाषाढा
५	अदिति	पुनर्वसु	१९	विश्वेदेवा:	उत्तराषाढा
६	बृहस्पति	पुष्या (तिष्या)	२०	विष्णु	श्रवणा (श्रोणा)
७	सर्प	अश्लेषा (आश्रेषा)	२१	वसुगण	धनिष्ठा (श्रविष्ठा)
८	पितर	मघा	२२	वरुण	शतभिषक्
९	भग	पूर्वफल्गुनी	२३	अज एकपात्	पूर्वभाद्रपदा (प्रोष्ठपदा)
१०	अर्यमा	उत्तरफल्गुनी	२४	अहिर्बुध्न्य	(उत्तरभाद्रपदा)
११	सविता	हस्ता	२५	पूषा	रेवती
१२	त्वष्टा	चित्रा	२६	अश्विनीद्वय	अश्विनी
१३	वायु	स्वाती	२७	यम	भरणी
१४	इन्द्राग्नी	विशाखा			

जखन-इ ऋग्वेदे इँहादेर मध्ये कोन एकटि देवतार नाम करा हइबे, तखन-इ बुझिते हइबे जे, जे देवतार नाम करा हइयाछे, ताँहार-इ नक्षत्रेर कथा बला हइयाछे। अर्थात् सूर्य सेइ नक्षत्रे अवस्थानकालीन

---

[1] । काण्ड ३, प्रपाठक ४, अनुवाक ४।

कि कि करिया थाकेन, एवं ताँहार गुण ओ कर्मे कि रूप भेद हइया थाके, ताहारइ विवरण देओआ हइतेछे। ऋग्वेदेर देवता बुझिते हइले, प्रथमे एइ नक्षत्रेर सहित सूर्येर कि सम्बन्ध, ताहा सम्यक् बोधगम्य हओआ चाइ। यथा, पूषार नामे अनेकगुलि सूक्त आछे। पूषा बलिते गेले-इ इहा जाना दरकार जे, उहा रेवती नक्षत्राधिष्ठित सूर्येर नाम। रेवती नक्षत्रे अवस्थान काले सूर्य सकलेर—पशु-पक्षी, मानव ओ उद्भिज्जगतेर—पोषण सम्पादन करिया थाकेन, एवं सेइ-जन्य ताँहार नाम 'पूषा' देओआ हइयाछे—पूषा पूष्-धातु हइते निष्पन्न हइयाछे, एवं एइ धातुर अर्थ पोषण करा।

ताहार पर आवार देखा दरकार, जे क्रान्ति-वृत्ते एइ २७-टि नक्षत्र थाके, ताहा आबार १२-टि राशिते विभक्त। सूर्येर एक एकटि राशिभोग-कालके एक एकटि सौरमास बलिया अभिहित करा हय। एइ सौरमास द्वादशटि, इहाते-ओ सूर्येर नाम भिन्न हय, एवं ताँहार गुण ओ कर्मे प्रभेद हइया थाके। प्रत्येक राशिते आबार सओआ दुइटि नक्षत्र अवस्थान करे। यथा—

राशि	नक्षत्र
मेष	अश्विनी, भरणी, कृत्तिका
वृष	कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा
मिथुन	मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु
कर्कट	पुनर्वसु, पुष्या, अश्लेषा
सिंह	मघा, पूर्वफल्गुनी, उत्तरफल्गुनी
कन्या	उत्तरफल्गुनी, हस्ता, चित्रा
तुला	चित्रा, स्वाती, विशाखा
वृश्चिक	विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा
धनु	मूला, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढ़ा
मकर	उत्तराषाढ़ा, श्रवणा, धनिष्ठा
कुम्भ	धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपदा
मीन	पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा, रेवती

ऋग्वेदे जखन-इ कोनो देवतार नाम करे, तखन-इ सूर्येर एकटि विशेष नक्षत्रे अवस्थान निर्देश करे; एवं सेइ नक्षत्र जे राशिते अवस्थित, सेइ राशि-ओ निर्देश करे। धरुन, यदि यम देवतार नाम ऋग्वेदे करा हय, ताहा हइले बुझिते हइबे तिनि भरणी नक्षत्रेर देवता एवं भरणी नक्षत्र मेष राशिते अवस्थान कराय, यम शब्दे उक्तराशि-ओ निर्दिष्ट हइबे। तिनि भरणी नक्षत्रेर देवता, एवं भरणी नक्षत्र मेष राशिते अवस्थान कराय, यम शब्दे उक्त राशि-ओ निर्दिष्ट हइबे। ताहा हइलेइ देखा जाय, ऋग्वेदेर प्रत्येक देवतार सहित नक्षत्र ओ राशिर प्रत्यक्ष ओ परोक्ष भावे अविच्छिन्न सम्बन्ध रहियाछे।

परवर्ती युगेर पौराणिक अनेक आख्यान ऋग्वेदेर सूक्त हइते लओआ हइयाछे। किन्तु पुराणोक्त आख्यानगुलि ज्योतिष व्यतिरेके हेँयालि-रूपे एखन पर्यवसित हइयाछे। जेमन, महादेवेर माथार जटा हइते गङ्गार अवतरण। इहा कि करिया हइते पारे? एइ रूप गल्प बलिबार कारण कि? यदि ज्योतिषेर भितर दिया देखा जाय, ताहा हइले पाठकवर्ग देखिबेन, एइ रूप वर्णनाय अतिरञ्जन वा हेँयालि किछु-इ नाइ। रुद्र वा शिव वा महादेव आर्द्रा-नक्षत्रेर देवता, आबार आर्द्रा मिथुन-राशिते अवस्थित। एइ मिथुन-राशिर भितर दिया आकाश-गङ्गा प्रवाहित हइतेछे। एइ जिनिसटि बुझाइबार जन्य गङ्गावतरणेर आख्यानटि रचित हइयाछे। कोनो काले-इ शिव-नामक देवतार माथार जटा हइते आमादेर गङ्गा वा भागीरथी प्रवाहित हय नाइ। जाँहादेर से धारणा आछे, ताँहादेर जाना उचित जे उहा नितान्त भुल।

सूर्येर आख्यानटि-ओ ठिक एइ प्रकारेर। पुराणे बले, सूर्य त्वष्टार कन्या प्रभा वा सरण्युके विवाह करियाछिलेन, एवं ताँहार गर्भे मनु, यम, ओ यमी नामक दुइ पुत्र ओ एक कन्यार जन्म हय। किन्तु सरण्यु सूर्येर तेजः सह्य करिते ना पाराय, उत्तरकुरुते पालाइया जान्, एवं तथाय घोटकीर रूप धारण करिया तपस्या करिते आरम्भ करेन। जाइबार समय पतिर सेवार जन्य आपनार शरीर हइते निजेर-इ मत छायाके उत्पन्न करिया सूर्येर निकट राखिया जान। छायार गर्भे शनि, सावर्णि मनु, ओ तपतीर जन्म हय। एक समय छाया यमेर उपर राग करिया ताहाके भयङ्कर शाप देन। इहाते-इ यम ओ सूर्य, दुइ जने-इ छाया जे यमेर माता नहेन, ताहा जानिते पारेन। सूर्यदेव ध्यानस्थ हइया देखिलेन, प्रभा उत्तरकुरुते घोटकीर रूप धारण करिया तपस्या करितेछेन, एवं सेइ-जन्य तिनि-ओ घोटकेर रूप धरिया ताँहार सहित मिलित हन। एवं सेइ घोटकीर गर्भे तिनटि पुत्र उत्पादन करेन। ताँहारा सकलेइ अश्वरूपे जन्म-ग्रहण करेन, एवं ताँहाराइ अश्विनीकुमार-द्वय एवं रेवन्त नामे परिचित हन।

यदि ऋग्वेदे एइ विषय अनुसन्धान करा जाय, ताहा हइले देखा जाइबे, ऋग्वेदेर दुइटि ऋकेर उपर निर्भर करिया एइ आख्यानटि रचित हइयाछे। सेइ दुइटि ऋक् नीचे देओआ हइलो, एवं ताहादेर अनुवादओ देओआ हइलो—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥

—मंडल १०. १७. १।

अर्थात्, त्वष्टा ताँहार कन्याके विवाह दितेछेन, सेइ-जन्य समस्त जगतेर जीव एकत्र हइयाछेन। यमेर माता एवं महान सूर्येर पत्नी परिणयेर समय आपनाके लुकाइया फेलिलेन।

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उत्ताश्विनावभवद्यत्तदासीदजहादुद्वा मिथुना सरण्युः॥

—मंडल १०. १७. २॥

देवतारा मर्त्यदिगेर निकट हइते अमृत गोपन करिया सूर्य देवके ताहार कृत्रिम प्रतिकृति दान करिलेन। आबार सरण्यु अश्विनीद्वयके गर्भे धारण करिया ताहादेर जन्मदान करिलेन, एवं आर-ओ दुइ-जनेर जन्म दिलेन।

सूक्तेर देवता त्वष्टा, चित्रा नक्षत्रेर देवता। तिनि-इ विश्वकर्मा नामे ख्यात, तिनि स्वर्गेर स्थपति,—ताँहार काज, सकल जिनिसे रूप देओआ। तिनि ना थाकिले कोनओ जिनिस जगते देखिते पाओआ जाइतो ना। ताँहार कन्या प्रभा—अर्थात् जे प्रभा सूर्यके रूप दिया थाके, अर्थात् ताँहार रश्मि। आवार प्रभार-इ आर एक नाम सरण्यु, अर्थात् जिनि अनुसरण वा अनुगमन करेन। सूर्य जेखाने-इ जान, प्रभा वा सूर्येर रश्मि से-इ से-इ स्थले-इ विराजमान थाकेन वलिया, प्रभार द्वितीय नाम सरण्यु। दक्षिणायने सूर्येर तेजः क्रमशः कमिते थाके; एवं जखन सूर्य चित्रा नक्षत्रेर निकटवर्ती हन, तखन दिन अत्यन्त छोटो हइया थाके, एवं रात्रिर अन्धकार वाड़िते थाके। एइ जिनिसटि वुझाइवार जन्य प्रभार उत्तर-कुरुते पलायन काहिनी विवृत हइयाछे। तारपर, सूर्य छायार सहित थाकिते-थाकिते जखन मकर-राशिते अवस्थान करेन, तखन ताँहार तिनटि पुत्र-कन्या छायार गर्भे उत्पन्न हय। ताहादेर मध्ये शनि एक। एइ शनि सेइ-जन्य मकर-राशिर अधिपति वलिया परिचित। मकर-संक्रान्ति हइते-इ उत्तरायणेर आरम्भ, अर्थात् एइ समय हइते-इ दिन धीरे धीरे वड़ो हइते थाके, एवं अन्धकार कम हइते थाके। ऋग्वेदे ज्ञानके-इ आलोक ओ अज्ञानके-इ अन्धकार वलिया मानियाछे। एतो दिन अन्धकार छिलो वलिया सूर्य अज्ञान छिलेन, एवं सेइ-जन्य छायाके प्रभा-रूपे ग्रहण करियाछिलेन। किन्तु क्रमे अन्धकार जखन काटिया गेलो, तखन छाया जे प्रभा नहे, ताहा वुझिते पारिलेन, एवं ताँहार खोँज लइते लागिलेन। देखिलेन, प्रभा उत्तर-कुरुते अर्थात् सूर्य-देवेर उत्तरायणेर पथे घोटकीर रूप धारण करिया तपस्या करितेछेन; काजे-इ सूर्य-ओ घोड़ार रूप लइया ताँहार सहित वास करिलेन। मेष-राशिते अश्विनी-नक्षत्रे अश्विनीकुमार-द्वयेर जन्म हइलो वलिया ताँहादेर उक्त नक्षत्रेर अधिपति करिया दिलेन। तार पर आवार प्रभा आपनार पूर्व रूप धारण करिया चलिते लागिलेन, एवं शीघ्र-इ परवर्ती नक्षत्र भरणीते आसिया उपस्थित हइलेन। एइ समय प्रभार गर्भे यम, यमी ओ मनुर जन्म हइलो, एवं यमके उक्त भरणी नक्षत्रेर अधिपति करिया तिनि आगाइया गेलेन। परे परे आवार सेइ-रूप त्वष्टार संज्ञा, छायार लीला वत्सरे-वत्सरे चलिते लागिलो। सूर्यदेव घोड़ार रूप लइलेन केनो, ए विषये एकटा उत्तर देओआ दरकार। सकले-इ जानेन, घोड़ार गर्भ सम्पूर्ण हइते पूरा वारो मास लागिया थाके; एवं सूर्येर-ओ समस्त क्रान्ति-वृत्त एकवार घुरिते वारो मास लागे वलिया सूर्यके ऋग्वेदेर अनेक स्थले अश्व-रूपे कल्पना करा हइयाछे।

शेषे विशेष वक्तव्य एइ जे, भविष्यते ऋग्वेदेर देवता सम्वन्धे कि भावे गवेषणा करिले सत्य निर्धारित हइते पारे, ताहार-इ एकटा दिक् एइ प्रवन्धे देखाइवार चेष्टा करियाछि। एइ विषय अति गहन, एवं एइ भावे सूक्तेर सम्यक् अर्थ ग्रहण अत्यन्त समय-सापेक्ष। जाँहादेर सुविधा हइवे, ताँहारा यदि एइ विषये आर-ओ गवेषणा करेन, ताहा हइले-इ श्रम सार्थक ज्ञान करिवो।

शिश्नदेव

श्री विधुशेखर भट्टाचार्य, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

पृथिवी के अनेक देशो में लिङ्गोपासना प्रचलित है, हमारे भारतवर्ष में भी है। हमारे देश में कब से इस का प्रचार है, इस बात का विचार पण्डितों ने किया है। पाश्चात्य पण्डित-गण कहना चाहते हैं कि वेदों के समय में यह बात प्रचलित थी। इस बात के प्रमाण के लिए वे ऋग्वेद में केवल दो स्थानों[1] में आये शिश्नदेव शब्द का उल्लेख करते हैं। शिश्न ही अर्थात् लिङ्ग ही जिस का देव अर्थात् देवता है वह शिश्नदेव हुआ। इस शब्द का अक्षरार्थ यही है, इस में सन्देह नहीं। किन्तु अक्षरार्थ ही तो एकमात्र अर्थ नहीं होता। लाक्षणिक आदि अन्य अर्थ भी होते हैं। यह देखना आवश्यक होता है कि शब्द का प्रयोग किस अर्थ में होता है। नहीं तो गलती होने की सम्भावना भी रहती है। शब्द का अर्थ निर्णय करते समय आगम, सम्प्रदाय या गुरु-शिष्य-परम्परा की एकदम अवज्ञा करने से काम नहीं चलता। आगम का अनुसरण करने पर देखा जायगा कि यास्क[2] और सायण[3] दोनों ही ने उस शब्द का अर्थ किया है, अब्रह्मचर्य, अर्थात् 'ब्रह्मचर्यहीन', 'जिस का ब्रह्मचर्य नहीं है', अर्थात् 'कामुक' या 'कामासक्त'। ऋग्वेद के जिन दो स्थानों में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उन स्थानों पर यह अर्थ खूब सङ्गत है।

देव शब्द के साथ जिनका समास किया गया है ऐसे समस्त अन्यान्य शब्दों के अर्थों की आलोचना कर के देखने पर कोई इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि यास्क और सायण का यह अर्थ ही एकमात्र अर्थ है। तैत्तिरीय उपनिषद्[4] में है—

"मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।"

यहाँ जिस तरह की उपासना लोग शिव विष्णु प्रभृति देवताओं की करते हैं ठीक उसी तरह माता-पिता, आचार्य और अतिथि की भी उपासना हो, यह तात्पर्य नहीं है। देवता के प्रति जिस प्रकार भक्ति और आदर रखते हैं उसी प्रकार की भक्ति और आदर के साथ माता आदि की सेवा शुश्रूषा यत्न आदर सत्कारादि करना चाहिए, यहाँ देव शब्द के प्रयोग से वक्ता को यही अभिप्रेत है। इस लिए मातृ-देव वह व्यक्ति है जिस के निकट माता देव या देवता की नाईं (साक्षात् देव या देवता नहीं) है। इसी तरह पितृदेव आदि शब्दों को समझना चाहिए। शंकराचार्य भी यही अर्थ करना चाहते हैं। उन्हों ने स्पष्ट ही लिखा है देवतावत् उपास्या एत इत्यर्थः अर्थात् ये देवता की तरह उपास्य हैं।

इसी प्रकार एक शब्द और लीजिये। अनेक ब्राह्मण ग्रंथों और तैत्तिरीय संहिता[5] में श्रद्धादेव शब्द का उल्लेख है। जर्मन-भाषा में लिखित सुप्रसिद्ध संस्कृत कोश सैन्स्क्रित बोर्टेर्बुख (Sanskrit Wörterbuch) के प्रणेताओं ने उस का अर्थ किया है देव-विश्वासी (Gott Vertrauend गोट फेरट्रॉयन्ट्), मालूम नहीं,

---

[1] ७.२१.५; १०.९९.३। [2] निरुक्त ४.१९। [3] ऋक् ७.२१.५; १०.९९.३। [4] १.११.२।
[5] ७.१८.२।

किस प्रकार इस का ऐसा अर्थ होता है। यह भी नहीं मालूम कि एग्गेलिङ्ग साहब ने किस प्रकार इस का अर्थ 'देव-भीरु'[1] किया है। हमारे देश के भाष्यकारों ने इस का अर्थ किया है 'श्रद्धालु' या 'श्रद्धावान्' तैत्तिरीयसंहिता[2] में सायण ने लिखा है 'श्रद्धा है देव जिस का वह हुआ श्रद्धा-देव' (श्रद्धा देवो यस्यासौ श्रद्धा-देवः)। उक्त भाष्यकार विश्लेषण कर के तात्पर्यार्थ कहते हैं, 'जिस प्रकार देवता में आदर होता है उसी प्रकार जिस का श्रद्धा में (हो वह) यह तात्पर्य है' (यथा देवतायामादरस्तथा श्रद्धायामित्यर्थः)। अतः इस शब्द का अर्थ भी यही समझना चाहिए। जैसा देवता में वैसा ही शिश्न में जिस का आदर हो वही हुआ शिश्नदेव।

इस प्रसङ्ग में स्त्रीदेव शब्द का अर्थ विचार करने पर आलोच्य विषय और भी स्पष्ट हो जायगा। अध्यात्म रामायण (निर्णयसागर) के ४र्थ पृष्ठ पर उद्धृत ब्रह्माण्ड पुराण[3] में लिखा है—

> प्राप्ते कलियुगे घोरे नराः पुण्यविवर्जिताः।
> दुराचाररताः सर्वे सत्यवार्तापराङ्मुखाः।
> परापवादनिरताः परद्रव्याभिलाषिणः।
> परस्त्रीसक्तमनसः परहिंसापरायणाः॥
> देहात्मदृष्टयो मूढा नास्तिकाः पशुबुद्धयः।
> मातृपितृकृतद्वेषाः स्त्रीदेवाः कामकिङ्कराः॥

यहाँ स्त्रीदेव शब्द का अर्थ हुआ जो कामुक है, इस विषय में किसी को ज़रा भी सन्देह नहीं हो सकता। शिश्नदेव शब्द का अर्थ भी यही अर्थात् कामुक है।

अभारतीय, या संस्कृत-भाषा की वाक्-पद्धति से जो अच्छी तरह परिचित नहीं हैं उन के लिए शिश्नदेव शब्द का आक्षरिक और यौगिक अर्थ ले कर लिङ्ग-पूजक अर्थ करना अस्वाभाविक नहीं। किन्तु जो लोग भारतीय हैं, या संस्कृत वाग्विन्यास से परिचित हैं, वे तो इस प्रकार के प्रयोगों के भावार्थ को लौकिक संस्कृत में ही बहुत पायँगे। संस्कृत में शिश्नोदरतृप और शिश्नोदरम्भर ये दो शब्द प्रयुक्त होते हैं। इन दो शब्दों का अर्थ है 'कामी और पेटू'। और इसी अर्थ में शिश्नोदरपरायण शब्द का भी प्रयोग होता है। इस में परायण शब्द का अर्थ ('परमगति,' 'परम आश्रय') लक्ष्य में रखना चाहिए। इस के साथ ही नारायणपरायण और कामक्रोधपरायण की तुलना करनी चाहिए। पहले जो आलोचना की गई है उस से समझा जा सकता है कि वेद का शिश्नदेव और लौकिक शिश्नोदरपरायण इन दोनों शब्दों में यथाक्रम प्रयुक्त देव और परायण शब्दों का अर्थ एक ही है। और दोनों स्थलों पर उस का भावार्थ या तात्पर्यार्थ है 'आसक्त'। अतएव शिश्नदेव शब्द से 'शिश्न में आसक्त' और शिश्नोदरपरायण शब्द से 'शिश्न और उदर में आसक्त' यह अर्थ समझा जायगा।

---

[1] शतपथ ब्राह्मण (अँगरेज़ी अनुवाद) १.१.४.५। [2] ७.१.८.२। [3] उत्तरखंड १.६.११।

ऋग्वेद की दानस्तुतियों में ऐतिहासिक उपादान

प्रो० डा० मणिलाल पटेल, पीएच्० डी० (मारबुर्ग), विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

ऋग्वेद के ऐतिहासिक उपादानों का, जान पड़ता है, अभी तक इस प्रकार का अध्ययन नहीं हुआ कि उस के प्रत्येक पहलू को ध्यान में रक्खा गया हो। लुद्विग् के प्रबन्ध को[1], जिस में ऋग्वेद के इस अंश पर विचार किया गया था, प्रकाशित हुए लगभग ५० वर्ष से अधिक हुए। आज उस पुस्तक के वक्तव्यों को आधुनिक खोजों के प्रकाश में दुहराने और शोधने का समय आ गया है। इस विषय में हम ऋग्वेद के उन सूक्तों या मन्त्रों से, जिन्हें दानस्तुति कहा जाता है, बहुत कुछ सहायता पा सकते हैं। विंतरनित्स कहते हैं—"ये दानस्तुतियाँ सर्वदा धार्मिक दाताओं के पूर्ण नाम देती हैं और निस्संदिग्ध भाव से ऐतिहासिक तथ्यों की या वास्तविक घटनाओं की सूचना देती हैं। इस लिए वे महत्त्वपूर्ण हैं।"[2]

दानस्तुति के इन्हीं ऐतिहासिक उपादानों का इस लेख में, जिसे मैं इतिहास के प्रगाढ़ विद्वान् रायबहादुर गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा की ७० वीं वर्षगांठ के उपलक्ष में अपने विनम्र अर्घ्य के रूप में समर्पित कर रहा हूँ, विचार करूँगा।

इस स्थान पर मैं सर्व-प्रथम उन दान-स्तुतियों की सूची देना आवश्यक समझता हूँ जिन के आधार पर यह लेख लिखा जा रहा है। यह सूची मैंने अपने दि दानस्तुतिस् देस ऋग्वेद नामक जर्मन ग्रन्थ से ली है[3]। उसी के द्वितीय अध्याय में ऋग्वेद की दान-स्तुतियों को निश्चित करने के पुरातन वा अर्वाचीन प्रयत्नों का सविस्तर वर्णन किया गया है। वे प्रयत्न बृहद्देवता और अनुक्रमणिका के प्रणेता, मेक्स्मूलर्, आउफरेख्त्, लुड्विग्, ओल्डनबर्ग, गेल्डनर् आदि के द्वारा किये गये थे। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ नीचे उस सूची को ही देते हैं जिस में मेरी राय में ऋग्वेद की उन सभी ऋचाओं का समावेश है जो दानस्तुति-परक हैं।

मण्डल १. १००. १६—१७; १२२. ७—१४; १२५—२६।
" ४. १५. ७—१०; ३२. १९—२४।
" ५. १८. ५; २७; ३०. १२—१५; ३३. ७—१०; ३४. ९; ३६. ६; ५२. १७; ६१. ५—१०।
" ६. २७. ८; ४५. ३१—३३; ४७. २२—२५; ६३. ९—१०।
" ७. १८. २२—२५।

---

[1] लुद्विग—दि नखरिख्ते देस ऋग्वेद् उन्थ अथर्ववेद उँबर जोओग्राफ़ी गेशिश्त, फेरफासुग देस आल्तन इंडिएन, प्राग १८७९।

[2] हिन्वरानित्स—गेशिश्त देर इंदिशेन् लितरातुर (अँगरेज़ी अनुवाद—हिस्ट्रि ऑफ इंडियन लिट्रेचर (१). कलकत्ता १९२७). (१). लाइप्ज़िग १९०७. पृ० ११।

[3] हारासोवित्स द्वारा प्रका० (लाइप्ज़िग्), १९२९।

मण्डल ८. १. ३०—३३; २. ४१-४२; ३. २१—२४; ४. १६—२१; ५. ३७—३६; ६. ४६—४८; १६. ३६-३७; २१. १७-१८; २५. २२—२४; ३४. १६—१८; ४६. २१—३३; ५५-५६; ६५. १०-१२; ६८. १४—१६; ७०. १३—१५।

" १०. ६२. ८—११; ६३. १४-१५।

इस के बाद उन राजाओं के नाम तथा उन के बारे में उपर्युक्त दानस्तुतियों में जो कुछ आया है उस का विवरण दिया जाता है।

ऋ० १. १२२. ८.१०.११ में पत्र ऋषियों का राजा नहुष कहा गया है। नहुष नामक एक प्राचीन आर्यजाति के प्रधान पुरुष का नाम भी नहुष था[1]। वह प्रधान पुरुष निश्चय से यही नहुष होगा। इसी

नहुष।

नहुष या नहुष जाति के एक व्यक्ति ने ५ वार्षगिरों (वृषागिर के पुत्रों) को पुरस्कृत किया था (ऋ० १. १००. १६)। लुडविग का कहना है[2] कि राजा मशशरि और आयवस जिन की चर्चा ऋग्वेद (१. १२२. १५) में हुई है, नहुष जाति के ही थे। ऐसा मालूम होता है कि ये दोनों राजा जिन्हों ने नहुष के साथ महायज्ञ किया था, या तो उस के सम्बन्धी थे या उस के साथ मित्रता के बन्धन में आबद्ध थे। ऋग्वेद के समय यह एक साधारण नियम था कि किसी महायज्ञ का अनुष्ठान कई राजा मिल कर किया करते थे, और उन में से हर एक गायक कवियों को उपहार दिया करता था। इसी लिए दानस्तुति में हम अनेक आश्रयदाताओं का उल्लेख एक साथ पाते हैं। नहुष जाति ने सिन्धुनद[3] या सरस्वती[4] के किनारे पर वास किया था। ऋ० ८. ४६. २७ स्पष्ट ही कहता है कि अर्द्धअच एक नहुष था और उस ने अनेक उत्तम कार्य (सुकृत) किये थे। नहुष सदा एक विशेष राजा या जाति के वाचक शब्द के रूप में पाया जाता है। न तो संस्कत वोर्टेरबुख़[5] जो इस शब्द का अर्थ "पड़ोसी, प्रतिवेशित्व, एक पड़ोसी जाति" करता है इस का ठीक अर्थ बताता है, और न नैघण्टु (२.२) ही जिस में इस का अर्थ सिर्फ़ 'आदमी' किया गया है।

सोमक साहदेव्य।

यह सहदेव का पुत्र[6] और सृञ्जयों का 'कुमार' था। ऋ० (४. १५. ४) में एक सृञ्जय दैववात की चर्चा आई है। ऐतरेय ब्राह्मण (७. ३४) में अन्य राजकुमारों के साथ सहदेव साञ्जय का उल्लेख है। देववात को, जिसे हम सृञ्जय का पिता समझ सकते हैं भारत बताया गया है[7]। अगर भरत

---

[1] आयु भी इसी तरह एक जाति और उस का प्रधान पुरुष था, दे०—ऋ० १. ३१. ११ इत्यादि।

[2] देर ऋग्वेद (३), प्राग १८७६-८८, पृ० २०६।

[3] ऋ० १. ३१. ११; ६. २२. १०; ४६. ७; १०. ८०. ६।

[4] ऋ० ७. ६५. २; ६. ८८. २; ६१. २। दुर्भाग्यवश, वैदिक युग में सरस्वती नदी की भौगोलिक परिस्थितियों को निश्चित करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। यह बिलकुल असम्भव है, कि सरस्वती और सिन्धु एक ही नदी का नाम हो। जैसा कि लुड्विग ने कहा है, (दी नख़्रिख्तेन० पृ० १२-१३) यह कहना अधिक युक्तिसङ्गत है कि सरस्वती सिन्धु की एक छोटी-सी सहायक नदी थी।

[5] रुडॉल्फ रॉथ और बोथलिंक—संस्कृत वोर्टेर्बुख़्, सेंट पीटर्सबुर्ग, यथास्थान।

[6] ऋ० ४. १५. ७—१०।

[7] ऋ० ३. २३. २।

देववात का पिता हो तो हमें ५ पीढ़ियों का पता चलता है—भरत, देववात, सृञ्जय, सहदेव और सोमक। शत० ब्रा० (२.४.४.४) में सुप्लन् सहदेव का नाम दिया गया है। यह सोमक सहदेव ही था या उस से सम्बद्ध कोई अन्य, यह बात अभी स्पष्ट नहीं है। सुप्लन् नाम बाहर से आया हुआ जान पड़ता है[1]।

त्र्यरुण।

यह त्रिवृषन् का पुत्र था। ऋ० (५.२७) में इस का उल्लेख त्रसदस्यु और अश्वमेध के साथ है। बृ० दे० (५.३१) और अनुक्रमणिका में त्रसदस्यु और अश्वमेध को इस सूक्त में भिन्न भिन्न व्यक्ति बताया गया है। जो हो, यह बात ज़्यादा सम्भव जान पड़ती है, जैसा कि पौराणिक वंशावली में दिखाया गया है,[2] कि त्र्यरुण त्रसदस्यु की संतान है। इसी लिए कवि ने (ऋ० ५.२७ में) त्रसदस्यु शब्द को त्र्यरुण के कुल-नाम के रूप में प्रयोग किया है। अश्वमेध और त्रसदस्यु मित्र राजा जान पड़ते हैं।

त्रसदस्यु।

यह (ऋ० ५.३३) पुरुकुत्स[3] और पुरुकुत्सानी का पुत्र था। यह ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण राजाओं में से एक है। सायण[4] के अनुसार वह गिरिक्षित् का वंशज है या नहीं—यह प्रश्न किया जा सकता है। क्योंकि यह बात केवल इसी सीधे-से आधार पर मान ली गई है कि गैरिक्षित का उल्लेख ऋ० (५.३३.८) में आया है। पुराणों की वंशावली में हमें ऐसा कोई स्थान ज्ञात नहीं जहाँ गिरिक्षित त्रसदस्यु के पूर्व पुरुष के रूप में कहा गया हो[5]। संभवत: त्रसदस्यु, विदथ, मारुताश्व, च्यवतान, ध्वन्य लक्ष्मण्य (ऋ० ५.३३.९) आदि की तरह गैरिक्षित भी एक दूसरे आश्रयदाता थे।

प्रयियु और वयियु।

ये दोनों, जो सुवास्तु के किनारे रहते थे, उसी दानस्तुति (ऋ० ८. १९. ३६-३७) में उल्लिखित हैं। इन की चर्चा त्रसदस्यु के साथ ही हुई है। हम उन के बारे में इस से अधिक नहीं जानते। ये नाम अनार्य से जान पड़ते हैं।

हमने ऊपर कहा है कि त्र्यरुण त्रैवृष्ण, त्रसदस्यु का[6] वंशज था। उस की दूसरी संतान थी कुरुश्रवण (ऋ० १०.३३.४)। उसी सूक्त से हम जान सकते हैं कि उपमश्रवस् कुरुश्रवण का पुत्र और मित्रातिथि का पौत्र था।

पुरुमीळ्ह।

बृ० दे० (५.६१ प्र) और षड्गुरुशिष्य तथा सायण के भाष्यों में ऋ० ५.६१.९-१० पर भाष्य करते समय यह इतिहास दिया गया है—श्यावाश्व अर्चनानस् का पुत्र था। उस ने राजा रथवीति दाल्भ्य के लिए यज्ञ किया था। पिता ने पुत्र श्यावाश्व की शादी राजा की पुत्री से करनी चाही। किन्तु राजा ने स्वीकार नहीं किया पर उस की रानी की बड़ी इच्छा थी कि उन का जामाता एक ऋषि हो। पिता और पुत्र, जो इस प्रकार निराश हुए थे, घर लौटते समय तरन्त और पुरुमीळ्ह से मिले। इन दोनों

---

[1] हिलेब्रान्त—**वेदिश मियाँलागी** (१), ब्रेस्लौ १८९१-९२, पृ० १०५।

[2] दे० एग्रिल सीग—सागंश्तॉफ़ देस ऋग्वेद उन्द दी इंदिश इतिहास ट्रेडीशन् (१), स्तुतगर्त १९०२, पृ० ७५।

[3] **ऋ०** ८. १९. ३६।

[4] इस सम्बन्ध में कीथ और मैकडोनल सायण का ही अनुसरण करते हैं। देखिए—**वैदिक इण्डेक्स**, यथास्थान।

[5] दे०—**ज० रा० ए० सो०**, जि० १७, पृ० २७, सोलर लाइन।

[6] इस के बाद उसके पुत्र तृक्षि ने शासन किया था—दे०—**ऋ०** ८. २२. ७। इस लिए इस का वंशक्रम यों होगा:— पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, तृक्षि।

ने पिता-पुत्र के लिए बड़ा सम्मान दिखाया। तरन्त की स्त्री शशीयसी ने श्यावाश्व को बहुविध धन दिया। उस ने मरुतों का चिंतन किया जिस से वे प्रत्यक्ष हुए। इसी लिए वह ऋषि हो गया। अंत में स्वयं राजा रथवीति ने श्यावाश्व को अपनी कन्या दी ।—यह उल्लेख योग्य है कि यह इतिहास पीछे से अनेक संस्करणों को पार करता हुआ इस रूप में आया है। पुरुमीळ्ह को ऋ० १.१५१. २; १८३. ५ में ऋषि कहा गया है[1]। किन्तु यहाँ वह एक उदार राजा के रूप में देखा जाता है। इस लिए वह एक राजर्षि था। ऋ० ५.६१.१० में एक शब्द 'वैददश्व' आता है। सायण ने इस का अर्थ पुरुमीळ्ह किया है जो ठीक नहीं जान पड़ता। यह शब्द क्या तरन्त के साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता जो इसी मन्त्र में आता है? तरन्त और पुरुमीळ्ह[2] (ताण्ड्य ब्रा० १३.७.१२ और जैमि० ब्रा० १.१५१ के अनुसार) भाई थे। ये वितदश्व और अर्चनानस् की पुत्री मही के पुत्र थे।

अभ्यावर्तिन् ।

यह चयमान का पुत्र था (ऋ० ६.२७.४–८), और इस ने वृचीवतों को, जिन का राजा वरशिख था, जीता था। सृञ्जय ने उस की सहायता की थी। तुर्वश आदि ने वरशिख का पक्ष लिया। हरियूपीया और यव्यावती नदियों के किनारे यह युद्ध हुआ। हिलेब्राण्ड्ट[3] कहते हैं कि "हरियूपीया नदी आधुनिक अरिओव या हलिआव नदी है जो कुरुम प्रान्त की नदियों में से एक है (यह स्थान पार्थव प्रदेश में नहीं है जैसा कि ब्रूनहाफर कहते हैं। यह ठीक है कि ब्रूनहाफर ने ही हरियूपीया को अरिओव पहले पहल बताया था, मगर उन का बताया स्थान ठीक नहीं था)। यव्यावती भी उस से बहुत दूर नहीं होगी।" इस बात से हमें पता चलता है कि अभ्यावर्तिन् सिन्धु नदी के पश्चिमी प्रदेशों पर राज्य करता था। इस के अतिरिक्त अभ्यावर्तिन् को पार्थव कहा गया है (ऋ० ६. २७.८)। त्सिमर का[4] विश्वास है कि पार्थव पृथु के अपत्यों को ही कहते हैं किन्तु हिलेब्राण्ड्ट ने[5] बताया है कि अभ्यावर्तिन् एक पार्थव था। लुड्विग भी यही कहते हैं।[6] इस लेखक के अनुसार पृथु और पर्शु केवल पार्थव हो सकते हैं (फारस के शिलालेखों में, जो पहाड़ों पर खुदे हैं, पार्थवस् शब्द पाया गया है और ग्रीक ग्रन्थकारों ने पर्थी या पर्थ्येये लिखा है) और पर्शव पर्सियन हो सकते हैं।[7] इस अनुमान में वे ठीक समझे जा सकते हैं क्योंकि हमें आगे के उल्लेख से पता चलता है कि ऋग्वेद के युग में भारत का अपने पश्चिमी और उत्तरपश्चिमी पड़ोसियों से निकट का सम्बन्ध था।

---

१. विशेषतः दे०—अथ० ४.२९.४; १८.३.१५।

२. जैमि० ब्रा० १.१५१ के अनुसार ये दोनों 'देवर्षि' और 'मन्त्रकृत्' थे। किन्तु ताण्ड्य ब्रा० १३.७.१२ और जैमि० ब्रा० ३.१३९ के अनुसार इन दोनों ने पुरस्कारों का स्वीकार किया था। (विशेष दे०—ऋ० ९.५८.३ पर सायण भाष्य।)

३. लीदेर देस् ऋग्वेद, गोटिंगेन १९१३, पृ० ४९।

४. अल्तिन्दिशेस् लबन, बर्लिन १८७९, पृ० १३३-३४।

५. लीदेर देस् ऋग्वेद पृ० ४९।

६. देर ऋग्वेद (३), पृ० १९८–९९।

७. दी नख़रिख्तेन०, पृ० ९९।

फा० १०

तुर्वश।

यह इन्द्र द्वारा पालित और यदु का समसामयिक था।[१] इस ने वृचीवतों को पुरस्कृत किया था। यह नाम तुर्वश जाति का सूचक है।[२] इस जाति के मूलनिवासस्थानों के बारे में बहुत मतभेद है। तो भी ८म मण्डल से यह स्पष्ट है कि वे कण्वों से सम्बद्ध थे। हॉपकिन्स ने एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण लेख में कहा है कि कण्व लोगों का पश्चिमी देशों से बहुत दिनों का नाता-रिश्ता था[३] और हिलेब्राण्ड्ट ने तुर्वश तथा उन के पड़ोसी यदुओं का—कम-से-कम उन की एक शाखा का—उत्तर-पश्चिमी पार्वत्य प्रदेशों से बताया है।[४]

वृबु।

यह अनुक्रम० और शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६.११.११ के अनुसार बढ़ई ('तक्षन्') था। मनुस्मृति १०.१०७ में कहा गया है कि इस ने भरद्वाज को, जो निर्जन वन में क्षुधापीड़ित था, अनेक गायें दी थीं। षड्गुरुशिष्य ने अनुक्रम० के भाष्य में कहा है कि वृबु तक्षन्, परम्परा के अनुसार, इन्द्र का भक्त और शम्य का बन्धु था।

दिवोदास।

इस ने वर्चिन् और शंबर को हराया था (ऋ० ७.४७)। प्रस्तोक ने इस की सहायता की थी। इन दोनों संयुक्त राजाओं ने विजित सम्पत्ति ऋषियों को दान कर दी थी। दिवोदास वध्र्यश्व का पुत्र (ऋ० ६.६१.१) और सुदास् का पिता (ऋ० ७.१८.२५) था। इस का कुल-नाम आतिथिग्व था (ऋ० ६.४७.२२)। अश्वथ[५] भी इस का सहायक रहा होगा जिस ने अथर्वणों और पायु को दान दिया था।

सुदास्।

यह एक प्रसिद्ध राजा था (ऋ० ७.१८), जिस ने दशराज-युद्ध जीता था। यह लड़ाई सुदास् और उस के दस शत्रु राजों में हुई थी। सुदास् और उस की सेना को उस के शत्रुओं ने चारों ओर से घेर लिया था[६]। केवल एक ही रास्ता था जिस से पीछे हटा जा सकता था। वह रास्ता परुष्णी नदी थी। ऋ० (७.३३.३) में कहा गया है कि इन्द्र सुदास् की सहायता के लिए आया। ऋ० ७.१८.५—२० में युद्ध का मनोरञ्जक वर्णन है। लड़ाई छिड़ गई। राजा सुदास् परुष्णी के रास्ते से पीछे हट रहा था। इधर शत्रु राजाओं ने परुष्णी के किनारे पर भागते हुए सुदास् के ऊपर हमला कर दिया। इसी समय नदी में नीरों की बाढ़ आई और शत्रुसेना में से अधिकांश जलमग्न हो गई। जो बच रहे उन्हें सुदास् और इन्द्र ने साफ़ कर दिया। इस प्रकार सुदास् की विजय हुई।[७] सुदास् देववत् का पौत्र कहा जाता है (ऋ० ७.१८.२२)। इसे पैजवन भी

---

[१] तुर्वश और यदु समसामयिक थे—ऋ० १.३६.१८; ६.४५.१। इन के विषय की वह प्रसिद्ध कहानी प्रायः उल्लेख की जाती है, दे०—ऋ० ४,३०,१७। "तुर्वश और यदु तैरना नहीं जानते थे पर शक्तिशाली इन्द्र ने उन्हें अपनी शक्ति से नदी पार कराया।" विशेषतः दे०—१.७४.९; २.१५.५; ५.३१.८। इसी तरह की कहानियाँ तुर्वीति और वय्य के बारे में भी कही जाती हैं। दे०—१.५४.६; ६१.११ ;२.१३.१२; १५.५; ४.१९.६।

[२] ऋ० १.१०८.८. ८.४.१६।

[३] ज० अ० ओ० सो० १७ पृ०, २३ प्र।

[४] लीद्र देस् ऋग्वेद, पृ० ४६।

[५] ऋ० ६.४७.२५ पर सायणभाष्य और शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६.११.११, के अनुसार अश्वथ सृञ्जय का पुत्र था।

[६] ऋ० ७.८३.८।

[७] इस युद्ध की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सूचना ऋग्वेद में प्रायः पाई जाती है। उदाहरणार्थ दे०—१.५३.६; ७.६०.६; ७.१६.७४। इस युद्ध से अनतिभिन्न वर्णना के लिए दे०—ताण्ड्य ब्रा० १५.३.७; मैत्रा० सं० ३.४०.६; जैमि० ब्रा० ३.२४४। इन स्थानों में उन राजाओं के नाम ऋग्वेद जैसे नहीं हैं। वहाँ पुरोहित भरद्वाज है और घिरा हुआ राजा दिवोदास (ताण्ड्य०) या प्रतर्दन (मैत्रा० सं०) या उस का पुत्र (जैमि० ब्रा०) है।

कहा जाता है (ऋचा २३), जो उस का कुल-नाम हो सकता है। यास्क ने (२.२४) पैजवन की व्याख्या पिजवनस्य पुत्रः की है। ऋ० ७.१८.२५ के अनुसार सुदास् का पिता दिवोदास था। इस लिए सम्भवतः पिजवन और दिवोदास एक ही व्यक्ति थे। एक वसिष्ठ गोत्र के ऋषि ने उस की स्तुति ऋ० ७.१८.२४ में यों की है :—"—जिस की कीर्त्ति दोनों लोकों में ज्ञात है उस दानी ने (विजित संपत्ति का दान) प्रत्येक ऋषि को किया है। वे ऋषि उस की इस प्रकार स्तुति करते हैं जैसे सात (नदियों ने) इन्द्र की। उस ने युध्यामति को युद्ध में मारा था।"[1]

स्वनद्रथ।

मैं इसे (ऋ० ८.१) आसङ्ग का पुत्र समझता हूँ जिस का पिता प्लयोग। भारतीय परम्परा में आसङ्ग के बारे में एक कहानी है कि उस ने अपना पुरुषत्व खो दिया था और स्त्रैण हो गया। किन्तु मेधातिथि के बीच में पड़ने से उस ने पुरुषत्व पुनः प्राप्त किया जिस से उस की पत्नी अति प्रसन्न हुई। इस कहानी की सूचना ऋ० (८.१.३४) में पाई जाती है। ऋ० (८.१.३२) में स्वनद्रथ आसङ्ग का वर्णन है। ३३वीं ऋचा में उस के पिता आसङ्ग प्लायोगि का और ३४वीं ऋचा में उस की पत्नी शश्वती का नाम है। शायद स्वनद्रथ ने एक महायाग किया था जिस में अन्यान्य बड़े राजा जैसे निन्दिताश्व, प्रपथिन् और परमज्या (ऋचा ३०) भी सम्मिलित थे। उस समय सम्भवतः उन के मा बाप उपस्थित थे।

तिरिन्दिर-और पर्शु।

ये दोनों ऋ० ८.६ के कवि के आश्रय-दाता थे। शाङ्खायन श्रौतसूत्र (१६.११.२०) में कहा है कि काण्व वत्स ने तिरिन्दिर पार्शव्य से आश्रय पाया था। इस का यह अर्थ हुआ कि शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अनुसार तिरिन्दिर और पर्शु एक ही आदमी थे। यही बात अनुक्रमणिका से जानी जाती है। ऋग्वेद (८.६.४६, ४८) में इन राजाओं का यदुओं के सम्बन्ध में वर्णन पाया गया है। इस सम्बन्ध के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। लुड्विग का विश्वास है कि ऋ० ८.६.४६ में[2] तिरिन्दिर को पर्शुओं का राजा कहा गया है जिस से यदुओं ने बहुत सा धन ले कर ऋषियों को दान किया था[3]। त्सिमर इस बात को नहीं मानते[4]। बहुत सम्भव है कि तिरिन्दिर और पर्शु यदुवंशी राजा थे, यद्यपि वेबर यदुओं को राजा नहीं किन्तु याजक कहते हैं[5]। ये नाम भारतीय नहीं जान पड़ते। वेबर कहते हैं कि वे ईरानी नाम हैं और इस से अनुमान करते हैं कि कभी ईरान और भारत में नियमित सम्बन्ध था। हिलेब्राण्ड्ट ने भी भारतीयों और ईरानियों के सम्बन्ध को माना है जो आरकोशिया में था[6]। होपकिन्स् ने उपरिलिखित प्रबन्ध (ज. अ. ओ. सो. १७, पृ० २३ प्र०) में इस सम्बन्ध के पक्ष में अनेक उदाहरण दिये हैं।

---

[1] यस्य-श्रवो रोदसी अन्तरुर्वी शीर्ष्णे शीर्ष्णे विबभाजा विभक्ता।
सप्तेदिन्द्रं न स्रवतो गृणन्ति नि युध्यामधिमशिशादभीके॥

[2] शतमहं तिरिन्दिरे सहस्रं पर्शावा ददे।
राधांसि याद्वानाम्॥
"मैंने तिरिन्दिर से सौ पर्शु से सहस्र जो यादवों के उपहार के रूप में था, पाया।" दा धातु आ उपसर्ग के साथ जब सप्तमी में प्रयुक्त होता है तो ऋग्वेद में 'किसी से किसी का कुछ पाना' अर्थ होता है।

[3] दी नख़रिख्तेन, पृ० १७।

[4] अल्तिनदिशस् लेबत पृ० १३६-१३७।

[5] एपिशेस इम वेदीशन रिटुअल (वेबर द्वारा सम्पा० इंदिश ए स्टडिएन में प्रका०), बर्लिन, पृ० ३७-३८।

[6] वेद० मिथ० (१), पृ० ९४ प्र।

पृथुश्रवस्।

यह कनीत का पुत्र था (ऋ० ८.४६.२१, २४), जो दास बल्बूथ तरुच (ऋ० ८.४६.३२) के समान[1] एक अभारतीय जाति का है। जुस्ती ने अपने नामेन्बुख़् (पृ० १५५) में एक सीथियन राजा कनीथ का नाम दिया है जो दूसरी सदी ई० पू० में हुआ था। यह नाम यद्यपि कनीत से मिलता-जुलता है तथापि इस से यह नहीं समझा जा सकता कि ये एक हैं और ऋग्वेद के काल के सम्बन्ध में इस एकत्वाभास के ऊपर समारोपित सारे सिद्धान्त अविश्वसनीय हैं। यह केवल इतना भर सिद्ध करता है कि कनीत अभारतीय था। बल्बूथ को जो ऋग्वेद में 'दास' कहा गया है इस से यह सूचना मिलती है कि या तो उस की माता अनार्य थी या वह यहाँ के आदिम निवासियों में से था[2]। जो हो, वह वायु का—जो आर्य-देवता है—पूजक था[3]। क्या इस से यह सूचना मिलती है कि आर्यों और दासों में एक मित्रता का सम्बन्ध था[4] ?

ऋ० (१०.६२.८–११) में इस की 'सहस्रदा' की स्तुति की गई है। इस दानस्तुति से यह स्पष्ट है कि वह यदु और तुर्वश का समसामयिक था (ऋचा १०)।

मनु सावर्णि (या सावर्ण्य)।

ऋ० (८.५१.१) में एक मनु सांवरण नामक आदमी का नाम है जो मेध्यातिथि जैसे ऐतिहासिक कवि के साथ वर्णित है। यह नाम मनु सावर्णि की याद दिलाता है। दूसरी ओर, ऋ० (८.५२.१) में मनु विवस्वत् जैसे काल्पनिक व्यक्ति का वर्णन है। ब्लूमफील्ड ऋ० (१०.६२.८—११) के सम्बन्ध में कहते हैं कि "सवर्णा की सन्तान मनु की प्राचीनता सिद्ध करने में यह दानस्तुति (ऋ० १०.६२.८—११) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।"[5] और इस पर से वह निश्चय करते हैं कि वैवस्वत शब्द पितृ-वंश-सूचक है और सावर्णि मातृवंश-सूचक। मनु सावर्णि को ११ वीं ऋचा में 'ग्रामणी' कहा गया है। मैं इसे ऐतिहासिक व्यक्ति मानता हूँ। इस का सीधा-सा कारण यह है कि इसे दानस्तुति में वर्णित पाया गया है।

निम्नलिखित राजाओं के बारे में उन के नाम के अतिरिक्त हम कुछ नहीं जानते।

स्वनय भाव्य। यह सिंधु के समीपवर्ती स्थानों में रहता था। यह ऋषि कक्षीवत् का आश्रयदाता था। शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६.११.५ में इस का नाम 'स्वनय भावयव्य' दिया है।

ऋणञ्चय। यह रुशम जाति या जनसमूह का राजा था। रुशम जाति का वर्णन वेद में तीन बार आया है—ऋ० ८.३.१२; ४.२; अथर्ववेद २०.१२७.१।

शत्रि। यह अग्निवेष का पुत्र था। इस का वर्णन केवल एक बार—ऋ० ५.३४.९ में—आया है।

श्रुतरथ। यह एक युवा राजा (ऋ० ५.३६.६) था। यह पज्रवंश का आश्रयदाता था (ऋ० १,१२२,७) ऋषि कक्षीवत् इसी वंश का था।

रथवीति दार्भ्य। गोमती के किनारे पार्वत्य प्रदेशों में रहता था (ऋ० ५.६१.१७–१९)।

---

[1] होपकिंस—ज० अ० ओ० सो० (१७), पृ० ९०।

[2] त्सिमर—आल्तिनदिशेष लीबन पृ० ११७।

[3] ऋ० ८. ४६. ३२।

[4] दे०— वेदेक इंडेक्स २. ६४।

[5] ज० अ० ओ० सो० (१५), पृ० १७६।

पुरय, सुमीळ्ह, पेरुक, शाण्ड (ऋ० ६.६३.९) और पुरुपन्थान् (ऋचा १०) भरद्वाज ऋषि के आश्रयदाता थे।

निन्दिताश्व, प्रयथिन् और परमज्या मेध्यातिथि के आश्रयदाता थे; जिस ने उन की स्तुति (ऋ० ८.१.३० में) की थी। विभिन्द ने भी मेध्यातिथि को दान दिया था (ऋ० ८.२.४१)।

पाकस्थामन्। यह कुरयाण का पुत्र था। (ऋ० ८. ३. २१) लुडविग ने[1] इसे अनु जाति का राजा माना है।

कुरुङ्ग। यह ऋ० ८.४ के ऋषि का आश्रयदाता था। लुडविग ने उक्त ग्रन्थस्थान में इसे भी अनु जाति का राजा माना है। पर यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। कुरुङ्ग तुर्वश कुल का था क्योंकि उसी ऋचा (ऋ० ८.४.१९) में अन्य तुर्वशों का स्पष्ट वर्णन है।

कशु। यह चेदि का पुत्र था। चेदि की उदारता सुप्रसिद्ध थी। ऋ० ८.५.३९ में कहा है कि "कोई भी उस मार्ग से नहीं चल सकता जिस पर चेदि चलते हैं। इस लिए चेदियों से अधिक उदार राजा होने का दावा कोई आश्रयदाता नहीं कर सकता।"

चित्र। यह राजा सरस्वती के किनारे रहता था (ऋ० ८.२१.१७-१८)। बृ० दे० ६.५८ प्र ने इस का नाम "आखुराज" दिया है जिस का कुछ कारण नहीं जान पड़ता। यह सोभरि का आश्रयदाता था।

वरो सुषामन्। यह विश्वमनस् ऋषि का आश्रयदाता था (ऋ० ८.२४.२८)। रॉथ संस्कृत वोर्टरबुख् में कहते हैं कि 'वरो' यह संबोधनरूप यहाँ ठीक नहीं है इस लिए सब से अच्छी व्याख्या इस की यह हो सकती है कि वरोसुषामन् एक ही शब्द और व्यक्तिवाचक संज्ञा है। यद्यपि इस का रूप अस्पष्ट है।" सम्भवत: सुषामन् व्यक्तिवाचक संज्ञा है और वरो उस के पुकार का नाम है। यह निश्चित नहीं है कि नार्य (ऋ० ८.२४.२९) और सुषामन् एक ही व्यक्ति हैं या नहीं।

उक्षण्यायन और हरयाण जो सुषामन् के साथ आश्रयदाता के रूप में वर्णित पाये जाते हैं (ऋ० ८.२५.२२) स्पष्ट ही विभिन्न व्यक्ति हैं। जो हो, सायण का कहना है कि वरु का एक पूर्वज उक्षन् कहा जाता था जिस की सन्तान उक्षण्यायन था। सायण हरयाण को भी सुषामन् का विशेषण समझते हैं।

वसुरोचिष्। इस ने ऋषि निपातिथि को दान दिया था। (ऋ० ३४.१६)। किन्तु अनुक्रमणी ने उसे ऋ० ८.३४.१६–१८ का ऋषि माना है, और सायण ने उस का अनुसरण किया है। पर यह स्पष्टत: ही ग़लत है। १८ वीं ऋचा में क्यों इसे 'पारावत राजा' कहा है, यह बात हमें नहीं मालूम।

दस्यवेवृक (ऋ० ८.५५.५६) पूतक्रतु का पुत्र था। इस के विचित्र नाम से जान पड़ता है कि यह निश्चय ही दस्युओं का घोर शत्रु रहा होगा।

इन्द्रोत। यह अतिथिग्व का पुत्र था (ऋ० ८.६८.१५, १६)। रॉथ (संस्कृत वोर्टर्बु०) इसे ऋक्ष का पुत्र समझ कर ग़लती करते हैं। इन्द्रोत कसिवा आर्क्ष (ऋक्ष का पुत्र)—जो वास्तव में श्रुतर्वन् (ऋ० ८.७४.१३) था—और आश्वमेध (अश्वमेध का पुत्र अर्थात् पूतक्रतु—ऋ० ८.६८.१७) का वर्णन पाया जाता है।

---

[1] देर ऋग्वेद (३), पृ० १६०।

शर। यह शूरदेव का पुत्र था (ऋ० ८.७०.१५)। इस ने एक ही गाय तीन ऋषियों को दी थी इस लिए उन्हों ने दानस्तुति में व्यङ्ग रूप से इस की स्तुति की है।

श्रुतर्वन्। जैसा कि पहले ही कहा गया है, यह ऋक्ष का पुत्र था (ऋ० ८.७४.१३)। मृगय को इस का जीतना (ऋ० १०.४९.४ में) कहा गया है। इस का निवास परुष्णी नदी पर था (ऋ० ८७.४.१५)।

दु:शीम पृथवान, वेन, राम (ऋ० १०.९३.१४) और तान्व तथा मायव (ऋचा १५) केवल उस ऋषि के आश्रयदाता के रूप में कहे गये हैं जिस ने ऋ० १०.९३ बनाया था।

× × ×

इस प्रकार हम देखते हैं कि दानस्तुतियाँ ऋग्वेदीय युग के ऐतिहासिक पुरुषों पर कुछ प्रकाश डालती हैं। जो हो यह दुर्भाग्य का विषय है कि ऋग्वेद में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का पर्याप्त विवरण नहीं मिलता। केवल कहीं कहीं कुछ उल्लेख ऐसे मिल जाते हैं जो आगन्तुक आर्यों के परिभ्रमण[1] और पञ्जाब (पञ्चनदप्रदेश) में उन के आगे बढ़ने की सूचना देते हैं[2]।

भौगोलिक समस्यायें अपेक्षाकृत स्पष्टतर हैं। इस का कारण यह है कि नदियों के नाम दिये गये हैं जो भौगोलिक परिस्थितियों को क़रीब क़रीब नि:संदिग्ध रूप से निश्चित करने में सहायक होते हैं। दानस्तुतियों में जिन नदियों के नाम पाये जाते हैं वे ये हैं—सरस्वती (ऋ० ८.२१.१७-१८), परुष्णी (८.७४.१५); गोमती (८.२४.३०), सुवास्तु (८.१९.३७), यमुना (५. ५२.१७), गङ्गा (६.४५.३१) और सिन्धु (१०.६२.९)। इस प्रकार के हवाले पाये जाते हैं जिस में ऋषियों ने स्थानीय नदी के साथ दान का सम्बन्ध बताया है[3]। ऋग्वेद ५.३४.९ में जल का भी सामान्य रूप से वर्णन है—"उस के लिए जल अबाधित हो कर वृद्धि प्राप्त करें।" नदियाँ ही ऋग्वेद में भौगोलिक परिस्थितियों को ठीक करने के लिए एकमात्र साधन हैं। पर्वत, शहर और अन्य स्थान जो कुछ मिलते भी हैं तो उन से किसी निश्चित तथ्य पर पहुँचना मुश्किल ही है। इस लिए दानस्तुति में यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि यज्ञ किस नदी के किनारे किया गया था। पच्छिम से पूरब गिनने में उन का क्रम यों है—सुवास्तु, गोमती, सिन्धु, परुष्णी, सरस्वती, यमुना और गङ्गा। इन नदियों का स्थान ही निश्चय रूप से ऋग्वेद का अपना स्थान है।

---

[1] दे०—ऋ० १.४०.७; १३१.५; १६५.८; २.२१.५; ४.१६.६; ५.३१.६; ६.६१.३; ७.५६.२४; १०.४९.४; १०४,८।

[2] उदाहरणार्थ गेल्डनर के ऋ० ३.१२. ८ ऊपर नोट दे०—'अप्तूर्य्यम्' शब्द आर्यों के नदीवाले प्रदेश में आगे बढ़ने का स्मारक शब्द है दे०, ऋ० १.४०. ७। आगे चलकर 'वृत्रतूर्यम्' शब्द के साथ ही अप्तूर्य्य शब्द भी शाङ्खायन श्रौतसूत्र ८. १६.१ में विजयी के आगे बढ़ने के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

[3] ऋ० १. ११. ६ को भी दे०—"ऐ शूर! तुम्हारे दानों को इस नदी के साक्ष्य में लेकर मैं लौटा।" यहां कवि ने इन्द्र के ज़रिये जो दान मिला था उस में स्थानीय नदी को साक्षी रखा था।

ईरान वैज ।

प्रो० पूर्-ए दाऊद, विश्व भारती, शान्तिनिकेतन

[**आरियि या आर्य लोग**—अविस्ता और पहलवी में हमें ईरान वैज शब्द बार बार मिलता है।

भारतीय और ईरानी दोनों के ग्रन्थों में उस वंश का नाम जिस में से ये दोनों जातियां निकली हैं, आर्य अर्थात् सरदार दिया है। छठी शताब्दी ई० पू० में दारयवहु महान् अपने आपको आर्य कहता है। भारतवासियों के लिए अविस्ता के विभिन्न प्रकरणों में हिन्दु शब्द आया है।

ज्यों ज्यों हम खोजते हैं, यह बात अधिक अधिक पाते हैं कि भारतीय और ईरानी—भाषा, धर्म, विचार और रीति-रिवाजों में बिल्कुल एक थे। अविस्ता-भाषा और संस्कृत में केवल उच्चारण का ही अन्तर है, अन्यथा वे एक ही हैं। दोनों भाषायें परस्पर इतनी संबद्ध हैं कि हम एक को जानें और दूसरी को न जानें तो हमारा ज्ञान अधूरा रहता है। इस प्रकार वेद और अविस्ता तत्त्वतः एक ही हैं और उन में एक ही जाति के इतिहास की स्मृतियां हैं। यह विश्वास कि महात्मा ज़रतुश्त के आविर्भाव से दोनों जातियां अलग अलग हो गईं, कोरी कल्पना पर निर्भर है, इसमें तथ्य कुछ भी नहीं।

ईरान वैज—मध्य एशिया से प्रवास कर के ईरानी लोग पहले पहल जिस प्रदेश में बसे उसे अविस्ता में ईरान वैज कहा है। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह संस्कृत शब्द बीज का रूपान्तर है। परन्तु फारसी में इस अर्थ में ऐसा कोई शब्द नहीं। ईरान् वैज किसी विस्तृत देश का नाम नहीं अपितु उस प्रदेश का नाम है, जहां अपने प्रवास के बाद ईरानी लोग पहले पहल बसे—और जिसे उन्हों ने स्वर्ग कहा। पीछे इस के चौगिर्द कहानियों का जाला बुना गया जिस में इस की ठीक पहचान लुप्त हो गई। कुछ विद्वान् इन कहानियों में उलझ कर यह समझने लगे कि ईरान् वैज बिल्कुल ही एक कल्पना थी। पर यह ठीक नहीं; यह एक वास्तविक देश का नाम है।

मुश्किल तो यह है कि अरबों के फारिस विजय से भी बहुत पहले से इस देश की ठीक स्थिति के बारे में सन्देह विद्यमान थे। पहलवी ग्रन्थ दीन-अगासी में हम पाते हैं कि ईरान् वैज अज़रबाइजान में कहीं था। इस लिए कुछ एक प्राच्य-विदों ने इसे फारिस के उत्तर पश्चिम अज़रबाइजान के आस-पास, प्राचीन लोगों में अर्रान नाम से प्रसिद्ध एक देश में, जिसे अरब भी जानते थे, ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। अरब भूवेत्ताओं ने अर्रान का निम्नलिखित सीमाओं के अन्तरगत होना माना है—आमीनिया, शिरवान, अज़रबाइजान और कास्पियन सागर। किन्तु यूनानी लेखक स्त्राबो ने अर्रान लोगों को अनार्य कहा है। मि० टाइड का विश्वास है कि ईरान वैज फारस के उत्तर पूरब में कहीं था। इस का मतलब है आधुनिक ख्वारिज़्म या खीवा ही ईरान् वैज था। जुस्ति और एण्ड्रिएस् भी इस से सहमत हैं।

अविस्ता से भी यही सिद्ध होता है। वहां इस देश को फारिस के उत्तर पूरब और पूरब कहा है, तथा सुग्ध, मर्व, बल्ख नीसाय, हरात, काबुल आदि को इस में सम्मिलित गिना है। पहलवी टीका में लिखा है कि ईरान् वैज में अत्यधिक सरदी पड़ती थी।

अविस्ता के अलावा इतिहास से भी यही प्रकट होता है कि ख्वारिज़्म फारिस के सब से पुराने सूबों में से है तथा फारसी सभ्यता का केन्द्र रहा है। ऐतिहासिक अलबीरूनी भी इस बात का समर्थन करता है। अविस्ता के कई प्रकरणों से भी इस की पुष्टि होती है।

फारस के धार्मिक इतिहास में दक्खिनी फारिस का कहीं ज़िक्र नहीं है। ज़रतुश्त का आविर्भाव और उस का धर्म-प्रचार पूरबी फ़ारिस में ही हुआ। पहलवी और पाज़न्द ग्रन्थों के अनेक निर्देशों से भी पूरबी ईरान ही ईरान् वैज सिद्ध होता है। किन्तु बुन्दहिश्न इसे अज़रबइजान के आस पास रखता है। पर अधिकांश प्रमाण दूसरे पक्ष में है इस लिए ।ख्वारिज़्म को ही ईरान वैज समझना चाहिये ।]

आरियाई हा

दर अविस्ता चुनानके दर कुतब्-ए पहूलवी ग़ालिबन् बकल्म-ए ईरान वैज बरमीख़ुरेम राज अ्रि ब हुदूद्-ए ई मर्ज़बूम् आराए मुख़्तलिफ़ अस्त। पेश अज़ दाख़िल शुदन दरई मबहस लाज़िम अस्त अज़ अरियाई हा कि ई सर ज़मीन् बइस्मे ई क़ौम नामज़द गर्दीद: मुख़्तसरन् सुहबत् वि दारेम्।

दरमियान्-ए अक़वाम्-ए हिन्द व आरोपाई दो दस्तः अज़ हमीं निझ़ाद कि हिन्दुवान् व ईरानियान् बाशन्द बिस्यार व हम दीगर नज़दीक् व हर्दो आरियाई नामीदः शुदः अन्द। आसार्-ए कुतबे कि अज़ आरियाई हा दर दस्त अस्त क़दीम तरीन् असनाद-ए अक़वाम्-ए हिन्द व उरूपाई अस्त । वेद्-ए हिन्दुवान व अविस्वा-ए ईरानियान अज़ वराय-ए अक़वाम्-ए हिन्द व उरूपाई चुनानक् तौरात अज़ बराए अक़वाम्-ए सामी क, हन्-तीरन्-ए आसारे कुतुबि-ए दुनिया बशुमार अस्त । ऋग्वेद क़दीम् तरीन्-ए क़िस्मत्-ए क़िताब्-ए दीनी-ए बरहमनान् दर् दो हज़ार व पानसद् साल पेश अज़् मसीह ब वजूद् आमादः व क़दमत् गाथा क़दीम् तरीन् क़िस्मत् नाम्-ए मुक़दस्-ए मज़्दयसनान् बहज़ार् व सद् साल् पेश् अज़् मसीह मी रसद्[1] । ईरानियान् व हिन्दुआन् हरदो खुदरा आरियाई नामीदः अन्द यानी शरीफ़ । दर् सरोद हाए ऋग्वेद् हिन्दुआन् अज़ सियाह पोस्तहा व साकिनीन्-ए असली-ए सिन्द् व पञ्जाब व इस्म्-ए आरियाई इम्तियाज़ दादः शुदः अन्द । दर मुक़ाबिल्-ए मरदुमान्-ए असली-ए आँ सर ज़मीन् कि दास् दुश्मन् नामीदः शुदः व रफ़्तः रफ़्तः ख़ाकशान् बदस्त्-ए आरियाई हा दर आमदः[2] हम चुनीं ग़ालिबन् दर अविस्ता अज़् क़ौम-ए आरियाई या ईरान् ख़ाकशान् याद शुदः अस्त[3] । दारयूश बुज़र्ग दर कर्ने शशुम् पेश अज़् मसीह दर क़तीब-ए नक़श्-ए रुस्तम खुदरा चुनींय ख़्वान्दह मन् दारयूश हस्तम् पादशाह्-ए बुज़ुर्ग पादशाह्-ए पादशादान् पादशाह-ए ममालिक्-ए अक़वाम्-ए बिसियार् पादशाह्-ए ई ज़मींन्-ए बुज़ुर्ग-ए दूर के रानः पिसर्-ए वैश्तास्प (गुश्तास्प) हख़ामन्शी यक् पारसी पिसर्-ए यक् पारसी यक् आरियाई व अज़निझ़ाद-ए आरियाई बिना ब-ख़बर-ए हरोदूत-ए माद हा ईरानियान-ए मग़रिब् ज़मीन् कि दर अवाख़िर-ए क़र्न्-ए हश्तुम् पेश अज़् मसीह नखुस्तीं सल्तनत्-ए ईरान् रा तश्कील दादन्द । दर ज़मान-ए क़दीम् अमूमन आरियाई नामीदः मी शुदन्द[4] । ईरानियान् इस्म-ए खुदरा बसर ज़मीन हा ई कि बदस्त आवुर्दन्द दादः ऐरियान् नामीदः अन्द । इस्मे कि इमरोज़ः ईरान् गुफ़्तः मी शवद् व तापान् सद् व पिन्जाह सालपेश अज़् ई ईरान् तलफ़्फ़ुज़् मी शुदः अस्त् । हिन्दुआन् नीज़ बसर ज़मीन् हाई कि ब आँ जा मुहाज़रत् करदः इस्म-ए खुद दादः 'आर्यावर्त्त्' नामीदः अन्द् । हम चुनी आँ रा 'भारतवर्ष' या 'भारतभूमि' ख्वाँदः अन्द । इस्म-ए हिन्द या हिन्दोस्तान् कि हिन्दी हा नीज़ व हमीं इस्म वतन्-ए खुदरा मीनामन्द अज़् ईरानियान् गिरिफ़्तः शुदः अस्त। चहारबार दर अविस्ता ब-इस्म-ए हिन्द बर मी खुरेम, फ़र्गर्द्-ए अव्वल वन्दीदाद फ़िकर्-ए १८ यस्ना ५७ (सरोश यश्त-ए सर्शव) फ़िकर्-ए २९ तीर यश्त् फ़िकर्-ए ३२ मेह्र यश्त फ़िकर्-ए १०४ । दरई फ़िकरात् हिन्दू च दरनुस्ख़ बदल हिन्दू आमदः । व दर फ़ुर्स्-ए हख़ामन्शी नीज़ हिन्दू मी बाशद् । दारयूश्-ए बुज़ुर्ग दर नक़्श्-ए रुस्तम अज़ाँ दर् जुज़्व्-ए ममालिक-ए दीगर् कि दर्हसर्रुफ़-ए वैबूदः याद् मी कुनद् । दर् सांरिकरीत् सिन्धू व दर् यूनानी इन्दूस् मी बाशद् । वा ई इस्मेस्त् कि बरूद् सिन्द दादः शुदः अस्त। नज़रब ई कि हिन्दुआन् न खुस्त दर सवाहिल्-ए रुद्-ए सिन्द जाय गुज़ीदः व ममालिक्-ए पंजाब रा बदस्त आवुर्दः अज़्

---

[1] रुजूअ् शवद् ब मकालय्-ए ज़मान्-ए ज़रतुश्त दर् हमीं जिल्द ।

[2] रुजूअ् शवद् ब **'ओस्ता ईरानिश्श् कुल्तुर'** (अज़ गायगर), सफ़हा १७० ।

[3] रुजूअ् शवद् ब आबान् यश्त फ़िक़ात ४६,५८,६६, ११७; व **तीरयश्त** फ़ि० ६,३६,५८,६१; व **मिहर यश्त** फ़ि० ४,१३; व **फ़र्वदीन यश्त** फ़ि० १४३; व **जामियाद यश्त** फ़ि० ५६,६६; व **वंदीदाद फ़र्गर्द** १६ फ़ि० ३६ ।

[4] हिरोडोटस् ७;६२ ।

आँजा रफ़ः रफ़ः ब किनार्-ए रूद-ए गङ्ग व नुक़ात्-ए दोग़र्-ए हिन्द नफ़ूज़ करदन्द। इस्म्-ए मम्लुकत्-ए आनान् निज़्द-ए ईरानियान् हिन्द नामोदः शुदः अस्त[1]।

गुफ़्तेम अज़् मम्लुक़त्-ए आरियाई या ईरान् व अज़् कौम्-ए् आँ ऐर्य कि दर फ़ुर्स व दर सांस्करीत नीज़ अरिय गुफ़ः मी शवद्। ग़ालिबन् दर अविस्ता याद शुदः अस्त। अजाँ जुम्ला दर फ़र्वर दीन यश्त फ़िकर्-ए ८७ ग य म र्‌ त न कि दर फ़ारसी कयूमर्स गोएम् व दर अविस्ता न ख़ुस्तीन्-ए बशर् शुमुर्दः शुदः। व मानिन्द्-ए आदम दर अदयान्-ए सामी नख़ुस्तीन् कसे अस्त कि मनिश् व अमोजिश्-ए अहूरा मज़्दा रा दरियाफ़् अहूरा मज़्दा अज़् नाफ़्ये (दूदमान्) ममालिक्-ए ईरानी व नझ़ाद्-ए ममालिक्-ए ईरानी पिदीद् आवुर्द्। अन् ऐर्य यानि ग़ैर आरियाई या ग़ैर ईरानी व ख़ारिजः व बेगानः दर मुक़ाबिल्-ए क़ल्म-ए ऐर्य दर अविस्ता बिसियार आयदः अस्त।

हरचन्द कि दर तहक़ीक़ात् राज़ अ् ब हिन्दुआन् व ईरानियान् दूरतर रवेम व-बक़दीम् तरीन्-ए आसार्-ए आनान कि वेद् व अविस्ता बाशद् मुलाहिज़ः कुनेम्। बेश अज़् बेश शबाहते मियान्-ए ज़बान् व दीन व तर्ज़-ए ख़्याल् व आदात् व रूसूम्-ए आनान् कश्फ़ ख़्वाहेम् कर्द्। बतौर कि अवदन् शक्केन मी मानद् कि ई दो क़ौम् अज़् यक् नझ़द बूदः। व रोज़े दर यक् सर ज़मीन् बसर मी बुर्दः। व दाराये यक् ज़बान् व यक् ख़स्लत् बूदः अन्द। ज़ुबान्-ए अविस्ता व ज़ुबान्-ए वेद् फ़क़त् तफ़ावुत्-ए लहज़ः ब हम दीगर दारन्द। मियान्-ए ज़ुबान्-ए अविस्ता व ज़ुबान्-ए फ़ुर्स् कि दर क़तीब-ए पादशाहान्-ए हख़ामन्शी नमून्-ए अजाँ ब जामादः नीज़ हमीन् तफ़ुवुत्-ए लहजा रा बायद् क़ायल् शुद्। गुज़श्तः अज़् कलमात् तरकीब्-ए जुम्लात्-ए ज़ुबान्-ए अविस्ता व कवाइदे सर्फ़् व नहवीय्य्-ए आँ व अन्दाज़्-ए ब सांस्करीत् नज़दीक् अस्त् कि बसा अज़् ज़िकरात्-ए अविस्ता रा बे ऐनिही कल्मः बकल्मः बज़ुबान्-ए सांस्करीत् मी तवाँ बर गर्दानीद्[2]। इस्त्राबोन् जुग़राफ़िया नवीरा-ए यूनानी दर् यक् क़र्न पेश अज़् मीलाद् ज़बान् हाय क़ुल्लीय्य-ए अक़वाम्-ए आरियाई-रायके दानिस्ता व फ़क़त् फ़र्क्-ए लहज़ दर्मियान्-ए आँहा ख़ायल् शुदः अस्त्[3]। बेशक् अगर सांस्करीत् व अदबीय्यात्-ए फ़रावान्-ए आँ नबूद् हर आइना क़िस्मते अज़् अदबीय्यात्-ए मज़्द यस्ना मजहूल मी मानद्। दानिशमन्द-ए फरान्सः बुर्नूफ़ व तवस्सुत्-ए सांस्करीत्-ए यस्ना रा कि पंज फ़स्ल्-ए गाथा दर ज़ुज़्वे आँ अस्त व अज़् मुश्किल् तरीन्-ए क़िस्मत नाम्-ए मुक़द्देस अस्त व फ़रान्सः तरज़मः नमूदः। दरसाल्-ए १८३३ मीलादी मुन्तशर साख़्त। अज़् ई रोज़ व बाद् अज़् फरतवे सांस्करीत् तहसील-ए अविस्ता पाय-ए इल्मी गिरिफ़् व बवाँसेत्-ए तरक्क़ो-ए इल्म्-ए इश्तिक़ाक़ दर अरुपाव बख़सूसः बवासेत-ए मुतवज्जः शुदन्-ए दानिश मन्दान् व अदबीय्यात्-ए क़दीम्-ए हिन्द मुन्दर्जात्-ए अविस्ता मतदर्रिजन् रौशन् शुद। तफ़सीर्-ए पहलवी-ए अविस्ता कि आँ रा ज़न्द नामन्द नफ़सीर्-ए सुन्नती अस्त निस्बत् ब तफ़सीरे कि अज़रुये इल्म्-ए इश्तिक़ाक़ अस्त कमतर क़ाबिल्-ए एतमाद अस्त। वले बावुजूद्-ए ई क़लीद्-ए फ़हम्-ए अविस्ता अस्त व दर बिख़्रे अज़्

---

[1] रुजूअ शवद् ब 'लेब लेबंस' पानशाओडङ्ग देस हिन्दू' (अज़् राधाकृष्णान्) तर्जना अज़् एच्० डब्लयू० |शोमरूस लाइपज़ीग १९२८ सफ़हा ६।

[2] रुजूअ शवद् ब हान्दबुख़ देर आल्त ईरानिश्यन् दिआलेक्स (अज् बार्थालोमे) लाइपज़ीग १८८३ सफ़हा ४।

[3] ऊर्गशिस्त देर 'आयथर' जि० १ 'ईरान् ऊन्द तूरान्' (अज़् बून होफ़र) लाइपज़ीग १८८१ सफ़हा २०२।

मवाज़े यदानः वसील्-ए एस्त अज़् बराय रसीदन् व मआनि तक़रीबो आँ हाँ ज़ुबान्-ए अविस्ता दर अहूद्-ए सासानियान् कि तफ़सीर्-ए आँ दर् आँ अहद् नविश्तः शुदः मतरूक् बूदः। मुफ़स्सरीन्-ए आँ ज़मान् बायस्ते बनाचार व तफ़सीर्-ए सुन्नती क़िताब्-ए मुक़द्दस् कि अज़् पुश्त व पुश्त ब आँ ना रसीदः बुदः इत्तिफ़ा कुनन्द। बखुसूस् तफ़सीर्-ए पहलवीय्य-ए गाथा कि अज़् क़दीमूस्तरीन् बमुश्किल् तरीन्-ए अजज़ाये अविस्ता अस्त। दूर अज़्मानीये हक़ीक़ी सलूदहाये पैग़म्बर्-ए इरान् अस्त। अम्माँ थफ़सीर् व तर्जुम्-ए पहूलवी सायर्-ए क़िस्मत् हाये अविस्ता कम् व बंश नज़दीक् बमतन् अस्त।

नई कि फ़क़त् अज़् बराये नमूदन्-ए मानीयें हक़ीक़ीयें क़लमात् व जुम्लात्-ए अविस्ता मुहताज् व सांस्करीत् हस्तेम्। बल्कि अज़् बराये दर याबीदन्-ए मतालिब्-ए अविस्ता ग़ैर अज़् गाथा नीज़ नयाज़मन्द-ए अदबीय्यात्-ए क़दीम्-ए हिन्द हस्तेम्। यक् रिश्तः अज़् मुन्दर्जात्-ए अविस्ता ये मुत आख़्ख़र् व बसित्-ए वेद व क़िताब्-ए रज़्मीये-हिन्दुआन् महाभारत हल ग़र्दीद्। चुनाँ कि मीदानेम् ज़र्तुश्त् उसूल्-ए केश-ए कुहुन्-ए आरियाई रा तग़यीर् दादः ईरानियान् रा व परस्तिश्-ए आफ़रीदग़ार्-ए यगानः रहन्मून् गश्त व गाथा कि अज़् सरोदहाये-खुदा-ए पैग़म्बर्-ए ईरान् व हावी ये तालीमात्-ए ओस्त गोया-ए ई तज़्दीद् व तग़्यीर अस्त। अम्माँ क़िस्मत हाये दीगर अविस्ता ब ई कि दाराये उसूल्-ए ज़रतुश्ती अस्त बखूबी याद् आवरे केश्-ए कुहन्-ए आरियाई अस्त। व गिरोह्-ए अज़् ईज़दान या फरिश्तगान् व बसा अज़् देवहाय् आँ हमाँ पर्वर्दिगारान्-ए आरियाई हस्तन्द। व दरकुतुब्-ए दीनीये बरहमनान् नीज़ दाराये नाम निशान् मी बाशद्। शके नीस्त कि दानिशमन्दान्-ए वेदनीज़ अज़् कुतुब-ए दीनीये क़दीम्-ए ईरानियान् बे नियाज़् नेस्तन्द। ख्वाह अज़् लिहाज़्-ए इल्म्-ए इश्तिक़ाक़ व ख़्वाह अज़् लिहाज़्-ए मआनी व मुहतबीयात्-ए गुज़िश्तः अज़ीँ बिना व तहक़ीक़ात्-ए मुस्तश्रिकीन् क़िस्मत्-ए अज़् कुतुब्-ए वेद दर् ईरान् ज़मीन् नविश्तः शुदः। व बिर्ख़े अज़् ऋषिया सरोद्गोयान्-ए वेद ईरानी बूदः अन्द। व बसादर ई सरोद् हा रुह्-ए ईरानी हुक्म फ़रमाँ अस्त।

वेद व अविस्ता आसारे अस्त अज़् बिरादरान्-ए आरियाई कि इम रोज़ पस् अज़् गुज़श्तने चन्दि हज़ार साल मीं हवानेम ब मुआवनत्-ए ई दो मीरास्-ए मुक़द्दस्-ए इह सासात व ख़यालात्-ए नियागान्-ए नामवर्-ए खुदरादर या बेम। जुज़् अज़् हमींदो क़िताब्-ए दोनों आसार्-ए दीगर्-ए कि गोया-ए ख्वाबीत्-ए देरीन्-ए आरियाई हा यानी ईरानियान् व हिन्दुआन् बाशद् दर दस्तनदारेम्। ई दो किताब लफ़्ज़न् व मानन् दलील अस्त कि ईरानियान् व हिन्दुआन् अज़् हर हैस बहमदीगर् नज़दीक् बूदः अन्द। इमरोज़ः बतौर-ए तहक़ीक़ नमीदानेम् कि आना दर कुदाम् सर ज़मीन् बाहम बसर मीं बुर्दः अन्द व कै अज़् हम दीगर जुदा शुदः अन्द। व सबब्-ए जुदाइ-ए आनान् चेबूदः अस्त। दरई मौज़ू नमीख़्वाहेम् दाख़िल्-ए मुबाहसा शुदा यक्मुश्त्-ए हदस् व एहूतमाल् व ख़र्वार्-ए एहूतेमालात्-ए मुहक्के क़ीन् बेयफज़ायेम्। बिर्खे अज़ मुवर्रख़ीन् तसव्वुर् करदः अन्द कि ज़हूर्-ए ज़रतुश्त व बतवस्तुत्-ए ऊ ब वजूद् आमदन्-ए दीन-ए नौ सबब्-ए जुदाईये ईरानियान् व हिन्दुआन शुदः बाशद्। ईं हदस्-ए बे असास् ब हेच वजह क़ाबिल्-ए तवज्जुह नेस्त। बिदून्-ए शक् मुद्दत्त हा पस् अज़् जुदा शुदने ईं दुदस्ता अज़् हम दीगर् व मुहाजरत् नमूदन्-ए ईरानियान् ब सर ज़मीन्-ए ईरान्-ए पैग़म्बर ज़हूर नमूद।

नज़र ब क़दीम-तरीन्-ए आसार-ए आरियाई हा शबाहत्-ए तअम्में अज़् हर हैस मियान्-ए ईरानियान् व हिन्दुआन् मौजूद् अस्त। हूमा तौरं कि वेद व अविस्तान मूदार्-ए क़राबत्-ए ज़ुबान-ए आँना अस्त। दर

ख़साइस्-ए मिल्लीनीज़ नमूदार्-ए खेशीये आँना अस्ते व हम्दीगर्। अम्माँ नज़र ब तारीख़-ए आँना दरकुसन्-ए बाद तफ़ावुत्-ए फ़ाहिश्-ए दर ख़साएल्-ए आँना दीदः मी शवद्। हिन्दुआन् गोशःगीर व फ़ैलसूफ व अहले फ़िक्र अन्द। ईरानियान् जहाँगीर व पहलवान् व बेबाक अन्द। ईं तफ़ुवुत रा वायद् अज़् तसल्लुत्-ए आव व हवा-ए औतान्-ए आना दानिस्त। हिन्दुआन् दर मुहाजरत्-ए ख़ुद व क़िनार्-ए सिन्द व दश्त हाये पंजाव रसीदः दर् आँ सर ज़मीन्-ए बिसियार गर्म व पुर आव व आसानी दर्-ए रोज़ी व रूयं ख़ुद कुशूदः दीदन्द अज़् ई रु अज़् कोशिश् वाज़ मादन्द्। अम्माँ ईरानियान् कि व आसियाये मर्क़ज़ीरुयं निहादा वदश्तहाय सैहून् व जैहून् दर आमदन्द व रफ़्तः रफ़्तःसरासर्-ए ईरान् ज़मीन् रा फ़रागिरिफ़्तन्द। व ख़ाक्-ए कम आव व ख़ुश्क रसीदन्द् व वताविस्ताने विसियार गर्म व ज़मिस्तान्-ए सख़्त बर ख़ुर्दन्द। ना गुज़ीर अज़् वरायं ज़िन्दगी वकार व कोशिश् दर आमदन्द। अक्कारिज़्-ए तबीईय्-ए सरकश्-ए आँना रा मर्द्-ए मैदाँ व दर मुक़ाबिल्-ए ओ चेह वद वज़िश्त अस्त। दिलेर व पायदार साख़्त।

ईरान् वैज

ईनक व बोनेम् कि ईरानियान् पस् अज़् मुहाजरत्-ए ख़ुद दर मरकज़्-ए आसिया व कुजा बार्-ए इक़ामत् अफ़गन्दन्द् व नख़ुस्तन्-ए सर मन्ज़िल्-ए ख़ुदरा चे गूनः नामीदः अन्द। ईं सरज़मीन् दर अविस्ता ग़ालिबन ऐरियनवैजः नामीदः शुदः अस्त। जुज़्-ए अव्वल्-ए ईं इस्म हुमाँ अस्त कि गुफ़्तेम्। इम् रोज़ः ईरान् गोयेम् मानि-ए लफ़्ज़िये वैजः दुरुस्त मालूमनेस्त। अम्माँ दर सांस्करीत् कल्मा वीज मौजूद व व मानियें तुख़्म मीं बाशद्। बहमीं मुनासिबत् मुस्तश्रिक़ीन्-ए ऐरियन वैजः रा व मानिये सर ज़मीन्-ए तुख़्मः व निज़्माद्-ए अरियाई गिरफ़्तः अन्द। अलवत्ता अज़् वराय ईं इस्म्-ए मुरक्कब चुनीं मानीं या मवानियें दीगर अज़् हमीं क़बील वायद् तसव्वुर नमूद। व अक़ीदः विरखे कि ईं कल्मरा वा कल्म्-ए बीज कि दर सर ज़ुबान्-ए आमियान् ईरान् अस्त मरबूद दानिस्ता अन्द क़ाबिल-ए तवज्जुह नेस्त। ज़ीरा कि अज़् वरायें सेहत्-ए लुग़त्-ए मज़्कूर-शाहिद दर अदवीय्यात्-ए फ़ारसी दरदस्त न दारेम्।

ऐरियान वैजः व सरासर्-ए ईरान् ज़मीन् वुज़ुर्ग इतलाक़ नमीशुदः। वल्कि इस्म क़ितः ख़ाकी अस्त कि न ख़ुस्त ईरानियाँ ब आँजा बार्-ए इक़ामत अफ़गन्दन्द्। व अज़् आँजा मुतदर्रिजन् पेशतर रफ़्तः सरासरईरान् ज़मीन् रा फ़रा गिरफ़्तन्द व बादहा। हमः मुमालिक-ए कि दर तेसर्रुफ़्-ए आना बूदः ऐरियन् या ईरान् नामोदः शुदः अस्त।

वले हमेशः इक़ामत गाह्-ए अव्वली ख़ुदरा व नेकी याद करदन्द। व मुरूर्-ए ज़माँ आँ मरज़ोबूम्-ए कुहन् निज़्द्-ए आना जम्ब्-ए मीनवी गिरफः यक् क़िस्म्-ए बहिश्त्-ए रूय्-ए ज़मीन् तारीफ़ शुदः अस्त, व चूँ रोज़गार-ए दराज़ बर आँगुज़श्तः व तारहाये अफ़्सानः दौर-ए ईं महदरा वि गिरफ़्त दर सर्-ए तयीन्-ए आँ तरदीद पैदा करदन्द। बर्खे अज़ मुस्तशर्क़ीन् कि इस्म्-ए ईं मम्लुकत् रा बा आँ हमाँ दास्ताँ आमेख़्तः दी दन्द्। ज़हन्-ए आँना ब यक् किश्वर-ए मीन वी मुन्तक़िल गरदीद्। अम्माँ इमरोजः कसेरा शके नेस्त कि ऐरियन वैजः इस्म्-ए यक् मरज़बूम-ए वा क़िई अस्त-फक़त व वास्तये फक़दान्-ए वसाइल वतूल्-ए ज़मान ब तौर्-ए तहक़ीक़ नमीतवानेम महल्ल-ए आँरा मु अय्यन कुनेम। दर अविस्ता आसामिये बिसियार अज़ एयालतहा व कोह हा व रूदहाये-ईरान ज़मीन क़दीम महफ़ूज़ मांदः। दर सर्-ए तयीन् बिर्खे अज़् आंहा कि मुवर्रिख़ीन

व जुग़राफ़ियून्-ए क़दीम्-ए यूनान व रोम नीज़ अज़् आँ हाँ ज़िक्र करद: व दर कतीबये शाहन्शाहान्-ए हख़ामन्शी हम याद गर दीद: । व याईं कि असामीये क़दीम्-ए आँहा हुनूज़ मुताबिक़्-ए नाम हाये क़नूनिये आँ हास्त इश्काले नदारेम् व बिख़्ं दीगर अज़् आँ हाँ कि फ़क़त यक़ या चन्दीं बार दर किताब्-ए मुक़द्दस आम्द: व दर कुतुब-ए पहलवी बिदून-ए हेच क़िस्म तौज़ीहे तक़रार शुद: व दीगर दर हेच जा असर व ख़बरे अज़ आँ हा नीस्त। नमीतवाँ अज़रूये यक़ीन हुदूदे अज़बराये आँ हा मुअय्यन नमूद।

इश्काले कि माँ इमरोज़: राजे बचुनीन अस्माये ख़ास-ए अविस्ता दारेम् दर हज़ार व सीसद साल पेश-अज़् ई हम यानी पेश अज़् इस्तीलाये अरब व ईरान् दर अहद्-ए सासानियान् नीज़ दाश्त: अन्द। ज़ीराकिदर आँ अज़्मिन: अज़् अहद्-ए ज़हूर्-ए मज़्द यस्ना व तालीफ़्-ए अजज़ाये अविस्ता दूरबूद: अन्द व भसाइल्-ए साल ख़ुर्द: रङ्ग व आब्-ए दास्तानी गिरफ़्त: तौर्-ए दीगर जलव: मी नमूद। राजे बयक् दस्त: अज़ अस्माये-ख़ास्-ए अविस्ता बेसा तारीफ़्-ए नक़ीज़्-ए कुतुब्-ए पहलवी कि आबिशख़ुर्-ए आँ हा रिवायात व सुनान्-ए अहूद्-ए सासानी अस्त व बसा तारीफ़्-ए शिगिफ़्त आ मेज़-ए कुतुब्-ए मज़कूर बेश अज़् बेश मा रा इमरोज़ व रसीदन्-ए हक़ीक़त्-ए मतलब दूर दाश्त: व मायये इश्तिबाह मी शवद्। अज़ आँ जुम्ल: दर किताब्-ए पहलवीये दीन् आगासी (आगाही) माअ़रूफ़ व बुन्दहिश् दर फ़स्ल २९ फ़िक़र: १२ सराहतन् आमद:।

"ईरान् वैज: दरतरफ़्-ए आज़र बायजान् अस्त" अज़्-चन्दीं मौज़्-ए दीगर हमीं किताब बर मी आयद् कि मुअल्लिफ़्-ए बुन्दहिश् ऐरियन् वैज: रा दर् मग़रिब्-ए शुमालीये ईरान् मी पिन्दाश्त: अस्त। नज़र् ब हमीं तारीफ़्-ए बुन्दहिश् अस्त कि यक् दस्त: अज़ मुस्तश्रिक़ीन् व मग़रिब्-ए शिमालीये ईरान् मुतवज्जि: शुद: दर आँ हुदूद् मम्लुकत-राजुस्तन्द कि हम सायये आँ ज़रबायजान् अस्त व ईं मम्लुकत इरान अस्त कि ब ज़ोम्-ए आँ ना हमाँ ऐरियन वैजह्-ए अविस्ता अस्त। दर कुतुब-ए जुग़राफ़ियून्-ए ईरानी व अरब ईं मम्लुकत एर्रान् ज़ब्त शुद: व आँ अिबारत अस्त अज़् अल्बान्-ए क़दीम निज़्द्-ए क़ुदमाये यूनान व रोम। इस्तख़री कि दर नीमये ऊला क़र्न-ए चहारुम्-ए हिजरी मीं ज़ीस्त: ईं मम्लुकतरा अज़् तरफ़्-ए शिमालशर्क़ी व दरबन्द व अज़ तर्फ़्-ए मग़रिब बतिफ़्लीस व अज़् तर्फ़्-ए जुनूब व जुनूब ग़र्बी व रूद्-ए अर्स् महदूद कर्द: अस्त। याक़ूत कि दर-साल ५७४ तवल्लुद याफ़्त: व दर ६२६ दर गुज़श्त ईरान् रा बवास्त ये रूद्-ए अर्स अज़् आज़र बायजान मुनफ़सिल कर्द: तमाम राज़ीरा कि अज़् ईं रूद अज़् तर्फ़्-ए शिमाल व मग़रिब मशरूब मी शवद अयालत-ए ईरान् दानिस्त: अस्त। दर यक् क़र्न बाद हमदुल्लाह मुस्तौफ़ी दर किताब्-ए नुज़हतुल्क़ुलूब कि दर साल्-ए ७४० हिजरी नविश्त: शुद: मीगोयद; "देयार्-ए इरान् व मूग़ान बा विलायत्-ए अर्मन व शीरवान् व आज़राबयजान व बहर्-ए ख़िज़र पैवस्त: अस्त।" दर जाये दीगर गोयद; "अज़् किनार्-ए आब्-ए अर्स ता आब्-ए कर बीनुल्-नहरैन इरान् अस्त।" पस् अज़् इस्तीला ये मुग़ूल क़िस्मत्-ए जनूबीये-ईरान्-ए क़दीम व इस्म्-ए नीमतुर्की व नीमईरानी क़राबाग़् नामीद: शुद: कि ता कुनून् हम बहमी इस्म ख़्वाँन्द: मी शवद। चीज़्-ए कि मुस्तश्रिक़ीन रा व ईं अयालत्-ए मग़रिब्-ए शिमाली ब ख़ाक्-ए् इरान् मुतवज्जि: स्वाख़्त: न ख़ुस्त हमाँ फ़िक़्र्-ए १० अज़् फ़स्ल्-ए २९ बुन्दहिश अस्त। कि गुफ़्तेम ईरानवैजरा अज़ तर्फ़्-ए (कस्तीक) आज़र बायजान् पिन्दाश्त. अस्त। दुवम् इस्म्-ए ख़ुद्-ए ईं अयालत अस्त कि अज़् ज़मान्-ए क़दीम ब इस्म्-ए ईरानीये ख़ुद इरान् नामज़द् बूद: अस्त। व आँ रा अज़् क़ल्म ऐर्यन दानिस्त: अन्द। वले हेचषक् अज़् ईं दो दलील रा ऐतबारे नीस्त। ज़ीरा कि मुन्दर्जात्-ए बुन्दहिश् राजे ब असामीये जुग़राफ़ियाई बे असास अस्त। इश्तिबाहात्-ए जुग़राफ़ियाई

दर ई किताब कि दर कर्म-ए हश्तुम्-ए मीला दी तालीफ़्याफ़्तः नज़ीर बिसियार दारद। हम चुनीं हैअत्-ए कल्म्-ए इरान क़ाबिल्-ए तवज्जुः अस्त। ज़ीरा कि कल्मये ऐर्यन मअ्मूलन् बा यिस्तें ईरान् शुदः बाशद चुनाँ कि शुदः व वतन्-ए मा चुनीं ख़्वाँद्नः शुदः अस्त। व ई दलायेल व बदलील्-ए ई कि इरान हमेशः यक् अयालत्-ए ग़ैर्-ए आरियाई बूदः। व मुन्दरजात्-ए इस्तराबून (Strabon) राजिअ् ब रुसूम व आदात्-ए अहालिये इरान = अल्बानिया ग़ैर्-ए ईरानी बूदन्-ए आ नाँरा साबित मी साज़द। व अबदन् मन्तिक़ी नीस्त कि ई सरज़मीन महद्-ए नख़ुस्तीन्-ए तमद्दुन्-ए ईरान् तसव्वुर शवद[1]। गिरोहे अज़् मुस्तश्रिकीन् बिना बर सवाब अज़ बराये तअ्यीन्-ए ईरान्वैज व मशरिक़्-ए ईरान मुतवज्जः शुदः अन्द कीपर्त (Kiepert) आँ रा दर सर ज़मीन्-ए जुनूब शर्क़ीये फ़र्ग़ानः एहतिमाल दादः अस्त[2]। गायगर (Geiger) रा अक़ीदः बर ई अस्त कि ईरान् वैज दर मशरिक़्-ए शिमाली अस्त। हदूद्-ए फ़रग़ानः, को हिस्तान्-ए हालियः महल्ल-ए आँ अस्त व रूद्-ए दायती कि दर अविस्ता रूद्-ए ईरान वैज अस्त अिबारत अस्त अज़ ज़र अफ़्शान्[3]। दानिश्मन्द-ए मज़्कूर पस् अज़् चहारदह साल दीगर दर सर अक़ीदये ख़ुद साबित माँदः मी नवीसत् बतौरे हत्म ईरान वैज दर अक़्सा हुदूद् ए मश्रिक़ शिमालिये ईरान् ज़मीन अस्त। व मुमकिन नीस्त कि इरान बाशद[4]।

ताकि ईरान वैजरा दर मश्रिक़्-ए शिमाली दानिस्तः मी नवीसद्। ईरान् वैज बिना बतरतीब्-ए् कि दर फ़र्गर्द्-ए अव्वल वदीदाद् आम्दः नख़ुस्तीन्-ए इक़ामतगाह्-ए ईरानियान अस्त कि अज़ आँ जा रफ़्तः रफ़्तः व सुग़्द् व मर्व व बलूख़ व निसायः व हरात व काबुल व हल्मन्द दस्त अन्दाज़ी करदन्द व पस् अज़ आँ ब ममालिक्-ए शिमालीयं ईराँ रूये आवुर्दन्द। बिना बतक़रीर्-ए दानिशमन्द्-ए हुलादी इरान्वैजरा बायद सर ज़मीन्-ए ख़्वारज़्म या ख़ीवः हालियः बिदानेम[5]।

---

[1] यक्-ए अज़् शहराय्-ए बुज़ुर्ग व मअ्रूफ़ अरीन् कि इम् रोजः दिहेस्त दर्मियान्-ए ख़राबः दर् किनार्-ए रूद्-ए मौरूम अस्त बर्दंअ (बर ज़ अः = बर्दंअः) ईं इस्म मुअर्रब्-ए परतौ मी बाशद्। नबी-शिंदगान्-ए अर्मनी नीज़ इस्म्-ए ईं शहर रा ज़ुनोंज़ब्त कर्दः अन्द। याक़ूत मुअजमुल्बुल्दान् नक़्ल अज़् तब्जः नमूदः मी नवीसदः—'बर्ज़अह मुअर्रब् अज़् कल्म्-ए क़फ़ार्सी बर्दः—दार मीं बाशद्यूआनी जाये कि बर्दः (असीर) निगाह मी दाश्तंद।'' ला बुद् ईं बजह्-ए इश्तिक़ा बाज़ारी अस्त। ब बर्द दास्तांन्-ए मिल्लिये मा नीज़ दाराम्-ए नाम व निशानेस्त। ब गुफ़्तये शाहनामः अफ़रासिया ब अज़् बीम्-ए कै ख़ुसरो अज़ गंग देश गुरेख़्तः दर् गारे दर् बालाय्-ए कोह ब निज़्दीक्-ए बर्दंअ पिस्निान शुद। हाम आबिद् दर् हमां कोई मुन्ज़वी बूदः। रू रा दस्तगीर कर्द व कै ख़ुसरौ अज़ ख़ून्-ए पिदरश् सियाबुश् इंतिकाम कशीदः ऊ रा कुश्त रुज्अशवद् ब जिल्द १ यश्त हा सफ़हा २०९,२१० व ब जिल्द २सफ़हा २५३।

[2] उइबर गेओग्राफ़िश् आन्ओर्दनूध देर नामन् आरशिर् लान्हिशाफ़्तन् इन् ऐस्वेन् फ़र्गर्द देस वंदीदाद् (अज़् एच० कीपर्त्त) मुनात्सबर देर के अकांडेमी देर बिसन्शाफ़्त—१५ दिसम्बर १८५६ सफ़हा ६२१-६४७।

[3] ओस्तीरानिश् कुल्तूर (अज़ गायगर) एलिगंन १८८२ सफ़हा ३०-३४।

[4] गेओग्राफ़ी फ़ोन ईरान् (अज़् गायगर) ग्रुन्द्रिस देर ईरानिशन् फ़िलोलोगी, जि० २ स्भासबुर्ग १८९६-१९०४ सफ़हा २८९।

[5] गेशिश्त देर 'रिलीगिअ्रांन इन् आल्तरतुम्' जि० २ 'दि रिलीगिअ्रांन बाइ ईरानिशन् फ़ेल्कर्न' फ़ोन तील। इइच आउस्गाब फ़ोन गेरिक्। गोता १९०० सफ़हा ५५-५६।

यूस्ती नीज़ एहतिमालदाद: कि ईरान् वैज हमाँ ख़ीव: हालिय: या ख्वारज़्म-ए क़दीमबाशद[1]। गिरोहे अज़ दानिश मन्दान्-ए दीगर हरयक् ब दलील्-ए बहमीं नतीज: रसीद: ईरान् वैज रा हमाँ ख्वारज़्म दानिस्त: अन्द। अज़ आँ जुम्ल: दानिश्मन्द्-ए मअ़रूफ़ आन्द्रिआस[2] (Andreas) ब अक़ीदये उस्ताद्-ए मारक्वार्त कि अज़् बुज़ुर्गान्-ए मुश्तश्रिक़ीन व ब खुसूस: दर जुग़राफ़ियाये ईरान्-ए क़दीम अज़्मुअ़स्सकीन बूद: ईरान-वैज हमाँ ख़्वारज़्म अस्त। व ईं दानिश्मन्द्-ए मरहूम साबितबूद: कि ख़ाक्-ए तूरान (तूइर्य) पैवस्त: बख़्वारज़्म बूद: अस्त[3]। अज़्ख़ुद्-ए अविस्ता नीज़ बख़ूबी बर मी आयद कि अज़ ऐरियनवैज: हमाँ ख़्वारज़्म इर शुद: बख़ुसूस: सेह् फ़िक़रा अज़ फ़र्गर्द-ए अव्वल्-ए वन्दीदाद राजअ़ राज: व ईं मौज़ूअ़ बिसियार दरख़ुर्-ए दिक़्क़त्-ए अस्त। दर ईं फ़र्गर्द अज़्शाँ ज़ंद: मम्लुकत नामबुर्द: शुद:। आसेब व आफ़ते कि अहरीमन दर हरयक् अज़् आँ ममालिक दर मुक़ाबिल्-ए आफ़रीं निश्-ए नेक्-ए अहूरमज़्दा पिदीद्-ए आवुर्द: ज़िक्र गर्ददि: अस्त। दर सर्-ए ईं ममालिक ऐरियन्वैज: जायद दाद: शुद: अस्त। याअ़र्भिये सेह् फ़िक्रये ऊला ईं अस्त।

[1]अहूररा मज़्दा व स्पीतमान् ज़रतुश्त गुफ़्त। ऐ स्पीतमान् ज़रतुश्त हर आँ जाई रा हम कि रामश् देहिन्द: नेस्त मन् आँ जा रा शादमानी बख़्श आफ़रीदम्। ज़ोराकि अगर मन्आँ जायरामिश् नदे हिन्दरा शादमानी बख़्शहम् नमी आफ़रीदम् हरआईन: हमये मर्दुमान-ए जहान् व ईरानवैज रूमी आवुर्दन्द।

[2]नख़ुस्तीन् व बेहतरीन्-ए जा व सरज़मीने कि मन् अहूरामज़्दा बि आफ़्रीदम् ईरानवैज अस्त। आँ जा ई कि रूद्-ए दाँयती-ए नेक मी बाशद् अम्माँ अहरीमन् पुर आसेब दर आँ जा बतैयारगी मार्-ए सुर्ख़ व ज़मिस्तान् देवदाद: बकार आवुर्द।

[3]दह् मादर आँजा। ज़मिस्तान् अस्त, दोमाह ताबिस्तान् व ईं दो माह नीज़ सर्द अस्त। अज़ बराये आब सर्द अज़ बराय ज़मीं सर्द अज़ बराये गिमाह ईं जा अस्त नियान्-ए (यर्कज़्-ए) ज़मिस्तान् ईं जा दिल्-ए ज़मिस्तान् आँ गाह कि ज़मिस्तान् व पायान् रसद सैला व आयद।

---

१. ग्रुद्रिश देर ईरानिशन् फ़िलोलोगी जि० २ स० ४०१

२. बक़ीदय्-ए दानिश्मद्-ए आल्मानी आंद्रिआस कि दे अवायिल्-ए माह्-ए अक्तूबर १९३० देर सिन्न्-ए हश्ताद व चहार सालगी बारहमत्-ए ईज़दी पैवस्त फ़र्गर्द-ए अव्वल्-ए अश्कानी (४७१-१३६ पेश अज़् मसीह) इशा शुदाः। बमुना-सबत्-ए ईं कि ख़्वारज़्म वतन्-ए अस्लिय्-ए अश्कानिमान् बूदः ईरान् वैज्-ए क़दीम रा कि अज़ आं हमां ख़्वारज़्म ।इरादः शुदः दर सर्-ए ममालिक्-ए दीगर ता दादः अंद। ब नज़्र्-ए निगारिंदः दलील्-ए कि दानिश्मंद्-ए मरहूम् अज़् बएय्-ए -सुत्बूए अक़ीद्-ए ख़ुद आवुर्दः काबिल्-ए तर्दीद अस्त। हरचंद कि ख़ुद मसअलः दुरुस्त व इम्रोजः बीश्तर दानिश्मदान् ऐरियन वैजः व ख़्वारज़्म रा याक्-ए मी दानदं दर् ज़मीन्-ए अविस्ता ईं गूनः दाबइल्-ए तारीख़ी शबीह् ब दलील्-ए आंद्रिआस ज़िक्र कर्दन् बस्तः बतुर्रत्-ए शख़्सी अस्त।

३. 'ईरान शहर' अज़् मार्किट बर्लिन १९०१ ब कुतुब्-ए ज़ैत नीज़ मुइलादजः शवद्ः—कल्क नोतिस सरल प्ल् आंसियान् प्रोंद दु ज़ुरोअस्त्रिज़्म पार आर्तूर क्रिस्तरसन् एक्स आक्तोरुम् ओरिअंतालुम् जि० ४। एक्ससर्पतुम् पृ० ८२, एतूद सूरल ज़ोरोअस्मिज़्म द ल पर्स आंतीक, कोवन हाफ़न १९२८, पृ० ४२-४-४। आल्तीरानिश्स् वेश्तर बुदन फ़ोन बार्सोलोये -शाख़बुर्ग १९०४ पृ० ९७-९८ लार्तिकल ख़्वारिज़्म' यार डब्ल्यू वार्तोल्द, दाँआंसिक्लोये दी द लिस्लाम, जि० २ बर्लिन १९०६।

पस् अज़् ज़िक्र-ए ऐरियनवैजः दरफ़िक़रात्-ए बअ़ाद अज़मुमालिक्-ए शिमालशर्क़ी व शर्क़ी ईरान अज़ सुग़द् व मर्व् व बल्ख़ व निसायः (मियान्-ए मर्व व बल्ख़) बहरोत व काबुल वग़ैरः इस्मबुर्दः शुदः अस्त[1] । दरतफ़सीर-ए पहलवी (ज़ंद) ईं फ़िक़रात मतालिबे राजिश्र् व ईरान् वैज व रूदए दायती नया मदः हमीं क़दर ज़िक्र् शुदः कि ज़मिस्तान् दर ईं मम्लुकत बिसियार सख़्त अस्त व रूद्-ए आँ पुर् अज़् हशरात अस्त व राजिश्र् व फ़िक़्र्ये सिवुम एख़्तिलाफ़्-ए आरा-ए मुफ़स्सिरीन् ज़िक्र्शुदः अज़्ईं कि बिर्ख़े दह्माह ज़मिस्तान रा अज़् ब-राय्-ए आब व ज़मीन् व गियाह सर्द मक़सूद दानिस्तः व बिर्ख़े दीगर ईं दो माह्-ए् बिस्तान रा नीज़ अज़बराय्-ए आब व ज़मीन् व जियाहे सर्द मक़सूद दानिस्तः अन्द । मुन्दर्जात्-ए मी नू ख़िरद अक़ीद्-ए अख़ीर्-ए मुफ़स्सिरीन्-ए पहलवी अहद्-ए सासानियान् रा तक़वियत् मीकुनद । ज़ी रा किदरफ़स्ल्-ए ४४ दरफ़िक़रात १७—२० मुन्दर्ज अस्त; “ बदेव्-ए ज़मिस्तान् दर ईरान् वैज तवाना तर अस्त व दर दीन पैदा अस्त कि दर ईरान् वैज दह् माह ज़मिस्तान् व दो माह ताबिस्तान् अस्त व ईं दो माह ताबिस्ताँ हमसद अस्त अज़् बराये आब व ज़मीं व जियाह ।”

दर फ़िक्ररात्-ए मज़कूर बिसियार ग़रीब व नज़र मी रसद कि दर रब्दीफ़्-ए मुमालिक अज़्ख़ार अज़्म मम्लुकत्-ए बिसियार क़दीम व मशहूर या देन शुदः बाशद । दर सूरते कि अज़् मुमालिक्-ए हमसाय्-ए आँ मानिन्द्-ए सुगूद व मर्व् व बल्ख़ वग़ैरः यक् यक् नाम बुर्दः शुदः अस्त । व तौर्-ए हत्मी तुवान् गुफ़् कि दर फ़िक्रये मज़कूर अज़् ऐरीयन वैजः हमाँ ख़्वारज़्म कि ख़ीव्-ए हालियः बाशद इरादः कर्दः अन्द । अम्माँ चूँ ईं मम्लुकत न ख़ुस्तीन्-ए इक़ामत गाह्-ए ईरानियाँ बूदः ब इस्मे कि याद आवुर-ए राज़गार्-ए् कुहन्-ए आमर्ज़्बूम बूदः नामीदः शुदः अस्त । दरख़ुद अविस्तानीज़ ईं मम्लुकत व इस्म्-ए् माअ़रूफ़्-ए ख़ुद ख़ाएरिज़्म् नामीदः शुदः, व बामर्द व सुग़द् दो मम्लुकत्-ए हमसायः अश्यक जा आमदः । चुनाक दर फ़िक़्र्ये १४ मिहूर यशूत व दर फ़िक़्र्ये पेश अज़ आँ याअ्नी दर फ़िक़्र्ये १३ हमाँ यश्त ख़ारज़्म व मर्व् व सुगूद ऐर्योशयन याअ्नी ख़ान व मान या एक़ामता गाह्-ए ईरानियान् शिमुर्दः शुदः अन्द ।

गुज़श्तः अज़् अविस्ता दलायले तारीख़ीनीज़ दर दस्त अस्त कि ख़्वारज़्म अज़ ज़माने बिसियार क़ुहन अज़् ममालिक्-ए मशहूर्-ए ईरान् ज़मीन् व मरकज़्-ए तमद्दुने-ए आसियाई मरकज़ी बूदः अस्त । बिना ब मुन्दर्जात्-ए हरदूत् (Herodotus, 117) पेश अज़् तासीस-ए सल्तनत्-ए हख़ामुंशियान् याअ्नी पेश अज़् साले

---

[1] राजिश्र ब नी सायः दर् तफ़सीर्-ए फर्गर्द्-ए अव्वल वंदीदार दर जिल्दे जुदागानः मुफ़स्सरुव सोह्बत ख़्वाहेल दाश्त । दर् ईं जा मुख़्तसस् मी निगारेन् दर् तफ़सीर्-ए पहलवी (ज़ंद) रातिश्रा ब श्रां आमदः । ‘अज़् ईं कि नी सायः मियान्-ए मर्व व बल्ख़ क़ैद शुदः बराय्-ए ईन अस्त कि मम्लुकत्-ए दीगरे हम बहमी इस्म अस्त ज़मीन्-ए क़दीम चंदी अहल चुनीं नामज़द बदः । अज़् श्रां जुम्लः दायंश्-ए बुज़ुर्ग दर कतीब्-ए बिसुतून अज़् यक नी सायः दीगर इस्म बुर्दः गोयद्; ‘गुमाताम्-ए मुख रा कि ब इस्म्-ए बर्दिया पिसर्-ए फ़ौरुश सल्तनत रा नस्ब कर्दः बूदमन ऊ रा दर यहुन् माहए् बाग यादी (मुताबिक़ २६ सितम्बर ५२२ पेश अज़ मसीह) वा तन् अज़् पैरवान्-ए बुज़ुर्ग दर क़िलअ़म्-ए मास्र देर पहलवी निसामियानक खादः शुदः अस्त । रुजूअ़ शवद् ब ईरान् शहर अज़् मार्कंट सफ़हा ७८ अय्यानम् मासह्लिनुस् २३,५२० कुल्तूर पलासन् फ़ोन हेन् सफ़हा ३२ ।

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDAL
LIBRARY
Jangamwadi Math, Varanasi
ACC No. 8496

पानसद व पिन्जाह व नुह (५६९ पेश अज़मसीह) ख़ारज़्म दाराये नाम व निशान व अहमियत बूदः अस्त। राजेअ् बअहमीयत ब सुहरत ब क़दामते तद्दुन्-ए ख़ारज़्म अज़् कुतुब्-ए दीनीये ईरानियान् व मुन्दर्जाते-ए मुवर्रख़ीन्-ए क़दीम्-ए यूनान शवाहिद्-ए ज़ियाद मीतुवान् इक़ामः नमूद। दर ईं जा मौक़ये ज़िक्र्-ए तारीख़ ईं सर ज़मीन् नीस्त।

राजिअ् व क़दामत्-ए ख़ारज़्म सुन्नत्-ए अबूरैहान् बेरूनी दर आसारुल् बाक़ियः (सफ़ा ३५) ज़िक्र मी कुनद अज़ूईं कि निज़द्-ए ख़ारज़्मियान् वुरूद्-ए सियावुश पिसार्-ए कैकाऊस मब्द्-ए तारीख़ बूदः अस्त। ब अिबारत्-ए दीगर तासीम-ए अिमारत्-ए ख़ारज़्म रा कि दर नुह सदव हश्ताद साल पेश्-ए इस्कन्दर मी दानिस्तन्द मब्दय्-ए तारीख़ मी शुमुर्दन्द। दर सूरते कि दस्तयाफ़्तन्-ए इस्कन्दरग व ममालिक्-ए शर्क़ीये ईरान् व कुश्तः शुदन्-ए दारयूश्-ए सिवुम् आख़िरीन्-ए पादशाह्-ए सिल्सिलये हख़ामशी रा किदर साल्-ए ३३० पेश अज़् मसीह् वाक़िअ् शुदः बशुमार आवुरंम्। तमद्दुन्-ए ख़ारज़्म व हज़ार व सीसद व दह (१३१०) साल पेश अज़् मसीह मीरसद। दर अविस्ता व दर कुतुब्-ए दीनीये पहलवी ग़ालिबन् बफ़िक़राते वर मी खुरेम कि गोयाये जम्बये तक़द्दुस्-ए ईरान् वैज व रूद्-ए आं दायती मी बासद ख़ाकेस्त महल्ल्-ए नुज़ूल्-ए पर्तव्-ए जलाल्-ए आहूरामज़्दा व ईज़दान् यहद्-ए तमद्दुन् व दीन्-ए ईरान् अस्त। पैग़म्बर दर किनार्-ए रद्-ए ईं सरज़मीन् व इल्हाम-ए ग़ैबी रसीद। यलान् व नामवरान् दर किनार्-ए आब्-ए ईं ख़ाक ईज़ादान् रा सुवूदः व नअ्नमूदः रुस्तगारी व कामयाबी दरख़्वास्तन्द। अज़् आँजुम्लः दर फर्गर्द्-ए २ वन्दीदाद दर फ़िक़्रात्-ए २०—३१ आमदः। "अन्जुमन्-ए गिर्द्-ए अहुरामज़्दा ब ईं ज़दान्-ए मीनूवी दर ईरान वैज मशहूर (दरआँजाये के रूद) नेकदायती अस्त।

व ईं अन्जुमन् दर आमद्-ए दादार-ए अहूरा मज़्दा वा ईज़दान्-ए मीनवी दर ईरान् वैज-मशहूर नेक दायती अस्त। व ईं अन्जुमन् दर आमद-ए जमशीद्-ए दारिन्द-ए रमये-ए खूब बा बेहतरीन्-ए मर्दुमान् दर ईरान् वैज मशहूर (दर आँ जाए कि रूद) नेकदायती अस्त।"

दर फ़िक़रात्-ए बाअ्द आमदः कि आहूर मज़्दा जमशीद रा अज़् ज़मिस्तान्-ए सख़्त्-ए आइन्दः व आसेब याफ़्तन्-ए जहान् अज़् आँ आगाह साख़्त व बऊ दस्तूर दाद कि अज़् बरायें निजात याफ़्तन् अज़् बला व रिहानीदन्-ए आफ़रीदगान्-ए ईज़दी वरजिम्कर्द बिसाज़द् व बा चन्दतन अज़् यारान् व बा रमये अज़् चारपायान्-ए नेक दर आँ बाग़ शवद। आतिश व तुख़्म्-ए गियाहहा व रूई-दनीहा रा नीज़ ब आँ जा बुर्दः निगाह दारद।[1] दर सुन्नत्-ए ईरानियान् ईं बाग़ दर हमाँ जाये कि अहूरा मज़्दा जमशीद रा अज़् तूफ़ान्-ए आइन्दः आगाह नमूदः साख़्तः शुदः अस्त। दर मीन् ख़िरद दरफ़स्ल्-ए ६२ फ़िक़्र-ए १५ आमदः, "वरजिम्कर्द ब ईरान् वैज दर ज़ेर्-ए ज़मीन् अस्त। दरयस्ना ९ फ़िक़्र-ए १४ आमदः "न खुस्त ज़रतुश्त्-ए नामदार दर ईरान् वैज चहार बार यता अहू बिसरूद।" चुनानक् अज़ईं फ़िक़्ये पैदास्त पैग़म्बर दर ईरान् वैज मशहूर बूदः व

---

[1] राजिअ् ब देव मल्कूश (महरकूश) या देव्-ए ज़मिस्तान् कि न भंजिलम्-ए तूफ़ान्-ए नूह अस्त व बाग़-ए मअ्रूफ़्-ए वरतंकर्द कि बताय्-ए, नूह अस्त व जिल्द्-ए अव्वल यश्त हा तफ़सीर्-ए निगारिंदः व सफ़हात् १८२-१८५ मुलाहज़ः शवद्।

नखुस्त दर आँजा व सलूदन्-ए नमाज़्-ए मअ़रूफ़ यता अहू कि अज़् अदअ़्यिये बिसिभार शरीफ़: अस्त लब बि कुशूद ।

हमचुनीं दर फ़र्गर्द्-ए १९ वन्दीदाद दर फ़िक़रात्-ए १ व २ आमद: कि अहरामन्-ए तबहकार दीव्-ए दरोग़ रा हमराहिम्-ए चन्द दीव्-ए दीगर अज़् बराये कुश्तन्-ए ज़रतुश्त बरा अङ्गेख्त । ज़रतुश्त दर मुक़ाबिल्-ए आनान लब ब सिताइश्-ए कुशूद । यताअहू बिसरूद व आबहाये नेकदायती रा बिसुतूद । गबदोन्-ए मज़्दयस्ना इअ़तिराफ़ नमूद । दीव्-ए दरोग़ व हमराहानश् शिकस्तयाफ़्त: बरगश्तन्द[1] ।

दर बुन्द हिश् दर फ़स्ल-ए ३२ फ़िक़्रये ३ मुन्दर्ज अस्त, आँ गाह कि ज़रतुश्त दीन्-ए ख़ुद आवुर्द नखुस्त दर ईरान् वैज मरासिम्-ए सिताइश बजा आवुर्द व मदयू माह अज़ूऊ दीन् पिज़ीरुफ़्त[2] ।

दर आबान् यशूत् दर फ़िक़ात्-ए १७ व १८ आफ़रीदगार्-ए अहूरामज्दा दर ईरान्-वैज दर किनार्-ए रूद्-ए नेक दायती व ईज़द आब्-ए नाहीद दरूद व आफ़रीन ख्वाँद: दरख़ास्त कि ज़रतुश्त पिसर्-ए पूरूशसप् रा दर पिन्दार व गुफ़्तार व क़िरदार दीन् दार साज़न । हम चुनीं दर फ़िक़रात्-ए २ व ३ रामयशूत आफ़रीदगार-ए अहूरामज्दा दर ईरान् वैज दर किनार्-ए रूदे नेक दायती व ईज़द्-ए हवा इन्द्र वायु दरूद व आफ़रीन् ख्वाँद: ख्वास्तार शुद कि वर्चार लुदन्-ए अहरीमन् कामर वा गर्दद । दर आबान्-ए यशूत दर फ़िक़ात्-ए १०४-१०५ ज़रतुश्त पस् अज़् वजा आवुर्दन्-ए मरासिम्-ए सिनाइश् दर ईरान वैज दरकिनार्-ए रूद्-ए दायती नेक दरख्वास्त कि व दीन दरावुर्दन-ए कैगुस्तास्प पिसर्-ए लुहरास्प कामियाव गर्दद ।

दरफ़िक़रात्ए २५ व २६ गोश यशूत वैग़म्बर्ए ईरान् पस् अज़ तक़दीम नमूदम्-ए नुज़ूरात्-ए माद्दी व मअ़नवीये खुद दर ईरान वैज दरकिनार्-ए रूद्-ए नेकदायती अज़् फ़िरिश्तये मुअक्किल्-ए चारपायान्-ए सूदमन्द दर्वास्प दरख़्वास्त कि हूतिस्ए नेक व आज़ाद: ज़न्-ए केगुश्तास्वरा वेदीन्-ए मदज़्यस्ना दर आवुरद ब पिन्दार व गुफ़्तार व क़िरदारश् रा मुताबिक़्-ए उसूल्-ए दीन कुनद[3] ।

ज़रीर फिसर्-ए लुहरास्प बिरादर्-ए कै गुश्तास्प दर फ़िक़रात्ए ११२-११३ आबान् यशूत व दरफ़िक़रात्-ए२९-३० गोश यशूत दर किनार्-ए आब्-ए दायती फ़िरिश्तगान्-ए यश्त्हाये मज़कूररा सुतूद: व नज़्र तक़दीम कर्द: दरख़्वास्तन्द कि ब हुमावुदीन्-ए ख़ुद्-ए अर्जास्पए बादशाह-ए तूरान व बनामवरान्-ए दीगर्-ए तूरानी देव्-ए यस्ना दस्त यावन्द व दर-पैकार-ए आना पीरोज़मन्द बदर आयन्द[4] । अज़ फ़िक़रात् फ़ौक़् तअ़ज़ीम व तक़रीम-ए ईरानियान् निस्बत ब ईरान् वैज पैदा अस्त । हम-चुनीँ अज़् फ़िक़रात्-ए फ़ौक़ए क़हरन् ज़हनेमा बमशरिक़्-ए ईरान ज़मीन मुन्तक़िल मीशवद् । ई मम्लुकत व रूदस रा दर हमां हदूदे कि सर ज़मीन्-ए दास्तान-ए मिल्ली व दीन्-ए मज्दयस्नी अस्त बायद तसव्वुर कर्द । ममालिके कि इमरोज़:

---

[1] रुनूअ़ शवद् ब जिल्द २ यश्तहा सफ़हा ३७-३८ ।

[2] मद्योमाह पिसर्-ए अम्मूय्-ए ज़रतुश्त आत्र व नखुस्तीन् कस्-ए अस्त कि ब पैग़म्बर ईमान् आवुर्द । रुजूअ़ शवद् ब ज़िल्द २ यश्तहा सफ़हा ८० ।

[3] ब फिक्रय्-ए ४५ अर्थ यश्त नीज़ मुलाहज़: शवद् ।

[4] ब फ़िक्रय्-ए ६१ अर्त यश्तनीज़ मुलाहज़: शवद् ।

तुर्किस्तान्-ए रूसिय: नामीद: मीशवद व कुल्लीयये मुमालिक-ए शिमाल शर्क़ी व शर्क़ीये ईरान् व दर जुज़्व्-ए आँ क़िस्मते अज़् ख़ाक्-ए अफ़ग़ानिस्तान व सरज़मीन-ए नश्व व नुमाय-ए दीन्-ए ज़रतुश्ती अस्त व हमीं ममालिक नीज़ सरज़मीन-ए दास्तान्-ए मिल्लीये मा व मैदान्-ए कारज़ार्-ए यलान व नामवरान् अस्त शिमाल्-ए ईरान् व ख़ुसूस: अमालत हाय्-ए गीलान् व माज़न्दरान् दरतारीख़-ए दीनीये ईरान् मस्कन-ए देव हा नामीद: शुद: अस्त। ज़ीरा कि दर ईं सरज़मीन् हा दर अरान पेश अज़ महाजरत्-ए ईरानियान व आँजा एक़ामत गाह्-ए अक़्वाम्-ए ग़ैर्-ए आरियाई बूद: व चूँ बदीन्-ए ज़रतुश्ती न बूद: अन्द निज़्द-ए मज़्दयस्नान् दरोग़परस्तान् व पैरवान्-ए देव ख़्वाँद: मीशुद: अन्द।

दर तारीख़्-ए दीनी अज़ जुनूब-ए ईरान् अस्ला सोहबते नेस्त अज़ हेचक् अज़् एयालत—हा व कोहहा व रादेहाये आँ सामान दर कुतब्-ए मुक़द्दम नाम व निशाने नेस्त। दर ईं जा बायद मुतज़क्किर शवेम् कि अज़ फ़िक़रात्-ए मज़्कूर न बायद चुनीं पिन्दाश्त कि ख़ुद पैग़म्बर अज़मशरिक्-ए ईरान् बाशद। चुनानक् दर सुन्नत अस्त। व दलायिल-हम दर दस्त अस्त ज़रतुश्त अज़ मग़रिब्-ए ईरान् बूद: व तरफ़्-ए मशरिक़-ए सरज़मीन् अन्जाम्-ए मक़ासिद-ए रिसालत्-ए ऊस्त व दर बापसींन्नीज़ सोशियन्त हा यअनी मसौऊद मौऊत हाये ज़रतुश्ती अज़ मशरिक्-ए् ईरान् अज़किनार-ए दरिया चहरा हामून दर सीस्तान् ज़ुहूर ख़ाहन्द नमूद।

अज़् यक रिश्त: मुन्दर्जात्-ए कुतब-ए पहलवी व पाज़न्द-ए नीज़ बर मी आयद कि ईरान् वैज दर मशरिक़्-ए ईरान् ज़मीन् अस्त। अज़ आं जुम्ल: दर मौनू ख़िरद फ़स्ल्-ए ६२ दर फ़िक़रात्-ए १२—१४ आमद:,—"गङ्ग दिझ़ दर सरहद्-ए वैमन्द ईरान् वैज अस्त।" चुनाँकि मीं दानेम् गंग्-ए दिज़ बिना बदास्तान्-ए मिश्लीय् मा साख़्तय्-ए सिआउश व पिसर्-ए कैकाऊस व दामाद्-ए अफ़रासियाव अस्त व गाख़्वारज़्म व पैरामून्-ए आँ इर्तिबातेदारद[1]। दर फ़स्ल-ए ६२ मैनूख़िरल दर फ़िक्रये ३१ मुन्दर्ज अस्त:—'गोपतशाह दर ईरान् वैज अन्दर किश्तर्-ए ख़ूनी रस् (किश्वर्-ए-मरकज़ी) अस्त।" दर दादस्तान्-ए दीनीक् दर फ़स्ल् ए ९० फ़िक्र-ए ४ आमद:—'सल्तनत्-ए गोपतशाह दर कम्मलुत्-ए गोपत मुजाविर्-ए ईरान वैज दर किनार्-ए आब्-ए दामती मी बाशद।" दर दीनकर्द दर किताब्-ए नहुम दर फ़स्ल्-ए १६ फ़िक्र-ए १४ आमद:—'गोकपत दर मम्लुकत्-ए ख़ारिज: अस्त।" लीबुद अज़् मम्लुकत्-ए ख़ारिज: तूरोन इराद: शुद: कि दर बालाये ख़्वारिज़्म वाक़िअ़ अस्त। ज़ीरा गोपतशाह पुनवान-ए अगरीरस् व पिसरश मी बाशद। चुनाँकि मीदानेम् अग़रीरज़ पिसर्-ए पुशगं बिरादर्-ए अफ़रासियाव व कर्सयूज़ सिपह बद्-ए तूरान् बूद: व अज़नेकाँ शुमुर्द: शुद:मुहब्बत-ए मख़सूसी बा ईरानिया दाश्वत बहमी जुर्म अफसियाव ऊरा कुश्त। व गुफ़्तये बुन्दहिश दरफ़स्ल्-ए ३१ फ़िक्-ए २० 'अज़ अग़रीमरस् गोपत शाह ब वुजूद आमद।

दर फ़िक्र य्-ए २२ फ़स्ल्-ए मज़कूर्-ए बुन्दहिश् मुन्दर्ज अस्त अफ़रासियाव अग़रीरस् रा अज़ बराय्-ए ख़तायश कुश्त दर पादाश् ख़ुदावन्द पिसर-ए चूँ गोपतशाह ब ऊ दाद।

ख़ाकि गोपतशाह दर किताब्-ए बुन्दहिश् सौकवस्तान् नामज़द ग़रदीद:। दर फ़स्ल्-ए २९ फ़िक़र्-ए पेजुम्-ए आँमुन्दर्ज अस्त:—"अग़रीरस पिसर-ए युशङ्ग दर मम्लुकत्-ए सौकखस्तान् अस्त। व ऊरा

---

[1] रुज़्अ शवद् ब जिल्द्-ए अव्वल यश्तहा सफ़हा २१६-२२०।

गोपतशाह ख़्वानन्द।" वले 'बुन्दहिश्' ईं मम्लुकत रा तौरे तअ़रीफ़ कर्दः कि बा कुतुब्-ए दीगर-ए मज़कूर मुवाफ़िक़ अस्त। चे दर फ़स्ल्-ए २९ फ़िक़्र्-ए १३ मीनवीसद—"मम्लुकत्-ए सौकवस्तान् दर सर्-ए राह्-ए तुर्किस्तान-एबसरफ़्-ए चीन वाक़िअ़ अस्त।" बिना व फ़िकरात्-ए फ़ौक़ ईरान्वैज दर अक़्सा बिलाद्-ए ईरान् ज़मीन मुजाबिर्-ए ख़ाक्-ए तूरान् अस्त। व ज़ौक़्-ए सलीम नीज़ चुनीं हुक्म मीकुनद कि ईं मम्लुकत दर हुमाँ सामान् बाशद न दर जाय्-ए दीगर।

गुफ़्तेम् बर ख़िलाफ़्-ए मजमूअ़्-ए ईं क़राइन् कि हमाः मा रा ब मश्रिक़्-ए ईरान् मुतवज्जः मी साज़द दर 'बुन्दहिश्' सराहतन् ईरान् वैज दर तरफ़्-ए आज़रबायजान अस्त। बिना ब मुन्दजीत्-ए हमीं किताब हम दर फ़स्ल्-ए २० फ़िक़्र्-ए ३२ रूद्-ए दार्जः मानिन्द्-ए रूद्-ए दायती दर ईरान्वैज अस्त। दर किनार्-ए आँ ख़ान-ए पूर्वशस्प पिदर्-ए ज़रतुश्त बूद। व बाज़ दर फ़स्ल्-ए २४ फ़िक़्र्-ए १५ हमाँ किताब आमदः—रूद्-ए दारजः रद (बुज़ुर्ग व सर्वर) रूद्-ए बारान् अस्त। ज़ीराकि ख़ान् व मान्-ए पिदर्-ए ज़रतुश्त दर किनार्-ए आँ बूद व ज़रतुश्त दर आँजा ज़ाईदः शुद्।" अज़् रूद्-ए दारर्जः दर ख़ुद अविस्ता व कुतब्-ए दीगर्-ए पहलवी याद शुदः।. अम्मा ज़िक्रन शुदः कि रूद्-ए ईरान् वैज अस्त। दर फ़र्गर्द-ए १९ वन्दीदाद दर फ़िक्रात् ४ व ११ ईं रूद दरिजा नामीदः शुदः व रूदेस्त कि बर ज़इर या बरपुश्तः व बुलन्दीये आँख़ानये पूर्वश्प पिदर्-ए ज़रतुश्त बूद। कलिमय अविस्ताई ज़ब्रः कि दर वन्दीदाद दर फ़िक्रात्-ए मज़कूर ब मअ़नियै पुश्तः व बुलन्दी अस्त। दर बुन्दहिश् बार शुदः कि बमअ़नियै किनार व साहिल अस्त। दर फ़स्ल्-ए २२ ज़ाद सरपरम् अज़् मुकालमय्-ए हफ़्त अम्शास्पंद बा ज़रतुश्त सुख़ुन रफ़्तः कि हरयक् नौबत व नौबत बा पैग़म्बर गुफ़्त व शुनीद दाश्तन्द। दर फ़िक्रात्-ए २ आँ आमदः कि न ख़ुस्तीन्-ए मुकालमय-ए ज़रतुश्त बा अहूरामज़्दा दर किनार्-ए आब्-ए दायती बूदः अस्त। दर फ़िक़रात-ए बअ़्द अज़ मुकालमये अमशास्पन्दान् वहमन व उर्दीबहिश्त व शहरेवर् व सिपन्दार-मज़ व 'ख़ुरदाद' कि हरयक् दर्जाये मुअ़य्यने सूरत गिरफ़्तः ज़िक्र शुदः अस्त। दर फ़िक्रये १२ अज़ मुकालमय-ए आख़िरीन्-ए अन्शासपन्द अमरदाद याद शुदः मुन्दर्ज अस्तः-"अमरदाद दर किनार्-ए रूद्-ए दारर्जः व दरकिनार-ए आब्-ए दायती व दर जाहाय-ए दीगर बाज़रतुश्त गुफ़्तगू नमूद।" नज़र बईं कि दर सुन्नत कि मुत्तक़ी ब दलायिले लुग़वी हम मीबाशद ज़रतुश्त अज़् आज़र बायजान बूदः बायद दार्जः रा कि दर जवार्-ए आँ पूर्वशस्प पिदर्-ए ज़रतुश्त मंज़िल दाश्तः यके अज़् रोदहाय्-ए आँ सामान् विदानेम्।

अम्मा रूद्-ए दायती कि ग़ालिबन् दर अविस्ता व दर कुतुब्-ए पहलवी रूद्-ए ईरान् वैज क़ैदशुदः निज़्द-ए दानिश्मन्दाने कि ईरान् वैज बा अरान् यके दानिस्तः शुदः आँरा ब तफ़ावुत्-ए आरा दूरू अर्स या कुर्व या सुफ़ीद

---

१. रुद्-ए दार्त्तः माअ़्लूम नीस्त कि कुदाम यज़ रूद हाय्-ए आज़रबायजान अस्त। हदसे कि जैक्सन दर ख़ुरूस-ए आं ज़दः रुतअ़ शवद् ब 'तरोश्वर दि प्राफ़ेट आफ़ ऐशियंट ईरान।' अज़् जैक्सन सफ़हा १६४-१६९; 'पर्शिया पास्त अज़् प्रेजेण्ट' अज़् जैक्सन न्यूयार्क १०६ सफ़हा १६०-१६१।

रूद् दानिस्तः अन्द[1] व आनानं कि ब फ़र्ग़ानः मुतवज्जः शुदः बारूद्-ए ज़र अफ़्शान् यके दानिस्तः अन्द दर सूरते कि ईरान् वैज हमाँ ख्वारज्म या ख़ीवः हालियः बाशद बायद दायतीरा रूद 'बा शिकोह-ए आमू दरिया कि जैहून हम गुफ़्तः मीशवद बिदानेम। ईं रूद दर ईरान् वैज ब मञ्ज़िल-ए रूद्-ए उर्दुन् अस्त दर फ़लसूतीन्। चूँ पैग़म्बर दर किनार्-ए ईं रूद्-ए मुक़द्दस् बइल्हाम रसीदः[2] अज़ूईं जिहत आँरा ब इस्म्-ए दीनी नामीदः अन्द। दाइत्या अज़् रेश-ए कल्मय-ए दात (दाद=क़ानून) ब मअ़नी मुआफ़िक़-ए क़ाइ़दः व मुताबिक़्-ए क़ानून अस्त। व बहमीं मअ़नी दर तज़कीर दाइत्य कि सिफ़त् अस्त ख़ुद जुदागानः बिसियार् दर अविस्ता इस्तिअ़माल शुदः अस्त। ईं रूद दर पहलवी दायतीक या दायती गरदीदः अस्त। दायती मुकर्रर्न् दर अविस्ता बा मुम्लकत्-ए ईरान् वैज ज़िक्र शुदः व बसा हम् बिदून्-ए आँ आमदः अस्त। गाहे बा सिफ़त् वन्गुही कि बमअ़नी विह् (बिह्) व नीक अस्त आमदः अस्त। व गाहे हम आब्-ए दायती नामीदः शुदः अस्त। अज़ हमीं सिफ़त् वन्गुही—अस्त कि ईं रूद दर क़ुरून्-ए वुस्ता दर कुतुब्-ए पहलवी विह्रूत (बिह्रूद) नीज़ नामीदः शुदः व निज्द्-ए चोनियाँ नीज़ चुनी ख्वाँदः मीशुदः अस्त।

इस्म्-ए अस्ली व ईरानीय-ए ईं रूद बायद वख्शू बाशद[3] कि बमाप्रनिय-ए फ़ज़ा इन्दः व बालिन्दः अस्त। अज़् फ़िअ़ल-ए वख्श कि बमअ़निय-ए अफ़्ज़ूदन् व बालीदन् व तरक़्क़ी कर्दन् दर अविस्ता बिसियार इस्तिअ़माल शुदः अस्त। दर सांस्किरीत ऊख़शयन्त 'व दर पहलवी वख़्शीतन् मी बाशद्। कल्म्-ए उक़्सूस कि निज्द्-ए जुग़राफ़ियून्-ए क़दीम्-ए यूनान् व रूम ज़िक्र शुदः अज़् हमीं कल्म्-ए ईरानी अस्त। निज्द-ए जुग़राफ़ियून्-ए ईरानी व अ़रब वख्श सरज़मीनेस्त दर किनार्-ए जैहून व वख्शाब रूद बारेअस्त अज़् शुअ़बात्-ए जैहून। अबूराहान् बेरूनी दर ज़िक्र-ए मोहहा व जश्नहाय्-ए ख़ारज़्मियान् मा नवीसद् रोज़्-ए दहुम् इस्फ़न्द माह निज़्द्-ए ख्वारज्मियान् जश्नेस्त नाम ज़द् ब वख्शन्गाम् व वख्श इस्म-ए फरिश्त्-ए अस्त कि निगहबानीय-ए आब बाऊस। व ख़ुसूसः इस्म्-ए फ़िरश्तय-ए मुअक्केल-ए रूद्-ए जैहून अस्त।[4] अम्मा इस्म्-ए आमू (आमू दरिया=आब्-ए नआमूयः) कि इस्म्-ए दीगरेस्त अज़् बराय-ए रूद्-ए जैहून[5]। आमू या आमूये या आमुल् इस्म-ए यक् क़बीलय-ए

---

[1] कुतुब्-ए ज़ैल मुलाहज़ः शवद्ः—कोमतार डइबर दस अविस्ता फ़ोन २ पीगल जि० १ बीन १८६४ सफ़्हा १०-१२, ईरानिश् अल्ततु खुर्द जि० १ सफ़्हा २११ व ६८३ व ६६५ जंद अविस्ता अज़ दार्मस्तेतर, जि० २ सफ़्हा ५-६, जोरोष्टर दि प्राफ़ेट आफ़ ऐशियस् इरिन अज़ जैक्सन सफ़्ह ४१ व १६३-६७ व २११; अविस्ता लितरातूर फिलोलोगी, जि० २ सफ़्ह ३८ दी गेशिश्त ईरान्स अज़ युस्ती सफ़्ह ४०२, दी ईरानिशः रिलीगिआंन अज़् जैक्सन सफ़्ह ६२३।

[2] रुजूअ़ शवद् ब दीनकर्द किताब ७ फ़स्ल ६, फ़िक़रा १५ व ज़ादसपरम् फ़स्ल २१ फ़िक़रा ५।

[3] रुजूअ़ शवद् ब;—ओस्तीरानिशः बुल्तुर अज़ गायगर सफ़्ह ४५; मज़मून आमू दरिया अज़ बार्तोल्द, आंसिव-लोये दी द लरस्ताम जि० १।

[4] वल्—यौमुल्—आशिर्-ए मिन्हु (ऐ इस्वंदारमजी=इस्कंद माह)। ईदुन् लहुन् मुसम्मा वख्शयाम् व वख़्श् हुव इस्मुल् —मलकिल्—मुवक्कल्—ए बिल्माइ व ख़ास्ततन् बिनहर्-ए जैहून। आसारुल् बाक़ियः सफ़्ह २३७।

[5] बीग्-ए आमूय व दुरुश्ती राह्-ए ऊ ज़ेर्-ए पायम पर्नियात्। आयद् हमीं। आब्-ए जैहून् अज़ निशांत्-ए रून्-ए दस्त। ख़िग्-ए मा रा रा मियात् आयद् हमीं (रूदकी)।

ग़ैर-ए आरियाई बूदः। दर तबरिस्तान् माज़िन्दरान्-ए हालियः। शहर्-ए आमुल् व इस्म्-ए हमीं क़बीलः नामज़द् गर्दीदः अस्त। अस्लन् इस्म्-ए ईं क़बीलः दर फ़ुर्स मर्द या आमर्द बूदः कि निज़्द्-ए मुअर्रिख़ीन्-ए क़दीम्-ए यूनान् व रूम (मार्दो ई या अमर्दोइ) नामीदः शुदः अस्त। ईं कल्म लफ़्ज़न् ?—यअ़्नी मुज़िर्र व मुख़र्रिब व ज़ियान् रसान् या बिसियार मुज़िर्र व बिसियार मुख़र्रिब अस्त। इस्कन्दर्-ए बुज़ुर्ग चन्दीं बार् बा अनान दर ज़द् व ख़ुर्द बूदः। ताईं कि आना रा राम कर्द। बअ़्द पादशाह्-ए अशकानी फ़रादात्-ए अव्वल आना रा अज़् आँजा मुहाजरत दादः दर क़फ़क़ाज़ जाय दाद। यक् क़बीलय-ए दीगर-ए ग़ैर्-ए आरियाई मौसूम बतापूर अज़् नाहियये ताबरान (तूस=मशहद) आमदः जाय-ए आनारा बिगिरिफ़्त व इस्म्-ए ख़ुदरा ब आँ सरज़मीन् दादः तबरिस्तान् नामीद। इस्मे कि बअ़्दहा दर रूय-ए मस्कूकात-ए तापूरिस्ताँन् ज़र्ब शुदः अस्त। शुअ़्बये अज़् क़बीलय-ए आमर्द अज़् मसब्ब-ए रूद्-ए जैहून व बालातर ब तरफ़्-ए शर्क़ी साकिन बूद। शहर्-ए आमुल या आमूय दर क़ुरून्-ए वुस्त कि इम्मरौज़ः आँ महल्ल्-ए चार्जू नामीदः मीशवद नीज़ व इस्म्-ए ईं क़बीलः नामज़द् गर्दीदः। व रूद्-ए जैहून व ईं मुनासबत् आमूँ दरिया ख़्वाँदा शुदः अस्त। तापूर हा व क़फ़्क़ाज़ीहा दर जुज़्ब्-ए आ ना मर्दुमान्-ए अरान् व आमर्दहा अज़् साकिनीन्-ए अस्लिय-ए आँ सरज़मीनहा व ग़ैर्-ए आरियाई बूदन्द व पस् अज़् मुहाजरत्-ए ईरानियान् व आँ हुदूद तमद्दुन्-ए ईरानी गिरिफ़्तन्द व ब दीन्-ए ज़रतुश्ती दर आमरन्द[1]।

बगुफ़्तः-ए याक़ूत जैहून व इस्म्-ए शहर्-ए जैहान् नामज़द् गर्दीदः कि बिना ब आदत्-ए ईरानियान् दर ईं कल्मः अलिफ़ (ا) मुन्क़लिब ब वाव (و) शुदः अस्त। गुफ़्तम दर क़ुरून्-ए वुस्ता नहर्-ए जैहून् रा नीज़ ब रूद् मी नामीदन्द। व ईं इस्म सिफ़त्-ए अविस्ताईय्-ए वनगुही कि ग़ालिबन् अज़् वराय-ए रूद्-ए दायती आमदः अस्त मी बाशद्। दर बुन्दहिश् मुकर्ररन् विहरूद (विहरूद) ज़िक्र शुदः अस्त[2]। याक़ूल नक़ल अज़् महज़ः नमूदः मी नवीसत; इस्म्-ए अस्लिय्-ए जैहून दर फ़ारसी हरून् मी बाशद। लाबुदः ईं कल्मा बायद् तहरीफ़ शुद्-ए विहरूज़ (विहरूद) बाशद्। दर नुसख़्-ए मुअ़्जमुल्बुल्दान्-ए याक़ूत चन्दीं इस्म्-ए ख़ास्-ए दीगर राजिअ़् ब हमीं जैहून ख़राब शुदः अस्त। निज़द्-ए दमिश्क़ी इस्म्-ए ईं नेहर ब दर रूद नविश्तेः शुदः। शक्क नेस्त कि ईं कल्मा हमाँ विहरूद् अस्त[3]।

दर अन्जाम्-ए मक़ाल अफ़्ज़ूदः गोयेम अज़् मज़मू-ए आँचे राजिअ़् ब ईरान् वैज ज़िक्र करदेम् व ख़ूबी पैदा अस्त कि ईं मम्लुकत हमाँ ख़्वारज़्म या ख़ीवः हालियः व रूद्-ए दायता हमाँ जैहूँन अस्त दर फ़िक़्र्-ए दुवम् अज़् फ़र्गद्-ए अव्वल्-ए वन्दीदाद कि ज़िक्र अश गुज़श्त दर रदीफ़्-ए शान्ज़्दः मम्लुकत्-ए ईरान्-ए शर्क़ी कि दर आँ फ़र्गर्द आमदः ख़्वारज़्म व इस्म्-ए दीनीय-ए ख़ुद ऐरियन वैजः (ईरान् वैज) याद शुदः अस्त। दार्यूश्-ए

---

[1] रुजूअ़् शवद् ताशीफ़ात्-ए मार्कट ईरान् शहर बर्लिन १९०७ सफ़ह १२९ व १३६ व ३११; एत्रजुंश्यन स्सूर गेशिश्त फ़ोन ईरान् हिस्सा २ लाइपणीप १०९०५ सफ़ह ५७, शथ्स्तानीहाय्-ए ईरान् रोमां १९३१ सफ़ह ११०।

[2] रुजूअ़् शवद् ब बुंदहिश् फ़ल्स ७, फ़िक़रात १५ व १७; फस्ल २० फ़िक़रात १३,५-७,९,२,२२२८,३० फ़स्ल २१ फ़िक़रात ३।

[3] ईरान् शहर अज़् मार्कट १४७-१४८।

बुज़ुर्ग दरसिह कतीबय-ए ख़ुद् यके दर बीसुतून व दोताय-ए दीगर दर फ़ार्सः-दर तख्त्-ए जमशीद व दर नक़्श्-ए रुस्तम दर जुज्व्-ए ममालिक्-ए शिमाल शर्क़ी व शर्क़ी कि दर तसर्रुफ़्-ए ऊ बूदः शबीह व फ़र्गर्द-ए अव्वल्-ए वन्दीदाद अज़् हरात व ख़ारज़्म व बल्ख व सुग़द यवजा नाम मीबरद् हमान तौरे कि दर वन्दीदाद अज़् ज़मिस्तान्-ए बिसियार सख्त्-ए ईराँन् वैज सखुन् रफ़्तः। इस्तख़्री नीज़ ख्वारज़्म रा सर्दतरीन्-ए अयालत्-ए ख़ारज़्म नविश्तः। व इब्नुल् फ़क़ीह आँ ख़ाक रा सर्द तरीन्-ए ममालिक्-ए ईराँन् ज़मीन् क़ैद कर्दः अस्त।

The Aryans and the Indus Valley Civilization

प्रो० डॉ० आ० बैरिडेल कीथ, एडिनबरा विद्यापीठ

[मोहन जोदड़ो और हड़पा की खुदाई से जिस एक अत्यन्त प्राचीन सभ्यता पर प्रकाश पड़ा है उस का सम्बन्ध किन लोगों से है ?

यह प्राचीन सिन्धु कांठे की सभ्यता यद्यपि पूर्ण रूप से भारतीय है पर इस का सम्बन्ध भारत की अन्य किसी भी ज्ञात सभ्यता से लगाना कठिन है। हड़पा से मिली दो प्रतिमाओं का यूनानी कला से अत्यधिक साम्य होना एक आश्चर्य की बात है जिस की कोई उचित व्याख्या अभी नहीं की जा सकती। उस के अलावा इस प्राचीनतम सभ्यता का सम्बन्ध अब तक ज्ञात अन्य किसी भी सभ्यता से नहीं नज़र आता।

लिपि की दृष्टि से सिन्धु-लिपि का सम्बन्ध प्राचीन सुमेर या आदि-एलम लिपि से है या नहीं सो कहना कठिन है, पर प्रो० लैङ्गदन, हण्टर और गैड आदि सभी का यह मत है कि सुमेर या एलम-लिपि और भाषा का सम्बन्ध सिन्धु से बिलकुल नहीं। ये दोनों बिलकुल अलग हैं। इन की तथाकथित थोड़ी-बहुत समानता का कारण दोनों का ही किसी प्राचीन शब्दाक्षर-लिपि या चित्रलिपि से निकलना हो सकता है। अतः इन में समान दीखने वाले अक्षरों की अर्थ-समता भले ही हो ध्वनि कभी एक नहीं। ये लोग ब्राह्मी को सिन्धुलिपि से ही विकसित मानते हैं, पर इन दोनों लिपियों में भी इतना अन्तर है कि इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत प्रमाणों की आवश्यकता है।

सिन्धु-सभ्यता का सम्बन्ध प्राचीन सुमेर-सभ्यता से किसी तरह भी नहीं माना जा सकता। इस के पक्ष में जो थोड़े-बहुत प्रमाण मिलते हैं उन की व्याख्या पारस्परिक व्यवहार और सम्पर्क रहने से हो सकती है।

इस के बाद स्वभावतः प्राचीन द्रविडों से सम्बन्ध होने की सम्भावना होती है। इस का कारण है भारत में मुंडों के बाद द्रविड वंश का ही सब से पुराना होना। दक्षिण भारत के बरतनों के चिह्नों का भी कुछ साम्य सिन्धु-चिह्नों से है। तथा शैव, शाक्त या तांत्रिक मत की प्रधानता भी इस बात को सुझाती है। पर अधिकांश विद्वानों का ध्यान आर्यों से इस का सम्बन्ध खोज निकालने की तरफ़ रहने से, हम प्राचीन आदि-द्रविड-भाषा या धर्म के बारे में अधिक कुछ नहीं जानते। अभी इस दिशा में अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है।

ये लोग आर्य थे या द्रविड इस प्रश्न पर कपाल-मिति से तो कुछ प्रकाश पड़ नहीं सकता। क्योंकि मोहन जोदड़ो से मिले कपालों में आदि-आग्नेय, भूमध्यसागरवर्ती, अल्पाइन, एवं मङ्गोल वंश के अल्पाइन, सभी नमूने पाये जाते हैं।

आर्यों से सम्बन्ध भी किसी तरह सिद्ध नहीं होता। इस भाषा का प्राग्वैदिक संस्कृत या प्राकृत से सम्बन्ध ढूँढ़ना तो क्रीट द्वीप के अभिलेखों से यूनानी भाषा की खोज की तरह ही अकारथ है। शेष इस खुदाई से प्रकट हुए तथ्यों की ऋग्वैदिक ऋचाओं से ध्वनित सभ्यता से तुलना कर के हम किसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं। पर सिन्धु-सभ्यता के ऋग्वैदिक सभ्यता से किसी तरह के सम्बन्ध की कल्पना में सब से अधिक बाधक बात आर्यों का उस (२५०० या २८०० ई० पू०) ज़माने में भारत में सम्भव न होना है। डा० नरेन्द्रनाथ लाहा ने आर्यों का भारत में इतना पहले रहना सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर वाङ्मय का इतिहास इस के ख़िलाफ़ गवाही देता है। आर्य लोग भारत में ज़्यादा से ज़्यादा २००० ई० पू० में आये हो-

सकते हैं। ऋग्वैदिक भाषा और धर्म की पारस्परिक समता मुख्य कारण है जो ऋग्वेद का काल बहुत परे नहीं हटने दे सकता। हम जरथुश्त्र का काल ज़्यादा से ज़्यादा १००० ई० पू० मान सकते हैं। ऋग्वेद के सङ्कलन का काल भी ज़्यादा से ज़्यादा यही माना जा सकता है। अतः आर्य भारत में ज़्यादा से ज़्यादा उस से ८०० या हज़ार बरस और पहले आये होंगे, जब सिन्धु की नागरिक सभ्यता का ह्रास हो चुका था। वे उस के खँडहरों और भग्नावशेषों में ही आये होंगे। अतः उन का कोई भी सम्बन्ध इससे नहीं ज्ञात होता। सर जौन मार्शल के निम्नलिखित परिणामों से भी यही प्रकट होता है।

१--मोहन जोदड़ो की सभ्यता नागरिक थी। ऋग्वैदिक ऋचाओं के समय की सभ्यता ग्राम्य है। उन में नागरिक जीवन की अभिज्ञता का प्रमाण नहीं। दस्युओं के जिन पुरों का वर्णन आता है वे भी मोहन जोदड़ो जैसे बड़े बड़े नगर थे इस की कोई सम्भावना नहीं। यदि प्राग्वैदिक या वैदिक आर्य ही मोहन जोदड़ो के निर्माता थे तो पीछे से वे वैसे बड़े बड़े नगर बनाना भूल क्यों गये? मॅगॉस्थनेस के समय पाटलीपुत्र जैसे नगर का कोट और खाई लकड़ी का होना क्या अर्थ रखता है?

२—ऋग्वेद में सोने का तो काफ़ी वर्णन है पर चांदी का नहीं। इधर मोहन जोदड़ो में सोने की बजाय चाँदी का चलन ज़्यादा दीखता है।

३—ऋग्वेद में कवच का और शिरस्त्राण का ज़िक्र है, गदा का नहीं। पर मोहन जोदड़ो में कवच और शिरस्त्राण अज्ञात हैं, गदा का प्रयोग बहुत ज्ञात होता है। पीछे अथर्व और यजु में गदा का निर्देश आता है।

४—सिन्धु लोग मछली खाते थे, पर वैदिक आर्यों के आमिषभोजि होते हुए भी ऋग्वेद में मछली का खाद्य पदार्थ के रूप में निर्देश नहीं है। अतः या तो वे तब तक ऐसे देश में थे जहां मछली दुर्लभ थी या मछली खाना निषिद्ध था।

५—मोहन जोदड़ो में घोड़े का अभाव है।

६—शाक्त धर्म की प्रधानता एवं स्त्रीदेवता की मुख्य तौर से पूजा, मूर्तिपूजा इत्यादि ऋग्वेद में अविहित धार्मिक प्रथाओं की प्रमुखता। सिन्धु लोग जिस शिव की पूजा करते थे वह ऋग्वैदिक रुद्र से भिन्न है। उस की समता यजुर्वेदीय रुद्र तथा पिछले शिव से है, जो रुद्र और अनार्य भावों के मेल से बना है।

७—गाय ऋग्वेद में प्रधान है। मोहन जोदड़ो में गाय की जगह बैल की अधिक महिमा जान पड़ती है।]

The problems which have been set for us by the excavations at Mohenjo-daro and Harappā are at present beyond solution, and it may be hoped that much light will still be shed on them by further excavation, which may reveal the true extent of the culture thus revealed. At present the whole of the questions involved are still largely in dispute. There is even controversy as to the relation between the Indus script and the Sumerian and Proto-Elamitic signs; it has been denied, admitted with doubts, or asserted as certain. But even Dr. Hunter admits[1] that it is probable that the languages are unconnected and that the phonetic value of the signs may well be different. The Sumerian and the Indus signs, on his view, go back to a common ancestor which was in an ideographic or pictographic stage, with the result that any parallels between the signs of its descendants would indicate an ideographic and not a phonetic relationship. Professor Langdon[2] and Dr. Hunter, however, are in agreement that Brāhmī is derived from the Indus script. But it must be confessed that the proof of this relationship is far from cogent to the eye, and further evidence seems sadly needed, as also for the latter's claim[3] that the Sabaean script, which ultimately explains some of our letters, is to be traced back to the Indus script. Dr. Hunter again claims to be able to isolate words, names and concepts, while this is denied, nor is it easy to follow his explanation[1] of accent E as a product of Sandhi, indicating that a syllable properly ending in a soft consonant is to be pronounced with the corresponding hard, and the suggestion that it may well be that the Aryans, on account of this usage, gave it the value of Visarga when they borrowed it. The Aryan action seems incomprehensible, and we shall have to wait for any serious proof of the connection of Brāhmī and the Indus script as a matter of direct descent. It may, of course, be that all these varied scripts ultimately derive from one remote ancestor, and that in that sense Brāhmī and the Indus script are related but the only issue of importance is that of direct descent. Dr. Hunter very wisely rejects the suggestion tentatively made by Mr. Gadd[2] that we can find Sanskrit *putra*. When we reflect that we are still unable to read a word of the famous Cretan script, it is not to be wondered at if we may long wait for enlightenment on the meaning of the Indus, especially when it is asserted with equal assurance that the script has not been worn down to conventional summaries, and that it has so been worn down.

---

[1] J. R. A. S. 1932, p. 483.

[2] *Mohenjo-daro and the Indus Civilization*, ii. 455.

[3] J. R. A. S. 1932, p. 493.

The origin of this culture remains a mystery. It is natural to suggest that there are close relations with the Sumerians, and to recall the fact that the late Dr. Hall[3] conjectured that Sumerians and Dravidians were closely connected. But the fact seems, as often, to disagree with plausible theorising. There seems a remarkable paucity of evidence pointing to Sumerian influence on the Indus valley. While certain seals from the Indus are found in Babylonia, no Babylonian or Sumerian equivalents have been unearthed at Mohenjo-daro, and the traces of influence are of the slightest kind. Moreover communications by sea are rendered dubious by the absence of any proof that the people of Mohenjo-daro, though they used fish, were interested in boats or navigation. Was then the Sumerian civilisation derived from the Indus valley, a suggestion thrown out by Professor Langdon[4] as possible? But it seems most improbable. Everything suggests that the Indus valley language was different from that of the Sumerians, and the pictographic script seems to have been genuinely Sumerian. Neither the use of painted ware nor of the rectangular brick need be regarded as a borrowing from the Indus valley, and all that is known seems to be sufficiently accounted for by a normal amount of intercourse chiefly from the Indus. This would be rather neatly confirmed if the further excavations in old Sumerian sites should bear out the ingenious conjecture[5] that the differences of the inscriptions on the square Indus seals and those on the circular seals in the Indus script found in Mesopotamia is due to the fact that the former are genuine Indus seals, which reached Mesopotamia by way of trade, and the latter are seals made in Mesopotamia by a Sumerian or Semitic speaking person of Indus descent who, though not speaking his ancestral language, used the sacred signs for sacrificial purposes, engraving his non-Indus names in Indus characters in order that the Indus gods might have no doubt as to the identity of the pious donor. This assumes, of course, that the seals were largely used for the purpose of marking tampons accompanying sacrifices, a conjecture quite plausible.[1] But at any rate for the present the effort to connect the Sumerian and Indus valley civilisations seems premature and improbable.

---

[1] J. R. A. S. 1932, p. 489. For a more plausible account of the 'accents,' see Professor Thomas, J. R. A. S. 1932, p. 464.

[2] *Mohenjo-daro*, ii. 413, 414.

[3] *Ancient History of the Far East* (1912), pp. 173, 174. *Cf.* Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp. 10, 630.

[4] J. R. A. S. 1931, pp. 593—6.

[5] Hunter, J. R. A. S. 1932, p. 469. There are only three circular seals with Indus scripts to rely on, and these are too few to prove any conclusion.

It is inevitable that the question should be posed whether in the people who lived in Mohenjo-daro and Harappā, and presumably in other places in the Indus valley, the Panjab, and even further afield, we are to see early Dravidians or Aryans. The evidence to be derived from the human remains investigated on the basis of the craniological tests, yields no result whatever, beyond what is coming now to be generally expected, the fact of the existence side by side of different skull types. In this case those normally classed as Proto-Australoid, as Mediterranean, as Alpine, and as Alpine of the Mongolian branch, can be recognised. But we have not the slightest evidence to show which of these types, if any, predominated and marked the nature of the population. Moreover, even if we could determine this point, which appears quite out of the question, we should be confronted by the fact that no one can say with the slightest plausibility what was the Aryan type for the period supposed (3250—2750 B.C.), or what was the Dravidian type.

Comparison of the civilisation with proto-Dravidian and an effort to decipher the language on the basis of proto-Dravidian are naturally suggested by the general view that Dravidian is an ancient element in India, superimposed on Muṇḍā, and by the fact that some marks on South Indian pottery resemble Indus signs, and the apparent prevalence of Çaivism at Mohenjo-daro. Unfortunately the fatal obstacle for the time being to serious progress to definite results along this line of research is the lack of real information as to proto-Dravidian language or religion. We have not the slightest evidence to show that Çaivism was not taken by Dravidians from an earlier stratum of Indian population other than the Indus valley population, or borrowed from that population. Our lack of information as to Dravidian origins no doubt explains the fact that so much more effort has been devoted to seeking connections between the Aryans and the Indus valley.

Unfortunately so far any effort[2] to trace the Indus speech to pre-Vedic or old Prakrit has been unsuccessful. At this we need feel no surprise, for the task offers enormous difficulties, and all the efforts to find Greek in the Cretan inscriptions have hitherto failed to satisfy anyone save their authors. The evidence therefore which remains is that of comparison of the civilisation which we infer from the excavations and that which we infer from the early Vedic hymns. The first difficulty here unquestionably is one of chronology. "Neither Sanskritists nor Indo-Europeanists will admit of Indo-Āryans in the Panjab at such a date as 3000 B.C." is a doctrine[1] *prima facie* valid. It is proper therefore that Dr. Narendranath Law in a most valuable communication[2] on this subject should have definitely set about to establish the probability of an earlier dating for the presence of the Āryans in the Panjab. He rejects as too inconclusive the efforts[3] of Professors Jacobi and Tilak to establish the existence of Aryans in India as early as 4500 B.C. or 6000 B.C. and by doing so unquestionably strengthens his argument, for these suggestions, for all their ingenuity can carry no conviction whatever. He relies, however, on the passages in the Gṛhyasūtras in which the polar star is pointed out to the bride as a symbol of constancy, and he has, of course, with him in this argument Professor Zimmermann.[4] It is urged that Alpha Draconis was, about 2780 B.C., the only star bright enough to serve the purpose of a polar star. Unhappily this contention, ingenious as it is, carried no real conviction. The Gṛhyasūtras are late works, there is no proof whatever that the ritual on this point came down from any early date, and that it should be necessary to find a bright star actually fairly constant seems to make an excessive demand on the needs of the case. All this evidence must, I think, be frankly discarded as having any value whatever, and we must look to the history of the literature and language as affording the sole guide.[5]

---

[1] Hunter, pp. 470, 471. But there are other possibilities and no *proof* yet available.

[2] E. g. Prāṇ Nāth, J. R. A. S. 1931, pp. 671—4.

In this regard it is necessary to consider the arguments adopted by Dr. Law from Professor Winternitz,[6] as undoubtedly they afford the best grounds yet adduced for assigning considerable antiquity to the *Ṛgveda*. It is (1) suggested that a very considerable time must have been occupied by the composition for the texts which are compiled in the present Saṁhitā, and that we may have to date the beginning of the development as far back as 2000 or 2500 B.C.[7] Unfortunately this argument seems to me inconclusive and improbable. Most readily should it be admitted that the Saṁhitā presupposes a long period of development, but the number of centuries allowed by Professor Winternitz seems decidedly excessive. We are still very much in the dark regarding the date of the compilation of the Saṁhitā. Very possibly it may be placed about 1000 B.C., though the evidence is not very strong. But need we allow more than five hundred years for the development? Or giving a very generous allowance 800 years? The whole matter is one merely for conjecture, but it seems very hard to find any justification for such a date as 2500 B.C. Dr. Law is attracted to it, because he believes in the argument from the pole star; but if we reject that, as I think we must, the date 2500 seems to be really unjustifiable. But (2) the argument is supported by the repetitions in the *Ṛgveda* marked out by Professor Bloomfield, and the references in that text to ancient composers of hymns. But here again the repetitions are abundantly accounted for by the admitted fact of a long period of composition, and the earliest seers on any theory were ancient to the latest, and we are not carried beyond 1500 or 1800 B.C. (3) The argument from the relation of the religion of the *Ṛgveda* and of its language to that of the *Avesta* is a serious difficulty in the way of the early dating of the *Ṛgveda*. Professor Winternitz suggests that the similarlity of religion must not be overestimated, because, of course there are many differences of a profound character, and the whole matter can be explained by the fact of the Indians and the Iranians having at one time formed a cultural unity and later having remained in contact despite their distinct development. But the difficulty of language remains serious, especially in view of the view now often asserted that the *Avesta* is of late origin.[1] It is difficult, it is suggested, to suppose that we can place the *Ṛgveda* perhaps a thousand years before the *Avesta*. In part, of course, this difficulty can be diminished by assuming an earlier date, say 800 or 1000 B.C. for the epoch of Zoroaster, and this is probably the proper course to adopt as regards his date. It is quite legitimate to stress the fact that we have in the Nineveh inscription[2] the name Parśuas, Persia, as the land over which Kuraš was reigning in 630 B.C. and to adduce the archaic character of this form, which may represent the contemporary usage, as a piece of evidence against pushing back the Gāthās to a remote date. But the fact that in the 9th century the same phonetic form is found used of a district in the north-west of Persia undoubtedly deprives the instance of probative force, for it may well be that the Assyrian records have merely preserved the ninth century spelling. But, taken on the whole, it is better to regard the *Ṛgveda* as going back at most not beyond 1800 B.C. for the composition of the earliest hymns, though these, if now contained in the Saṁhitā, have no doubt been in some degree redacted and certainly cannot have been preserved wholly unchanged.

---

[1] Thomas, J. R. A. S. 1932, p. 464. *Cf.* Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp. 614—19.

[2] I. H. Q. viii, 121-64.

[3] *Cf.* Macdonnell and Keith, *Vedic Index*, i, 420—27.

[4] *Second Selection of Hymns from the Ṛgveda*, p. cxxxi.

[5] *Cf.* Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp. 3—9.

[6] *History of Indian Literature*, i. 293ff.

[7] *Ibid.* i. 310.

It may therefore be concluded, with reasonable probability, that the Aryans were not in India before or much before 2000 B.C., and may have entered a good deal later. But in any case they certainly, on the present evidence, cannot have come into contact with the civilisation of Mohenjo-daro and Harappā as a living force; at the most they may have come across degenerated survivals. With this conclusion accords well the evidence adduced by Sir John Marshall, though no doubt the value of it varies.

(1) There is really no ground to suppose that the Ṛgvedic Indians had any real acquaintance with cities or city life.[3] That their enemies had forts is clear, but there is nothing to compel us to assume that they had anything in the nature of Mohenjo-daro. On the other

---

[1] See Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp. 614--16.

[2] H. W. Bailey, J. R. A. S. 1932, p. 976, and see p. 239.

[3] Macdonnell and Keith, *Vedic Index*, i. 538, 539.

hand city civilisation was doubtless decadent when the Aryans appeared. If the Aryans were the people of Mohenjo-daro, it is really impossible to understand how they ceased to be builders of cities of that type, and how Pāṭaliputra even in Megasthenes' time was defended by wooden walls and ditches. But at least we can say that the *Ṛgveda* must represent Āryans who did not share in such a relatively high form of civilisation as Mohenjo-daro implies. Nor is this in discord with what appears of the geographical position of the Indians of the *Ṛgveda*, who seem to have in strength at a considerable distance[1] from the main centres of the Indus valley civilisation.

(2) It is certainly striking that silver should be more commonly used than gold in Mohenjo-daro, while the *Ṛgveda*[2] which agrees with the Indus valley in ignoring, in all probability, iron, ignores silver, which is known to the *Yajurveda* and the *Atharvaveda*.

(3) There is a clear distinction in the fact that the *Ṛgveda* knows of the use of the helmet and coat of mail,[3] but not of the mace as a weapon of war, while the Indus valley ignores defensive armour but has maces both of metal and stone, and maces are known to the *Yajurveda* and the *Atharvaveda*.

(4) It is certainly noteworthy that the Indus valley folk made use of fish[4] as an ordinary article of diet, which certainly seems to be contrary to the practice of the Āryans of the *Ṛgveda*. The fact is the more noteworthy because both peoples were meat eaters, and suggests either that the *Ṛgveda* Indians dwelt in areas where fish were few and far between, or that for some reason tabu of fish prevailed among them.

(5) The absence of the horse from Mohenjo-daro is of the highest importance as an argument. It seems certainly the most probable view that the Aryans were aided in their conquests and their migrations by the horse and perhaps by their defensive armour. Dr. Law[5] realises the importance of the argument from the horse, and suggests that it is invalid, because the omission to represent the horse may be accidental, and in any case it is necessary to prove that, assuming the horse were known to the people, there existed the same reasons for placing its representation on seals as in the case of other animals. Neither of these contentions, however, is of much weight. The point regarding the horse is that the *Ṛgveda*,[6] shows its essential importance and familiarity ; if there should turn out to be representations at Mohenjo-daro, nevertheless, their paucity would certainly suggest that the horse was a rare animal there and not in very normal use, as among the Āryans. Secondly, whatever the purpose of the representations of animals on the seals, it is necessary to suggest some specific reason why

---

[1] Keith, *Cambridge History of India*, i. 80, 81.

[2] Macdonnell and Keith, *Vedic Index*, i. 197.

[3] *Ibid*, ii. 271, 272.

[4] *Ibid*, ii. 121.

[5] I. H. Q. viii. 160.

[6] Macdonnell and Keith, *Vedic Index*, i. 42, 43.

the horse should not be delineated, and Dr. Law has not made any such suggestion, nor does any plausible suggestion present itself.

6. The same considerations apply to the case of the cow, which certainly appears to have possessed for the Indus valley people nothing like the importance of the bull. It is perfectly true that the Vedic Aryans prized the bull, but there seems to be a clear gulf between the civilisations in respect of the cow. If, as seems most probable, the Indus valley civilisation knew the tiger, then the fact that the *Ṛgveda* does not, is probable to be explained simply by geographical difference of habitat rather than by the hypothesis that the *Ṛgveda* found no occasion to mention the animal. Nor is it probable that the animal of Mohenjo-daro is merely a hyena.[1] The case of the elephant counts far less. It is clear that it was rather a novelty to the *Ṛgveda*, but that by the time of the later Saṁhitās it had been tamed ; in the Indus valley it was better known, but perhaps mainly as an animal used for state purposes [2]; the matter is essentially conjectural.

7. The differences in matters of religion seems to have been considerable. The *Ṛgvedic* religion is certainly aniconic in principle [3]; the fact that fetishes might exist does not destroy this fundamental feature of the organised cult. On the other hand iconism seems to permeate the Indus valley civilisation, proving a very different outlook. Nor does it seem possible to ignore the importance of the evidence of Çaktism and of the worship of the Mother Goddess in the Indus valley as in Asia-Minor. Dr. Law adduces as a Vedic parallel the case of Pṛthivī, but it must be admitted that in the *Ṛgveda* she plays a wholly subordinate and unimportant part.[4] Nor is it illegitimate to regard this predominance of the female divinity as very possibly connected with the stage of society not very happily named matriarchal. The *Ṛgveda* certainly represents a society which was not in such a stage, and in which it is very hard to find any suggestion of ever having passed through such a stage.[5] It is, of course, of the highest importance to find such clear evidence of the worship of a god whose characteristics so closely resemble those of Çiva, both in his relation to animals as Paçupati, and in his devotion to Yoga. This is not the Rudra of the *Ṛgveda*, and it is impossible to resist the conclusion that he is a deity far more closely allied to the Çiva who appears, developed in part from Rudra, in part from contamination with non-Aryan beliefs, in the *Yajurveda* and the *Atharvaveda*.[6] It is true, of course, that the Indo-Aryans were devoted to Yoga practices, but we cannot prove or render it even probable that this was an Aryan attitude; rather we may accept the current view that Yoga was a doctrine absorbed by Aryans, not introduced by them.

Other matters doubtless admit of less certainty. That the *Ṛgveda* was opposed to phallus worshippers (*Çiçnadeva*) is *prima facie* correct,[7] but it is impossible to prove that those who practised such rites were non-Aryans, though, even if Aryans, they may be held to have adopted an un-Aryan practice. What can be said is that this side of religion seems scantily represented in the *Ṛgveda* and therefore to have played but a minor part in the religion of the *Ṛgveda*. Again the criticism that in view of the fundamental importance of the god Agni in the *Ṛgveda* we should expect to find an *Agnikuṇḍa* in each Mohenjo-daro home is valid, but not wholly conclusive, for the *Ṛgveda* does not make it certain that such altars did exist in every house. Nevertheless these pieces of evidence are not negligible, and they do support the general conclusion that the *Ṛgveda* knew a religion which was not that of the Indus valley people. The same conclusion is certainly suggested by the evidence of a human sacrifice to the earth goddess which is afforded by a representation at Harappā,[1] for there is no real trace of human sacrifice in the *Ṛgveda*.[2] The Indus valley religion is certainly Indian, but there is no reason to suppose that it specifically was Aryan.

---

[1] *Mohenjo-daro*, ii. 387, 388.

[2] *Ibid.* ii,. 388.

[3] Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, p. 68.

[4] *Ibid.* p. 174. *Cf.* Hopkins *Epic Mythology*, pp. 78—81.

[5] Keith, *Cambridge History of India*, 88, 89.

[6] Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp. 142—50 ; Hopkins, *op. cit.*, pp. 219—24.

[7] *Cf.* Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, p. 632, N. 3.

The question of the alleged derivation of the Brāhmī script from the Indus valley script has been mentioned above. There is not the slightest reason to suppose that the *Ṛgveda* knew the use of writing of any kind, and, as noted above, Dr. Law adduces oral tradition as one of the causes of the slow development of the Vedic literature. There is at present a complete lacuna between Brāhmī and the Indus valley script, and it will be necessary to fill it up before there can be any certainty of direct derivation. So far such similarities as exist can be adequately explained if it is assumed that Brāhmī is a late outcome of some script which stood in such a relationship to the Indus valley script as is involved in descent from the same ultimate source. Whether even this assumption is necessary remains to be demonstrated. But, however the issue may finally be settled, it does not appear that it would in any way show that the people of the *Ṛgveda* knew or owed anything to the civilisation of Mohenjo-daro and Harappā. That civilisation, no doubt, whatever its impulse, is largely Indian in character and nature.[3] But it possesses many curious features which give it distinctive character of its own and prevent us from identifying it with any civilisation known to us in India. In special we have the remarkable use of seals of a distinctive kind, and problems at present defying satisfactory solution are unquestionably presented by the two remarkable statuettes from Harappā which have certain affinities with Greek art.[4] All the other ancient civilisations revealed by excavation leave us with problems quite unsolved, and it would be unreasonable to expect that decisive explanations should early be possible. But the negative conclusion that the civilisation is not that of the *Ṛgveda* seems conclusively established.

---

[1] Accepted as such by Dr. Law, I.H.Q. viii. 138.

[2] *Cf.* Keith, *op cit.* pp. 262—4.

[3] Perhaps we find here the origin of phallicism ; Hopkins (*Epic Mythology*, p. 222, No. 1) pointed out the lack of evidence of it among the wild tribes.

[4] Plates x and xi.

वैदिक साहित्ये उद्भिदेर कथा

डा० एकेन्द्रनाथ घोष, पि-एच्० डि०, एम० डि०, कलिकाता

[ऋग्वेद में उद्भिद् शब्द पाया जाता है। परन्तु उस का अर्थ वहाँ पौधा नहीं है। वह अर्थ अमरकोश के समय जा कर कहीं आता है। ऋग्वैदिक काल में पौधों के विभिन्न प्रकारों की पहचान थी। साधारण वृक्षों तथा वन-वृक्षों (वनस्पति) में कई बार भेद किया जाता था। छोटे वृक्ष वानस्पत्य कहलाते थे। दो वर्ष में पकने वाले तथा पृथ्वी में कंद या मूल छोड़ने वाले पेड़ शायद 'वीरुध' कहलाते और वार्षिक पौधे ओषधि। चढ़ने वाली लताओं (व्रतति) तथा लिपटने वाली लताओं (लिम्बुज) का भी उल्लेख है। बूटियों और घासों की भी पहचान थी।

वृक्ष के विभिन्न भागों का भी पूरा ज्ञान था। जड़, तना, शाखाएँ, उपशाखाएँ, कोंपल, कलियाँ, पत्तियाँ, फूल, फल व बीज की भी पहचान की गई थी। पुष्पगुच्छों तथा रसीले फलों का भी वर्णन है। फूटने वाले पौधों का भी उल्लेख है। भीतरी तथा ऊपरी छाल तथा गोंदों का वर्णन भी पाया जाता है।

पेड़ों की लकड़ी तथा अन्य वस्तुएँ आर्थिक तथा ओषधिक उपयोगों में लाई जाती थी।

लगभग १२६ विभिन्न पौधों का वर्णन वेदों में है, कदाचित कुछ और भी। उन में से कइयों को अब नहीं पहचाना जा सकता]

"उद्भिद्" कथाटि ऋग्वेद (१.८६.१; ८.६८.१; इत्यादि), वाजसनेयि-संहिता (२८.२५) ओ अथर्ववेदे (५.२०.११) थाकिलेओ, इहा गाछेर अर्थे व्यवहृत हय नाइ। सम्भवत: अमरकोषे-इ आमरा इहार "गाछ" अर्थे प्रथम व्यवहार देखि।

गाछेर प्रकार भेद।

वैदिक ग्रन्थगुलिते प्रकार-भेदे गाछेर अनेकगुलि नाम पाओआ जाय : जेमन, वृक्ष (ऋग्वेद, वाजसनेयि-संहिता, अथर्ववेद), द्रुम (केवल निरुक्त ओ षड्विंशतिब्राह्मण), वनस्पति (ऋग्वेद, वाजसनेयिसंहिता, अथर्ववेद), वानस्पत्य (केवल अथर्ववेद), वीरुध्, ओषधि, व्रतति, लिबुजा ओ सस। वृक्ष, वनस्पति ओ वानस्पत्य, एइ तिन कथार अर्थ आमरा "बड़ गाछ" (tree) मने करि। ऋग्वेदे 'वृक्ष' ओ 'वनस्पति' शब्द-दुइटि एक-संगे व्यवहृत हय नाइ; सुतरां आमरा मने करिते पारि जे, शब्द-दुइटि ऋग्वेदेर समय एकइ अर्थे व्यवहृत हइत। वाजसनेयि-संहिताय (१७.२०) 'वन हइते' एवं 'वृक्ष हइते' कथार एक-संगे उल्लेख आछे; इहाते मने हय जे, एइ समये वन-जात गाछ हइते 'वृक्ष' के भिन्न बलिया धरा हइत। अथर्ववेदे वृक्ष ओ वनस्पति (१०.३.१३), एवं वृक्ष ओ वानस्पत्य शब्देर (१२.१.२७) एक-संगे व्यवहार देखा जाय; किन्तु साधारणत: इहादेर एकत्र उल्लेख नाइ; सुतरां मने हय जे, काहारओ मते एइ दुइ के पृथक् धरा हइत। ह्विट्नी (Whitney) साहेब वनस्पतिके वन्य वृक्ष बलियाछेन। आबार, अथर्ववेदे (८.८.१४; १५.६.३) वनस्पति ओ वानस्पत्य कथा-दुइटि एक-संगे देखा जाय। वानस्पत्य कथाटिर अर्थ, 'वनस्पतिर पुत्र वा पुत्रस्थानीय' धरिले, आमरा इहाके 'क्षुद्र वृक्ष' मने करिते पारि। चरके (सूत्रस्थाने) औद्भिद औषध-सकलके चारि भागे भाग करा हइयाछे—वनस्पति (जाहार केवल फल हय, सम्भवत: डुमुर-जातीय गाछ), वानस्पत्य (जाहार फूल ओ फल उभय-इ थाके), ओषधि (जाहा फल पाकिआ गेले मरिया जाय), ओ वीरुध् (जाहा लताइया जाय—प्रतान-विशिष्ट)।

वृक्ष।

ऋग्वेदेर तिन स्थले "वृक्ष" कथाटि 'गाछ' अर्थे पाओया जाय। एक स्थाने (४.२०.५) 'पक्व' अर्थात् फलवान् वृक्षेर उल्लेख आछे। द्वितीय स्थाने (२.१४.२) वृक्षेर कर्तनके इन्द्र द्वारा वृत्रवधेर सहित तुलना करा हइयाछे। अन्य एक स्थाने (१.१६४.२२) आदित्यके वृक्षेर सहित तुलना करा हइयाछे। १.१६४.२० ते जे वृक्षेर कथा आछे, ताहा "रक्तमांसे गठित जडदेह" बलिया मने करा जाय। आबार, 'वृक्ष' अर्थे (५.५८.५) दारुमय पेटिकाके उद्देश्य करा हइयाछे।

वाजसनेयिसंहिताय बला हइयाछे जे वृक्षेर उपर युद्धेर अस्त्र-शस्त्र राखा हइत (१६.५१)। काष्ठ-निर्मित खाटेर उल्लेख आछे (२३.२४)। आबार वृक्षके हरिकेश (भाष्यकार-मते हरितवर्णेर केश अर्थात् पत्रविशिष्ट) बला हइयाछे (१६.४०)। सम्भवतः इहा कोनो सूक्ष्म सूचिकार मत पत्र विशिष्ट वृक्षके (देवदारु वा अन्य कोनो ऐरूप वृक्षके) लक्ष्य करा हइयाछे।

अथर्ववेदे वृक्षेर स्कन्ध (trunk) हइते शाखा-विशाखार उत्पत्ति (१०.७.३८), वृक्षेर ऊर्ध्व भावे अवस्थान (४.७.५; ६.४४.१), वृक्षेर सबुज वर्णेर (१०.८.३१) कथा पाओआ जाय। अश्वत्थ (३.६.८), तलाश (६.१५.३), ओ शिंशपाके (६.१२९.३) वृक्ष बला हइयाछे। आवार वायु द्वारा वृक्षेर पतन (१०.१.१७; १०.३.१५), कुलिश द्वारा वृक्षेर छेदन (२.१२.३) एवं वृक्षे वज्राघातेर (७.५२.१; ७.६१.१; ७.१०४.१४) उल्लेख आछे। वृक्ष हइते स्रज् अर्थात् मालाके (१.१४.१) पुष्पविन्यास (Inflorescence) मने करा जाय। पक्व अर्थात् फलयुक्त वृक्षेर (२०.१२७.४) उल्लेख एवं फल-पतनेर कथा (६.१२४.२) आछे।

वनस्पति।

ऋग्वेदे वनस्पतिर उद्देशे बहु स्तव आछे (१.९०.८; ५.४१.८; इत्यादि); सुतरां वनस्पति जे बहु कार्य्ये व्यवहृत हइत, ताहा बुझिते पारा जाय। इहार काष्ठ ज्वालान हइत (५.७.४), इहार काष्ठ हइते रथ (३.५३.२०; इत्यादि), उलूखल (१.२८.६), यूपकाष्ठ (३.८.१,६; १०.७०.१०), अरणि (६.१५.२) एवं यज्ञे व्यवहृत बहु द्रव्य प्रस्तुत करा हइत (१०.११०.१०)। वनस्पतिर शतसहस्र शाखार उल्लेख आछे (३.८.११)। बला हइयाछे, मरुद्गणेर आगमने वनस्पतिगण भये आकुल हय (१.१६६.५) ओ निनाद करे (८.२०.५); मरुद्गण ताहादिगके वियुक्त करेन (१.३९.५); अर्थात् झटिकाय आलोड़ित हइया वनस्पतिगण उत्पाटित हइत। ताहारा वज्रध्वनिते प्रतिध्वनित हइत। आवार बला हइयाछे जे, पृथिवी वनस्पति-सकलके वृष्टिर समय धारण करिया थाकेन (५.८४.३; १०.६०.९)। पूषण् (६.४८.१७), इन्द्र (३.३४.१०), विश्वेदेवगण (१०.६५.११) एवं अश्विद्वयेर (१.१५७.५) स्तवे वनस्पतिगणेर उल्लेख आछे। सोम (१.९१.६; ९.१२.७) ओ अग्निके (१.१३.११; १.१८८.१०; इत्यादि) वनस्पति बला हइयाछे। अग्निके वनस्पतिर पुत्रओ बला हइयाछे (८.२३.२५), कारण पुत्र जेमन मृत पितार दाह करे, अग्निओ सेइ रूप काष्ठ दग्ध करे।

वाजसनेयिसंहिताय वनस्पतिर ऊर्ध्वे वृद्धि (४.१०) बहु शाखा (५.४३), ओ सुस्वादु फलेर (२८.१०) उल्लेख आछे। वन्य वृक्षेर काष्ठ हइते बहु द्रव्य प्रस्तुत करा हइत (२०.४५; १०.२३)।

अथर्ववेदे वनस्पतिके 'वीड्वङ्ग' (अर्थात् स्थूलकाण्ड ओ शाखायुक्त) (६.१२५.१) ओ पुष्टियुक्त (१९.३१.९) बला हइयाछे। पृथिवी ताहाके धारण करेन (४.२६.५)। जङ्गिड (१९.३४.९), पलास (३.५.३) ओ वरण-के (६.८५.१; १०.३.५) वनस्पति बला हइयाछे। वात वृक्ष ओ वनस्पतिके भग्न करे (१०.३.१६)। वनस्पतिर जे शाखा-प्रशाखा छेदन करा हय, ताहा वर्षमध्येइ वर्धित हय (८.१२.१)। वन्य वृक्षेर काष्ठते बहु द्रव्य प्रस्तुत करा हइत (६.१२५.१ इत्यादि)।

वीरुध्।

ऋग्वेदेर दशम मण्डले वीरुधेर उल्लेख आछे। सुतरां कथाटि आधुनिक सूक्तगुलिर रचनार समय गठित हइयाछिल बलिया मने हय। वाजसनेयिसंहितार दुइ स्थले (१२.७७;१८.१४) वीरुध् कथाटि पाओआ जाय; एवं वीरुध् ओ ओषधि कथा-दुइटि एक सङ्गे थाकाय, इहादेर अर्थेर प्रभेद आछे बलिया मने करिते पारि। अथर्ववेदेर वहु स्थले (चल्लिश बार हइवे) एइ कथा पाओआ जाय। इहा ओषधि ओ तृण हइते भिन्न (११.७.२१)।

ऋग्वेदे (१०.७९.३) बृहत् ओ प्रसर्पी (जाहा माटीर उपर लताइया जाय) वीरुधेर कथा आछे। वीरुध् वर्षाय (१०.४७.९) वने जन्मित (१०.९१.६)। वीरुध् ज्वालान हइत (१०.४५.४)।

वाजसनेयिसंहितार टीकाकार महीधर वीरुध्के एक स्थले (१८.१४) एवं अन्य स्थले (१२.६) ओषधि बलियाछेन। उवट (१२.७७ टीकाय) इहार अर्थ करियाछेन 'जाहा व्याधि रोध करे'।

अथर्ववेदे कथित हइयाछे जे गरुर अन्त्र हइते वीरुधेर जन्म हइयाछे (१०.१०.२१); सम्भवत: ऐ अन्त्र पचिया सार माटीते परिणत हइले, ताहाते वीरुध् तेजेर सहित जन्माय एइ कथा बलाइ उद्देश्य। वीरुधेर मूल (८.७.२३—वराह वीरुधेर मूल जाने; ८.७.२,१२), अग्र (अर्थात् डगा, ८.७.१२), मध्य (अर्थात् काण्ड ८.७.१२), पर्ण (पत्र, ८.७.१२) एवं पुष्पेर (८.७.१२) उल्लेख पाओआ जाय। आबार इहाके अंशुमती (जाहा रश्मिर मत चारिदिके वर्धित हय), काण्डिनी (जाहार काण्ड, सम्भवत: स्फीत दण्ड आछे) अथवा विशाख (अर्थात् शाखाहीन) बला हइयाछे। इहा हइते भेषज वा औषध प्रस्तुत करा हइत (६.५२.३), एइ जन्यइ बोध हय महीयसी 'बला हइयाछे (८.७.११)। वहु प्रकारेर (४.१५.३) एवं वहु संख्यक (५.४.१) वीरुध् देखिते पाओआ जाय। कुष्ठके वीरुध् (५.४.१) एवं दर्भके एक स्थले वीरुध् (१९.३३.१) आबार अन्य स्थले ओषधि (१९.३२.३) बला हइयाछे।

ओषधि।

ऋग्वेदे ओषधिर वहु स्तुति आछे (६.३९.५; ७.४.५); एकटि सूक्तेर (१०.९७) देवताइ ओषधि। ओषधि नदीर जले (७.५०.३), जलविहीन उच्च स्थाने (४.३३.७) अथवा अश्वत्थ ओ पलाश वृक्षेर उपर (१०.९७.५) जन्मिया थाके। वर्षाय (५.८३.५) ओ वृष्टिर जले (३.५.८) ओषधि जन्माय। वृष्टिर जल पाइले ओषधिगण पुष्प ओ फलयुक्त हय (७.१०१.१)। पुष्पयुक्त वा पुष्पहीन एवं फलयुक्त वा फलहीन ओषधिर उल्लेख आछे (१०.९७.१५)। अश्ववती, सोमवती, ऊर्जयन्ती ओ उदोज: नामे ओषधिर उल्लेख पाओआ जाय (१०.९७.७); सम्भवत: अश्ववती अश्वगन्धा हइते पारे; सोमवती सोमलता अथवा सोमेर मत स्निग्ध कोनो गाछ; ऊर्जयन्ती कोनो बलकारक गाछ; उदोज: कोनो उग्र वा तेजस्कर गाछ हइवे। मृत्तिकाखनन करिआ ओषधि स्थानान्तरित करा हइत (१.१६६.५); सुतरां ओषधि जे चाष करा हइत, ताहा बुझिते पारा गेल। ओषधि गाभी (१०.१६९.१) ओ अश्वेर खाद्य (१.१६३.७)। शुष्क ओषधि हइते बाण प्रस्तुत करा हइत (९.११२.२)। ओषधि आबार ज्वालान हइत (२.४.४)।

वाजसनेयिसंहिताय ऋग्वेदेर अनेक कथा पुनराय बला हइयाछे। इहाते ओषधिर रसेर उल्लेख आछे (१८.३६;१९.३३)। ओषधि हइते पिष्टक (१.२१) ओ पुरोडाश (११.४३) प्रस्तुत करा हइत। ओषधि औषध रूपेओ व्यवहृत हइत (१२.८०,८४,८५,८६)। कुशके ओषधि बला हइयाछे। अथर्ववेदे ओषधिर वहु उल्लेख ओ स्तुति आछे। इहा पर्वत ओ समभूमिते जन्माय (८.७.१७); वर्षाय जन्माय ओ वर्धित हय (४.१५.१६;

८.२.२२ इत्यादि); ओषधिर चाषेर कथा पाओआ जाय (३.१७.५; १२.१.२; ४.७.६)। ओषधिर दृढ़ मूल, विस्तारित मध्यभाग (अर्थात् काण्ड) (६.१३७.३), बीज (८.७.२१) एवं रसेर उल्लेख आछे (२.२४.१; ४.२७.२, ३ इत्यादि)। नाना वर्णेर ओषधिर कथा पाओआ जाय (८.७.१, बभ्रु, शादा, लाल, बिन्दु-चिह्नित ओ कालो)। प्रस्तृणती (जाहा चारिदिके छड़ाइया पड़े), स्तम्बिनी (झोँपेर मत), प्रतन्वती (जाहा एकदिके बाड़े), एकशुङ्ग (जाहार एकटिमात्र आवरण थाके—सम्भवत: कचुर पुष्पविन्यासेर आवरण पत्रेर मत पत्र वा Spathe के लक्ष्य करा हइयाछे) एवं बहुपत्रविशिष्ट ओषधिर उल्लेख आछे (८.७.१३)। ओषधि गो, छागल ओ मेषर खाद्य (८.७.२५); ओषधि हइते औषध प्रस्तुत हइत (४.४.२,३; ४.१७.१), जेमन कुष्ठ (६.९५.३ इत्यादि) ओ अपामार्ग (४.१९.३)। विषाक्त ओषधिरओ उल्लेख आछे (१०.४.२२)। ओषधि हइते शल्य प्रस्तुत हइत (४.६.८)। गुणभेदे ओषधिगणके जीवला (अर्थात् प्रफुल्लतादायक), नघाविषा (जे कोनो क्षति करे ना), जीवन्ती (जीवन-रक्षक), सहस्वती (तेजविशिष्ट) ओ त्रायमाणा (सर्वापेक्षा तेजस्कर) बला हइयाछे (८.२.६)। आबार ओषधिके पुन:सरा (जे पुनराय निज अवस्था पाय) बला हइयाछे (४.१७.२); सम्भवत: इहाते मृत्तिका-गर्भस्थ कन्द हइते गाछेर उत्थान निर्देश करा हइयाछे। यव, दर्भ, अरुन्धति-लताके ओषधि बला हइयाछे (६.१५.१ इत्यादि)।

आमरा मोटामुटि वीरुध्के biennial ओ perennial herb एवं shrub बलिते पारि। ओषधि इङ्गराजीते annual herb.

ऋग्वेदे (८.४०.६) ओ तैत्तिरीयब्राह्मणे (१.१.१.३; इत्यादि) व्रततिर कथा आछे। निरुक्ते (१.१४; ६.२८) व्रतति। व्रतति अर्थे वल्ली वा लतानिया गाछ बला हइयाछे। सम्भवत: इहा माधवीलतार मत बृहत् शाखायुक्त लता हइबे।

लिबुजा। अथर्ववेदे (६.८.१; १८.१.१५,१६) बला हइयाछे जे लिबुजा अश्वेर कक्षबन्धनीर न्याय वृक्षके वेष्टन करिया थाके; सुतरां इहा Twining plant वा वेष्टिका लता।

वेद ओ ब्राह्मणे तृणेर बहु उल्लेख आछे। ऋग्वेदे बला हइयाछे जे अश्व ओ गरुके तृण खाओआन हइत (१.१६४.४०)। तृण दग्ध करिबार कथाओ आछे (३.२९.६)। अथर्ववेदे उक्त हइयाछे जे, तृणद्वारा गृहेर प्राचीर प्रस्तुत करा हइत (३.१२.५; ९.३.४)। 'शाद' कथाटि अनेक स्थले (ऋ० ९.१५.६; वाजसनेयिसं० २५.१) साधारण घासेर अर्थे व्यवहृत हइत। तृणगुच्छके 'स्तम्ब' बला हइत। तृण ओ सस। तृण, विशेषत: दर्भगुच्छके पिञ्जूल वा पुञ्जील बला हइत। तृण Graminaceæ वंशेर जे-कोनो गाछ।

ससशब्द ऋग्वेदे (१.५१.३; ३.५.६; ४.५.७, इत्यादि) आछे। सायण एक स्थले (१.५१.३) सस अर्थे 'अन्न' करियाछेन। पाश्चात्य पण्डितगण इहाके herb वा grass मने करेन। इहा 'सस्य' (शस्य—grain) शब्देर पाठान्तर हइते पारे।

उद्भिदेर भिन्न भिन्न अंश। आमरा वेद ब्राह्मणादि ग्रन्थे उद्भिदेर मूल, स्कन्ध, शाखा, वया, वल्श, तोक्मन, प्रसू, तूल (वा पुष्पगुच्छ), पुष्प, फल, बीज ओ सस्येर उल्लेख देखिते पाइ। एतद्व्यतीत दारु, द्रु, वल्क,

वकल ओ निर्यासेर कथाओ पाओया जाय। वाजसनेयिसंहिता (२२.२८) ओ तैत्तिरीयसंहिताय (७.३.२०.१) एकत्रे अनेकगुलि नाम आछे।

मूल।

मूल एइ कथाटि वाजसनेयि संहिता (२२.२८) ओ तैत्तिरीय संहिताय (७.३.२०.१) पाओया जाय। ईहा इङ्राजीते root ।

स्कन्ध (तैत्ति० सं० ७.३.२०.१; ऋ० १.३२.५; अथ० १०.७.३८)—गाछेर काण्ड वा गुँड़िर अर्थे व्यवहृत हइयाछे। 'स्थाणु' नामे एकटि शब्द ऋग्वेदे (१०.४०.१३) 'विघ्न' वा 'वाधा' अर्थे व्यवहृत हइयाछे।

शाखा, वया।

शाखा (ऋ० १.८.८; ७.४३.१ इत्यादि; अथ० ३.६.८) ओ वया शब्द (ऋ० २.५.४; ५,१.१ इत्यादि) गाछेर डाल (branch) अर्थे व्यवहृत हइयाछे। फल संग्रह करिवार जन्य वृक्षे आरोहण करिया शाखा हइते शाखान्तरे जाइवार कथा आछे (ऋ० २.५.४)। कथा-दुइटि अन्य अर्थेओ व्यवहृत हइयाछे जेमन अग्निर शाखा (ऋ० १.५९.१), नदीर शाखा (ऋ० ६.७.६) इत्यादि। नवीन वृक्षेर वया भक्षण करा हइत (ऋ० १०.९४.३)।

वल्श।

वल्श ऋग्वेद (३.८.११ शतवल्श, ३.८.११; ७.३३.९ इत्यादि सहस्रवल्श) ओ अथर्ववेदे (६.३०.२) एइ कथाटि 'क्षुद्र कोमल शाखा (वा कचि डगा), अर्थे व्यवहृत हइत। इहार इङ्राजी नाम twig ।

तोक्मन।

तोक्मन (ऋ० १०.६२.८; वाज० सं० १९.१३; २१.३० इत्यादि; मैत्रायणी सं० ३.११.९; तैत्तिरीयब्राह्मण ११.६.४) ऋग्वेदे इहाके 'गाछेर वर्धनशील अंश' वलिया मने करा जाय। वाजसनेयिसंहितार टीकाकार महीधर इहाके व्रीहि वा यवेर अङ्कुर वा अङ्कुरित व्रीहि वा यव मने करेन। ऐतरेयब्राह्मणे व्रीहि, महाव्रीहि प्रभृतिर तोक्मनेर उल्लेख आछे। ताहा हइले आमरा तोक्मनके अङ्कुर (germinating plant) वलिया मने करिते पारि। म्याक्डोनेल एवं कीथ (Macdonell, Keith) ताँहादेर वेदिक इंडेक्से इहाके green shoot of any kind of grain वलेन। घासेर अङ्कुरके 'शष्प' वला हइत (वाज० सं० १९.१३; २१.२९; ऐत० ब्रा० ८.५.३ इत्यादि)।

प्रसू।

प्रसू (ऋ० १.९५.१०; ७.९.३ इत्यादि; काठकसंहिता ३६.२; तैत्ति० ब्रा० १.६.३.२; शत० ब्रा० २.५.१.१८)। भाष्यकारगण 'प्रसू'के कोमल शाखा वा ताहार अग्रभाग वलिया मने करेन। प्रसूवरी अर्थे 'फलप्रसविनी'। ओषधिगणके प्रसूवरी वला हइत। 'प्रसू' अर्थ पुष्पमुकुल (जे कुँड़ि हइते पुष्प जन्माय—flower bud) मने करा जाय।

पर्ण, पत्र (तैत्ति० स० ७.३.२०.१)। एइ दुइ शब्द पाता अर्थात् leaf अर्थे व्यवहृत हइत। सचराचर पलास वृक्षकेओ पर्ण वला हइत।

पुष्प।

पुष्प शब्दटि वहुस्थलेइ पाओया जाय। इहा फूल वा flower। (अथर्व० १.१४.१) पुष्पगुच्छके 'स्रज्' वला हइत। पुष्पेर मालाके garland स्रज् वला हइत। विवाहे मालार व्यवहार छिल।

फल।

फल (ऋ० ३.४५.४; १०.९७.१५; अ० ३.१५.४; ६.१२४.२ इत्यादि)। इहा fruit। शतपथब्राह्मणे फलके वृक्ष्य वला हइयाछे (१.१.१.१०)। ऋग्वेदे (१.१६४.२०; श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.६.२२; ५.५४.१२) 'पिप्पल' कथाटि रसाल (succulent) फलेर अर्थे व्यवहृत हइत; किन्तु परवर्ती ग्रन्थगुलिते

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४.१.४१; श० ब्रा० ३.७.१.१२) पिप्पलके अश्वत्थेर फूल (fig) बला हइत। वैदिक समये जे फल आहार करा हइत से विषये कोनो सन्देह नाइ।

बीज।

ऋग्वेदे (५.५३.१३) धान्यबीज अर्थात् 'ओषधिगणेर फल' (इङ्गराजीते Caryopsis—इहा फल, बीज seed नहे) कथाटि पाओआ जाय। ऋग्वेदे (१०.९४.१३; १०.१०१.३) ओ अथर्ववेदे (१०.६.३३) बीजवपनेर उल्लेख आछे। बीज अर्थे seed। यव, गम, धान्य इत्यादि ओषधिर फल (Caryopsis) एवं सम्भवत: मसुर ओ छोला जातीय गाछेर (leguminous plants) बीज 'सस्य' नामे अभिहित हइत (अथ ७.११.१; ८.१०.२४; तै० स० ३.४.३.३ इत्यादि) (corn)। 'धान्य' ओ 'धाना' कथा-दुईटि साधारण 'सस्य' अर्थे व्यवहृत हइत। धाना शब्द बहु स्थले पाओआ जाय (ऋ० १.१६.१; ३.३५. ३; ३.४३.४ इत्यादि; अथ० ४.३२.३४; १८.३.६९ इत्यादि)। बहु स्थले 'अद्धिधाना' (सायण-मते "भृष्ट यव"—सम्भवत: जे कोनो भृष्ट ओषधिर फल)–कथाटीओ देखिते पाओआ जाय। 'धान्य' कथाओ बहु स्थले आछे (ऋ० ६.१३.४; अथ० ३.२४.२५; इत्यादि)। बृहदारण्यकोपनिषदे (६.३.२२) ब्रीहि, यव, तिल, माषा, अणु, प्रियङ्गु, गोधूम, मसूर, खल्व ओ खलकुल—एइ दश प्रकार धान्य चाषेर कथा पाओआ जाय। सुतरां, 'धान्य' शब्दे 'क्षुद्र बीज' एवं 'ओषधिर फल' (grain) बुझाइत। 'आम्ब' (तै० सं० १.८.१०.१; इत्यादि) ओ 'नाम्ब' शब्द (श० ब्रा० ५.३.३.८) एइ अर्थे (grain) व्यवहृत हइत। अति क्षुद्र सस्यके अथर्ववेदे (१०.९.२६) 'कण' बला हइत। शुष्क सस्य (shrivelled grain) के "पूल्प वा पूल्य" बला हइयाछे (अथ० १४.२.६३)। भृष्ट सस्यके "लाजा" बला हइत (वाज० सं० १९.१३; २१.४२; श० ब्रा० १२.८.२.७ इत्यादि)। फलवान् ओषधि-गुच्छके 'पर्ष' बला हइत (ऋ० १०.४८.७; निरुक्त ३.१०; श० ब्रा० १३.४.२.५)। शतपथब्राह्मणे (१२.५.२.३) 'शुम्बल' कथा पाओआ जाय। टीकाकार हरिस्वामी इहाके खड़ (straw) बलेन। सम्भवत: ओषधिगुलि भूमिते निक्षेप करिबार समये सस्यगुलि झरिया पड़िले ओषधिर शुष्क दण्डगुलिके "शुम्बल" बला हइत। 'पलाल' (पलावा) कथाटिओ (अथ० २.८.३; ८.६.२; कौशिकसूत्र ८०.२७) खड़-अर्थे व्यवहृत हइत। सस्येर आवरण ओ खोसाके 'तुष' (chaff) बला हइत (अथ० ९.६.१६; ११.१.१२,२९ इत्यादि; ऐतरेयब्राह्मण २.७.९)। तैत्तिरीयसंहिताय (५.२.४.२) आछे तुष ज्वालाइया अग्नि उत्पादन करा हइत, एवं ऐ अग्निते पाक करा हइत (तुषपक्व)। अथर्ववेद (१२.३.१९) एवं जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मणे (१.५४.१) 'पलावा' कथाटि तुष अर्थे व्यवहृत हइयाछे।

आमरा वृक्षदण्डेर (stem) भिन्न भिन्न अंशेर नाम पाइ। काष्ठके 'दारु' ओ 'द्रु' बला हइत। 'दारु' शब्द ऋग्वेदे बहु स्थले, अथर्ववेदे (६.१२१.२; १०.४.३), ओ ब्राह्मणग्रन्थे पाओआ जाय। आगुन ज्वालाइते काष्ठ व्यवहृत हइत (ऋ० ६.३.४)। काष्ठदण्ड जले भासाइया नदी प्रभृति पार हओआ जाइत (ऋ०१०.१५५.३)। 'द्रु' कथाटि ऋग्वेदे बहु स्थले आछे। प्राय सकल स्थानेइ काष्ठ हइते प्रस्तुत द्रव्य (जेमन रथ, नौका ?, कलस, पादुका इत्यादि) लक्ष्य करा हइयाछे। (ऋ० १.१६१.१; ५.८६.३; ८.९६.११; ९.१.२; ९.६५.६; ९.९८.२; तै० ब्रा० १.३.९.१)। तैत्तिरीयसंहिता (२.५.३.५; ३.७.४.२) एवं तैत्तिरीयब्राह्मणे (१.४.७.६) 'वल्क' शब्द पाइ। वल्क गाछेर छाल (bark)। तैत्तिरीयब्राह्मण (३.७.४.२) ओ कौशितकीब्राह्मणे (१०.२) 'वकल' कथा देखा जाया। वकल छालेर भितरेर अंश, इङ्गराजीते bast। तैत्तिरीयसंहिताय (२.१.५.४) वृक्षेर निर्यासेर (exudation, gum) उल्लेख आछे।

वेद ओ ब्राह्मणादि ग्रन्थे उल्लिखित गाछेर तालिका

(१) अंशु—इहा द्वारा ऋग्वेदे 'सोमलता' के लक्ष्य करा हइयाछे।

(२) अजशृङ्गी—(अ० ४.३७)। अथर्ववेदेर टीकाकार ओ रत्नमाला-अभिधानमते इहार अपर नाम 'विषाणी'। चलित कथाय इहा 'मेड़ाशृङ्गी'। म्याक्डोनेल एवं कीथेर मते इहा Odina pinnata (O. wodier Roxb.)। वेवर साहेवेर मते इहा Prosopis spicigera Linn. अथवा Acacia suma Ham.। शब्दकल्पद्रुमे विषाणी कथाटिते दुइटि गाछ बोझाय—जीववल्ली (चीरकाकोली, चलित कथाय 'जीओल'—Odina pinnata) एवं अजशृङ्गी। सुतरां जीववल्ली अजशृङ्गी नहे। Prosopis spicigera Linn. गाछेर संस्कृतनाम शमी, बाङ्लाय 'शाँइगाछ'; इहाओ अजशृङ्गी नहे। Acacia suma (Mimosa suma) के बाङ्लाय 'साँईकाँटा बले; इहार संस्कृतनाम 'सोमवृत्त, श्वेतखदिर, कटफल'; इहाओ अजशृङ्गी नहे। ओयाट साहेवेर Dictionary of the Economic Products of India र तृतीय खण्डे (पृ० १७४) Gymnema sylvestre Br. के मेषशृङ्गी (संस्कृत) ओ मेड़ासिंगी (हिन्दी) बला हइयाछे; Dolichandrone falcata Seem—केओ मेड़शिं (मध्यप्रदेश), मेषशिंगि (बोम्बाई) एवं मेड़सिंगि (मराठी) बला हय। आमादेर मते Gymnema sylvestre Br. अजशृङ्गी; इहार अपर नाम 'अराटकी'।

(३) अणु—(वाज० सं० १८.२; बृहदारण्यकोप० ६.३.१३) (Panicum miliaceum Linn.) इहार चापेर कथा पाओया जाय। बाङ्ला नाम 'चिना'।

(४) अध्याण्ड—(अध्यण्डा) (श० ब्रा० १३.८.१.१६)। वैदिक इन्डेक्से इहाके Carpopogon pruriens (अन्य नाम Mucuna pruriens DC.) अथवा Flacourtia cataphracta Roxb. बलिया मने करा हइयाछे। शब्दकल्पद्रुमे 'अध्यण्डा' अर्थे 'कपिकच्छुः' (अर्थात् आलकुशी—अमरकोषमते—Mucuna pruriens) एवं 'भूम्यामलकी' (अर्थात् 'भुँइ-आमला'—रत्नमालामते—Phyllanthus niruri Linn.) मने करा हय। Flacourtia cataphracta Roxb. र संस्कृत नाम 'तालीशपत्री' ओ बाङ्ला नाम 'पानियाल'। मेदिनीते आबार तालीशपत्रके (Abies webbiana Lindle) भूम्यामलकी बला हइयाछे। शतपथब्राह्मणे जे भावे कथाटि व्यवहृत हइयाछे, ताहाते इहाके 'आलकुशी' मने करा जाय।

(५) अपामार्ग—(Achyranthes aspera Linn.) वाजसनेयि-संहिता (३५.११—बीजेर व्यवहार), अथर्ववेद (४.१७.६; ४.१८.७; ४.१९.४; ७.६५.२) ओ ब्राह्मणे इहार बहु उल्लेख आछे।

(६) अमला—(जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण १.३८.६; छान्दोग्योपनिषद् ७.३.१), आमलक, आमलका (Emblica officinalis Gaertner)। फलेर नाम अमलक।

(७) अमूला (Gloriosa superba Willd)—साधारण नाम 'उलट्चंडाल, विषलाङ्गुलिया'। अथर्ववेदे (५.३१.४) इहार नाम आछे। शिकड़ेर परिवर्ते कतकगुलि कन्द थाकाय इहार एइ नाम हइयाछे।

(८) अरदु (Oroxylon indicum Vent.)—शोनागाछ—इहार काष्ठे रथेर अच प्रस्तुत हइत (ऋ० ८.४६.२७)।

(९) अराटकी—अजशृङ्गी।

(१०) अरुन्धती (अथर्ववेद ४.१२.१; ५.५.५—९; ६.५९.१,२; ८.७.६)। इहा सुवर्णवर्णेर लता, गात्रे लोम आछे; इहा पत्रयुक्ता; इहा सुमिष्टा; इहार अपर नाम 'लाचा' ओ 'सिलाची'। Capparis harrida Linn. नामक लता सिन्धु ओ पाञ्जाबे 'अरदन्द' नामे अभिहित। इहार गाये घन मरिचा (लौहमल) वर्णेर लोम आछे। पातागुलि बड़। छागल ओ हस्ती इहार पल्लव भक्षण करे। एइ लता अरुन्धती हइते पारे।

(११) अर्क (Calotropis gigantea R. Br.) अथर्ववेदे (६.७२.१) रतिशक्ति-वृद्धिर जन्य इहार स्तुति आछे। शतपथब्राह्मणेओ इहार नाम आछे।

(१२) अलसाला (अथर्ववेद ६.१६.४)—सायण इहाके एक प्रकार सस्यवल्ली बलेन। मेदिनीकोषे 'अलसा' अर्थे हंसपदी लता। रत्नमालाय इहार पर्याय मधुस्रवा, हंसपदी ओ त्रिपदी। Adiantum copillus-veneris Linn. नामक पर्णाङ्गी (Fern) गुजराटे 'हंसपदी' नामे ख्यात। इउरोपे इहार डाँटा हइते सिराप प्रस्तुत हय। सम्भवतः इहाइ अलसाला।

(१३) अलाबु (अ० ८.१०.२९; इत्यादि; मैत्रायणीसंहिता ४.२.१३)—Lagenaria vulgaris Ser. इहार बाङ्ला नाम 'लाउ'। इहार खोलाय पात्र प्रस्तुत हइत (अ०)।

(१४) अवका (वाज० सं० १७.४; २५.१; तैत्ति० सं० ४.६.१.१; इत्यादि; अ० ४.३७.८—१०) अपर नाम शैवल, शीपाल।—Blyxa roxburghii Rich. (Vallisneria octandra) बाङ्लाय 'शेओला' बले।

(१५) अश्वगन्धा (शत० ब्रा० १३.८.१.१६)—Physalis flexuosa Linn. (Withania somnifera Dun.)

(१६) अश्वत्थ (Ficus religiosa Linn.)—इहार काष्ठे पात्र प्रस्तुत करा हइत (ऋ० १.१३५.८; १०.९७.५)। अश्वत्थकाष्ठ ज्वालानओ हइत (अ०' ३.६.१; ४.३७.४; ६.११.१; शत० ब्रा० ११.५.१.१३)। इहार सुमिष्ट फल पक्षीरा भक्षण करे (ऋ० १.१६४.२०,२२)। अश्वत्थ अन्यान्य वृक्षेर उपर (विशेषतः खदिर) जन्माय, एवं ऐ सकल वृक्ष मारिया फेले (अ० ३.६.१)। ओषधिगण अश्वत्थवृक्षे उपवेशन करे; एइ सकल गाछ परवृक्षी अर्थात् परगाछा (epiphyte)।

(१७) अश्ववार, अश्ववाल (मैत्रायणीसंहिता ३.७.९; काठक-संहिता २४.८; शत० ब्रा० ३.४.१.७)—Saccharum spontaneum Linn. काश वा केश्या घास।

(१८) आण्डीक (अ० ४.३५.५; ५.१७. १६)—पैप्पलादशाखाय आण्डीकेर परिवर्ते 'पुण्डरीक' कथा आछे। पुण्डरीक—श्वेतपद्म (Nelumbium speciosum Willd, white variety)।

(१९) आदार—(काठकसंहिता २४.३; शतब्रा० ५.१०.४; १४.१.१.१२; कात्यायनश्रौतसूत्र २५.१२.१९)—शतपथ-ब्राह्मणेर टीकाय इहाके पूतिका (पुँइ शाक) बला हइयाछे। पूतिक देखून।

(२०) आवयु (अ० ६.१६.१) ब्लूम्फ़ील्ड (Hymns of the Atharvaveda) इहाके सरिषा गाछ मने करेन। सिंहली भाषाय सरिषाके आब्बा बले। सम्भवतः आवयु कथाटि आर्यभाषार नहे।

(२१) आमलक—अमला देखून।

(२२) आम्ब—(तैत्ति० सं० १.८.१०.१ ; श० ब्रा० ५.३.३.८ नाम्ब) इहाके एक प्रकार सस्य मने करा हइयाछे। Cicer arietinum Linn. के बोम्बाईए अम्ब ओ गुजराटे अम्बु बला हय। इहा साधारण छोला। इहाइ आम्ब हइबे।

(२३) इषीका—वेदिक इंडेक्समते Phragmetis communis Tren.। हेमचन्द्रमते इहा काशतृण—Saccharum spontaneum Linn. इहाते झुड़ि (शत० ब्रा० १.१.४.१९), अर्गलेर शलाका प्रस्तुत करा हइत। इहार भंगप्रवणतार उल्लेख आछे।

(२४) उदुम्बर—(Ficus glomerata Roxb.) इहार काष्ठ हइते यूप (तैत्ति० सं० २.१.१.६) ओ दर्वी (तैत्ति० सं० ५.४.७.३) प्रस्तुत हइत। इहार काष्ठे कवच हइत (अ० ८.६.१७ ; १९.३१.९)। इहार काष्ठ नानाविध यज्ञेओ व्यवहृत हइत (श० ब्रा० ३.२.१.३३; ७.४.१.३८; इत्यादि)। इहार सुमधुर फल (ऐतरेयब्रा० ७.१५.) वत्सरे तिन बार करिया पक्क हय (ऐ० ब्रा० ५.२४)। पञ्चविंशतिब्राह्मणे (१६.६.४) उदुम्बरेर वनेर उल्लेख आछे।

(२५) उपवाक अर्थात् इन्द्रयव (Wrightia tinctoria R. Br.)—इहा हइते सक्तु (छातु) एवं करम्भ (दधिमिश्रित सक्तु) प्रस्तुत करा हइत (वाज० सं० १९.२२; २१.३०; श० ब्रा० १२.७.१.३; इत्यादि)।

(२६) उर्वारु, उर्वारुक (अर्थात् काँकुड़—Cucumis melo Linn. var. utilissimus.) ऋग्वेद (७.५९.१२), अथर्ववेद (१४.१.१७), वाजसनेयिसंहिता (३.६०) प्रभृतिते इहार उल्लेख आछे।

(२७) उशाना (श० ब्रा० ३.४.३.१३; ४.२.५.१५) इहा हइते सोम प्रस्तुत करा हइत। पाञ्जाबे श्वेतसरिषाके (Eruca sativa Lam.) उसन बला हय। आबार 'उषण' शब्दे मरिच एवं उषणा शब्दे पिप्पली (अमर), शुण्ठी (राजनिर्घण्ट), एवं चविक (चइ—रत्नमाला) बुझाय, शत० ब्राह्मणेर उशाना 'मरिच' हइते पारे।

(२८) उलप ('उलुखड़'—Anthistiria arundi nacea Roxb.)—ऋग्वेद, अथर्ववेद प्रभृतिते इहार नाम आछे।

(२९) एरण्ड—(Ricinus communis Linn.)—शाङ्खायन-आरण्यके उल्लिखित हइयाछे।

(३०) औक्षगन्धि—(अ० २.३६.७; ४.३७.३)—हुइट्नि साहेब इहाके 'वृषेर मत।गन्ध' अथवा 'वृष हइते प्रस्तुत कोनो गन्धद्रव्य' मने करेन। अथर्ववेदे पति पाइबार जन्य मंत्रे एवं नाना प्रकार दुष्ट प्रेतात्मार विपक्षे मन्त्रे व्यवहृत हइयाछे। आमरा आयुर्वेदे वृषगन्धा नामे गाछेर नाम पाइ; इहा वीर्यवर्धन ओ गर्भसञ्चारेर जन्य व्यवहृत हइत। वैज्ञानिक नाम Argyreia speciosa Sweet. इहा औक्षगन्धि हइते पारे।

(३१) करञ्ज (Pongamia glabra Vent.) (ऋ० १.५३.८; १०.४८.८)।—ज़िम्मर, लुड्भिक्, एवं हिलेब्रान्ट् साहेब इहाके इन्द्रेर शत्रु बलेन। आमादेर मने हय इहा गाछ।

(३२) करीर (Capparis aphylla Roth.) कथाटि एखनओ हिन्दीते चलित। (तैत्ति० सं० २.४.९.२ इत्यादि)।

(३३) कर्कन्दु (कुलगाछ—Zizyphus jujuba Linn.) बहुस्थले उल्लेख आछे। इहार फलके कुरल ओ बदर बला हइयाछे।

(३४) काकम्बीर (ऋ० ६.४८.१७)—वैदिक इण्डेक्से कोनो गाछ मने करा हइयाछे। आबार 'काकम्बीर' अर्थे 'काकेर आश्रयभूत' हइते पारे।

(३५) काश (Saccharum spontaneum)—तैत्तिरीय-आरण्यके (६.९.१) काश हइते मादुर प्रस्तुतेर कथा आछे।

(३६) कार्ष्मर्य (काश्मीरी—Gmelina arborea Linn.)—कृष्णयजुर्वेद ओ शतपथब्राह्मणे इहार उल्लेख आछे।

(३७) किंशुक (Butea frondosa Roxb.) इहार काष्ठे रथ प्रस्तुत हइत (ऋ० १०.८५.२०)।

(३८) कियाम्बु (ऋ० १०.१६.१३ = अ० १८.३.६); क्याम्बु (तैत्तिरीय-आरण्यक ६.४.१२) वैदिक इंडेक्से कोनो प्रकार जलीय गाछ मने करा हइयाछे। सम्भवतः कियाम्बु अर्थे 'किंचित् जल'।

(३९) कुमुद (अ० ४.३४.५)—Nymphaea lotus Linn.

(४०) कुल्माष (छान्द० उप० १.१०.२.७; निरुक्त १.४)—अमरकोषे इहाके 'यावक' (वोरक, बरबटि—Vigna catjang Endl.) बला हइयाछे; अन्यमते इहा कुलत्थ कलाइ—Dolichos biflorus Linn. निरुक्ते इहाके अम्लमाष, छान्दोग्य-उपनिषदेर टीकाकार इहाके कुत्सित माष ओ भागवत पुराणेर (५.९.११) टीकाकार कीटदष्ट माष बलियाछेन। सम्भवतः भिजा वा सिद्ध बरवटि वा कुलत्थ कलाइ लक्ष्य करा हइयाछे।

(४१) कुश (शतपथ ब्रा० २.५.२.१५ इत्यादि) रोट् साहेबेर मते इहा प्रथमतः साधारण घास, परे कुश घास (Eragrostis cyno suroides Beauv.) बुझाइत।

(४२) कुष्ट (अ० ५.४.१—१०; ६.९५.१,२; इत्यादि) तक्मन् वा म्यालेरिया ज्वरेर विरुद्धे इहार स्तुति आछे। इहा एक प्रकार ओषधि, तुषारमण्डित पर्वते जन्माय। इहार मलमेर कथा आछे। वैदिक इंडेक्से इहाके Costus speciosus Sm. मने करा हइयाछे। हिलेब्रान्ट् साहेबेर मते इहा Saussuria lappa C. B. Clarke. द्वितीय गाछटि काश्मीरेर पर्वते प्रचुर परिमाणे पाओया जाय, एवं इहार मलम एखनओ क्षत ओ चर्मरोगे व्यवहृत हय। सुतरां इहा कुष्ट।

(४३) क्रमुक (शतपथब्रा० ६.६.२.११; कौशिकसूत्र १९.१०; इत्यादि) क्रमुक (तैत्ति० सं० ५.१.९.३; तै० ब्रा० १.४.७.३)। Morus serrata Roxb. पाञ्जाबे 'किमु' ओ 'क्रुम' नामे परिचित। सम्भवतः इहाइ क्रमुक।

(४४) खदिर (Acacia catechu Willd.)। इहार बहु उल्लेख पाओया जाय। इहार दृढ़, सारवान् काष्ठे बहु द्रव्य (मणि, स्रुव अर्थात् हाता) प्रस्तुत करा हइत।

(४५) खजुर (तैत्ति० सं० २.४.९.२) Phaenix sylvestris Roxb.

(४६) खलकुल (बृहदारण्यक ६.३.१३) शङ्कराचार्येर मते कुलत्थ कलाइ (Dolichos biflorus Linn.)

(४७) खल्व (अ० २.३१.१; ५.२३.८; वाज० सं० १८.१२; बृहदारण्यकोपनिषद् ६.३.१३)। अथर्ववेदे इहा जाँताय गुँड़ा करिबार कथा आछे। वाजसनेयिसंहितार टीकाकारेर मते इहा चणक (Cicer arietinum Linn.) शङ्कराचार्येर मते इहा निष्पाव; एवं रत्नमालाय इहाके श्वेतशिम्बी बला हइयाछे (Dolichos lablab Linn.)

(४८) गर्मुत् (तैत्ति० सं० २.४.४.१,२) गन्मुत् (काठकसंहिता १०.११)। शब्दकल्पद्रुमे गर्मुत् शब्द दुइ गाछेर जन्य व्यवहृत हइयाछे, 'मयना' (Medicago denticulata Willd.) एवं 'गड़गड़' गाछ (Coix lachryma-jobi Linn.)। गड़गड़ बुन्देलखण्डे 'गण्डुल, गरुन' एवं मध्यप्रदेशे 'गुर्लु' नामे अभिहित। सम्भवतः वेदेर गर्मुत् गड़गड़ हइबे।

(४९) गवीधुक, गवीधुका, गवेधुक। इहा बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे। इहाते छातु (सक्तु) प्रस्तुत हइत। वैज्ञानिक नाम Polytoca barbata Stapf। शब्दकल्पद्रुमे इहाके गड़गड़ देधान बला हइयाछे।

(५०) गोधूम (Triticum vulgare Vill.) इहा बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे। इहाते छातु प्रस्तुत हइत।

(५१) जङ्गिड़ (अथर्ववेद २.४; १९.३४,३५)। अथर्ववेदे इहाके वनस्पति ओ ओषधि दुइइ बला हइयाछे। इहार चापेर कथा पाओया जाय। कौशिकसूत्रेर टीकाकार दारिल इहाके अर्जुन वृक्ष मने करेन। काँचा वा शुष्क हरीतकीके हिन्दुस्थानीते 'जङ्गी हर' बला हय (Watt's Dictionary of Economic Products)। सम्भवतः इहाइ जङ्गिड़—Terminalia chebula Retz; अर्जुन (Terminalia arjuna Bedd.) नहे।

(५२) जाम्बिल (वाज० सं० २५.३)—महीधरेर मते इहा जम्बीर अर्थात् नेबु—Citrus medica acida Brandis.।

(५३) तण्डुल। बहु स्थले इहार नाम पाओया जाय। इहा जे केवल व्रीहि अर्थात् धानेर 'चाल', ताहा नहे। श्यामा धानेर (शतपथ ब्रा० १०.६.३.२) ओ अपामार्गेर (छान्दोग्योपनिषद् ५.२.४.५) तण्डुलेर कथा पाओया जाय। तैत्तिरीयसंहिताय (१.८.९.३) कर्ण-तण्डुल (जाहार कर्ण अर्थात् awn आछे) ओ अकर्ण-तण्डुलेर (जाहार awn नाइ) नाम आछे। कर्णतण्डुलके unhusked एवं अकर्णतण्डुलके husked rice बला हइयाछे। आमादेर मने हय—कर्ण अर्थे awn। ऋग्वेदे धान चापेर कथा पाओया जाय ना (ज़िम्मरेर Altindisches Leben देखुन)।

(५४) तलाश (अ० ६.१५.३), तलीश। बाङ्लाय पाखियाल—Flacourtia cataphracta Roxb.

(५५) तार्ष्टाघ (कौशिकसूत्र २५.२३; अ० ५.२९.१५)—टीकाकारमते सर्षप।

(५६) तिर्य, तिल (Sesamum indicum DC)—इहा बहुस्थले उल्लिखित हइयाछे। तिलेर डाँटाके तिलपिञ्ज (अ० १२.२.५४), तिलपिञ्जी (अ० २.८.३) बला हइत। इहार काष्ठ ज्वालान हइत। बला हइयाछे, तिलगाछ हेमन्त ओ शिशिरे जन्माय। तिलेर मण्डके तिलौदन बला हइत; इहा खाद्यरूपे व्यवहृत हइत। तैल (बृहदारण्यकोपनिषद् ६.३.२२) वा तौल (अ० १.७.२) तिलेर तैल; इहा कलसे राखा हइत।

(५७) तिल्वक (मैत्रायणीसंहिता ३.१.९; श० ब्रा० १३.८.१.१६; इत्यादि)। चलित कथाय 'लोध' (Symplocos racemosa Roxb.)

(५८) तौदी (अ० १०.४.२४)। पाञ्जाबे Matthiola incana R. Br. के 'तोद्रि' बला हय। इहा कि तौदी?

(५९) त्रायमाणा (अ० ८.२.६)। इहा एक प्रकार ओषधि। बोम्बाइए Delphinium Zalil Aitch et Hesl के त्रयमान बला हय; इहाओ ओषधि। इहा त्रायमाणा हइते पारे।

(६०) दर्भ—बहु स्थले पाओया जाय। अथर्ववेदे इहाके सहस्रपर्ण, शतकाण्ड ओ भूरिमूल बला हइयाछे। इहार हिन्दी नाम 'दभ' एवं बाङ्लाय 'उलु' बले। Imperata arundinacea Cyrilli.

(६१) दूर्वा—बहु स्थले दूर्वार नाम पाओया जाय। ऋग्वेदे बला हइयाछे जे आर्द्रभूमिते दूर्वा जन्माय, एवं श्मशाने इहा रोपन करा हइत। अथर्ववेदे शाण्ड-दूर्वार नाम आछे (१८.३.६)। 'साण्ड' धरिले 'अण्डविशिष्ट' अर्थ करा जाय। ताहा हइले इहाके 'मुथा घास' (Cyperus rotundus Linn.) मने करा जाइते पारे, कारण इहार मूले छोट छोट डिमेर मत कन्द जन्माय। तैत्तिरीय-आरण्यके 'पाक-दूर्वा' कथा पाओया जाय। सायण इहाके परिपक्व दूर्वा बलियाछेन। दूर्वार वैज्ञानिक नाम

Cynodon dactylon Pers.। पाकदूर्वा सम्भवतः Panicum sanguinale Linn. (Digitaria sanguinales Scop)। साधारण लोके इहाके बड़ आकारेर दूर्वा मने करे।

(६२) नग्रोध, न्यग्रोध। इहा बट गाछ—Ficus bengalensis Linn. इहार काष्ठे यज्ञेर पात्र प्रस्तुत हइत। बहु स्थले इहार नाम पाओआ जाय।

(६३) नड़। नाना स्थले इहार नाम पाओआ जाय। इहा ह्रदे जन्माय, वर्षाय वर्धित हय (अ० ४.१९.१) इहाते मादुर प्रस्तुत हइत। नाम Phragmites karka cincta Hooker.

(६४) नराचि (अ० ५.३१.४)। 'जाहा नरेर सहित संश्लिष्ट'—एइ अर्थ धरिया इहाके कोन विषाक्त गाछ बलिया मने करा हइयाछे (वैदिक इंडेक्स)।

(६५) नलद, नलदि, नर्द (अ० ६.१०२.३; ४.३७.३; ऐत० ब्रा० ३.२.४; शांखा० आरण्यक २१.४)। Nardostachys jatamansi D C.।

(६६) नाम्ब—आम्ब देखुन।

(६७) नीवार—(उड़ीधान—इहा वन्य धान्य; धान्ये भेदमात्र—a variety of rice)। बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे।

(६८) नीलाकसाला, नीलागलसाल—सायण इहाके सस्यवल्ली बलेन। आमरा 'नीलवल्ली' नामक गाछेर उल्लेख पाइ; इहार साधारण नाम बाँदा (Vanda roxburghii Br.)। इहा एइ गाछ हइते पारे।

(६९) न्यग्रोध। नग्रोध देखुन।

(७०) न्यस्तिका (अ० ६.१३९.१)। इहाके 'सहस्रपर्णी' बला हइयाछे। सायण इहाके 'शङ्खपुष्पिका' बलेन। वैदिक इंडेक्से इहाके Andropogon aciculatus Retz. बलिया स्थिर करा हइयाछे। अभिधाने शंखपुष्पी कथा पाओआ जाय; इहा शङ्खाहुली नामेओ ख्यात; बाङ्गलाय 'डानकुनी'—Canscora decussata Roem. and Schult.। Andropogon aciculatus Retz. शङ्खिनी—शङ्खपुष्पी नहे। इहार बाङ्गला नाम 'चोरकाँटा'। सम्भवतः डानकुनीइ न्यस्तिका।

(७१) पर्ण, पलास (Butea frondosa Roxb.)। पलास गाछ बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे। इहार काष्ठे थाला, बाटि, हाता, यूप प्रभृति प्रस्तुत करा हइत। इहार छालओ व्यवहृत हइत।

(७२) पाकदूर्वा—दूर्वा देखुन।

(७३) पाटा (अ० २.२७.४; कौशिकसूत्र ३७.१; ३८.१५) कौशिकसूत्रेर टीकाकार इहाके पाठा बलेन। चलित कथाय आकनादि—Stephania hernandifolia Walp.

(७४) पीतदारु—पूतुद्रु देखुन।

(७५) पीला (अ० ४.३७.३)।—अथर्ववेदे इहाके 'अप्सरा' बला हइयाछे। Salvadora persica Linn. के पील बला हय। इहार फले तीव्र गन्ध आछे; छालेओ तीव्र निर्यास आछे। जे रूपे कथाटि व्यवहृत हइयाछे, ताहाते एइ गाछ हइते पारे।

(७६) पीलु—(अ० २०.१३५.१२), कपोत इहार फल खाय। वैदिक इंडेक्से इहाके Careya arborea Roxb. अथवा Salvadora persica Linn. तालिफ शेरिफे पीलुके Careya arborea Roxb. बला हइयाछे। मराठी भाषाय आबार Salvadora persica Linn. के पीलु बले। संस्कृतेओ इहाके पीलु बले। Careya arborea र संस्कृत नाम 'कुम्भी'। सुतरां पीलु (अथर्ववेदेर) Salvadora persica हओआइ सम्भव।

(७७) पुण्डरीक—आण्डीक देखुन। कथाटि बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे।

(७८) पुष्कर। पद्म—Nelumbium speciosum Willd. बहु स्थले इहार नाम पाओआ जाय।

(१०९) शफक (अथर्ववेद ४.३४.५; आपस्तम्बश्रौतसूत्र ९.१४.१४) इहा जलज उद्भिद। सम्भवतः इहा पानीफल (शृङ्गाटक)। इहार फलेर गाये खुरेर मत उच्चता आछे। इहार सङ्गे 'विस' कथार उल्लेख आछे। विस पद्मेर डाँटा।

(११०) शमी (अ० ६.११.१; इत्यादि)। इहा Prosopis spicigera Linn. रोट् बलेन—Mimosa suma Kurz. ओ हइते पारे; इहा 'साँईकाँटा', शमी नय। अथर्ववेदे इहाके केशघ्न, मादक ओ शतशाखायुक्त बला हइयाछे। इहार काष्ठ यज्ञे व्यवहृत हइत।

(१११) शमीधान्य (शत० ब्रा० १.१.१.१०) शिम्बीजात सस्यके (seeds of leguminous plants) शमीधान्य बला हइत (अमरकोष; भावप्रकाश)।

(११२) शाल्मलि (Bombax malabaricum DC.) बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे। इहार काष्ठे रथ प्रस्तुत हइत। इहाके दीर्घतम वृक्ष बला हइयाछे। ऋग्वेदे (३.५३.२२) 'शिम्बल' कथा आछे। सायण इहाके शिमुल फुल मने करेन।

(११३) शर (Saccharum ciliare E.D.) इहाते वाणदण्ड प्रस्तुत हइत। बहु स्थले इहार उल्लेख आछे।

(११४) शालुक (अ० ४.३४.५)। Nymphaea lotus Linn.

(११५) शिंशपा (Dalbergia sissoo Roxb.) इहा ऋग्वेद (३.५३.१७) ओ अथर्ववेदे (६.१२९.१; २०.१२९.७) उल्लिखित हइयाछे। इहार काष्ठ व्यवहृत हइत।

(११६) श्यामक (Panicum frumentaceum Trim.) इहा बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे। इहा पायरार खाद्य छिल। इहा अति क्षुद्र ओ हालका।

(११७) सर्षप (Brassica napus Linn.) षड्विंशतिब्राह्मण (५.२), शांखायनश्रौतसूत्र (४.१५.८) ओ छान्दोग्योपनिषदे (३.१४.३) इहार उल्लेख आछे।

(११८) सह (अ० ११.६.१५)। रोट् साहेबेर मते इहा एक रकम गाछ। ब्लूमफील्ड साहेब इहार अर्थ 'बलवान्' मने करेन। सहा 'बला' गाछेर एकटि नाम—Sida cordifolia Willd.

(११९) सहदेवा (सामविधानब्राह्मण), सहदेवी (अ० ६.५९.२)। सहदेवीर आर एक नाम महाबला—Sida rhombifolia Linn. सहदेवा सम्भवतः Vernonia cinerea Less. इहार बाङ्गला नाम कुकसिम, कालजिरा।

(१२०) सहमान (अ० २.२५.२; इत्यादि)—सायणमते इहार अर्थ 'बलवान्'। वेदिक इंडेक्से इहाके गाछ मने करा हइयाछे।

(१२१) सिलाचि—अरुन्धती देखुन।

(१२२) सिलाञ्जाला (अ० ६.१६.४); टीकाकारमते शलाञ्जल्य; कौशिकसूत्र ५१.१६ शिलाञ्जल; केशव (टीकाकार) इहाके सस्यवल्ली बलेन। अभिधाने शिलाञ्जनी नामे छोट वृक्षेर कथा पाओया जाय (Memocylon edule Roxb.)।

(१२३) स्पन्दन—स्यन्दन देखुन।

(१२४) स्फूर्जक (शत० ब्रा० १३.८.१.१६)—इहा गाब Diospyros embryopteris Pers.)।

(१२५) स्यन्दन (ऋ० ३.५३.१९)—सम्भवतः Ougeinia dalbergisides Benth (हिन्दी सन्दन) रोट् साहेब 'स्पन्दन' पाठ धरिया 'रथ' अर्थ करेन।

(१२६) स्रक्त्य (अ० २.११.२; इत्यादि)। वेबर साहेब-मते इहा बहुकोण स्फटिक (crystal)। टीकाकार इहाके तिलक वृक्ष बलेन। सम्भवतः Clerodendron phlomoides Linn.

(१२७) स्रेकपर्ण (ऐत० ब्रा० २.६,१५; तैत्ति० ब्रा० ३.६.६.३) सायणमते करवीर पत्रेर आकार। करवीर वृक्षेर एक नाम स्रेक—Nerium odorum Soland.

(१२८) स्वधिति (ऋ० ५.३२.१०) रोट् साहेब इहाके कोनो दृढ़ काष्ठविशिष्ट वृक्ष मने करेन। सम्भवतः इहा गाछ-इ नय।

(१२९) हरिद्रु (शत० ब्रा० १३.८.१.१६)। अभिधानकारगण इहाके दारुहरिद्रा बलेन। वेदिक इंडेक्से देवदारु बला हइयाछे। (पूतद्रु देखुन)।

भारतीय संस्कृति का सूत्रपात

अध्यापक डा० श्री सुनीतिकुमार चटर्जी, एम० ए०, डी० लिट्०, कलकत्ता-विश्वविद्यालय

हम लोग अपनी भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के अति प्राचीनत्व के सम्बन्ध में विशेष रूप से सचेत हैं। प्राचीन इतिहास की जिन्हों ने भली भाँति चर्चा नहीं की, परन्तु जिन्हों ने साधारण शिक्षा पाई है, ऐसी हिन्दू-सन्तान इस बात को स्वतः-सिद्ध समझने में अभ्यस्त है, कि सारी दुनिया में सभ्यता का प्रथम प्रकाश हमारे इस भारतवर्ष में ही हुआ और इस प्राचीनतम सभ्यता का सूत्रपात हमारे आर्य पूर्वजों में हुआ था। जगत् में सभ्यता का उद्भव आर्यों की मनीषा का फल है; सभ्यता के कारण जो कुछ कृतित्व मिलना है, वह आर्यों को मिलना चाहिए, और इस के बाद, हम लोग आर्यों के वंशधर हैं, इसलिए हम लोग भी इस कृतित्व के उत्तराधिकारी हैं। हमारी हिन्दू जाति की अति-प्राचीनता के विषय में एक धारणा या संस्कार बचपन से हमारी नसों में जा बैठता है। पुराण की कहानियों में सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इन चार युगों की बात हम पढ़ते हैं, वह कितने लाख वर्ष की बात है। यदि लाखों वर्षों की बात न भी सही, तो निःसन्देह हज़ारों वर्ष की बात तो माननी ही पड़ेगी।

हम लोगों में जिन्हों ने थोड़ी-सी आधुनिक शिक्षा को प्राप्त किया है, साधारणतः इस बात को एक प्रकार से मान लिया है कि भारतवर्ष के बाहर के किसी एक स्थान से सहस्रों वर्ष पहले आर्य लोग इस देश में आ कर बसे, और उस के बाद हिन्दू सभ्यता की प्रतिष्ठा इन आर्यों ने की। जिन को केवल प्राचीन शिक्षा मिली, अथवा जो प्रायः सिर्फ़ संस्कृत की चर्चा करते हैं, वे इस बात पर ध्यान देने की कुछ भी ज़रूरत नहीं समझते, या किसी ज़रूरत को स्वीकार भी नहीं करते;—उन के लिए भारतवर्ष ही आर्य जाति की पितृभूमि है,—भारत के बाहर के किसी स्थान से कभी आर्य लोग यहाँ आए, ऐसा सोचना इन के विचार में एक असम्भव कल्पना है। भारत के बाहर से आर्य लोग आए थे या नहीं, इस अवसर पर इस विषय की कुछ आलोचना हम नहीं करेंगे। सिर्फ़ इतना ही हम कह सकते हैं कि भारत के बाहर ही से आर्यों का यहाँ आगमन हुआ था, ऐसे मतवाद को हम मानते हैं। बाहर से आर्य लोग भारत में आए थे, यह विचार विगत उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग से यूरोप के कई भाषातात्त्विकों के लेख में प्रकट होने और रूप ग्रहण करने लगा।

इंगलैंड में बसे हुए जरमन पंडित फ़्रीद्रिख़् माक्स्-म्यूलर ने ही अपने लेखों और पुस्तकों में इस विचार को फैलाया। माक्स्-म्यूलर ने और उन के अनुयायी कई विद्वानों ने ऐसा अनुमान किया कि आजकल के समय से चार हज़ार वर्ष पूर्व मध्य-एशिया में आर्य जाति वास करती थी; वहाँ प्राकृतिक विपर्यय या और दूसरी किसी घटना के वश आर्य लोगों का वास करना असम्भव हो गया, इसी से वे पश्चिम और दक्षिण के विभिन्न देशों में फैल गए। उन के कुछ झुंड यूरोप में गए, और वहाँ रूस, ग्रीस, इटली, जर्मनी,

फ़्रान्स प्रभृति देश में उपनिविष्ट हुए। इन सब देशों के अधिवासी स्लाव, ग्रीक, इटालीय, ट्यूतन, केल्त् जाति के लोग इन ही के वंशधर हैं। मध्य-एशिया से आर्यों का एक झुंड दक्षिण में आया, वह ईरान में उपविष्ट हुआ, फिर ईरान से उस का कुछ अंश भारतवर्ष में पधारा, इस से भारतीय आर्यों की उत्पत्ति हुई, जिन्हों ने वेद के सूक्त रचे, जो कि भारतीय सभ्यता की जड़ हैं। विज्ञान तथा इतिहास के और विचार तथा मतवाद के साथ यह मतवाद भी यथासमय भारतवर्ष में आ पहुँचा, और अंगरेज़ी-शिक्षित भारतीय लोगों ने बिना प्रतिवाद किए उसे ग्रहण किया। यूरोप में अंगरेज़ और अन्य यूरोपीय जातियों के पढ़े-लिखे लोगों में इस मतवाद की प्रतिष्ठा तुरन्त हुई। संस्कृत, प्राचीन ईरानी, अर्मेनी—एशिया-खंड की तीन सुसभ्य जातियों की ये तीन प्राचीन भाषाएँ, तथा यूरोप की प्रायः कुल जातियों की भाषाएँ—यथा ग्रीक, लातीन, प्राचीन स्लाव, अलबानी, केल्त्, ट्यूतन;—ये सब एक अधुना-विलुप्त मूल या आदि आर्य-भाषा से उत्पन्न हुई। विगत उन्नीसवें शतक के प्रथमार्द्ध में तुलना-मूलक भाषा-तत्त्व-विद्या ने इस तथ्य को निरूपित किया। जब एक "आदि आर्य-भाषा" मानी गई, तब इस की बोलने वाली एक "आदि आर्य-जाति" को भी मानना पड़ा, और साथ साथ यह भी स्वीकार करना पड़ा कि किसी प्राचीन समय में कहीं न कहीं यह जाति वास करती थी। जो लोग इस समय विभिन्न आर्य-भाषाएँ बोलते हैं, वे ज़रूर उन्हीं आदि आर्यों के वंशधर हैं, और वे आजकल दुनिया की सब से अधिक सभ्य जाति गिने जाते हैं। इस के अलावा, प्राचीन जातियों में हिन्दू, पारसीक, ग्रीक, रोमन इत्यादि आर्यभाषी कई जातियाँ भी सभ्यता के विषय में निहायत उन्नत थीं। इस से, आदि आर्य जाति के लोग भी सुसभ्य थे, ऐसा अनुमान करने में आधुनिक आर्य-जातीय अथवा "आर्यम्मन्य" लोगों को कुछ अन्तराय नहीं प्रतीत हुआ। इस "आर्यवाद" को यूरोपीय पंडितों ने आहिस्ता आहिस्ता स्थापित और सुगठित किया। देखा गया कि यूरोप के आधुनिक जातियों के लोग तमाम पृथिवी पर फैल गए—पुर्तगीज़, हिस्पानी, ओलन्दाज़, अंगरेज़, फ़्रान्सीसी, जरमन, स्कान्दिनावीय लोगों ने अफ़्रीका, एशिया, अमरीका, आस्ट्रेलिया इन सब महादेशों में सर्वत्र यूरोप की सभ्यता का प्रचार किया; बिना ज़्यादह तक़लीफ़ उठाए हुए वे लोग उन मुल्कों में अपनी अप्रतिद्वन्द्वी प्रतिष्ठा को खड़ा कर, स्थानीय "नेटिव्" लोगों पर आधिपत्य कर रहे हैं,—उन "नेटिव्" लोगों को सुसभ्य बना रहे हैं (यह तो यूरोपीय विजेताओं की कही बात है)—और जब देखते हैं कि "नेटिव्" लोगों का अवस्थान अपनी जाति के लिए असुविधा-जनक है, अथवा जब वैसा करना आवश्यक समझते हैं, तब उनका समूल उच्छेद भी करते हैं—कई देशों में उच्छेद कर भी चुके। वे "आर्यवाद" के मामले पर, "एक ही इतिहास विभिन्न काल में पुनरावृत्त होता है" (History repeats itself) इस अर्ध-सत्य वचन को काम में लाए। इस समय आर्यभाषी लोग जैसा करते हैं, प्राचीन काल में इन के पूर्वजों ने वैसा ही किया था—इस प्रकार का अनुमान पंडितों ने उपस्थापित किया। इस समय के यूरोपियन आर्यभाषी लोगों के सदृश, सुसभ्य श्वेतवर्ण सुन्दरकान्ति प्राचीन आर्य लोग अपनी पितृभूमि से फैल गये; नाना असभ्य या अर्ध-सभ्य जातियों के देशों पर जा कर, आर्यों ने बिना श्रम के उन्हें जीत लिया, सभ्यता के आलोक से उन्हें जंगली बर्बर अवस्था से उन्नत कर मनुष्यपद-वाच्य बनाया; प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक कारणों से ग्रीस, इटली, भारतवर्ष प्रभृति देशों में नए बसे हुए आर्यों ने नई नई सभ्यता की सृष्टि की। ऐसा व्यापार विशेषतया भारतवर्ष में हुआ था। इस भारतवर्ष में कृष्णकाय असभ्य जंगली अनार्य लोग रहते थे, इन में सभ्य जीवन सभ्य चिंतन कुछ भी न था। आर्य लोग आये। वे अनार्यों से

बहुत उन्नत थे; यह तो स्वत:सिद्ध बात है कि आर्य लोग उन्हें पराजित कर उनके शासक बन बैठते—और ऐसा तो होना ही चाहिए था। चंद अनार्य, आर्य लोगों के क़ब्ज़े में आए, उन्होंने आर्यों को मान लिया, वे आर्यों के अधीन हुए, आर्यों के दास बने, आर्यों ने कृपा कर के अपने समाज में उन्हें एक निम्न स्थान दिया, और वे "शूद्र" कहलाए। किन्तु बहुश: अनार्य लोग आर्यों के हाथ मारे गए। और जिन्हों ने आर्यों की अधीनता को स्वीकार नहीं किया, वे पहाड़ और जंगल में भाग गए, जहाँ कि इन के वंशज, आजकल के कोल-भील-सान्ताल-कुर्कू, गोंड़-कन्ध-उरावं-मालेर, गारो-बोडो-कुकी-नागा अब तक जंगली अवस्था में रहते हैं। सैकड़ों वर्ष पहले भारत में जो आर्य लोग आये थे, वे यूरोप के आर्य लोगों के पूर्वजों के सम्बन्धी थे; इस विचार से, भारत के उच्चवर्णीय हिन्दू, जो कि अपने को विशुद्ध आर्यवंशीय सोच कर मन ही मन अभिमान रखते हैं, अंगरेज़ और दूसरे यूरोपीय गण के स्वगोत्रीय बने—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये सब अंगरेज़ों के दूर-सम्पर्कीय हम-नस्ल या ज्ञाति साबित हुए। ऐसी बात भारत के उच्चवर्ण के लोगों को बुरी न लगी (यह भी याद रखना चाहिए कि उच्चवर्णीय हिन्दू सब से पहले अंगरेज़ी पढ़ने लगे)। ऐसा प्रतीत होता है कि अंगरेज़ लोग, जो भारत पर शासन करते हैं, हम उन्हीं के समान हैं, क्योंकि हम उन की हम-नस्ल हैं, —इस विचार से उच्चवर्णीय हिन्दुओं के मन के निभृत कोण में आनन्द का हिल्लोल-सा बहा। पर इस मनोभाव को स्पष्ट भाषा में ज़ाहिर कर भारतीय जातीय आत्म-सम्मान-बोध पर डंडा मारने को कोई तैयार न था। अंगरेज़ों ने भी इस सम्पर्क को किसी प्रकार से मान लिया, और भारतवर्ष के ब्राह्मण तथा और उच्चवर्ण के हिन्दुओं को (और उन के अनुगामी निम्नश्रेणी के हिन्दू लोगों को भी), our Aryan brother the mild Hindu ऐसी आख्या दे कर उन की पीठ ठोंकी; और अंगरेज़ों की तुच्छता-बोधमिश्र इस उदारता से हमारे बहुत-से लोग आनन्द से लोट-पोट हो गये।

हमारी हिन्दू-जाति विभिन्न जातियों के मिश्रण का फल है। प्राचीन काल में अनुलोम-प्रतिलोम विवाह-द्वारा यह संमिश्रण हुआ था। इस के बाद, तुर्कों के हिन्दुस्तान-विजय के उत्तर काल से, जाति-भेद की कठोरता आ गई, संमिश्रण पूरा नहीं हो सका। इस का नतीजा यह निकला कि हिन्दुओं के विभिन्न समाज या सम्प्रदायों में एक प्रकार का स्वातन्त्र्य-बोध रह गया; कहीं कहीं नई तौर से यह स्वातन्त्र्य-बोध आ गया; विभिन्न श्रेणियों में एक अबाध sympathy या अनुकम्पा का अभाव नवीन रूप से प्रकट हुआ। अनुकम्पा का यह अभाव आधुनिक हिन्दू संसार का सब से बड़ा अभाव है। इस स्वातन्त्र्य या पार्थक्य-बोध के फल-स्वरूप, जो अपने आर्यत्व का अभिमान रखते हैं ऐसे उच्चवंशीय हिन्दुओं के मन में आभिजात्य-बोध भी और सुदृढ़ हुआ; यूरोप से लाई हुई अनार्य-जयी आर्यों की कल्पना ने उसे सहायता दी।

इस सुखद ढङ्ग से हिन्दू-सभ्यता के सूत्रपात का इतिहास तैयार हुआ। कृष्ण-वर्ण कुत्सित-काय असभ्य बर्बर अनार्य जाति स्मरणातीत काल से इस देश में रहती थी। इस जाति का धर्म निहायत निम्न स्तर का था, इस की रीति और नीति क्रूर थी। गौरवर्ण सुसभ्य आर्यों ने आ कर इसे जीत लिया। आर्यों के हाथ हिन्दू-सभ्यता का प्रारंभ हुआ। पहले युग के आर्यों की देवताओं की आराधना को अवलम्बन कर वेद-संहिता बनी; इस के उत्तर काल में उन्हीं की देवताओं की कथाओं पर पुराण ग्रन्थ बने; रामायण, महाभारत और पुराण आर्य राजाओं की पौराणिक कहानी-विषयक पुस्तकें हैं। अनार्य लोगों का धर्म और धार्मिक अनुष्ठान एक-आध

ग्राम्य अनुष्ठान या आख्यान के बीच किसी प्रकार थोड़ा सा रह गया;—निम्न-जातियों में प्रचलित पूजा-पद्धति और देवतावाद में नष्ट-प्राय अनार्य-धर्म चाहे कहीं आत्मगोपन कर के रहता हो, परन्तु इस के कुल चिह्न आर्य-सभ्यता के प्लावन के सामने मिट गए।

इस समय अनार्यों के सम्बन्ध से भारतवर्ष में, विशेष कर के उत्तर-भारत में, एक प्रकार की घृणा का भाव आ गया है। "अनार्य" शब्द ही इस के लिए बहुत अंश में उत्तरदायी है। यदि "अनार्य" शब्द केवल "अन्-आर्य" अर्थात् "जो आर्य नहीं, या आर्य-जाति-सम्पर्कित नहीं" इस अर्थ में प्रयुक्त होता, तो कुछ बात न थी; परन्तु "अनार्य" शब्द का "घृण्य, नीच" ऐसा अर्थ संस्कृत-युग से आ जाने के कारण, यह शब्द सिर्फ़ जाति-वाचक या संस्कृति-वाचक न रहा, यह मानसिक तथा नैतिक अपकर्ष-वाचक हो गया। इस वक़्त हमारे आर्यावर्त्त में हिन्दुओं की सब जातियाँ आर्यत्व का दावा पेश कर रही हैं—सब जातियों की राय है कि वे आर्य—द्विज—हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य—वे शूद्र नहीं, अनार्य नहीं। हिन्दुओं के समस्त समाज समान द्विज हों, आर्य हों या अभिजात हों, अपने को उच्च समझ यथार्थ रूप से उच्च रहने की शक्ति को प्राप्त करें—आर्यानार्य सब ही के लिए हम यह हार्दिक कामना करते हैं।

आर्यों की श्रेष्ठता के विरुद्ध प्रश्न उठाना ही आजकल हिन्दू जाति में heresy या पाखण्डोचित मनोभाव-प्रसूत चिन्ता का फल समझा जायगा। आर्य लोग पृथिवी की प्राचीनतम सभ्य जाति न थे, ऐसी बात कहना, अथवा ऐसी बात का इङ्गित करना, पितृपुरुष की निन्दा करना जैसा या स्वजाति-द्रोहिता जैसा महापातक है—इस प्रकार का मनोभाव, बहुत-से हिन्दुओं के मन में जान से या अनजान से परिव्याप्त है। पर हिन्दू के मन में "सत्यानुसन्धित्सा" (अर्थात् सत्य-निरूपण के लिए अभिलाषा) भी सदा जाग्रत रहती है। हमारे विचार में तीन मनोभाव हमारी हिन्दू-संस्कृति के जड़ हैं—समन्वय, सत्यानुसन्धित्सा और अहिंसा। हमारी जाति को अतीत जीवन में जो कुछ आध्यात्मिक तथा आधिमानसिक उत्कर्ष मिला, इसी सत्यानुसन्धित्सा की बदौलत। हमारी सत्यानुसन्धित्सा-रूप मनोवृत्ति अभी तक सम्पूर्ण रूप से विनष्ट नहीं हुई। इसी से, सत्य की खोज के कारण अगर कुछ संस्कार-विरुद्ध विचार हिन्दू-सन्तान के समक्ष प्रकट किये जायँ, तो चाहे पहले-पहल प्रचलित संस्कार पर कुछ आघात भले ही लगे, परन्तु साधारण हिन्दू प्रस्तुत मामले को अच्छी तरह से समझना चाहता ही है—नूतन तथा सम्पूर्ण रूप से अनपेक्षित होने के कारण ही प्रस्तावित विचार से घृणा नहीं करता और न अन्त तक उस से विमुख हो रह जाता है।

आर्य भाषा संस्कृत का स्थान भारतवर्ष में आर्यों के एकाधिपत्य के पक्ष में प्रबलतम युक्ति स्वरूप है—समग्र हिन्दू-शास्त्र इस आर्य-भाषा ही में निबद्ध हैं। उत्तर-भारत में इस वक़्त एक ही आर्य भाषा (पंजाबी, हिन्दी, बिहारी, बंगला आदि) प्रचलित है। आर्य एकाधिपत्य के विषय में यह दूसरी प्रबल युक्ति है। इस के अलावा संस्कृत शास्त्र के—वेद के न हों, पुराण के सही—मत के अनुसार हमारा इतिहास भारतवर्ष में अनादि काल से धारावाहिक रूप से चला आया है—अनादि काल से अगर न माना जाय तो भी अतिशय प्राचीन काल से तो है ही। भाषा-गत और साहित्य-गत इन दो युक्तियों ने हमें सब से अधिकतया "आर्यवाद"-ग्रस्त बना रक्खा है।

इन युक्तियों के प्रतिपक्ष में कई युक्तियाँ हैं, जिन में मुख्य ये हैं—दाक्षिणात्य तथा दक्षिण-भारत में सुसभ्य अनार्य भाषा का अस्तित्व; संस्कृत-समेत उत्तर-भारत की आर्य-भाषाओं में ओतप्रोत भाव से विद्यमान अनार्य

भाषा का प्रभाव; ख्रीष्ट-पूर्व चतुर्थ शतक के पूर्वकालीन समय के आर्यभाषी हिन्दुओं की संस्कृति के निदर्शन न मिलना; भारत के बाहर आर्य-जाति का इतिहास; और पृथिवी के और प्राचीन स्थानों के इतिहास से भारत के इतिहास का संयोग।

तामिल भाषा अपने विराट् और प्राचीन साहित्य के साथ दक्षिण भारत में खड़ी है,—यही भाषा द्राविड़ों की स्वतन्त्र सभ्यता का एक अनपनेय निदर्शन है, जिस ने आर्य-सभ्यता के सामने सम्पूर्णतया आत्म-बलिदान न किया। वैदिक-भाषा भारत की आर्य-भाषा का प्राचीनतम निदर्शन है, इस भाषा में प्राचीन आर्यपन विशेषतया मौजूद है। पर इस वैदिक भाषा में भी अनार्य भाषा का प्रभाव थोड़ा-सा विद्यमान है। इसके अलावा, जितना इधर हम आते हैं, आर्य-भाषा (संस्कृत और प्राकृत) पर अनार्य-भाषा का प्रभाव उतना ही बढ़ता जाता है। धीरे धीरे आर्य-भाषा को अनार्य-भाषा के अर्थात् कोल और द्राविड़ के साँचे में ढाल दिया गया; आर्य-भाषा ने आहिस्ता आहिस्ता अनार्य-भाषा के घर में अपनी जाति का सत्यानाश किया, इतना समझने में देर नहीं लगती।

दूसरी बात यह है कि हमें रामायण, महाभारत और पुराणों में बड़े बड़े राजाओं के नाम मिलते हैं, एक प्रौढ़ सभ्यता का पता भी इन ग्रन्थों से हमें चलता है। परन्तु रामायण, महाभारत और पुराण के युग की (अर्थात् कम से कम तीन चार हज़ार बरस पूर्व के हिन्दू-युग की) पुरानी इमारतें, हाथ के काम, शिल्प के निदर्शन, ये सब कुछ भी नहीं मिलते। केवल कई हज़ार बरस के "पुराण" और "इतिहास" की कहानियाँ हमारी प्राचीन हिन्दू-संस्कृति के अस्तित्व की एकमात्र प्रमाण स्वरूप विद्यमान हैं। इस साहित्यिक आधार के सिवा दूसरा आधार, जिसे हम "पत्थरिया आधार" कह सकते हैं, हमारे पास मौजूद नहीं। क्या मौर्य-युग की पूर्वकालीन हिन्दू-सभ्यता के निदर्शन कुछ भी नहीं हैं? मिसर, बाबिल देश, असीरिया, लघु एशिया, क्रीट द्वीप—इन सब स्थानों में अब से तीन चार पाँच हज़ार बरस पूर्व की चीज़ें मिली हैं। भारतवर्ष में मोहेन-जो-दड़ो और हरप्पा में जो नगर के खँड़हर और दूसरी चीज़ें मिली हैं, वे सचमुच चार या पाँच हज़ार बरस के पहले की हैं; परन्तु वे आर्य-जातीय लोगों के हाथ के काम नहीं;—जो पंडित इस विषय पर अनुसन्धान कर रहे हैं, उनका विचार तो यही है। इस के अतिरिक्त, भारत के बाहर रहने वाले आर्य जातीय लोगों के इतिहास पर विचार करना है। सब से पहले अपनी आदि वासभूमि से निकल कर इतिहास के क्षेत्र पर (अर्थात् और जातियों के साथ मिलन या संघर्ष में) किस समय आर्य लोग पधारे, उसका कुछ कुछ पता अब चल रहा है। यह तो अब से सिर्फ़ चार या साढ़े चार हज़ार बरस की बात है। इसी समय ग्रीस तथा उत्तर-पूर्व एशिया-माइनर में आर्यों से हमारी पहली भेंट होती है। इस घटना के बहुत काल बीतने के बाद आर्य लोग भारतवर्ष में आये। हमारे विचार से, भारतवर्ष से आर्य लोग बाहर के देशों में गये, ऐसे अनुमान के पक्ष की युक्तियाँ वैसी प्रबल नहीं। शेष बात यह है—भारतवर्ष के इतिहास को और देशों के इतिहास से अलग या विच्छिन्न कर के देखना सही नहीं। प्राचीन काल में पारस्य, बाबिल देश तथा एशिया माइनर इत्यादि मुल्कों से भारतवर्ष घनिष्ठ सम्बन्ध-सूत्र से बँधा हुआ था। उन देशों के साथ जो योगसूत्र भारतवर्ष का था, वह प्राचीन भारत के इतिहास के विवेचन में हमारा एक प्रधान अवलंबन है। उसे छोड़ने से हमें कुछ फ़ायदा न पहुँचेगा। ग्रीस प्रभृति विभिन्न देशों में, विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों और जातियों के लोगों के मिश्रण से किस प्रकार एक

नवीन जाति और नवीन संस्कृति सृष्ट हुई, हमारी हिन्दू-जाति तथा हिन्दू-संस्कृति की सृष्टि की आलोचना करने के समय उस विषय पर भी हमें ध्यान देना चाहिए।

कैसे हिन्दू-सभ्यता का सूत्रपात आरम्भ हुआ, और अपने पूर्ण रूप या पूर्ण वैशिष्ट्य को प्राप्त करने के बाद हिन्दू-सभ्यता कब "स्वे महिम्नि" खड़ी हुई, इन विषयों पर जो मतवाद हमारे विचार में धीरे धीरे प्राचीन भारतीय संस्कृति के आलोचक पंडितों में साधारणतया स्वीकृत होता जाता है और अन्त में जिसे सब ही स्वीकृत करेंगे, मैं अब उस का कुछ दिग्दर्शन कराने की चेष्टा करूँगा। इस विषय को a posteriori रीति से (अर्थात् परिचित तथ्य के आधार पर अनुमान) प्रकट न कर के, a priori रीति से (अर्थात् इतिहास-वर्णन के ढंग से), पौर्व्वापर्य अनुसार पुनर्गठित रूप की वर्णना कर के कहूँगा।

इस समय से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व, लगभग ईसवी ३,००० के आस-पास, मध्य या पूर्व यूरोप के किसी अंश में आदि आर्य जाति वास करती थी। अपनी पितृ-भूमि में आर्य लोग सभ्यता के उच्च स्तर पर पहुँच न सके। वास्तव सभ्यता में ये लोग प्राचीन काल की सुसभ्य जातियों के बहुत पीछे ही थे। पर इन में बहुत-से मानसिक और नैतिक गुण थे; ये लोग एक साथ कृतकर्मा तथा चिन्ताशील, कल्पनाशील तथा दृढ़व्रत जाति थे, और आपस में संघबद्धता का भाव भी यथोपयुक्त था; फिर यह अनुमान होता है कि स्त्री-जाति के विषय में इन में कुछ ऐसी उच्च धारणायें थीं जो आजकल की सभ्यता में भी विद्यमान हैं। आर्य-जाति में कई tribe या गोत्र थे, इन गोत्रों में इन की मूल-भाषा के कुछ कुछ पार्थक्य आ गये। यह आर्य-जाति किन्हीं कारणों से अपनी पितृ-भूमि छोड़ कर पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में चले जाने को बाध्य हुई, देश में अत्यधिक सर्दी का आकस्मिक प्रभाव इस में एक कारण हो सकता है; और यह भी संभव है कि पूर्व और उत्तर से उराल-अल्ताई जाति के लोगों ने आदि आर्यों पर चढ़ाई की, इस से इन्हें अपना प्राचीन वास छोड़ना पड़ा।

जिस समय आर्य लोग, ईसवी सदी के लगभग ३,००० वर्ष पूर्व, पहले अपने देश में थे, और कुछ खेती का काम तथा कुछ गो-मेषादि-पालन इनकी मुख्य वृत्ति थी, उसी समय पृथ्वी के कई अन्य भागों की सभ्यता विशेष ऊँची थी। इन में पहली थी मिसर की सभ्यता, जिस का प्रारम्भ ईसवी साल के पूर्व ४,००० से अधिक वर्ष से था, और जिस की जड़ और भी प्राचीन है। दूसरी—बाविल और असीरिया की सभ्यता, जो मिसर से बराबरी करती है; और इन दोनों से भी अलग एशिया-माइनर और यूनान की प्राचीन सभ्यता है। विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, बड़ी बड़ी इमारतें और बड़े बड़े देव-मन्दिर, वाणिज्य, युद्ध-विग्रह, विजयगाथा, देवतावाद और पुराण-कहानी, पुरोहितश्रेणी, भास्कर्य, मूर्त्तिशिल्प, चित्रविद्या, शिलालेख, मृण्मय लेख, धातुनिर्मित और मृण्मय पात्र इत्यादि विषयों के सहारे इन सभ्यताओं ने रूप ग्रहण किया; आदिम अवस्था के आर्यों में ये सब कुछ न थे—यहाँ तक कि इन में शिल्प-विद्या-विषयक जागृति भी न हो सकी। जब आदिम आर्य लोग अपनी पितृभूमि में थे तब उन्हों ने एक विशेष उपयोगी साधन संग्रह किया—वे घोड़े को अपने वश में लाए। घोड़े पर सवार हो कर, या दो पहिए वाले रथ पर चढ़ कर दूर दूर देश तुरंत अतिक्रम करने का एक उपाय उन्हों ने आविष्कार किया। इस आविष्कार का एक फल यह हुआ, कि आर्य लोग जब पहले पहल इतिहास के रंग-मञ्च पर उतरे, तब पार्थिव सभ्यता में अर्द्ध-बर्बर होते हुए भी, सुसम्बद्ध, सात्माभिमान, कर्मशक्तियुक्त तथा भावनाशक्तियुक्त होने के कारण आसिरीय-बाबिल, एशिया-माइनर और ग्रीस की सुसभ्य जातियों के लिए इन्हें रोकना कठिन काम हो गया। ईसा के क़रीब २,००० वर्ष

पहले, आर्य-जाति इतिहास के क्षेत्र पर (अर्थात्, अपनी पितृभूमि के बाहर दूसरी जातियों के देशों में) सर्वप्रथम दिखाई दी। इन के आगमन का समाचार हमें प्राचीन असीरिया और बाबिल, प्राचीन एशिया-माइनर और प्राचीन यूनान में मिलता है। उस समय भारतवर्ष की अवस्था कैसी थी, यह हम ठीक ठीक नहीं जानते। निःसन्देह उस समय द्राविड़ी और कोल (आस्ट्रिक) श्रेणी के अनार्य लोग, उत्तर-भारत में गंगा और सिन्धु के तीर पर तथा दक्षिण भारत में, अपने जीवनाचार को स्थापित कर के शान्त-भाव से दिन बिताते थे। इतने में आर्य लोग की, जो अब तक कई झुंडों में विभक्त हो चुके थे और इन विभिन्न झुंडों में कुछ कुछ भाषा-गत पार्थक्य भी आ गया, एक शाखा एशिया-माइनर में उपनिविष्ट हुई, जो कि अब "हित्ती" Hittite नाम से हमारे यहाँ प्रख्यात है; भाषा-तात्त्विक लोग इन की भाषा की (जिसे पंडितों ने पढ़ा है) चर्चा कर के ऐसा विचार करते हैं कि हित्ती शाखा के आर्य लोग सबसे पहले आदिम आर्य-संसार से विच्छिन्न हुए, और एशिया-माइनर में आ कर बसे, वहीं स्थानीय जातियों में सुप्रतिष्ठित हो कर उन के शासक बने। हित्ती लोगों की आर्य बोली में मूल आर्य-भाषा की कुछ ऐसी विशेषताएँ संरक्षित थीं, जो कि दूसरी प्राचीन आर्य बोलियों में भली भाँति नहीं मिलतीं (देखना—एड्गार एच्० स्टर्टेवेन्ट्—ए कॉम्पैरेटिव् ग्रामर ऑव दि हिट्टाइट लैंग्वेज, लिग्विंस्टिक सोसायटी ऑव अमेरिका, फिलाडेल्फिया, १९३३, पृ० २६—३३, तथा अन्यान्य पृष्ठों पर दिये विचार)। ईसा के पूर्व द्वितीय सहस्रक के मध्य-भाग में हित्ती लोग एशिया-माइनर में राज्य करते थे; निश्चय ही इसके कुछ शतक पहले वे यहाँ आए होंगे। ईसा के दो सहस्र वर्ष पूर्व, आर्यों के तीन झुंडों का पता हमें चलता है; पहला, ग्रीस-विजयी आर्यों का, जो ग्रीस की प्राचीन सुसभ्य अनार्य जाति के साथ संघर्ष में आए; दूसरा, एशिया-माइनर के हित्ती आर्यों का, जिन के विषय में ऊपर कुछ कहा गया है; और तीसरा, पूर्व के आर्य लोगों का, जो ईसा के पूर्व लगभग २,५०० वर्ष से उत्तर-इराक़, असीरिया और बाबिल देश में आते थे। इन तीनों श्रेणियों के आर्यों में कुछ भाषागत पार्थक्य दिखाई देता है। अतः मूल आर्य-भाषा का परिवर्तन और विभिन्न रूप-ग्रहण का काम कम से कम ईसा के पूर्व तीसरे सहस्रक के प्रथमार्ध से शुरू हुआ।

ऐसे कुछ कारण हमारे समक्ष अब दीखते हैं, जिस से हमारी सभ्यता की उत्पत्ति के इतिहास को मध्य-एशिया के सम्पर्क से छुड़ाना पड़ेगा। जो आर्य भारतवर्ष की ओर चले, वे उत्तर-मेसोपोतामिया की राह से आये,—ऐसा आभास हम पाते हैं। मध्य-एशिया में आर्य पितृ-भूमि का अवस्थान निश्चय करने की सामग्री कुछ नहीं है; यह तो केवल कल्पना-प्रसूत ही है। मेसोपोतामिया से सम्पर्क के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण मिलने के बाद, मध्य-एशिया की बात काल्पनिक साबित हो जाती है। जब से आर्य लोग उत्तर-मेसोपोतामिया में सर्वप्रथम प्रकट हुए, तब से उनके सम्बन्ध में बाबिल देश और असीरिया के लोगों ने जो कुछ कहा, वह ही आर्य लोगों के विषय में सबसे प्राचीन समसामयिक उल्लेख है। इन की कही हुई बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि सुसभ्य असीरीय, बाबिलोनीय तथा एशिया-माइनर की जातियों के बीच आर्य लोग जब आए, वे चाहे कृष्ण-सागर के उत्तर तीर की राह लेकर उत्तर से कौकसस पर्वत अतिक्रम करके आए हों, या चाहे उत्तर ग्रीस के मकदूनिया और थ्रेशिया की राह हो कर कृष्ण सागर के दक्षिण तीर का पन्थ ले कर एशिया-माइनर और मेसोपोतामिया में आए हों। बहुत-से झुंडों में नवागत आर्य लोग पधारे। इन के कुछ गोत्र उन सब स्थानों पर रहते थे और अन्त में वहीं बस गए; इन्हों ने स्थानीय

जातियों के बीच अपने लिए एक गौरवान्वित स्थान कायम कर लिया, और ये कहीं कहीं स्थानीय लोगों को जीत कर उन के शासक बने; यहाँ तक कि आर्य आगन्तुकों के एक झुंड ने (जिसके गोत्र का नाम था Kashshi या Cassite—शायद आर्य-भाषा में इस शब्द का रूप "काशि", "काश्य" हो) बाबिल नगरी पर दख़ल कर कई सदी तक वहाँ राज्य किया। जो आर्य गोत्र वहाँ रह गए, वे धीरे धीरे उस देश के लोगों से मिल गये, और उन्होंने उनकी भाषा को ग्रहण कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को विलुप्त कर दिया। परन्तु इन आर्यों के राजा या मुखियों के नाम, इन के देवताओं के नाम, और इन की भाषा के दो चार शब्दों से पता चलता है कि इन की भाषा कैसी थी। इन सब आधारों से, ख्रीस्ट-पूर्व २,००० से १,२०० तक मेसोपोतामिया और उसके आस-पास उपनिविष्ट हुए आर्यों की अवस्था का कुछ पता भी हमें चलता है। ये आर्य ही इस प्रान्त में सब से पहले घोड़े को लाए। जो भाषा इन में बोली जाती थी, वह वैदिक और प्राचीन ईरानी इन दोनों की जननी थी। अपिच, इनका जो धर्म था, और जिन देवताओं की अर्चना ये लोग करते थे, उन के सम्बन्ध में जो ख़बर हमें मिलती है, उस से प्रतीत होता है कि इन्हीं का धर्म, तथा इन्हीं का देवता-लोक भारतवर्ष में पहुँच कर वैदिक धर्म्म तथा वैदिक देवता-लोक में परिवर्त्तित हो गया। सचमुच मेसोपोतामिया और एशिया-माइनरवाले आर्य-लोग प्राग्-वैदिक या वेद-पूर्व आर्य थे। भारतीय वैदिक-धर्म का सूत्रपात इन्हीं के तथा पारस्य की ओर चले हुए दूसरे आर्यों के बीच हुआ था। और यह बात भी सम्भव है कि मेसोपोतामिया तथा पारस्य में, ये आर्य लोग अपने देवताओं के विषय में जो स्तोत्र या भजन बनाते थे, उन सब स्तोत्र या भजनों में से कुछ कुछ अंश भारतवर्ष तक पहुँचे; भारतवर्ष में नये बनाये हुए और स्तोत्रों के साथ ये पुराने स्तोत्र (जो कि ईसा के पूर्व लगभग २,००० या १,८०० या १,५०० में बनाये गए) भारतीय द्विज, ऋषि या आचार्यों से ईसा के पूर्व लगभग १००० या ९०० में आद्य ब्राह्मी लिपि में लिखित हुए, और "व्यास" नामक किसी ऋषि के द्वारा तीन संहिता-ग्रन्थों में संगृहीत और संरक्षित हुए।

वेद के पूर्व के युग के इन आर्यों के कुछ नाम और उन की भाषा के कुछ शब्द अब दिए जाते हैं। ये नाम तथा शब्द बाबिलीय तथा एशिया-माइनर की प्राचीन भाषाओं में गृहीत हो कर रक्षित हुए। स्थानीय अनार्य-भाषाओं में इन प्राचीन आर्य-शब्दों का रूप तथा उच्चारण ज्यों का त्यों संरक्षित नहीं हो सका। इनके मूल-रूप जो कि हिन्दू-ईरानी-युग की आर्य-भाषा में चालू थे, तथा इन के भारतीय वैदिक भाषानुमोदित प्रतिरूप, बहुत विचार और अनुमान कर निर्धारित किए गए हैं।

देवताओं के कुछ नाम यथा—

[१] Shuriash = वेद-पूर्वीय आर्य-भाषा में * Surias, वैदिक "सूर्यः"।

[२] Maruttash = वेद-पूर्व * Marutas, वैदिक "मरुत:"।

[३] Shimalia = "उज्ज्वल (अर्थात् तुषार-धवल) पर्वताधिष्ठात्री देवी" = वेद-पूर्वीय * Z'himāla = वैदिक "हिम" + "-आल-";

[४] Shugamuna = "महामारी का देवता, ज्योति का देवता" = वेद-पूर्वीय * S'auka-manas = वैदिक "शोक" + "मनः";

([३] और [४] संख्यक दो देवता, भारतवर्ष में वैदिक जगत् से निर्वासित हुए, वेदों में इनका पता नहीं चलता);

[५] Dakash = “नक्षत्रों का पिता” = भारतीय “दक्ष”, सत्ताईस नक्षत्रों का पिता;
[६] Indara = वैदिक “इन्द्र” (“ई-न्द-र”—स्वरभक्तियुक्त रूप);
[७] Mitra = वैदिक “मित्र”;
[८] Nashattiya = वैदिक “नासत्य”;
[९] Uruwna या Aruna = वैदिक “वरुण”, संस्कृत “अरुण”; आकाश तथा सागर का देवता।

राजा या प्रधानों के कुछ नाम—

[१] Abirattash = वैदिक “अभिरथः”;
[२] Shuzigash = वैदिक रूप “सु-जिगः”;
[३] Artamanya = वेदपूर्वीय * Rta-manyas, वैदिक “ऋतमन्यः”;
[४] Arzawiya = वैदिक “आर्जव्य”;
[५] Biriamaza = वैदिक “वीर्यवाज”;
[६] Biridashwa = वैदिक “वृद्धाश्व”;
[७] Dashru = सम्भाव्य वैदिक * “दश्रु” अथवा “दस्र”;
[८] Aitagama = वेदपूर्वीय * Aitagama, वैदिक “एतगाम”;
[९] Indaruta = वेदपूर्वीय * Indarauta, Indrauta, वैदिक “इन्द्रोत”;
[१०] Namyawaza = सम्भाव्य वैदिक * “नाम्यवाज”;
[११] Rushmanya = सम्भाव्य वैदिक “रुचिमन्य”;
[१२] Shatiya = वैदिक “सत्य”;
[१३] Shubandu = वैदिक “सुबन्धु”;
[१४] Shumittarash = वैदिक “सुमित्रः;”
[१५] Shuwardata = सम्भाव्य वैदिक * “सुवर्दात” = “स्वर्दत्त”;
[१६] Teuwatti = सम्भाव्य वैदिक * “ध्यवात्त”;
[१७] Turbazu = “तुर्वश, तुर्वसु”;
[१८] Tushratta = पूर्व वैदिक * Durzhratha = वैदिक “दूरथ”;
[१९] Artashumara = वैदिक “ऋतस्मर”;
[२०] Artatama = वैदिक “ऋतधाम”;
[२१] Dashartti = सम्भाव्य वैदिक * “दासर्त्ति”;
[२२] Mattiwaza = सम्भाव्य वैदिक “मथिवाज”;
[२३] Saushshatar = “सौक्षत्र”; इत्यादि।

हिन्दू-ईरानीय युग की आर्य-भाषा के कुछ शब्द—

[१] Maria = वैदिक “मर्य” (= योद्धा);
[२] Aika = वेदपूर्वीय * Aika, वैदिक “एक”;

[३] Tera = "त्रि, त्रय";
[४] Panza = "पञ्च";
[५] Satta = "सप्त";
[६] Nava = "नव";
[७] Tapashshash = "तपस्",
[८] Wartanna = "वर्त्तनम्"—चक्कर देना।
[९] Vasanna = "वसनम्"—रोकना;

(ये नाम और शब्द, Acta Orientalia XI, i, ii, iii, इन तीन खंडों में प्रकाशित रूसी लेखक N.D. Mironov कर्तृक लिखित Aryan Vestiges in the Near East of the 2nd Millenary B.C. नामक उपयोगी प्रबन्ध से लिए गए हैं; Mironov के संगृहीत जिन नाम और शब्दों की व्युत्पत्ति पर सन्देह है, वे यहाँ नहीं उद्धृत किए गए।) इस प्रकार वैदिक भाषा की साक्षात् जननी-रूपिणी किसी भाषा के उपयोग करने वाले आर्यों को ख्रीस्ट-पूर्व लगभग २,००० से १,५०० में, और उस के बाद भी, मेसोपोटामिया और एशिया-माइनर में हम देखते हैं।

आर्य लोग इन देशों में रहने के समय सुसभ्य Ashur अशुर या "असुर" (अर्थात् आसिरीय-बाबिलोनीय) जाति के प्रभाव से प्रभावित हुए। आसिरीय-बाबिलोनीय जाति की बड़ी बड़ी इमारतें, इन के (विशेषतया आसिरीयों के) शौर्य तथा निठुरपन से आर्य लोग अभिभूत हो गए। असिरीय रीति-नीति ने भी आर्यों पर बहुत प्रभाव डाला। भारतवर्ष में आने के बाद आर्य लोगों के मन में असुर जाति के सम्बन्ध में जो स्मृति निहित थी, वह परिवर्त्तित होकर उत्तर-कालीन हिन्दुओं में प्रचलित, यन्त्र तथा गृह-निर्माण के काम में सुदक्ष, देवता-विरोधी असुर या दानव की कल्पना में रूपान्तरित हुई।

जिन आर्य गोत्रों ने मेसोपोटामिया में उपनिवेश नहीं किया, पर जो पूर्व की तरफ़ आए, वे ही पारसीक तथा भारतीय आर्यों के पूर्वज थे। पर्शु या पार्श्व, मद, शक, पार्थव प्रभृति कुछ आर्य गोत्र पारस्य देश में ही रह गए; भरत, कुरु, मद्र, शिवि, द्रुह्यु, त्रित्सु, पुरु, भृगु प्रभृति विभिन्न गोत्र भारतवर्ष में पधारे। ऐसा अनुमान होता है, कि पारस्य तथा भारतवर्ष के उत्तर पश्चिमांश में एक ही जाति के अनार्य लोग रहते थे, जो कि आर्यों के द्वारा "दास" या "दस्यु" कहलाए।

भारतवर्ष के बाहर ही "दास" या "दस्यु" नाम के अनार्यों के साथ आर्यों का संघर्ष शुरू होना सम्भव है। इस संघर्ष की बात कुछ कुछ वैदिक साहित्य में—ऋग्वेद में—हमें मिलती है। उस के बाद, आहिस्त: आहिस्त: इन अनार्यों के साथ मित्रता सम्बन्ध भी होने लगा। ऐसा अनुमान होता है कि भारतवर्ष में तीन प्रकार के अनार्य रहते थे। [१] Negrito नेग्रिटो या "निग्रोवटु" श्रेणी के अनार्य,—नाटा क़द, रंग ख़ूब काला, आफ़्रिका के निग्रों के माफ़िक नाक और होठ, बाल मेष-लोम सदृश,—ये लोग ज़्यादा कर के सामुद्रिक उपकूल के प्रान्त में रहते थे; अगर सभ्यता की बात कही जाय, तो इन में उच्च सभ्यता का कुछ भी अंश न था; मच्छी मार कर या जंगल में चिड़ियाँ या जानवर का शिकार कर ये लोग गुज़र कर रहे थे;—यह जाति अब बिलकुल विनष्ट हो गई है, सिर्फ़ दक्षिण बिलोचिस्तान में, दक्षिण-भारत में और आसाम प्रान्त में इस का

कुछ अवशेष अभी तक कष्ट से बचा है। सम्भावना अधिक है, कि इस जाति के लोग भारत के प्राचीनतम अधिवासी थे। [२] Austric--आस्ट्रिक जाति—जिस के लोगों ने उत्तर-पूर्व की राह से—आसाम-प्रान्त—बर्मा तथा हिन्द-चीन—से भारतवर्ष में प्रवेश किया। इन का चेहरा किस प्रकार का था, यह तो हम ठीक से नहीं जानते, ऐसा प्रतीत होता है कि ये भी क़द में नाटे थे, इन की नाक भी चपटी थी; और जो बोली ये लोग बोलते थे, उसी से मध्य भारत की "कोल" बोलियाँ, और (आसाम की) खासी या खसिया बोली उत्पन्न हुई। इन की और शाखाएँ हिन्द-चीन, मालय देश तथा द्वीपमय भारत के द्वीपपुञ्ज में, एवं प्रशान्त महासागर के द्वीपों में फैल गईं। भारतवर्ष में तो गंगा की उपत्यका में, तथा मध्य और दक्षिण भारत में ये लोग ज़्यादा फैले। हिमालय-प्रान्त में भी ये थे, इस का प्रमाण भी है। धान की खेती, केला नारियल आदि कुछ फलों का उत्पादन, तथा आनुष्ठानिक और सामाजिक जीवन में पान-सुपारी का व्यवहार—हिन्दू-सभ्यता को ये वस्तुएँ आस्ट्रिक जाति का दान हैं, ऐसा प्रतीत होता है। और इस के अलावा, इन में प्रचलित धर्म-विश्वास तथा आचार-अनुष्ठान हमारे हिन्दू पुनर्जन्मवाद के अन्तराल में और हमारी हिन्दू पूजा-पद्धतियों में तथा विवाह और श्राद्ध के बहुत अंगों में छिपे हुए रहते हैं। आस्ट्रिक-भाषी जनगण उत्तर-भारत के समतल प्रान्तों में इस समय हिन्दू जनता में रूपान्तरित होकर अपने पृथक् आस्ट्रिक अस्तित्व को भूलकर, इसकी स्मृति तक से बिछुड़ गए हैं। [३] नेग्रिटो तथा आस्ट्रिक के अलावा तीसरी अनार्य जाति जो आर्यागमन के पूर्व से भारतवर्ष में रहती थी, वह द्राविड-जाति है। पंडित लोग सोचते हैं कि द्राविड-जाति दीर्घकाय, सरल-नासिक, और "दीर्घकपाली" थी। भारत के पश्चिम के देशों के लोगों के साथ इनका संयोग या सम्बन्ध था। भारतवर्ष में आर्य लोगों के आगमन के कई सहस्र वर्ष पूर्व, पश्चिम की घाटियों की राह से इनका भारतवर्ष में प्रवेश हुआ था—ऐसा सोचा जाता है। दक्षिण भारत में इनका घनिष्ठ वास हुआ था; पर उत्तर तथा पूर्व भारत में भी इनका प्रसार हुआ था, ऐसा अनुमान होता है। वहाँ ये लोग आस्ट्रिक जाति के लोगों के साथ मिल-जुल के रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आस्ट्रिक और द्राविड, इन दोनों जातियों का बहुत-कुछ मिलन तथा संमिश्रण हुआ था। द्राविड लोग आस्ट्रिकों से अधिक सभ्य थे; ये बड़ी बड़ी इमारतें, बड़े बड़े शहर बनाते थे, हिन्दू-सभ्यता के बहुत-से बाह्य उपकरण इस द्राविड जाति से ही गृहीत हुए; शिव, उमा, विष्णु, श्री आदि देवताओं की विराट् कल्पनाएँ पहले-पहल द्राविड जाति ही में उद्भूत हुईं। योग-साधना के मूल तत्त्व तथा आचार, द्राविड़ जाति की धार्मिक चिन्ता का फल था। मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पा[१] की विराट् सभ्यता द्राविड जाति के लोगों के कृतित्व के परिचायक हैं, ऐसा प्रतीत होता है। द्राविड जाति के लोग आर्यों के सदृश गोपालन करते थे—गोपालन आस्ट्रिक जाति के रिवाज़ में नहीं था; और द्राविड लोग सर्वप्रथम हाथी को अपने वश में लाए, ऐसा भी सम्भव है।

जब आर्य लोग भारतवर्ष में पहले आए, तब इस देश में सुसभ्य (या किसी प्रकार की सभ्यता को प्राप्त की हुई) ये दो अनार्य जातियाँ वास करती थीं। नागरिक संस्कृति का उन्मेष द्राविडों में हुआ था; आस्ट्रिक जाति की सभ्यता मुख्यतया ग्रामीण सभ्यता थी; इनके सामने नवागत आर्यों की सभ्यता यायावर तथा ग्रामीण सभ्यता ही थी। आर्यों के आगमन से इस देश के प्राचीन अनार्य अधिवासियों का पूरी तौर से मूलोत्पाटन या पूर्ण विनाश नहीं हुआ। नये आए हुए आर्य और पुराने बाशिन्दे अनार्य, एक दूसरे के पास रहने लगे। ज़्यादा करके आर्य लोगों का आगमन होना सम्भव नहीं था; फिर विजेता तथा नूतन देश में भाग्यान्वेषण के लिए आए हुए आर्यों में

---

[१] —स्थानीय उच्चारण हरप्पा नहीं, हड़पा है—ज० च०।

स्वजातीय स्त्रियों की कमी होना ही सम्भव और स्वाभाविक है। आर्य, द्राविड, कोल (आस्ट्रिक)—इन तीन जातियों में भावों का आदान-प्रदान और शोणित-संमिश्रण होने लगा। आर्य लोग तो विजेता थे—कम से कम इतना ही मानना पड़ेगा कि पंजाब-प्रान्त में विजेतृ-रूप से आर्यों का प्रवेश हुआ था। आर्यों की भाषा एक शक्तिशाली भाषा थी, और आर्यों की संहति-शक्ति भी असाधारण थी। आर्यों की भाषा आहिस्तः आहिस्तः प्रतिष्ठित हुई; और उनकी संहति-शक्ति के कारण अनार्यों के द्वारा यह भाषा गृहीत होने लगी; सम्भव है कि उस ज़माने में द्राविड तथा कोल (आस्ट्रिक) गोष्ठी की परस्पर-विरोधी अनार्य भाषा और उपभाषा के अनैक्य के गड़बड़ के बीच, आर्य-भाषा सर्वजनग्राह्य भाषा बनी; और इसी से इसका फैलाव सहल हुआ,—समग्र उत्तर-भारत ने अपनी पुरानी द्राविडी तथा कोल (आस्ट्रिक) बोलियों को छोड़ आर्य-भाषा को अपनाया। आर्यों के कुछ धार्मिक अनुष्ठान और देव-देवियों को अनार्य लोगों ने स्वीकार कर लिया; फिर धीरे धीरे अनार्यों के देवता, अनार्यों के धर्मानुष्ठान, अनार्यों के दर्शन और तत्त्वज्ञान, अनार्यों का भक्तिवाद, आर्यों के मन पर अपनी छाप लगाने लगे। अनार्य राजा तथा पुरोहित लोग आर्य-भाषा ग्रहण करने के साथ ही साथ आर्य-समाज (अर्थात् आर्यभाषी समाज) में गृहीत होने लगे—एक क्रम-वर्धन-शील आर्य-भाषी जनता संगठित होने लगी। इस रीति से, संस्कृत भाषा जिसका वाहन था ऐसी एक मिश्र आर्यानार्य-सभ्यता, या हिन्दू-सभ्यता, आर्यों के भारतवर्ष के आगमन के थोड़े समय के बाद धीरे धीरे तैयार होने लगी।

इस उपाय से हिन्दू यानी प्राचीन भारत की जातीय सभ्यता के विशिष्ट रूप से विकासित होने में क़रीब क़रीब एक हज़ार बरस लग गए। आर्यों का भारतवर्ष में आना, उनके मेसोपोटामिया में प्रकट होने के थोड़े समय बाद ही हुआ, ऐसा अनुमान करना अनुचित नहीं होगा। अर्थात् ख्रीस्ट-पूर्व १,५०० के बाद या लगभग १,५०० ख्रीस्ट-पूर्व, यह घटना हुई थी। बुद्ध के समय, क़रीब ५०० ख्रीस्ट-पूर्व के आस-पास हिन्दू-सभ्यता का ढाँचा बन गया। अनार्य, आस्ट्रिक, और दाविड़ देवताओं की लीलाएँ, उनके राजाओं की प्राचीन कहानियाँ,—ये सब आहिस्तः आहिस्तः संस्कृत भाषा में ग्रथित होकर, आर्यों की देव-कहानियों के तथा राज-कहानियों के साथ अच्छेद्य सूत्र के योग से संयुक्त हो गई, और इनको रामायण, महाभारत, और पुराणों में स्थान मिला। यही प्राचीन ग्रीस में भी हुआ था। सम्प्रति ऐसा एक अभिमत प्रकाशित किया गया है, की प्राचीन काल के क्षत्रिय लोग प्रधानतया अनार्य राजन्य सम्प्रदाय के लोग थे; इस देश में स्मरणातीत आर्य-पूर्व युग से जो अनार्य राजा लोग राज करते थे, नव-जात हिन्दू समाज में वे ही अपने पूर्व गौरव को अक्षुण्ण रख कर क्षत्रिय-रूप से गृहीत हुए। फिर ऐसा भी मत किसी विद्वान् ने प्रकट किया कि भारतवर्ष में आर्य-सन्तान के झुण्ड यहाँ आए ही नहीं, सिर्फ़ आर्यों की भाषा और आर्यों के कुछ धार्मिक अनुष्ठान, Culture-drift अर्थात् प्रवहमान संस्कृति-स्रोत के हिसाब से ईरान से भारतवर्ष में आए—मूल आर्य-जाति के आदमी नहीं आए, पर उनकी भाषा आई, और उनका धर्म फैला।

आर्यों की विशिष्ट उपासना-रीति का नाम "होम" है। वैदिक आर्यों के देवता लोग आकाश में रहते हैं। अग्निदेव उन के दूत या मुख-पात्र थे; वेदी बना के उस पर लकड़ी की आग जला के, उसी आग में इन्द्र, वरुण, सूर्य, पूषा, अग्नि, अश्विद्वय, उषा, मरुद्गण प्रभृति देवताओं के उद्देश्य में दूध, घी, यव की रोटी (पुरोडाश), मांस, सोमरस इत्यादि खाद्य वस्तु की आहुति दी

जाती थी। देवता लोग आग के सहारे से उन वस्तुओं को प्राप्त कर खुश होते, और होमकर्त्ता को अश्व, गो, स्वर्ण, पुत्र सन्तान, प्रचुर शस्य आदि दान करते थे। पर "पूजा" की रीति आर्यों में चालू नहीं थी—प्रतिमा या और किसी प्रकार के देवप्रतीक पर फूल, पत्ता, चन्दन, सिन्दूर इत्यादि चढ़ाना, अक्षत, फल मूलादि के नैवेद्य अथवा बलिदान किए हुए पशु के मुण्ड या पात्र से उसका लोहू निवेदन करना—यह सब वैदिक अर्थात् आर्य-अनुष्ठान नहीं था। "पूजा" शब्द भी मूल में द्राविड भाषा का है, ऐसा अनुमान होता है। ये अनार्य अनुष्ठान, अनार्य देवताओं के साथ साथ "संस्कृत" होकर हिन्दू-अनुष्ठान में परिणत हुए।

आर्य लोगों के आगमन के समय भारतवर्ष के प्राचीन अधिवासी लोग द्राविड और कोल आदि अनार्य बोली बोलते थे, इस में कुछ भी सन्देह नहीं। आर्य लोगों के आने के और बसने के बाद बहु शत वर्ष तक ये सब अनार्य भाषाएँ ज़िन्दा थीं। बुद्ध के समय, और उनके उत्तर-काल में पाँच छः सौ साल पर्यन्त उत्तर-भारत के बहु अंश में जन-साधारण अनार्य बोलियाँ बोलते थे, ऐसा अनुमान करने के लिए बहुत-से कारण हैं। इन अनार्य-भाषियों ने जब आर्य-भाषा ग्रहण की, तब इन के धर्म, देवता और आचार-अनुष्ठान भी आर्यीकृत हो गए, वे सर्वजनगृहीत हो गए, पौराणिक देववाद, भक्तिवाद इत्यादि आ गए, और वैदिक धर्म से एक गंभीरतर उन्नततर धर्म-जीवन आर्यानार्य-मिश्र भारतीय समाज में सृष्ट हुआ। अनार्यों के प्रधान देवता शिव, उमा, विष्णु—अनुरूप गुण के आर्य-देवताओं के साथ मिल कर एक हो गए, और इस प्रकार उन्हें भी महनीय बनाया गया। अनार्य वृक्ष-देवता, यक्ष, रक्ष, नाग, और दैवी शक्ति के विकास के स्वरूप से कल्पित पशु और पक्षियों की पूजा भी आर्यानार्य-मिश्र नव सृष्ट हिन्दू-जाति में प्रचलित हो गई।

ख्रीस्ट-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्द्ध में जब आर्यों का वैदिक साहित्य, मिश्र आर्यानार्य या हिन्दू-जाति के द्वारा प्राचीन धर्म-शास्त्र रूप से स्वीकृत हो गया, तब प्रायः सब आर्य-भाषियों ने श्रद्धा के साथ उसे ग्रहण किया। हमारी पुरोहित-श्रेणी की (ब्राह्मणों की) प्रतिष्ठा इसी समय हुई। वेद गृहीत होने का एक मुख्य कारण यह था, कि वेद पहले युग के विजेता शक्तिमान् आर्यों का शास्त्र या प्राचीन साहित्य एवं आदरणीय वस्तु था। वेद माने जाने के और ब्राह्मणों का प्राधान्य स्वीकृत होने के बाद, अनार्य-भाषाओं की प्रतिष्ठा होना फिर सम्भव न था। परन्तु अनार्य-भाषाओं ने इतनी जल्दी अपना स्थान नहीं छोड़ा। अनार्य शब्द बहुत कुछ आर्य प्राकृत तथा संस्कृत के भीतर आ गए, अनार्य-चिन्ता-रीति आर्य-भाषा संस्कृत और प्राकृत में भी आ गई। ख्रीस्ट-जन्म के डेढ़ सौ बरस पहले कलिङ्ग के जैन-धर्मावलम्बी राजा खारवेल का जो ब्राह्मी अक्षर में खुदा हुआ प्राकृत भाषामय विराट् अनुशासन है, उसे पढ़ कर किसी को सन्देह तक भी नहीं हो सकता है कि राजा का नाम आर्य-भाषा का नहीं, वरन् द्राविड भाषा का है; द्राविड "कार" शब्द का अर्थ "काला" या "कृष्ण", और "वेलू" शब्द का अर्थ "भाला" या "बल्लम"—मूल *"कारवेल", जिस से शायद "खारवेल" निकला है, उस का संस्कृत अनुवाद हो सकता है "कृष्णर्ष्टि (अर्थात् कृष्ण या भयानक ऋष्टि या बल्लम है जिस का)। दाक्षिणात्य के अन्ध्रवंशीय राजा लोग ख्रीस्टीय युग के प्रारम्भ में राज्य करते थे, इनके प्राकृत-भाषा में लिखे हुए बड़े बड़े अनुशासन हैं; इनके गोत्र नाम इस प्रकार के होते थे—"वाशिष्ठीपुत्र, गोतमीपुत्र, मढरीपुत्र" इत्यादि, परन्तु इनका वंश-नाम "सातवाहन" आर्य-भाषा का

शब्द नहीं; यह शब्द कोल-भाषा का है, और इस का अर्थ "अश्वपुत्र"। जैसे केरल के नायर आदि जातियों में अभी तक दीखता है, तैसे इन में भी मातृगत उत्तराधिकार की रस्म थी, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी फुटकर ख़बरों से हमें आभास मिलता है कि दो ढाई हज़ार साल पहले, भारतीय जीवन में अनार्य उपादान कितने प्रबल थे, और आर्य-प्रभाव कितना छिछला था।

भारतीय हिन्दू-सभ्यता का वय: पूर्व निर्दिष्ट इतिहास के अनुसार बहुत अधिक प्रतीत नहीं होगा। इस बात से हम में बहुत-से सज्जनों के जात्यभिमान तथा आत्माभिमान पर चोट लगेगी। आर्यों के आने के पूर्व अनार्य द्राविड तथा कोल लोगों का इतिहास ज़रूर ही था; उस की बहुत कुछ बातें कुछ रूपान्तरित आकार में संस्कृत पुराणों में रचित हुई हैं। आर्य लोगों के आते ही हिन्दू-जाति के रूप ग्रहण में विशेष रूप से सहायता पहुँची। आर्य और अनार्य का पूर्ण समन्वय हुआ। ख्रीस्ट-पूर्व पहले सहस्रक के द्वितीयार्द्ध में, हिन्दू-जाति तथा सभ्यता के इतिहास में मोटी रीति से दो युग गिने जा सकते हैं—एक, यज्ञ के प्राधान्य का युग, और दूसरा पौराणिक देवताओं के प्राधान्य का युग। सचमुच ख्रीस्ट-पूर्व १,००० से हिन्दू-सभ्यता की प्रतिष्ठा का आरम्भ हुआ। आर्य और अनार्य इन दोनों विभिन्न रंगों के सूत्रों से हिन्दू-सभ्यता-रूप धूप छाया वस्त्र, इसी समय से तैयार होने लगा। ख्रीस्ट-जन्म के ७००-८०० बरसों तक इस सभ्यता का सब से महत्त्व-पूर्ण समय था। पृथिवी के और प्राचीन सभ्यताओं के साथ अगर तुलना की जाय, तो वय के हिसाब से हमारी हिन्दू सभ्यता मिसरी, बाबिलीनीय और ईजियन सभ्यताओं से निहायत आधुनिक है; कुछ अंश में प्राचीन ग्रीक और प्राचीन पारसीक तथा प्राचीन चीनी सभ्यताओं की समकालीन है। पर ग्रीक सभ्यता अपनी विशिष्ट मूर्त्ति को ख्रीस्ट-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्द्ध ही में प्राप्त कर चुकी थी; और चीनी सभ्यता ने अव्याहत गति से लगभग ख्रीस्ट-पूर्व २,००० से शुरू कर ख्रीस्ट-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्द्ध में अपने परिणत रूप को प्राप्त कर लिया था। हमारी प्राचीन हिन्दू-सभ्यता को रोमन (Roman) तथा ग्रीको-रोमन (Græco-Roman) युग की सभ्यता के साथ और चीन के हान् (Han) तथा थाङ्-वंश (T'ang) के युग की सभ्यता के साथ हम तौल कर सकते हैं।

हिन्दू-सभ्यता के अति-प्राचीनत्व के विषय पर जिनकी आस्था है, वे ज्यौतिषिक प्रमाण लाकर इसे साबित करने की कोशिश करते हैं। इस मामले में हम सिर्फ़ दो बात कहना चाहते हैं। पहले—ग्रीक लोगों के साथ परिचय होने के बाद हिन्दू-ज्योतिष ने पुष्टता को प्राप्त किया; वेद-संहिता तथा ब्राह्मणादि प्राचीन ग्रन्थों में जो ज्यौतिषिक उक्तियाँ या उल्लेख हैं, किस अर्थ से उनका विवेचन किया जायगा, इस विषय पर प्रभूत मतानैक्य है। दूसरे—जो महाशय इन ज्यौतिषिक प्रमाणों का ऐतिहासिक आलोचना में उपयोग करते हैं, उनमें ऐकमत्य नहीं; इसी से साबित होता है, कि युक्ति-तर्कानुमोदित विचारशैली का जो एकमात्र पन्थ है, सो हमें एक ही निष्कर्ष पर पहुँचा देगा—उसे इस ज्यौतिषिक आलोचना में स्थान नहीं मिलता। ज्यौतिषिक व्याख्या या सिद्धान्तों से जो अतिप्राचीन तारीख़ों की बात हम कभी कभी सुनते हैं, उनके विरुद्ध इतने अन्य विषय हमारे सामने लाये जाते हैं, जिनके सामने हम इन विभिन्न व्याख्या या सिद्धान्तों में से किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकते।

रामायण, महाभारत, पुराणों में दिए हुए सूर्य तथा चन्द्रवंशीय राजाओं की तालिका—इन सब की ऐतिहासिकता पर बहुत-से अनुसन्धान हो चुके हैं। जो लोग यथारीति प्राचीन इतिहास की आलोचना

करते हैं, उनमें कोई भी रामायण की कहानी की किसी प्रकार की ऐतिहासिकता नहीं मानते। वे केवल इतना ही मानते हैं, कि महाभारत के मूल आख्यान में और महाभारत तथा पुराणों के कुछ उपाख्यानों में कुछ ऐतिहासिकता हो सकती है। कुरुक्षेत्र-युद्ध ख्रीस्ट-पूर्व दश शतक में हुआ था, ऐसा अभिमत दो विशिष्ट ऐतिहासिकों ने (अंगरेज़ एफ़० ई० पर्जिटर ने और भारतीय हेमचन्द्र राय चौधुरी ने) प्रकट किया। इन की आलोचना-शैली उपेक्षा करने की नहीं। महाभारत के पात्र तथा पात्रियों के सम्बन्ध में इतना तक हम कह सकते हैं, कि वे आर्यागमन के पूर्व काल के लोग हो सकते हैं; महाभारत का मूल आख्यान अनार्य राजाओं की कहानी भी हो सकती है,—फिर नवागत आर्य-जाति के लोगों से अनार्यों के मिश्रण और भाषा में उनके आर्यीकरण के साथ ये सब उपाख्यान भी परिवर्तित हुए, पल्लवित हुए, और अन्त में इस से हमारा संस्कृत महाभारत बन गया; ख्रीस्ट-जन्म के आस-पास के किसी समय आर्यानार्य-मिश्र हिन्दू-जाति की एक जातीय सम्पत्ति के रूप से अनार्य तथा आर्यों के प्रागितिहास और विचार का भंडार-स्वरूप यह महाग्रन्थ कायम हो गया।

२

पिछला प्राचीन काल

The Buddha and his Maternal Clan

प्रो० डा० प्रज़्लूस्की, कालेज द फ्रांस, पेरी

[शाक्यमुनि गौतम कहलाते थे और उन की मौसी प्रजापति गौतमी। अतः बुद्ध के घराने में बच्चे पिता की अपेक्षा माता के गोत्र से अधिक संबद्ध रहते प्रतीत होते हैं।

बोधिसत्व-सिद्धार्थ रुद्रक रामपुत्रक के पास ठहरे हैं यह सुन कर उन के पिता शुद्धोदन ने ३०० और मामा सुप्रबुद्ध ने २०० आदमी उन की टहल-सेवा के भेजे, जिन में से उन्होंने क्रमशः तीन और दो को रख कर शेष को वापस लौटा दिया। लंबे उपवास के बाद जब बोधिसत्व फिर भोजन करने को तैयार हुए, तब ये पांचों उन्हें छोड़ बनारस चले गये, जहां बुद्ध ने पहले पहल इन्हें उपदेश दिया।

मूलसर्वास्तिवाद-विनय के अनुसार बुद्ध ने इन में से पहले मातृ-पक्ष वाले दो को और फिर पितृ-पक्ष वाले तीन को उपदेश दिया था। अतः बुद्ध का मातृ-पक्ष के प्रति पक्षपात सिद्ध होता है।

मूल सर्वास्तिवादी त्रिपिटक में इन को अलग अलग ही तीन और दो कहा गया है, पर पाली वाङ्मय में मिला कर पांच कर दिया गया। अतः मूल सर्वास्तिवादी त्रिपिटक में ज़्यादा पुरानी अनुश्रुतियां सुरक्षित रही प्रतीत होती हैं।]

According to *Māhavaṃsa* Yaśodharā bore two daughters, Māyā and Prajāpatī, and also two sons, one of whom was Suprabuddha. The two sisters, Māyā and Parjāpatī, became the queens of S'uddhodana. This king had by his wife, Māyā, a son, who was the Buddha Śākyamuni.[1]

The name of Śākyamuni was *Gautama* and that of his maternal aunt, Prajāptī *Gautamī*, so the Buddha was called after his mother's clan. It appears, therefore, that in his family there was matrilineal descent, and that children were more closely connected with the maternal than the paternal clan.

When King Śuddhodana first heard that his son was stopping with Rudraka Rāmaputra he sent three hundred men, and Suprabuddha sent two hundred to wait on the Bodhisattva. But the latter would retain five of them only as his attendants in whose company he lived. Two of those sent by Suprabuddha were of the maternal clan and three sent by Śuddhodana were of the paternal clan. These attendants at first formed two sets, the Two and the Three. It was not until later that they became the Five.

When after his long fast, the Bodhisattva decided to take food, his attendants forsook him and departed to Benares. To this city, Gautama also came, after obtaining enlightenment.

---

[1] Mahāvaṃsa II, 18—22; Geiger's translation, p. 12.

The *Mūlasarvāstivāda-Vinaya* says that in the morning the Buddha imparted his doctrine to the Two while the other Three went to the city to beg. At noon the six persons took food together. In the evening Gautama taught the Three while the other Two went to collect alms. Gautama abstained from eating in the evening because it was forbidden by the Law.[1]

If Gautama chose to instruct first the men of his mother's clan, we may assume that he intended to show them honour and reverence, which is in agreement with the fact that in the Buddha's family children were more closely connected with the maternal clan.

In later days, under the influence of Brahmanic culture, ancient rites receded; the supremacy of the maternal clan was forgotten and new rules were settled in the Community to regulate ordination and the dignity of Sthavira. In the absence of Buddha, the Community would have a Dean, a bhikṣu ordained previous to the others.[2] Consequently, the first account was completed. *Mūlasarvāstivāda-Vinaya* adds that Kauṇḍinya was ordained previous to the other four and so became the chief of the community.

In the Pali Vinaya, the earlier statement is no longer preserved. It is here related that the Buddha preached his doctrine to the Five. They were all delighted, but the Venerable Kauṇḍinya alone obtained " the pure and spotless Eye of the Truth." He received at once the *upasampudā* ordination. Then the six persons lived on the alms the Three brought home from their begging pilgrimage. Finally Mahānāman and Aśvajit received the *upasampadā* ordination.[3]

In brief, by comparing the two Vinaya, we perceive that (1) in the family of the Buddha, men were more closely connected with the maternal clan and showed special reverence to their maternal kinsmen ; (2) the *Mūlasarvāstivāda-Vinaya* preserves ancient data which are no longer discernible in the Pali Vinaya.

---

[1] Tripitaka ed. Tokyo, xvii, 3, p. 18^b et 25^a.

[2] For further particulars about these points, see my "Concile de Rajagṛha", third part, chap. III.

[3] Cf. Mahāvagga I. 6. 12—38 ; S.B.E., xiii, pp. 92—100.

Note on Takshaśilā and Its Name

प्रो० डा० स्टेन कोनौ, ओस्लो विद्यापीठ, नार्वे

[तक्षशिला प्राचीन भारत का महत्त्वपूर्ण नगर था। सर जौन मार्शल ने इस नगर के पुराने खंडहरों को खुदवाया है, उस से तीन पुराने नगरों के भग्नावशेष प्रकट हुए हैं। (१) भड़ि का खेड़ा, (२) सिरकप, (३) सिरसुक। जिन में भड़ि सब से पुराना हैं। सिरकप भी कम नहीं; तक्षशिला में यूनानियों की बस्ती से पहले की याद तो यह भी दिलाता है। तक्षशिला नाम इन में से किस का था सो कहना ज़रा कठिन है। अभी तक कम से कम इस का कोई प्रमाण नहीं मिला कि भड़ि का नाम भी तक्षशिला था। सब से पुराना तक्षशिला नाम से अंकित अभिलेख, जिस से इस पर कुछ प्रकाश पड़ता, एक ताम्रपत्र पर, मोग के समय का है; उस पर ७८ शक संवत् अंकित है और तक्षशिलए नगरे उत्तरेण प्रचु देशो खुदा है। पर इसके प्राप्तिस्थान का ठीक पता नहीं। जो कुछ थोड़े बहुत निर्देश मिले हैं उन से सिरकप की ओर ही इशारा है। तथा कथित महल से मिले प्याले और चम्मच पर के अभिलेख—उत्तरारामे तक्षशिलए—से भी यही निर्देश मिलता है। सर जौन मार्शल द्वारा प्राप्त चांदी की पत्री और दीपक पर के अभिलेख भी इसी की पुष्टि करते हैं। पर इस सब से, सिवा खोज के लिए एक नई दिशा सूझने के, कुछ सिद्ध नहीं होता।

सर जौन के मतानुसार सरकप हथियाली टीले के पच्छिमी छोर पर बसा था। यह पूरब से दक्खिन-पच्छिम को बढ़ी छोटी-छोटी पहाड़ियों की परम्परा से अलग कटा हुआ एक टीला है। यदि सिरकप में ही तक्षशिला की समाधि है तो कहना होगा कि कदाचित् नाम के उत्तरार्द्ध शिला का अभिप्राय है टीला और तक्षशिला = कटा टीला; जो कि साफ़ ही हथियाली टीले पर घटता है। पर क्या वाङ्मय या अन्य कोई प्राचीन प्रमाण भी इस व्युत्पत्ति का पोषक है।

(१) तक्षशिला के अक्षरार्थ पर प्रकाश डालने वाला सब से पुराना उल्लेख लगभग ३०० ई० पू० के एक अरमइक अभिलेख में है। प्रो० एण्ड्रिएस् के मतानुसार इसे रोमदत्त नाम के नगरू.त के नगर मित्र ने अपने कार्यों की प्रशंसा में खुदवाया था; सम्राट् बिन्दुसार के प्रतिनिधि प्रियदर्शी (अशोक) का इस में उल्लेख है। उक्त प्रोफ़ेसर नगरूत को अरमइक शब्द नगारूठ का अपभ्रंश मानते हैं। नगार = बढ़ई से इस की व्युत्पत्ति हुई है। अतः इस का अर्थ है बढ़ईगिरी। स्पष्ट ही तक्षशिला का अर्थ तक्षणशील समझ कर यह उस का अरमईक अनुवाद हुआ है। भ्रमवश शिला और शील को मिला दिया गया है।

(२) पुराण, रामायण और रघुवंश के अनुसार भरत दाशरथि के बेटे तक्ष का बसाया होने से इस का नाम तक्षशिला पड़ा।

(३) दिव्यावदान का कहना है कि बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में भद्रशिला के राजा बोधिसत्व चन्द्रप्रभ थे, जो बड़े दानी थे। उन के रुद्राक्ष नामक एक ब्राह्मण को अपना सिर काट कर (शिरः छित्वा) देने के कारण ही भद्रशिला का नाम तक्षशिला पड़ गया।

उपर्युक्त दोनों कहानियाँ नाम की व्याख्या के लिए पीछे गढ़ी गई हैं सो स्पष्ट है। मगही प्राकृत में शरः का शिल और तक्ष का तच्छइ या चच्छइ हो जाता है। इसी शब्दसाम्य के कारण तक्षशिला से दूर मगध में इस नाम की व्याख्या के लिए यह कहानी चल पड़ी होगी। गान्धार के सर्वास्तिवादी दिव्यावदान में इस का समावेश वहीं से ले कर किया गया प्रतीत होता है।

बीस बरस हुए प्रो० सिल्व्याँ लेवी ने महामायूरी से उद्धृत कर यक्षों के नामों की एक सूची प्रकाशित की थी। संस्कृत में इस की कई पोथियाँ तथा तिब्बती और चीनी में संघवर्मन् इचिंग और अमोघवज्र द्वारा इसके अनुवाद और रूपान्तर भी मिलते हैं। हर एक प्राचीन नगर के यक्ष का उस में उल्लेख है। इसका श्लोक ३२ वां है—

प्रमर्दनश्च गान्धारे तक्षशिलायां प्रभञ्जनः।
खरपोर्ता महायक्षो भद्रशैले निवासिकः॥

इस भद्रशैल और दिव्यावदान में वर्णित भद्रशिला में सम्बन्ध प्रतीत होता है। पर यह मूल पाठ नहीं सो विभिन्न आदर्श पोथियों के मिलाने से प्रकट हो जाता है। संभवतः दिव्यावदान के प्रभाव से यह पाठ पीछे कर दिया गया है। इचिंग व

संघवर्मा ने अपने अनुवादों में इसके जो रूपान्तर दिये हैं प्रो० कर्लग्रेन के अनुसार उन चिह्नों का सातवीं सदी का जो उच्चारण है वह संस्कृत छडशिला का रूपान्तर है।

तक्षशिला के पड़ोस में छडशिला नाम की एक बस्ती वास्तव में थी, यह बात सरकप से तीन मील दक्खिन-पूरब मार्गल्ला शृङ्खला की उत्तर को बड़ी बाहियों में से एक चपटे टिब्बे पर कल्वान् नाम की बस्ति से मिले एक खरोष्ठी अभिलेख से प्रकट है।

छड का मूल संस्कृत शब्द है छटा = समूह ढेर या पर्वतशृङ्खला, छडशिला यानी पर्वतशृङ्खला या उस पर बसा नगर। इस के मुक़ाबले में तक्षशिला का अर्थ कटा हुआ टीला या उस पर बसा नगर। अतः हथियाली टीले पर बसे नगर का नाम ही तक्षशिला था।

ईसवी सन् से ३०० बरस पहले ही तक्षशिला का असल अभिप्राय भुलाया जा चुका था, यह उक्त अरमइक अभिलेख से स्पष्ट है। पीछे कुशाणों द्वारा इस नगर के उजड़ने पर पड़ोस में उन के बसाये सिरसुक का भी यही नाम पड़ गया।]

Takshaśilā was an important city in ancient India. It is mentioned by Pāṇini; it was known to the Greeks since the time of Alexander the Great, and it is frequently mentioned in Buddhist literature as a famous seat of learning. In the epics, on the other hand, and in later literature it plays a less prominent rôle.

In modern times the ruins of the old city have been excavated, and, more especially, Sir John Marshall has brought to light a long series of highly interesting facts bearing on the history of the old city.

Or rather, traces have been found of three cities: the Bhiṛ Mound, Sirkap, and Sirsukh. The Bhiṛ Mound is evidently the oldest one, but also the Sirkap remains take us back to a very early period, before the Greeks began to settle in Takshaśilā.[1]

We cannot say for certain whether the designation Takshaśilā was applied to the ancient settlements on the Bhiṛ Mound, or came in use only after the Sirkap site had been occupied. None of the inscriptions in which it occurs seems to have been found on the Bhiṛ hill. The oldest is engraved on a copper-plate and is dated in the year 78 of an old Saka era, during the reign of the Saka ruler Moga. It was deposited at a place called Kshema, to the north and in the eastern direction, in the town Takshaśilā (*Takhaśilaye nagare utareṇa prachu deśo*). But we do not know where it was found. The finder mentioned two places in the Lundi Nālā near the Jaṇḍiāl temple; his wife spoke of Gāngu or Chiti, and later on Mr. Delmerick was told that the actual find-place was Togkiā in Sirsukh. None of these indications suit the Bhiṛ Mound, but they may all be referred to Sirkap, if the somewhat uncertain description in the plate means that Kshema was situated north-east of Takshaśilā proper.

The inscription on a vase found in Shahpur just below Sirkap speaks of a stūpa in Takshaśilā (*Takhaśilae*), but we do not know where the vase was actually found.

The inscriptions containing the ancient name of the town found by Sir John Marshall, on the other hand, distinctly point to Sirkap. Within the walls of the ancient town, at a locality known as the Mahal, situated on high ground in a dip at the western end of the Hathiāl spur, were found some ladees with inscriptions stating that they belonged to the northern ārāma of Takshaśilā (*utararame Takshaśilae*, i.e., *uttarārāme Tākshaśilake*). Then we have the well-known silver scroll and a lamp found in chapels to the west and south-west, respectively, of the

---

[1] Cf. Marshall, *Annual Report of the Archæological Survey of India*, 1927-28, p. 60.

Dharmarājikā stūpa on the Chir mound below Sirkap, with inscriptions mentioning the Takshaśilā Dharmarājikā compound (*dhamaraïe Takshaśie*, *Takshaśilami dhamaraïe,* i.e., *dhārmarājike Tākshaśilake*). Here then is the question of a stūpa compound connected with Takshaśilā and not of Takshaśilā itself.

Such indicatious cannot prove anything, but they raise a certain presumption in favour of considering the Sirkap site as the real Takshaśilā.

According to Sir John Marshall,[1] Sirkap occupies the western spur of the hill of Hathiāl. A glance at the map will show that Hathiāl is a well defined hill, being separated by a distinct depression from the main ridge of hills stretching across the whole tract from north-east by east to south-west by west. If the oldest town known under the name of Takshaśilā is represented by the Sirkap ramains, it would then *a priori* seem likely that *śilā*, rock, the last component of the name Takshaśilā, bears reference to the hill now known as Hathiāl. Such attempts at explaining the meaning of the name as are known from literary sources do not, however, seem to favour this explanation.

The oldest one takes us back to the third century B.C., when Aśoka was King Bindusāra's viceroy in the Takshaśilā country, and it is found in the Aramaic inscription which Sir John found at Sirkap.[2] According to the late Professer Andreas[3] this record mentions a certain Romedata, evidently an Iranian, as 'town-friend' of Nagaruta, praises his zeal, and also gives the name of the governor or viceroy Priyadraši. Priyadraši is of course the well-known designation of the later emperor Aśoka, and Romedata must have been his chief official in a place called Nagaruta. Andreas explains *Nagaruta* as standing for *Nagārūtha*, a regular Aramaic abstract noun formed from the base *nagār*, carpenter, the whole meaning 'carpentry'. It is evident that this is meant as a translation of *Takshaśilā*, *taksha* having been identified with the base *takshan,* carpenter, and *śilā* having perhaps being confounded with *śīla*, custom, practice.

If Andreas was right, as I think he was, the Aramaic rendering of the name shows that it was no more immediately intelligible, the final *śilā* being wrongly rendered, but that it was felt to have some connection with the base *taksh*.

The Purāṇas give another explanation of the name. According to the Brahmāṇḍa and the Vāyu it was the residence of Taksha, the son of Bharata. The same story is told by Kālidāsa, Raghuvaṃśa XV, 89, and it has also found its way into the corrupt stanza VII. 101. 11 of the Bombay edition of the Rāmāyaṇa. It is, however, evident that Taksha has simply been invented in order to explain the name, and that the tale is not based on genuine tradition.

A third explanation is indicated in the 22nd tale of the Divyāvadāna: In bygone days Takshaśilā was called Bhadraśilā. In a previous birth the Buddha was king Chandraprabha of Bhadraśilā, who was famous for his liberality and went so far that he cut off his head (*śiraḥ chhittvā*) and gave it to the Brāhmaṇa Raudrāksha.

---

[1] *A Guide to Taxila*, 2nded., Caloutta, 1921, p. 4.

[2] *Guide*, pp. 77 ff.

[3] *Nachrichten von der Gesellschaft der Wissenschaften zu Göttingen*, 1931, pp. 6ff. ; cf. also Hersfeld, *Ep. Ind.*, XIX, pp. 251 ff.

It is evident that the story is meant to explain how the name of the town came to be changed from Bhadraśilā to Takshaśilā. In its Sanskrit form it does not, however, give any such explanation. We can see that *śiraḥ* is meant to explain *śilā*, and *chhittvā* to explain *taksha*. In other words we must think of an original where the word for 'head' might be suggested by *śilā*, and where there was a word meaning 'to cut' which might be connected with *taksha* on one side and *chhid* on the other. Now we learn from Hemachandra, IV, 194, that the Prākrit substitutes of the base *taksh* are *tachchhaï*, *chachchhaï*, etc., and in Māgadhī *śiraḥ* would become *śila*. We are thus led to think of Māgadhī *śilaṃ tachchhittā* as the original form which the Divyāvadāna *śiraḥ chhittvā* has been derived. The story must consequently have been originally told in Māgadhī, and in a country far removed from Takshaśilā, and it is based on a complete misunderstanding of the name. Though the Mūlasarvāstivādins, to whose school the Divyāvadāna belongs, were strongly represented in the north-west, this particular tale cannot accordingly have had its origin there.

The various attempts at explaining the name Takshaśilā do not, as we have seen, help us much. They only show that the meaning of the name must have been lost sight of at a comparatively early time, since the last part *śilā*, could be variously confounded with *śila* and *śiraḥ*.

About twenty years ago[1] Professor Sylvain Lévi published the important Yaksha-catalogue contained in the Mahāmāyūrī. Here a long series of local names are enumerated, each connected with its special Yaksha. The text is found in Sanskrit manuscripts, in Tibetan, and in several Chinese renderings: by Saṅghavarman (A.D. 516), I-tsing (A.D. 705) and Amoghavajra.

In vv. 32 f. of the text we read :

Pramardanaścha Gāndhāre Takshaśilāyāṃ Prabhañjanaḥ.
Kharaportā mahāyaksho Bhadraśaile nivāsikaḥ.

'Pramardana in Gāndhāra, Prabhañjana in Takshaśilā, the great Yaksha Kharaportā residing in Bhadraśaila.'

It is *a priori* likely that Bhadraśaila has something to do with Bhadraśilā, which the Divyāvadāna, as we have seen, gives as the name of Takshaśilā in earlier periods of its existence. We are thus left with the impression that Takshaśilā is represented twice, under its names in two different world-periods.

A look at the various readings will, however, at once show that Bhadraśaila cannot be the original reading, but that it has replaced another name, probably under the influence of the Divyāvadāna story.

Another Sanskrit manuscript gives *Daśaśaile*, which does not help us. Saṅghabhadra and I-tsing, on the other hand, give *Ch'o-to-shï-lo*, which Professor Lévi proposes to restore as *Chhardaśaila,* and Amoghavajra's *T'u-shan*, 'vomit-hill', and the Tibetan *Skyugs-pa-yi-ri*, with the same meaning, look like translations of some such form.

---

[1] Journal Asiatique, xi, v, 1915, pp. 19 ff.

It seems to be evident that *Ch'o-to-shï-lo* is a rendering of the name which originally stood in the text. There is not, however, anything which points to the existence of a *r* in the name. According to Professor Karlgren, Nos. 1219, 1011, 886 and 569, the 7th century pronunciation of the Chinese signs was *Ch'ïät-d'ā-śïäi-lâ*, which looks like a rendering of a *Chhadaśilā* or *Chhaḍaśilā*, and I have no doubt that the latter actually stood in the text, and that *chhaḍa* was thought to be derived from the base *chhṛd*, to vomit.

My reason for thinking so is that *Chhaḍaśilā*, as the name of a locality in the neighbourhood of Takshaśilā, actually occurs in a Kharoshṭhī inscription which Sir John Marshall has unearthed at Kalawān, a site three miles south-east of Sirkap, on one of the flat-topped eminences jutting out on the north side of the Margalla hills.

In my edition of this inscription[1] I have shown that Chhaḍaśilā must have been the name of an old township at the site. And it is evident that Chhaḍaśila contains the same element *śilā*, rock, as Takshaśilā. And since the Margalla hills, where Chhaḍaśilā was situated, are a continuous chain, while Hathyāl, the seat of ancient Takshaśilā, is detached from the main range, it is tempting to derive *taksha* in Takshaśilā from the base *taksh*, to chop, and identify *chhaḍa* in Chhaḍaśilā with the word *chhaṭā*, mass, lump, continuous streak. In this connection it is then of interest that the word *chhaṭā* is of frequent occurrence in Kashmīr works such as the Kathāsaritsāgara and the Rājataraṅgiṇī, because we have every reason for assuming that the Prākrit of Kashmīr was closely connected with the Takshaśilā dialect.

If then Chhaḍaśilā means 'range-hill' and, further, 'town on the range of hills', and Takshaśilā 'chop-hill' and, further, 'town on or below a detached hill' it seems necessary to draw the inference that the name was originally applied to the Sirkap city, which is thus situated. The Aramaic inscription, however, points to the conclusion that the original meaning of the name had already been forgotten in the third century B.C. After the sack of Sirkap by the Kushāṇas the old name might therefore easily be transferred to the new capital, *i.e.*, to the Sirsukh city.

---

[1] J. R. A. S., 1932, pp. 945 ff.

आर्यमञ्जुश्री-मूलकल्प

(श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल, विद्यामहोदधि)

भारतीय-इतिहास आदिम आर्यकाल से ई० स० ३४८ तक पुराणों में—वायु और विष्णु तथा भागवत में (मत्स्य में २४८ ई० ही तक)—अङ्कित है। इस के अनन्तर का लिखित इतिहास आज तक नहीं मिला था।[१] पर अब सौभाग्यवश पूरा इतिहास भगवान् बुद्ध के कुछ काल पहले से मौर्यकाल तक प्रायश: रूपरेखामात्र, और पल्लवितरूप से शकवंश से पालवंश के प्रथम राजा गोपाल के अन्त तक का, संस्कृत में प्राप्त हो गया। यह इतिहास बौद्ध महायान के आर्यमञ्जुश्री-मूलकल्प नामक तन्त्रग्रन्थ में १००० श्लोकों में दिया हुआ है। अर्थात् कोई २०० ई० पू० से ८०० ई० तक १६०० वर्षों का इतिवृत्त इस में है। और यह इतिहास ठीक है। एक ही प्रति इस ग्रन्थ की मिली जो त्रिवन्द्रम (अनन्तशयन) राजधानी (त्रावनकोर राज्य) से म० म० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित हुई। १९२५ ई० में इस का तृतीय खण्ड छपा जिस में यह इतिहास राजव्याकृत नाम के अध्याय में है। यह ग्रन्थ ८०० ई० के लगभग गौड़ अथवा मगध में पालों के राज्य में लिखा गया। ग्रन्थ का शब्दश: अनुवाद तिब्बती भाषा में भारतीय पण्डित कुमार कलश ने १०६२ ई० में किया। अत: ग्रन्थ के प्रामाणिक होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। संस्कृत इस की बौद्धों वाली भाषा प्राकृतमिश्रित है।

मैंने भदन्त राहुल सांकृत्यायनजी की सहायता से तिब्बती ग्रन्थ से पाठ मिला कर इस का बड़े परिश्रम से अध्ययन किया। इस ग्रन्थ में अमूल्य बातें मिलीं जिन से प्राय: सब झगड़े और संशय जिन्हें विन्सेंट स्मिथ आदि इतिहासकारों ने उठा रक्खा था, तै हो जाते हैं। यदि इस का पुराना अनुवाद तिब्बती में न होता तो पाश्चात्य विद्वान् लोग और उन के अनुज अनुयायी कह उठते कि ग्रन्थ आधुनिक है, अब बनाया गया है।

तन्त्रयुक्ति

मञ्जुश्री के राजव्याकृति की तन्त्र-युक्ति इस प्रकार है, पुराना इतिहास बौद्ध धर्म-ग्रन्थों से, फिर प्रान्तिक इतिहास (उत्तर जावा आदि हिन्दुटापुओं के सहित दक्षिण का, पश्चिम और पूरब के भागों का), तब मध्य-देश के साम्राज्य का, फिर गौड़ बङ्गाल का, तथा समाजनेताओं का ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर। बुद्ध के समसामयिक राजाओं का नाम दे कर काशी के—

ब्रह्मदत्त वंश

की तालिका दी है। कोसल और मगध के अभ्युदय के पूर्व काशीवंश का दर्जा सम्राज् वंश का था। कोसल बुद्ध जन्म के पूर्व काशी के अधीनस्थ था। काशी से ही निकल कर शैशुनाक वंश ने मगध पर राज करना शुरू

---

[१] 'कलियुग राजवृत्तान्त' एक नया बनाया हुआ ग्रन्थ अप्रामाणिक, गढ़न्त मात्र हैं जो युरपीय विद्वानों के विचार की छाया पर लिखा गया है, यथा—काच को समुद्रगुप्त का बड़ा भाई कहा हैं, इत्यादि। वे विचार अप्रामाणिक थे।

किया। अर्थात् २०० या ३०० वर्ष बुद्ध और प्रसेनजित् ऐक्ष्वाक के पहले, काशी वाले ही कुरुपाञ्चाल की सीमा से (अथवा कुरु भी शायद उन के नीचे आगया था) अङ्ग तक राज्य करते थे। उस समय वङ्ग का कोई राजा पृथक् न था। केवल तीन बड़े राज्य थे और सब में प्रधान काशीराज्य था; (१) काशी, (२) वत्स (चेदि-सहित) और (३) अवन्ति। अवन्ति उज्जयिनी वीतहोत्रों के सुशासन में थी और कौशाम्बीस्थ युधिष्ठिर के वंशजों के हाथ में वत्स-चेदि। इन तीन ही महाराज्यों में उत्तरीय भारत बँटा हुआ था। काशी के नीचे अवध तथा उत्तरी दक्षिणी विहार (मिथिला मल्ल देश तथा मगध अङ्ग) समस्त था। और काशीराज्य वस्तुत: उस समय पहला साम्राज्य था। वत्स के राजा को मञ्जुश्री ने सब से कुलीन कहा है।

शैशुनाक और नन्दवंश

पौराणिक शैशुनाक वंश के राजा बिम्बिसार से अजातशत्रु के लड़के उदायी तक की चर्चा इस नवोपलब्ध ग्रन्थ में पाई जाती है। लिखा है कि भगवान् बुद्ध के उपदेश उदायी के राज्य में लेखबद्ध किये गये।

नन्द को लिखा है कि वह पहले राजमंत्री था, बड़ा प्रतापी हुआ और बहुत सुयोग्य शासक था पर उस समय का नीचतम मनुष्य है। वर्णन महापद्मनन्द वाला है। नई बात यह है कि यह पहले मन्त्री था। इस का मन्त्री वररुचि बौद्ध था तथा राजा नन्द वैदिक था। ब्राह्मणों का बहुत मान करता था। पाणिनि इस के मित्र थे। मन्त्रिपरिषद् ने राजा का विरोध किया। पर अपने भाग्यवश यह मर गया। मन्त्रिपरिषद् का उस समय बहुत प्रभाव जान पड़ता है।

मौर्य वंश

चन्द्रगुप्त का कोई ४५ वर्ष की अवस्था के लगभग मरना सूचित होता है। क्योंकि बिन्दुसार नाबालग़ी में सिंहासन पर बैठा; उस समय विष्णुगुप्त चाणक्य मंत्री था और परले राज्य अर्थात् अशोक तक कुछ काल मंत्री रहा। विष्णुगुप्त का हाल दो जगहों में दिया है। एक मौर्यवंश के अन्तर्गत और दूसरे जहाँ बड़े बड़े ब्राह्मणों और बौद्ध संन्यासियों का वृत्त (ग्रन्थ के अन्त में) दिया है, वहाँ, चाणक्य को बहुत न्यायी और योग्य शासक कहा है। केवल उस के क्रोध की निन्दा की है। बिन्दुसार को बहुत अच्छा बोलने वाला (वाग्मी) और दृढ़ विचार वाला लिखा है।

पुष्यमित्र

इसे गोमि और गोमिषण्ण नाम से पुकारा है और कहा है कि बौद्धधर्म का इस ने लोप किया। बौद्धधर्म के द्रोहियों के नाम बदल कर दिये हुए हैं। यथा मिहिर (सूर्यगुल) को 'ग्रह' और शशांक को 'सोम'।

यक्षवंश

बौद्धधर्म का उद्धार यक्षवंशी गम्भीर और उस के पिता बुद्धयक्ष ने किया। यक्ष-भूमि इस ग्रन्थ में, तुरकिस्तान (Central Asia), हिमालय के उस पार के देश को कहा है। यक्षवंश के गम्भीर को मैं क(द्)फीस् (Kaphises) समझता हूँ। ग (द्) भी स् का गम्भीर कर दिया गया है। उस के पिता को महद्युति कहा है। हो सकता है कि यह महायुति (Great Fta) का परिबोधक हो।

प्रादेशिक इतिहास

नेपाल और चीन जिस से तिब्बत का अभिप्राय है ('महाचीन' इस ग्रन्थ में चीन को कहा है और 'चीन' तिब्बत को) तथा खोतन-काश्मीर का प्रान्तिक इतिहास, हर्ष के समथ तक का तथा दक्षिण के पल्लव और चालुक्य राजा आदि जो हर्ष के समय में थे उन का तथा भारतीय द्वीपों के उस समय के राजाओं का और पश्चिम में वलभी-कुल तथा यादवों के गणों का हाल दे कर फिर मुख्य इतिहास का—

मध्यदेश के साम्राज्य-क्रम

का वर्णन शकवंश से ले कर पालवंश तक हमारे बौद्ध इतिहास-कार ने दिया है। यह इतिहास बिलकुल इतिहास रूप में है, जैसा पुराणों में राजानुक्रमणिकाएँ दी हुई हैं उसी प्रकार। विशेषता यह है कि बहुतेरे राजाओं का बहुत अच्छा चरित्र-चित्रण है। स्कन्दगुप्त को सर्वश्रेष्ठ गुप्त नृपेन्द्र माना है और समुद्रगुप्त को ऐहिक-सम्राज् मानते हुए लिखा है कि इन के राज्य में ब्राह्मणों की जय थी और मनुष्य तथा पितरों को सब भोग प्राप्त थे। कमी इस में यह है कि वंशों का नाम नहीं दिया है। शकवंश और श्रीकण्ठ-स्थाण्वीश्वरवंश को छोड़, किसी का वंश नाम नहीं है। और कहीं कहीं केवल नाम को पहले अक्षर मात्र से दिया है, जैसे स का रा दि=स्कन्द! इस से मुझे इस इतिहास के हल करने में वही श्रम पड़ा जो कुंजीहीन किसी म्लेच्छित लेख (Code-writing) के पढ़ने में। पर हल हो जाने पर यह इतिहास बहुत ही स्पष्ट हो गया और श्रम मिट गया और उस की जगह सुख का अपूर्व अनुभव हुआ। मैंने समझा, माता सरस्वती ने मेरे ही लिए यह रहस्योद्घाटन रख छोड़ा था। इस का मध्यदेशीय इतिहास ऐसे ठिकाने का है कि विन्सेंट स्मिथ के भ्रम सब दूर हो गए और उन का इतिहास झूठा पड़ गया। मञ्जुश्री के इतिहासकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि एक साम्राज्य आर्यावर्त्त में बराबर लगातार अनवच्छिन्न बना रहा; काशी-राज्य से पाल-राज्य—८०० ई० पू० से ८०० ई० तक—अर्थात् ज़ब तक का इतिवृत्त ग्रन्थ में अङ्कित किया जा सका है तब तक एक साम्राज्य क़ायम रहा। शकवंश के पहले का हाल सब जानते हैं! केवल काशी-साम्राज्य का हाल नया था सो हमने दे दिया है। इस अपने इतिहास के अनुसार, शकवंश से ले कर पालवंश तक आर्यावर्त्त-साम्राज्य के अधिकारी निम्नलिखित राजवंश हुए :—

१. शकवंश, जिनका वंश लोप करनेवाले

२. ३. नाग और सेन अथवा नागसेन हुए।

एक स्थान पर इस साम्राज्यतन्त्र की पुनरुक्ति है अर्थात् गौड़ देश के इतिहास में, जो साम्राज्य-इतिहास के बाद दिया गया है, इस का दुबारा ज़िक्र है। उस में 'नागसेना' की जगह 'नागराज' लिखा है। ये नागराज भारशिव सम्राट् थे। और इन के समधी और नाती सेन नामधारी प्रवरसेन, रुद्रसेन, आदि वाकाटक ब्रह्मक्षत्रिय राजा हुए जो विन्ध्यशक्ति के वंशज और विष्णुवृद्ध वंश के थे। गौडेतिहास में नागों के बाद प्रभविष्णु दाक्षिणात्य का राज्य लिखा है। दाक्षिणात्य से मतलब अन्तर्वेद से दक्षिण विन्ध्य से है, क्योंकि विष्णुवृद्ध वाकाटक वंश विन्ध्य से ही राज्य करता था। प्रभविष्णु से तात्पर्य विष्णुवृद्ध से है। नाग और प्रभविष्णु के अधीन गौड़-मगध का शासन लिखा है। प्रभविष्णु ने वहाँ एक उपराज नियुक्त किया था। लेकिन नागों का ख़ास अपना शासन वहाँ (पूरब में) था। पुराणों में भी लिखा है कि चम्पावती से नवनाग पूरब का

राज्य करते थे। नवनाग का ही (सरकारी) नाम भारशिव था। नव नाम का पहला सम्राट् या बड़ा राजा हुआ जिस ने कुषाणों को मार अन्तर्वेद को स्वतन्त्र किया। इस के सिक्के संयुक्तप्रान्त में वहुत मिलते हैं और नव के उत्तराधिकारी वीरसेन के तो पञ्जाब तक पाये जाते हैं।

यहाँ शकों को मध्यदेश का राजा मानना यह सिद्ध करता है कि कुषाण लोगों को ही हमारे यहाँ शक कहते थे।

४—चौथा वंश गुप्त सम्राजों का है, इन को मूलकल्प ने नृपेन्द्र कहा है अर्थात् Imperial Guptas समुद्रगुप्त से ले कर बुधगुप्त तक अपने इस इतिहास में सम्राज् माने गये हैं। बुध गुप्त का नाम इस ने उकारादि दिया है और इसे कुमारगुप्त (द्वितीय) का उत्तराधिकारी कहा है। कुमारगुप्त द्वि० के बाद बुधगुप्त राजा हुए थे यह शिलालेखों से विदित है। उस समय का एक सम्राजी सिक्का है जिस पर 'उ०' लिखा हुआ है, कोई जानता नहीं था कि यह सिक्का किसका है। अव मालूम हुआ कि यह बुधगुप्त का ही है। इस पर विरुद नाम प्रकाशादित्य है। लिखा है कि उकारादि के वाद गुप्तवंश के दो भाग हो गए, एक गौड़ (वंगाल) में और दूसरा मगध में। तब एक शूद्र पश्चिम से हकारादि चढ़ आया और मगध तक पहुँच गया। यह 'ह०' हूण है अर्थात् तोरमाण। वह काशी में मर गया। उस का लड़का जो बड़ा दुष्ट था घेर कर मार डाला गया। काशी में प्रकटादित्य राजा हुआ और प्रकटादित्य के समय में कामरूप और वर्मा तक राज्य हुआ। पर विन्ध्य में (मालव में) उस के वंश के देव (गुप्त) सिंहराज ने अपने को वहाँ की जनता से राजा बनवा लिया। प्रकटादित्य ने ५४ वर्ष राज्य किया और इसी के समय में शशांक हुआ जिस का नाम सोम कह कर दिया है। प्रकटादित्य का भाई व (वज्र) उस के बाद राजा हुआ। फिर कोई १० वर्ष के अन्दर राज्यवर्द्धन का राज्य हुआ। यह गुप्त-साम्राज्य के टूटने का इतिहास दिया हुआ है। प्रकटादित्य सम्राट् वालादित्य द्वितीय का वेटा था यह सारनाथ के शिलालेख में है। शिलालेखानुसार वह काशी से राज्य करता था। स्मिथ आदि को दूसरे वालादित्य का पता नहीं, उसे पहले वालादित्य से उन नव इतिहासकारों ने मिला दिया है और भ्रान्त हो गए हैं; नतीजा यह हुआ कि गुप्त-साम्राज्य का टूटना उन्हों ने ४०, ५० वर्ष पहले मान लिया।

गुप्तवंश हूणों के ध्वस्त होने पर भी फिर नहीं सम्राज् होने पाया। इस का कारण इस इतिहास में यह मिलता है कि प्रकटादित्य कुमारावस्था में क़ैद किया गया था। इसे गोपराज ने बन्दी किया था। हूण ने इस छोकड़े को मगध की गद्दी दे बनारस में बिठलाया। पर यह राजा उस समय नहीं बल्कि हूण के वेटे ग्रह (अर्थात् मिहिर) के वाद हुआ। लोगों ने इसे नीच समझ भारत का सम्राट् अन्य को माना जो—

५—विष्णुवर्द्धन था। इसे शिलालेखों में विष्णुवर्द्धन यशोवर्मा कहा है। इस के वंश में तीन पीढ़ी तक साम्राज्य रहा। फिर—

६—मौखरिवंश वाले सम्राट् हुए। शिलालेखों के अनुसार निर्मंड (हिमालय) से ले कर अन्ध्र देश तक और मगध से पश्चिम समुद्र तक मौखरियों का राज्य था। पर तो भी स्मिथ आदि की समझ में न आया और उन्हों ने लिखा कि कोई साम्राज्य हर्ष के पहले ५० वर्ष तक न था। यह बात अव भ्रान्त सावित हो गई।

७—मौखरियों के बाद श्रीकण्ठ स्थाण्वीश्वर का वंश दिया है। लिखा है कि हर्ष ने गौड़ के बौद्ध-धर्मद्रोही सोम (शशांक) को पराजित किया। पुण्ड्रवर्द्धन पर युद्ध हुआ और शशांक को यह दण्ड दिया गया कि आमृत्यु वह पुण्ड्रवर्द्धन राज्य के बाहर न जावे। शशांक ब्राह्मण था और उस के समय में वैदिक धर्म का प्रचार हुआ। बौद्ध मठों के मसालों से शहरवालों के मकान पुण्ड्रवर्द्ध में बने।

८—हर्षवर्द्धन के बाद उस का नाती ध्रुवसेन (तीसरा) आर्यावर्त का सम्राट् हुआ। इस के लड़ाई के जहाज़ भी बहुत थे। ताम्रपत्रों में यह चक्रवर्त्ती लिखा है। इसके वंश में कम से कम एक और सम्राट् लिखा हुआ है। फिर—

९—गुप्तवंश की शाखा जो गौड़ में थी और गौड़वंश कहलाती थी उस का साम्राज्य हुआ। इन्हें स्मिथ Later Guptas कहते हैं पर ठीक नाम 'गौड़-गुप्तवंश' होना चाहिए। इन में आदित्यसेन हुआ जिस ने ३ अश्वमेध किए। अपने इतिहास में उस के ३ वंशजों के नाम दिए हैं; देवगुप्त चन्द्रादित्य द्वादशादित्य। चन्द्रादित्य और द्वादशादित्य के सिक्के मिलते हैं और देवगुप्त का नाम शिलालेखों में है।

इन के समय में मगध में कुछ दिन तक राज्य इन के अधीनस्थ राजा यकारादि का हो गया था। यह य० मेरी समझ में यशोवर्मा कन्नौजवाला सोमवंशी राजा है।

१०—लिखा है कि द्वादशादित्य के बाद या उस के समय में बंगाल ने अपना राजा चुनाव से एक शूद्र को बनाया। फिर उस के बाद एक दूसरे शूद्र गोपाल को चुना और उस का वंश चला। इन्हें अब पालवंशी कहते हैं पर इस ग्रन्थ में 'गोपालाः' नाम दिया है अर्थात् गोपालवंश। यह साम्राज्यक्रम दिया हुआ है। इस में विष्णुवर्द्धन, मौखरि, वलभी और गौड़वंश के साम्राज्यक्रम का आधुनिक ऐतिहासिकों को पता न था। न वे यही जानते थे कि शशांक ब्राह्मण था। उसे वे गुप्तवंशज ही समझते थे। न अब तक पुण्ड्रवर्द्धनवाली लड़ाई का कोई हाल जानता था। यह भी लिखा है कि बंगाल में शशांक के बाद कुछ स्वल्प काल तक एक गणराज्य रहा।

राजाओं की जातियाँ

मानो योरपीय लेखकों से चिढ़कर सरस्वती ने इस ग्रन्थ का उद्घाटन किया है। वे बहुतेरे हिन्दुओं को म्लेच्छ कहते थे। यह उन्हें गाली देना है। वे कहते थे कि वलभी कुलवाले हूण थे। इस सब का जवाब इस ग्रन्थ से मिल गया क्योंकि सब वंशों की "पूर्वा" (असलियत) इस में दी हुई है। वलभी कुल को लिखा है कि ये इक्ष्वाकु वंश के थे। इस विषय में श्रीयुत वैद्य की बात ठीक निकली और दूसरों की थोथी ठहरी। गुप्तों को क्षत्रिय लिखा है और हर्षवर्द्धन को वैश्य।

इस ग्रन्थ में बहुत सी नई बातें हैं सब का उल्लेख यहाँ नहीं हो सकता। मैंने इस का सारा तत्त्व एक नये ग्रन्थ में लिख दिया है और पाठ तिब्बती से शुद्ध कर संस्कृत मूल भी दे दिया था। यह ग्रन्थ छप रहा है।

Some Rajput Traditions in South India

प्रो० डा० कृष्णस्वामी ऐयंगर, मद्रास

[अग्निकुल के राजपूतों की उत्पत्ति के साथ जो एक कहानी प्रचलित है, उस की प्राचीनता का पता चलाना बड़ा मनोरंजक होगा। दक्षिण के कुछ प्राचीन राजवंश भी अपने को यज्ञकुण्ड से उत्पन्न अग्निकुलवंशी मानते थे, यह इस लेख के अन्त में दी गई संगम युग की एक प्राचीन तामिल कविता से प्रकट होता है।

इस कविता में पारि नाम के एक वेळ (सरदार) की दो कन्याओं को उसका एक मित्र कपिल नामक ब्राह्मण कवि विवाह के लिए पास के अरैयम के एक दूसरे वेळ इरुँगो के पास ले कर जाता है, और विवाह के लिए प्रार्थना करता है। इसमें वह कन्या के स्वर्गीय पिता का वर्णन कर के इरुंगो के वंश का वर्णन करते हुए उसे ऋषि की यज्ञाग्नि से उत्पन्न द्वारक के एक राजा का वंशज और उस की ४६ वीं पीढ़ी में उत्पन्न कहता है। तामिल ग्रन्थ विश्वपुराणम् के अनुसार यह ऋषि शम्भु था। पुराणों में इस ऋषि का पता नहीं मिलता पर भागवत में इळा की कहानी में इस की ओर निर्देश ज्ञात होता है। तामिल अनुश्रुति यह है कि अगस्त्य मुनि दक्षिण आते समय अपने साथ द्वारका से विष्णु या कृष्ण से कह कर अपने साथ १८ राजा और बहुत से सरदारों के परिवारों को दक्षिण ले आये थे। इससे दक्षिण में द्वारका से आर्य प्रवासियों का आना सिद्ध होता है। कम से कम दक्षिण के राजघरानों में ऐसी अनुश्रुति विद्यमान है। केवल साहित्य से ही अग्निवंश की स्थिति सिद्ध नहीं होती, बल्कि लगभग २०० ई० पू० में नानाघाट वाले नागनिका के अभिलेख में उस के पिता को अंगिकुलवर्धनो कहा है। विद्वानों ने इसे अङ्ग से आया हुआ परिवार समझा है। पर वस्तुतः यह अग्नि का प्राकृत रूप है। तेलुगू भाषा में इसी का अपभ्रंश अग्गि आज भी प्रचलित है। उपर्युक्त वेळ (सरदार) भी उसी स्थान का रहने वाला था जहां नागनिका के पिता के सिक्के पाये गये हैं।

एक दूसरी कविता के अनुसार इसी समय तामिल देश के एक दूसरे काञ्ची के सरदार को विष्णु का वंशधर कहा है। इस के पुरखों में अयोध्या के कुछ एक इक्ष्वाकु राजाओं के नाम हैं। इस के पास के प्रदेश में ही नागार्जुनी कोंडा से हाल में ऐक्ष्वाकुओं के अभिलेख भी मिले हैं। ऐक्ष्वाकुओं का अस्तित्व आन्ध्र अभिलेखों से भी प्रकट होता है। यह सरदार चोल पिता का पुत्र है। बादामी के चालुक्य भी अपने को सूर्यवंशी कहते थे।

उपर्युक्त ऐक्ष्वाकुओं के अभिलेख सब २५० ई० के पहले के हैं। संगम-युग को भी हम ३०० ई० से पीछे का नहीं मान सकते।

It is a fairly well-known fact that there is a tradition connected with some of the Rajput families that they belong to a group called Agnikula, and a rather fanciful tale has been invented to account for the designation Agnikula. It would be interesting therefore to examine how far back this story could be traced, and whether there were any other families of rulers, who claim similar association. The enclosed translation of a Tamil poem seems to contain the story of the founder of a royal family, appearing from out of the sacrificial fire, and thus giving the name to the dynasty, though perhaps the dynasty may, for all that we know, be altogether unconnected with any of the Rajput families of a later time that lay claim to this ancestry. The story of the fire-born family is briefly this.

There was a chieftain by name Pāri, whose demesne lay in the region towards the Western Ghats in the distant south of India. He was one among the seven chieftains, known to Tamil literary tradition, as the last seven patrons of literature. The significance of the tradition is that, in the early stages of development of literature, it had to depend upon private patronage, that is, patronage of individuals as distinct from foundations for the promotion of learning. Among those that have left an impress in this department of patronage a certain number are regarded as pre-eminent, and, obviously on the basis of chronology, they happen to be divided in the Tamil country into the early, middle and later patrons. Either as a matter of chance, or because the number was fixed by design, each one of these groups consisted of seven individuals. The following were the seven belonging to the latest group:—

1. Pehan.
2. Pāri.
3. Kāri.
4. Āay.
5. Adhikan.
6. Naḷḷi, and 7. Ōri.

The poem[1] that celebrates these definitely also associates with them the three far-famed kingdoms of the Tamil land, the Chola, the Pāṇḍya and the Chera. The general disposition of the Tamil country politically was that there were the three kingdoms in the localities, along the coast region generally associated with them, more or less extensive, according to the vicissitudes of their history, and, along with them, a certain part of the territory had to be left in the occupation of petty chieftains who had to maintain their authority by the exercise of military power. Not being rulers of large enough territory to be dignified by the title king, nor coming of the same kind of illustrious ancestry to enjoy the dignity, they are given the smaller title of Veḷs, petty vassal chieftains who owed allegiance to a higher ruler, generally one of the three kings. But one feature attaching to them is the characteristic feature of a disinclination to acknowledge authority and remain loyal, which seems more or less incidental to the exercise of military authority, not the recognised civil authority of ruling sovereigns. Being set over rather somewhat intractable lands not as yet brought into full cultivation and civilised rule, these are sometimes described also as kings of inferior lands, having regard to the character of the country, over which they were set to rule ; being under non-regulation territory, the military protection had to be given to the inhabitants as yet in a comparatively rude and but partially agricultural state of civilization. They are described sometimes as *Kuṟu-Nila Mannar*—kings of lands of inferior fertility, or *Saḷukku-Vendar*—kings of lower standing. Otherwise they are generically described as Veḷs. They may be described as a class of noble families, divided into two parts, a small number of ruling families, and the far larger number connected with ruling families and endogamous at least to the extent of girls being accepted for marriage by the ruling families, the families being hypergamous to that extent. Therefore they are of the same kind, but of inferior degree. The seven chieftains under reference therefore belong to the latter class, to attain anon, a large number of them, eminence both by their rule and by their patronage of letters.

This particular chieftain Pāri, one among the seven, had a life-long friend in the Brahman poet Kapila, a Sangam celebrity. After varying fortunes he died, or fell in battle, leaving behind him two daughters unmarried. As the social etiquette demanded, the life-long friend of the father, the Brahman by birth, and a poet assumed a position in *loco-parentis*, and took the responsibility upon himself of getting the two girls suitably married to discharge his friendly obligation to the late patron. In the course of this interesting mission, he took the girls to a chieftain of similar standing, ruler over the hill called Araiyam, perhaps again in the hilly country of the Western Ghats, by name Irungo, and requested him to accept the girls from him in marriage, the girls who were daughters of Pāri king of Parambil, or Parambū-nāḍu. In doing so, as he was in duty bound he described the parentage of the girls to begin with, and addressed the chieftain in flattering terms alluding to his own distinguished ancestry in the course of which, he refers to him as a chieftain who came of the family of a king of Dvāraka, who came out of the sacrificial-fire of a *Ṛishi*. His ancestors counted 49 generations from the founder, and in direct descent from him and, as coming of that illustrious family, Irungo was therefore eminently worthy of the orphan daughters of his own patron Pāri.

---

[1] Siṟu-Pāṇāṟruppaḍai.

The question arises as to who the king of Dvāraka was who came out of the sacrificial fire and founded the long dynasty of 49. I have not as yet been able to trace in Sanskrit literature the actual story under reference, or the king referred to, or even the name of the *Ṛishi*. But in a Tamil poem known as Viśvapurāṇasāram,[2] there is a reference to a *Ṛishi* by name Śambhu, from whose sacrificial fire a royal family arose. This name is referred to in a similar context in a later Tamil poem also. I have not come upon a Sambhu Ṛishi either in the Mahābhārata or in the Vishṇu Purāṇa, or in the Bhāgavata, but I hope to trace it. So far there is a similar reference in the story of Iḷā in the nineteenth book of the Bhāgvata. This coupled with the reference to Dvāraka seems to indicate that it may be merely a reference to this story of Iḷa, and the forty-nine generations may confirm this. Tamil tradition,[3] of course, it is comparatively later tradition, has it that when Agastya proceeded on his civilising mission to the south, he is said actually to have gone to Dvāraka and taken along with him 18 kings and as many families of chieftains of lower dignity than kings, called Veḷs. Agastya is said to have obtained these from 'the long crowned great one who measured the earth' apparently meaning, of course, Vishṇu as Krishna. The combined result of these seems to justify an emigration southwards from Dvāraka, at least there is tradition to that effect among the ruling families of South India. A translation of the poem with a few notes to explain is annexed for reference. It is not literary references alone that make these allusions to the family of Agni. Some of the chieftains contemporary with the early Sātavāhanas, particularly one chieftain who was the father of the great queen Nāgamika, wife of the great Sātakarṇi and mother of the two princes, whose inscriptions and even representation are found in Nānāghat, refers to her father as *Angia-kula-Vadhano* in Prakrit, which put in Sanskrit would be *Agneya-Kula-Vardhana.* *Angi* in Prakrit for *Agni* is not only correct Prakrit but, apparently borrowed through Prakrit, the word is used in classical Tamil, and in a somewhat modified form *Aggi* is used in Telugu and to some extent in Kannaḍa as well. So the *Angia-kula-Vadhano* is not exactly a family coming from Anga, as was attempted to be explained by Professor Rapson and other numismatists. The chieftain is located by his coins as a Mahāraṭi or Mahārāshṭrika in the region of Mysore where we have to locate this Irungo Veḷ as well.

---

[2] Puṛanānūru Second Ed. of Pandit Dr. S. Iyer p. 313.

[3] References given on same page as note 2.

Before concluding the note I would invite attention to another similar tradition prevalent in the Tamil country rather akin to the Rajput tradition also. A contemporary chieftain of the Tamil land, who ruled Kānchī, is celebrated in another poem[4] of the same group, and there he is referred to as " coming of the race of the great one of the long crown, who measured the earth and is of the colour of the sea "—a circumstantial description for Vishṇu. The chieftain is Iḷam Tiraiyaṅ of Kānchī. He is described as coming in descent from the family of Vishṇu, as being the son of a Chola father, among whose ancestors figure some of the names of the Ikshvāku dynasty ruling in Ayodhya, which the Pratīhāra dynasty of Rajputs give to themselves in later history. Whether the Chola rulers of the south were connected with the Ikshvākus directly or indirectly ; we cannot be quite certain about. But the tradition is there, and several names figure among the Chola genealogies in the legendary part among whom well-known name Sibi is worth mention. Not far removed from this chieftain, we have names of a family of Aikshvākavās, whose inscriptions have come down to us in number in the excavations at Nāgārjunikonda[5] in the south-eastern part of the Nizam's Dominions and bordering on the Krishna District of the Madras Presidency. These Aikshvākavās are also known from certain Andhra inscriptions. Naturally when the early Chāḷukyas rose to prominence in Badami (Vātāpi), early in the sixth century, they lay claim to come from the Ikshvāku family. Therefore then, the Sūryavaṁśa and the Chandravaṁśa get associated with ruling families of the south who are generally regarded as Dravidian. We shall have to leave it to future research to settle the question whether the ruling dynasties of the south were Aryan or Dravidian ; whether they came from the north or whether they were local, and what exactly is the meaning of their associating with their ancestry this connection with the well-known families of the north, which occur in literature not necessarily Brahmanical, at least not all of them Brahmanical. Let us hope that welcome light would come upon us rather sooner than later.

In regard to the chronology of these sources the inscriptions of the Ikshvākus, though undated, are all of them referable to the third century A.D., and the literature from which the references are taken in the former part is a body called Sangam literature by the Tamils, and is referable to a period not later than A.D. 300. This is not the place to go into a discussion of the question; but it may be stated that the political divisions and the geographical distribution of territory, etc., that this body of literature implies could not be located satisfactorily in the fifth or the sixth or the ninth century, all of which periods are suggested by scholars as the age of the Sangam. Not one of those responsible for any of these suggestions has worked it up sufficiently fully to carry conviction. Hence the traditions are traditions in both cases referable generally to the early centuries of the Christian era.

---

[4] Perum-pāṇaṟṟupaḍai pp. 29—31.

[5] Epigraphica Indica, Vol. XVIII.

Puṟanāṉūṟu 201. Addressed by Kapilar to the Chief Vēḷ Irungo of Araiyam

Dost thou desirest knowing who these are? These be then
Daughters dear of Pāri—of Parambil king, who
Gifting away his villages to those who his patronage sought,
Bestowed on creeper *Mullai*, in abiding grace,
His car full equipped—earning thus a never-dying fame.
Far-famed Pāri whose mount the elephant, sounding bells announced
These be daughters mine, all his life their father's friend;
Brahman born and poet eek, I've brought them o'er.
Thou art hero, victor in war, the great Irungo, Veḷ,[1] among Veḷs
Who, springing from the Northern Sage's pit of Sacrifices, held sway
In Tuvarai,[2] with battlements high of copper wrought, in line
Unbroken from father to son, counting seven times seven.
Possessed of elephants in garlands adorned thou art
Puli-kaḍi-māl[3] of flowing garland who, in manly duty,
With lavish hand bestowed your splendid gifts—

---

[1] *Veḷ* is a term applied to a class of people of aristocratic dignity falling into two sections—those that rule, and those of lower standing but worthy of giving girls in marriage to ruling families. These have nothing to do with Beḷḷālas, which, so far as we know, occurs only as personal name of certain rulers of the Hoysala dynasty—there having been four rulers of this name in historical times.

[2] *Tuvarai* is the Tamil equivalent of Dvārakā. The late Mr. Venkayya suggested a connection with Dvārāvati (Haḷebiḍ) the capital of the Hoysalas. Literary references are generally indubitably to Dvārakā in Gujarat, and Haḷebiḍ itself probably traced its name from the northern city of the Yadus.

[3] The term means *the Great one who destroyed a tiger*. How the tiger was destroyed is not explained in this case. In the story of the origin of the Hoysalas, the popular derivation is that a sage in penance exclaimed while a tiger was ready to pounce on him, *Hoy*—hit, addressing a man standing near, by name *Sāla*, the two words combining to give the name Hoysala. Sāla was the founder of the family, and the incident is said to have taken place in the Vāsantikā temple in the village Angaḍi in the Western Ghats in Mysore. It is obvious that the story merely attempts to explain the name. A more prosaic derivation is possible and is not without authority. The killing of a tiger is an act of public benefit, and those that had the courage to do it were duly rewarded for their bravery, with a position leading up to ultimate rule of the region benefited.

Accept these of me in marriage-gift bestowed,
Thou valiant one, lord of the sea-girt earth
With the sky for canopy, lord of hills yielding gold,
Lord of the victory-winning spear, thine army striking fear
In thine enemies, Lord of land of extent undiminished.

The Initial Year of the Little Known Eastern Ganga Era

श्रीयुत र० सुब्बाराव, एम०ए०, एल०टी०, आन्ध्र युनिवर्सिटी, राजमहेन्द्री

[उड़ीसा के गंग राजाओं के ताम्रपत्रों और राजशासनों में गांगेय वंश प्रवर्धमान विजय राज्य संवत् का उल्लेख रहता है। इस संवत् का आरम्भ कब हुआ इस पर विद्वानों में विवाद है। ३४९ से ७२० ई० तक कई तिथियाँ सुझाई गई हैं। लेखक ने इस विषय पर एक लेख १९३० ई० में पटना की छठी प्राच्य-विद्या-परिषद् के अवसर पर पढ़ा था। उस में तथा अपने तेलुगु भाषा के ग्रन्थ कलिङ्गदेशचरित्र में लेखक ने इस संवत् के प्रवर्तन की तिथि ४९३ ई० ठहरायी है। इस के बाद दो ताम्रपत्र और मिलने से सन् १९३१ ई० में लेखक ने एक दूसरे लेख में ४९४ ई० इस की निश्चित तिथि मानी। इस का कारण कदंब राजा धर्मखेडि के, गंग राजा अनन्तवर्मा (२) और उस के पुत्र देवेन्द्रवर्मदेव के समय के दो ताम्रपत्रों में क्रमशः शक सं० ९१३ और गंग कदंब संवत् ५२० का उल्लेख है। इस राजा अनन्तवर्मा का काल इस के पौत्र तथा ५वें उत्तराधिकारी अनन्तवर्मा वज्रहस्त (३) तथा उस के पौत्र चोडगंग के ताम्राभिलेखों की वंशतालिकाओं के आधार पर श० सं० ९०१—३६ सिद्ध हुआ है। उस के लड़के देवेन्द्र ने सिर्फ़ आधा ही वर्ष राज्य किया। उस के उत्तराधिकारी गुण्डम का राज्य-काल ९३८—४१ श० सं० है। इसके बाद मधुकामार्णव गद्दी पर बैठा (शक संवत् ९४१—७०)। मधुकामार्णव का ५२६ गं० सं० का अभिलेख मिला है जिस से सिद्ध है कि पहले और पिछले गंग राजा एक ही थे। इस प्रकार गंग सं० ५२० = श० सं० ९३६-३७। अतः गंग संवत् का आरम्भ गुप्त साम्राज्य के पतन के ठीक बाद ४९५-९५ ई० ठहरता है। पर श्री० जे० सी० घोष ने ज्योतिष द्वारा परिगणन करके सुझाया कि इस का आरम्भ ४९५-९६ ई० होना चाहिए, सो ठीक है। क्योंकि गुण्डम का राज्यकाल ९३८ श० सं० है; अतः देवेन्द्र का समय ९३६-३७ श० सं० न हो कर श० सं० ९३७-३८ अर्थात् १०१५-१६ ई० होना चाहिए।]

A paper on *Ganga Era* was presented by me to the Sixth All-India Oriental Conference held at Patna in December 1930,* wherein I pointed out that several attempts were made by several scholars to fix the initial year of the Ganga Era and such years as they fixed ranged between A.D. 349 and 720. In my paper I adduced new evidences based on copper-plate inscriptions and fixed the initial year of the Era in 493 A.D. I expressed the same view first in my Telugu work *Kalingadêsa-Charitra* published in 1930.

Since that attempt was made, two new Eastern Ganga plates of Ananta Varma and Ananta Varmadêva's son, Madhu-Kāmārṇavadêva, dated Saka year 913 and Ganga Era 526 respectively, were published in 1931 and 1932 in J.B.O.R.S. Vols. XVII and XVIII. After studying the same along with the plates of the Eastern Kadamba King Dharmakhêdi of 520 Ganga-Kadamba Era published in J.A.H.R.S. Volume III, I stated in J.A.H.R.S. Volume V (1931) page 274 that the initial year of the Ganga Era falls in 494 A.D. for the following reasons:—(1) The discovery of the Jirjingi plates[1] of Indravarma of 39 G.E. has thrown new light. On paleographical grounds it is the most important in fixing the Ganga Chronology. Its characters are boxheaded and belong to the beginning of the 6th century A.D. Since the grant is date in 39th G.E., and since its characters obviously belong to the first quarter of the 6th century A.D., we get the beginning of the Ganga Era in or about 490.

---

* J.A.H.R.S. Vol. V, Part 3, pp. 200–04.

(2) The discovery of Madhukamarṇava's plates[2] belonging to the year 526 of Ganga Era is still more important. His successor was Vajrahasta III. According to the genealogy and chronology contained in all his plates, Madhukamarṇava ruled from A.D. 1019 to 1037. If he be supposed to have issued the grant dated 526 G.E. in the first year of his rule only, then the initial year of Era falls in A.D. 493.

(3) The publication of the Simhapura plates[3] of the Kadamba King Dharma Khedi, Gaṅga Kadamba year 520, has led to the solution of this difficult problem. The Ganga and the Ganga-Kadamba Eras are both one and the same as the E. Kadambas were the feudatories of the Eastern Gangas of Kalinga.

(4) The publication of the Mandasa plates[4] of Anantavarma of Saka Year 913 has further helped in the solution of this problem.

From these newly published copper plates of the Eastern Gangas and Kadamba kings, I was able to construct the following Ganga-Kadamba Genealogy and Chronology from which we get the initial year of the Era in A.D. 494-95.

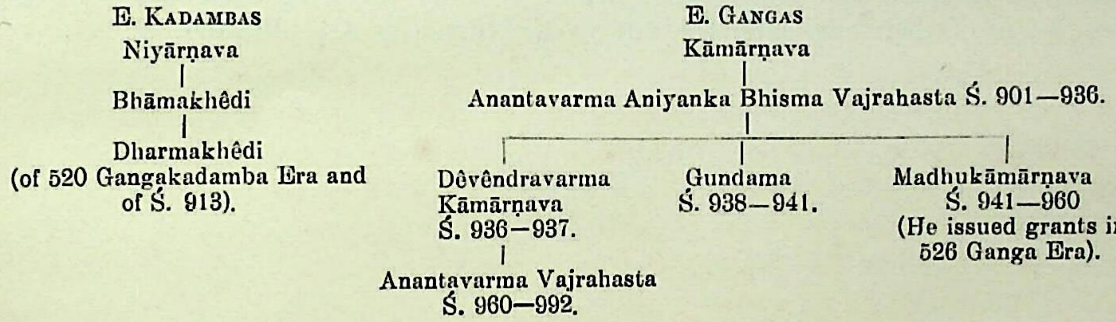
E. KADAMBAS
Niyārṇava
Bhāmakhêdi
Dharmakhêdi (of 520 Gangakadamba Era and of Ś. 913).
E. GANGAS
Kāmārṇava
Anantavarma Aniyanka Bhisma Vajrahasta Ś. 901—936.
Dêvêndravarma Kāmārṇava Ś. 936—937.
Gundama Ś. 938—941.
Madhukāmārṇava Ś. 941—960 (He issued grants in 526 Ganga Era).
Anantavarma Vajrahasta Ś. 960—992.

From the above table, it is clear that 520 G.K. year or G. year corresponds to Saka year 936-37 or the initial year falls in Ś. 416-17 or A.D. 494-495. But since Gundama came to the throne in Ś. 938 and since his predecessor ruled only for half year, his date must be taken as Ś 937-38 or Era A.D. 1015-16. It is by oversight that I mentioned in my article Ś 936-937 for Ś. 937 to 938 and thus gave room to Mr. J.C. Ghosh to correct me.[6] But I am glad that, by astronomical calculations worked out by him, he confirmed my theory which is further supported by Mr. D. C. Sirkar, M.A.[7]

---

[1] J. A. H. R. S. Vol. III, Part I, pp. 49-50.

[2] C. P. No 5 in A. R. on S. I. E. p. for 1918-19. Also J. B. O. R. S. Vol. XVIII.

[3] J. A. H. R. S. Vol. III, pp. 171—80.

[4] J. B. O. R. S. Vol. XVII, Parts II-III.

[5] J. A. H. R. S. Vol. V, Part 4, p. 274.

Two recently published works, viz., *History of Orissa, Vol. I,* (*1930*) by R. D. Banerji and *The Historical Inscriptions of Southern India* (*1932*) by Robert Sewell and Dr. S. K. Iyengar, still assume that the Ganga Era might have begun in A.D. 778 or 741 and A.D. 877-78 respectively. The author of the former work, while criticising the views of Mr. G. Ramadas regarding Ganga Era and while stating that the intial year cannot lie in A.D. 349-50 as stated by him, held that the problem of the history and chronology of the Early Gangas of Kalinga and the Era used by them is still far from being solved. It is a pity he has not lived to see his desire fulfilled. His own assumption that the initial year might have been A.D. 778 or A.D. 741 is wrong and baseless.[8] Similarly Robert Sewell and Dr. S. K. Iyengar in their work noted already assumed that the Epoch was the year of Kamaranava III's accession, viz., 877-78.[8] Similarly, Mr. G. Ramados stated several times that the initial year falls in A.D. 349-50 depending upon astronomical calculations and paleographical evidences.[10] While the latter were demolished by the late H. D. Banerji, the former were made applicable to the year 495-496 also by Mr. J. C. Ghosh. Under these circumstances, his theory cannot stand. The Imperial Guptas who conquered the East Coast up to Kanchi would not have allowed the Gangas to found an Era of their own. It was therefore after their fall in A.D. 495 that the Gangas founded their era. The Mankharis of Magadha also did the same at exactly the same year. Hence, it must be clear that the E. Gangas started an era of their own after the fall of the Guptas in A.D. 495-496."[11]

---

[6] Ind. Ant. Vol. LXI, Dec. 1932.

[7] J. A. H. R. S. Vol. VII, pp. 229-30.

[8] Pages 150, 153, 181, 226 and 239 of his work.

[9] Pages 44, 50, 58 and 357 of this work.

[10] J. B. O. R. S. Vol. IX, Parts 3 and 4, pp. 398—415.

[11] J. A. H. R. S. Vol. V, Part 4, pp. 267—276.

३

मध्य काल

New Light on the History of the Gujarat Rāshṭrakūṭas

प्रो० डा० अल्तेकर, एम० ए०, डि० लिट्, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी।

[लेखक ने गुजरात के राष्ट्रकूट राजाओं के दो नए ताम्रपत्र ए० इं० में प्रकाशित करने को भेजे हैं। उन से गुजरात के राष्ट्रकूटों के इतिहास पर कुछ नया प्रकाश पड़ता है।

(१) यह विदित है कि मान्यखेट के राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष के ख़िलाफ़ विद्रोह हुआ था, और उसे कुछ काल तक गद्दी से उतरना पड़ा था। अमोघवर्ष का जन्म ८०८ ई० में हुआ और ६ वर्ष की अवस्था में वह गद्दी पर बैठा। गुजरात का शासक उस का चचा कर्क उस का संरक्षक था। ८१६ ई० तक यह विद्रोह नहीं हुआ था, यह कर्क के नवसारी-दानपत्र से सिद्ध है। परन्तु सूरत के इस नए ताम्रपत्र में, जो कि ८२१ ई० का है, कर्क द्वारा इस विद्रोह के शमन का उल्लेख हुआ है। अतः ८१६-२१ ई० के बीच यह विद्रोह हुआ।

(२) कावीवाले ताम्रपत्र को कर्क के भाई गोविन्द ने निकाला है, यह देखकर हुल्श और बुह्लर ने अंदाज़ किया था कि गोविन्द ने अपने भाई का राज्य हथिया लिया था। यही कारण है कि गुजरात शाखा के अन्य लेखों में उस का नाम नहीं। पर यह ठीक नहीं। असल में गोविन्द गद्दी पर बैठा ही नहीं। वह तो राजद्रोह को शान्त करने गए हुए अपने भाई कर्क की अनुपस्थिति में उस के प्रतिनिधि की हैसियत से ही राज्य करता था। कावी-राजशासन में वह अपने भाई की प्रशंसा करता है।

(३) कृष्ण अकालवर्ष (३) किस का लड़का था सो अज्ञात है। आकुलेश्वर वाले ८८८ ई० के ताम्रपत्र में कर्क तक की वंशावली दे कर आगे उस की पुत्र-कामना प्रकट की गई है। इस श्लोक का चौथा पाद अपूर्ण है। इस के बाद दन्तिवर्मा का ज़िक्र है और तब कृष्ण अकालवर्ष का। इस के आधार पर यह अनुमान किया गया था कि ध्रुव (२) के बाद उस के दादा ध्रुव (१) के भाई दन्तिवर्मा के, जो कि ८१२ ई० के क़रीब था, लड़के कृष्ण अकालवर्ष ने राज्य किया। पर ध्रुव (२) का यह नया ताम्रपत्र ८८४ ई० का है अतः लगभग ७० वर्ष बाद, अपने भाई के वंश में ३ पीढ़ियाँ राज्य चलने के पीछे, दन्तिवर्मा के लड़के का फिर से गद्दी पर बैठना जँचता नहीं।

इस लेख के शुरू में दी गई वंश-तालिका से पता चलता है कि पिछले चार राजाओं में पहले और तीसरे राजा का नाम ध्रुव है तथा दूसरे कृष्ण अकालवर्ष (१) के बारे में हमें निश्चित पता है कि वह ध्रुव (१) का लड़का है। पोते का नाम दादा के नाम पर रखने की प्रथा है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि कृष्ण अकालवर्ष (२) का पिता भी ध्रुव (२) था।]

Recently owing to the kindness of Dr. D. R. Bhandarkar of the Calcutta University, I have obtained for editing two unpublished copper plate grants of two rulers of Gujarat Rāshṭrakūṭa Branch. These throw fresh light on the history of this dynasty; I would, therefore, discuss their new data in this article.

For facility of reference I first subjoin a genealogical table of this dynasty, giving known dates against each king :—

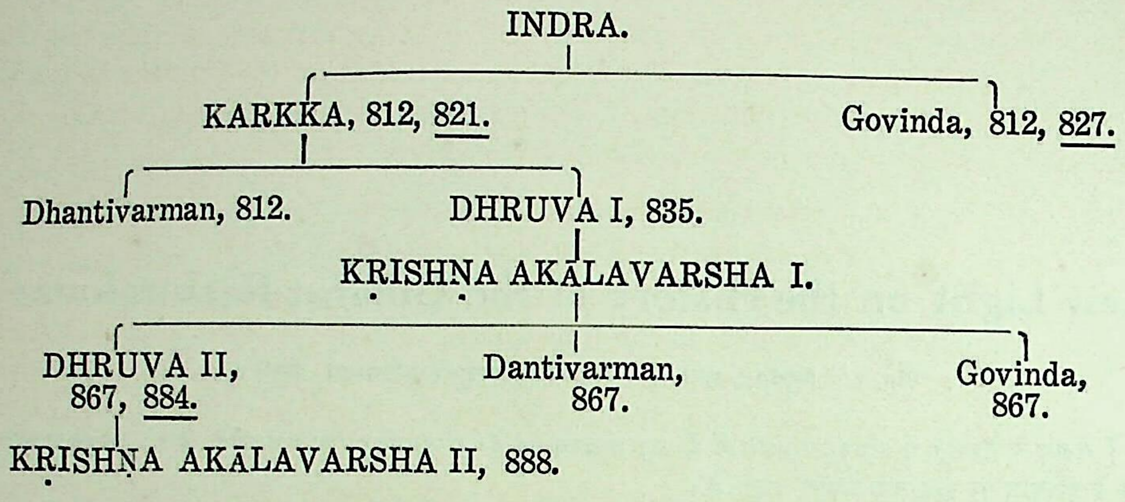

[*The names of those members of this genealogy, who ascended the throne, are given in block letters. Underlined dates are the new dates supplied by the copper plates under discussion*.]

Fresh light is thrown by these grants on the following new points:

REVOLT AGAINST AMOGHAVARSHA I

It was well-known that the feudatories of Amoghavarsha I had revolted against him, and the Sanjan copper plates of that ruler[1] have recently shown that Amoghavarsha I was actually dethroned for some months during his rebellion. From the same record we further know that Amoghavarsha I was born in c. 808 A.D., and was thus a boy of about 6 at the time of his accession. The actual date of this rebellion against the boy emperor was not known ; the revolt had not taken place in 816 A.D. when the Naosari plates of Karkka[2] were issued in that year. If the revolt had already taken place by that time and Karkka had quelled it, the incident would certainly have been mentioned in that document. On the other hand, we knew that the revolt had taken place sometime before 835 A.D., for it was described in the Baroda grant of Dhruva I of the Gujarat Branch issued in that year[3]. The Surat plates of Karkka, which I have sent for publication to the *Epigraphia Indica*, are dated 821 A.D., and describe the revolt of the feudatories. This new record, therefore, enables us to know that the revolt against Amoghavarsha I had taken place during the short interval between 816 and 821 A.D., when he was a boy of about 10 to 15.

---

(1) E. I., XVIII, 235. (2) J. B. B. R. A. S., XX, p. 133. (3) I. A., XIV., p. 196.

POSITION OF GOVINDA OF THE KĀVI PLATES

Drs. Hultzsch and Bühler had held that Govinda, the younger brother of Karkka, who has issued the Kāvi plates in 827 A.D., was a usurper against his brother, and so his name is passed over in the other records of the Gujarat Branch[1]. This view has now to be abandoned. In his Kāvi plates Govinda praises the administration of his elder brother, Karkka, very highly ; *cf.*

सौराज्यजल्पे चलिते प्रसङ्गान्निदर्शनं विश्वजनीनसम्पत् ।
प्राज्यं बलेः पूर्वमहो बभूव क्षिताविदानों तु नृपस्य तस्य ॥ ७. २२.

Is it likely that he would go out of his way to praise his brother if he was a rebel against him ? Further, the Kāvi plates nowhere state that Govinda, who issued them, had ascended the throne of the Gujarat Branch. The fact was that he was a mere regent ruling for his brother. Amoghavarsha I was a mere boy at the time of the revolt against him ; it was quelled before 821 A. D. by Karkka. During this troublesome period, the administration of the main Rāshṭrakūṭa line must obviously have devolved upon Karkka, the cousin guardian of the boy emperor. It thus became necessary for Karkka to remain absent from his patrimony in Gujarat for several years. He had to make arrangements for carrying on the administration of Gujarat during his prolonged absence at Malkhed. A regent had to be appointed. The Baroda plates of 812 A.D.[2] no doubt show that he had a son, Dantivarman by name, who was grown up enough to be the *dūtaka* of that grant. But this Dantivarman did not succeed his father ; records of the Gujarat Branch inform us that Karkka was succeeded by his son, Dhruva I, whom he got after a long period of intense anxiety. It is, therefore, clear that Dantivarman of Baroda plates was not probably alive, when Karkka was compelled to hand over the administration of Gujarat to a regent during his absence at Malkhed. His choice, therefore, naturally fell upon his younger brother, Govinda, who was a mature administrator in c. 812 A. D. His Kāvi plates show that he was also intensely loyal to his brother. The later records of the Gujarat Branch pass over his name not because he was a usurper but because he was a mere regent of the collateral line, who had never ascended the throne.

KṚISHṆA AKĀLAVARSHA II

The relationship of this last ruler of the Gujarat Branch with his predecessors is not definitely known. We have got only one copper plate issued by him and it is very corrupt. This document, the Ankuleshwer grant, dated 888 A.D.,[3] brings the genealogy down to Karkka, mentions his anxiety for having a son in a verse which remains incomplete in its 4th *pāda*, and then

---

(1) *Ibid* & I. A., XII, p. 181. (2) I. A., XII, p. 156. (3) *Ibid*, XIV, p. 67.

introduces Dantivarman, who is followed by Kṛishṇa Akālavarsha, the grantor of the charter. The passage runs as follows :—

> पुत्रीयतस्तस्य महानुभावः कृती कृतज्ञः कृतधैर्य्यवीर्य्यः ।
> वशीकृताशेषनरेन्द्रचन्द्रः बभूव सूनुः श्रीदन्तिवर्मणः प्रबलप्रतापः
> येन खड्गद्वितीयेन वल्लभनृपस्य पश्यतः । उज्जयिन्यां रिपूञ्जित्वा दूरमुत्तंभितं यशः ॥
> तेन..................अकालव (१)

On the strength of this passage it was suggested that Dhruva II was succeeded by a son of Dantivarman, a brother of his grandfather, Dhruva I, who was the *dūtaka* of the Baroda plates of Karkka. The new copper plate of Dhruva II, which I would be soon publishing, is dated in 884 A.D. It supplies a new date for that ruler, and shows that he did not die soon after his Baroda plates were issued in 867 A.D., but continued to rule at least for 17 years more. It, therefore, becomes very doubtful, if a son of Dantivarman, who was grown up enough to become a responsible officer in 812 A.D., could have ascended the throne about 70 years later than that date, when the succession had already passed for three generations in the line of his brother.

The real fact is that the passage in the Ankuleshwer charter quoted above, does not at all prove that the grantor was a son of Dantivarman. There is clear lacuna after the words *babhūva sūnuḥ* in 1.4. The metre will make it clear even to a child that the words *Śri Dantivarmaṇaḥ prabalapratāpaḥ*, which follow, do not belong to that verse. Other documents of this dynasty tell us that the 4th line ran as—

बभूव सूनुर्ध्रुवराजनामा ।

It is, therefore, absolutely certain that there is a break in the record after the words *babhūva sūnuh*. It seems probable that one of the *tāḍapatras*, which commenced with the words *Dhruvarājanāmā* and which described the careers of the next three rulers of the Gujarat Branch, was lost in transit as the Ms. was being carried from the office of the Secretariate to the house of the mason for engraving it on the plates. The extremely corrupt text of the Ankuleshwer plates makes it clear that no responsible officer had revised the document after it was engraved by the engraver. So the omission of the three rulers remained uncorrected. This charter, therefore, does not prove that Kṛishṇa Akālavarsha, who succeeded Dhruva II sometime after 884 A.D., was a son of Dantivarman, who was living as early as 812 A.D.

If we cast a glance at the genealogy given at the beginning of this paper, we shall see that in the case of the last four rulers, first and third of them are named Dhruva and are both of them followed by rulers named Kṛishṇa Akālavarsha.

---

(1) The passage is given after carrying out numerous grammatical corrections.

We know definitely that the first Akālavarsha was a son of his predecessor, Dhruva I. It may eventually be proved that the second Akālavarsha also was a son of his predecessor, Dhruva II. It seems that the fashion of naming the grandchild after the grandfather was current at this time in the family, and that the successor of Dhruva II was none other than his eldest son, Krishṇa Akālavarsha II, who was named after his grandfather. If a well-preserved charter of Krishṇa Akālavarsha II is recovered, I feel sure that this conjecture will be borne out by it.

कवि धोयी और उसका पवनदूत काव्य

दीवान बहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव, बी० ए०, अहमदाबाद।

कविवर धोयी ई० स० की बारहवीं शताब्दी में हुए थे। श्रीधरदास के 'सदुक्तिकर्णामृत' में इस कवि के नाम के १९ श्लोक दिए गए हैं[1]। सैकड़ों कवियों के सुभाषितों का प्रस्तुत संग्रह लक्ष्मण सं० २७ में अर्थात् ई० स० १२०५ में किया गया था। संग्राहक कायस्थ वंग-देश के राजा लक्ष्मणसेन का महामण्डलेश्वर था। इस के पिता बटुदास राजा बल्लालसेन की उपस्थिति में वरेन्द्र के महासामंत थे। श्रीधरदास-सङ्कलित 'सदुक्तिकर्णामृत' के संग्रहकाल के आधार पर, कविवर धोयी का समय, बारहवीं शताब्दी में मैंने नियत किया है।

'सदुक्तिकर्णामृत' में दिए हुए पूर्वोक्त १९ श्लोकों में से एक का उत्तरार्ध पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य की सभा में अद्भुत स्मरणशक्तिशाली होने से जिस प्रकार वररुचि ने प्रसिद्धि प्राप्त की थी, उसी प्रकार कविवर धोयी ने भी सेनराज की सभा में ख्याति प्राप्त की थी। और इसी कारण से कविवर धोयी "श्रुतिधर" के विरुद से भी प्रसिद्ध थे[2]। उन के इस विरुद का उल्लेख 'गीतगोविन्द' के प्रारम्भ में उद्धृत सुभाषित में भी किया गया है[3]। कविवर धोयी की ये श्रुतिधरता-विषयक आख्यायिकाएँ यदि मौखिक या लिखित रूप में परम्परा से उपलब्ध हो सकतीं तो उस से विद्वानों का मनोरंजन तो होता ही साथ ही तत्त्वजिज्ञासु की शिलोञ्छ-वृत्ति को भी पोषण मिलता तथा कविवर धोयी के जीवन-संबंधी कुछ कण भी प्राप्त हो जाते।

उद्दिष्ट श्लोक के पूर्वार्ध में कवि ने अपने आप को "कविराजाओं का चक्रवर्ती राजा" विशेषण से विभूषित किया है[4]। यह मिथ्या श्लाघा न होकर वस्तुतः उस के एक उच्चतर विरुद का अर्थवाद है। धोयी का पवनदूत

---

[1] श्रीयुत चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने संस्कृत-साहित्य-परिषद-ग्रन्थमाला में पवनदूत संपादित किया है। उस में परिशिष्ट नोट के नीचे जो श्लोक दिए गए हैं, उन में प्रथम १८ श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में से लिए गए हैं, परन्तु उन में एक श्लोक जो नहीं जोड़ा गया था, वह निम्नलिखित रूप में है:—

दन्तिव्यूहं कनकलतिकां चामरं हैमदण्डं
यो गौडेन्द्रादलभत कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती।
ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी-
विद्याभर्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम्॥

[2] दे० टि० १; श्लोक का उत्तरार्ध।

[3] दे० "वाचः" प्रतीक के श्लोक का चैाथा चरण और उसका अन्तिम भाग "श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः"।

[4] दे० टि० १; श्लोक का दूसरा चरण "कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती"।

काव्य जो बचा हुआ है और प्रकाशित भी हुआ है उसकी पुष्पिका में भी उक्त विरुद दृष्टिगोचर होता है[1]। लक्ष्मणसेन के सभा-मण्डप के शिरोलेख में भी राजसभा के पञ्चरत्नों की गणना करते समय, धोयी के नाम के बदले उसके विरुद अथवा उपनाम कविराज का ही उल्लेख है[2]।

"कविराज धोयी बंगाली वैद्यजाति के थे। 'कविकण्ठहार' और 'चन्द्रप्रभा' आदि में बंगाली वैद्यजाति के दुहिसेन वा धूयिसेन का नाम पाया जाता है, जो धोयी के सिवा और कोई नहीं हो सकता। कविराज उपपद इन की जाति का बोधक है, क्योंकि बंगाली वैद्यजाति के पुरुष कविराज संज्ञा से ही पहचाने जाते हैं।" कुछ लोगों का कथन इस प्रकार है[3]। परन्तु मेरी समझ से तो यह सब भ्रम ही है, क्योंकि राजसभा वाले शिरोलेख का "कविराज" शब्द विरुद-बोधक है, जातिसूचक नहीं। फिर धोयी ने स्वयं ही "कविनरपति" और "कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती" आदि अनुवाद से विशिष्ट कवित्व का संकेत स्पष्ट कर दिया है[4]। अत: धोयी वैद्यजाति का नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में वैद्यजातीय दुहिसेन वा धूयिसेन नाम के साथ कवि धोयी के नाम-संबंधी साम्य का विचार करना व्यर्थ है।

'धोयी कवि काश्यप गोत्र का राढीय ब्राह्मण था' ऐसा महामहोपाध्याय पं० हरप्रसादजी शास्त्री का कथन है[5]। 'पवनदूत' की प्रशस्ति से भी इस मत की पुष्टि होती है, इस के दूसरे श्लोक में कवि जन्मांतर में भी गंगा के उपकण्ठ में अर्थात् उस पवित्र नदी पर बसे हुए विजयपुर में ही निवास करने की इच्छा प्रदर्शित करता है। यह नगर सुह्म अथवा राढ देश में था। प्रस्तुत श्लोक पर से कवि किस मत का अनुयायी था, यह भी स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक जन्म में विष्णु भगवान् के चरण-कमलों में ही अपनी प्रीति बनी रहे, यह कवि की मनोकामना है; अर्थात् धोयी विष्णुभक्त था[6]।

'पवनदूत' के कर्ता पर राजा का पूर्ण प्रेम था, जिस से कविराज राजा के ऐश्वर्य के भोक्ता बने थे[7]। घर पर हाथी झूमते थे। कविवर के बाहर पधारने पर छड़ीदार स्वर्ण-निर्मित छड़ी ले कर आगे चलता था। चमरधर सुवर्ण-दण्डघटित चमर डुलाते थे। राज-कवियों की सभा में जो 'कविताचार्य' का गौरवान्वित आसन नियत था सो कविवर धोयी का था[8]।

---

[1] "इति श्रीधोयीकविराजविरचितं पवनदूताख्यं काव्यं समाप्तम्।"

[2] यह श्लोक निम्नलिखित रूप में है:—

गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च॥

[3] दे० चिन्ताहरण चक्रवर्ती—पवनदूत (इंट्रोडक्शन्) पृ० ५।

[4] दे० टि० ३ (पृ० ७)।

[5] दे० नोटिसेज़ ऑफ़ संस्कृत मेनुस्क्रिप्ट्स् जि० १, प्रिफ़ेस् पृ० ३८।

[6] यह समस्त श्लोक निम्नलिखित रूप से है:—

गोष्ठीबन्धः सरसकविभिर्वाचि वैदर्भरीति-
र्वासो गङ्गापरिसरभुवि स्निग्धभोग्या विभूतिः।
स्वस्तु स्नेहः सदसि कविताचार्यकं भूभुजां मे
भक्तिर्लक्ष्मीपतिचरणयोरस्तु जन्मान्तरेऽपि॥

[7] दे० टि० १ (पृ० ७); श्लोक का पूर्वार्ध।

[8] दे० इस पृष्ठ की टि० ६; श्लोक का तीसरा चरण।

कविराज की साहित्य-प्रवृत्ति 'पवनदूत' के सौ सवा सौ श्लोकों तक ही परिमित हो सो नहीं[1]; क्योंकि इन के रचे दूतकाव्य की प्रशस्ति के अन्तिम श्लोक में इन के कई एक अमृतस्यन्दी प्रबन्धों का स्पष्ट निर्देश है। उस में 'वाक्प्रबन्धाः' पद बहुवचनान्त होने से, तीन अथवा तीन से अधिक प्रबन्ध होने का अनुमान होता है[2]। इस मन्तव्य की पुष्टि 'सदुक्तिकर्णामृत' में दिए "विश्राणस्तोय०", "यत्र तत्र०", "पश्चात्खुरद्वि०" और "कृतशीकर०" श्लोकों से और भी विशेष रूप से होती है[3]। पहले में जलक्रीड़ा का, दूसरे में रात्रि के प्रगाढ़ अंधकार का, तीसरे में दो पैरों पर खड़े हो कर अपने सवार को घबरा देता हो ऐसे अश्व का, चौथे में पानी से भीगी अपनी केशावली को कँपा कर पैरों से नदी के जल को हिला कर पानी पीते हुए अश्व का वर्णन है। यह स्रग्धरा, रथोद्धता, वसन्ततिलका, अथवा सुन्दरी वृत्त एक अथवा भिन्न महाकाव्य के अंश होंगे, ऐसा केवल दृष्टिपात करने से ही पहिचान लिए जाते हैं। परन्तु खेद से कहना पड़ता है कि ये सब नष्ट हो चुके हैं और इन प्रबन्धों के नष्ट हो जाने से, कविवर धोयी की रची हुई अन्य साहित्य-समृद्धि का एक विशाल भाग नष्ट हो चुका है।

अवशिष्ट दूतकाव्य की शैली वैदर्भी है[4], इस का नायक बङ्गाल का लक्ष्मणसेन है, जो दक्षिण में विजय प्राप्त करता हुआ दूरावस्थित मलयाचल तक पहुँच जाता है। उस पर्वत पर रहनेवाले एक गन्धर्व की पुत्री कुवलयवती लक्ष्मणसेन के अद्भुत रूप और पराक्रम पर मोहित हो जाती है। सेन राजा चन्दनवृक्षों के प्रदेश में अपने सुयश की सुगन्ध को छोड़ कर वापिस चला आता है। विरहव्याकुला गन्धर्वकन्या वसन्त ऋतु के आगमन

---

[1] पवनदूत-काव्य १०० श्लोकों वाला है। इसकी प्रशस्ति में ४ श्लोक हैं। 'सदुक्तिकर्णामृत' में १९ श्लोक हैं। इस के अतिरिक्त परिशिष्ट नोट के अन्त में दो श्लोक धोयी के नाम से और दिए गए हैं।

[2] यह समस्त श्लोक निम्नलिखित रूप में है:—

कीर्तिर्लब्धा सदसि विदुषां शीलिताः क्षोणिपालाः
वाक्संदर्भाः कतिचिदमृतस्यंदिनो निर्मिताश्च।
तीरे संप्रत्यमरसरितः क्वापि शैलोपकण्ठे
ब्रह्माभ्यासे प्रयतमनसा नेतुमीहे दिनानि ॥

यहाँ पहले चरण में उपलभ्य पाठ "शीतलक्षोणिपाला" था, इससे अर्थ न होने के कारण, मैं ने "शीलिताः क्षोणिपालाः" ऐसा नया पाठ रक्खा है।

[3] समस्त श्लोक अनुक्रम से इस प्रकार हैं:—

विश्राणस्तोयलग्नं वसनमरसनादामनि श्रोणिभारे
दूरादन्योन्यसाचिस्मितचतुरसखैः कामिभिर्वीक्ष्यमाणाः।
उत्तेरुस्तीरलेखां विपुलकमलिनीपत्रमीषद्विलक्षा-
वक्षोजाग्रेषु कृत्वा हरिणशिशुदृशो वीतचीनांशुकेषु ॥
यत्र यत्र रतिसज्जबन्धकीप्रीतये मदनशासनादिव।
नीलकान्तपटतामुपाययौ सूचिभेद्यनिविडं निशातमः ॥
पश्चात्खुरद्वितयखण्डितभूमिभागमूर्ध्वीकृताग्रचरणद्वयमुग्रहेषम्।
मूर्धावगाहनविहस्तनिजाश्ववारमाराजनः परिजहार खलं तुरङ्गम् ॥
कृतशीकरवृष्टिकेशरैरसकृत्स्कन्धमबन्धुरं धुवन्।
अपिपच्चरणाग्रताडितं तुरगः पङ्किलमापगापयः ॥

[4] दे० टि० ६ (पृ० ८); श्लोक के पहले चरण का उत्तर खंड।

पर पवन को सेन राजा की राजधानी की ओर प्रयाण करते देख[१] उस से विजयपुर जा कर अपनी विरह-दशा का राजा से निवेदन करने की प्रार्थना करती है। वह पवन को मार्ग बतलाती है, जिस में अनुक्रम से, पाण्ड्य देश का उरगपुर, रामसेतु, चोलराज्य की कांचीपुरी, कावेरी के ऊर्ध्व प्रदेश, आन्ध्रदेश का माल्यवान् पर्वत, पञ्चासर सरोवर, समुद्रतट की कलिङ्गनगरी, विंध्याचल से निकलती हुई नर्मदा, ययाति नगर और अन्त में सुह्मदेश का विजयनगर आता है।

लक्ष्मणसेन का दक्षिण के राजाओं पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख पवनदूत में है[२]। परन्तु धोयी ने इस के विषय में विस्तार से कुछ भी नहीं लिखा। युवराज अवस्था में तथा राजा होने पर लक्ष्मणसेन ने अपने निकटवर्ती राजाओं पर जो विजय प्राप्त की थी, उस को तो हम जानते हैं[३]। उस ने अपने पिता बल्लालसेन की उपस्थिति में गौडदेश के राजा को पराजित कर के अपना वन्दी बनाया था, और उस के राज्य का बहुत सा प्रदेश अपने अधीन कर लिया था; साथ ही साथ कामरूप और कलिंग के राजाओं पर भी इस ने विजय प्राप्त की थी, तथा प्रयाग, वाराणसी एवं पुरी में अपने कीर्तिस्तम्भ स्थापित किए थे। 'पवनदूत' में लक्ष्मणसेन के इन पराक्रमों का बिलकुल उल्लेख नहीं। इस में मेरा तो यही अनुमान है कि लक्ष्मणसेन ने दक्षिण में जो विजय प्राप्त की थी, सम्भव है वह उस की कुमारावस्था में ई० स० ११६५ के पूर्व सिद्ध हो।

किंवदन्ती है कि एक बार, विमाता से कुछ वैमनस्य हो जाने के कारण, लक्ष्मणसेन चुपचाप घर से निकल गए। इस प्रसंग में वंग-धीवरों ने बल्लालसेन को राजकुमार का पता दिया था[४]। उस समय लक्ष्मणसेन की कुमारावस्था थी। अतः लक्ष्मणसेन पिता के घर को छोड़ कर मातामह के घर के अतिरिक्त कहाँ जा सकते थे? यह घटना उसी समय में हुई हो यह संभव है। लक्ष्मणसेन की स्वर्गस्थ माता रामदेवी दक्षिण में कुन्तलदेश के चालुक्यवंश की राजकन्या थी[५], और उस समय इन चालुक्यों की राजधानी कल्याण थी[६]। उन्मनायित युवक राजकुमार बंगाल के सफ़री पोत पर सवार हो कर—जिस मार्ग से कवि बिल्हण रामेश्वर से कल्याणपुर आए थे उसी मार्ग से—अपने नाना के घर गए। लक्ष्मणसेन के ग़ायब हो जाने की घटना बंगाल में सर्वत्र फैल चुकी थी। कुछ धीवरों ने—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—दरबार में जा कर लक्ष्मणसेन के पिता बल्लालसेन को सूचना दी कि राजकुमार जल-मार्ग से कल्याण की तरफ गए हैं। यह समाचार सुनते ही कुछ दरबारी कुँवर को समझा बुझा कर घर ले आने के लिए गए होंगे। उस समय लक्ष्मणसेन का वय २० वा २१ वर्ष का मालूम होता है। लक्ष्मणसेन का जन्म ईसवी सन् १११९ में हुआ था। अतः मातामह के यहाँ उनके निवास का समय ११३९-४० सिद्ध होता है। इस साल के आसपास द्वितीय जगदेकमल्ल चालुक्य कल्याण की गद्दी पर

---

[१] कुवलयवती संज्ञा से दक्षिण भूमि की राज्यलक्ष्मी संकेतित हो।

[२] 'पवनदूत ॥ ६३ ॥ जित्वा देव त्वयि सरभसं दाक्षिणात्यान् क्षितीशान्०'।

[३] दे० गीतगोविन्द उपोद्घात, बल्लालसेन और लक्ष्मणसेन का इतिवृत्त।

[४] दे० पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ-कृत "भारत के प्राचीन राजवंश" प्रथम भाग, पृ० २०७।

[५] दे० लक्ष्मणसेन का मधियानगर-ताम्रशासन।

धराधरान्तःपुरमौलिरत्नं चालुक्यभूपालकुलेन्दुलेखा।
तस्य प्रियाभूद्बहुमानभूमिर्लक्ष्मीपृथिव्योरपि रामदेवी ॥

[६] कल्याण अब कल्याणी के नाम से प्रसिद्ध है और निज़ाम राज्य के अंतर्गत है, ऐसा पं० गौरीशंकरजी लिखते हैं।

थे[१] जो बिल्हण के "विक्रमांकदेवचरित" के नायक छठे विक्रमादित्य अथवा विक्रमांक के पौत्र थे। जिस समय लक्ष्मणसेन अपने नाना के यहाँ रहते थे[२] द्वारसमुद्र के होयशल राजा विष्णुवर्धन उर्फ बट्टिग ने चालुक्यराज्य पर आक्रमण किया। उस के साथ जयकेशी, कुलशेखर, चट्ट आदि नरेश भी थे। परंतु आहवमल्ल के सेन्द्रकवंशीय सामंत पेर्माडी से सामना होने पर, कुलशेखर पराजित हुआ और चट्ट का मस्तक तलवार से रणक्षेत्र में उड़ा दिया गया। भयभीत जयकेशी और विष्णुवर्धन रणभूमि छोड़ कर भागे। पराक्रमी पेर्माडी ने इन का पीछा किया और वाहडी की घाटी में वह भागते हुए शत्रु के पास जा पहुँचा। घबराया हुआ होयशल राजा अपने गजदल को छोड़ कर भागा और द्वारसमुद्र में जा छिपा। इस पर पेर्माडी ने होयशल की राजधानी को जा घेरा। अवरुद्ध राजा प्राण बचाने के लिए राजधानी छोड़ कर भागा। सेन्द्रक सेनापति ने इसका पीछा जारी रक्खा। वेलूर तक उसका पीछा किया। विष्णुवर्धन घाट की पहाड़ियों में ग़ायब हो गया। तब कुन्तल का सामन्त युद्ध में प्राप्त विशाल सम्पत्ति को लेकर कल्याण लौट आया[३]।

इस युद्ध में साहसिक कुमार को भी अपना पराक्रम प्रदर्शित करने का अवसर अवश्य मिला होगा[४]। बाकरगंज के लेखों में, केशवसेन अपने पिता लक्ष्मणसेन का यशोगान गाता है कि दक्षिण समुद्र के किनारे पर बसे हुए प्रदेशों में, जहाँ गदाधारी श्रीकृष्ण और मुसलधारी बलराम निवास कर रहे हैं, लक्ष्मणसेन के प्रथम पराक्रम के कीर्तिस्तम्भ हैं[५], जिनकी स्थापना, मैं कुन्तल देश के किसुकाडु विभाग के किसुवोबल गाँव में मानता हूँ[६]। इस गाँव में वसुदेव के पुत्रों के शिल्पकला के आदर्शभूत मन्दिरों का होना भी सुना जाता है। यह विभाग सेन्द्रक सामन्त पेर्माडी के अधिकार में था; जिस ने द्वारसमुद्र के राजा पर की हुई विजय के चिह्न-स्वरूप उक्त कीर्तिस्तम्भ स्थापित किए होंगे, और उस में कुन्तल के भानजे के पराक्रमों की प्रशंसा की गई होगी। लक्ष्मणसेन के भुवनविजय का प्रारम्भ कुन्तल और द्वारसमुद्र के विग्रह से होता है। पवनदूत में युवक लक्ष्मणसेन का दाक्षिणात्य क्षितीशों पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख है[७], जो विष्णुवर्धन जयकेशी कुलशेखर और चट्ट आदि को लक्षित करके कहा गया मालूम पड़ता है। जयकेशी का समय ई० स० ११३८-३९ दिया गया है[८]। अतः युद्ध में जयकेशी का विष्णुवर्धन के पक्ष में होना हमारे कहे हुए उक्त, कुन्तल और द्वारसमुद्र के युद्ध के, समय को ही पुष्ट करता है।

---

[१] दे० पं० गौरीशंकर ओझा कृत "भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थमाला" जिल्द पहली, सोलंकियों का प्राचीन इतिहास।

[२] यह मैसूर के हसन ज़िले में है, जिसका वर्तमान नाम हलेबीड है। वेलूर भी मैसूर में है।

[३] दे० नरेगल पट्टल गड के कन्नड अभिलेख, ज० बं० ब्रा० रा० ए० सो० ११. पृ० २४४–४५, २६९-७०।

[४] दे० ज० ए० सो० ब० जि० ७. पृ० ४०-५०।

[५] दे० श्लोक १३. वेलायां दक्षिणाब्धेर्मुसलधरगदापाणिसंवासवेद्यां
येनोच्चैः × × × × × × समरजयस्तम्भमाला व्यधायि ॥

[६] दे० ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो० ११. कन्नड अभिलेख।

[७] दे० टि० २ (पृ० १०)।

[८] दे० इस पृष्ठ की टि० ६ वाला कन्नड अभिलेख।

कुन्तल देश पर द्वारसमुद्र के राजा की उक्त चढ़ाई के प्रसंग में लक्ष्मणसेन के अग्र भाग लेने का उल्लेख जयदेव ने अपने एक सुभाषित में किया है[1]। उस के पूर्वार्ध में लक्ष्मणसेन को संबोधित कर के कवि कहता है "आप महासागर के तरंग के समान धँसते आते चोलराज के सामने टक्कर लेते हो[2], (स्वयं आगे बढ़ के) कुन्तल सुभटों को अपने पीछे खींचते हो[3] और काञ्चीराज को परास्त करते हो[3], (फिर) अंगराज के साथ रणक्षेत्र में युद्ध[5] मचाते हो।" इस उक्ति में चोल कुन्तल और अंग वंग के साथ के होनेवाले युद्धों का अनुक्रम से निर्देश किया गया है। द्वितीय युद्ध के बारे में पुराविदों को ज्ञात है। राजा लक्ष्मणसेन ५९ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे थे। उन के राज्यकाल में ई० स० १७६५ के आस पास पड़ोसी गौडदेश का राजा सेनराज से विग्रह करता है। पिता के समान ही पराक्रमी वीर लक्ष्मणसेन ने उसे परास्त कर के अपना वन्दी बना लिया, और गौड तथा वंग के बहुत से भाग को अपने अधीन करके गौडेश्वर या गौडेन्द्र का विरुद धारण किया[6]। प्रथम युद्ध में कुन्तल सुभटों का अग्रेसर होकर यह चोलराज को पराजित करता है। वस्तुतः यह वही युद्ध है जिस का वृत्तांत इस लेख के पूर्व भाग में महामहोपाध्याय गौरीशंकर ओझाजी के 'सोलंकियों का इतिहास' से लेकर मैं दे चुका हूँ। द्वारसमुद्र का राजा विष्णुवर्धन कुन्तल पर हमला करता है, उस के सहायकों में से कुलशेखर राजा पराजित होता और मारा जाता है। भयभीत विष्णुवर्धन तथा जयकेशी रणभूमि छोड़ कर भाग जाते हैं। ऐतिहासिक ओझाजी का जो कुलशेखर है वही जयदेव कवि के सुभाषितों का चोलराज या काञ्चीराज है। इस कारण अत्रोक्त पहला चोलकुन्तल का युद्ध अंग वंग के दूसरे युद्ध से पूर्व[7], जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, ई० स० ११३९-४० के आस पास है। इस युद्ध में विजयप्राप्ति की कीर्ति के भागीदार दो थे; कुन्तलसेनापति

---

[1] प्रस्तुत श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में है। बारह वर्ष पहले प्रस्तुत विषय पर एक लेख 'जैन-साहित्य-संशोधक' में छपवाया था। उस समय मुझ को यह उपलब्ध नहीं था। निम्नलिखित रूप से है:—

त्वं चोलोल्लोललीलां कलयसि कुरुपे कर्षणं कुन्तलानां
त्वं काञ्चीन्यञ्चनाय प्रभवसि रभसादङ्गसङ्गं करोपि।
इत्थं राजेन्द्र वन्दिस्तुतिभिरुपहितोत्कम्पमेवाद्य दीर्घं
नारीणामप्यरीणां हृदयमुदयते त्वत्पदाराधनाय॥

[2] कलयसि पद "टक्कर लेना" ऐसे अर्थ में प्रयुक्त है।

[3] काञ्ची चोलदेश की राजधानी थी; अर्थात् काञ्चीराज = चोलराज।

[4] "न्यञ्चन" पद का "झुका देना" ऐसा अर्थ किया है।

[5] मूल में "सङ्ग" शब्द है जिसका अर्थ 'संग्राम' भी होता है।

[6] दे० गीतगोविन्द के मेरे गुजराती अनुवाद का उपोद्घात, पृ० ११ और 'सदुक्तिकर्णामृत' ३।११।५।

[7] श्लेष अलंकार होने से स्त्रियों के संबंध में "चोल" अर्थात् कंचुकी के प्रति शत्रु भाव का, "कुंतल" अर्थात् केशपाश के कर्षण का, "काञ्ची" अर्थात् कटिमेखला के अंश का, और "अङ्ग" अर्थात् शरीर के बंध का क्रम अभिमत है। चोल-सुभटरूपी लहरों के प्रभाव का, कुंतल-सुभटों को पीछे खींचने का, काञ्ची के राजा को पराजित करने का और अंगदेश के राजा के साथ युद्ध करने का क्रम विवक्षित है। कवि ने शत्रु अर्थ को "उल्लोल" संस्कारित देशी शब्द लिया है।

पेर्माडी और वंग-राजकुमार लक्ष्मणसेन। केशवसेन के कहे हुए कीर्तिस्तंभ कुन्तलभूमि में संप्रति विद्यमान हों या न हों—कुछ क्षति नहीं—दूतकाव्य के रूप में कविवर धोयी की रची हुई प्रशस्ति लक्ष्मणसेन के प्रस्तुत पराक्रम का स्मरण करा रही है[1] ।

यहाँ की हुई गणना को स्वीकार करने से "पवनदूत" ई० स० ११४० के पश्चात्, तुरंत ही लिखा हुआ ठहरता है। विग्रहोत्तर बुलाने के लिए आए हुए बंगाल के दरबारी-मंडल के साथ विजयी कुमार पिता और पितामह का अभिनन्दन प्राप्त करने के लिए पुनः उत्तरापथ आया होगा। बल्लालसेन और विजयसेन ही नहीं, वस्तुतः वंग देश ने भी विजयी राजकुमार का अभिवादन किया होगा। कुशल राजकुमार को नवद्वीप की जागीर दी गई होगी और दक्षिण के राजाओं पर विजय प्राप्त करने की यादगार में नवद्वीप का नाम विजयपुर रखा गया होगा। इसी नाम से 'पवनदूत' में बाल-राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी का निर्देश है। पीछे से स्मरण नहीं रहा होगा। इसलिए विजयपुर कहाँ और कौन सा था, इस विषय में शोधकों में मतभेद उत्पन्न हुआ है[2] । कितनेक पुरातत्त्वशोधकों के कथनानुसार राजशाही ज़िले का विजयनगर ही 'पवनदूत' का विजयपुर है। इस के पड़ोसी गाँव देवलवाड़ा से विजयसेन का शिलालेख मिला था, परंतु उस से यह सिद्ध नहीं होता कि विजयनगर ही लक्ष्मणसेन की राजधानी थी। 'तबक़ाते नासिरी' में इस की राजधानी का नाम नोदिया दिया गया है। इस को मैं नवद्वीप का रूपान्तर समझता हूँ। अब भी नदिया के पास बामाँ पुकुर नामक गाँव में बल्लाल ढीवी अर्थात् बल्लाल का टीबा, इस नाम का एक टेकरा है, और उस के पास ही में बल्लाल दीघी नाम का एक सरोवर भी है। ये सब प्राचीन स्थान विजयपुर के सप्तभुवन के[3] राजमहल की और उसके अन्तःपुर की क्रीडादीर्घिका[4] की स्मृति दिलाते हैं। लक्ष्मणसेन की तीन राजधानियाँ थीं—नवद्वीप, लक्ष्मणावती और विक्रमपुर। पहली राजधानी का रूपान्तर हो कर नदिया और नोदिया रूप हुआ है। यह नवद्वीप अथवा विजयपुर धोयी का निवासस्थान है, जहाँ कवि ने फिर से जन्म प्राप्त करने के लिए इच्छा प्रदर्शित की थी।

धोयी ने तीन सेन राजाओं के वृद्धिंगत होते हुए प्रताप को देखा था[5] । उस ने 'पवनदूत' को विजयसेन के राज्यकाल के अन्तिम भाग में रचा। कविताचार्य का सम्मानित पद वह बल्लालसेन और लक्ष्मणसेन के समय से भोग रहा था। उक्त दूतकाव्य कवि ने अपनी उत्तरावस्था में लिखा था। उस अवस्था में चिरकाल शब्द-ब्रह्म की उपासना करते हुए कवि शब्दातीत ब्रह्म के चिंतन में प्रवृत्त होते हैं[6] ।

---

[1] द्वारसमुद्र, चोल आदि देशों के राजाओं के साथवाले कुन्तल के युद्ध में लक्ष्मणसेन ने जो विजय प्राप्त की थी उस से ऐतिहासिक-वर्ग अनभिज्ञ है। इसी प्रकार बख़्तियार खिलजी के पहले एक मुसलमान सरदार को लक्ष्मणसेन ने हरा कर उस के सैन्य का संहार किया था, यह घटना भी अब तक उन्हें अज्ञात है; परन्तु प्रसंग न होने से अभी चुप रहना ही उचित है।

[2] दे० चिन्ताहरण चक्रवर्ती-संपादित पवनदूत (इंट्रोडक्शन), पृ० २५-२६ ।

[3] दे० पवनदूत ६३ ।

[4] वही ६४ ।

[5] दे० टि० २ (पृ० ८); श्लोक का पहला चरण, और उसका उत्तर खण्ड 'शोलिताः क्षोणिपालाः' ।

[6] उसी श्लोक का उत्तरार्ध ।

काव्य का आदर्श महाकवि कालिदास का मेघदूत है। धोयी के स्वर्गस्थ हो जाने पर उस के साथी जयदेव को कविराज की पदवी मिल जाती है[१]।

पूर्व कहा गया है कि बल्लालसेन की सभा में पाँच रत्न थे—उमापतिधर, शरण, गोवर्धन, धोयी और जयदेव। इन में से पहले दो कवियों की प्रबन्धात्मक रचना मेरे देखने में अब तक नहीं आई। गोवर्धन 'आर्यासप्तशती' के मुक्तकों से प्रसिद्ध है। शेष उपलब्ध 'गीतगोविन्द' और 'पवनदूत' जयदेव और कविराज धोयी की देन हैं।

कर्ण सोलङ्की

श्रीयुत रामलाल चुनीलाल मोदी, पाटण।

[गुजरात के चालुक्य राजा बड़े प्रतापी थे। उन की राजधानी पाटण थी। उन की राज्यसीमा कभी दक्खिनी सिन्ध तक पहुँचती थी, सम्पूर्ण राजपूताना और पच्छिमी मालवा उन के अधीन होता था। इस वंश का संस्थापक मूलराज था, जिस की छठी पीढ़ी में कर्ण पैदा हुआ। इस का लड़का सिद्धराज जयसिंह बहुत प्रसिद्ध है। अब तक ऐतिहासिकों ने कर्ण की प्रायः उपेक्षा की है।

कर्ण की शक्ति और प्रसिद्धि का पता इसी से लगता है कि सुदूर गोआ (कर्णाटक) के कदम्ब राजा जयकेशी ने अपनी कन्या मीनलदेवी (मयणल्ला) का विवाह कर्ण से किया था। जयकेशी की दूसरी लड़की का विवाह दक्षिण भारत के चक्रवर्ती कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य छठे से हुआ था। विक्रमादित्य की सहायता से कर्ण ने मालवा के राजा भोज के लड़के को हरा कर मार डाला था।

कर्ण को गद्दी पर बैठ कर राज्य के बहुत से आन्तरिक और बाह्य उपद्रवों का सामना करना पड़ा; अपने बड़े भाई क्षेमराज के विद्रोह को शान्त करना पड़ा, मालवा से लड़ना पड़ा तथा नाडोल और सिन्ध के आक्रमणों का सामना करना पड़ा था। उस के राज्य की सीमा नर्मदा तक फैली थी।

कर्ण के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों में दो प्रसिद्ध डाकुओं—झालावाड़ के कोळी सरदार बाबरा (बर्बरक) और आसावल के भील आसा—के त्रास से काठियावाड़ के तीर्थयात्रियों को मुक्त कर के उस रास्ते को निरापद करना था। कोळी सरदार को उस के मौसेरे भाई हरपाल ने वश में किया। इस का पूरा दमन आगे चल कर कर्ण के लड़के सिद्धराज ने किया था। आसावल के आसा भील का दमन कर के इस ने अपने राज्य के अन्तिम दिनों में आसावल को अपनी राजधानी बनाया और उस का नाम बदल कर कर्णावती कर दिया। पर उस के इस कार्य का बड़ा विरोध हुआ। पाटण में प्रजा ने घोर आन्दोलन किया। तब इस के मन्त्री संपत्कर (सांतू मन्त्री) ने बालक सिद्धराज को पाटण की गद्दी पर बिठा कर उसे शान्त किया।

प्र० चि० के अनुसार बालक सिद्धराज की अवस्था इस समय तीन वर्ष की थी। पर यह ठीक नहीं। सिद्धराज के समकालीन जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपने द्व्याश्रय काव्य में इस अवसर पर कुमार और राजा में लम्बा संवाद हुआ बताया है। अतः कम से कम उस की उमर १० वर्ष रही होगी।

बिल्हण ने 'कर्णसुन्दरी' में कर्ण का सिन्ध पर आक्रमण करना लिखा है। असल में सिन्ध से इस वंश की लड़ाई चामुंड के समय से ही चल रही थी। कर्ण के पिता भीमदेव ने सिन्ध की सेना को करारी हार दी थी। गुजरात के इन चालुक्यों ने राजपूताने के चौहानों की तरह ही मुसलमानों को दक्खिन बढ़ने से रोके रक्खा।

---

[१] गीतगोविन्द १२, २६।

कर्ण को मालवा के भोज के छोटे भाई उदयादित्य और नाडोल के योजक के हाथों हार खानी पड़ी थी। कर्ण की मृत्यु प्र० चि० के अनुसार कर्णावती आने के तुरंत बाद ही हो गई थी। नयचन्द्र सूरि के 'हम्मीर काव्य' में चौहान दुस्सल के हाथों इसकी मृत्यु लिखी है सो ठीक नहीं। ह० का० इसके ३०० साल बाद की चीज़ है। द्व्या० का० के अनुसार कर्ण अपनी स्वाभाविक मौत मरा। अन्य प्रमाणों से भी यही सिद्ध है। असल में दुस्सल (दुर्लभराज ?) कर्ण का समकालीन ही नहीं। उस की मृत्यु १०८८ ई० में हो चुकी थी। कर्ण का समकालीन विग्रहराज है। कर्ण १०६४ में मरा।

यह वीर महत्त्वाकांक्षी और बड़ा भारी निर्माता था। कितने ही तालाब, मन्दिर आदि इस ने बनवाए थे। कर्णावती में इस ने मेरुतुङ्ग नाम का एक विशाल प्रासाद बनवाया। बाद में इस का लड़का सिद्धराज अपने वास्तुओं के लिए प्रसिद्ध है। उसे अपने पिता से ही यह प्रेरणा मिली। सिद्धराज की सारी समृद्धि का बीज उस के पिता के समय में ही पड़ चुका था।

इस की रानी मीनलदेवी बड़ी विदुषी थी। नूरजहाँ और जहाँगीर की तरह ये दोनों परस्पर बहुत अनुरक्त थे। नूरजहाँ की ही तरह इस ने भी बालक सिद्धराज के बचपन में सारा शासन-भार सँभाल रक्खा था। बालक सिद्धराज पर अपनी माता का प्रभाव, जितना शिवाजी पर जीजाबाई का प्रभाव था, उस से भी ज़्यादा पड़ा था। यह उस की ही शिक्षा का फल था कि आगे जा कर सिद्धराज इतना प्रसिद्ध हुआ। उसी की प्रेरणा से कर्ण ने काठियावाड़ का मार्ग निरापद करके यात्रियों का कष्ट निवारण किया था। कर्ण अपने आप को त्रैलोक्यमल्ल कहता था। 'कर्णसुन्दरी' के अनुसार वह भारत का अधिराज तक बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता था। ये सब बातें सम्भवतः इसी मीनलदेवी की प्रेरणा का फल थीं। पिता और पुत्र दोनों के उत्कर्ष में इस महारानी का प्रत्यक्ष या परोक्ष हाथ जान पड़ता है। कहते हैं सोमनाथ पर इस की बड़ी भक्ति थी। उस के मार्ग का उद्धार करने की ही इच्छा से इस ने गुजरात के राजा से विवाह करने का सङ्कल्प किया था। सिद्धराज के समय इस ने सोमनाथ की यात्रा का तीर्थ-कर भी हटवा दिया था। कला की ओर इसकी बड़ी अभिरुचि थी।]

प्रारम्भ

गुजरातना इतिहासमां कर्ण नामना बे राजाओ थयाछे। एक सिद्धराज जयसिंहनो पिता अने बीजो गुजरातनो छेल्लो स्वतन्त्र हिंदु राजा। पहेलो सोलङ्की तरीके अने बीजो वाघेला तरीके ओळखाय छे। कर्ण वाघेलो लोकोमां जेटलो जाणीतो छे, तेटलो कर्ण सोलङ्की जाणीतो नथी, कारण के इतिहासकारोए तेना विशे बहु थोडुंज लख्युं छे। तेणे अमदावाद पासेना असावलना आशा भीलने हरावी त्यां कर्णावती नगरी बंधावी हती एटलीज बात तेना सम्बन्धी इतिहासमां नोंधाइ छे। परन्तु तेनां समयनां इतिहासनां साधनोनो जो श्रमपूर्वक अभ्यास करवामां आवे तो जणाय छे के ते प्रतापी राजा हतो।

समय

प्रबन्धचिंतामणि अने विचारश्रेणि ए बंने ग्रन्थोमां मेरुतुङ्गे कर्णनो राज्यकाल सं० ११२० थी सं० ११५० सुधी आपेलो छे। आना विरुद्ध कोइ उत्कीर्ण लेखनुं प्रमाण मळ्युं नथी। तेथी ए समय स्वीकारवामां बांधो नथी।

आंतविग्रह

कर्णनो पिता भीमदेव हतो अने तेनी मातानुं नाम उदयमती हतुं। कर्ण जे वखते गादीए बेठो ते वखते एनो राज्यनी स्थिति डामाडोळ हती। आन्तर् कलह अने बहिर् विग्रह बंने तेने माटे तैयार हता। भीमदेवने क्षेमराज नामनो कर्णथी मोटी उमरनो पुत्र हतो। तेने कोइ कारणथी भीमदेवे गादी माटे नालायक ठराव्यो हतो[1]। तेणे बळवो कर्यो हशे, परन्तु कर्णनो मामो मदनपाळ जे बहु शूरवीर पुरुष हतो, तेणे ए बळवो समाव्यो हशे। छेवट क्षेमराजना पुत्र देवप्रसादे पाटणथी आठ गाउ उपरनुं सिद्धपुर पासेनुं दधिस्थली (हालनुं देथली) लैइने संतोष मान्यो हतो।

---

[1] क्षेमराजनी माता बकुलादेवी एक गणिका हती एम प्र० चि० मां लख्युं छे, परन्तु ए बात मानवा जेवी नथी। एम होय तो तेनो वंशज कुमारपाळ पाछळथी गादी उपर आवी शके नहि। अने बीजा क्षत्रियो तेना कुटुम्ब साथे लग्न व्यवहार राखे नहि। कुमारपाळनी बहेन सांभर (अजमेर)ना चौहाण राजा अर्णोराजने परणावी हती। बाल मूलराजनी माता नायिकादेवी महोबाना चन्देल राजा परमर्दिनी पुत्री हती।

मालव-विग्रह

बहारना विग्रहोमां प्रथम विग्रह मालवा साथे हतो। आ विग्रह चामुण्डथी आरम्भी सारङ्गदेव वाघेला सुधी चाल्यो हतो। कर्णना पिता भीमदेव तथा चेदि देशना कलचुरि कर्णे भोजनो धारानगरीने घेरो घाल्यो हतो। ए घेरो चालु हतो तेवामां भोजनुं मरण थयुं। एथी ए नगरी पडी अने कर्णे तेना उपर पोतानो अधिकार कर्यो। भीमे चितोड अने गुजरातने लगतो मालवांनो मुलक लीधो हशे। त्यार पछी भोजना पुत्र जयसिंहे दक्षिणना चौलुक्यवंशी राजा सोमेश्वरनो सहायताथी कर्णने मारी नांखी पोतानुं राज्य पाछुं मेळव्युं हतुं एम विक्रमाङ्कदेवचरितना बे श्लोको उपर थी जणाय छे—

स मालवेन्दुं शरणं प्रविष्टमकण्टके स्थापयति स्म राज्ये ॥ १, १०२ ॥

विशीर्णकर्णा कलहेन यस्य पृथ्वी भुजंगस्य निरर्गलेन।

संगच्छतेऽद्यापि न डाहलश्रीः कर्पूरताटङ्कनिभैर्यशोभिः ॥ ३, ६७ ॥

आ वखते भीमदेव सिन्धना राजा हम्मुक (हमीर सुमरो) साथे विग्रहमां रोकायो हतो, तेथी तेनाथी मालवा तरफ ध्यान आपी शकायुं नहि होय। परन्तु कर्णे पोताना राज्यनो आंतर्विग्रह समाव्या पछी पोताना साढु कर्णाटकना राजा विक्रमादित्य(छट्ठो)नी सहायताथी मालवा उपर चढाइ करी अने जयसिंहने हरावीने मारी नांख्यो हतो, कारण के मालवाना राजा नरवर्मानो नागपुरनी प्रशस्तिमां लख्युं छे के भोजना मरण पछी राज्यमां जे प्रलय थयो तेमां राज्यनो स्वामी डूबी गयो अने कर्ण तथा कर्णाटकना राजाओना हाथमां गएली धरतीनो वराह भगवाननी माफक उदयादित्ये उद्धार कर्यो[1]। कर्णे धारानगरीने घेरो घाल्यो हतो अने तेमां राजाना पुरोहिते तेने मूठ मारी हती ए वात सुरथोत्सवना एक श्लोक उपर जणाय छे[2], सुकृतसंकीर्तनमां पण कर्णना संबंधमां लख्युं छे के कर्ण माळवाना राजाने जीतीने नीलकंठ महादेवनुं बाण लाव्यो हतो[3]।

जयसिंह पछी तेनो काको उदयादित्य गादीए आव्यो। तेणे कर्णने हरावीने गुजरातना राज्यमां मेळवेलो माळवानो मुलक पाछो लीधो हतो। पृथ्वीराजविजय काव्यमां लख्युं छे के शाकम्भरीना चौहाण राजा विग्रहराज त्रीजाए आपेला सारंग नामना घोडा उपर बेसीने उदयादित्ये गुजरातना कर्णने हराव्यो हतो[4]। आ युद्ध आबु पासे थयुं हशे अने माळवाना सैन्यमां उदयादित्यनो पुत्र जगदेव (परमार) पण सामेल हशे, कारण के जगदेवना एक सरदारना दक्षिण हैदराबाद राज्यमां आवेला जुन्नैदमांथी मळी आवेला शिलालेखमां जणाव्युं

---

[1] तस्मिन्वासवबन्धुतामुपगते राज्ये च कुल्याकुले
मग्नस्वामिनि तस्य बन्धुरुदयादित्योऽभवद् भूपतिः।
येनोद्धृत्य महार्णवोपममिलत्कर्णाटकर्णप्रभु-
मुर्वीपालकदर्थितां भुवमिमां श्रीमद्वराहायितम् ॥

[2] धाराधीशपुरोधसा निजनृपक्षोर्णीं विलोक्याखिलां
चौलुक्याकुलितां तदत्ययकृते कृत्यां किलोत्पादिता ॥ १५, २० ॥

[3] जित्वा बलैर्मालवभूमिपालमानीतवान्यः किल नीलकण्ठम् ॥ २, २३ ॥

[4] मालवेनोदयादित्येनास्मादेवाप्यतोन्नतिः।
सारंगाख्यं तुरंगं स ददौ तस्मै मनोजवम्।
जिगाय गुर्जरं कर्णं तमश्वं प्राप्य मालवम् ॥ ४, ७६-७८।

छे के गुजरातना वीरपुरुषोनी स्त्रीओ अद्यापि पर्यन्त आबु पर्वतनी गुफाओना द्वारमां रात्री दिवस चोधार आंसुए रुएछे[१] ।

नाडोलना चौहाणो साथे युद्ध

कर्णने मारवाडमां आवेला नड्डूलना चौहाणो साथे पण युद्ध थयुं हतुं । एनो उल्लेख सुंधा पहाडीना शिलालेखमां छे । आ विग्रह भीमदेवना वखतमां शरु थएलो हशे एम जणाय छे । त्यांना राजा अणहिल्ले अने तेना भाइ अहिले भीमदेवने युद्धमां हराव्यो हतो, अने अणहिल्लना पुत्र बालप्रसादे आबुना परमार राजा कृष्णदेवने भीमना केदखानामाथी छोडाव्यो हतो । ए बालप्रसादना भत्रीजा पृथ्वीपाले गुजरातना राजा कर्णना सैन्यनो नाश कर्यो हतो[२] ।

सिन्धना हाकेम साथे युद्ध

सिन्धना मुसलमान हाकेम साथे पण युद्धनो प्रसङ्ग कर्णने आव्यो हतो । आ युद्धनी हकीकत बिल्हणनी कर्णसुन्दरी नाटिकामां आपेली छे । आ युद्धमां कर्ण जाते गयो न हतो, परन्तु पोताना सेनापतिने मोकल्यो हतो । एणे सिन्धना हाकेमने सिन्धु नदीना तट उपर सखत शिकस्त आपी हती[३] । कर्णना पिता भीमदेवे पण हम्मुकने सिन्धु नदी उपर सेतु बांधीने हराव्यो हतो । आ विग्रह पण चामुण्डना वखतमां शरु थयो हतो, वडनगरना दरवाजानी प्रशस्तिमां चामुण्डे सिन्धुराजने मार्यानो उल्लेख छे[४] । सिन्धना हाकेमनो छेवटनो पराभव सिद्धराजे कर्यो हतो । सिन्धना मुसलमानोने आगळ वधता प्रथम कनोजना प्रतिहारोए अने दक्षिणना राष्ट्रकूटोए अटकाव्या हता । अने पाछळथी तेमनुं पूर गुजरातना सोलंकीओ अने राजस्थानना चौहाणोए खाळ्युं हतुं ।

राज्यनी दक्षिण सीमा

सिद्धराजना इतिहास उपरथी जणाय छे के तेना राज्यनी हद नर्मदा सुधी पहोची हती, परन्तु ए विस्तार कर्णना समयमां थयो हशे एम लागे छे । कारण के सोमनाथना यात्राळु पासे जे कर लेवामां आवतो ते स्थळ—भालोद शुक्लतीर्थनी पासे हतुं । केटलाक आ स्थळते धोळका पासे आवेलु भालोद समजे छे, परन्तु ए कर दक्षिणना यात्राळु पासेथी लेवातो अने तेथी ते राज्यनी मध्यमां नहि पण सरहद उपरज लेवाय ए स्पष्ट छे ।

---

[१] अद्याप्यर्बुदपर्वतोदरदरिद्वारेषु रात्रिंदिवम् ।
क्रन्दन्गुर्जरवीरवर्गवनितावाष्पाम्बुपूरोर्मयः ॥

आ० रि० है०, १९२७–२८ ।

[२] पृथ्वीपाल इति ध्रुवं क्षितिपतिस्तस्यांगजन्माभवत् ।
प्रत्यक्षोरुनिधिः स गुर्जरपतेः कर्णस्यैन्यापहः ॥ २२ ॥

पूरणचन्द्र नाहर––जैन इंसक्रुप्शन् (१) पृ० २५५ ।

[३] कर्णसुन्दरी नाटिका; अंक ४ ।

[४] सूनुस्तस्य बभूव भूपतिलकः चामुण्डराजाह्वयो ।
यद्गन्धद्विपदानगन्धनवता(पवन)घ्राणेन दूरादपि ।
विभ्रश्यन्मदगन्धभग्नकरिभिः श्रीसिन्धुराजस्तथा ॥ ६ ॥

महामहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर ओझा आ सिन्धुराज ते भोजनो पिता सिन्धुल हतो एम माने छे, परन्तु मने ए योग्य जणातुं नथी ।

झालावाडनी प्राप्ति

सिद्धराजे जुनागढ़ना खेंगारने हरावी काठीआवाड तावे कर्यो हतो, परन्तु तेनो केटलोक भाग तो कर्णना वखतमां अणहिल्लवाडना राजाना अधिकार नीचे आवी गयो हतो। काठीआवाडनो झालावाड प्रांत बाबरा (बर्बरक) पासेथी कर्णना मशीआई भाइ हरपाले जीती लीधो हतो। ते झाला रजपुत हतो तेथी ते प्रान्तनुं नाम झालावाड पड्युं। आ बाबरानो पाछळथी सिद्धराजे सम्पूर्ण पराभव कर्यो हतो। हरपाल मूळ कच्छनो राजकुँवर हतो। तेना बाप केसर मकवाणाने सिन्धना हमीर सुमराए हरावीने मार्यो हतो, तेथी ते कर्णना आश्रये आवीने रह्यो हतो[1]।

आशा भीलनो पराजय

सोमनाथना यात्राळुओने जङ्गली जातिना बे सरदारोनो त्रास हतो। एक बाबरानो अने बीजो आशानो। बाबरो कोळी जातनो हतो अने आशो भील हतो। बाबरानो त्रास झालावाडमां हतो अने आशानो नळकांठामां। बाबरानो त्रास हरपालनी सहायथी दूर कर्यो अने आशाने पोते जाते हराव्यो। आशानुं गाम अमदाबाद पासे असावल हतुं। ए स्थळ तेना राज्यना मध्यभागमां आवेलुं होवाथी तेने कर्णावती नाम आपी पोतानी राजधानी बनावी[2]। परन्तु कर्णावतीने राजधानी बनाव्या पछी थोडा मासमां तेनुं मरण थयुं। सिद्धराजे तो पाटणनेज राजधानी बनावी हती। छेवटे कर्ण वाघेलाए कर्णावतीने राजधानी फरी बनावी होय तेम लागेछे। तेना वखतमां पण कर्णावती झाझो वखत ए पद भोगवी शकी नहि, केम के अलाउद्दीन खीलजीना हुमलाथी तेने दक्षिणमां नासी जवुं पड्युं[3]।

कर्णावती राजधानी

प्र० चि० मां लख्युं छे के सिद्धराज त्रण वर्षनी उमरनो थयो ते वखते रमतो रमतो राजसिंहासन उपर चढी बेठो। ए जोइने कर्णे अणहिल्लवाडमां तेनो राज्याभिषेक कर्यो अने पोते कर्णावतीने राजधानी बनावी त्यां राज्य करवा लाग्यो। परन्तु मात्र रमतमां सिंहासन उपर चढी जाय एटलाज कारणथी त्रण वर्षना बालकनो राज्याभिषेक करवामां आवे ए बात मानी शकाय एवी न थी। खरुं कारण तो ए छे के कर्णावतीने राजधानी करवाथी अणहिल्लवाडनी प्रजाए विरोध कर्यो हशे। ए विरोध शमाववा बालक सिद्धराजनो त्यां राज्याभिषेक कर्यो हशे। आ अनुमानने बिल्हणनी कर्णसुन्दरी नाटिकाथी टेको मळेछे। एमां जणावेली हकीकत रूपक छे। कर्णसुन्दरी एटले कर्णावती नगरी[4]। कर्णनी राणी ते पाटणनी प्रजा, कर्णने कर्णसुंदरी साथे परणवुं हतुं। पण तेनी राणी तेम करवा देती न होती, परन्तु सम्पत्कर अमात्य(सान्तू मन्त्री)नी युक्तिथी राजा कर्णसुन्दरीने परणेछे अने तेनी राणी पण छेवटे अनुमति आपेछे। एनो अर्थ ए के कर्णावती ने राजधानी बनाववामां पाटणनी प्रजाए प्रथम विरोध कर्यो हतो, परन्तु सान्तू मन्त्रीए सिद्धराजने गादीए बेसाडी ए विरोध समाव्यो हतो।

सोमनाथना यात्राळुओनो त्रास दूर करवामां प्रेरणा आपनार कर्णनी राणी मयणल्ला (मीनळदेवी) हती। कर्णनी साथे लग्न करवामां तेनो मुख्य हेतु सोमनाथना यात्राळुओना दुःखनुं निवारण करवुं ते

---

१. जुओ रासमाळा (गुजराती भाषान्तर) बीजी आवृत्ति, पृ० १५३।

२. जुओ प्रबन्ध-चिन्तामणि—सिद्धराजप्रबन्ध।

३. तीर्थकल्पमां लख्युं छे के मुसलमानी लश्करे असावल उपर प्रथम हुमलो कर्यो हतो अने कर्ण त्यांथी नाठो हतो। आथी जणाय छे के कर्ण वाघेलाए कर्णावतीने फरी थी राजधानी बनावी हशे। (तओ हम्मीर जुवराओ वग्गडदेसं मुहडासयाइं नयराणि भंजिअ आसा वल्लीए पत्तो। कर्णदेव राओ अ नट्ठो।)

४. कर्णसुन्दरीने एक स्थळे कामदेवनी राजधानी कही छे। मूर्तिर्लोकत्रयविजयिनी राजधानी स्मरस्य। १, ५३।

मीनळ साथे लग्न

हतो। प्र० चि० मां तेना पूर्व जन्मनी कथा आपवामां आवी छे एनो अर्थ एज थाय छे। ते दक्षिणमां आवेला चन्द्रपुरना कदम्बवंशी राजा जयकेशीनी पुत्री हती एवो द्व्याश्रय काव्यमां उल्लेख छे[1]। कर्णनां समयमां कदम्बवंशी राजा जयकेशीनुं राज्य गोवामां हतुं एम अत्यारसुधीमां इतिहासमां जणायुं हतुं, पण हेमचंद्राचार्ये जणावेलुं नाम सत्य हशे के केम ते संबंधी शंका हती, केमके चंद्रपुरनो पत्तो लागतो न होतो। डॉ० फ्लीटे तेने बेलगाँव परगणामां आवेलुं चन्दगढ धार्युं हतुं[2], परन्तु त्यां ते समये कदम्बवंशनुं राज्य हतुं नहि, हालमां तेनो पत्तो लाग्यो छे। ए चन्द्रपुर ते गोवानी पासे आवेला सालसेट परगणानुं चन्दोर गाम छे[3]। जयकेशीना पूर्वजोनुं राज्य चन्द्रपुरमां हतुं, परन्तु गोवाने जीती लेइ जयकेशीए तेने पोतानी राजधानीनुं शहेर बनाव्युं हतुं। एना पिताना एक ताम्रपत्रमां चन्द्रपुरनो उल्लेख छे[4]।

मीनळदेवीनो पिता जयकेशी सं० १०३६ मां मरण पाम्यो हतो[5]। तेनुं लग्न तेना पितानी हयातीमां थयुं हतुं एम प्र० चि० अने द्व्या० का० उपरथी जणाय छे। आथी एनुं लग्न सं० १०३० मां थयुं हशे। सोमनाथना यात्रावुओनां दुःख सांभळीने तेणे गुजरातना राजाने वरवानो स्वयं निर्णय कर्यो हतो, तेथी लग्न वखते तेनी उमर मोटी होवी जोइए। ते पन्दर वर्षनी धारीए तो तेनो जन्म सं० ११२५ मां अटकळी शकीए।

सिद्धराजनो जन्म

प्र० चि० मां लख्युं छे के कर्णना मृत्युसमये सिद्धराजनी उमर त्रण वर्षनी हती, तेथी तेनो जन्म सं० ११४७ मां ठरे। दि० ब० केशवलाल ध्रुव सिद्धराजना जन्मनुं वर्ष सं० ११४५ माने छे, ते एवा कारणथी के सिंहासन उपर चढनार बालक पाँच वर्षथी ओछी उमरनो होवो जोइए नहि[6]। परन्तु सिंहासन उपर चढी बेसवाना कारणथी जे बालकनो राज्याभिषेक थाय ए वात मानवा जेवी न थी। द्व्याश्रयमां एम हकीकत छे के पोतानुं शेष आयुष्य हरिस्मरणमां गाळवाना आशयथी कर्ण सिद्धराजने राज्याधिकार धारण करवा कहे छे, पण ते प्रथम ना पाडे छे, परन्तु पिताना अत्यंत आग्रहथी स्वीकारे छे[7]। हवे, पितानी साथे आ प्रमाणे बकझक करनार बालक कंइक समजणो तो होवो जोइए। तेथी

---

[1] अवाच्यां स्फरिकाश्यास्त नाम्ना चन्द्रपुरं पुरं।
× × × ×
राजेह जयकेशी यं स्तुतो वित्तश्च रोदसी ॥
× × × ×
कन्या जयति तस्यैषा मयणल्लेति नामतः।
× × × ×
अनया द्योतयामाहे कदम्बकुलमुज्ज्वलम् ॥
९–९९, १००, १५३।

[2] बं० गै०, जि० १, भा० १, पृ० ५६८।

[3] एच० एम० मारेस—कदम्बकुल, पृ० १६९।

[4] वही, पृ० १०९।
यः प्राप्य चन्द्रपुरमिन्द्रपुरातिरेकं श्रीधारके निजनिवासमलंचकार।
पृ० ३९०।

[5] वही, पृ० १६६।

[6] बुद्धिप्रकाश, नवेंबर, १९२७।

[7] सर्ग १२, श्लो० ९५—१०३।

तेनी उमर दश वर्ष करतां न्हानी न होवी जोइए। ए हिसाबे सिद्धराजनो जन्म सं० ११४० मां होवानो वधारे सम्भव छे। आथी ते वखते मीनळदेवीनुं वय २५ वर्षनुं होवुं जोइए। द्व्या० का० मां लख्युं छे के कर्णे श्री महालक्ष्मी देवीनी उपासना करी तेथी पुत्रनो जन्म थयो हतो। एथी पण जणाय छे के मीनळदेवीनी उमर पुत्रजन्म समये मोटी होवी जोइए।

सिद्धराजनो जन्म पालणपुरमां थयो हतो, एम प्रथम फॉर्बस साहेबे रासमाळामां लख्युं हतुं। त्यार पछीना वार्ता अने इतिहास लेखकोए ए बात स्वीकारी छे[1], परन्तु कोइ प्राचीन ग्रन्थमां एनो उल्लेख नथी। परन्तु ए वात खोटी छे, कारण के पालणपुर सिद्धराजना जन्म पछी लगभग सो वर्षे आबुना परमार राजा धारावर्षना न्हाना भाइ प्रह्लादनदेवे वसाव्युं हतुं अने तेना नाम उपरथी ए नगरनुं नाम (प्रह्लादनपूर) पड्युं हतुं[2]। द्व्याश्रय उपरथी जणाय छे के तेनो जन्म पाटणमांज थयो हतो।

कर्णनुं मृत्यु

कर्णनुं मृत्यु केवी रीते थयुं हतुं ते सम्बन्धी बे मत छे। गुजरातना प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थो तेनुं मृत्यु कुदरती रीते थयुं हतुं एम कहे छे, ज्यारे हम्मीर काव्य जणावे छे के कर्णने शाकम्भरी (अजमेर)ना चौहाण राजा दुःशले युद्धमां मार्यो हतो[3]। आ वात केटलाक विद्वानो खरी मानता होय तेम जणाय छे। परन्तु हम्मीर काव्यनी वात मने निर्मूल जणाय छे। एनां कारणो नीचे प्रमाणे छे—

(१) हम्मीर काव्य सं० १४६० मां एटले मूळ बनाव पछी त्रण सो वर्ष केडे रचायुं हतुं[4]। प्र० चि० तेना पहेलां सो वर्ष उपर (सं० १३६१) रचायो हतो अने द्व्याश्रय काव्य तो मूल बनाव पछी मात्र पोणो सो वर्ष बादज लखायुं हतुं। आ बे ग्रंथो ह० का० करतां प्राचीन होवाथी तेमनी हकीकत तेना करतां वधारे विश्वसनीय गणावी जोइए। आ बे ग्रन्थोमां कर्णनुं मृत्यु कुदरती रीते थयुं हतुं एम स्पष्ट उल्लेख छे।

(२) एम कहेवामां आवे के प्र० चि० अने द्व्या० का० ए ग्रन्थो गुजरातमां रचाया होवाथी तेना कर्ताओए पोताना देशना राजाओने हीणपत लागे तेवी वातो छूपावी हशे। तेना उत्तरमां कहेवानुं के ए वात खरी होय तो चौहाण राजाओना कोइ पण शिलालेखमां तेनो उल्लेख केम नथी। वळी दुःशलना ज वंशना छेल्ला पृथ्वीराजना राजकवि काश्मीरना पंडित जयानके रचेला पृथ्वीराजविजय काव्यमां पण एनो सहेज इसारो सरखोए नथी। ए काव्य चौहाण राजाओनी प्रशंसा करवाना हेतुथी लखायुं हतुं अने ते समयना गुजरातना राजा भीमदेव (बीजो) अने पृथ्वीराजने दुश्मनावट हती, तो ए वात छुपाववाने पृ० वि० का० ना कर्ताने कशुंज कारण न होतुं। ए काव्यमां कर्णनो उल्लेख पण एक जगाए थयो छे[5]। छतां तेनुं मृत्यु चौहाण राजाना हाथे थयानुं लख्युं नथी। तेमां लख्युं छे के मेवाडना राजा

---

[1] रासमाला (गु० भा० बीजी आवृत्ति), पृ० १५३; बॅं० गै०, जि० १, भा० २, पृ० १७१; गुजरातनो प्राचीन इतिहास (गो० हा० देसाइ), पृ० २६६; महाराणी मयणल्ला (ना० वि० ठक्कुर)।

[2] पार्थपराक्रम-व्यायोग-उपोद्घात (गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़)।

[3] नाकेशनारीजनगीयमानगीतामृतास्वादवितीर्णकर्णम्।
श्रीकर्णदेवं समरे विधाय तद्राज्यलक्ष्मीं परिणीतवान् यः॥
२, ३१॥

[4] पं० गौरीशङ्कर ओझा—बु० प्र०, सप्टेम्बर, १९३०।

[5] स० ५, श्लो० ७८।

अम्बिकाप्रसादने वाक्पतिराजे कटारथी मार्यो हतो[1]; कर्णने मार्यानी वात खरी होत तो ए वात पण ए काव्यमां नोंधाया विना रहेत नहि।

(३) हम्मीरकाव्यना लेखके घणी उटांग वातो लखी छे। चौहाणोना हाथे घणा मुसलमान राजाओ मरायानी वातो तेमां छे, परन्तु एमांनी घणी साबीत थइ शकती नथी। तेमां गुजरातना राजा मूलराजने विग्रहराजे मार्यो हतो एम पण लख्युं छे[2]। आ वात स्पष्ट रीते असत्य छे, केमके विग्रहराज अने मूलराजने युद्ध मूलराजना राज्यना आरम्भकाळमां थयुं हतुं। मूलराजने मार्या सम्बन्धी वात पण चौहाणोना शिलालेखोमां के पृ० वि० का० मां जणावेली नथी। ए काव्यमां तो एटलुंज लख्युं छे के विग्रहराजना हुमलाथी मूलराज कंथा दुर्गमां भराइ बेठो हतो[3]। आटली वात तो खरी छे, केमके प्र० चि० मां पण लख्युं छे के विग्रहराज अने बारपना सामटा हल्लाथी मूलराजने कच्छना कंथकोटना किल्लामां नासी जवुं पड्युं हतुं। ह० का० नी अन्य वातो आ प्रमाणे निर्मूल होय तो, कर्णना मृत्युनी वात पण असत्य होय एमां कंइ आश्चर्य नथी।

(४) दुःशलनुं नाम शिलालेखो के पृ० वि० का० मां नथी। ह० का० ना कर्ताए दुर्लभराजने ए नाम आप्युं होय एम जणायछे। कर्ण अने दुर्लभराज समकालीन हता पण नहि, कारण के दुर्लभराजना उत्तराधिकारी विग्रहराज त्रीजानो समय एक प्रमाण थी सं० ११३६ ठरे छे[4]। आथी दुर्लभराज के दुःशलनुं मृत्यु सं० ११३६ पहेलां थयुं हशे ए नक्की छे, हवे जो दुःशल ए वर्ष पछी हयात न होय तो ते सं० ११५० मां कर्णने केवी रीते मारी शके? पृ० वि० का० उपरथी पण जणाय छे के दुर्लभराज अने कर्ण नहि, पण विग्रहराज अने कर्ण समकालीन हता, केमके उदयादित्यने कर्णना विरुद्ध विग्रहराजे सहाय आपी हती एम तेमां जणाव्यु छे[5]। आ बधां प्रमाणोनो विचार करतां जणाय छे के कर्णना मृत्यु-सम्बन्धी ह० का० नी वात असत्य अने निर्मूल छे, प्र० चि० उपरथी जणाय छे के तेनुं मृत्यु कर्णावतीमां थयुं हतुं, अमदाबादमां सारङ्गपुर दरवाजा बहार रणमुक्तेश्वर महादेवनुं देवालय छे। एनुं मूल नाम कर्णमुक्तेश्वर हशे अने कर्णने ज्यां अग्निदाह देवामां आव्यो हतो ए जगाए बन्धाव्युं हशे ए दि० ब० केशवलाल ध्रुवनुं धारवुं छे[6]।

---

[1] तस्माद्वाक्पतिराजेन सम्भूतमवनीभुजा।
× × × ×
भिन्नमम्बाप्रसादस्य येनच्छुरिकया मुखम्॥
५, ५८—६०।

[2] अप्युग्रवीरव्रतवीरवीरसंसेव्यमानक्रमपद्मयुग्मम्।
श्रीमूलराजं समरे निहत्य यो गुर्जरं जर्जरतामनैषीत्॥
२, ९।

[3] त्यक्तं तपस्विना (स्वच्छं) यशोंशुकमितीव यः।
गुर्जरं मूलराजाख्यं कंथादुर्गमवीविशत्॥
५, ५१।

[4] ना० प्र० पत्रिका भा० १२, अं० ३, पृ० २९२।

[5] जुओ टिप्पण ४ (पृ० १९)।

[6] बु० प्र० नवेंबर, १९२७।

कर्णनां बांधकाम

सिद्धराजे घणां लोकोपयोगी बांधकाम कराव्यां हता, परन्तु ए काममां प्रेरणा तेने कर्णनां बांधकामोमांथी मळी हती। तेनी माताना नामथी पाटणमां एक भव्य अने विशाल वाव बंधावी हती अने पोताना नामथी एक बहु ऊँचो महेल 'कर्ण-मेरु-प्रासाद' बंधाव्यो हतो। मोढेरा पासे कर्णसागर नामनुं तळाव बंधाव्युं हतुं अने त्यां कर्णेश्वर महादेवनुं मन्दिर कराव्युं हतुं। ए तळावमां रूपेण नदीने वाळीने पाणी लाववामां आव्युं हतुं, परन्तु सं० १८७०नी अतिवृष्टिमां ए नदीमां पुर आववाथी ए तळाव तूटी गयुं हतुं[1]। हालमां ए जगाए कर्णसागर नामनुं गामडुं वसेलुं छे। असावलना विजयना स्मारकमां तेणे अमदाबादना कोचरब गाम पासे जयवती मातानुं मन्दिर बंधाव्युं हतुं। अमदाबादनुं कांकरीउं तळाव पण तेनुं बंधावेलु हशे एम धारवामां आवे छे।

सोमनाथनी यात्रा

कर्णना मृत्यु पछी तुरत मीनळदेवी बालक सिद्धराजने लेइने भरुच पासे शुक्लतीर्थमां गइ हती[2]। कर्णनी उत्तरक्रिया कदाच त्यां करी हशे। त्यां जवामां तेनो आशय सोमनाथना यात्राळुओनो कर काढी नांखवानो हशे। त्यां आ वेला बाहुलोड (भालोद) गाम आगळ ए कर लेवातो हतो। सोमनाथना यात्राळुओने आशो भिल्ल अने बाबरो कोळी ए बे लुंटाराना त्रासमांथी कर्णपासे मुक्ति अपावी हती, पण यात्राळुओना करनी वार्षिक उपज बोतेर लाख रुपीआ जेटली मोटी होवाथी कर्ण ए कर काढी शक्यो न होतो, ते मीनळदेवीए सिद्धराजपासे काढी नंखाव्यो त्यांथी ते सोमनाथनी यात्राए गइ हती।

योजकनी चढाइ

मीनळदेवी सोमनाथनी यात्राए गइ हती ते वखते मारवाडमां आवेला नड्डूलना चौहाण राजा योजके पाटण उपर हुमलो कर्यो हतो अने थोडो समय राजगादी उपर बेठो हतो[3]। आ वखते पाटणनो कारभार सांतू मंत्री ने सोंपेलो हतो। तेणे पैसा आपीने योजकने पाछो काढ्यो हतो। नड्डूलना चौहाणोने गुजरातना राजाओ साथे भीमदेवना समयथी विग्रह चालतो हतो। आ हुमलो करनार मालवानो यशोवर्मा हतो एम प्र० चि० मां लख्युं छे, परन्तु ए वात बरोबर जणाती नथी, कारण (१) यशोवर्मा ते समये मालवानो राजा न हतो परन्तु उदयादित्य के तेनो पुत्र लक्ष्मवर्मा हतो, (२) नरवर्माना सं० ११६२ ना नागपुरना शिलालेखमां के सं० ११६४ना उदयपुरना (मालवानुं) शिलालेखमां आ चढाइनो उल्लेख नथी। जो आ चढाइ मालवाना राजाए करी होत तो पोतानां पूर्वजोनां पराक्रमोना वर्णनमां ए वात नरवर्मा जणाव्या विना रहते नहि, अने (३) जो आ चढाइ थइ होत तो सिद्धराज तेनुं वेर लेवा मालवा उपर तुरत चढ़ाइ कर्या विना रहते नहि। ते तो मालवा उपर घणा लांबा काळे सं० ११८० पछी चढाइ करे छे। सिद्धराजे सोरठ उपर सं० ११७० मां चढाइ करी हती ते वखते मालवाना

---

[1] रासमाला, पृ० १४७–१४८।

[2] श्वेताम्बर-दिगम्बर शास्त्रार्थना प्रसङ्गमां प्र० चि० मां लख्युं छे के मीनळदेवीनो पिता दिगम्बर जैन धर्मानुयायी हतो अने मीनळदेवी ए धर्मनी पक्षपातिनी हती। आ वात खरी जणाय छे, कारण मीनळदेवीनी सोमनाथ प्रत्ये असाधारण भक्ति हती। तेनो पितामह षष्ठदेव बीजो अने प्रपितामह गुहल्लदेव बीजो सोमनाथनी यात्राए गया हता। एम ए कदम्बकुलनो इतिहास जोतां जणाय छे। जुओ कदम्बकुल, पृ० १७१, ७६।

[3] जुओ सुंधा पहाडीनो शिलालेख—

श्रीयोजको भूपतिर्यस्य बन्धुर्विवेकसौधप्रबलप्रतापः।
श्वेतातपत्रेण विराजमानः शक्त्याणहिल्लाख्यपुरेपि रेमे ॥ २४ ॥

नरवर्माए के तेना यशोवर्माए पाटण उपर चढाइ करी हशे। प्र० चि० ना कर्ताए सं० ११७०नी चढाइ सं० ११५०मां थएली गणी छे। आ प्रमाणे सं० ११५० मां मालवाना राजाए नहि पण नड्डूलना चौहाण राजाए पाटण उपर चढाइ कर्यानुं ठरे छे। सिद्धराजे सोमनाथथी आव्या पछी तुरत नड्डूल उपर चढाइ करीने योजकने नमाव्यो हशे, केमके योजकनो भाइ आशराज सिद्धराजनो मांडलिक बन्यो हतो एम एज सुंधा पहाडीना शिलालेख उपरथी जणाय छे[1] ।

जगदेव परमार

आ योजकना हुमलाथी मीनळदेवीने एम लाग्युं हशे के राजधानीना अने बालराजाना रक्षणमाटे नगररक्षक तरीके शूरवीर क्षत्रियनी जरुर छे। तेथी मालवाना उदयादित्यना पुत्र जगदेवने नगररक्षक नीम्यो हतो। जगदेवने अत्यारसुधी ऐतिहासिक व्यक्ति मानवामां आवतो न होतो, परन्तु जुन्नैदना शिलालेखथी हवे सिद्ध थयु छे के ते मालवाना परमार राजा उदयादित्यनो पुत्र हतो। ते गुजरातमां सिद्धराजना राज्यना छेवटना भागमां आव्यो हतो। एम अटकळ करवामां आवे छे, परन्तु कीर्तिकौमुदीना बे श्लोकोमां एम लख्युं छे के सिद्धराजना समयमां ज्यारे जगदेव नगररक्षक हतो अने बाल मूलराजना समयमां प्रतापसिंह राठोड नगररक्षक हतो त्यारे राजधानीमां पेसवानी शत्रुओनी हिम्मत चालती न होती। तेवो कोइ क्षत्रिय बाल भीमदेवना (बीजो) समयमां नहि होवाथी आरम्भमां तेना राज्यमां अन्धाधुन्धी प्रवर्ती हती[2] । आ उपरथी जणाय छे के जगदेव परमार सिद्धराजना राज्यना आरम्भमां गुजरातमां रह्यो हशे[3] । त्यांथी ते दक्षिणमां गयो हशे एम दक्षिणना शिलालेख उपरथी जणाय छे।

बिल्हणनुं आगमन

आज समयमां काश्मीरी पंडित बिल्हण पाटणमां आव्यो हतो। तेणे कर्णने नायक कल्पीने कर्णसुन्दरी नाटिका लखी छे। तेमां कर्णनी पट्टराज्ञीना विरोध छतां सम्पत्कर महामात्यनी युक्तिथी कर्णनुं लग्न गांधर्व कन्या साथे कराव्युं छे। आ उपरथी नटी नमुञ्जला उपर प्रेम हतो, मीनळदेवी तरफ प्रथम अभाव हतो, वगेरे कथाओ प्रचलित थइ छे। परन्तु ए बधो खोटी छे। ए नाटिकानो हकीकत कर्णावतीने राजधानी करवा सम्बन्धी रूपक छे। एम आगळ जणाव्युं छे। कर्णसुन्दरी

---

[1] श्री आशराजनाम्ना समजनि वसुधानायकस्तस्य बन्धुः
साहाय्यं मालवानां भुवि यदसिकृतं वीक्ष्य सिद्धाधिराजः।
तुष्टो धत्ते स्म कुंभं कनकमयमहो यस्य गुप्यद्गुरुस्थं
तं हन्तुं नैव शक्तः कलुषितहृदयः शेष भूपालवाग्भिः ॥ २६ ॥

[2] मन्त्रिभिर्माण्डलीकैश्च बलवद्भिः शनैः शनैः।
बालस्य भूमिपालस्य तस्य राज्यं व्यभज्यत ॥ ६१ ॥
न राष्ट्रकूटान्वयकैटभारिः प्रतापमल्लोस्ति मृधैकमल्लः।
गन्धोपि मत्तारि मतङ्गजानां गन्धद्विपेनेव न येन सेहे ॥ ६८ ॥
विना जगद्देवमिमामवस्थां नीता निजैरेव परैरिवाहम्।
यत्र स्थिते वैरिणि शंकितैर्नै द्विष्टैः प्रविष्टं पुरि गुर्जराणाम् ॥ ६६ ॥ स० २।

[3] भाटोनी वातोमां जगदेव सं० ११५२ मां आव्यानुं एक दोहरामां जणाव्युंछे ते बरोबर छे—
संवत ग्यार सै इक्यावन जेत सुदी रविवार।
जगदेव सीस समर्पिया धारनगर पंवार ॥

नाटिका कर्णना जीवतां रचाइ हती एम घणानुं धारवुं छे। पण हुँ तेम मानतो नथी, केमके जो तेम होत तो ए नाटिकानो प्रस्तावनामां ते कर्णना समक्ष अने राजमहालयमांके शिवमन्दिरमां भजवायानो उल्लेख होत, परन्तु तेमां तो ते सम्पत्कर (सान्तू) मन्त्रीए प्रवर्तावेला जैनमन्दिरमां भजवायानो उल्लेख छे[1]। एथी मीनळदेवी सोमनाथनी यात्राए गइ हती अने राज्यकारभार सान्तू मन्त्रीने सोंप्यो हतो ते समये ए नाटिका रचाइ हती। गुजरातथी ते सोमनाथ गयानुं जणावे छे, ते मीनळदेवीने मळवाना हेतु थी त्यां गयो हशे एम लागे छे[2]।

मीनळनी योग्यता

सिद्धराजनी सभामां दिगम्बरो अने श्वेतांबरोनो शास्त्रार्थ थयो ते वखते दिगम्बर आचार्य मीनळदेवीना पोअरना देशना—कर्णाटकना—होवाथी तेनो विजय थाय एम इच्छती हती। अने राजसभाना सभ्योने एवी भलामण पण तेणे करी हती, परन्तु हेमचन्द्राचार्ये तेने एम कह्युं के, दिगम्बरो स्त्रीओए करेला सुकृतो अप्रमाण ठरावशे, तेथी तेणे तेनो पक्ष छोडी दीधो हतो। आ हकीकतथी जणाय छे के मीनळदेवी सुशिक्षित हती, तेने चित्रविद्यानो शोख हतो एम द्व्या० का० मां स्पष्ट उल्लेख छे। छेक दक्षिणमांथी निकळी गुजरातना राजाने परणवा आवी हती ते उपरथी तेनी असाधारण हिंमत जणाय छे। सोमनाथना यात्राळुओना करनी बोतेर लाख टका जेटली मोटी आवक जती करवामां तेनी लोकोपकार वृत्ति जणाय छे। धोलकामां तळाव बन्धाव्युं ते स्थळे एक गणिकानुं घर हतुं। तळावनो आकार बरोबर बनाववा ए घर तोडी नांखवानी जरुर हती, परन्तु मोंमाग्या दाम आपवा छतां ए घर वेचवानी ते गणिकाए ना पाडी, तेथी तळाव ना आकारमां खामी राखी छतां पण ए घर जबरदस्तीथी लीधुं नहि, आ वातथी तेनी न्यायपरायणता तथा उदारचरित जणाय छे।

कर्णने आवी सच्चरिता सहधर्मचारिणी मळवाथी तेना कार्यमां अनेक रीते सहाय मळी हशे। मीनळ मुञ्जालनुं जोडुं जहाँगिर-नूरजहानना जोडानो याद आपे छे। बंनेमां परस्पर घणो स्नेह हतो। जहाँगिरनी उत्तरावस्थामां नूरजहाने राज्यकारभार चलाव्यो हतो, तेम मीनळे सिद्धराजना बाल्यकालमां राज्यकारभार चलाव्यो हतो।

कर्ण पछी प्रतापी सिद्धराजनुं राज्य थवाथी तेनुं तेज झांखुं लागे छे, परन्तु सिद्धराजनी महत्तानां बीज कर्णना समयमां ववायां हतां। गुजरातने जङ्गली लुंटाराओना त्रासमांथी मुक्त करनार कर्ण हतो। सिन्धना

---

[1] न० वस्मिन्नणहिल्लपाटणमुकुटमणौ शान्त्युत्सवदेवगृहे भगवतो नाभेयस्य महामात्यसंपत्करप्रवर्तिते यात्रामहोत्सवे।

[2] कक्षाबन्धं विदधति न ये सर्वदैवाविशुद्धा-
स्तद्धापन्ते किमपि भजते यज्जुगुप्सापदत्वम्।
येषां मार्गे परिचयवशादर्जितं गुर्जराणां
यः सन्तापं शिथिलमकरोत्सोमनाथं विलोक्य॥

वि० दे० च०, १८, ९७।

आ श्लोकमां गुजरातीओनी निन्दा करेली छे, ए उपरथी जणाय छे के सान्तू मन्त्रीना पारितोषिकथी बिल्हणने सन्तोष थयो नहि होय।

कर्णनी योग्यता

मुसलमानोने तेणे जबरी हार खवरावी हती। तेणे पोतानी राजधानी कर्णावतीमां करी हती अने त्रैलोक्यमल्लनुं विरुद धारण कर्युं हतुं, एथी जणाय छे के तेने पोतानां राज्यनो विस्तार करवानी होंश हती। जयकेशीए पोतानी एक पुत्री दक्षिण भारतना चक्रवर्ती विक्रमादित्य छट्ठाने परणावी हती अने बीजी पुत्री कर्णने आपीए हकीकतथी कर्णनी महत्ता समजाय छे। तेने चक्रवर्ती थवानी पण अभिलाषा हती ए वात कर्णसुन्दरी नाटिका उपरथी जणाय छे। सिद्धराजनुं नाम महालयो अने महासरोवरो बान्धवा माटे प्रख्यात छे। तेने ए कामोनी प्रेरणा कर्णनां एवां कामो उपरथी मळी हती, कर्णमेरु प्रासाद उपरथी रुद्रमहालय अने कर्णसागर उपरथी सहस्रलिङ्ग सरोवर बन्धाव्यां हतां। कर्णसागरमां पाणी लाववा जेम कर्णे रुपेण वाळी हती, तेम सहस्रलिङ्गमां सिद्धराजे सरस्वती वाळी हती[1]। कर्ण खरेखर प्रतापी राजा हतो।

सालवारी

कर्णनो राज्याभिषेक	सं० ११२०
मीनळदेवी साथे लग्न	सं० ११३० (आशरे)
सिद्धराजनो जन्म	सं० ११४० (आशरे)
कर्णावतीनी राजधानी	सं० ११५०
सिद्धराजनो राज्याभिषेक	
कर्णनुं मृत्यु	
योजकनी चढाइ	सं० ११५०
जगदेवनुं पाटण आववुं	सं० ११५१

---

[1] सरस्वती पुराणमां उल्लेख छे के सिद्धराज सरोवरमां सरस्वतीने लाव्यो हतो—

स्ववंशपावनार्थं च सिद्धराजः सरस्वतीम्।
तत्सरो ह्यनयद्देवीं गङ्गामिव भगीरथः ॥ २१९ ॥

आ वातने सिद्धराजना कीर्तिस्तम्भना लेखना एक वचनथी पुष्टि मळे छे—

भगीरथस्य त्रिदशापगेव ॥ ८७ ॥
ततः सा पूरयामास सरः सिद्धेशकारितम्।
खानितं सगरेणेव.................

प्रस्थान, भाद्रपद, १९८७।

महाराजा कुमारपाल चौलुक्य

मुनि हिमांशुविजय, न्यायकाव्यतीर्थ।

इतिहास के साथ राजाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजाओं का कार्यक्षेत्र व जीवन-चरित्र विशेष व्यापक होने की वजह से उन के इतिहास से बहुत सी समकालीन घटनाओं का पता लग सकता है।

प्रस्तुत लेख में हम महाराजा कुमारपाल का वृत्तान्त सप्रमाण लिखेंगे, जिन का सम्बन्ध समस्त गुजरात के साथ तो है ही, परन्तु मालवा दक्षिणादि देशों से भी है, और जो चौलुक्यवंश के प्रतापी राजाओं में यशस्वी और अन्तिम राजा हुए हैं।

चावडावंश के भूपाल

विक्रम संवत् ८०२ में चापोत्कटवंशीय वनराज[1] ने गुजरात में जैन मन्त्रों से अणहिल्लपुर (पाटण) की स्थापना की, और वहीं पर अपनी राजधानी क़ायम की। इस प्रदेश की सुन्दरता और सुरक्षितता के कारण क़रीब ६०० वर्ष तक चावडा और चौलुक्यवंशीय राजाओं की यह राजधानी बनी रही। अभी तक यह पाटण[2] हज़ारों धनी और यशस्वी व्यापारियों का नगर प्रसिद्ध है। इस समय यह शहर महाराजा गायकवाड के राज्य में है। महाराजा कुमारपाल के वक़्त में इस शहर में १८०० क्रोडपति थे। टॉड साहब का कहना है कि 'उस वक़्त भारत के सभी शहरों में यह अधिक समृद्ध था जहाँ पूर्वीय और पाश्चात्य वस्तुएँ मिलती थीं।'

---

[1] यह गुजरात और चावडावंश का प्रथम राजा है। शीलगुण सूरि जैनाचार्य ने इस में उत्तम संस्कार डाले थे। दे० प्रबन्ध-चिन्तामणि फ़ार्बससभा, १९३२, पृ० १९।

जैन युग में छपी हुई राजवंशावली में अणहिल्लपुर का स्थापना-काल वि० सं० ९२१ वैशाख सुदि २ रोहिणी नक्षत्र लिखा है। और मेरे पास जो अमुद्रित राजवंशावली है उस में वि० सं० ८०२ लिखा है—

अब्दे युग्मनभोमदालयमिते **चापोत्कटो** भूपतिः
दाताऽभूद् **वनराज** इत्यभिमतो विद्वज्जनैराश्रितः।
षष्ट्यब्दप्रमितं सुराज्यमखिलं भुक्तं च तेनाऽतुलं
व्यक्तश्रीरणहिल्लपत्तनपुरं सन्निर्मितं भूतले ॥ २९ ॥

श्रीमान् तुङ्ग सूरि ने भी **विचारश्रेणि** (जो प्रबन्धचिन्तामणि के पश्चात् लिखी गई है) में वनराज की राज्य-स्थापना वि० सं० ८२१ (ई० ७६४) से लिखी है। और यही साल ठीक है, ऐसा श्रीमान् रा० ब० पं० **गौरीशङ्कर ओझाजी** का मत है।

चापोत्कट, चावडा, चावरा ये एक ही अर्थ के पर्याय हैं।

श्रीमान् ओझाजी का कहना है कि चावडावंश परमारों की शाखा है। दे० टॉड-रा० की टिप्पणी।

[2] वर्तमान में इस को **सिद्धपुर पाटण** कहते हैं।

बड़े-बड़े विद्वानों और कवियों ने इस नगर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है[१]।

वनराज के बाद योगराज, क्षेमराज, भूवड़राज, वयरसिंह, रत्नादित्य, सामन्तसिंह, ये छः राजा चावडावंश के हुए। इन सातों राजाओं का राज्यकाल १९६ वर्ष है, ऐसा गुर्जरदेश-भूपावली[२] से मालूम होता है। टॉड-राजस्थान में १८४ वर्ष लिखे हैं। परन्तु हमें यह ठीक नहीं जँचता।

चौलुक्यवंश के राजा

चौलुक्यवंश का मूलराज वि० सं० ९९८ में गुजरात का पहला राजा हुआ जिस ने ५५ वर्ष पर्यन्त राज्य किया[३]। इस के बाद क्रमशः चामुण्डराज, वल्लभराज, दुर्लभराज, भीमराज (प्रथम), कर्णराज, ये छः राजा हुए जिन्हों ने गुजरात में राज्य कर के प्रजा का पालन किया।

सिद्धराज जयसिंह

कर्णदेव[४] का उत्तराधिकारी गुजरात का राजा उसी का पुत्र सिद्धराज हुआ। इस का राज्याभिषेक वि० सं० ११५० पौष वदि ३ को हुआ। यह राजा बड़ा प्रतापी और विद्वान् था। अतएव पण्डितों का योग्य सत्कार करने का भी इस को पूरा शौक़ था। इसी शौक़ के कारण इस ने कई विद्वानों को सहारा दिया और आचार्य हेमचन्द्र जैसे सर्वदेशीय विद्वान् से सङ्गति कर के उन से एक महान् पञ्चाङ्गी व्याकरण बनाने की नम्र प्रार्थना की। आचार्य हेमचन्द्र ने भूपाल की प्रार्थना को स्वीकार कर के "सवा लाख श्लोक-प्रमाण सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन" नाम का संस्कृत आदि सात भाषाओं का अद्वितीय व्याकरण बना कर गुजरात का, सिद्धराज का और अपना गौरव बढ़ाया[५]। और भी विश्वेश्वरदेवबोध, श्रीपाल, वाग्भट, वादिदेव सूरि प्रभृति जैन विद्वानों के ऊपर उस की बहुत भक्ति थी। इसी कारण यद्यपि पहले उस की जैन धर्म पर रुचि नहीं थी परन्तु जैन विद्वानों के समागम से उस ने कई जैन मन्दिर भी अपने ख़र्चे से बनवाए थे और जैन धर्म पर प्रेम रखता था[६]। सोमनाथ के ऊपर इस की विशेष भक्ति थी।

सिद्धराज के कोई पुत्र नहीं था। इसलिए वह हमेशा चिन्ताकुल रहता था कि मेरा उत्तराधिकारी कौन होगा। इस बात का समाधान कई ज्योतिर्विदों और श्री हेमचन्द्राचार्य से राजा ने पूछा। सब से यही उत्तर

---

[१] संस्कृत और प्राकृत द्व्याश्रय काव्य और कुमारपाल-प्रबन्ध।

[२] श्लो० ३३; यह ग्रन्थ अभी तक छपा नहीं है। मेरे पास इस की प्रेस कापी है।

[३] मूलराजस्ततो जज्ञे वसुनन्दाङ्कहायने।
पञ्चपञ्चाशद्शरदां स्वच्छं राज्यं चकार सः ॥ गु० दे० भू० ३४ ॥

टॉड महोदय ने मूलराज का राज्यकाल ५८ वर्ष लिखा है। टॉ० रा० पृ० ७०५।

चौलुक्य, चौलुक, चालुक्य, चौलक और सोलङ्की ये पाँचों एक ही अर्थ के वाचक हैं। चौलुक्यों ने पहले अयोध्या में, बाद दक्षिण में और पीछे गुजरात में राज्य किया। प्रथम जयसिंह (ई० स० ५०७) के क़रीब से सोलङ्कियों का शृङ्खला-बद्ध इतिहास मिलता है जो दक्षिण का राजा था। ऐसा श्रीमान् ओझाजी का मत है।

[४] इस का राज्यकाल वि० सं० ११२० से ११५० तक है। यह भीमदेव का पुत्र था। महाकवि वाग्भट इस का प्रिय मित्र था। इस ने 'वाग्भटालङ्कार' में सिद्धराज की कई जगह स्तुति की है। इस राजा का सम्पूर्ण इतिहास आचार्य्य श्री हेमचन्द्र ने संस्कृत द्व्याश्रय काव्य में लिखा है। प्रबन्धचिन्तामणि में इस का प्रबन्ध स्वतन्त्र है।

[५] 'प्रभावकचरित्र' में हेमचन्द्र सूरि-प्रबन्ध श्लो० ७१ से ११५।

[६] प्रभावकचरित्र। टॉड साहब ने और इद्रिसी ने, जैन बौद्ध को एक मान कर, सिद्धराज को बौद्ध-धर्मी माना है। पर यह बात ठीक नहीं है। यह शैव-धर्म को पालता था और जैन-धर्म का उत्तेजक व प्रशंसक था। बौद्ध-धर्म तो उस समय विलीनप्राय था। भारत के बहुत विद्वानों ने जैन मन्दिर, मूर्त्ति, साधु व राजाओं को बौद्ध मानने की पहले गम्भीर भूलें की हैं।

मिला कि तुम्हारे पीछे राज्याधिकारी त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल होगा जो बड़ा प्रतापी और न्यायी होगा[१]।

कुमारपाल के पूर्वजों के विषय में भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के जुदे-जुदे उल्लेख मिलते हैं। प्रबन्धचिन्तामणिकार भीमदेव का पुत्र हरिपाल, हरिपाल का त्रिभुवनपाल और त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल बताते हैं। साथ-साथ यह भी बतलाते हैं कि भीमदेव ने चउलादेवी नाम की वाराङ्गना रक्खी थी, जो सदाचारिणी और नीतिमती थी। उस से हरिपाल का जन्म हुआ। परन्तु यह बात और कहीं देखने में नहीं आती।

महाराजा कुमारपाल

प्रभावकचरित्र में लिखा है कि देवप्रसाद, कर्णराज का भाई (भीम का पुत्र) था, उस का पुत्र त्रिभुवनपाल, और उस का पुत्र कुमारपाल राजा के उत्तम लक्षणों से युक्त था। कुमारपालप्रतिबोध के कर्ता भीम का पुत्र क्षेमराज, उस का पुत्र देवप्रसाद और देवप्रसाद के पुत्र त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल बतलाते हैं[२]। कुमारपाल चौलुक्यवंशी प्रथम भीम के कुल का और त्रिभुवनपाल का पुत्र था। इस में तो किसी का मत-भेद नहीं है।

कुमारपाल छत्तीस प्रकार की शस्त्रकला में प्रवीण, बहादुर, कृतज्ञ और उद्यमी था।

सिद्धराज ने जब सुना कि मेरे सन्तान न होगी और कुमारपाल उत्तराधिकारी होगा तब उस को बहुत दुःख हुआ। कुमारपाल को किसी तरह वह अपने राज्य का मालिक बनाना नहीं चाहता था। सम्भव है कि कुमारपाल के एक पूर्वज के वेश्या से उत्पन्न होने के कारण वह उस को भी नीच समझ कर घृणा करता हो। कुछ भी हो, कुमारपाल को मारने का विचार कर के उसने चारों ओर अपने सिपाही दौड़ाए[३]।

कुमारपाल का भविष्य

जब कुमारपाल को यह मालूम हुआ कि सिद्धराज मुझे मारना चाहता है तब वह पाटण से निकल कर गुप्त वेष में इतस्ततः परिभ्रमण करने लगा। कई बार वह क़रीब-क़रीब दुश्मन के हाथ पड़ गया परन्तु अपनी चालाकी से बचा। कई बार इसे अपने प्राण बचाने को काँटों की बाड़ों और झाड़ों में छिपना पड़ा। जङ्गलों में एकाकी भूखे-प्यासे घूम कर के इस ने बहुत कष्ट उठाए। पास में ख़र्च को कौड़ी भी नहीं थी। घूमता-घूमता यह खम्भात में उदयन मन्त्री के यहाँ

कुमारपाल का दुःख-प्रवास

---

१. 'प्रभावकचरित्र' में लिखा है कि हेमचन्द्र सूरि ने तीन उपवास और ध्यान कर के अम्बा देवी को प्रत्यक्ष किया, और सिद्धराज के उत्तराधिकारी के विषय में पूछा। देवी ने उत्तर दिया कि इस राजा के भाग्य में संतति नहीं है। अतः इस राजा के भाई का पुत्र कुमारपाल, जो पुण्य प्रताप और महिमा से युक्त है, राजा होगा; दूसरे राज्यों को भी अपने अधीन करेगा और जैन-धर्म को पालेगा। श्लो० ३४२।

२. एक राज-वंशावली में **जामेयः सिद्धराजस्य** अर्थात् कुमारपाल सिद्धराज का भाणेज था, लिखा है परन्तु यह बात सत्य नहीं मालूम होती, क्योंकि सभी तत्कालीन प्राचीन ग्रन्थों में कुमारपाल को भीमवंशीय चौलुक्य बतलाया है। और जामेय लिखने-वाला ग्रन्थकार बहुत पीछे का (अर्वाचीन) है। टॉड-राजस्थान के कर्ता कुमारपाल को चौहाणवंशी लिखकर सिद्धराज का उत्तराधिकारी लिखते हैं। और एक जगह पर दत्तक पुत्र लिखते हैं। यह बात किसी पुराने ग्रन्थ में देखने में नहीं आती। सभी प्राचीन लेखक कुमारपाल को चौलुक्य ही बतलाते हैं। **सं० द्व्याश्रय** के टीकाकार अभयतिलक लिखते हैं—सिद्धराज त्रिभुवनपाल का चचा लगता था अतः कुमारपाल का सिद्धराज पितामह हुआ।

३. आचार्य्य हेमचन्द्र ने इस बात का उल्लेख कहीं पर नहीं किया है, परन्तु प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में कुमारपाल के प्रति, सिद्धराज का कोप स्पष्ट दिखता है। विशेष में जिनमंडनगणि कुमारपाल-प्रबन्ध में लिखते हैं—कुमारपाल के पिता त्रिभुवनपाल को सिद्धराज ने मरवा दिया था। इनके प्रति सिद्धराज के प्रचण्ड कोप का कोई कारण हमारी समझ में अभी तक नहीं आया।

खाने-पीने का कुछ साधन माँगने पहुँचा। उदयन[1] उस समय आचार्य हेमचन्द्र के पास बैठकर धर्म-चर्चा कर रहे थे। कुमारपाल वहाँ पौषधशाला में गया। उदयन से बातें हुईं। हेमचन्द्राचार्य ने उस के लोकेतर लक्षण देख कर मन्त्री के आगे कहा कि यह बहुत बड़ा राजा होगा। कुमारपाल बहुत थक गया था। निराश भी बहुत हो गया था। हेमचन्द्र सूरि ने विश्वास दिला कर कहा कि यदि वि० सं० ११९९ कार्तिक[2] वदि २ को तुम को राज्य न मिलेगा तो मैं ज्योतिष और निमित्त शास्त्र को देखना छोड़ दूँगा[3]।

हेमचन्द्राचार्य्य से भेंट

आचार्य का निर्णय सुन कर कुमारपाल बहुत चमत्कृत हुआ। उस के मन में बड़ी श्रद्धा हुई। प्रसन्न हो कर उस ने हेमचन्द्र सूरि से कहा—आप की बात सत्य होगी तो आप ही राजा हैं, मैं तो आप का दास रहूँगा[4]। आचार्य ने कहा कि हम तो निःस्पृही हैं। हमें राज्य से कोई प्रयोजन नहीं। कामिनी-काञ्चन को हम स्पर्श तक नहीं करते। साहित्य-सेवा और धर्मोपदेश हमारा व्यवसाय है। तुम अपनी कृतज्ञता के लिए जैन-धर्म और देश की सेवा करने का प्रयत्न करना। आचार्य का वचन बड़ी श्रद्धा से कुमारपाल ने स्वीकार किया। कुमारपाल और हेमचन्द्र की यह पहली ही मुलाक़ात थी। परन्तु इन में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जुड़ गया, जो दिन-वदिन इतना बढ़ा कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त की दूसरी आवृत्ति जैसा हो गया।

मन्त्री उदयन ने हेमाचार्य के कहने से कुमारपाल का योग्य सत्कार कर कुछ धन दे कर उस को रवाना किया। कहा जाता है कि हेमचन्द्र भी इस की रक्षा के लिए सावधान रहते थे। कई बार हेमचन्द्र ने अपने उपाश्रय में छिपा कर भी इस को बचाया।

कुमारपाल मालवे में उज्जैन गया। वहाँ कुडङ्गेश्वर[5] मन्दिर में उस ने एक शिलालेख देखा जिस में निम्न गाथा लिखी थी—

पुन्ने वाससहस्से सयम्मिवरिसाण नवनवअहिए।
होही कुमर नरिन्दो तुह विक्कमराय सारिच्छो॥ १॥

अर्थात् हे विक्रम! ११९९ वर्ष के बाद तुम्हारे जैसा कुमारपाल राजा होगा[6]। कुमारपाल को यह गाथा पढ़ने से साश्चर्यानन्द हुआ और आचार्य हेमचन्द्र के वचन पर विशेष विश्वास हुआ।

---

[1] यह मारवाड़ का जैन वणिक् था, पर बड़ा ही वीर, चतुर और प्रतिभासम्पन्न था। इसलिए गुजरात में आकर इस ने बहुत लक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त की। यह सिद्धराज और कुमारपाल का मुख्य मन्त्री (महामात्य) हुआ। महाकवि वाग्भट इसी का पुत्र था।

[2] जिन मण्डनगणि ने कुमारपाल का राज्यारोहण-काल वि० सं० ११६६ मार्गशीर्ष कृष्णा ४ पुष्य नक्षत्र और मीन लग्न लिखा है। पं० शिवदत्तजी ने हेमचन्द्राचार्य के लेख में ११६६ मार्गशीर्ष कृष्णा १४ मालूम नहीं, किस आधार पर लिखा हैं। प्र० चि० (पृ० १२५) में तो वि० सं० ११६६ कार्तिक कृष्णा २ का उल्लेख है।

[3] तं पौषधशालामागतमाकर्ण्य तत्रागते तस्मिन्नुदयनेन पृष्टः—श्रीहेमचन्द्राचार्यः प्राह—लोकोत्तराणि तदङ्गलक्षणानि वीक्ष्य सार्वभौमोऽयं नृपतिर्भावीत्यादिशत्।...सं० ११६६ कार्तिक वदि २ रवौ हस्तनक्षत्रे यदि भवतः पट्टाभिषेको न भवति तदातः-परं निमित्तावलोकसंन्यास इति पत्रमालिख्यैकं मन्त्रिणेऽपरं तस्मै समारोपयत्। प्र० चि० पृ० १२५।

[4] यद्यदः सत्यं तदा भवानेव नृपतिः, अहं तु त्वच्चरणरेणुः। प्र० चि० कुमारपाल-प्रबन्ध—पृ०१२६।

[5] यह महाकाल का मन्दिर होना चाहिए। जैन इतिहास कहता है कि इस का निर्माता जैन था। इस में **अवन्ती पार्श्वनाथ** की मूर्ति थी, परन्तु ब्राह्मणों ने उस को उठा कर अपनी सत्ता जमा ली। दे० प्रबन्धचिन्तामणि।

[6] प्रबन्धचिन्तामणि के अन्तर्गत विक्रम-प्रबन्ध में लिखा है कि जब विक्रम ने **सिद्धसेन दिवाकर** से पूछा कि मेरे जैसा कोई अन्य राजा होगा तब सिद्धसेन ने विक्रम के आगे 'पुन्ने वाससहस्से' गाथा कही थी। दे० विक्रम प्र० पृ० १३।

वि० सं०[1] ११९९ में जब सिद्धराज जयसिंह का स्वर्गवास होने का समाचार कुमारपाल ने सुना, तब वह बड़ी ही शीघ्रता से पाटण में पहुँचकर अपने बहनोई कान्हडदेव के यहाँ जा कर ठहरा, जो सिद्धराज का दस हज़ार घोड़ों का सेनापति था।

राज्य-प्राप्ति

राज्याभिषेक किस का करना ? इसका निश्चय करने के लिए जब सभा हुई तब कान्हडदेव, कुमारपाल को स्नान करवा कर वस्त्रादि से अलंकृत कर के राज्य-कचहरी में ले गया। पहले दो क्षत्रिय युवक भी राजा बनने के लिए वहाँ आए थे, परन्तु उन में वीरता और प्रभाव की योग्यता न देख कर लोगों ने उन्हें पसन्द न किया। कान्हडदेव के इशारे से कुमारपाल ऊँचे आसन (स्टेज) के ऊपर चढ़कर अच्छी तरह से डुपट्टे का आसन बिछा कर प्रतापयुक्त नेत्र करके बड़ी कुशलता से तलवार घुमाने लगा। लोगों ने पूछा, राजा हो कर क्या करोगे ? उत्तर में कुपारपाल ने कहा कि पृथ्वी का शासन करूँगा। बस अब क्या था ! सब लोगों ने समझा कि यही प्रभावशाली है, अतः राज्य के योग्य है। सब ने एकमत हो कर समारोहपूर्वक कुमारपाल का राज्याभिषेक किया। वि० सं० ११९९ कार्तिक कृष्णा २ को उच्च ग्रहों के आने पर कुमारपाल सिद्धराज की राजगद्दी पर बिठाया गया था। उस वक़्त यह क़रीब ५० वर्ष का था।

कृतज्ञता

आज कुमारपाल की कई दिनों की आशा सफल हो गई। उस ने राज्य प्राप्त कर के जो-जो उस के उपकारी थे, उन को यथायोग्य बदला दे कर कृतज्ञता प्रकट की। उदयन को मुख्य मन्त्री, वाग्भट को नायब दीवान, निंभाडे में छिपाकर रक्षा करने वाले आलिङ्गराज को सात सौ गाम वाली चित्तोडपट्टि का मालिक, काँटे में छिपा कर बचाने वाले को अङ्गरक्षक, जङ्गल में भोजन देने वाली एक बाई को धोलेरा की स्वामिनी, और अन्न देने वाले एक वैश्य को बड़ोदे का राजा बनाकर कुमारपाल ने प्रत्युपकार किया।

कान्हडदेव, जो कुमारपाल का उपकारी और बहनोई था, मना करने पर भी ऑफ़िसरों के सामने खुल्लमखुल्ला बार-बार कुमारपाल को उपालम्भ देता तथा उपहास करता था। अतः कुमारपाल ने उस का अङ्गच्छेद करवाया, ताकि आयन्दः, अग्नि की तरह, और कोई मेरा अपमान न करे[2]। जो हो, जैसे श्रीरामचन्द्रजी ने सीताजी को एकाकिनी जङ्गल में भेज कर अन्याय किया वैसे कुमारपाल ने इस उपकारी के प्रति कृतघ्नता कर के अपने शुभ्र यश में ज़रा कलङ्क लगाया है, ऐसा मेरा मत है।

कुमारपाल के राजगद्दी पर आते ही सिद्धराज के दुश्मन राजा, कुमारपाल को दबाने का और गुजरात के राज्य को छीनने का चारों ओर यत्न करने लगे। आचार्य हेमचन्द्र के संस्कृत द्व्याश्रय काव्य[3] से पता चलता

---

[1] टॉड-राजस्थान में सिद्धराज का राज्यकाल १२०१ विक्रम तक लिखा हैं, जो प्रमाण से बाधित है।

[2] आदौ मयैवायमदीपि नूनं न तद्हेन्मामवहेलितोऽपि।
इति अमादङ्गालपर्षणाऽपि स्पृश्येत नो दीप इवावनीपः ॥ प्र० चि० पृ० १२७ ॥

[3] सिद्धहेम नामक हैम व्याकरण-सूत्रों के उदाहरणार्थ यह ग्रन्थ भट्टिकाव्य की पद्धति का बनाया गया है। इस में श्रीमूलराज से गुजरात का विस्तृत इतिहास निबद्ध है। सोलहवें सर्ग से कुमारपाल-चरित्र का प्रारम्भ होता है। बम्बई गवर्नमेंट सिरीज़ में यह सम्पूर्ण ग्रन्थ सटीक दो भागों में छपा है। महाराजा गायकवाड ने इस का गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित करवाया है। कुमारपाल का शेष जीवन प्राकृत द्व्याश्रय काव्य में इन्हीं आचार्य ने लिखा है। यह भी उपर्युक्त 'सिरीज़' से प्रकाशित हुआ है। ये दोनों ग्रन्थ सोलङ्कियों के विषय में बहुत प्रकाश डालते हैं, क्योंकि ये सिद्धराज और कुमारपाल के जीवनकाल में लिखे गए हैं। **सिद्धहेम व्याकरण** की ३२ श्लोकों की प्रशस्ति भी सोलङ्की इतिहास के लिए उपयुक्त है।

शत्रुओं का प्रयत्न

है कि उत्तर से सपादलक्ष के आन्न राजा ने शिवहार नदी के तटवर्ती छोटे-बड़े राजाओं को साथ ले कर लड़ने की तैयारी की। दक्षिण के राजाओं के साथ अवन्ती के बल्लाल राजा ने पाटण पर आक्रमण करने का विचार किया। कांथकह्रद, अरण्यदेश, शिवरूप, पूर्व मद्र, अपरेष, कामशम, गोमती, गोष्ट्या, तैक्या, यक्कल्लोमन्, पटच्चर, शूरसेन-वाहीकराट्, रोमकराट्, नैकेती, काण्व, द्राक्ष, चैकीय, कौशीय राजाओं को भी दुश्मन राजाओं ने अपने पक्ष में कर के कुमारपाल पर आक्रमण करने को उत्तेजित किया। इधर कुमारपाल के चार (गुप्तचर) चारों ओर घूमा करते थे। एक दूत ने कुमारपाल को दुश्मनों की इस तैयारी के हाल कह सुनाए[1]।

इस तरफ़ कुमारपाल के कुछ अधिकारी[2] और माण्डलिक (जागीरदार) भी विरुद्ध होने लगे।

दुश्मनों का दमन

इन सब बातों को जान कर कुमारपाल ने क्रोध को दबा कर गम्भीरता से विचार किया। विचार करने के बाद उसने सब शत्रुओं का सामना कर उन का अभिमान मिटाने का निश्चय किया। छोटे-बड़े माण्डलिक सामन्तों को एकत्र करके उन की परीक्षा करने के बाद सांकाश्य, फाल्गुनीवह, नांदीपुर आदि के राजाओं को अपने सेनापति के साथ बल्लाल के प्रति युद्ध करने को रवाना किया। ऐरावत, अत्रिसार, दर्वि, स्थल, धूम आदि प्रदेशों के राजाओं को और वीर सेना को ले कर ख़ुद कुमारपाल सपादलक्ष के आन्न[3] राजा का दमन करने चला।

समुद्र समान इन की—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल—सेना मीलों तक फैल गई। बीच में जो जो उद्धत राजा माण्डलिकादि आते थे उन को साम-दाम-दण्ड-भेद से अधीन करता गया। कई राजा अपनी-अपनी सेना शस्त्रादि सहित कुमारपाल के साथ मिलते गए, जैसे कि सरह्युरोज़ के साथ ग़दर के बाद दूसरे राजा मिलते गए थे। कुमारपाल के सामने कौन टिक सकता था? इस तरह चक्रवर्त, युगन्धर, साल्व और कुरु आदि के कई राजाओं की सेना कुमारपाल में मिलने से कुमारपाल को बड़ी ख़ुशी हुई।

इस तरह सर्वत्र विजयी होता हुआ राजा आबू पहाड़ पर आया। वहाँ चन्द्रावती का विक्रमसिंह[4] राजा था। उस ने डर कर के भक्ति-पूर्वक नम्र हो कर कुमारपाल से प्रार्थना कर कहा कि 'यह राज्य आप का ही है। मैं तो आप का सेवक हूँ। आप मेरे मालिक हैं।' राजा ने आबू से सपादलक्ष में जाकर आन्न के साथ युद्ध शुरू किया। आन्न भी अपने गोविन्दराज सरदार और सेना के साथ युद्ध में उतरा। दोनों का घमासान युद्ध हुआ।

---

[1] आचार्य हेमचन्द्र-रचित संस्कृत द्व्याश्रय सर्ग १६ के श्लोक ९ से १६ तक।

[2] प्रबन्धचिन्तामणि में लिखा है कि वाग्भट मन्त्री, जिस को सिद्धराज ने पुत्र समान समझा था, ईर्ष्या से कुमारपाल के विरुद्ध हो कर सपादलक्षीय राजा के पक्ष में सेनापति हो कर गया था। सं० द्व्याश्रय में भी (सर्ग १६ श्लोक १४) यह बात इशारे से मिलती है। पर वहाँ पर **चाहड** नाम लिखा है, जो वाग्भट का भाई था। दे० प्र० चि० १९३। वाग्भट को कुमारपाल ने नायब दीवान बनाया था। मेरुतुङ्ग लिखते हैं—आनाक राजा गुजरात की सीमा तक युद्ध करने को आ पहुँचा था। पृ० १२८।

[3] प्र० चि० में इस का नाम **आनाक** और प्रभावक-चरित्र में **अर्णोराज** लिखा है। सपादलक्ष देश अजमेर के आस-पास के प्रदेश का नाम है।

[4] प्रभावकचरित्र के **हेमचन्द्राचार्य** प्रबन्ध में लिखा है कि अन्दर से विक्रमसिंह **अर्णोराज** के पक्ष में हो गया था और उस ने कुमारपाल को धोखे से मारने की कोशिश की थी। विक्रमसिंह को कुमारपाल ने क़ैद कर लिया और उस के भाई रामदेव के पुत्र यशोधवल को राज्य दिया। यह प्रसङ्ग वि० १२०७ के क़रीब का है ऐसा श्रीमान् मुनि कल्याणविजयजी का मत है।

आन्न की सेना पीछे हटती गई। सामने के शत्रुओं को हटाता हुआ कुमारपाल हाथी[१] पर चढ़ कर शत्रु राजा आन्न के हाथी के पास जा पहुँचा। बड़ी ही शीघ्रता और कुशलतापूर्वक[२] लोहशर (शस्त्र-विशेष) का प्रहार आन्न के ऊपर कुमारपाल ने किया। आन्न मूर्च्छित हुआ। सब शत्रु-सेना तितर-बितर हो गई। राज-नीति-विरुद्ध होने से कुमारपाल ने कृपया आन्न को जान से नहीं मारा, परन्तु उस के हाथी-घोड़े आदि युद्ध का सामान छीन कर स्वाधीन कर लिया। कुमारपाल की विजय हुई, यह बात चारों तरफ़ फैल गई।

जिस को ज़बरदस्त गर्व था वह आन्न राजा भी कुमारपाल से हार गया। अन्त में आन्न ने दूत भेज कर माफ़ी माँगी। अपने अच्छे-अच्छे हाथी-घोड़े आदि कुमारपाल को भेंट किए और अपनी कन्या का कुमारपाल से विवाह करने की प्रार्थना की। कुमारपाल ने उस को उदारता से माफ़ी दी और कन्या तथा भेंट पाटण लाने को कहा। समारोहपूर्वक राजा ससैन्य पाटण आया और आन्न की कन्या से विवाह किया[३]।

बल्लाल[४] की तरफ़ जो कुमारपाल की सेना भेजी गई थी वह भी अन्ततोगत्वा विजयी हुई। उस के सेनानियों ने बल्लाल को मार डाला, ऐसा वृत्तान्त राजा कुमारपाल ने दूत से सुना। यह सुन कर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और दूत को इनाम में शिरपाव दिया[५]।

इस प्रकार जो दुश्मन खड़े हुए थे उन का सम्पूर्ण रीत्या दमन कर के राजा स्वस्थ हुआ।

राज्य मिलने के बाद राज्य का बहुत काम कुमारपाल ख़ुद ही करने लगा। मन्त्रियों का भरोसा कम रखता था इसलिए कुछ मन्त्री आदि अहलकारों ने कुमारपाल का षड्यन्त्र रचा, परन्तु आप्त सेवकों से मालूम होने के बाद कुमारपाल ने उन सब को कड़ी सज़ाएँ दीं और मार डाला।

जब आचार्य हेमचन्द्र को यह मालूम हुआ कि कुमारपाल राजा होकर विजयी हुआ है, तब वे अपने दिल में प्रसन्न हुए। अपने शिष्य का पुरुषार्थ जान कर भला कौन ख़ुश न होगा ?

आचार्य और सम्राट् की मुलाक़ात

उस वक्त कुमारपाल मालवे में था। जहाँ उस का डेरा था वहाँ पैदल चल कर हेमचन्द्राचार्य पहुँचे। आचार्य ने उदयन द्वारा राजा का समाचार जाना और राजा को पूर्वोपकार का उदयन द्वारा स्मरण करवाया। राजा को सब याद आया। उसने आचार्य का बड़े चाव से सत्कार किया और कहा कि भगवन्[६], मैं धीरे-धीरे आप की सभी आज्ञाओं का पालन

---

[१] इस हाथी का नाम कलहपञ्चानन था। प्र० चि० में लिखा है कि राजा ने वाग्भट को भी घायल कर दिया और सैनिकों ने उसे पकड़ कर स्वाधीन किया।

[२] कुमारपाल ने ३६ प्रकार के शस्त्र पास में रखे थे। आवश्यकतानुसार उन को काम में लाता था। उस की युद्ध-शस्त्र-कला में प्रवीणता प्रसिद्ध थी।

[३] हेमचन्द्राचार्य्य का द्व्याश्रय काव्य, १९वाँ सर्ग।

[४] अवन्ती का राजा।

[५] द्व्याश्रय काव्य, सर्ग १६।

[६] भवदुक्तं करिष्येऽहं सर्वमेव शनैः शनैः।
कामयेऽहं परं सङ्गं निधेरिव तव प्रभो ! ॥

'कुमारपाल-प्रतिबोध' में सोमप्रभ सूरि लिखते हैं—

राज्यादि सुख को देने वाले सच्चे धर्म को जानने की कुमारपाल की आकांक्षा हुई। यज्ञादि-हिंसा-धर्मोपदेश से उस की जिज्ञासा पूरी नहीं हुई। इसलिए वह धर्म का सच्चा तत्त्व जानने का अभिलाषी था। उस के मन्त्री वाग्भटदेव ने राजा को श्रीहेमचन्द्राचार्य्य का परिचय दिया। राजा ने पहली बार यहीं हेमचन्द्राचार्य्य से मुलाक़ात की और पीछे से सम्बन्ध बढ़ा।

करूँगा, इस के लिए मैं आप का सङ्ग चाहता हूँ। उस के बाद भूपाल की प्रार्थना से आचार्य हमेशा कुमारपाल के पास जा कर धर्म, नीति और राजधर्म समझाने लगे। आचार्य के चारित्र्य और पाण्डित्य का असर कुमारपाल पर बढ़ता गया।

गुजरात आने पर भी इन दोनों का सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया। इस तरह हेमचन्द्र सूरि की बढ़ती हुई कीर्त्ति को कुछ ईर्ष्यालु अन्ध-श्रद्धालु लोग सहन नहीं कर सकते थे। इस का कारण यह था कि जैन साधु के आदर्श उपदेश को राजा समझेगा तो उन की ख़ुशामद और गपोड़ों की क़ीमत कम हो जायगी। इसी लिए कई लोगों ने हेमचन्द्र जैसे पवित्र महात्मा की और जैन धर्म की कई बार निन्दा[1] राजा के आगे की, परन्तु राजा समझदार और हेमचन्द्राचार्य का प्रायः शिष्य था अतः उस का समाधान हेमचन्द्र से ही पूछ लेता था।

कुमारपाल का धार्मिक जीवन

एक दिन कुमारपाल ने हेमचन्द्र से पूछा कि मेरा यश विक्रम की तरह चिरस्थायी होने का उपाय बताइए। आचार्य ने दो उपाय बतलाए। एक तो विक्रम की तरह जगत् को ऋण से मुक्त करने का, और दूसरा सोमनाथ महादेव के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने का। जगत्प्रसिद्ध सोमनाथ का मन्दिर उस वक़्त जीर्ण-शीर्ण हो गया था, ऐसा प्रबन्धचिन्तामणिकार लिखते हैं[2]। कुमारपाल को इस निष्पक्ष सलाह से हेमचन्द्र के ऊपर बहुत श्रद्धा हुई। उस ने सोमनाथ का जीर्णोद्धार शुरू करवाया। जब तक सोमनाथ के मन्दिर पर ध्वजारोपण न हो तब तक हेमचन्द्र के कहने से राजा ने मांस-मद्य का त्याग किया। दो वर्ष में सब कार्य हो गया; ध्वजा चढ़ाई गई। राजा ने हेमचन्द्र से महादेव की स्तुति करने की प्रार्थना की। आचार्य ने ख़ुशी से नई स्तुति बना कर कही। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। मन्दिर में साक्षात् शिवजी ने आकर दर्शन दिए। कुमारपाल ने वहाँ पर यावज्जीवन हेमचन्द्र के उपदेश से मांस का त्याग किया[3]।

(१) आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से कुमारपाल ने लावारिस का धन लेना छोड़ दिया, जिस की आमदनी एक साल में राज्य भर में ७२००००० बहत्तर लाख रुपयों की थी। इस त्याग की हेमचन्द्र ने इस प्रकार प्रशंसा की है—

---

[1] प्रबन्ध-चिन्तामणि, प्रबन्ध-चतुर्विंशिकादि ग्रन्थों में ऐसे कई प्रसंग हैं। **सिद्धराज** के आगे भी इन लोगों ने हेमचन्द्र की निन्दा करने में कमी नहीं की। इसी झूठी निन्दा के आधार पर अथवा अपनी कपोलकल्पित कल्पनाओं से आज भी कुछ लोग इस आचार्य और जैन धर्म की निन्दा करने की धृष्टता करते हैं। इस में श्रीयुत के० एम० मुंशी और झमोर के लेखक मुख्य हैं। बीसवीं सदी के उदार ज़माने में ऐसा काम करना किसी तरह से योग्य नहीं है।

[2] 'मिराते-अहमदी', 'आईन-अकबरी' प्रभृति—मुसलमानी लेखकों के—ग्रन्थों के आधार पर **फार्बस साहब** कहते हैं कि उस वक़्त तक महमूद सोमनाथ मन्दिर पर आक्रमण कर चुका था। सम्भव है, इसी से कुमारपाल ने जीर्णोद्धार करवाया हो। यह मन्दिर प्रभासपाटण में है।

[3] सोमनाथ की प्रतिष्ठा का प्रसंग विस्तार से जैन-ग्रन्थों में मिलता है। हेमचन्द्र सूरि ने स्तुति की जिस का एक श्लोक यह है—

भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥ प्र० चि० १२६।

अपुत्राणां धनं गृह्णन् पुत्रो भवति पार्थिवः ।
त्वं तु सतोषतो मुञ्चन् सत्यं राजपितामहः ॥

प्रबन्ध-चिन्तामणि

(२) कुमारपाल ने शत्रुञ्जय नामक जैन तीर्थ का संघ[१] निकाला ।

(३) तारङ्गा नामक जैन तीर्थ में श्री अजितनाथ का भव्य मन्दिर बनवाया ।

(४) मांस, शराब, परस्त्री, वेश्या प्रभृति सातों व्यसनों का त्याग किया और राज्य में भी यथाशक्य त्याग करवाया । यज्ञ तथा देवियों के निमित्त हिंसा बंद करवाई ।

(५) अपने राज्य में चौदह वर्ष तक अहिंसा का काफ़ी प्रचार किया[२] ।

(६) कुमारपाल ने कई शैव मन्दिर, तालाब, कुएँ, दानशाला और १४४४ जैन मन्दिर बनवाए । राज्य के ख़र्च से जो मन्दिर बने थे उन का नाम प्रायः "कुमार या कुंवर विहार" होता था । अभी तक दूर-दूर तक इन के मन्दिर मिलते हैं । एक मन्दिर जावालीपुर (जालोर) मारवाड़ में के, जो जोधपुर स्टेट में है, सुवर्णगिरि दुर्ग पर अभी मौजूद है जिस पर यह शिलालेख है—

ओं ॥ संवत् १२२१ श्रीजावालिपुरीयकांचनगिरिगढस्योपरि प्रभुश्रीहेमसूरिप्रबोधितगुर्जरधराधीश्वर-परमार्हतचौलुक्यमहाराजाधिराजश्रीकुमारपालदेवकारिते श्रीपार्श्वनाथसत्क........बिंबसहितश्रीकुंवरविहाराभिधाने जैनचैत्ये...॥ प्राचीन जैन लेख संग्रह शिलालेख, नं० ३५२ ।

(७) कुमारपाल ने विक्रम सं० १२१६ मार्गशीर्ष शुक्ला २ को उत्सवपूर्वक[३] जैन धर्म स्वीकार कर १२ व्रत (धार्मिक नियम) ग्रहण किए ।

(८) हेमचन्द्र के जन्मस्थल और दीक्षास्थल पर क़ीमती मन्दिर बनवाए ।

(९) हमेशा योग-शास्त्र और वीतराग-स्तोत्र का स्वाध्याय करता था ।

जैन होने के बाद कुमारपाल की कीर्त्ति ख़ूब बढ़ी । अच्छे-अच्छे जैन कवियों और विद्वानों ने इस की कीर्त्तिगाथा गाई । व्याकरणादि ग्रंथों में उल्लेख किया । ग्रन्थकारों ने इस को परमार्हत और राजर्षि कहा है ।

---

[१] बहुत लोगों को एकत्र कर के अपने ख़र्च से जो लोग तीर्थों में यात्रा करने जाते हैं, उस को जैन लोग संघ कहते हैं; और ले जाने वाले को संघपति । कुमारपाल के इस संघ में हेमचन्द्र सूरि, वादिदेव सूरि, धर्म सूरि, ७२ सामंत, श्रीपाल, आभड, पं० सिद्धपाल, राणा प्रह्लादन, राजा का दौहित्र प्रतापमल्ल, रानी भोपालदेवी, राजपुत्री लीलू प्रभृति एक लाख मनुष्य थे, ऐसा राजशेखर सूरि "प्रबन्ध कोष" के हेमचन्द्राचार्य-प्रबन्ध में लिखते हैं ।

[२] कुमारपाल के आध्यात्मिक जीवन का परिचय देने वाला "मोहपराजय" नाटक बहुत ही अच्छा है । यह ग्रंथ "प्रबोधचन्द्रोदय" की पद्धति का है । परन्तु इस में किसी धर्म-विशेष का खंडन नहीं है । प्रो० पीटरसन (Peterson) ने डेक्कन कॉलेज में व्याख्यान देते हुए कहा था कि यह ग्रंथ क्रिश्चियन लोगों के 'पिलग्रिम्स प्रॉग्रेस' पुस्तक जैसा है ।

[३] कुमारपाल के कुछ शैव और वैष्णव मन्दिरों के शिलालेखों में 'उमापतिवरलब्ध' विशेषण आता है । इस के आधार पर श्रीयुत के० हर्षदराय ध्रुव ने 'प्रियदर्शना' की प्रस्तावना में कुमारपाल का जैन न होना लिखा है, जो ठीक नहीं जँचता; क्योंकि वि० सं० १२१६ के पहले के लेखों में ही वैसा विशेषण दिखता है । तब तक वह जैन नहीं हुआ था । दूसरा कारण यह भी है कि चौलुक्य-कुल के मान्यदेव परंपरा से सोमनाथ महादेव हैं अतः जैन होने के बाद भी उस के लिए 'उमापतिवरलब्ध' कोई लिखे तो अनुचित नहीं है । जैन होने के बाद कुल-परंपरा छोड़ने को जैन धर्म नहीं कहता । जैन साधु होने के बाद भी इन्द्रभूति गणधर ने गौतम गोत्र रक्खा था । टॉड राजस्थान के कर्ता टॉड साहब ने जैन बौद्ध को एक मान कर कुमारपाल को बौद्ध-धर्मी लिखा है । पृ० ७०५ ।

दिग्विजय

कुमारपाल में महत्त्वकांक्षा थी; वीरता और प्रताप था। कोंकण के पराक्रमी मल्लिकार्जुन राजा को हरा कर उस का करोड़ों का माल लूटा। इस को परास्त करने के लिए अम्बड सेनापति को भेजा था जो जैन था। दक्षिण में विजयनगर काञ्ची तक कुमारपाल का राज्य हो गया था। कुमारपाल पूर्व, उत्तर, पश्चिम दिशाओं में भी दिग्विजय करने गया। इस दिग्विजय में कुमारपाल को बहुत सफलता मिली। 'प्राकृत कुमारपाल-चरित्र' (सर्ग ६) में इस का उल्लेख यों है—

(१) सिन्ध के राजा ने इस की आज्ञा मानी।
(२) यवन देश के राजा ने कुमारपाल की आराधना की।
(३) उव्वेश्वर इस का मित्र हुआ।
(४) वाराणसी का स्वामी वश हुआ।
(५) मगध और गौड के राजा ने इस राजा को भेंट दी।
(६) कान्यकुब्ज-सेना का इस ने पराभव किया।
(७) दशार्णभद्र देश का राजा इस के भय से मर गया और उस का शहर लूट लिया गया।
(८) चेदि नगर के राजा का इस ने गर्व मिटाया।
(९) मथुरा के राजा ने कुमारपाल से माफ़ी माँगी।
(१०) जाङ्गलपति ने नम्र होकर प्रार्थना की।

मतलब यह कि कुमारपाल की राज्य-सत्ता दूर-दूर तक चारों[1] दिशाओं में फैल गई थी। दक्षिण में कोलापुर, उत्तर में जालन्धर, काश्मीर, पूर्व में चेदि; मगध, कुशार्त, दशार्ण और पश्चिम में सिन्ध, पञ्चनद, बाहक, सौराष्ट्र देश तक इस का राज्य हो गया था। सारा मारवाड़, मालवा इस की सत्ता में आ गया था। सिद्धराज से इस ने अपनी राज्यसीमा बहुत बढ़ाई। सेना-शस्त्रादि में वृद्धि की। बहुत नए राज्यों को अपने पुरुषार्थ से इस ने प्राप्त किया। इस के अधिकारियों में बहुत से जैन-धर्मी थे। वे भी बड़े वीर थे। जैन धर्म की अहिंसा को न समझनेवाले मानते हैं कि जैन धर्म कायर बनाता है। उन का यह अनुमान सर्वथा झूठा है। जैन धर्म में गृहस्थों के लिए तो इतनी ही अहिंसा है कि बे-गुनहगारों को न मारो[2]। जो देश, धर्म, राज्य और निज के गुनहगार हों उन को मारना श्रावक के लिए निषिद्ध नहीं है। इसी कारण श्रेणिक, कोणिक, चन्द्रगुप्त, संप्रति और कुमारपाल आदि जैन राजाओं ने वीरतापूर्वक भूमि का रक्षण किया है।

कुमारपाल का सैन्य-बल

अठारह देशों का राज्य कुमारपाल की सत्ता में था। जिनमंडन सूरि ने कुमारपाल की सेना इस प्रकार लिखी है—११०००० घोड़े, ११०० हाथी, ५००० रथ, ७२ सामन्त और १८०००० पैदल सेना थी। मेरे पास जो अमुद्रित गुर्जरराज-भूपावली है उस में तो सेना की संख्या बहुत बड़ी लिखी है जो मानने योग्य नहीं दीखती।

---

[1] श्री महावीरचरित में लिखा है—

स कौबेरीमातुरुष्कमैन्द्रीमात्रिपथापगाम्।
याम्यामाविन्ध्यमावार्द्धि पश्चिमां साधयिष्यति ॥ १२—५२ ॥

अर्थात् कुमारपाल उत्तर में यवन देश तक, पूर्व में गङ्गा तक, दक्षिण में विन्ध्याचल पर्यन्त और पश्चिम में समुद्र तक अपनी राज्यसत्ता फैलावेगा।

[2] निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत् ॥ हैम योगशास्त्र।

ज्ञान-कला-प्रेम

यद्यपि प्रारम्भ में कुमारपाल सिद्धराज के इतना विद्वान् नहीं था, और मेरे ख़्याल से विद्या का उतना व्यसनी भी नहीं होगा, तो भी हेमचन्द्र जैसे सर्व-शास्त्रीय विद्वान् के सङ्ग से उस में विद्या, कला और साहित्य का प्रेम बढ़ता गया। उस के अधिकारियों में कपर्दी मन्त्री बहुत बड़ा कवि और विद्वान् था। वाग्भट्टादि अच्छे कवि थे। एक बार उपमा की जगह औपम्य शब्द बोलने से कपर्दी मन्त्री ने उपहास किया। राजा को अपनी कमज़ोरी मालूम हुई तब उस ने व्याकरण और काव्य-शास्त्र का काफ़ी अभ्यास किया। उसके बाद वह 'विचारमुख', 'कवि-बान्धव' उपाधियों से प्रसिद्ध हुआ। विद्वानों का स्वागत भी अच्छा करने लगा। देवबोधादि भिन्न-भिन्न मत के विद्वान् और संन्यासी उस की राजसभा में अपनी विद्वत्ता दिखलाने आते थे। हेमचन्द्र, रामचन्द्र, श्रीपाल, सिद्धपाल, कपर्दी आदि पण्डितों से उस की पण्डित-सभा[1] विश्व-विख्यात हो गई थी। सोलाक नाम के एक सङ्गीतज्ञ के ऊपर प्रसन्न होकर राजा ने उस को अच्छा इनाम दिया था। शिल्प[2] का भी ख़ूब विकास हुआ था। राजा की प्रार्थना से आचार्य हेमचन्द्र ने "योग-शास्त्र", "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र" और "वीतराग-स्तोत्र" की रचना की थी। इसी को राजनीति का ज्ञान कराने के लिए हेमचन्द्र ने अर्हन्नीति ग्रन्थ बनाया जो कौटिल्य-अर्थशास्त्र की पद्धति का है। कई ग्रन्थ-कारों ने इसके राज्य में रहकर ग्रन्थ बनाए हैं। दूताङ्गद नाम का छाया-नाटक भी इसी की यात्रा में बना है।

गुण

कुमारपाल में ख़ुद काम करने की आदत थी। अधिकारियों के ऊपर ही भरोसा रखना यह अच्छा नहीं समझता था। चन्द्रगुप्त सुकुमार और धीरललित था पर कुमारपाल धीरोदात्त था। इस में परस्त्री-पराङ्-मुखता और युद्ध-कुशलता सिद्धराज से बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, ऐसा प्रबन्ध-चिन्तामणि में लिखा है। यह अपनी श्लाघा नहीं सुनना चाहता था। यही कारण है कि यह ख़ुशामदी लोगों का शिकार नहीं हुआ। यह बड़ा कृतज्ञ था।

आचार्य हेमचन्द्र

जो सम्बन्ध चन्द्रगुप्त का चाणक्य के साथ था वही कुमारपाल का हेमचन्द्र के साथ रहा[3]। विद्वत्ता की दृष्टि से विक्रम और हर्ष के साथ का कालिदास और बाण के समान हेमचन्द्र का सम्बन्ध था। अतः यदि हेमचन्द्र का कुछ भी परिचय न दिया जाय तो कुमारपाल का वृत्तान्त अधूरा ही रहता है। हेमचन्द्र का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

हेमचन्द्र का जन्म वि० सं० ११४५ कार्तिक शुक्ल १५ को धन्धुका में, मोढवंश में, हुआ। वि० सं० ११५० में देवचन्द्र सूरि के पास ये जैन साधु की दीक्षा लेकर सर्वशास्त्रों में पारङ्गत हुए। इन की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। न्याय, व्याकरण, काव्यालङ्कार, छन्द[4], कोष, अध्यात्म सभी विषयों पर इन के ग्रन्थ हैं, जिन की श्लोकसंख्या साढ़े तीन करोड़ कही जाती है। प्रबन्धशतकर्ता रामचन्द्र सूरि आदि इन के विद्वान् शिष्य थे। हेमचन्द्र तप-त्याग और ब्रह्मचर्य के अवतार थे। इन की आयु ८४ वर्ष की थी।

---

[1] निवसहमुहावयंसा विहुया गुरुणो अवीयगुणनिवहा।
निवसन्ति अणेग बुहाजस्सिं पुहवीस सलहिज्जे॥ प्रा० द्व्या० सर्ग १—४। इसमें पाटण का उदात्त वर्णन है।

[2] अणहिल्लपुर के राज्य-काल में शिल्प-विद्या की जितनी उन्नति हुई थी उतनी दूसरे किसी काल में नहीं हुई। टॉड-राजस्थान।

[3] पर कुमारपाल की भक्ति चन्द्रगुप्त से अधिक थी इसका कारण यह है कि हेमचन्द्र एक तपस्वी धर्माचार्य भी थे; परन्तु चाणक्य गृहस्थ थे।

[4] मल्लिनाथ की टीकाओं आदि सैकड़ों ग्रन्थों में "इति हैमः" से इन के कोष के उदाहरण दिखते हैं।

कुमारपाल का उत्तराधिकारी या स्वर्गवास

सिद्धराज की तरह कुमारपाल को भी कोई पुत्र न था। अपना उत्तराधिकारी बनाने के विषय में उस ने हेमचन्द्र सूरि से सलाह पूछी। आचार्य ने राजा के दौहित्र प्रतापमल्ल को राज्याधिकारी बनाने को कहा, और अजयपाल के लिए साफ़ मना कर दिया, क्योंकि वह मूर्ख, दुराचारी और कायर था। हेमचन्द्र के शिष्य बालचन्द्र ने अजयपाल से ये सब बातें कह दीं। अजयपाल को हेमचन्द्र के ऊपर बड़ा क्रोध आया। वह कुमारपाल का भतीजा लगता था और महिपाल का पुत्र था। अजयपाल के ज़हर देने से वि० सं० १२३० में कुमारपाल की मृत्यु हुई। आचार्य हेमचन्द्र का स्वर्गवास वि० सं० १२२९ में राजा के पहले ही हो चुका था। इस से भी राजा को बड़ा आघात पहुँचा था[1]।

अजयपाल ने वि० सं० १२३० में कुमारपाल का राज्य ले लिया। द्वेष और दुष्टता से उस ने हेमचन्द्र तथा कुमारपाल के सम्बन्धियों को घोर यातनाएँ दीं। कपर्दी मन्त्री को तेल के कड़ाह में भूनकर मरवा डाला। रामचन्द्र सूरि को तप्त शिला पर बैठाकर मरवाया। कई 'कुमार विहार मन्दिर' तुड़वाए। दीप के नीचे अँधेरे की तरह यह अजयपाल अयोग्य निकला। इस कुनृपति का राज्य तीन ही वर्ष टिका। इसी के एक प्रतिहारी ने इसे छुरी से मार डाला। अत्युग्र पाप का फल शीघ्र मिलता है।

उपसंहार

कुमारपाल सोलङ्कियों का अन्तिम प्रतापी राजा हुआ। उस ने अपने प्रताप से गुजरात की और सोलङ्कियों की कीर्ति ख़ूब बढ़ाई। अपने पूर्व के सभी सोलङ्कियों से राज्य-सत्ता भी ख़ूब फैलाई थी। किन्तु इस के बाद के तीन राजाओं के कमज़ोर और अयोग्य होने से गुजरात का राज्य गया। कुमारपाल जैनधर्मी था, बाक़ी सभी वैदिक मत के थे। हमें दुःख है कि कुमारपाल या सोलङ्कियों के विषय में देशी भाषा में कोई सम्पूर्ण आप्त ग्रन्थ या लेख किसी ने नहीं लिखा है। गुजरातियों के लिए तो यह शर्म की बात है।

सङ्कोच से लिखने पर भी, विषय व्यापक होने के कारण, लेख बहुत बढ़ गया है; एतदर्थ पाठक क्षमा करें।

आज्ञावर्त्तिषु मण्डलेषु विपुलेष्वष्टादशस्वादरात्
अब्दान्येव चतुर्दशप्रसृमरां मारिं निवार्यौजसा।
कीर्त्तिस्तम्भनिभाँश्चतुर्दशशतीसंख्यान् विहाराँस्तथा
कृत्वा, निर्मितवान् कुमारनृपतिर्जैनो निजैनोव्ययम्॥

---

[1] दे० "प्रबन्ध-कोष" कुमारपाल-प्रबन्ध और जैन युग की राज-वंशावली।

जावा के हिन्दू-साहित्य के कुछ मुख्य ग्रन्थों का परिचय एवं उन की ऐतिहासिक उपयोगिता

श्रीयुत बहादुरचन्द्र शास्त्री, लयिदन विद्यापीठ।

रामायण[1], महाभारत आदि तथा बौद्ध-साहित्य के जातक, अवदान आदिक अनेक प्राचीन ग्रन्थों में जावा, सुमात्रा प्रभृति द्वीपों के सम्बन्ध में नाना उल्लेख मिलते हैं सही; परन्तु खेद है कि उन से, उन द्वीपों पर भारतवासी कब आए, क्यों आए तथा उन्हों ने वहाँ पर अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किस प्रकार किया, इत्यादिक ऐतिहासिक विषयों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। तद्विपरीत उन द्वीपों पर आज तक जो प्राचीन ध्वंसावशेष—यूप, स्तूप, मन्दिर, विहार आदिक—प्राप्त हुए हैं, वे इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भारत से आर्य लोग यहाँ आए, बसे एवं वणिज-व्यापार और धर्म का प्रचार करते रहे। यह अभी तक निश्चय से नहीं कहा जाता कि सब से पहले भारतवासियों ने इन द्वीपों पर पदारोपण कब किया। हाँ, वहीं से प्राप्त कई एक संस्कृत के शिलालेखों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि तीसरी और चौथी ईसवी शताब्दी में हिन्दू लोग वहाँ मौजूद थे। अभी तक यहाँ से जितने भी ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं, उन में से ये शिलालेख ही सब से पुराने हैं, और उन से यही पता चलता है कि दक्षिण भारत से ब्राह्मण लोग[2] यहाँ आए और उन्हों ने शैव मत का प्रचार किया; जहाँ कि आशा यह हो सकती है कि ईसा से २३५ वर्ष पूर्व जब कि सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए देशान्तरों और द्वीपान्तरों में भिक्षुगण भेजे तो कुछ भिक्षु जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में भी आए होंगे। परन्तु यावदुपलब्ध प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि बौद्ध धर्मावलम्बी यहाँ वैदिक-धर्मावलम्बियों की अपेक्षा एकाध शताब्दी बाद पहुँचे। किञ्च बौद्ध धर्म यहाँ अधिक मात्रा में और अधिक वेग से फैला—यह बात वहाँ के स्तूप आदि अनेक स्मारकों से स्पष्ट है। यह बात भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि जावा आदि द्वीपों पर शैवों और बौद्धों में, धर्म के विषय में, परस्पर कोई विरोध नहीं था; प्रत्युत आगे चल कर दोनों में दूध और मिस्री का सा सम्मिश्रण पाया जाता है। सिंहसारी का महाराज कृतनगर[3] शिव और बुद्ध दोनों का उपासक था। उस की उत्कट भक्ति के कारण लोग उसे शिव-बुद्ध कहा करते थे। उस की स्मृति में शिव-बुद्धालय

जावा आदि द्वीपों में हिन्दुओं का आगमन

---

[1] उदाहरणार्थ—वाल्मीकीय रामायण ४ (किष्किन्धा काण्ड) ४०, ३०। यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्, इत्यादि। कथासरित्सागर आदि ग्रन्थों में भी ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं।

[2] "तस्य पुण्यस्य यूपोऽयं कृतो विप्रैरिहागतैः" इत्यादि—दे० फ़ोख़ल—'दि यूप इंस्क्रिप्शन ऑफ़ किंग मूलवर्मन् फ़्राम कुटे (पूर्व बोर्नियो); वीतआगन् टट डे टॉल-लंड-एन फ़ल्केन कुंडे फॅन नीदरलंड्स इंडिया (१९१८) भाग ७४, पृ० १६७-२३२। यह लेख अँगरेज़ी भाषा में है।

[3] इस के विषय में अधिक विवरण नीचे दिया गया है।

नाम का एक मन्दिर बनवाया गया, जिस में शिव और बुद्ध दोनों की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठापित की गईं। यह मन्दिर अब चण्डी[1] जवी के नाम से प्रसिद्ध है।

बाद में अरब से मुसलमान लोग यहाँ आने लगे, उन्हों ने अपने मत का प्रचार किया। अन्त में यहाँ योरुपीय जाति वालों का आगमन हुआ जो अपना ईसाई मत साथ लाए। फलतः आज उन द्वीपों पर उक्त चारों धर्म अथवा चारों मत कई अंशों में मिश्रित और कई अंशों में पृथक्-पृथक् विद्यमान हैं।

प्राचीन काल में जावा आदि द्वीपों का चीन आदि देशों के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, और चीन देश का प्राचीन इतिहास भारत के प्राचीन इतिहास की अपेक्षा कहीं अधिक सुरक्षित दशा में वर्त्तमान है। उस से भी जावा के प्राचीन इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

हिन्दू-जावा इतिहास और तदर्थ सामग्री

प्राचीन हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के चिह्न जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली प्रभृति अनेक द्वीपों पर मिलते हैं, किन्तु उन सब में आरम्भ से ही जावा की ही प्रधानता रही है, जैसा कि आज भी राजनैतिक दृष्टि से पूर्वीय द्वीप-समूह में जावा ही प्रधान गिना जाता है। जावा के प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी आज तक कई एक छोटे-मोटे ग्रन्थ और निबन्ध लिखे जा चुके हैं। एक सर्वोत्तम और शृङ्खलाबद्ध इतिहास[2] सम्भवतः लयिदन विश्वविद्यालय के सुयोग्य प्रोफ़ेसर डाक्टर एन० जे० क्रोम ने ही लिखा है, और यह डच भाषा में है। अपने इस ग्रन्थ के पहले परिच्छेद में उन्हों ने उक्त इतिहास के निर्माण में यावदुपलब्ध साधनों का विवरण दिया है। सारी सामग्री को उन्हों ने दो वर्गों में विभक्त किया है—अन्तरीय और बाह्य। 'अन्तरीय' से उन का अभिप्राय उन साधनों से है जो स्वयं जावा द्वीप से उपलब्ध हुए हैं, एवं 'बाह्य' से वे साधन अभिप्रेत हैं जो भारत, चीन, अरब आदि देशों के इतिहास-ग्रन्थों से जावा-सम्बन्धी उल्लेखों के रूप में मिलते हैं। अन्तरीय साधन-वर्ग के पुनः कई एक अवान्तर भेद किए गए हैं; जैसे—शिलालेख, मन्दिर-स्तूपादि, ध्वंसावशेष, साहित्य इत्यादि। शिलालेख[3] यहाँ सर्वमुख्य और सर्वमान्य प्रमाण हैं। एक तो ये, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सब से पुराने हैं; दूसरे इन में किसी प्रकार की शङ्का नहीं उठ सकती, जैसा कि ग्रन्थों के विषय में प्रक्षेप आदि का सन्देह कोई भले ही उठाता रहे। दूसरा नम्बर मन्दिर, स्तूपादि ध्वंसावशेषों[4] का है। यद्यपि ये शिलालेखों के समान मुखर प्रमाण नहीं तथापि इतने दृढ़ अवश्य हैं, और इन से हिन्दू-जावा इतिहास के निर्माण में बहुत कुछ सहायता मिली है। तीसरा स्थान साहित्य का है और यही प्रस्तुत लेख का विषय है। उस का पूरा परिचय[5] कराना असम्भव है, यहाँ तो दिग्दर्शन मात्र कराएँगे।

---

[1] 'चण्डी' शब्द का अर्थ मन्दिर अथवा सामान्यतः धर्मस्थान है। जावा में प्रत्येक मन्दिर के नाम के पहले इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे—चण्डी परम्बनन, चण्डी कालसन, चण्डी जगो इत्यादि।

[2] डॉ० एन्० जे० क्रोम—'हिंडू जवान्शे गिशेडनिस्' ग्रावेनहागे (हेग), द्वितीय संस्करण, संशोधित और परिवर्धित, १९३१।

[3] दे० फ़ोखल—'दि अर्लियस्ट संस्कृत इंस्क्रिप्शन्स आफ़ जावा', पुब्लिकटीज़ वन डेन औडहैड कुंडिगेन डीन्स्ट इन् नीदरलैंड्स इंडिया, भाग १—१९२५। किञ्च, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, काशी, १९९०, पृ० २१९ प्र।

[4] "हिन्दू-जावा शिल्प" डॉ० क्रोम का दूसरा प्रामाणिक ग्रन्थ है, जो उस के पहले कहे हुए "हिन्दू-जावा इतिहास" नामक ग्रन्थ की पूर्ति करता है। डॉ० एन्० जे० क्रोम—इन्लइडिंग टट डे हिन्दू जवान्शे कुन्स्त ग्रावेनहागे, १९२३। यह ग्रन्थ भी डच भाषा में है। यह तीन जिल्दों में है और ११२ छायाचित्रों और मानचित्रों से युक्त है।

[5] लयिदन विश्वविद्यालय के ही प्रोफ़ेसर डॉक्टर सी० सी० बेर्ग ने एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जिस में उन्हों ने जावा के

शुरू से ही जावा का साहित्य वहाँ के शासकों के अधीन फला-फूला है, और समय-समय पर उन के अध:पतन और अभ्युत्थान के साथ-साथ इस में भी ह्रास-विकास होता रहा है। इस दृष्टि से जावा की राजनैतिक परिस्थिति का एक सिंहावलोकन यहाँ सर्वथा असङ्गत न होगा। किञ्च इस बात का जता देना यहीं आवश्यक प्रतीत होता है कि जावा के शासकों के परस्पर के संघर्ष से वहाँ के साहित्य को भारी हानि पहुँची है, और फलत: दसवीं शताब्दी से पूर्व का साहित्य सर्वथा लुप्तप्राय है। आज वहाँ जितने भी ग्रन्थ मिलते हैं सब पीछे के हैं।

जावा के राजनैतिक हेर-फेर

रामायण में जावा पर सात राज्यों का होना लिखा है—सप्तराज्योपशोभितम्—और यथार्थ ही प्रतीत होता है। प्रस्तुत प्रमाणों से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि जावा कई राज्यों में बँटा हुआ था। तो भी जावा सदा से तीन मुख्य विभागों में विभक्त रहा है—पश्चिमीय, मध्य और पूर्वीय। पश्चिमीय जावा से कई एक संस्कृत के शिलालेख मिले हैं। उन में तिथि, संवत् आदि का कोई उल्लेख नहीं; किन्तु लेखन-शैली के आधार पर चौथी, पाँचवीं शताब्दी का अनुमान किया गया है। उन से पता चलता है कि उन दिनों उस प्रदेश में तारूम नाम का राज्य था और पूर्णवर्मा नाम का शासक। किन्तु इस तारूम राज्य का मध्य जावा और पूर्वीय जावा के साथ क्या सम्बन्ध रहा है—इस विषय में इतिहास अभी तक चुप है। इस के बाद सातवीं शताब्दी में मध्य जावा में श्रीविजय नाम के साम्राज्य का होना पाया जाता है। यह राजवंश शैलेन्द्र नाम से प्रसिद्ध है। जगद्विख्यात बर्बुदर के स्तूप एवं अन्य कई बौद्ध स्मारकों की रचना इन्हीं के काल में हुई थी। इन का इतिहास कुछ तो मध्य जावा से प्राप्त इन्हीं के शिलालेखों से और बहुत कुछ चीन देश[1] के इतिहास-ग्रन्थों से मिलता है। किन्तु इन का इतिहास भी अभी अधूरा पड़ा है। इस बात का भी अभी तक ठीक निश्चय नहीं हुआ कि इस श्रीविजय साम्राज्य का मूलस्थान सुमात्रा द्वीप में था अथवा जावा में[2]। नालन्दा से प्राप्त आठवीं शताब्दी के पालवंशीय देवपालदेव नामक राजा के ताम्रपत्र लेख[3] में तत्समकालीन सुमात्रा के शैलेन्द्रवंशीय बालपुत्र नामक राजा का जो उल्लेख मिलता है, उस से भारत से सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों पर बौद्ध धर्म के प्रचार के विषय में ख़ूब प्रकाश पड़ता है। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस प्रतापशाली साम्राज्य का अध:पतन शुरू हो गया, जिस के कई एक कारण हैं। दक्षिण भारत के चोळवंशीय[4] राजाओं के साथ वैमनस्य भी श्रीविजय के अध:पतन में एक प्रधान कारण है। इसी बीच में जावा पर कई एक छोटे-बड़े नए राज्य उठ खड़े हुए। समीप-

---

साहित्य और भाषा-विषयक एक सुविस्तृत वर्णन दिया है। सी० सी० बेर्ख़—'किडुङ् सुंडायन', इन्लाइडिङ् टट डे स्टूडियवन हेट औड जवान्शो, सूराकर्ता (जावा) १९२८। किञ्च प्रो० बेर्ख़ का एक लेख अँगरेज़ी भाषा में भी निकला है—'हिन्दू लिटरेचर इन् जावा'; 'इंडियन आर्ट एँड लेटर्स', लंदन, न्यू सिरीज़, जि० ६, नं० २, १९३२, पृ० १२२–१४१।

[1] लियङ-वंश (५०२—५५६), तङ-वंश (६१८—९०६), सुङ-वंश (९६०-१२७९), युएन-वंश (१२८०-१३६७), मिङ-वंश (१३६८-१६४३) इत्यादि वंशों का इतिहास यहाँ आलोचनीय है। इन के संक्षिप्त विवरण के लिए दे० डब्ल्यू० पी० ग्रून्वेल्ट—नोट्स ऑन दि मलाय आर्चीपलेगो एँड मलक्का, कंपाइल्ड फ्रॉम चाइनीज़ सोर्सेज़; 'व्राहांडिलिंगेन वन हेट बटावियाश् गेनूटशप्' ३९ (१८७६), पहले भाग में।

[2] दे० २५ पृष्ठ की एक पुस्तिका—डॉ० डब्ल्यू० एफ़्० स्टुटेरहाइम—'ए जावानीज़ पोरियड इन् सुमात्रन् हिस्ट्री'; सूराकर्ता (जावा) १९२९।

[3] ए० इं० जि० १७, भा० ७ (जु०, १९२४)।

[4] हुल्ट्स, साउथ इंडियन् इंस्क्रिप्शन्स ३, (१९०३) पृ० १९२, १९५, २०५। दे० वीरराजेन्द्र चोळ प्रथम की प्रशस्ति।

वर्ती बाली द्वीप से ऐरलङ्ग नाम के व्यक्ति ने अवसर पाकर जावा का पूर्वीय भाग अपने वश में कर लिया और क्रमशः वहाँ एक राज्य स्थापित कर लिया। इस की मृत्यु के अनन्तर इस का राज्य दो हिस्सों में विभक्त हुआ—एक जङ्गल अथवा कौरिपन, और दूसरा दह अथवा दहन अथवा काडरी नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऐरलङ्ग ने इधर बाली द्वीप पर भी अधिकार जमा लिया था। किन्तु बाद में बाली द्वीप वालों ने अपने आप को स्वतन्त्र कर लिया, और इधर पूर्वीय जावा पर कनङ्ङ्क नाम के एक साहसी व्यक्ति ने काडिरी का राज्य दबा लिया। राजा होने पर यह राजस नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस की सन्तान में आगे चलकर, तेरहवीं शताब्दी के मध्य में, कृतनगर नाम का प्रभावशाली राजा हुआ, जिस ने सिंहसारी नामक राजधानी एवं राज्य की स्थापना की। इस ने बाली द्वीप को भी अपने अधीन कर लिया। किन्तु तेरहवीं शताब्दी के अन्त में जयकत्वङ्ग नामक एक अधिकारी के हाथों इस का वध हुआ। जयकत्वङ्ग स्वयं राजा बनना चाहता था। इधर कृतनगर के दामाद विजय ने चीनी शासकों की सहायता से इस जयकत्वङ्ग को मार भगाया। किन्तु इस मुठभेड़ में सिंहसारी का राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और बाली द्वीप फिर स्वतन्त्र हो गया। विजय ने अब जिस नए राज्य की स्थापना की वह क्रमशः मजपहित[1] नाम के साम्राज्य में परिणत हो गया, जो दो सौ साल से अधिक समय तक फला-फूला (१२९३-१५२५)। इस में भी पारिवारिक झगड़ों के कारण कई हेर-फेर होते रहे। इस का अन्तिम शासक हयम्वुरुक था। इस ने अपने साम्राज्य का सञ्चालन-भार गजमद नामक अधिकारी के हाथों में दे रक्खा था। इस ने बाली द्वीप पर फिर अधिकार जमाया। अन्त में कई कारणों से मजपहित का साम्राज्य भी मन्द पड़ गया, और बाद में इसी वंश के कुछ अधिकारियों ने मतरम नाम के राज्य की स्थापना की, जिस का तब से प्राधान्य रहा। इन अन्तिम राज्यों तथा साम्राज्यों का मूलस्थान पूर्वीय जावा ही रहा है, किन्तु इन्हों ने मध्य जावा और द्वीपान्तरों पर भी अपना अधिकार जमा रक्खा था। इसी बीच पश्चिमीय जावा और मध्य जावा में अरब से मुसलमान सौदागरों का आगमन हो चुका था। शुरू में इन लोगों का उद्देश्य केवल व्यापार ही था, पर क्रमशः ये लोग अपने मत का प्रचार भी करने लगे और जावा के राजनैतिक विषयों में भी हस्तक्षेप करने लगे। बाद में योरुप से पुर्तगीज़ और डच लोग आने लगे; उन्हों ने भी वैसा ही किया। फलतः वहाँ की सभ्यता और संस्कृति में कई परिवर्तन हुए।

जावा के जिन शासकों का अभी तक कुछ परिचय मिलता है उनकी एक सूची नीचे दी जाती है—

जावा के शासक (१२९२ ईसवी से पहले)

पश्चिमीय जावा		मध्य जावा	
देववर्मा (?)	१३२	सिमो	६७४
पूर्णवर्मा	±४००	रके मतराम; सञ्जय	७३२
पत्रोतोकित्र	४२४	,, पणङ्करण	७७८
द्वारवर्मा (?)	४३५	,, पुनङ्गलन	...
जय भूपति	१०३०	,, वरक	...

---

[1] प्रशस्तियों में इस का दूसरा नाम 'तिक्तविल्व' मिलता है। नागर कृतागम ग्रन्थ में इस के और भी कई नाम मिलते हैं; जैसे श्रीफलतिक्त, तिक्तश्रीफल, तिक्तमालूर इत्यादि। मजपहित सम्भवतः यव भाषा का शब्द है, जिस का अर्थ भी 'तिक्तविल्व' आदि ही है। जावा में के राज्यों के नाम बहुधा राजधानी के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। मजपहित भी वस्तुतः राजधानी का नाम है।

मध्य जावा

रके गरुङ्ग	८२९ या ८३९
,, पिकतन	८६४ (?)
,, कयुवङ्गि	८७९-८८२
,, वतुहुमलङ्ग	८८६

मध्य और पूर्वीय जावा

रके वतुकुर, बलितुङ्ग	८९८-९१०
,, हिनो, दच	९१५
,, लयङ्ग, तुलोडोङ्ग	९१९-९२१
,, पङ्कज, वव	९२४-९२८

पूर्वीय जावा

देवसिंह	...
गजयान	...
अ···नन (?)	७६०
रके हिनो, सिण्डोक	९२९-९४७
लोकपाल	९५०
मकुटवंश वर्धन	...
धर्मवंश अनन्तविक्रम	९९१-१००७
रके हलु, ऐरलङ्ग	१०१९-१०४२
,, ,, , जुरु (? जङ्गल)	१०६०
जयवर्ष (काडिरी)	११०४
कामेश्वर पहला	१११५-११३०
जयभय	११३५-११५७
सर्वेश्वर पहला	११६०
आर्येश्वर	११७१
क्रौञ्चार्य दीप, गन्द्र	११८१
कामेश्वर दूसरा	११८५
सर्वेश्वर दूसरा, श्रृङ्ग	११९४-१२००
कृतजय	१२१६-१२२२

सिंहसारी और मजपहित के शासक

राजस	१२२२-१२२७
अनूषपति	१२२७-१२४८
तोहजय	१२४८
विष्णुवर्धन	१२४८-१२६८
कृतनगर	१२६८-१२९२
जयकत्वङ्ग	१२९२-१२९३
कृतराजस, जयवर्धन	१२९३-१३०९
जयनगर	१३०९-१३२८
त्रिभुवना*	१३२९-१३५०
राजसनगर	१३५०-१३८९
विक्रमवर्द्धन	१३८९-१४२९
सुहिता*	१४२९-१४४७
श्रेतुमपल	१४४७-१४५१

---

* शासिका

जावा-साहित्य की दशा

जैसा कि ऊपर कहा गया है, जावा का अति प्राचीन साहित्य लुप्तप्राय है। शैलेन्द्र-वंश के समय में जावा के साहित्य में ख़ूब वृद्धि हुई होगी, किन्तु उस समय के बहुत थोड़े ग्रन्थ देखने में आते हैं। ऐरलङ्ग के समय से लेकर पूर्वीय जावा में जो साहित्य-भाण्डार विद्यमान था उस का बहुत सा हिस्सा आज सुरक्षित मिलता है और वही आज प्राचीनतम गिना जाता है। स्वयं जावा में बहुत से ग्रन्थ नष्ट हो चुके थे, किन्तु पूर्वीय जावा का बाली द्वीप से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, इस से जावा का साहित्य बहुत अंश में बाली द्वीप पर भी पहुँच चुका था। इधर पूर्वीय जावा पर राजनैतिक हेर-फेरों में जो साहित्य लुप्त हो गया, वह आज बाली द्वीप से मिल रहा है। बाली द्वीप पर साहित्यिक विषय में भी कुछ स्वातन्त्र्य रहा है, और इस के फलस्वरूप एक जावा-बाली नाम की भाषा का आविर्भाव हुआ। अन्त में मतरम राज्य के अधीन मध्य जावा में पुनः साहित्य का प्राबल्य हुआ। कई ग्रन्थों के अनुवाद हुए और कई ग्रन्थ नए लिखे गए। भाषा में बहुत कुछ परिवर्त्तन हो चुका था, जिस से अनुवादों की आवश्यकता हुई। पूर्वीय जावा के भारतयुद्ध आदिक ग्रन्थ अब 'ब्रतयुध' आदि के रूप में आए।

यव-भाषा[1]

देश-काल के उक्त परिवर्त्तनों के अनुसार जावा की भाषा भी आजकल तीन मुख्य विभागों में विभक्त की जाती है—प्राचीन यव-भाषा, जिस का प्रयोग दसवीं शताब्दी से पूर्वीय जावा में होता था और जिस का साहित्य आज सब से पुराना माना जाता है; मध्य यव-भाषा, जिस में बाली द्वीप की भाषा का भी सम्मिश्रण हो गया था और जिस का प्रयोग तत्कालीन साहित्य में हुआ; नव्य यव-भाषा, जो मतरम राज्य के समय से आज तक प्रचलित है, और जिस में प्रायः प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद मिलते हैं।

इसे ह्रास समझा जाय या विकास, किन्तु जावा के प्राचीन साहित्य में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है, और ज्यों-ज्यों आगे चलते हैं, त्यों-त्यों या तो संस्कृत शब्दों के विकृत रूपों का प्रयोग अधिकाधिक मिलता है अथवा संस्कृत शब्दों के स्थान पर स्वयं यव-भाषा के शब्दों का। कहीं-कहीं संस्कृत शब्दों के आगे-पीछे एवं मध्य में कई प्रकार के प्रत्यय और आगम जोड़े गए हैं, जिस से संस्कृत शब्द का रूप पहचानना दुष्कर हो जाता है। यव-भाषा में पृथक् क्रियापदों का अभाव है, प्रायः संज्ञावाचक शब्दों के साथ कई तरह आगम जोड़ कर क्रियापदों एवं भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के अर्थों का बोध कराया जाता है; जैसे आकर्षण से काकर्षण=खींचा हुआ, अक्षि से काक्षि=देखा हुआ, एवं क्षमा से अङ्क्षम, इनक्षमाकन्, पङ्क्षम इत्यादि, चक्र से मचक्र, चिनक्र इत्यादि। ऐसे शब्दों के अर्थ-निर्धारण में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अभी तक इस भाषा का कोई अच्छा व्याकरण नहीं लिखा गया। कई डच विद्वानों ने इस विषय में खोज की है और व्याकरण के ग्रन्थ लिखे भी हैं, पर इस विषय में अभी बहुत कुछ करना शेष है। दूसरी कठिनाई यह है कि यव-भाषा का कोई कोष भी नहीं मिलता। ग्रन्थों के परिशीलन से और शब्दों की तुलना के आधार पर डच विद्वानों ने यव-भाषा के कई एक कोष लिखे हैं, पर अर्थों के विषय में बहुधा मतभेद ही है। तीसरी कठिनाई यव-भाषा की लेखन-प्रणाली है। यहाँ ह्रस्व दीर्घ का कोई विचार नहीं; क और ख, द और ध आदि अक्षरों में परस्पर कोई भेद नहीं किया जाता। अ के स्थान पर बहुधा ह का प्रयोग किया जाता है। ऐसे ही कई कारणों से यव-भाषा का अध्ययन टेढ़ी खीर है।

---

[1] जावा की भाषा, संक्षेपार्थ जावा-भाषा न लिखकर यव-भाषा शब्द का प्रयोग किया गया है।

हाँ, संस्कृतज्ञों के लिए यव-भाषा के रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थ उपेक्षा बुद्धि से कुछ सुगम हैं, क्योंकि वहाँ स्थान-स्थान पर संस्कृत के मूलपाठ के टुकड़े उद्धृत किए गए हैं, कहीं एक चरण, कहीं आधा श्लोक, कहीं पूरा श्लोक। शुरू में जो ग्रन्थ यव-भाषा में लिखे गए हैं वे बहुधा संस्कृत ग्रन्थों के शब्दश: अनुवाद हैं, बाद में उन की व्याख्याएँ हुईं और उन के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गए, जो अब दुर्बोध हैं। जावा में इन ग्रन्थों का कुल-परम्परा से अध्ययन नहीं होता रहा, और बीच-बीच में वहाँ के राजनैतिक हेर-फेरों से वहाँ की प्रथाएँ भी भग्न होती रहीं, जिस से उक्त ग्रन्थों का अध्ययन आज स्वयं जावा-निवासियों के लिए भी कुछ कम दुर्गम नहीं।

आज जावा-साहित्य के जितने भी ग्रन्थ मिलते हैं, उन में से रामायण और महाभारत सब से पुराने हैं। ये गद्यमय अनुवाद हैं, और, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इन के बीच-बीच में संस्कृत के मूलपाठ के टुकड़े उद्धृत हैं।

जावा-साहित्य का स्वरूप

महाभारत यद्यपि जावा पर सम्पूर्ण विदित था, क्योंकि कई स्थानों पर इस का 'अष्टादश पर्व' से उल्लेख हुआ मिलता है, परन्तु वहाँ से अभी तक इस के आठ पर्व ही मिले हैं—आदि, विराट, उद्योग, भीष्म, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहण। इस के बाद वस्तुत: जावा का अपना साहित्य आरम्भ होता है, जिस के ककविन्, किडुङ्ग, पञ्जी, लुलुङ्गिद, बबद, लकोन इत्यादि कई भेद हैं।

ककविन् का अर्थ काव्य है। 'कवि' शब्द से संस्कृत में जहाँ भाववाचक 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ उसी 'कवि' शब्द से उसी अर्थ में 'ककविन्' शब्द का यव-भाषा में प्रयोग हुआ है। यहाँ ककविन् से अभिप्राय महाकाव्यों से है, क्योंकि ये 'सर्गबन्ध' इत्यादि संस्कृत के महाकाव्यों के लक्षणों का अनुसरण करते हैं। इन में संस्कृत के छन्दों का ही प्रयोग किया गया है।

जावा-साहित्य में बहुत से ककविन् देखने में आए हैं। कुछ का नाम-निर्देश यहाँ किया जाता है—अर्जुन-विवाह, भारत-युद्ध, स्मरदहन, रामायण, भोमकाव्य, ब्रह्माण्डपुराण, सुतसोम (अथवा पुरुषादशान्त), सुमनसान्तक, कृष्णायन, रामविजय, रत्नविजय इत्यादिकों में वर्णित विषय तो इतिहास-पुराणादि ग्रन्थों में सुप्रसिद्ध हैं, किन्तु कई एक ऐसे हैं जिन का वृत्त सर्वथा कवि-कल्पित है, जैसे वृत्तसञ्चय (चक्रवाकदूत, यह वस्तुत: खण्डकाव्य है), नीतिसार, लुब्धक, कुञ्जरकर्ण, अङ्गबञ्चन, धर्मसवित (धर्मसहित ?) और धर्मशून्य, देवरुचि, मनुक् अभ, सङ्‌तङिस्, पससङ्कलन, नागर कृतागम (यह महाकाव्य की शैली पर ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा जा सकता है), चण्डकिरण, उसनबाली, अजङनिरर्थ इत्यादि। इन में से एकाध का परिचय नीचे दिया जायगा।

किडुङ्ग भी वस्तुत: एक प्रकार के महाकाव्य ही हैं। ककविन् से इन का मुख्य भेद यह है कि इन में संस्कृत छन्दों का प्रयोग नहीं, प्रत्युत जावा के अपने छन्दों का प्रयोग किया गया है। किञ्च इन में की भाषा बहुत कुछ अर्वाचीन है, प्रतिपाद्य विषय भी सर्वथा जावा द्वीप से ही सम्बन्ध रखता है।

कुछ मुख्य किडुङ्गों के नाम ये हैं—सुदमल, सुन्द, सुन्दायन, रामायण, नवरुचि, सुमनसान्तक, आदिपर्व, अर्जुन-प्रलब्ध, दवुहबले अङ्गुङ, कुन्तीम, वंङ्‌वङ, अस्तुति, भीमस्वर्ग, धर्मजाति, शुद्धमल इत्यादि।

रामायण, सुमनसान्तक आदिक ककविनों में भी आए हैं और यहाँ भी। कथावस्तु वही है किन्तु छन्दोभेद और भाषाभेद के रूप से वे यहाँ भी मिलते हैं। भाषान्तर करते समय लेखक कभी तो मौलिक ग्रन्थ का नाम ही रखता है, कभी नाम बदल भी देता है। अर्जुन-विवाह के कई भाषान्तर किए गए, एक का नाम मित्तराग है, जो किडुङ्गों में गिना जाता है।

पञ्जी और लुलुङ्गिद गद्य ग्रन्थ हैं और प्राय: पञ्चतन्त्र के समान नीति की कथाएँ इन का विषय है। विविध आख्यान और आख्यायिकाएँ भी इसी के अन्तर्भूत हैं। तन्त्र कामन्दक नाम का मध्य यव-भाषा का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिस का विषय पञ्चतन्त्र का ही है पर कथाओं में बहुत अन्तर है, किञ्च कथामुख सर्वथा भिन्न है।

बबद आदि जावा के मुसलमानों के काल से इतिहास के ग्रन्थ हैं।

नीचे कुछ ग्रन्थों का परिचय दिया जाता है—

नागर कृतागम

आज तक जावा-साहित्य के जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उन में से इतिहास की दृष्टि से 'नागर कृतागम' का स्थान सर्व-प्रथम है। यह ९८ सर्गों का एक पद्यमय काव्य है। इस का रचना-काल आश्विन मास शक संवत् १२८७ (अर्थात् सन् १३६५ ई०) ग्रन्थ के अन्त में ही दिया हुआ है। कवि का नाम प्रपञ्च है। पूर्वीय जावा में मजपहित का साम्राज्य उन दिनों समृद्धि पर था। हयम्वुरुक नाम का राजा राज्य करता था, यद्यपि राज्य का सञ्चालन-भार एक गजमद नामी विश्वस्त और निपुण व्यक्ति के सिर पर था। राज्य के अन्यान्य विभागों में एक धर्म-विभाग भी था, जिस में शैव और बौद्ध दोनों मतों को प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उक्त काव्य का कर्ता प्रपञ्च इस विभाग में बौद्धमत का मुख्य धर्माधिकारी था। इस की उपाधि धर्माध्यक्ष रिङ कसोगतन् थी। 'कसोगतन्' शब्द में '-सोगत-' से अभिप्राय '-सौगत-' है। कवि होने से प्रपञ्च राजा हयम्वुरुक के विशेष सम्मान का पात्र था। नागर कृतागम एक स्तुतिपरक काव्य है, हयम्वुरुक और उस के पूर्वजों की एवं राज्य-सञ्चालक गजमद की प्रशंसा करना यहाँ कवि का प्रधान लक्ष्य है। तो भी, जैसा कि इस के प्रतिपाद्य विषय से स्पष्ट है, इस से बहुत सी तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती ऐतिहासिक घटनाओं का प्रामाणिक परिचय मिलता है, जो यावदुपलब्ध अन्य साधनों से नहीं मिलता। इस में वर्णित बहुत सी बातें कवि की अपनी आँखों देखी हैं, और जो उस ने सुनी-सुनाई लिखी हैं वे भी, उस की पदवी को ध्यान में रखते हुए, कम प्रामाणिक नहीं। कई अवसरों, उत्सवों और यात्राओं पर कवि राजा के साथ रहा है, नाना अनुभव प्राप्त करता रहा है, और तदनन्तर उस ने नागर कृतागम की रचना की है, और प्राय: उन्हीं अनुभूत घटनाओं का इस में वर्णन दिया है, इसी से अन्तिम सर्ग में कवि ने इस काव्य का दूसरा नाम 'देशवर्णन' दिया है।

संक्षेप से ग्रन्थ का विषय इस प्रकार है—पहले सर्ग में, मङ्गलाचरण के बाद, राजा हयम्वुरुक के जन्म (१३३४ ई०) का वर्णन है, जहाँ कवि ने उसे भट्टार गुरु का अवतार मान कर उस की स्तुति की है। २-७ सर्गों में राजा के पूर्वजों का वर्णन है। ८-१५ सर्गों में राजधानी मजपहित का विस्तृत वर्णन एवं मजपहित साम्राज्य के वशवर्ती जावा और द्वीपान्तरों पर के राज्यों का वर्णन दिया है। सोलहवें सर्ग में शैव और बौद्ध मतों के धर्म-प्रचार के कार्य का विवरण दिया है। १७-७० सर्गों में राजा की विविध यात्राओं का वर्णन है। कवि राजा के साथ है। कई मठ-मन्दिर-स्तूप-विहार एवं अन्यान्य धर्मस्थानों के दर्शन होते हैं। उत्सव मनाए जाते हैं। दान-पुण्य किया जाता है। कई जीर्ण स्थानों का उद्धार होता है और कई नए स्थानों का निर्माण। एक बार यात्रीगण राजा के पूर्वजों की (कृतनगर की) राजधानी सिंहसारी में पहुँचते हैं, जहाँ कवि को (३८ वाँ सर्ग) एक ८३ साल के बूढ़े मठाधीश आचार्य रत्नांश नाम बौद्ध भिक्षु से मिलने का अवसर मिलता है। कवि की प्रार्थना पर आचार्य रत्नांश राजा के पूर्वजों के इतिहास का वर्णन करता है। फलत: आगे के कुछ सर्ग (४०-४९) एकान्त ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं। आगे चल कर (१३६२ ई० में)

राजा की पितामही—कृतनगर की पुत्री और राजा विजय की पत्नी—का श्राद्धोत्सव मनाया जाता है (६३-६७ सर्ग)। सन् १३६४ ई० में पति गजमद की मृत्यु हो जाती है। वह अकेले सारे कार्य-भार को बड़ी निपुणता से सँभाले हुए था, उसी कार्य-भार को सँभालने के लिए उस के स्थानापन्न अब कई कर्मचारी भी समर्थ नहीं हो सकते—इस बात का आश्रय ले कर तत्कालीन शासन-प्रणाली का सुविस्तृत वर्णन किया गया है (७२-८२ सर्ग)। अन्त में कई प्रकार के वार्षिक उत्सवों का वर्णन दे कर (८३-९८ सर्ग) ग्रन्थ की समाप्ति की गई है।

इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से १७-७० सर्ग विशेष महत्त्व के हैं। इन में वर्णित धर्मस्थान अब भी खण्डिताखण्डित रूप में विद्यमान हैं। ताम्रपत्र और शिलालेखों से अन्यान्य घटनाएँ भी सत्य सिद्ध हो रही हैं।

ग्रन्थ के अन्त में प्रपञ्च कुछ अपने विषय में भी लिखता है। धर्माध्यक्ष का पद ग्रहण करने से पूर्व उस का नाम म्पु[1] विनाद था। नागर कृतागम के अतिरिक्त उस ने कई एक अन्य ककविन् और किडुङ्ग भी लिखे थे, जो अभी तक नहीं मिले, नागर कृतागम में ही उन का नाम-निर्देश मिलता है।

स्वयं नागर कृतागम भी जावा से लुप्त हो चुका था। बाली द्वीप से यह ग्रन्थ सुरक्षित मिला है। इस का मुद्रण पहले-पहल बाली भाषा के अक्षरों में और बाद में रोमन अक्षरों में भी किया गया। डच भाषा में इस के दो-एक अनुवाद[2] भी हुए हैं, किन्तु इस में अभी तक कई स्थल विवाद-ग्रस्त हैं।

परततोन्

नागर कृतागम की कोटि का ही दूसरा ग्रन्थ परततोन् है, किन्तु यह गद्यमय है। यह एक ऐतिहासिक आख्यान है। नागर कृतागम का नायक हयम्वुरुक है, और उस में प्राय: उसी से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन है, परन्तु परततोन् में कनङ्ग्रक, कृतनगर, विजय, गजमद आदि कई व्यक्ति प्रधान पात्र हैं। इस ग्रन्थ का पूरा नाम सरत् परततोन् है। सरत् यव-भाषा का शब्द है जिस का अर्थ है पत्र अथवा वृत्तान्त-पत्रिका। रतु शब्द का अर्थ राजा है, इसी का तद्धित रूप परततोन् है जिस का अर्थ है राजवंश, राजावली अथवा राज-परम्परा। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'कतुतुरनिर कनङ्ग्रक' है अर्थात् 'कनङ्ग्रक उपाख्यान'।

इस के कर्त्ता के विषय में कुछ मालूम नहीं। हाँ, इस की भाषा नागर कृतागम की भाषा से अर्वाचीन है, और इस में सन् १४८१ ई० तक की घटनाओं का वर्णन मिलता है, जिस से इस के रचना-काल का कुछ अनुमान हो सकता है।

परततोन् मुख्यत: दो भागों में विभक्त है। पहला भाग प्राय: आख्यानमय है और दूसरा प्राय: इतिहासमय। दूसरे भाग के पुन: चार हिस्से किए जा सकते हैं—एक कनङ्ग्रक का उपाख्यान तथा तत्सम्बन्धी दन्त-कथाएँ; दूसरा सिंहसारी के राजाओं का वर्णन; तीसरा दो मुख्य कथाएँ, जिन में कई एक छोटी-छोटी कहानियाँ ओत-प्रोत हैं, एक में विजय की प्रधानता है और दूसरी में गजमद की; चौथा मजपहित के राजवंश-सम्बन्धी समाचार।

---

[1] पण्डित अथवा श्रीयुत आदि उपाधियों के मुक़ाबले में जावा में 'म्पु' शब्द का प्रयोग किया जाता था, इस का प्रयोग केवल धार्मिक व्यक्तियों के नामों से ही सम्बद्ध था।

[2] 'हेट ओउड-जवान्श लुफ़्तिहृत नागर कृतागम' वन प्रपञ्च (१३६५ ई०) टेक्स्ट, व्येर्तालिङ् एन बिस्प्रेकिङ् वन प्रो० डॉ० कर्ण, मेत आन्तिकेनिंगेन वन डॉ० एन्० जे क्रोम, ग्रावेनहाँगे, १९१९।

कनङ्ग्रक एक तरुण साहसिक लुटेरा है। कई विचित्र चालें चल कर वह तुमापल के राज्य में सरदार का पद प्राप्त कर लेता है, और अन्त में सारा राज्य अपने क़ब्ज़े में कर स्वयं राजा बन जाता है। तब से यह राजस नाम से प्रसिद्ध होता है। इस का जीवन साहसमय घटनाओं से पूर्ण है। यह कई आपत्तियों से साफ़ बच निकलता है, जिस से लोगों पर इस का ख़ूब प्रभाव छाया हुआ था। ग्रन्थकार ने इसे विष्णु का अवतार मान कर इस की स्तुति की है। यही कनङ्ग्रक अथवा राजस सिंहसारी राज्य का जन्मदाता और बाद के मजपहित के राजाओं का वंश-कर्त्ता है। इस के काल में तुमापल राजधानी थी। यह राज्य भी तुमापल राज्य से प्रसिद्ध रहा। बाद में कृतनगर ने सिंहसारी को राजधानी बनाया, सो राज्य भी सिंहसारी राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिंहसारी का अन्तिम राजा कृतनगर ही था। इस की मृत्यु के बाद इस का राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस के दामाद विजय ने एक नए राज्य की स्थापना की, जो मजपहित के नाम से प्रसिद्ध हुआ, और जो गजमद के शासन-काल में उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचा।

यह सारा इतिहास पररतोन् में विस्तारपूर्वक वर्णित है। प्रत्येक घटना का तिथि-संवत्-स्थान आदि सब साथ दिया हुआ है, इस दृष्टि से पररतोन् स्वयं एक इतिहास-ग्रन्थ ही है। इस की कई हस्त-लिखित प्रतियाँ मिल चुकी हैं। विद्वानों को इस ग्रन्थ का बहुत दिनों से पता था, किन्तु इस की ऐतिहासिक महत्ता अब मालूम हो रही है। इस ग्रन्थ के आधार पर डच भाषा में कई ग्रन्थ और निबन्ध लिखे जा चुके हैं। ग्रन्थ का अनुवाद—व्याख्या आदि समेत—डच भाषा में किया गया है। सब से पहले डॉ० जे० एल० ब्रांडस ने इस ग्रन्थ का अनुवाद-सहित मूल पाठ प्रकाशित किया था। इस की द्वितीयावृत्ति कई अन्य विद्वानों की सहकारिता से डॉ० क्रोम द्वारा हुई है, जो कई अंशों में संशोधित, परिवर्धित और स्पष्टीकरणों से सम्पन्न है।

अर्जुन-विवाह

यह ३६ सर्गों का एक महाकाव्य है। कवि का नाम म्पु कण्व ग्रन्थ के अन्त में ही दिया गया है, जहाँ पर यह भी लिखा है कि राजा ऐरलङ्ग ने इस काव्य की बड़ी प्रशंसा की। ऐरलङ्ग का समय ग्यारहवीं शताब्दी का आरम्भ है। कवि म्पुकण्व राजा ऐरलङ्ग का समकालीन ही सिद्ध होता है। इस से अर्जुन-विवाह का रचना-काल १०३५ ई० से पूर्व है। इस दृष्टि से यह प्राचीन यव-भाषा का—रामायण, महाभारत आदि को छोड़ कर—सब से पुराना ग्रन्थ है।

ग्रन्थ का विषय वही है जो भारवि के किरातार्जुनीय का, अर्थात् महाभारत के विराटपर्व में दिया हुआ अर्जुन का उपाख्यान। अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने जाता है, इन्द्र इस की परीक्षा के लिए अप्सराएँ भेजता है, अर्जुन विचलित नहीं होता, बाद में अर्जुन किरातरूप भगवान् शिव से युद्ध करता है और उस से दिव्य अस्त्र प्राप्त करता है, निवात-कवचों से युद्ध करता है। कवि ने शेष कथा में कुछ हेर-फेर किया है। अर्जुन इन्द्र के भवन में पहुँचाया गया है, जहाँ वह अप्सराओं से विहार करता है और अन्त में रत्नप्रभा नाम अप्सरा से विवाह कर लेता है, इसी घटना को लेकर ग्रन्थ का नाम कवि ने अर्जुन-विवाह रक्खा है।

काव्य की दृष्टि से यह एक अत्युत्तम ग्रन्थ है और जावा में बड़ा प्रसिद्ध रहा है। इस की प्रसिद्धि का अनुमान इसी से हो सकता है कि वयङ्ग अर्थात् जावा के प्रसिद्ध छाया-नाटकों में इस का अभिनय किया जाता है, चण्डी जगो आदि मन्दिरों की भित्तियों पर इस में के वर्णित विविध प्रसङ्ग मूर्तियों के रूप में उत्कीर्ण हैं, तथा इस ग्रंथ के वृत्त के आधार पर कई किडुङ्ग लिखे गए जिन में से मिन्तराग एक है। मिन्तराग 'वीतराग' शब्द का

विकृत रूप है और यह नाम अर्जुन को दिया गया है, जो तपस्या करते समय इन्द्र की भेजी हुई अप्सराओं द्वारा विचलित नहीं हो सका।

इस ग्रंथ के विषय में भी डच भाषा में बहुत कुछ टीका-टिप्पणी हुई है, क्योंकि इस के द्वारा भी जावा के प्राचीन इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। इस का मूलपाठ अनुवाद और व्याख्या सहित जावा-निवासी डॉ० पूर्बचरक द्वारा प्रकाशित हो चुका है। अनुवाद आदि डच भाषा में ही हैं।

स्मरदहन

अर्जुन-विवाह के समान यह ४० सर्गों का एक महाकाव्य है। इस का कवि म्पु धर्मज है, जिस ने काडिरी के नरेश कामेश्वर (प्रथम अथवा द्वितीय ?) की प्रशंसा में यह काव्य रचा है, इस से इस का रचना-काल लगभग सन् ११५० ई० है।

इस का विषय क़रीब-क़रीब वही है, जो कालिदास के कुमारसम्भव का। किन्तु यहाँ कवि का मुख्य उद्देश्य कामेश्वर की स्तुति है, इस से कथा में बहुत कुछ अन्तर है। काम और रति दोनों शिव की नेत्राग्नि से भस्मसात् होते हैं। शिव और उमा का विवाह हो जाता है। उमा की प्रार्थना पर शिव काम और रति को पुनर्जीवित करने का वचन देता है। तदनुसार ही कवि के आश्रयदाता राजा कामेश्वर के रूप में काम और उस की रानी के रूप में रति पृथ्वी पर अवतार लेते हैं।

इतिहास की दृष्टि से यह काव्य सर्वथा महत्त्वशून्य नहीं। कामेश्वर के राज्य का विस्तार, सीमाएँ और उस के शासन-सम्बन्धी बहुत सी बातों का कवि ने विशेष रूप से वर्णन किया है।

वृत्तसञ्चय

इसी (± सन् ११५० ई०) समय का यह एक खण्ड-काव्य है। इस का कवि म्पु तनकुङ है, और यह भी प्रथा है कि यह म्पु तनकुङ म्पु धर्मज का भाई था। लुब्धक आदिक कई एक अन्य ग्रन्थ भी इसी के लिखे माने जाते हैं। वृत्तसञ्चय का दूसरा नाम चक्रवाकदूत है। इस में विविध जाति के ११२ श्लोक हैं।

कवि का मुख्य उद्देश्य संस्कृत के छन्दों का स्पष्टीकरण है। प्रत्येक श्लोक में उस की संज्ञा, लक्षण और उदाहरण सब कुछ आ जाता है। साथ-साथ कथा-प्रसङ्ग भी चलता जाता है। किन्तु कथा यहाँ गौण रूप से है।

एक राजकुमारी अपने प्रेमी के विरह में आतुर बैठी है। एक चकवे को देख वह अपना दुखड़ा उसे सुनाती है और उसे अपने प्रियतम के पास भेजती है। चकवा जाता है और राजकुमार को खोज लाता है। प्रेमी और प्रेमिका का मिलाप हो जाता है।

चक्रवाकदूत कालिदास के मेघदूत का स्मरण दिलाता है। भारतवर्ष में भी मेघदूत की नक़ल पर हंसदूत आदि कई एक खण्ड-काव्य रचे गए थे। यहाँ अन्तर यह है कि नायिका नायक को सन्देश भेजती है, किन्तु मेघदूत में नायक नायिका को।

प्रो० कर्ण द्वारा डच भाषा में इस काव्य का भी अनुवाद आदि हो चुका है।

शैलेन्द्र-वंश के समय का—अर्थात् सातवीं, आठवीं शताब्दी का—यही एक ग्रन्थ मिलता है। चन्दकरण नाम का एक हस्त-लिखित ग्रन्थ मिला था, जिस में तीन टुकड़े थे। पहला छन्दःशास्त्र के विषय में और तीसरा फिर कोष के विषय में और मध्य में अर्थात् दूसरा टुकड़ा अमरमाला है। यह एक संस्कृत कोष की व्याख्या प्रतीत होती है। एक ओर संस्कृत के शब्द दिए हुए हैं और सामने यव-भाषा के पर्याय दे कर उन का अर्थ स्पष्ट किया गया है। इस का वर्गीकरण अमरकोष के समान ही है अर्थात्

अमरमाला

पहले स्वर्ग और देवताओं के नाम। इस ग्रन्थ से यह स्पष्ट होता है कि किस तरह उन दिनों संस्कृत का अध्ययन होता था।

भारतयुद्ध, हरिवंश, घटोत्कचाश्रय

यह भी प्राचीन यव-भाषा के काव्य-ग्रन्थ अर्थात् ककविन् हैं। भारत-युद्ध में ५२ सर्ग हैं। इस के कवि का नाम म्पु सडह है जिस ने उक्त काव्य का आरम्भ सन् ११५७ ई० अर्थात् काडिरी के राजा जयभय के समय में किया था। म्पु सडह इस काव्य को समाप्त नहीं कर पाया। समाप्ति इस की म्पु पनुलुह नामक दूसरे किसी कवि ने की है जो स्वयं घटोत्कचाश्रय और हरिवंश आदि काव्यों का कर्त्ता है।

उक्त तीनों काव्यों का विषय, जैसा कि इन के नामों से स्पष्ट है, महाभारत से लिया गया है। कथाओं में कहीं-कहीं बहुत भेद है, परन्तु सामान्यतः मूल महाभारत का ही अनुसरण किया गया है।

ऊपर जिन ग्रन्थों का परिचय दिया गया है वे 'मुख्य' इसी दृष्टि से कहे गए हैं कि अभी और ग्रन्थों का पता नहीं। जावा-साहित्य के सैकड़ों ग्रन्थ अभी ऐसे ही पड़े हैं जिन्हें किसी ने खोल कर भी नहीं देखा कि उन में धरा क्या है।

जावा-साहित्य के हस्त-लिखित ग्रन्थों का संग्रह

यद्यपि जावा-साहित्य संस्कृत-साहित्य के समान अनन्त होने का गर्व नहीं कर सकता, तो भी अपने स्थान पर यह कुछ कम नहीं। किन्तु संस्कृत-साहित्य को जहाँ यह गौरव प्राप्त है कि उस के पढ़ने वालों की संख्या पर्याप्त है, उस के हस्त-लिखित ग्रन्थों की सूचियाँ तैयार की गई हैं, उस के हज़ारों ग्रन्थ छप चुके हैं, वहाँ जावा-साहित्य की दशा इस के सर्वथा प्रतिकूल है। इस के हस्त-लिखित ग्रन्थों का कई जगह संग्रह मिलता है; जैसे—बटावियाश् गेनूट्शप् वन कुन्स्टन् एन्, वेटेन्शॅप्पेन, बटाविया, लाइडूशे विद्यापीठ लाइडन् कलोनियाल इन्स्टीटूट आम्स्टरडम, कोनिंग-लिक् इन्स्टीटूट वोअर डि टाल लॅण्ड एन् वल्कन्कुंड वन नीडरलंडूश इंडिया, इंडिया ऑफ़िस लंडन इत्यादि इत्यादि अनेक संस्थाओं के पुस्तकालयों में एवं जावा और बाली आदि द्वीपों के कई घरानों में निजी पुस्तक-संग्रह। इन में अभी लयिदन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के संग्रह की सूची तैयार हो सकी है, दूसरे संग्रह अभी योंही पड़े हैं।

इस उपेक्षा का कारण विद्वानों की रुचि का अभाव है। अभी तक जो कुछ भी जावा के साहित्य के अन्वेषण में कार्य किया गया है उस में सब से अधिक श्रेय डच विद्वानों को है। किन्तु उन के ग्रन्थ प्रायः सारे डच भाषा में लिखे होने से भारतीय विद्वान् विद्यार्थी उन का पूरा उपयोग नहीं उठा सकते। कुछ भी हो, भारत में जहाँ आज राष्ट्रीयता का उन्मेष हो रहा है वहाँ भारतवासियों का यह भी कर्त्तव्य है कि द्वीपान्तरों में फैली हुई अपने पूर्वजों की कीर्ति—सभ्यता और संस्कृति — का परिशीलन करें और वहाँ के साहित्य के अन्वेषण और इतिहास के निर्माण में पूरा सहयोग दें।

अन्त में मैं लयिदन विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर डॉक्टर जे० एन्० क्रोम एवं प्रोफ़ेसर डॉक्टर सी० सी० बर्ख़ के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ, जिन के निबन्धों और ग्रन्थों के आधार पर मैं इस लेख के रूप में कुछ शब्द लिख सका हूँ।

ओड़िशार मध्ययुग राजवंशादिर परिचय

श्रीयुत परमानन्द आचार्य, बी॰ एस्-सी॰, मयूरभञ्ज ।

[पिछले कुछ वर्षों में पाए गए नए अभिलेखों से गङ्गवंश से पहले के उड़िया इतिहास के ज्ञान में बहुत कुछ वृद्धि हुई है ।

मदलपञ्जी (जगन्नाथ के मन्दिर में सुरक्षित पञ्जिका) में केवल केशरीवंश के राजाओं के, जिन्हों ने ४७४ ई॰ से ११३२ ई॰ तक राज्य किया, नाम पाए जाते हैं । किसी और वंश का नाम उल्लिखित नहीं है पर ताम्रपत्रों से पता चलता है कि ६०६ ई॰ में मानवंश का राज्य वहाँ था । ६१९-२० में शैलोद्भववंश के शशाङ्कदेव का राज्य वहाँ था । हिउएन-चाङ् की जीवनी से पता चलता है कि शशाङ्क के बाद हर्षदेव ने वहाँ राज्य किया और महायान धर्म का प्रचार करने का प्रयत्न किया । उस के पश्चात् कोगण्ड (गञ्जाम ज़िला) में शैलोद्भव-वंश के राजा शक्तिशाली हो गए । उन्हों ने छठी शताब्दी ई॰ के मध्य से लेकर नवीं शताब्दी ई॰ के मध्य तक राज्य किया । उन का राज्य-विस्तार कलिङ्ग और कोगण्ड में था । उस समय वहाँ संस्कृत का बहुत प्रचार था । राजा ब्राह्मण्य धर्म का आदर करते थे । ताम्रपत्रों से पता चलता है कि कोगण्ड में उन की भी प्रभुता रही; परन्तु भोम और शैलोद्भव-वंशों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या था, इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता । सोमवंश के राजा और शैलोद्भव-वंश के धर्मराज में आठवीं शताब्दी के पिछले अंश में युद्ध हुआ । उस समय का इतिहास धुँधला है ।

भोमवंश—मदलपञ्जी में भोमवंश का कोई उल्लेख नहीं है । इस वंश के राजा बौद्ध थे, परन्तु उन के राज्य में हिन्दू और बौद्ध दोनों वृद्धि कर रहे थे । इन राजाओं का चीन-सम्राट् से भी सम्बन्ध था । इन के राजत्व-काल में वास्तु और मूर्त्तिकला की बहुत उन्नति हुई । ऐसा जान पड़ता है कि धर्म-प्रचार की ओर उन का अधिक ध्यान रहा । नगरों में बड़ी समृद्धि थी, तथा उन का परले हिन्द के द्वीपों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध था । शासन दृढ़ था तथा प्रजा सुखी थी । भोमवंश का उल्लेख किसी समकालीन राजवंश (तुङ्ग-नन्द इत्यादि) के ताम्रपत्रों में नहीं है, अतएव उन का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करना कठिन है ।

तुङ्गवंश—यह वंश रोहतास गढ़ से आया तथा जमगर्त्त में इस ने अपना अधिकार जमा लिया ।

नन्दवंश—इस के दो ताम्रपत्र मिले हैं । उन से पता चलता है कि उन का राज्य महानदी के दक्खिन तट पर था, तथा उस की राजधानी जयपुर थी । राजा बौद्ध थे ।

शुल्कीवंश—इन के ९ ताम्रपत्र मिले हैं । सब कोदालक से, जो कि ब्राह्मणी के तट पर था, दिए गए हैं । ढेंकानाल रियासत का केराप्रालु गाँव ही शायद वह कोदालक है ।

भञ्जवंश—इस के २६ ताम्रपत्र पाए गए हैं । उन में से कुछ आधुनिक अनगुल ज़िले से और कुछ खिञ्जली (आधुनिक बौद-सोनपुर, दशपल्ला राज्य और गञ्जाम ज़िलान्तर्गत घुमुसर) से जारी किए गए हैं । उन की राजधानी पहले धृतिपुर थी; बाद को दो विभिन्न राजधानियाँ हो गईं—धृतिपुर और विजंलवक । एक बौद की, दूसरी घुमुसर की । पीछे बौद की राजधानी गन्धर्वबाडी हो गई । दशयला की स्थापना कैसे हुई सो स्पष्ट नहीं है । यद्यपि भञ्जवंश का गोत्र मयूरभञ्ज के गोत्र से भिन्न है, परन्तु सम्भवतः वे एक ही देश के हैं ।

ये भञ्ज राजा अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहते हैं । पं॰ विनायक मिश्र ने बड़ी खोज के बाद सिद्ध किया है कि वे मौर्यवंश के हैं । हंटर के मतानुसार यह वंश २००० वर्ष का पुराना है । जो भी हो, नेट्टवंश के ताम्रपत्रों से इतना निश्चित है कि वे आठवीं शताब्दी से राज्य कर रहे हैं । रेने ग्रोसे ने जिसे मयूरभञ्ज-शैली कहा है उस शैली की मूर्त्ति और वास्तु-कला के नमूने अब भी गन्धर्वबाड़ी और खिचिङ्ग में पाए जाते हैं ।

केशरीवंश—मदलपञ्जी के अनुसार केसरीवंश का राज्य ४७४ से ११३२ ई० तक रहा तथा केशरीवंश के अन्तिम राजा सुवर्णकेशरी को गङ्गवंश के चोड़ गङ्ग ने हरा कर राज्य छीना।

फ़्लीट ने सिद्ध किया है कि (ए० इं० भा० २ में) केशरीवंश के राजा वास्तव में सोमवंशी थे। उद्योतकेशरी के नरसिंहपुर राज्य तथा रत्नगिरि के ताम्रपत्रों से यह बात पूरी तरह प्रमाणित हो जाती है। उस समय के त्रिकलिङ्ग में कलिङ्ग, कोगण्ड और उत्कल सम्मिलित थे। तोषल का निश्चित उल्लेख नहीं है। इसलिए यह सम्भव है कि उत्तर तोषल उत्कल था और दक्षिण तोषल कोगण्ड। कोगण्ड के राजा की हार के पश्चात् यह प्रदेश कलिङ्ग में मिला लिया गया।

इस वंश के जनमेजय की राजधानी कटक के पास चउद्वार में थी। इस वंश की राजधानी सोनपुर में भी थी।

गङ्गवंश के राजदेव ने उत्कल को १०७९ ई० में अधीन कर लिया। कैकर्णकेशरी की हार हुई। यह कैकर्णकेशरी शायद मदलपञ्जी का सुवर्णकेशरी हो।]

महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझाङ्कु अभिनन्दन करिबार आयोजन अतीब प्रशंसनीय। महामहोपाध्यायङ्कर जीवनव्यापी ऐतिहासिक गबेषणारे केबळ जे भारतवासी ताङ्कठारे ऋणी ताहा नुहे, ताङ्कर 'भारतीय लिपिमाळा' पुस्तक द्वारा भारतबर्षर जाबतीय लिखित भाषा मध्य ताङ्कठारे चिरकाळ ऋणी रहिब। भारतबर्षर सर्वजन-समादृत हिन्दी भाषारे ताङ्कर समस्त ग्रन्थ लिखित होइ थिबारु 'भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेळन' पक्षरु ताङ्क प्रति सम्मान प्रदर्शन करिबा जथाविहित व्यबस्था होइअछि।

'भारतीय प्राचीन लिपिमाळा' रे ओड़िआ लिपिकु स्थान देइ से ओड़िया भाषार मर्य्यादा बढ़ाइ अछन्ति। लिपि-तत्त्व-विशारद महामहोपाध्यायङ्कर एहि ग्रन्थ प्रकाशित हेबापरे ओड़िशारु बहु ताम्रशासन दानपत्र आबिष्कृत होइअछि ओ सेगुड़िकर पाठद्वारा ओड़िशार गङ्गवंश पूर्वबर्त्ती इतिहास सम्पूर्णरूपे परिबर्त्तित होइअछि। 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री' नामक पुस्तकरे (२५ पृष्ठा) पण्डित ओझा लेखिअछन्ति जे "इस के बारहवीं शताब्दी ई० के पूर्व के राजाओं की नामावली तो अधिक अशुद्ध है।" एहि अनुमान आजि सत्य बोलि प्रमाणित होइ महामहोपाध्यायङ्कर इतिहास अनुधाबनरे सूक्ष्म दृष्टिर सम्यक् परिचय देउअछि। एणु ताङ्कर एहि सम्बर्द्धनारे जोग देइ ओड़िशार मध्ययुगर राजबंशाबळि सम्बन्धे पण्डितप्रबरङ्कर माहात्म्य स्मरण करि जत्किञ्चित् आलोचना करुअछि।

(१) मानवंश, गौडेश्वर शशाङ्क ओ श्रीहर्ष—शैळोद्भववंशी सामन्त राजबृन्द

मादळापाञ्जिरे खी० ४७४ ठारु खी० ११३२ पर्य्यन्त समय मध्यरे केबळ ४४ जण केशरीबंश राजामानङ्कर नाम ओ राजत्वकाळ वर्णित अछि। एहि दीर्घ सार्द्धषष्ठशताधिक बर्षमध्यरे अन्य कौणसि राजवंश ओड़िशारे राजचक्रबर्त्ती होइथिबार कथा मादळापाञ्जिरे उल्लेख थिबार जणाजाए नाहिँ। पश्चान्तरे कटक निकटबर्त्ती पटिआकिल्लार शिबराजङ्क ताम्रशासनरु जणा जाए जे खी० ६०६ रे मानबंशी राजा ओड़िशारे राजचक्रबर्त्ती थिले। तत्परे शैळोद्भवबंशी माधबराजङ्क ताम्रशासनरु जणाजाए जे खी० ६१९-२० रे गौडेश्वर शशाङ्कदेव उत्कळरे राजचक्रबर्त्ती थिले। पुनश्च हुएँसाङ्ग जीबनचरितरु जणाजाए जे शशाङ्कदेबङ्क परे हर्षदेब ओडिशार राजचक्रबर्त्ती होइथिले ओ बौद्धधर्मर महाजान शाखार प्रचार लागि बिशेष जत्न करिथिले।

तत्परे कोङ्गदरे शैळोद्भव बंशीय राजामाने प्रबल पराक्रान्त होइथिले। एहि बंशर राजामानङ्कर नाम ताम्रशासन गुड़िकरु जाहा मिळुअछि, ताहा तळे बिवृत हेला। एहि राजबंशर राजत्वकाळ छष्ठ शताब्दिर मध्यभागरु नवम शताब्दिर मध्यभाग पर्य्यन्त धरा जाई पारे।

श्री सैन्यभीत
|
अजशोभीत प्रथम
|
माधवराज ,,
|
अजशोभीत द्वितीय
|
माधवराज ,, (खी० ६१९-२०)
|
अजशोभीत तृतीय
|
अरणभीत प्रथम
|
श्री सैन्यभीत द्वितीय माधवराज तृतीय
|
अजशोभीत मध्यमराज प्रथम
|
धर्मराज (प्राय खी० ७८०)
|
मध्यमराज द्वितीय
|
रणक्षोभ — पटव्यालोप
|
तैळप जुबराज
|
मध्यमराज तृतीय

एहि राजामानङ्कर राजत्व कोङ्गद ओ कळिङ्गरे निबद्ध थिला। आधुनिक गञ्जाम जिलार उत्तरार्द्ध ओ पुरी जिलार दक्षिणार्द्ध घेनि प्राचीन कोङ्गद राज्य बिस्तृत थिबार प्रमाणित हेउ अछि। हुँसाङ् एहि कोङ्गद राज्य ओ कोङ्गद नगरर कथा बर्णना करिअछन्ति। पुरी ओ गञ्जाम अञ्चळरे आर्य्य सभ्यता किपरि प्रचळित थिला ताहा एहिवंशर ताम्रशासन गुड़िकरु बेश बुझाजाए। सबु तम्बापटा गुड़िकरु उच्चाङ्ग संस्कृत साहित्यर चर्च्चा थिबार प्रमाण मिळुअछि। दानग्रहिता मने ब्राह्मण थिबारु राजा माने ब्राह्मण्य धर्म्मर समादर करुथिबार सूचना मिळुअछि। कौणसि राजाङ्कर राजचक्रबर्त्ती-सूचक बिरुद नाहिँ। माधव राजाङ्कर ताम्रशासनरु जणाजाए जे गौडेश्वर शशाङ्कर सामन्त नृपति थिले। तापळर भौमवंशी राजामानङ्कर ताम्रशासनादिरु जणाजाए जे कोङ्गद राज्य सेमानङ्कर बश्यता स्वीकार करिथिला ओ सेमाने कोङ्गद मण्डळरे भूमिदान करिथिले। मात्र

भोमवंशी राजामानङ्क सहित शैळोद्भववंशी राजामानङ्कर किपरि राजनैतिक सम्बन्ध थिला ताहा समसामयिक लिपिरु बुझा जाउ नाहिँ। पुनश्च धर्म्मराजङ्कर ताम्रशासनरु देखाजाउ अछि जे ताङ्क सहित दक्षिण कोशळर सोमवंशी राजा तिबरदेबङ्कर जुद्ध होइथिला। तिबरदेब ख्रिष्टीय अष्टम शताब्दिर शेषभागर लोक बोलि प्रमाणित होइअछि। एहि सबु नूतन तथ्य शैळोद्भववंशी राजामानङ्कर ताम्रशासनरु मिळुथिबा सत्त्वे ओड़िशार तत्काळिन राजनैतिक इतिहास स्पष्टरूपे आम्भमानङ्कर हृदयङ्गम हेउ नाहिँ। विशेषतः से समयर मूर्त्ति-मन्दिरादिर सम्यक् आलोचना होइ न थिबारु आम्भमानङ्कर इतिहास चर्चा केबळ काळनिरूपण ओ वंशवृत्त प्रभृति केतोटि बाह्यक विषयरे समाप्त होइअछि।

(२) भोमवंश

भोमवंशी राजा माने सार्वभौम नृपति थिले मध्य मादळापाञ्जिरे लिखित विबरणरे सेमानङ्कर नामोल्लेख नाहिँ। एहि वंशीय राजामानङ्क मध्यरु काहारि काहारि परम सौगत बा परम तथागत बिरुद थिबार ताम्रशासनरे देखा जाउ अछि। एणु सेमाने बौद्ध धर्म्मावलम्बी थिले, मात्र दानग्रहिता सबु ब्राह्मण थिले। एथिरु एहा धरा जाइ पारे जे अष्टम ओ नबम शताब्दिरे बौद्धधर्म ओ ब्राह्मण्य धर्म मध्यरे कौणसि विरोध-भाव न थिला। फरासी पण्डित सिलवाँ लेव्हो देखाइ अछन्ति जे एहि वंशीय राजा—the king who does what is pure lion —शान्तिकरदेब (?) चिन सम्राटङ्कु ख्री० ७९७ रे स्वहस्तलिखित 'अवतंसक' ग्रन्थर शेषाध्याय 'गण्डव्यूह' पुस्तक बौद्ध श्रमण-पुरुजङ्क हस्तरे उपहार स्वरूप पठाइथिले। एथिरु एहिवंशीय राजामानङ्कर विशेषत्व उपलब्धि करा जाइ अछि। एहि राजामानङ्क राजत्व समयरे स्थापत्य ओ भास्कर्य्यर विशेष उन्नति साधित होइथिला। कटक जिल्लार उदयगिरि, ललितगिरि ओ रत्नगिरिरे जेउँ सबु कीर्त्तिर भग्नावशेष देखा जाए, से सबु एहि राजवंश राजामानङ्कर राजत्व समयरे निर्मित होइथिबार अनुमित हुए। भुवनेश्वरर परशुरामेश्वर प्रभृति केतेक मन्दिर ओ जाजपुरर केतेक कीर्त्ति एहि समयरे निर्मित होइथिला। खण्डगिरि ओ धउळगिरिरे एहिवंशर राजामानङ्कर शिळालिपि थिबारु मने हेउअछि जे धर्मचर्चा लागि राजामाने विशेष तत्पर थिले। हुएँसाङ् बर्णित ताम्रलिप्ति ओ चेळिताळो बा चरित्र प्रभृति बन्दरगुड़िक भोमराजामानङ्क राजत्वरे विशेष समृद्धिशाळी थिबार मध्य अनुमित हेउअछि। भारत महासागरर दीपपुञ्जर कीर्त्तिरु प्रतिपन्न हेउअछि जे उत्कळर लोकमानङ्क सहित से स्थानर लोकमानङ्कर भाबर आदानप्रदान चळुथिला।

भोमवंशीय राजामानङ्कर ताम्रशासन गुड़िकरु देशर आभ्यन्तरीण अवस्था अनेकटा बुझाजाए। राजामानङ्कर कीर्त्तिकळापर बर्णनारु जणाजाए जे देशर लोकमाने सुखशान्तिरे काळातिपात करुथिले। राजामानङ्करदक्ष पात्र मन्त्री आदि थिले ओ सामरिक शक्ति प्रबळ थिबारु वैदेशिक आक्रमणरु सहजरे देशरक्षा होइ पारुथिला।

अद्यावधि एहि वंशर राजामानङ्कर १४ खण्ड तम्बापटा मिळिअछि। अधिकांश तम्बापटारे जेउँ संबत् व्यबहृत होइअछि ताहा हर्षसंबत् बोलि पण्डित बिनायक मिश्र स्थिर करिअछन्ति। एहि राजामानङ्कर राज्य तोषळबोलि कथित हेउथिला ओ ताहा उत्तर ओ दक्षिण भेदरे विभक्त थिला। राजशेखरङ्कर 'काव्यमीमांसा' रे प्राच्यदेश मध्यरे तोषळ राज्यर नामोल्लेख अछि। एमानङ्कर राजधानी गुहदेब पाटक आधुनिक जाजपुर निकटरे थिलाबोलि स्थिरीकृत होइअछि। समस्त तम्बापटा गुड़िकरु निम्नलिखित नामाबलि मिळुअछि बोलि पण्डित बिनायक मिश्र स्थिर करि अछन्ति। (Dynasties of Medieval Orissa, p. 101)

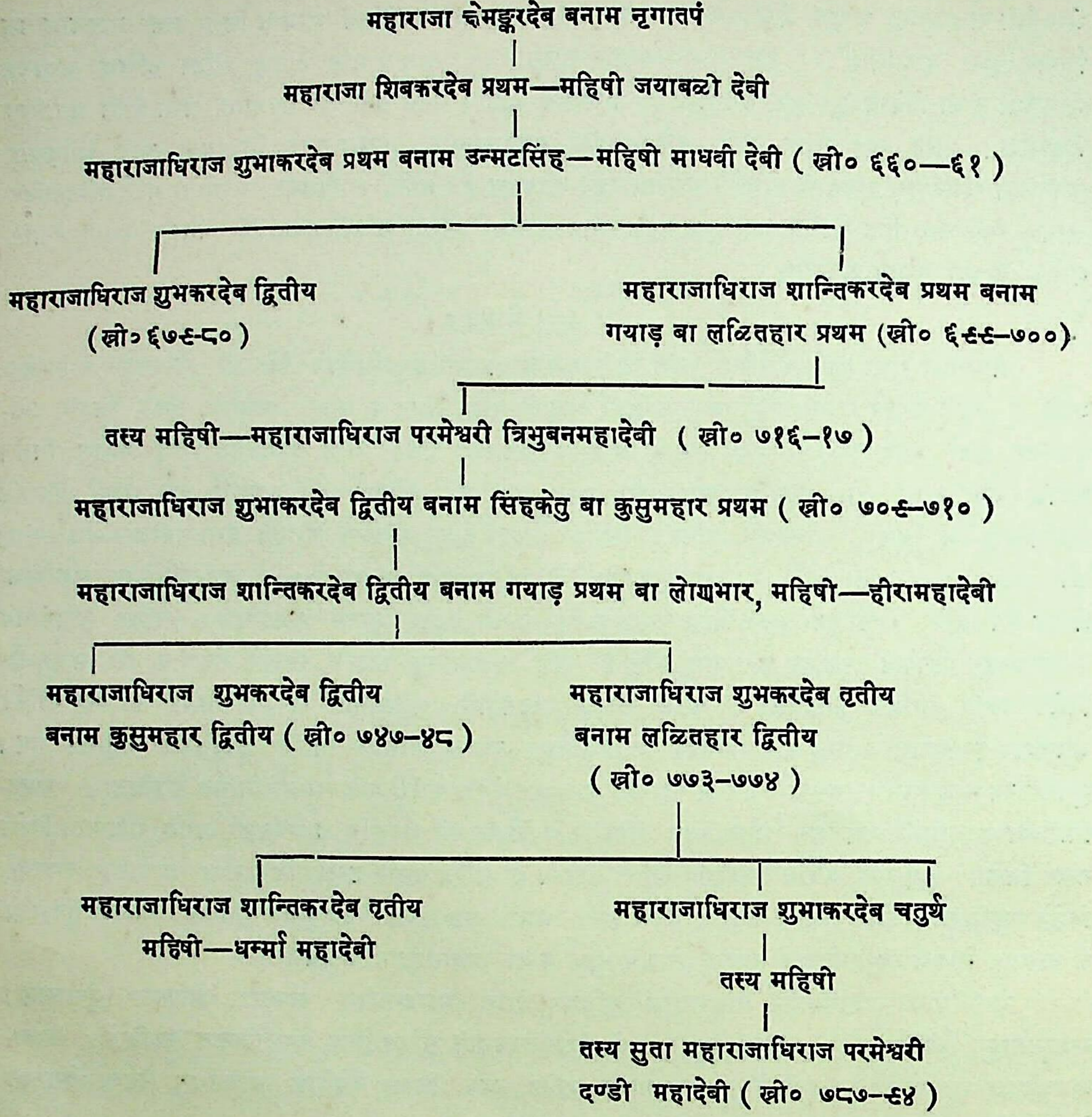
महाराजा क्षेमङ्करदेव बनाम नृगातपं
महाराजा शिबकरदेव प्रथम—महिषी जयाबळी देवी
महाराजाधिराज शुभाकरदेव प्रथम बनाम उन्मटसिंह—महिषी माधवी देबी (ख्री० ६६०—६१)
महाराजाधिराज शुभकरदेव द्वितीय
(ख्री० ६७९-८०)
महाराजाधिराज शान्तिकरदेब प्रथम बनाम
गयाड़ बा लळितहार प्रथम (ख्री० ६९९–७००)
तस्य महिषी—महाराजाधिराज परमेश्वरी त्रिभुबनमहादेवी (ख्री० ७१६–१७)
महाराजाधिराज शुभाकरदेब द्वितीय बनाम सिंहकेतु बा कुसुमहार प्रथम (ख्री० ७०९–७१०)
महाराजाधिराज शान्तिकरदेव द्वितीय बनाम गयाड़ प्रथम बा लोणभार, महिषी—हीरामहादेबी
महाराजाधिराज शुभकरदेब द्वितीय
बनाम कुसुमहार द्वितीय (ख्री० ७४७–४८)
महाराजाधिराज शुभकरदेब तृतीय
बनाम लळितहार द्वितीय
(ख्री० ७७३–७७४)
महाराजाधिराज शान्तिकरदेब तृतीय
महिषी—धर्म्मा महादेबी
महाराजाधिराज शुभाकरदेब चतुर्थ
तस्य महिषी
तस्य सुता महाराजाधिराज परमेश्वरी
दण्डी महादेबी (ख्री० ७८७–९४)

एहि राजामानङ्कर राजत्वकाळरे शैळोद्भब, (ए वंश सम्बन्धे पूर्बे बोला जाइ अछि) तुङ्ग, नन्द, शुळ्की, भञ्ज प्रभृति बंशर राजामानङ्कर ताम्रशासन गुड़िकरे शशाङ्कदेबङ्क परि भौमवंशीय राजामानङ्कर नामोल्लेख न थिबारु सार्बभौम राजामानङ्क सहित सेमानङ्कर सम्बन्ध किपरि थिला बुझा जाउ नाहिं। केबळ ढेंकानाळरु मिळि थिबा जयसिंहङ्कर तम्बापटारु जणा जाउ अछि जे जयसिंह एक भौम राजाङ्कठारु 'पञ्चमहाशब्द' सामन्त पदबी पाइ जमगर्त्तमण्डळरे 'सकळ गोन्द्रमाधिपति' होइथिले। अन्यान्य राजवंशीय नृपतिमाने एपरि बश्यता स्वीकार करिथिबार कथा कौणसि ताम्रफळकरे उल्लेख नाहिँ।

(क) तुङ्गवंश

तुङ्गवंशीय राजामाने रोटासगड़रु (रोहितास गिरि) आसि जमगर्त्तमण्डळरे 'अष्टादश गोन्द्रमाधिपति' होइथिले। पूर्बे बोला जाइ अछि जे जयसिंह एहि जमगर्त्तमण्डळरे 'सकळ गोन्द्रमाधिपति' थिले। रोहितासगिरिरु आगत शाण्डिल्य गोत्र जगभुंगङ्कु उक्त जयसिंह सहित एकथिबार अनुमान सहज। एहि वंशर तिनि खण्ड तम्बापटारु जेउँ नामाबळि मिळु अछि तळे ताहा दिआ गला।

जगभुङ्ग बा खड्गतुङ्ग
|
राणक बिनीततुङ्ग
|
सालणतुङ्ग
|
गयाड़तुङ्ग

(ख) नन्दवंश

नन्दवंश राजामानङ्कर दुइ खण्डिमात्र ताम्रशासन मिळिअछि। एमाने ऐराबट्ट मण्डळरे राजत्व करुथिले। एमानङ्कर राजधानी जयपुर थिला। ऐराबट्ट मण्डळ महानदीर दक्षिण तीरवर्त्ती बांकि, नयागड़, रणपुर प्रभृति अञ्चळरे बिस्तृत थिबार अनुमान पण्डित बिनायक मिश्र करिअछन्ति। एहि वंशर राजामाने "गोन्द्रमाधिपति" बोलाउथिले। एहि राजामाने बौद्ध थिबार टाङ्कर "परमसौगत" बिरुदरु प्रतिपन्न हेउअछि। तम्बापटा गुड़िकरु निम्नलिखित नामाबळि मिळे।

जयानन्ददेब
|
परानन्ददेब
|
शिबानन्ददेब
|
देबानन्द बा ध्रुवानन्ददेब

(ग) स्तम्भ बा शुळ्कीवंश

एहि वंशर राजामानङ्कर सर्वसुद्धा ९ खण्ड तम्बापटा मिळिअछि। सबुगुड़िक कोदाळक नगररु दिआ जाइथिला। 'कोदाळक' मण्डळ ब्राह्मणी नदीर कूळे कूळे बिस्तृत थिबार प्रमाण मिळे। ढेंकानाळ राज्यर अन्तर्गत 'कोआळु' ग्राम प्राचीन 'कोदाळक' थिबार अनुमित हुए। तळे राजामानङ्कर नामाबळि दिआ गला।

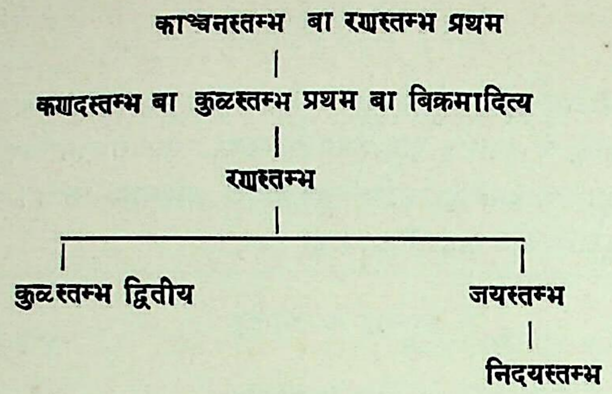
काञ्चनस्तम्भ बा रणस्तम्भ प्रथम
कणदस्तम्भ बा कुळस्तम्भ प्रथम बा बिक्रमादित्य
रणस्तम्भ
कुळस्तम्भ द्वितीय
जयस्तम्भ
निदयस्तम्भ

(घ) भञ्जबंश

अद्यावधि भञ्जबंशीय राजामानङ्कर २६ खण्ड तम्बापटा मिळिअछि। सर्व प्राचीन भञ्ज महाराजा नेट्ट भञ्ज अनगुळ पत्तन (आधुनिक अनुगुळ)रु ताम्रशासन दान करिथिले। एहि तम्बापटार समय ख्री० ७०३ सालरे पडुअछि तत्परे २२ खण्ड तम्बापटारे खिञ्जळि मण्डळर राजामानङ्कर दानोल्लेख अछि। आधुनिक गञ्जाम जिलार घुमुसर ओ बौद-सोनपुर ओ दशपल्ला ष्टेट घेनि खिञ्जळि मण्डळ बिस्तृत थिला। एहि खिञ्जळि मध्य "उभय खिञ्जळि" बोलि कथित हेउथिला। सम्भवत: प्रत्येक खिञ्जळिरे गोटिए करि भञ्जराजबंश स्थापित होइ बौद ओ घुमुसर राज्य सृष्ट होइथिला। खिञ्जळि मण्डळर राजधानी प्रथमे "धृतिपुर" थिला। परे प्रत्येक-खिञ्जळिर राजधानी 'धृतिपुर' ओ 'बिञ्जळ्वक' हेला। 'धृतिपुर' बौद अञ्चळरे' ओ बिञ्जळ्वक' घुमुसर अञ्चळेरे थिबार अनुमित हुए। परे बौदर राजधानी 'गन्धर्बबाडि'रे ओ घुमुसरर राजधानी 'कोलाड़'रे होइथिला। दक्षिण ओड़िशार अन्यतम भञ्जराज्य दशपल्ला किपरि स्थापित होइथिला ताम्रशासनादिरु ताहार कौणसि बिबरण मिळे नाहिँ। बौद, घुमुसर ओ दशपल्ला एहि तिनोटि राजबंशर गोत्र काश्यप। कनक भञ्जङ्कर ताम्रशासनरु देखा जाए जे ताङ्कर गोत्र काश्यप थिला। ओड़िशार समस्त भञ्जबंश एकबंश-सम्भूत हेले मध्य गोत्र प्रभेदर कारण बौद राजबंशर किम्बदन्तीरे उल्लेख अछि। दक्षिण ओड़िशारु प्राप्त भञ्ज ताम्रशासनरे भञ्जबंश "अण्डजबंश प्रभव" थिबार कथा उल्लेख अछि। किम्बदन्तीरु जणा जाए जे बौद भञ्जबंश मयूरभञ्जर भञ्जबंशर शाखा-विशेष। एणु मयूरभञ्जर भञ्जबंशर गोत्र बशिष्ठ हेले मध्य अण्डजबंश प्रभव हेबार कथा। मयूरभञ्जर ब्राह्मण घाटीरु मिळिथिबा। ताम्रशासनरु देखा जाए जे बीरभद्र आदिभञ्ज 'मयूराण्डोद्भव' ओ 'बशिष्ठ मुनि प्रतिपाळित' नृपति थिले। मयूरभञ्जरु जेउँ तिनोटि तम्बापटा मिळि अछि से गुड़िक खिजिङ्गकोट्ट (आधुनिक खिचिङ्ग) राजधानीरु दिआ जाइथिला।

ओड़िशार भञ्जबंशीय राजामाने सूर्यबंशीय क्षत्रिय बोलि परिचित। भारतप्रसिद्ध मौर्यबंश सूर्यबंश थिबार ओ मयूराण्डोद्भव थिबार प्रमाण बळरे पण्डित बिनायक मिश्र एहि सिद्धान्तकु आसिअछन्ति जे ओड़िशार भञ्जबंश मौर्यबंश-सम्भूत। हंटर साहेबङ्क लिखित इतिहासरु जणाजाए जे मयूरभञ्जर राजबंश २००० वर्ष पूर्वे स्थापित होइथिला। से कथा जाहा हेउ बा न हेउ नेट्ट भञ्जङ्क ताम्रशासनरु बेश बुझा जाउ अछि जे ओड़िशारे भञ्जबंश अष्टम शताब्दि ठारु निरबच्छिन्न राजत्व करि आसु अछन्ति।

भञ्जराजा मानङ्कर राजधानी गुड़िक मध्यरु खिचिङ्ग ओ गन्धराढी बा गन्धर्बबाड़ीरे बहु प्राचीन कीर्त्ति थिबार जणा जाइ अछि। रणभञ्जङ्क खिचिङ्गरु प्रदत्त ताम्रशासनटि नवम शताब्दिर शेष भागरे अर्थात् ख्री० ८९४—९५ रे लिखित होइथिला। खिचिङ्गर प्राचीन स्थापत्य ओ केवळ भास्कर्य्य ओड़िशा कांहिकि भारतवर्षरे मध्य स्थान पाइआछे। रेने ग्रौंसे (Rene Groset) कर "प्राच्य सभ्यता" र (Civilization of the East) पुस्तकरे खिचिङ्गर भास्कर्य्यंकू "मयूरभञ्ज कळा" (Mayurbhanj school) आख्या दिआ जाइअछि। गन्धराढीर मन्दिरादि मध्य अष्टम शताब्दिर कार्य्य बोलि स्थिरीकृत होइअछि। समसामयिक भौमराजामानङ्क व्यतीत अन्य कौणसि राजबंश ओड़िशारे एपरि स्थापत्य बा भास्कर्य्य कीर्त्तिर पृष्ठपोषक थिबार जणाजाउ नाहिँ। निम्नलिखित राजामाने खिचिङ्गरे राजत्व करुथिबार ताम्रशासनरे उल्लेख अछि।

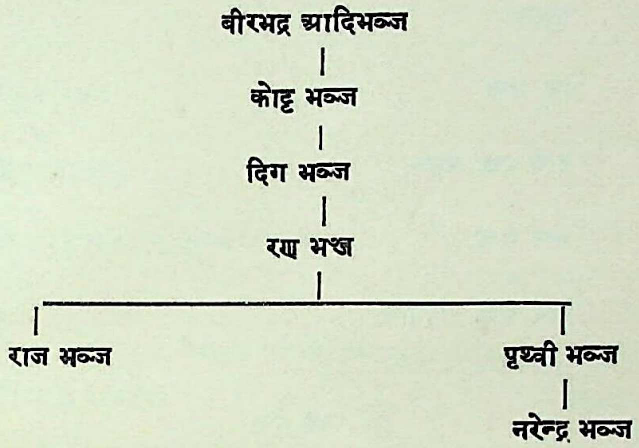
बीरभद्र आदिभञ्ज
कोट्ट भञ्ज
दिग भञ्ज
रण भञ्ज
राज भञ्ज
पृथ्वी भञ्ज
नरेन्द्र भञ्ज

निम्नलिखित राजामाने खिञ्जळि मण्डळरे राजत्व करुथिबार कथा ताम्रशासन गुड़िकरे उल्लेख अछि—

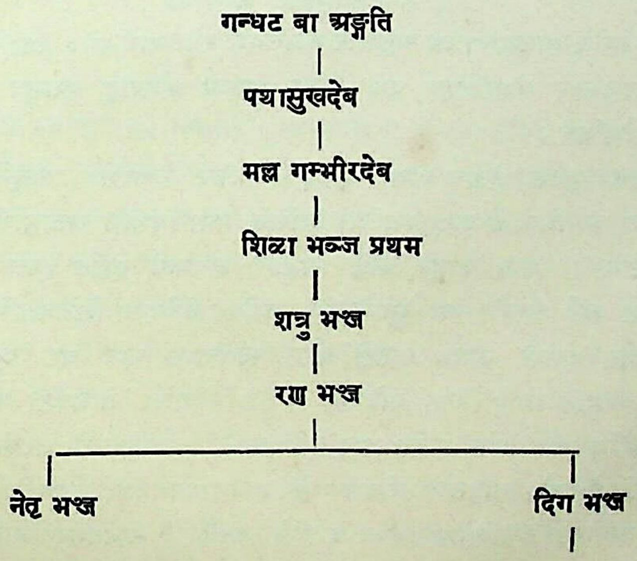
गन्धट बा अङ्गति
पथासुखदेब
मल्ल गम्भीरदेब
शिळा भञ्ज प्रथम
शत्रु भञ्ज
रण भञ्ज
नेत्र भञ्ज
दिग भञ्ज

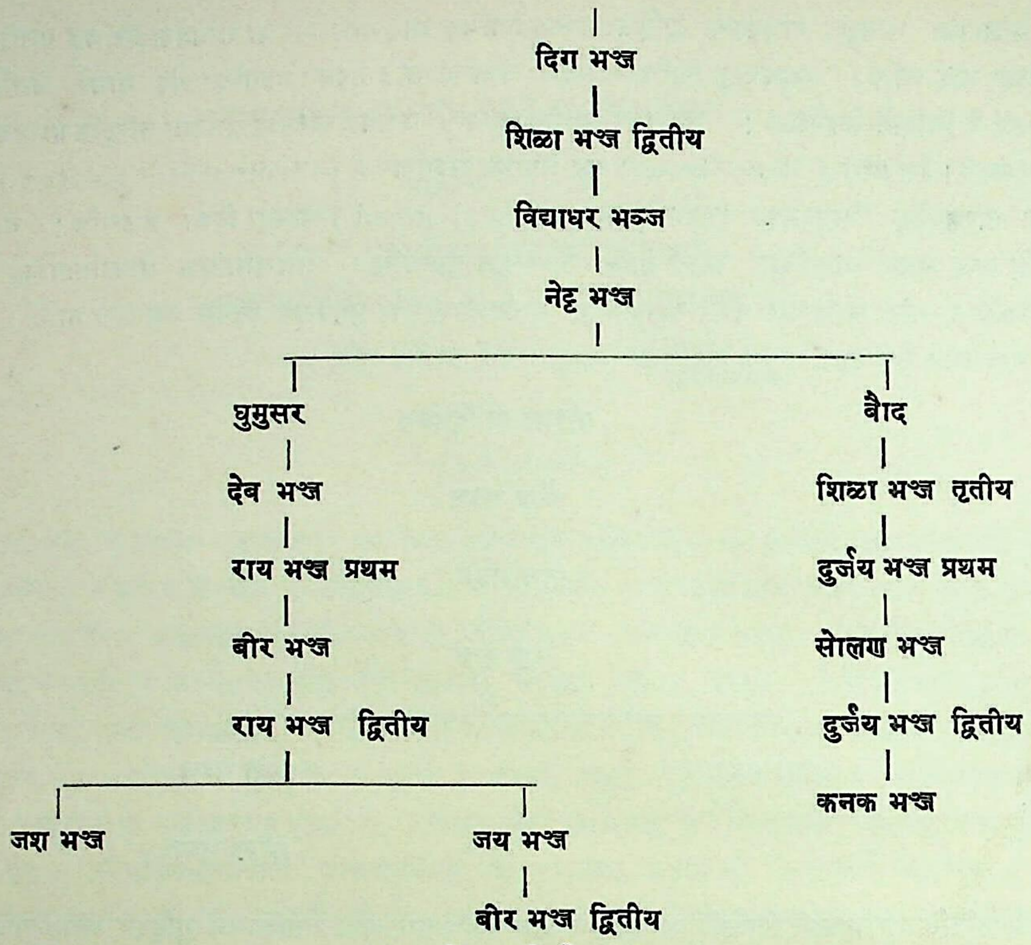
दिग भञ्ज
शिळा भञ्ज द्वितीय
विद्याधर भञ्ज
नेट्ट भञ्ज
घुमुसर
बौद
देव भञ्ज
शिळा भञ्ज तृतीय
राय भञ्ज प्रथम
दुर्जय भञ्ज प्रथम
बीर भञ्ज
सोलण भञ्ज
राय भञ्ज द्वितीय
दुर्जय भञ्ज द्वितीय
कनक भञ्ज
जश भञ्ज
जय भञ्ज
बीर भञ्ज द्वितीय

(३) सोमवंशी केशरीवंश

पूर्वे बोला जाइअछि जे मादळापाञ्जि अनुसारे केशरीबंश राजामाने ख्री० ४७४ ठारु ख्री० ११३२ पर्य्यन्त राजपण करिथिले। तदनुसारे केशरीबंशर शेष राजा सुबर्ण्ण केशरीङ्कु पराभूत करि गङ्गबंशी चोड़गङ्गदेव ओड़िशार राजचक्रवर्त्ती होइथिले।

एपिग्राफिया इंडिका पुस्तकर तृतीय भागरे मुद्रित "कटकर सोमबंशी राजबृन्द" प्रबन्धरे स्वर्गीय फ्लिट साहेब सर्वप्रथम प्रमाणित करिथिले जे मादळापाञ्जिरे लिखित केशरीबंशीय राजामाने प्रकृत पक्षरे ताम्रशासनोक्त सोमवंशी राजगण अटन्ति। मात्र ताङ्कर एहि सिद्धान्त सत्यरूपे गृहीत हेबार केतेटि अन्तराय थिला। 'रामचरित' र 'उत्कळेश कर्ण्ण केशरी' ओ भुबनेश्वरस्थ ब्रह्मेश्वर मन्दिरर शिळालिपिर उद्योत केशरी ओ खण्डगिरि शिळालिपिर उद्योत केशरी नामरु केशरी बंशर स्वतन्त्रता मध्य धरा पड़ुथिला। सोमबंश ओ केशरीवंशर ऐक्यसूचक कौणसि लिपि मिळि नथिबारु दक्षिण कोशलर सोमबंशी राजामानङ्कु उद्योत केशरीङ्क पूर्वपुरुष बोलि ग्रहण करिबा पक्षे जथेष्ट सन्देह जात हेउथिला। सौभाग्यक्रमे नरसिंहपुर स्टेटरु उद्योत केशरीङ्क खण्डिए तम्बापटा बाहारि सोमवंश सहित केशरीबंशर ऐक्य स्थापन करि देइअछि। एपर उद्योत केशरीङ्कर आउ खण्डिए अपूर्ण्ण तम्बापटा रत्नगिरिठारु मध्य बाहारि अछि। भौमवंशर आलोचना सदृश केशरीबंशर

आलोचना करि जाबतीय ऐतिहासिक जटिळता दूर करिथिबारु पण्डित बिनायकङ्क नाम उत्कळर इतिहासरे चिरस्मरणीय हेब। एहि सबुर आलोचनारु देखा जाउ अछि जे मादळापाञ्जिरे लिखित राजामानङ्क राजत्वकाळ ठीक न थिले मध्य केउँवंश परे केउँवंश राजत्व करिथिले ताहार धाराबाहिक बिबरण लिखित थिबार अनुमित हुए। तम्बापटा गुड़िकरु ओ शिळालिपिरु प्राप्त एहि बंशर राजामानङ्कर नाम दिआ गला।

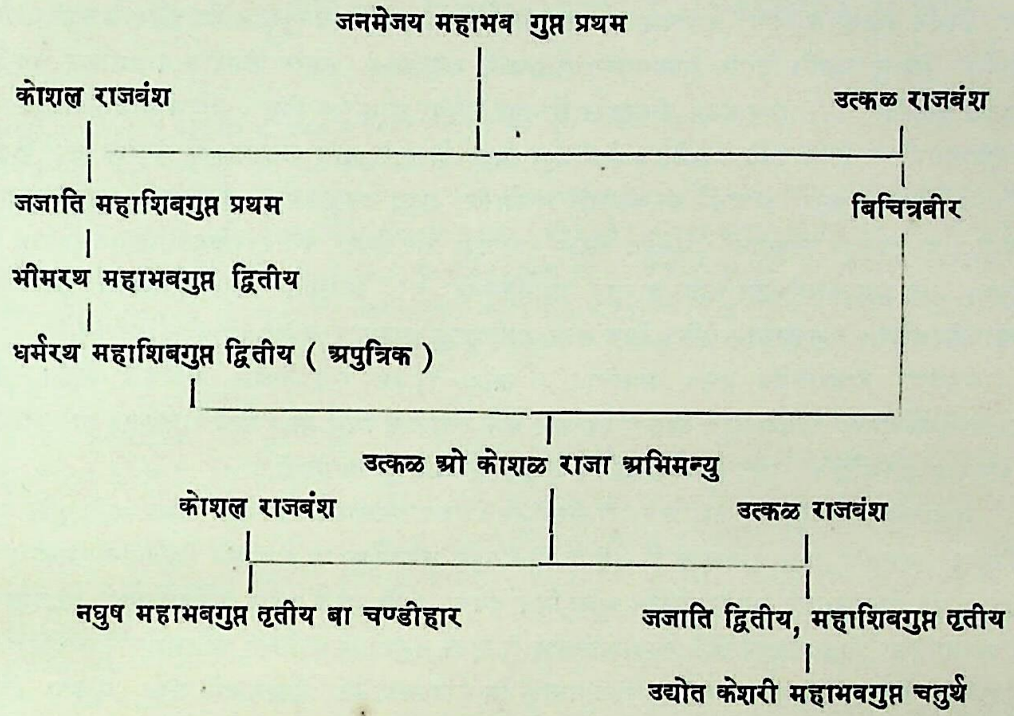
जनमेजय महाभब गुप्त प्रथम
कोशल राजवंश
उत्कळ राजबंश
जजाति महाशिबगुप्त प्रथम
बिचित्रबीर
भीमरथ महाभबगुप्त द्वितीय
धर्मरथ महाशिबगुप्त द्वितीय (अपुत्रिक)
उत्कळ ओ कोशळ राजा अभिमन्यु
कोशल राजबंश
उत्कळ राजवंश
नघुष महाभबगुप्त तृतीय बा चण्डीहार
जजाति द्वितीय, महाशिबगुप्त तृतीय
उद्योत केशरी महाभबगुप्त चतुर्थ

जनमेजय महाभबगुप्त प्रथमङ्कर ३१ संबत्सर (एपिग्राफिया इंडिका तृतीय भाग) ताम्रशासनरे देखा जाए जे से 'त्रिकळिङ्गाधिपति' ओ 'कोशळेन्द्र' थिले। आउ महाशिबगुप्त जजाति द्वितीयङ्कर मुरजमरा ताम्रशासनरु (बिहार ओड़िशा रिसर्च जर्नल—द्वितीय भाग) देखा जाए जे से 'कलिङ्ग—कोङ्गदोत्कळ-स्वयम्भर प्रसिद्ध' ओ कोशळेन्द्र थिले। एथिरु 'कोशळ' बाद देले कळिङ्ग, कोङ्गद ओ उत्कळ घेनि से समयरे त्रिकळिङ्ग राज्य अभिहित हेउ थिबार अनुमान करा जाइ पारे। एथिरे किन्तु भोमराजामानङ्कर तोषळ राज्यर उल्लेख नाहिँ। तेणु बोधु हेउअछि जे उत्तर तोषळ उत्कळ ओ दक्षिण तोषळ कोङ्गद नामरे परिचित हेउथिला। एहि जनमेजयङ्कर राजत्वकाळर आरम्भ दशम शताब्दिर प्रारम्भरे धरा जाइ पारे। भोमबंशर दण्डी महादेबीङ्कर राजत्व हर्षाब्दमतरे बड़जोर नवम शताब्दिर प्रथम पादर शेष पर्य्यन्त धरागले मध्य उभयङ्क मध्यरे प्राय १०० बर्षर ब्यबधान थिबार देखा जाउ अछि। जदि भोमबंशर राजामानङ्कर सम्बत हर्ष सम्बत न हुए, तेबे अनुमान करा जाए जे से दण्डी महादेबी बा ताङ्कर परबर्त्ती केहि दुर्बल राजा जनमेजयङ्क द्वारा पराभूत होइथिले। कारण एहि समय मध्यरे अन्य कौणसि राजचक्रवर्त्ती बंशर अस्थित्वर निदर्शन एपर्य्यन्त मिळिनाहिँ।

जनमेजय त्रिकळिङ्ग अधिकार करि कटक निकटबर्त्ती चउद्वार ठारे राजधानी स्थापन करिथिले कारण चउद्वारर स्थापयिता जनमेजयङ्क नाम अद्यापि जनश्रुतिरु ओ मादळापाञ्जिरु जणाजाए। चउद्वारर कपाळेश ग्रामरु जनमेजयङ्कर खण्डिए ताम्रशासन-मध्य मिळिअछि। चउद्वार ओड़िशार पञ्चकटक मध्यरु गोटिए कटक।

एहि सोमबंशी केशरीबंशर राजामानङ्कर राजधानी मध्यरु 'सुबर्ण्णपुर' आधुनिक सोनपुर बोलि निर्ण्णीत हेइअछि। एठारु जनमेजय प्रथमे ताम्रशासन दान करि थिले। ताङ्कर अन्यान्य ताम्रशासन गुड़िक 'बिजय स्कन्धाबार' वा 'बिजय कटक' रु दिआ जाइथिला। जजाति प्रथम प्रथमे 'बिनीतपुर' रु ओ शेषरे 'जजाति नगर' रु दान करिथिले। किन्तु जजाति द्वितीय सुबर्ण्णपुररु दान करि अछन्ति। उद्योत केशरींक ताम्रशासन जजाति नगररु मध्य प्रदत्त होइथिला। रायबाहादूर हीरालाल सोनपुर राज्यर आधुनिक बिङ्का सहित ताम्रशासनोक्त बिनीतपुर वा जजातिनगर एक बोलि कहि अछन्ति। बिनीतपुर बिङ्का होइपारे, मात्र जजातिनगर कदापि बिङ्का होइ न पारे। जजातिनगर कु सम्बलपुर अञ्चळरे बा कोशळरे न खोजि समुद्र उपकूळवर्त्ती ओड़िशारे अन्वेषण करा सङ्गत। भोमवंशी राजा मानङ्कर राजधानी 'गुहदेब पाटक' जाजपुर ठारे थिला बोलि पण्डित बिनायक मिश्र स्थिर करि अछन्ति। बोध हुए केसरीबंशर राजा मानङ्कर 'जजातिनगर' परे 'जजानगर' होइ 'जाजनगर' हेला ओ बर्त्तमान 'जाजपुर' होइअछि। मुषलमान ऐतिहासिक माने ओड़िशाकु जाजनगर नामरे अभिहित करु थिले।

गङ्गवंशर राजराजदेब ९९७ शकाब्दरे (ख्री० १०७५ रे) उत्कळ अधिकार कले। रामचरितर 'उत्कळेश कर्ण्णकेशरी' रामपाळङ्कर बश्यता स्वीकार करि रक्षा पाइ थिले मध्य शेषरे राजराजङ्क ठारे पराभूत होइथिबार अनुमान हेउअछि। एहि कर्ण्णकेशरी कि मादळापाञ्जिर सुबर्ण्णकेशरी ?

मादळापाञ्जि अनुसारे जजातिकेसरी सोनपुररु प्रोथित जगन्नाथदेवंकर मूर्त्ति उद्धार करि पुरीरे पुनः प्रतिष्ठा करिथिले। बर्त्तमान देखा जाउअछि जे जजाति द्वितीयङ्कर सुबर्ण्णपुर वा सोनपुररे राजधानी थिला। ओड़िशा अधिकार परे सोनपुर ठारे जगन्नाथदेबङ्कर मूर्त्ति पोता थिबार शुणि मूर्त्ति उद्धार करिबारे मन बळाइबा जजातिङ्क पक्षरे स्वाभाविक। मात्र एथिपूर्बे केउँ जबन आख्याधारी राजा समुद्रपथरे ओड़िशा आक्रमणकरि शताधिक बर्ष राजत्व करिथिले ? बौद्धधर्मावलम्बी भोमवंशर राजामानङ्कु कि मादळापाञ्जिर लेखकमाने जबन आख्या देइअछन्ति ? परमसौगत शुभाकर प्रथम कोङ्गद अधिकार न करि कदापि कळिङ्ग अधिकार करि न थिले। तेबे सेहि अभिजानरु रक्षा करिबा लागि जगन्नाथदेबङ्क मूर्त्तिकु कि पुरीर पण्डामाने सोनपुररे नेइ पोति पकाइथिले ? एहि सबुर समाधान न हेबा जाएँ मादळापाञ्जिर किम्बदन्ती किम्बदन्ती आकाररे रहिथिब। मात्र समसामयिक लिपिरु सप्तम शताब्दि ठारु द्वादश शताब्दी पर्य्यन्त समय मध्यरे ओड़िशार राजनैतिक इतिहासर सामग्री जाहा मिळिअछि, तद्द्वारा ओड़िशार ५०० वर्षर इतिहास मादळापाञ्जिर बिबरण ठारु एकाबेळके नूतन होइअछि।

How Scholars Were Honoured in Ancient India

श्रीयुत चिन्ताहरण चक्रवर्ती, कलकत्ता ।

[प्राचीन भारतवर्ष में विद्वानें का सम्मान करना राजाओं का एक कर्तव्य समझा जाता था। राजशेखर की काव्य-मीमांसा के 'कवि-चर्या' और 'राजचर्या' नामक प्रकरण इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। राजशेखर ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह विद्वानें और कवियें का आदर-सत्कार करे। उन्हें दान-दक्षिणा दे कर विद्या का प्रसार करने में सहायता पहुँचावे तथा अपनी राजसभा में इस प्रकार के कवियें और विद्वानें के इकट्ठा करे। सभा-मण्डप में बैठ कर उन से काव्यालाप करे; विदेशों के भी बड़े-बड़े विद्वानें को अपने यहाँ निमन्त्रित किया करे। यह राजशेखर की कल्पना ही नहीं उस ने कितने ही ऐतिहासिक उदाहरण भी दिए हैं, जैसे वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसाङ्क आदि। उज्जैन और पाटलीपुत्र में कवियें और शास्त्रकारें की परीक्षा होती थी। उस का उल्लेख भी राजशेखर ने किया है। राजशेखर की यह बात दूसरे आधारें से भी पुष्ट होती है।]

The practice of giving public reception and honour to distinguished scholars is not a new institution of modern civilisation. Scholarship thrived in ancient India under the patronage of kings and wealthy men of society, who occasionally honoured them publicly and made valuable presents to them. Attempts were made by kings and landlords to secure at their courts reputed scholars, who were maintained in right royal fashion. Valuable gifts were offered to scholars on the occasion of funeral ceremonies and festive observances by all rich men, many of whom even maintained schools where students not only received free education but free boarding and lodging as well. Innumerable copper plates that have already been brought to light record the grant of tracts of land to Brahmin scholars by kings for the increase of their fame and religious merit. These acts served as sources of great encouragement to the growth and development of scholarship in the land. It is true some of the rich men of the present day also follow, to some extent at least, in the foot-steps of their forefathers, but their number is unfortunately dwindling.

Rendering all possible help and giving encouragement to scholars were regarded as part of the duties of kings and wealthy men. Rājaśekhara, in his *Kāvyamīmāṁsā* (in the section entitled *Kavicaryā* and *Rājacaryā*), thus indicates the duties of a king with respect to poets and scholars.

"A king," says he, "should found an Association of Poets. He should have a hall for the examination of poetical works. Here he should be seated at ease and introduce poetic discourses and tests. The scholars at his court should be satisfied (by the honour shown by him) and maintained (at his cost). Deserving people should be awarded rewards. Exceptionally good poems or their authors should be properly honoured. A king should make arrangements for establishing contact with scholars come from other lands, and show honour to them as long as they stay in his dominions. Scholars eager for some stipends should be persuaded to stay at his court, for the king, like the ocean, is the sole repository of jewels. Subordinates of the king should also imitate him in this matter as in others."

There is no reason to suspect that Rājaśekhara has only given the picture of an imaginary state of things, that he has referred to an ideal king and the duties indicated by him existed only in his imagination. He has himself mentioned the names of several historical kings like Vāsudeva, Sātavāhana Śūdraka and Śāhasākṇa, who are stated to have made gifts to, and honoured, scholars. He has recorded a tradition regarding the examination of poets at Ujjain where Kālidāsa, Meṅṭha, Amara, Rūpa, Sūra, Bhāravi, Haricandra and Candragupta are stated to have been examined. He has recorded one more tradition regarding the examination of scholars at Pāṭaliputra (Patna) where Upavarṣa, Varṣa, Pāṇini, Piṅgala, Vyāḍi, Vararuci and Patañjali were examined, and earned fame.

Besides, we have more than one reference in old works of the actual state of affairs. Reference has already been made in general to the grant of tracts of land and other kinds of help rendered by people in affluent position to persons engaged in the laudable task of the pursuit and dissemination of knowledge. We shall give here some definite instances. A systematic study of the topic would yield valuable information regarding the cultural life of the country in general and many a king in particular. It may be stated seriously that there scarcely was a scholar who did not enjoy the patronage of some rich men. Here we shall refer to the type of honour shown and the kind of presents made to scholars.

Vaidyanātha Pāyaguṇḍe in his commentary on the *Sūryaśataka* records how Harṣavardhana presented to Mayūra the poet, who composed the *Sūryaśataka*, elephants, horses, villages, cloths, ornaments, swings,[1] buildings and other things. Dhoyī, court poet of Lakṣmaṇasena of Bengal, states in one of the concluding verses of his *Pavanadūtam*, how he received from the king a number of elephants, golden *chowrie,* and golden stick[1]. Bhoja of Dhārā is reported in the *Bhojaprabandha* to have given to poets a lac for each letter of a poem composed by them. This is undoubtedly an exaggeration, so common to royal portages, but there is no doubt that here we have an eloquent testimony to the fact that he was really a great patron of learning.

---

[1] Swings were much in use in ancient India among fashionable people and poets, who were greatly fashionable as appears from the description of their mode of life by Rājaśekhara in the *Kavicaryā* section of his Kāvyamīmāṃsā.

Bṛhaspati Rāyamukuṭa, a versatile scholar, who flourished at the time of the son of Rājā Gaṇesa Jelaluddin of Bengal, records[2] how he received from the king a bright necklace bedecked with brilliant jewels, two bright ear-rings, ten bright bejewelled rings on ten fingers, two umbrellas, horses, and, along with auspicious baths seated on elephant, the dignified title of Rāyamukuṭa.

The poet Śrī Harṣa mentions in his *Naiṣadhacarita* how he had the honour of being the recipient of a pair of betels and a seat from the king of Kānyakubja[3].

Jīdeva, probably of the court of king Pratāparudra Gajapati of Orissa, refers in the prologue of his drama, the *Bhaktivaibhava,* the receipt by him, from the king, of eight golden *chowries,* a golden umbrella and a resounding tabor[4].

There are numerous other instances of the honour done to scholars by kings and wealthy men, a systematic study of which is reserved for the future.

---

1. दन्तिव्यूहं कनककलितं चामरं हैमदण्डं
   यो गौडेन्द्रादलभत कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती । (Verse 101)
2. ज्योतिष्मन्मणिपुञ्जरञ्जनरुचिं हारं ज्वलत्कुण्डले
   रत्नौघच्छुरिता दशाङ्गुलिजुषः शोचिष्मतीरूर्मिकाः ।
   यः प्राप्य द्विरदोपविष्टसकलस्नानैरविन्दन्नृपा-
   च्छत्रे तैस्तुरगैश्च रायमुकुटाभिख्यामभिख्यावतीम् ॥
   Descriptive catalogue of Sanskrit Mss. in the India Office Library—Vol. II., No. 954-5.
3. ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् (Canto concluding verse).
4. अष्टौ हाटकचामराणि कनकच्छत्रं डमड्डिण्डिमं
   यो लब्ध्वा प्रथितो प्रतापविभवश्रीरुद्रदेवेश्वरात् ॥
   A Ms. of this work is in the Library of the Asiatic Society of Bengal.

लङ्कावे राज्पुत्जनया

श्रीयुत पर्णवितान, पुरातत्व-विभाग, सिंहल।

उतुरु इन्दियावे राज्पुत्जातिकयन् हा लङ्काव अतर एतॅम् कालवलदी किसियम् सम्बन्धकम् पॅवतिबॅव् पॆनॆन्ट तिबे। मे सँदहा मे वनतुरु दॅनगन्ट लॅबीतिबॆन करुणु संग्रहकोट दॅक्वीम मे लिपियॆहि अदहस वे।

महावंशय आदी लङ्कावे इतिहासग्रन्थयन् हि राज्पुत्जनयन् सँदहन्वी तिबॆन्ने आर्यैयन नामयॆन्य। मे नामय राज्पुत्जनयन्ट व्यवहारकरनु लॅबीय किया पळमुवॆन् पॆन्वादुन्ने लङ्कावे इतिहासय सम्बन्ध श्रेष्ठ दॅनीमक् ऍति एच्० डब्लिव्० कोड्रिन्टन् महता विसिन्य। आर्य यन नामयॆन् सामान्यवशयॆन् उतुरु इन्दियावे जनयन् गतहॅकि नमुत् मॆय सँदहन्वॆन बोहोतॅन्हिम राज्पुत्जनयन् सम्बन्ध बॅव् निश्चय किरीमट करुणु तिबे। सिंहलजनयोद आर्यवर्गयट अयत्य। एतकुदुवूवत आर्य यन नामय पसुकालयॆहिवू लङ्कावे लियविलिवल उतुरु इन्दियावे जनयाट पमणक् व्यवहारकिरीम, द्रविडयन्गे व्यवहारय अनुव वीययि सितिय हॅकिय। आर्य हॆवत् राज्पुत्जातिकयॆक् पळमुकोट लङ्काइतिहासये सँदहन्वन्ने एकळोसॊवॅनि शतवर्षयॆदीय। मे कालयॆहिदी सिंहलराज्यय सोळीन् विसिन् विनाशकरन लदुव लङ्काद्वीपयॆन् वॅडिकोटसक् चोळराज्ययट वशँगव पॅवॅत्तेय। मॆसे पवत्ना अतर रामरजहुगे वंशयॆन् पॅवतएन जगतीपाल नम् क्षत्रिययॆक् अयोध्यापुरयॆन् लङ्कावट अवुत् एवकट लङ्कावे प्रदेशयक अधिपतिकम् कळ विक्रमपण्डु नम् द्रविड रजॆकु समग युद्धकोट ओहु नसा रुहुणुरट सतर हवुरुद्दक् राज्यय कळ बवद, इन्पसु सोळीन् ओहु मरा ओहुगे मॆहॆसियद दूकुमरियद धनयद सोळोरटट गॆनयनलद बवद महावंशयॆहि सँदहन्वे। दकुणु इन्दियावे शिलालिपिवलद मे प्रवृत्तिय मीट मॅंदक् वॆनसूव दक्वा तिबे। उतुरु इन्दियावॆन् लङ्कावट आ कुमारया जगतीपाल नॊव वीरशलामेघन् नम् वीययिद ओहु आवे कान्यकुब्ज नगरयॆन् ययिद एहि सँदहन्वे। सोळीन् विसिन् ओहु पराजयकळ अयुरुद, मॆहॆसिय हा दुव सोळोरटट गॆनगिय सॅटिद महावंशये कियनलद प्रकारम मणिमङ्गलम् नम् स्थानयॆहि वू राजाधिराजनम् सोळीरजुगे शिलालिपियॆक किया तिबे। महावंशयॆहि सँदहन् जगतीपाल दुकुणु इन्दियावे लिपिवल एन वीरश(ा)लामेघन्य यनु आचार्य हुल्टप् महतुन्गे मतयवे।

मे कालयेदी कान्यकुब्ज (कनवुज्) नगरयद अयोध्यानगरयद राज्पुत्जातिक क्षत्रियन्ट अयत्व तिबूहॆयिन् लङ्काद्वीपयट मे प्रदेशयॆन् अवुत् रजकळ जगतीपाल हॆवत् वीरशलामेघन् राज्पुत्वंशिकयॆक् विययुतुयि।

क्रि० व० १०५८दी विजयबाहुनम् सिंहल कुमारयॆकू लङ्कावॆन् सोळीन् नॆरपा मे द्वीपयॆहि आधिपत्यय नॅवतत् सिंहल रजुन् सन्तक कॆळेय। विजयबाहु रज राज्यकरन कल सोळीरट सिट जगतीपाल रजहुगे मॆहॆसिय हा दूकुमरिय सोळीन् अतिन् मिदी लङ्कावट पॅमिणियेय। विजयबाहु रज ओवुन्गे वंशप्रवृत्तिय असा उतुम् वंशयॆहि उपन्नन् बवदॅन लीलावती कुमरिय तमागे मॆहॆसिय कॆळेय। ए मॆहॆसियगॆन् विजयबाहुरजुट यशोधरानम् दुवक् विय। ओतोमो वीरवम्मनम् कुमरॆकुट सरणपावादॆनलदिन् लीलावती हा सुगलानम् दून् दॆदॆनॆकु वॅदुवाय।

लीलावती कुमरिय विक्रमबाहु रजुटद सुगलानम् कुमरिय सिरिवल्लभ कुमारयाटद विवाहकरदेनलद्दोय। सुगलादेवियगे पुत्वू माणाभरण कुमारया रूहुणु रटट अधिपतिव पराक्रमबाहुरजुट विरुद्धव बोहो सटन्कळेय। सिरिवल्लभ कुमरहुगे पुत्रयो आर्यवंशयट अयत्वूवोययि महावंशयेहि सँदहन्वे। सिरिवल्लभ कुमारया जगतीपालनम् आर्यवंशिक हेवत् राजूपुत्जातिक क्षत्रिययेकुगेन् पैवतएन कुमरियक् विवाह करगत् हेयिन् ओहुगे पुतुन् आर्यवंशिकयन् वूवोययि सितिय हेकिय। मे कालयेदी लङ्कावे राजकुमारवरु स्वकीय मवगे वंशयेन् प्रकटवूवोययि सितीमट करुणु तिवेत्। मेय कसेवेतत् मे कालये लङ्कावे अधिपतिकम् कळ रजदरुवन् आर्य हेवत् राजूपुत्वंशिकयन्ट सम्बन्धतावयक् एतिवू बव निश्चयवे।

विजयबाहुरजहुगे पुत् विक्रमबाहुरजु कालयेदी आर्यदेशयेहि उपन्, पलन्दीपनम् प्रदेशयट अधिपतिवू, वीरबाहु नम् अयेक् लङ्काद्वीपय अत्पत्करगनु कैमेत्तेन् महत्वू भटसेनावक् सहितव महतोटट गोडबेसूसेय। विक्रमबाहुरज ओहु हा युद्धकरनु सँदहा मन्नारमट गियेय। मेहिदी हटगत् युद्धयेन् विक्रमबाहुरजु पेरदियेन् वीरबाहु पोळोन्नरुपुरयट गोस् एय अत्पत्करगत्तेय। विक्रमबाहुरजु हस्तसार वस्तून्द रेगेन कोटसर नम् दनवूवट पळागियेय। विक्रमबाहुरजु लुहुबेँद गोस् वीरबाहु महाकर्दम दुर्गयेकूहि सिंहळरजु हा युद्धकोट पेरद जीवितक्षयटद पेमिणियेय। मेहि सँदहन् वीरबाहु आर्यदेशयेहि उपन्नेकूययि कियन लद्देय एहेयिन् ओहु उतुरु इन्दियावे सिट पेमिणियेक् विययुतुयि। एतकुदुवूवत् ओहु राजूपुत्वंशिकयेकैयि निश्चय करगेन्मट तरम् कारणयक् नोमेतियि। ओहुगे आधिपत्यय पैवति पलन्दी पनम् प्रदेशय कुमकूदेयि तीरणय करगेन्मद नुपुलुँवन।

मिन्पसुव आर्य हेवत् राजूपुत्जनयन् लङ्काइतिहासयेहि सँदहन्वन्ने दँबदेनि राजधानिय समयेहिदीय। दँबदेनि पराक्रमबाहुरजहुगे पुत् सतरवेनि वोसत् विजयबाहुरजु सिंहासनारूढवी देवुरुद्दक् गियपसु मित्र नम् राजद्रोहि सेनाधिपतियेकुविसिन् ए मिहिपलूतेमे मरवनलद्देय। रजहुगे मलूवू भुवनेकबाहु कुमारया सतुरन् अतिन् मिदी लुहुबेँद एन्ननट असुनोवी यापवू दुर्गयट गोस् वन्नेय। इन्पसु मित्र नम् सेनाधिपतिया राजाभरणयेन् सेरही रजमालिगाव तुळट गोस् सिंहासनारूढव सेनावट तमा देकूवीय। सेनावट पडिदीमेन तमाट पक्षपात करगनु सँदहा पळमुकोट आर्यभटयन्ट पडिदीमट सेरसुणेय। ठकुरक नम् ओवुन्गे नायकया पडि प्रतिक्षेपकोट पळमुकोट सिंहलसेनावन् वेतनदानयेन् संग्रहकटयुतुययि पिळितुरुदुन्नेय। सिंहलभटयन् किसित् नोकिया पडि पिळिगत् पसु नेवतत् आर्यभटयन्ट पडिदीमट सेरसुणुकल ठकुरकतेमे नेवतत् प्रतिक्षेप केलेय। मीट कारणा कवरेदेयि विचारनलदिन् रजु इदिरिये कियमूहयि कीकल ठकुरक प्रधानकोट एति आर्यभटयो सिंहासनारूढवू मित्र सेनाधिपतिया इदिरियट गेनयनलद्दोय। ठकुरकतेमे मित्रसेनेविया इदिरिपिट बुहुमन् सहितवमेन् मोहोतक् सिट तमागे भटयन्ट संज्ञाकोट तियुनुवू कडुव एद एकपहरिन्म मित्रसेनेवियागे हिस कपाहेळीय। एविट महत् अरगलयक् हटगत्तेय। “मे पा पीवू क्रियाव कुमट कलेदे”यि कियमिन् सिंहलसेनावो ठकुरकयाट तर्जनय कळोय। निर्भयवू ठकुरकतेमे यापहुनुवर सिटिना भुवनेकबाहुरजहुगे नियोगयेन् करनलदेयि कीय। मिन्पसु सिंहलसेनावोद ठकुरक प्रधान आर्यभटयन्ट एकतुव यापहुनुवरट गोस् भुवनेकबाहु कुमारया राज्ययट पत्कोट अभिषेक कळोय।

मॆहि सँदहन् आर्ययो राज्पुत्जातिकयोययि पळमुवॆन् पॅन्वादुन्ने कॊडूरिंटन् महताविसिन्य। आर्यभटयिन्गे नायकयाट ठकुरक यननामय महावंशयॆहि दीतिबे। मे नामय हिन्दी वङ्ग आदी उतुरु इन्दियावे भाषावल पवत्ना "ठकूर्" यन पदय बवट सॅकनॅत।

मॆहि दॅक्वू प्रवृत्तियॆन् पॆणॆन्ने मे कालयॆदी सिंहलरजहुगे युद्धसेनावॆहि राज्पुत्जातिकयन् सेवाकम् कळबवय। आर्य हॆवत् राज्पुत्भटयो स्वामिपक्षपातव स्वकीय जीवितयद नॊतका क्रियाकर तिबॆन बॅव् मे प्रवृत्तियॆन् पॆणॆ। सिंहलसेनावन्द राजद्रोहियाट पक्षव पवत्ना वेलावेदी तमन्ट अतटपत् लाभयद प्रतिक्षेपकॊट मित्रसेनॆवियाट पक्षपातवूवन्गेन् वियहॆकि अन्तरायद नॊसलका तमन्गे स्वामियागे वंशयेहिवू कुमारयाट राज्यय गॆनदीमट शौरवीर्य्य गति दक्वा ठकुरक सह ओहुगे आर्यभटयो क्रियाकळोय। मॆहिदीपॆन्वनलद उदारवू गुणयन् गॆण राज्पुत्जातिकयो सुप्रकटह। मे कालयॆदी राज्पुत्जनयन् लङ्कावट पॅमिण सिंहल रजुट सेवाकम् करनु सँदहा पत्वीमट हेतुव महमत्जातिकरजुन् विसिन् बॊहो राज्पुत्जातिक राज्ययन् अत्पत् करगॆनीमययि सितियॆहेकिय।

स्वकीय रूपलावण्ययॆन् हा पतिव्रतागुणयॆन्द लोकय विस्मयट पत्कळ पद्मिनी नम् कुमरिय लङ्कावॆहि सिटि चौहान् राज्पुत्वंशिक कुमरकुगे दुवणियक् बव राजस्थानये इतिहास प्रवृत्तिवलिन् पॆणॆ। पद्मिनी कुमरियगे कथाप्रवृत्तिय नॊदन्ना यमेक ऎतॆयि सितियनॊहॆकि हॆयिन् ऎय मॆहिदी विस्तर कटयुतु नॊवे। पद्मिनी कुमरियगे कालयद वॊसत्विजयबारजहुगे कालयट समीपबॆविन् आर्य हॆवत् राज्पुत्जनयो लङ्कावे विसुवोययि सिंहलइतिहासयॆन् दॆन्गन्ट लॅबॆन प्रवृत्तियद राजस्थानये वंशकथावन्हि दक्वनलद प्रवृत्तिद ऎकिनॆकट संसन्दनय वेत्।

पद्मिनी कुमरियगे जन्मभूमियवू लङ्काव मे द्वीपय नॊव राजस्थानयट असल प्रदेशयक्ययि महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर ओझातुमा विसिन् मॅतदी प्रकटकरनलद लिपियॆक दक्वा तिबे। राजस्थानये इतिहासय हा पुरावृत्तत पिळिबॅंदव अद्वितीय दॅनुमक् ऎति मे पॅंडितुमागे मतय सॅमअतिन्म गरुकळयुतुयि। ऎतकुदुवूवत् लङ्कावे राज्पुत्जनयन् पिळिबॅंदव मॆहि दक्वन करुणु हा संसन्दनयकॊट मे प्रश्नय कल्पना किरीमट ए पॅंडितुमाट गौरवसहितव आराधना करमि।

लङ्काव हा राजस्थानय अतर पॅवति सम्बन्धयट साक्षिवशयॆन् दॅक्विय हॆकि तवत् करुणक् पसळोस्वॅनि शतवर्षयॆदो रचनाकरनलद काव्यशेखर नम् सिंहल काव्ययॆहि ऎतॆतेय। बरणॆसनुवर सिट तक्सलानुवर दक्वा मार्गय वर्णनाकरन काव्यशेखर कर्तृ, गङ्गानदिय दिगे प्रयागतीर्थयट गोस् ऎतॆनिन् बटहिर अतट हॆरी गोवर्धनपर्वतय पसुकॊट मालवदेशयॆहि सिप्रानदिय ऎतरव तक्सलानगरयट पॅमिणिसॅटियट दक्वा तिबे। मेयिन् पॆणॆन्ने काव्यशेखर कर्तृगे तक्सलाव गन्धार देशयहि एनमिन् सुप्रकट पुरय नॊव राजस्थानयॆवू नगरयक् बवय। राजस्थानये इतिहासय सह पूर्वतत्व गॅन कर्नल् टॊड् महतुन् विसिन् लियनलद सुप्रकट ग्रन्थयॆहि चितोर्नगरय तक्सला यन नमिन् पूर्वकालयॆहि प्रसिद्धवू बवक् दक्वा ऎतॆतेय। काव्यशेखरये तक्सलानगरय पिहिटियेययि दक्वन प्रदेशयद चितोर्नगरय असल हॆयिन् राजस्थानये तक्सलानगरयक् पसलोस्वॅनि शतवर्षये सिंहलयन् दॅनसिटि बॅव् निश्चित वे।

लङ्काव हा राजस्थानय अतर पॅवति सम्बन्धयट साक्षिभूतवू तवत् करुणक् ळॅंगदी ऎळिदरवूवी तिबे। अनुराधपुरये रुवन्वॅलि महास्तूपये हॅतॆरस् कॊटुवे तिबी मॅतदो सम्भवू निदन् वस्तु अतर राज्पुत्देशये पुराण

तँबकासि विसूसक् पमणविय। मे कासिवल एक् पैत्तक गॊन् रूपयक्द अनित् पैत्ते अश्वारोहकयकुगे रूपयक्द वॆत्। नागरीअक्षरवलिन् ए कासि निकुत्कळ रजुन्गे नम् सँदहन्कॊट तिबॆत्। कासि बॊहॊसॆ गॆवी-गॊस् तिबॆन निसा मेनम् सम्पूर्णलॆस कियवागैन्म उगहटयि। मे वर्गये कासि इन्दियावे पुराण कासि गैन कनिंहैम्, विन्सन्ट् स्मित् आदि पँडिवरुन् विसिन् लियनलद पॊत्वल विस्तरकॊट ऐत। रुवन्वैलिसैये मेकासि हा समग तिबू अनित् वस्तून्द दहतुन्वॆनि शतवर्षयट पमण अयत् वूवॊ वॆत्। मे राज्पुत् कासिद ए कालयटम अयत्य। राजस्थानयॆन् लङ्कावट पैमिणि जनयन् विसिन् मे कासि गॆनएन्ट ऐतैयि अनुमान कटहैकिय।

राजस्थानये इतिहासय गैन करुण सॊवीमट स्वकीय जीवितय सम्पूर्णयॆन् गतकॊट इन्दियावे पमणक् नॊव विदेशयन्हिद स्वकीय पण्डितत्वय पतळकॊट गरुबुहुमन् लत् महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर ओझा पँडितुमाट गौरव-किरीम पिणिस सङ्ग्रहकरनुलबन पॊतट लङ्काव हा राजस्थानय अतर पैवति सम्बन्धय गैन मे सुँलुलिपिय एवीमट हैकिवीम इतासतुटट कारणयकि। मॆहि दक्वनलद ऐतैम् करुण निश्चयवशयॆन् तवमत् कियहैकि नॊवू नमुत् राजस्थानये इतिहासय सम्बन्ध विशारद दैनीम् ऍति पण्डितवरुन्गे कल्पनावट गोचरवेतुययि बलापॊरॊत्तुवॆमि।

[अनुवाद*]

उत्तरी भारत के राजपूतों और लङ्का के बीच किसी समय कुछ सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है। इस विषय में अब तक जिन बातों का पता लगा है उन को एकत्र कर दिखाना इस लेख का उद्देश्य है।

'महावंश' आदि लङ्का के ऐतिहासिक ग्रन्थों में राजपूत आर्य नाम से उल्लिखित हैं। यह नाम राजपूतों के लिए प्रयुक्त किया गया है, इस बात को सब से प्रथम बता देने वाला, लङ्का-इतिहास का पूर्ण विद्वान् श्री० एच्० डब्ल्यू० कोड्रिंग्टन् है। सामान्यतः आर्य शब्द से उत्तर भारतीय लिए जा सकते हैं। तो भी इस का उल्लेख बहुत स्थानों में राजपूतों से सम्बन्ध रखता है। इस बात को निश्चित करने के लिए पर्याप्त सामग्री भी है। सिंहली भाषा भी आर्यवर्ग में है। फिर भी लङ्का के पश्चात्कालीन लेखों में आर्य शब्द केवल उत्तर भारतीयों के लिए प्रयुक्त है। माना जा सकता है कि यह प्रयोग द्राविड़ों की व्यवहार-शैली के अनुकरण पर प्रचलित हुआ होगा। ग्यारहवीं शताब्दी में आर्य या राजपूत जाति के एक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है। यह लङ्का-इतिहास में प्रथम ही प्रथम उल्लेख है। इन दिनों में चोळवंशियों ने सिंहल राज्य का विनाश किया और द्वीप का अधिकांश चोळ राज्य के अधीन हो गया था। इस स्थिति में जगतीपाल नामक एक राजवंशीय क्षत्रिय का अयोध्यापुरी से लङ्का में आना, विक्रमपण्डु नामक लङ्का के प्रादेशिक द्रविड़ राजा को युद्ध में मार कर रुहुण राष्ट्र में चार वर्ष राज्य करना, तत्पश्चात् चोळों का उस को मार कर उस की महिषी, पुत्री और धन ले कर चोळ देश में चला जाना महावंश में वर्णित है। दक्षिण भारत के शिलालेखों में भी यह बात इस से अंशतः भिन्न दिखाई गई है। उत्तर भारत से लङ्का में आने वाला जगतीपाल नहीं है, वहाँ उस का नाम वीरशलामेघन् है और वह कान्यकुब्ज नगर से आया है। चोळदेशियों ने जिस तरह उसे हराया, उस की महिषी और पुत्री को वे जैसे अपने देश ले गए—यह बात जिस प्रकार महावंश में वर्णित है, उसी प्रकार मणिमङ्गलम् स्थान के राजाधिराज नामक चोळराज के एक शिलालेख में भी उस का उल्लेख है। आचार्य श्री हुल्ट्श् का मत है कि महावंश में उल्लिखित जगतीपाल दक्षिण भारत के लेखों का निर्दिष्ट वीरश(ा)लामेघन् है।

उन दिनों में कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर एवं अयोध्यापुरी दोनों राजपूतों के हाथ में थे। इसलिए इस प्रदेश से लङ्का में आ कर राज्य करने वाला जगतीपाल या वीरशलामेघन् राजपूत-वंश में से हो सकता है।

१०५८ ई० में विजयबाहु नामक एक सिंहली राजपुत्र ने चोळों को लङ्का से भगा कर इस द्वीप का आधिपत्य फिर से सिंहली राजाओं के अधीन कर दिया था। राजा विजयबाहु के राज्य-काल में जगतीपाल की रानी और लड़की चोळों से छूट कर चोळ देश से लङ्का में आई। राजा विजयबाहु ने उन के वंश का समाचार सुना और उन्हों ने उन को कुलीन समझ कर

---

* अनुवादक—श्री अभयसिंह परेरा, काशी।

कुमारी लीलावती को अपनी महिषी बना लिया। उस महिषी से राजा विजयबाहु के यशोधरा नाम की एक पुत्री हुई थी। वीरवर्म्मा (वीरवम्म) नामक राजपुत्र को वह ब्याही गई। उस के लीलावती और सुगला नाम की दो पुत्रियाँ हुईं जिन में से कुमारी लीलावती का विवाह राजा विक्रमबाहु के साथ और सुगला का कुमार सिरिवल्लभ के साथ कर दिया गया था। सुगला देवी का पुत्र माणाभरण रुहुणु राज्य का अधिपति हो कर राजा पराक्रमबाहु के विरुद्ध ख़ूब लड़ा। कुमार सिरिवल्लभ के पुत्र आर्यवंश के अन्तर्गत हैं ऐसा महावंश का कहना है। आर्यवंशी या राजपूत-परम्परागत जगतीपाल की वंश-परम्परा में उत्पन्न एक कन्या के साथ सिरिवल्लभ का विवाह होने के कारण उन के पुत्र आर्यवंशी हो गए ऐसी कल्पना हो सकती है। इन दिनों में लङ्का की राजवंशावली अपने मातृवंश से प्रकट होती रही है। इस बात की कल्पना करने में हेतु भी है। चाहे कुछ भी हो, यह निश्चित है कि इस काल में लङ्का के शासक क्षत्रियों का सम्बन्ध आर्यों या राजपूतों के साथ रहा है।

राजा विजयबाहु के पुत्र विक्रमबाहु के राज्य-काल में आर्य देश में उत्पन्न, पलन्दीप नामक स्थान के अधिपति वीरबाहु लङ्का को लेने की इच्छा से भारी सेना के साथ जाकर महातोट (महाघाट) पर उतरे थे। उन के साथ युद्ध करने के लिए राजा विक्रमबाहु मन्नार (वर्तमान तलेई मन्नार—रामेश्वर के सामने उस पार) पर पहुँच गए थे। उस युद्ध में विक्रमबाहु का पराजय होने के कारण वीरबाहु ने पोळोन्नरुपुर जा कर उस को अपने हाथ में कर लिया। जितनी हो सकीं उतनी चीज़ें अपने साथ ले कर विक्रमबाहु कोटसर नामक प्रदेश (जनपद) में भाग गया था। विक्रमबाहु का पीछा करते हुए वीरबाहु अन्त में कर्दमदुर्ग (एक पङ्कमय दुर्ग ?) में सिंहल-राजा से युद्ध में हार कर मारा गया। इस वीरबाहु का आर्य देश में जन्म होना बताया गया है। इसलिए उत्तर भारत से इस का आगमन हुआ होगा। ऐसा होने पर भी यह राजपूत-वंश का है इस बात का निश्चायक कोई हेतु नहीं है। उसी तरह यह भी निश्चित नहीं हो सकता कि वीरबाहु का शासित पलन्दीप प्रदेश कैसा और कहाँ है।

इस के अनन्तर दँबदेनि राजधानी के काल में आर्य या राजपूतों का नाम लङ्का-इतिहास में आता है। पराक्रमबाहु दूसरे के पुत्र राजा बोसत् विजयबाहु चौथे के दो वर्ष गद्दी पर बैठने के बाद मित्र नामक एक राजद्रोही सेनाधिपति ने उस राजा का वध करवा डाला। राजा का छोटा भाई भुवनेकबाहु कुमार शत्रुओं के हाथ से छूट कर, पीछा करने वालों से बच कर, यापव् दुर्ग में जा छिपा। उस के बाद सेनाधिपति मित्र राजवस्त्र पहन कर महल में गया और सिंहासन पर बैठ कर अपने को सेना के सामने दिखलाया। वेतन देकर सेना को अपने पक्ष में करने के ख़याल से उस ने सब से पहले आर्य सैनिकों को प्रथम वेतन देना चाहा। ठकुरक नामक उन के नायक ने वेतन लेने से इनकार कर प्रथम सिंहल सैनिकों को वेतन दे कर उन का आदर करने को कहा। सिंहल सैनिकों के मौनपूर्वक वेतन लेने के बाद उस ने फिर आर्य सैनिकों को वेतन देना चाहा। परन्तु ठकुरक ने फिर इनकार कर दिया। इस का कारण पूछा जाने पर उस ने कहा कि मैं राजा के सामने बताऊँगा और वह अपने सैनिकों समेत गद्दी पर बैठे हुए राजा के सामने पहुँचाया गया। सेनाधिपति मित्र के सामने मुहूर्त भर विनयपूर्वक खड़े रहने के बाद ठाकुर ने आर्य सैनिकों को इशारा किया और अपनी तेज़ तलवार खींच कर मित्र का सिर धड़ से अलग कर दिया। उस समय एक भारी उपद्रव उठ खड़ा हुआ। "यह अधर्म कर्म तूने क्यों किया है" ऐसा प्रश्न करते हुए सिंहल सैनिक उस को धमकाने लगे। निर्भीक ठाकुर ने कहा कि यापहु नगर में बैठे हुए राजा भुवनेकबाहु की आज्ञा से यह काम किया गया है। इस के बाद सिंहल सैनिकों ने भी ठकुरक प्रमुख आर्य भटों के साथ यापहु जा कर कुमार भुवनेकबाहु का अभिषेक किया और उन को गद्दी पर बैठाया।

ये लोग राजवंशी हैं इस बात को सर्व-प्रथम बता देने वाला मि० कोड्रिंग्टन् है। आर्य सैनिकों के नायक का महावंश ठकुरक नाम से उल्लेख करता है। यह नाम हिन्दी, वङ्ग आदि उत्तर भारतीय भाषाओं में प्रचलित "ठकूर" शब्द ही है।

इन बातों से ज्ञात होता है कि इन दिनों में सिंहल-राजा की फ़ौज में राजपूत अपनी भरती करा लेते थे। स्वामिभक्त आर्य या राजपूत अपने जीवन तक की उपेक्षा करते हुए स्वामी का काम करते थे, यह भी इन बातों से प्रतीत होता है। राजद्रोही के पक्ष में सिंहल सैनिकों के रहते हुए, हस्त-प्राप्त लाभ (धन) को छोड़ कर, 'मित्र' के पक्षपातियों से सम्भव दुर्गतियों की भी उपेक्षा करते हुए, अपने स्वामि-वंशी एक राजकुमार को राज्य दिलाने के उद्देश से ठकुरक और उस के सैनिकों ने शूरवीरता-पूर्वक ही काम किया था। इन उदार गुणों के लिए राजपूत प्रसिद्ध हैं। यवन राजाओं द्वारा राजपूतों का बहुत सा राज्य छीन लिया जाना ही लङ्का में आकर सिंहली राजाओं के आश्रित इन दिनों में इन के रहने का कारण हो सकता है।

अपने रूप-सौन्दर्य और पातिव्रत धर्म से दुनिया को चकित करने वाली पद्मिनी लङ्का के एक राजपूत चौहान की पुत्री रही है, ऐसा राजस्थान के इतिहासों से पता लगता है। पद्मिनी की कहानी से अपरिचित कोई न होगा, इसलिए उस के बारे में

यहाँ लिखना अनावश्यक है। कुमारी पद्मिनी का समय राजा विजयबाहु के निकट होने के कारण लङ्का में राजपूतों की स्थिति-सम्बन्धिनी सिंहल-इतिहास से ज्ञात बातें, राजस्थान की वंशकथाओं में दिखाई हुई बातों से परस्पर मेल खाती हैं।

कुमारी पद्मिनी का जन्मस्थान लङ्का, यह द्वीप नहीं है वरन् वह राजस्थान के निकट एक प्रदेश है, ऐसा कुछ काल पहले महामहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर ओझा-लिखित एक लेख में बताया गया है। राजस्थान के इतिहास और पुरावृत्तों के विषय में अद्वितीय ज्ञान रखने वाले इस विद्वान् का मत हर तरह से आदरणीय है। तो भी लङ्का में राजपूतों के सम्बन्ध में यहाँ दिखाई गई बातों को मिला कर इस प्रश्न पर फिर से विचार करने के लिए मैं उक्त पण्डितजी से आदर-पूर्वक प्रार्थना करता हूँ।

पन्द्रहवीं शताब्दी में रचा हुआ काव्यशेखर नामक सिंहल-काव्य में लङ्का और राजस्थान के बीच रहे सम्बन्ध को पुष्ट करनेवाली एक और बात मिलती है। बनारस से तक्षशिला (तक्सला) तक का मार्ग वर्णन करने वाला काव्यशेखर का रचयिता गङ्गा के किनारे प्रयाग तक जा कर पुनः वहाँ से पश्चिम की ओर हो कर गोवर्धन पर्वत होता हुआ मालव देश की सिप्रा नदी को पार कर तक्षशिला में जाना बताता है। इस से मालूम होता है कि उस कवि का तक्षशिला गन्धार देश में तक्षशिला नाम से प्रसिद्ध शहर नहीं है, प्रत्युत राजस्थान का एक शहर है। राजस्थान के चित्तौड़ की पूर्वकालीन प्रसिद्धि तक्षशिला नाम से रही थी ऐसा राजस्थानीय इतिहास और पुरावृत्तों का लेखक श्री कर्नल टॉड् अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में बताता है। यह निश्चित है कि राजस्थान में तक्षशिला नामक एक स्थान पन्द्रहवीं शताब्दी में सिंहलियों को ज्ञात रहा क्योंकि काव्यशेखर की तक्षशिला का स्थान भी चित्तौड़ के समीप है।

लङ्का और राजस्थान के बीच सम्बन्ध की द्योतक (साक्षीभूत) एक और बात कुछ दिन पहले प्रकट हो गई है। अनुराधपुर के स्वर्णमालि स्तूप (रुवन्मेलि) के मध्य चतुष्कोण घेरे में से प्राप्त प्राचीन चीज़ों के बीच राजपूत देश की प्रायः बीस प्राचीन ताम्रमय मुद्राएँ भी हैं। इन मुद्राओं में एक ओर बैल का और दूसरी ओर अश्वारोहक (घुड़सवार) का चित्र है। इन मुद्राओं को चलाने वाले राजाओं के नाम उन में नागरी अक्षरों से लिखे हैं। अधिक घिस जाने के कारण वे नाम अच्छी तरह पढ़े नहीं जा सकते। भारतीय प्राचीन मुद्राओं के बारे में कनिंघम्, विन्सन्ट् स्मिथ की लिखी पुस्तकों में इन मुद्राओं का परिचय दिया गया होगा। स्वर्णमाली स्तूप की इन मुद्राओं के साथ प्राप्त अन्य वस्तुएँ भी लगभग तेरहवीं शताब्दी की हैं। राजपूत मुद्राएँ भी उस समय की हैं। राजस्थान से लङ्का में आए हुए लोग इन मुद्राओं को लाए होंगे, ऐसा अनुमान होता है।

राजस्थानीय ऐतिहासिक अन्वेषण में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पण करने वाले, भारतवर्ष एवं विदेशों में भी अपनी विद्वत्ता से कीर्त्ति-प्राप्त, महामहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर ओझा के गौरवार्थ संगृहीत अभिनन्दन-ग्रन्थ में "लङ्का और राजस्थान" के सम्बन्ध में लिखा गया यह छोटा लेख भेंट करना अति हर्षप्रद है। इस में लिखी हुई कुछ बातें—अभी तक निश्चित न होने पर भी—राजस्थानीय इतिहास के विषय में विशाल ज्ञान रखने वाले पण्डितों के विचार का विषय हो जायँगी, ऐसी आशा है।

माधवाचार्य और अमात्य माधव

श्रीयुत बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी।

दक्षिण भारत के इतिहास में विजयनगर का राज्य विशेष महत्त्व रखता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में यही एक स्वतन्त्र हिन्दू राष्ट्र था जो वैभव तथा शासन के विषय में प्रभावशाली मुग़ल साम्राज्य के सामने खड़ा हो सकता था। इस के विपुल वैभव को देख कर, सुशासन से उत्पन्न होने वाले आर्य-सभ्यता के विस्तार तथा विद्या के प्रसार को अवलोकन कर, विदेशी यात्रियों को चकित होना पड़ा था। वास्तव में, उत्तर भारत के विधर्मी यवन आततायियों के निर्दय उत्पीड़न से दक्षिण की हिन्दू प्रजा को बचाने के लिए विजयनगर के राजाओं ने जो कार्य कर दिखलाया वह इतिहास में अत्यन्त श्लाघनीय है तथा सुवर्णाक्षरों से लिखने लायक़ है।

चौदहवीं सदी की बात है। आजकल के मैसूर राज्य तथा समग्र दक्षिण भारत के ऊपर 'होयसल' नामक राजवंश राज्य करता था। यह राजवंश अपने समय में (तेरहवीं सदी में) अत्यन्त प्रतापी तथा प्रसिद्ध था, परन्तु चौदहवीं सदी के आरम्भ में ही उत्तर भारत के उत्साही पठान आक्रमणकारियों के आक्रमण से इस की शक्ति क्षीण हो चली थी। १३१० ई० में मलिक काफ़ूर ने चढ़ाई की। इस वंश का राजा बल्लाल तृतीय उस समय राज्य करता था। वह पहले पकड़ लिया गया परन्तु पीछे छोड़ दिया गया। पठानों की सदा यही अभिलाषा रही कि समग्र दक्षिण भारत पर शासन करने वाला होयसल राज्य उन की अधीनता में आ जाय। १३२७ ई० में इसी अभिलाषा की पूर्ति के लिए मुहम्मद तुग़लक़ ने फिर चढ़ाई की। होयसल राज्य को हानि उठानी पड़ी तथा उस की शक्ति निर्बल पड़ने लगी। मुहम्मद तुग़लक़ अपनी राजधानी को लौट गया, परन्तु उस का आतङ्क सारे दक्षिण भारत पर छा गया[1]। वहाँ के वीर सरदारों को यह साफ़-साफ़ मालूम पड़ गया कि अल्प-प्राण होयसल नरेशों के हाथ में दक्षिण भारत की स्वतन्त्रता निरापद् नहीं है। १३४३ ई० तक बल्लाल तृतीय ने राज्य किया। उस के अनन्तर बल्लाल चतुर्थ को राज्य मिला, परन्तु केवल तीन वर्षों तक राज्य कर होयसल-वंश के अन्तिम सम्राट् ने अपनी ऐहिक लीला संवरण की। १३४६ ई० दक्षिण भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इसी वर्ष हरिहर ने अपने भाइयों—बुक्क, मारप्प तथा कम्पण—की सहायता से दक्षिण भारत की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए विजयनगर राज्य की स्थापना की। बल्लाल नरेशों के समय में हरिहर राज्य का प्रधान अधिकारी था। मारप्प मैसूर के पश्चिम भाग में तथा कम्पण पूर्व भाग में राज्य के विस्तार करने में लगे थे। अतः कर्नाटक में स्वतन्त्रता के लिए सब से अधिक प्रयत्न करने वाले इन चारों भाइयों ने १३४६ ई० में तुङ्गभद्रा के तीर पर विजयनगर राज्य की स्थापना की[2]। इस कार्य में उन को विशेष सहायता देने

---

[1] आ० स० इं० १९०७–८, पृ० २३५।

[2] रायबहादुर कृष्ण शास्त्री आदि विद्वान् विजयनगर की स्थापना १३३६ ई० में ही मानते थे, परन्तु नवीन ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि होने से यह मत ठीक नहीं जँचता। प्राचीन मत की आलोचना तथा उपरिलिखित सिद्धान्त की पुष्टि के लिए दे०—इं० हि० क्वा०, जि० ९, पृ० ५२१-३३।

वाले थे माधवाचार्य नामक विद्वान् । इसी नैष्ठिक ब्राह्मण के उपदेश का यह सुपरिणाम था कि आर्य संस्कृति को जीवित रखने, हिन्दू धर्म को विधर्मियों से बचाने तथा वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार करने में विजयनगर के सम्राटों ने विशेष रूप से हाथ बँटाया ।

माधवाचार्य अपने समय के बड़े भारी विद्वान् थे । विजयनगर के प्रथम महाराजाधिराज हरिहर के ये प्रधान मन्त्री थे । महाराज हरिहर अत्यन्त स्वातन्त्र्य-प्रेमी तथा वैदिक धर्म के स्थापक क्षत्रिय नरेश थे । माधवाचार्य भी आदर्श विद्वान् थे । इस प्रकार ब्राह्म तथा क्षात्र तेज के दुर्लभ योग से विजयनगर का राज्य चमक उठा तथा सदा के लिए भारतीय इतिहास में हिन्दू-राज्य का एक आदर्श बन गया । इन्हीं माधवाचार्य के विषय में नाम-साम्य से उत्पन्न होने वाली कुछ मिथ्या बातों के निराकरण के लिए यह छोटा लेख लिखा गया है ।

कहा जाता है कि माधवाचार्य ने विजयनगर के राज्य-विस्तार के लिए कई देशों पर चढ़ाई की थी तथा उन्हें जीत कर राज्य में मिलाया था । इन्होंने सेनापति का भी काम किया था । परन्तु यह वर्णन वास्तव में सत्य नहीं है । जो स्वयं एक बड़े भारी विद्वान् थे तथा अन्त में संन्यासी बन कर विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, उन्हीं शान्तचित्त ब्राह्मण का क्षत्रियोचित सेनापति का पद ग्रहण करना उतना उचित नहीं प्रतीत होता । इस प्रसिद्धि का कारण यह मालूम पड़ता है कि हरिहर के एक दूसरे मन्त्री, शत्रुओं के विनाशक तथा गोवा के शासक का नाम भी माधव था । अतः माधव की विजयवार्ता, नाम की समता के कारण, माधवाचार्य के ऊपर आरोपित की गई है, परन्तु ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे । इन के वंश, गुरु तथा रचनाओं की परीक्षा करने पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं ।

अनन्तभोगसंसक्तो द्विजपुङ्गवसेवितः ।
सचिवः सर्वलोकानां त्राता जयति माधवः ॥
सायणस्य ।

माधवाचार्य के जीवन-चरित के विषय में उन के तथा उन के भाइयों के लिखे ग्रन्थों से ही सहायता नहीं मिलती, बल्कि तत्कालीन विजयनगर के राजाओं के शिलालेखों तथा शासनों से भी विशेष रूप से सहायता प्राप्त होती है । माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थों के आरम्भ में अपने माता-पिता तथा अपने गुरुओं का नामोल्लेख किया है । उन के अनुज प्रसिद्ध वेदभाष्यकर्ता सायणाचार्य ने भी अपने ग्रन्थों के प्रारम्भ में अपने वंश का संक्षिप्त परिचय प्रदान किया है । विजयनगर के प्रधान मन्त्री होने के कारण उस समय के राजकीय शासनपत्रों में भी इन का उल्लेख हुआ है । इसी सामग्री से हम माधवाचार्य का ऐतिहासिक वृत्त सङ्कलन कर सकते हैं ।

माधवाचार्य के पिता का नाम मायण था । माता का नाम था श्रीमती । इन के दो छोटे भाई थे । उन में जेठे का नाम सायण था तथा छोटे का भोगनाथ । उन का सूत्र बौधायन सूत्र था, वेद कृष्ण-यजुर्वेद तथा गोत्र भारद्वाज था । 'पराशरमाधवीय' के उपोद्घात से ये बातें मालूम होती हैं—

श्रीमती जननी यस्य सुकीर्तिः मायणः पिता ।
सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ ॥ ६ ॥
यस्य बौधायनं सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी ।
भारद्वाजं कुलं यस्य सर्वज्ञः स हि माधवः ॥ ७ ॥

'यज्ञतन्त्रसुधानिधि' के आरम्भ में सायणाचार्य के निम्नलिखित श्लोकों से इसी बात की पुष्टि होती है—

तस्याभूदन्वयगुरुस्तत्त्वसिद्धान्तदेशिता ।
सर्वज्ञः सायणाचार्यो मायणार्यतनूद्भवः ॥ ७ ॥
उपेन्द्रस्येव यस्यासीत् इन्द्रः सुमनसां प्रियः ।
महाक्रतूनामाहर्ता माधवार्यः सहोदरः ॥ ८ ॥

इस श्लोक की उपमा पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि माधवाचार्य सायण के जेठे भाई थे । अन्य ग्रन्थों में व्यक्त रूप से ही सायण ने माधव को अपना जेठा भाई लिखा है । 'अलङ्कारसुधानिधि' की पुष्पिका में सायण ने अपने को 'माधवाचार्यानुजन्मनः' तथा 'प्रायश्चित्तसुधानिधि' की पुष्पिका में 'माधवभोगनाथसहोदरस्य' लिखा है जिस से माधवाचार्य के जेठे होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता ।

माधवाचार्य के अनुज सायणाचार्य को हम चारों वेदों के भाष्यकार के रूप में भली भाँति जानते हैं, परन्तु सायण ने केवल वेदभाष्य ही नहीं लिखा प्रत्युत यज्ञ, धर्मशास्त्र, व्याकरण तथा अलङ्कार-सम्बन्धी उपयोगी अनेक ग्रन्थों की भी रचना की । इन के नाम ये हैं—(१) सुभाषितसुधानिधि, (२) प्रायश्चित्तसुधानिधि, (३) अलङ्कारसुधानिधि, (४) धातुवृत्ति, (५) पुरुषार्थसुधानिधि तथा (६) यज्ञतन्त्रसुधानिधि । इन ग्रन्थों में अलङ्कारसुधानिधि बड़े महत्त्व का है । इस में अलङ्कारों के उदाहरण सायणाचार्य ने अपने ही विषय में दिए हैं । ग्रन्थ अधूरा ही है, परन्तु फिर भी इस की ऐतिहासिक महत्ता अधिक है[1] । इस के अवलोकन से जान पड़ता है कि सायण के तीन पुत्र थे—कम्पण, मायण तथा शिंगण । कम्पण सङ्गीत-शास्त्र के विशेषज्ञ थे; मायण कवि थे—गद्य-पद्य-रचना में बड़े प्रवीण थे । शिंगण वैदिक थे—घनान्त वेद का इन्हों ने अभ्यास किया था—

तत् संव्यञ्जय कम्पण व्यसनिनः सङ्गीतशास्त्रे तव
प्रौढिं मायण गद्यपद्यरचनापाण्डित्यमुन्मुद्रय ।
शिक्षां दर्शय शिङ्गण क्रमजटाचर्यासु वेदेष्विति
स्वान् पुत्रानुपलालयन् गृहगतः संमोदते सायणः ॥

माधवाचार्य के दूसरे अनुज का नाम भोगनाथ था । इन के ग्रन्थों के नष्ट हो जाने के कारण हम इन के विषय में बहुत कम जानते हैं, परन्तु ये भी अपने समय के एक बड़े सहृदय कवि थे । इन्हों ने कम से कम इन छः काव्य-ग्रन्थों की रचना अवश्य की थी क्योंकि इन का उल्लेख हम सायण के 'अलङ्कारसुधानिधि' में पाते हैं । इन के नाम ये हैं—(१) रामोल्लास, (२) त्रिपुरविजय, (३) उदाहरणमाला, (४) महागणपतिस्तव, (५) शृङ्गारमञ्जरी तथा (६) गौरीनाथाष्टक । काव्य-कला में निपुण होने के कारण इन्हें तदनुरूप पद भी मिला था । ये महाराज सङ्गम द्वितीय के नर्म सचिव थे । इन की कविता बड़ी सरस होती थी ।

माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थों में अपने तीन गुरुओं का बड़े आदर से स्मरण किया है । इन के नाम थे—विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ तथा श्रीकण्ठ । ये उस समय के प्रधान विद्वान् तपस्वी यतियों में गिने जाते थे । 'कालमाधव' में गजानन की स्तुति के अनन्तर माधवाचार्य ने एक ही पद्य में इन तीनों गुरुओं का एक साथ स्मरण किया है—

सोऽहं प्राप्य विवेकतीर्थपदवीमाम्नायतीर्थं परं
मज्जन् सज्जनसङ्गतीर्थनिपुणः सद्वृत्ततीर्थं श्रयन् ।

---

[1] इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के संक्षिप्त वर्णन के लिए दे० इं० आ० भाग ४५ (१९१६), पृष्ठ २२–२३ ।

लब्धामाकलयन् प्रभावलहरीं श्रीभारतीतीर्थ-तो
विद्यातीर्थमुपाश्रयन् हृदि भजे श्रीकण्ठमव्याहतम् ॥

इन में भारतीतीर्थ उस समय शृङ्गेरी मठ की गद्दी पर विराजमान थे। १३४६ ई० में समस्त शत्रुओं को जीत कर महाराज हरिहर ने अपने भाइयों के साथ शृङ्गेरी की यात्रा की थी। इस विजय के उपलक्ष में उन्हों ने नौ गाँवों का दान शृङ्गेरी में रहने वाले ब्राह्मणों तथा तपस्वियों को दिया[1]। उस शासनपत्र में भारतीतीर्थ श्रीपाद का नाम आदर से लिया गया है। आप उस समय के एक पहुँचे हुए महात्मा थे। माधवाचार्य ने अपने 'न्यायमालाविस्तर' में यतीन्द्र भारतीतीर्थ की कृपा से प्रतिष्ठा प्राप्त करने का उल्लेख किया है—

स भव्याद् भारतीतीर्थ-यतीन्द्रचतुराननात्।
कृपामव्याहतां लब्ध्वा परार्ध्यप्रतिमोऽभवत् ॥

विद्यातीर्थ स्वामी उस समय के एक सिद्ध पुरुष थे। आप श्री परमात्मतीर्थ के शिष्य थे तथा 'रुद्रप्रश्न-भाष्य' नामक ग्रन्थ के प्रणेता भी। विजयनगर के प्रतापी नरेश भी आप की कृपा के भिक्षुक बने रहते थे। आप की बड़ी प्रतिष्ठा थी। माधव ने इन्हें अपना मुख्य गुरु कहा है—

अन्तः प्रविष्टः शास्तेति योऽन्तर्यामिश्रुतीरितः।
सोऽस्मान् मुख्यगुरुः पातु विद्यातीर्थ-महेश्वरः ॥

आप सायणाचार्य के भी गुरु थे। वेदभाष्यों के आरम्भ में सायणाचार्य ने विद्यातीर्थ महेश्वर की जो श्लाघनीय स्तुति की है उस में इन की ओर भी गूढ़ संकेत किया गया है तथा इन्हें महेश्वर का अवतार माना है[2]।

तीसरे गुरु श्रीकण्ठ या श्रीकण्ठनाथ के विषय में विशेष पता नहीं चलता। ये कोई शैव महात्मा जान पड़ते हैं। भोगनाथ ने अपने ग्रन्थों में इन का सादर उल्लेख किया है जिस से जान पड़ता है कि भोगनाथ इन्हें अपना गुरु मानते थे[3]। काञ्ची के एक शिलालेख में श्रीकण्ठ सायण के भी गुरु कहे गए हैं।

सारांश यह कि भारतीतीर्थ, विद्यातीर्थ तथा श्रीकण्ठ—ये तीनों महापुरुष माधवाचार्य तथा उन के दोनों अनुजों के गुरु थे।

माधवाचार्य ने बहुत से धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की है जिन में ये ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—(१) पराशरस्मृति-व्याख्या या पराशरमाधव, (२) व्यवहारमाधव, (३) कालमाधव, (४) जीवन्मुक्ति-विवेक, (५) जैमिनीयन्यायमालाविस्तर तथा (६) पञ्चदशी। अन्तिम ग्रन्थ की रचना विद्यारण्य स्वामी ने की थी। कुछ लोग माधवाचार्य तथा विद्यारण्य को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं[4], परन्तु पण्डितों की सार्वत्रिक प्रसिद्धि तथा पीछे के ग्रन्थों के निर्देश से दोनों एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं। पण्डितों का यह विश्वास है और ऐतिहासिक दृष्टि से यह ठीक भी जँचता है कि माधवाचार्य ही संन्यास लेने पर विद्यारण्य के नाम से

---

[1] इं० हि० क्वा० वर्ष ९ सं० २ (जून १९३३), पृ० ५३२।

[2] यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

[3] श्रीकण्ठश्च गुरुः परेऽपि गुरवो लोकत्रयेऽप्यद्भुतम्।
भक्ताधीनभवांश्च दैवतमहो सर्वेऽप्यमी देवताः ॥ महागणपतिस्तव।

[4] दे० इं० हि० क्वा० जि० ६, सं० ४, पृ० ७०१—१७।

प्रसिद्ध हुए तथा शृङ्गेरी मठ के अधिपति हुए[१]। पञ्चदशी उसी समय का ग्रन्थ है। अन्य ग्रन्थ पहले की रचनाएँ हैं।

इस प्रकार माधवाचार्य चतुर्दश शताब्दी के एक बड़े भारी शास्त्रवेत्ता विद्वान् ठहरते हैं। विजयनगर के महाराजाधिराज हरिहर तथा बुक्क के समय में वैदिक धर्म का जो पुनरुद्धार तथा प्रतिष्ठा हम देखते हैं उस के लिए सब से अधिक श्रेय माधवाचार्य को है। वैदिकमार्गप्रतिष्ठापक हरिहर की आज्ञा से माधवाचार्य ने चारों वेदों का भाष्य अपने अनुज सायणाचार्य से लिखवाया। इस कार्य के लिए हम लोग आप के अतीव अनुगृहीत हैं। यदि आज सायणभाष्य उपलब्ध न होता, तो वेदों का जो कुछ थोड़ा-बहुत अर्थ तथा रहस्य हम समझ पाते हैं, वह भी असम्भव हो जाता। अतः विद्वत्समाज सदा के लिए इस महापुरुष का ऋणी रहेगा।

तस्यास्ति शस्तयशसो नयशौर्यमुख्यैः
ख्यातो गुणैर्जगति माधव इत्यमात्यः।
यो ब्रह्म जिह्मदमनाधिकृतः पवित्रं
क्षत्रं च जैत्रमभयाय भुवो बिभर्ति ॥
कस्यचित्।

माधव नाम के एक दूसरे विद्वान् ब्राह्मण ने, विजयनगर के अनेक महाराजों के समय में मन्त्री का काम करते हुए, राज्य-विस्तार करने में अधिक सहायता पहुँचाई थी। ये महाशय मन्त्री थे। अतः माधवाचार्य से इन की भिन्नता दिखलाने के लिए शिलालेखों तथा शासन-पत्रों में ये माधव मन्त्री या माधव अमात्य कहे गए हैं।

इन के पिता का नाम चावुण्ड भट्ट तथा माता का माचाम्बिका और गोत्र आङ्गिरस था[२]। इन के गुरु का नाम काशीविलास क्रियाशक्ति था जो एक महान् शैवाचार्य प्रतीत होते हैं[३]। माधव मन्त्री का जहाँ कहीं उल्लेख है वहाँ इन के गुरु का भी नाम आदर के साथ उल्लिखित हुआ है। माधव अमात्य अद्वैत मत के प्रतिष्ठापक थे। शिलालेखों में लिखा है कि उस समय अद्वैत मत––उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित वेदान्तमार्ग––छिन्न-भिन्न हो गया था। माधव ने उसे फिर उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कराया। इसी लिए इन की उपाधि 'उपनिषन्मार्गप्रवर्तकाचार्य' थी। इस उपाधि-धारण से इन की विपुल वेदान्ताभिज्ञता का पता चलता है। उपनिषत् मार्ग को परिष्कृत करने की उच्च भावना से प्रेरित हो कर ही अमात्य माधव ने स्कन्दपुराण के अन्त-

---

[१] दे० इं० आ० जि० ४५, पृ० १८—१६; इं० हि० क्वा० जि० ८, सं० ३, पृ० ६११—१४।

[२] गोत्रे योऽङ्गिरसां प्रचण्डतपसश्चावुण्डपृथ्वीसुर-
प्रष्ठादुद्भवमेत्य नीतिसरणौ दत्तां धियं धैषणीम्।
सूरिः सन्नपि सर्वदानवमनःप्रह्लाददानोचितां
यद् भूयः कवितां व्यनक्ति तनुते नो कस्य तेनाद्भुतम् ॥

[३] क्रियाशक्तिर्गुरुः साक्षात् तेजसा श्रोत्रियम्बकः।

क्रियाशक्ति चतुर्दश शताब्दी के सिद्ध शैवाचार्य थे। कहीं-कहीं ये विजयनगर के महाराज हरिहर द्वितीय के कुलगुरु कहे गए हैं—विरूपाक्षः साक्षात् कुलपरमदैवं कुलगुरुः
क्रियाशक्त्याचार्यः कलिकलभकण्ठीरवयशाः ॥
इं० आ० ४६, पृ० १८।

र्गत ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादिका सूतसंहिता की 'तात्पर्यदीपिका' नामक विशद व्याख्या की है। इस टीका का अनुशीलन करने से स्पष्ट पता लगता है कि माधव मन्त्री एक बड़े भारी दार्शनिक विद्वान् थे। इस ग्रन्थ के आरम्भ में भी माधव ने अपने गुरु का सादर स्मरण किया है[1]। विद्वान् होने के साथ-साथ ये शिव के बड़े भारी उपासक थे। कितने ही स्थानों में इन्हों ने शिव-मन्दिरों की स्थापना की थी।

अब माधव की क्रियाशीलता पर दृष्टिपात कीजिए। १३४७ ई० में जब हरिहर प्रथम के अनुज मारप्प अपरान्त प्रदेश पर शासन कर रहे थे, तब माधव उन के मन्त्री थे। कुछ काल के अनन्तर हरिहर के पीछे बुक्कराय विजयनगर के शासक हुए। तब माधव उन्हीं के अमात्य बन कर वहीं निवास करने लगे। इतिहास के देखने से पता चलता है कि इसी समय मुसलमानों ने जा कर गोवा पर कब्ज़ा कर लिया तथा पूरे पश्चिमी घाट पर अपना शासन जमाया। इन दुष्टों को उखाड़ने के लिए माधव मन्त्री भेजे गए। इन्हों ने अपने प्रबल प्रताप तथा सैन्यबल से विधर्मी यवनों का समूल नाश किया तथा हिन्दू देवताओं की पूजा-प्रतिष्ठा को फिर से आरम्भ किया[2]। महाराज ने प्रसन्न हो कर १३६८ ई० के आसपास इन्हें वनवासी प्रान्त (जयन्तीपुर) का शासक बनाया। माधव ने बहुत दिनों तक यहाँ शासन किया तथा अपनी नीतिकुशलता से विजयनगर के सम्राट् की समृद्धि में योगदान दिया। १३९१ ई० में माधव मन्त्री की मृत्यु हुई। शिलालेख में माधव 'भुवनैकवीरः' कहे गए हैं जिस से इन के विपुल शौर्य तथा क्षात्रतेज से सम्पन्न होने की बात सहज में ही जानी जा सकती है।

ऊपर माधवाचार्य तथा माधव अमात्य के विषय में ज्ञात घटनाओं का वर्णन किया गया है। इस वर्णन से स्पष्ट मालूम पड़ेगा कि मायण तथा श्रीमती के पुत्र, विद्यातीर्थ भारतीतीर्थ तथा श्रीकण्ठ के शिष्य, सायण तथा भोगनाथ के ज्येष्ठ भ्राता, हरिहर प्रथम तथा बुक्कराय के सलाहकार तथा गुरु, 'कालमाधव' 'न्यायमाला-विस्तर' आदि ग्रन्थों के रचयिता, संन्यास ग्रहण करने पर विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध होने वाले माधवाचार्य चावुण्ड भट्ट तथा माचाम्बिका के पुत्र, क्रियाविलास क्रियाशक्ति के शिष्य, सूतसंहिता की 'तात्पर्यदीपिका' व्याख्या के रचयिता, अपने बल से गोवा से तुरुष्कों को मार भगाने वाले, वनवासी के शासक, उपनिषन्मार्ग-प्रवर्तकाचार्य माधव अमात्य से सर्वथा भिन्न हैं। अतः माधव मन्त्री की विजय-वार्ताओं का माधवाचार्य पर आरोप करना नितान्त अनुचित है।

---

[1] श्रीमत्काशीविलासाख्यक्रियाशक्तीशसेविना।
श्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवानिष्णातचेतसा ॥ २ ॥
वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा।
तात्पर्यदीपिका सूतसंहितायां विधीयते ॥ ३ ॥
आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थमाला २५।

[2] आशान्तविश्रान्तयशाः स मन्त्री दिशो जिगीषुर्महता बलेन।
गोवाभिधां कोंकणराजधानीमन्येन मन्येऽरुणदर्णवेन ॥
प्रतिष्ठितांस्तत्र तुरुष्कसङ्घान् उत्पाट्य दोष्णा भुवनैकवीरः।
उन्मूलितानामकरोत् प्रतिष्ठां श्रीसप्तनाथादिसुधाभुजां यः ॥
ज० बं० रा० ए० सो० ४, पृ० ११५।

आहोम राज्यर शासन-प्रणाली

श्रीयुत मथुराप्रसाद गोस्वामी, गुवाहाटी (गौहाटी, आसाम)।

[आसाम के आहोम-वंशी राजाओं ने लगातार ६०० वर्ष सफलतापूर्वक राज्य किया है। उन की शासन-प्रणाली का अध्ययन करना तथा आसाम की तात्कालिक सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति से उस का सामञ्जस्य कर के देखना इस लेख का उद्देश्य है।

इन आहोम राजाओं का विरुद स्वर्गदेव था। युद्ध, सन्धि और क़ानून बनाने का सब अधिकार इन के हाथ में था। पर इस का मतलब यह नहीं कि आहोम राजा स्वेच्छाचारी और निरङ्कुश थे। शासन में उन के अधिकार समसामयिक मुग़ल-सम्राट् अकबर या औरङ्गज़ेब की अपेक्षा बहुत कम और सीमित थे। पर आसाम के गोहांइयों (मन्त्रियों) के हाथ में बहुत शक्ति थी। मुख्य तीन गोहांइयों की सलाह से ही राजा का चुनाव होता था। आहोम राजा वंश-परम्परागत न होते थे। कुछ निश्चित घरानों (फइत) के सब से योग्य राजकुमार में से ही राजा चुना जाता था। राजा के दुष्कर्मी या अत्याचारी होने पर मन्त्रियों को उसे गद्दी से उतार देने का भी अधिकार था। आसाम के इतिहास से इस प्रकार के उदाहरण दिए जा सकते हैं। योग्य शासक न मिलने पर कभी-कभी मन्त्रि-मण्डल मिल कर स्वयं भी शासन करता था। एक बार इसी तरह गोहांइयों ने राजा सुकाफ़ा के बाद उस के पुत्र ताउशिलाई को गद्दी न दी; और भी कोई योग्य कुमार उन की नज़र में न था; अतः उन्हों ने कुछ काल (१३११—२० ई०) तक स्वयं ही शासन चलाया। लोरा राजा ने बहुत अनाचार और उत्पीड़न आरम्भ कर दिया था। तङ्ग आ कर गोहांइयों ने परस्पर सलाह की और उसे उतार कर कामरूप के एक कुमार गदापाणि को राज्य सौंप दिया।

इस प्रथा के कारण कभी-कभी मन्त्रि-मण्डल के विभिन्न सदस्य अपने अनुकूल कुमारों को गद्दी देने का जतन करते थे। ऐसे मौक़ों पर ख़ूब षड्यन्त्र रचे जाते थे। पर इन सब का स्पष्ट प्रभाव देश की सार्वजनिक शान्ति पर कभी देखने में नहीं आया। सरदारों में ही ये बातें चला करतीं; प्रजा से इन का कोई सम्पर्क न था। आहोम शासन-तन्त्र एक वैध शासन-प्रणाली थी। राजा भी शासन-तन्त्र का एक मुखिया मात्र था। यों कहने को तो सम्पूर्ण शक्ति उस के पास थी; पर उसे राज्य की चली आती हुई प्रथाओं का पालन करना पड़ता था। उस के विरुद्ध चलने या नई प्रथा चलाने का सामर्थ्य उस के पास न होता क्योंकि उस की कोई अपनी स्थायी सेना न होती थी। रुपए का चलन भी वहाँ प्रायः नहीं था। पर इस का मतलब यह नहीं कि आहोम राज्य की सामरिक शक्ति कम थी। यदि ऐसा होता तो आसाम ६०० साल तक लगातार अपनी स्वतन्त्रता क़ायम न रख सकता। इस सम्पूर्ण समय में मरान, कछाड़ी और मुसलमानों के उपद्रवों और आक्रमणों का सामना उन्हें करना पड़ता रहा। मुसलमानों ने १३ बार आसाम पर आक्रमण किया, पर हर बार उन्हें असफल होना पड़ा। विना एक सशक्त सैनिक बल के किसी भी राज्य का उस अवस्था में चिरकाल तक बना रहना असम्भव होता।

आहोमों की सामरिक अवस्था बड़ी उत्तम थी। उनके शत्रु मुसलमानों ने उन के अनुशासन और रणकुशलता की बड़ी प्रशंसा की है। गोहांई, फुकन, बरुआ, हजारिका, सैक्या, बऽडा, सब उन के सैनिक अधिकारियों के नाम हैं। इन का युद्ध के अवसर पर ससैन्य युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित रहना अनिवार्य था। साधारण सैनिकों को पाइक अर्थात् पदाति कहते थे। ये सब साधारण प्रजा में से होते थे। इन्हें वेतन-स्वरूप २ पूरा (८ बीघा) ज़मीन मिलती थी। हर चार पाइकों में से एक को राजसेवा में उपस्थित रहना आवश्यक था। उस की अनुपस्थिति में उस की भूमि आदि का प्रबन्ध शेष तीन पाइकों को करना पड़ता था। इस २ पूरा ज़मीन पर पाइकों का स्वाभाविक अधिकार था। एक नियत आयु के बाद उसे पाने का अधिकार हरएक पाइक को था। शान्ति के समय इन पाइकों का काम राजा के घर के काम करना, सड़कें बनाना, तालाब खोदना और शस्त्र आदि बनाना होता था। सरदारों और उच्च पदाधिकारियों को वेतन-स्वरूप राज्य से पाइक मिलते थे, जो उन के खेतों में तथा अन्य

काम करते थे। साधारणतया हम इसे सामन्त-पद्धति कह सकते हैं, पर यूरोप की सामन्त-पद्धति से इस में फ़र्क़ था। वहाँ रैय्यत सामन्तों के अधीन रहती थी। पर आहोम शासन-प्रणाली के अनुसार हरएक व्यक्ति पर राजा का सीधा अधिकार था। सामन्तों को राजा की ओर से परिचर आदि मिलते थे। अतः इन का उपयोग राज-शक्ति के ख़िलाफ़ नहीं किया जा सकता था। भूमि और मनुष्य दोनों पर राजा का एक समान अधिकार समझा जाता था। सुव्यवस्था के लिए पाइकों को कई जत्थों में बांटा जाता था। जत्थेदार को बड़ा और सैक्या कहते थे। छोटे-छोटे अपराधों का फ़ैसला ये ही लोग करते थे। इन्हें चुनने का अधिकार पाइकों को था। वे जब चाहते उन्हें पदच्युत कर अपने में से ही किसी दूसरे को इन पदों पर नियत कर लेते थे। बड़े-बड़े अपराधों के मुक़दमे राजधानी के बरुआ फुकन आदि उच्च पदाधिकारियों के पास जाते थे।

आहोम राजाओं ने अपने यहाँ रुपए का चलन न होने से व्यापार पर कभी ध्यान नहीं दिया। उन की नीति सदा कृषि की उन्नति की ओर रहती थी। सड़कें बनाना, तालाब खुदवाना, तथा अन्य प्रकार से खेती की उन्नति करना, यही उन की आर्थिक नीति थी।]

सामाजिक आरु राजनैतिक अनुष्ठान-बिलाक चिरकाल एके दोरे ना थाके। अवस्था आरु कालभेदे सेइ-बिलाक लरचर करा आवश्यक हय। जि जातिये पुरनि अनुष्ठान-बिलाकते सदाय खामोचमारि धरि थाकिब खोजे, सेइ जातिर अधःपात हवलै बेशि दिन ना लागे। आहोम-बिलाके जे च'श' बछर काल आसामत अति सुख्यातिरे राजत्व करिब पारिले, तार एटा कारण तेओँलोकर उदार आरु गुणग्राही स्वभाव। धर्म आरु समाज सम्बन्धीय आहोमर भालेमान निजा अनुष्ठान आछिल। आसामत किछुदिन थकार पिछते सेइ-बिलाक एरि दि आहोम-बिलाके तार ठाइत हिन्दू अनुष्ठान ग्रहण करिले। राखिले मात्र तेओँलोकर राज्यशासन-प्रणाली। चुकाफा आसामलै आहि एइ देशत जि शासन-प्रणाली चलाले, चन्द्रकान्तसिंहस्वर्गदेवेओ प्राय सेइ एके प्रणालिरेइ राजकार्य चलाइछिल। च'श' बछर स्वच्छन्दे चलि-अहा एइ शासन-प्रणालीटोनो कि, तार लगत आसामर सामाजिक आरु राजनैतिक अवस्था खाप खाइछिलने नाइ—ताके आलोचना करा आमार प्रबन्धर उद्देश्य।

आहोम-रजा स्वर्गदेव आहोम शासन-प्रणालीर अधिपति आछिल। समर, सन्धि, आइन-कानून आदि राज्यर यावतीय काम स्वर्गदेवर आज्ञा-मते हैछिल। डाङरीया आदि विपया-सकलक स्वर्गदेवे पातिछिल, आरु जगर पाले तेओँलोकक स्वर्गदेवे भाङिबओ पारिछिल। एई बुलि जे आहोम रजा स्वेच्छाचारी आछिल, तेने न हय। मोगल सम्राट् आकबर वा औरङ्गजेबर तुलनात आहोम रजार अधिकार नानाप्रकारे सीमावद्ध। मोगल सम्राटर इच्छार विपरीते चलिब परा विषया मोगल राज्यत नाछिल। मन्त्री-सकल सम्राटर अनुग्रहापेक्षी साधारण कार्यकारक (Secretaries) माथोन। तेओँलोकर निज बुद्धि आरु विवेचना मते राज्यर कोनो कामके करिबपरा क्षमता मोगल मन्त्री-सकलर नाछिल। आजिकालिर आमेरिकार युक्त-प्रदेशर चेक्रेटरी-सकल मोगलमन्त्री-सकलर अनुरूप। आहोम गोहाँइ तिनिजना एओँलोकर तुलनात वर क्षमताशाली विषया। एकगोट हले तेओँलोके रजा भङ्गा पता करिब पारिछिल, आरु उपयुक्त कोँवर ना पाले राजकार्यके चलाइछिल। आसामर बुरञ्जी लिखक गेइट चाहाबे एइ नियम-बिलाक केवल नामत हे थका बुलि कय। प्रतापसिंह आरु गदाधरसिंहर दरे पराक्रमी आरु लरा रजा आरु कमलेश्वरसिंहर दरे दुर्बल रजार दिनत शासन-नियमर अनेक व्यतिक्रम घटिछिल बुलि तेखेते कैछे। एने व्यतिक्रम भालकै चाले सकलो देशर शासन बुरञ्जीते पोवा जाब। टूडर वंशी अष्टम हेनरीर दिनत अखण्ड प्रतापी पार्लामेंट सभाक अति वशवर्ती अवस्थात देखा जाय। किन्तु सेई पार्लामेंट सभाइ एसमयत शासनतन्त्रर .बलत निज प्रभाव देखुवाइ चार्लस रजार प्राणदण्ड विधानो करि-

छिल। आसामतो सेई दरेई सबल रजार हातत परि दुर्वल मन्त्रीर निज क्षमता केतिआबा केतीआबा तलपरा एको आचरित हब लगीया कथा न हय। किन्तु एने व्यतिक्रम थका बुलिएइ आहोम रजा स्वेच्छाचारी वा मइमत बुलिले भूल हब।

मन्त्रीर हातत रजा भङ्गापता क्षमता थकाटो भारतर इतिहासत एको नतुन कथा न हय। भङ्गाटो एरिलेओ रजा पतार उदाहरण पुरनि भारतर हिन्दू राज्य-बिलाकत अनेक देखा जाय। अध्यापक जायसवालर ‘हिन्दू पोलिति’ नामर ग्रन्थत रजा निर्वाचन सम्बन्धे बहलाइ आलोचना करा हैछे। प्राचीन भारतत रजा बछा मन्त्रीसकलक राजकृत बुलिछिल। पालीभाषार कोनो एक सूत्रमते राजकृत शब्दर अर्थई मन्त्री बुलि जायसवाले लिखिछे।

वाछनि प्रथा आछिल बुलि गोहाँइ-सकले जरे तरे परा डेका अनि रजा पातिब नोवारिछिल। गोटा-दियेक निर्दिष्ट फैदरपरा कोवँर आनि सदाय राजपाटत बहुवा हैछिल। सेइ फैद केइटार कोवँर-सकल भितरत जाके उपयुक्त बुलि गोहाँइ-सकले सेवा करिछिल, तेवें सिंहासन पाइछिल। योग्य कोवँर नापाले मन्त्री-सकले निजे राज्य चलाब परा बिधान आछिल। अध्यापक सूर्य्यकुमार भुञादेवे सम्पादन करा स्व० हरकान्त बरुवार ‘आसाम बुरञ्जीर’ १७ पृष्ठात एइ दरे कैछे। “पाछे मन्त्रीसकले आशै भाल ना पाइ चतुर्थ चुखाङफा राजार राजनीर गर्भत जात ताओचुलाइ कोवँरक रजा ना पाति १३११ शकर परा १३२० सकलैके राज्यशासन करि आछिल।” एइ धरणर मन्त्रिशासन आहोम राजत्वत केइबा बारो हैछिल। देशर सुशासनर निमित्ते मन्त्री-सकलर हातत एने असाधारण क्षमता दि आहोम शसनतन्त्रइ एटा डाङर काम करिछिल। एने दिहा नथका हले दुर्वल रजाइ पाइ आहोम राज्य काहानिवाइ चारखार करिलेहेतेन। अनुपयुक्त आरु दुर्वल कोवँ-रक राजपाट निदियार उपरिओ अत्याचारी आरु अयोग्य रजाक भाङ्गि न रजा पता क्षमता मन्त्री सकलर आछिल। लरा रजार अविचार आरु उत्पीडन सहिब नोवारि डाङरीया-सकले केनेकै गदापाणि कोवँरक राजपाट दिले एइ विषयेओ हरकान्त बरुवार बुरञ्जीत लिखा आछे। “लरा रजाइ अनेक कोवँर-सकलक धरि धरि आनि दण्डबन्ध करि अनेक अनीति कर्म करिब धरिले। सेइ देखि बुढ़ागोहाँञि प्रभृति डाङरीया-सकले मनत बिरक्त है अन्य एक जनके रजा पाति लवर मनस्थ करिले, जेहेतु राज्य भङ्गापता करार भार डाङरीया-सकलर आछिल। पाछे डाङरीया-सकले रजा हवर योग्य लोक नेदेखि गदापाणि कोवँर कामरूपत थका शुनि तेवेंइ वइ रजा हवर उपयुक्त हेन जानि रजा पातिलै जावर कारणे बरफुकन प्रभृतिलै लिखात......बन्दर बरफुकने सकलो फुकन राजखोवारे परामर्श करि गदाधर कोवँरके योग्य हेन जानि रजालोवा स्थिर करि...रजा होवा बुलि सेवा करिले।” (पृष्ठ ५६)

सकलो समयते उपयुक्त कोवँर पोवा ना जाय। केतियावा-केतियाबा प्राय सकलो कोवँरर गाते एटा न हय एटा दोप थाके। एने स्थलत काक एरि काक धरिब डाङरीया-सकलर एटा समस्या है परे। स्वभावते प्रत्येक जनेइ आपोनार मनेरे मिला कोवँर एजन राजपाटत पाले भाल पाय, कारण तेतियान रजाइ तेओँक आन दूजन गोहाँ-इतकै वेंचि अनुग्रह देखुवाब, आरु मन्त्रीसभात तेओँर क्षमता आरु प्रतिपत्ति बहुत गुणे वाढ़िब। गतिके समान गुनी कोवँर केबाजनो थाकिले गोहाँइ-सकले निज निज स्वार्थर अनुरोधत राजपाटर कारणे कलिकन्दल करे। एने कन्दलत साधारण प्रजार कोनो सम्बन्ध नाछिल; डाङरीया आरु विषया-सकलेहे एइ-बिलाकत योग दिछिल। समूह प्रजार सहायेरे देखादेखि युद्धत राजपाट लोवार आशा नेदेखि कोवँर-सकले गोहाँइ-सकलर लगत योग है दलादलि करि नाना अभिसन्धिर सूत्रपात करे। एने धरणर अभिसन्धि आहोम राजत्वत अनेक बार हैछिल, आरु

अनेक बार एनें चक्रान्तत परि कोवँर आरु डाङ्गरीया सकले अनाहकत चकु, काण, आनकि समयें समये प्राण पर्य्यन्त हेरुवाइछिल।

निर्वाचन नीति थका कारणे सिंहासन लै प्रतियोगिता होवाटो स्वाभाविक। एने अरियाअरि आजिकालिओ हय, किन्तु दलबद्ध राजनैतिक मत नचला कारणे आहोम राज्यर प्रतियोगिता डाङ्गरीया आरु कोवँरर भितरते आवद्ध आछिल। पराजित दलक दमाइ राज्य निरापद करिवर निमित्ते न राजा आरु तेंओँर दले गुरु व्यवस्था करिब लगा हैछिल। वास्तविकते शासन तन्त्र-मते चलिब खोजा रजाइ सेइ दिनत एने नीति अवलम्बन न करि नोवारेंओ। गोहाँइ-सकलर सन्मति बिने जेतिआ रजाइ कोनो काम करिब नोवारे, सेइ गोहाँइ-सकलर भितरत जाते रजार विरुद्धपन्थी कोनो डाङ्गरीया ना थाके ताले चोवा रजार घाइ कर्त्तव्य। नतुवा शासन विषयत सदाय ऐक्य मत पोवा टान हब, आरु आनकि सिंहासनेइ निरापद न हब। सेइ कारणे प्रत्येक आहोम-रजा शिङ्गरीघरत उठियेंइ आगर विषया भाँगि निजर बाछनि मते विषया पातिलोवा देखा जाय। राजद्रोह आदि गुरु अपराधर चेक थका पुरनि विषयार विषयसम्पत्ति काढ़ि आनि, प्राणदण्ड शास्ति दियारो उदाहरण आछे। दायित्वपूर्ण इङ्गराज शासनप्रणालीत एकालत एइ दरेंई मन्त्रीर दोष विचार करि प्राणदण्ड दिया हैछिल। आधुनिक राजनीतिए मात्र प्राणदण्डर व्यवस्था गुचाइछे।

अभिषेकर समयत रजाक नीतिवाक्य शुनुवा नियम आछिल। तुंखुङीया बुंरजीर ४१ पिठित बुढ़ा गोहाञे न रजाक शुनुवा उपदेश खिनि एइ दरें दिछे—"तोमाक महाप्रभु राजपदक दिले। सन्तक पालन, दुष्टक दण्डि, प्राणीर सुख दुख विचार तोमार इहे धर्म, आरु डाँगर वृत्तर आशॅयत जेने कै ताप आदिक नापाय, ककाई रजा-देवर आश्रयते तेनेंकै देवको देवको देशर प्रजार दोपे गुणे ना पाइछिल। आजिं धरि परमेश्वरें दोष गुणर आश्रय करालें। जि कार्य्यर परा दोष हइ, जि कार्य्यर परा गुण हइ आको स्वर्गदेवे नियम करिब लागे। आरु तोमार तिनटि भाई आछे, इ-बोरको पुत्रवते प्रतिपाल करिब लागे। इ-बोरेंयो पितृबोधे सेवा करिब लागे। पाछ लैको वर-सरु क्रमे प्रवर्त्तिब लागे। आरु तिपाम रजाको नेरिबा, पुत्रवतें स्नेह दया करिबा।" बुढ़ा गोहाँइर एइ उपदेशते रजार घाइ कर्त्तव्य खिनिर एटा आभास पोवा जाय। उपदेशर भाव लै चाइ आहोम रजाक स्वर्गदेव बुलिलेओ तेंओँर जे कोनो देवदत्त अधिकार थका बुलि स्वीकार करा न हैछिल, सेइ विषयें कोनो संदेह नाथाके। स्वर्गदेव उपाधिटो हिन्दुवे दिया, आहोम रजा-सकले आदिरे परा देववंशी बुलि घोषणा करिछिल, आरु हिन्दु-बिलाकेओ आहोम रजाक देवअंशी बुलि कै स्वर्गदेव उपाधिरे विभूषित करिछिल। किन्तु 'सिंहासनत उठार दिनरे परा स्वर्गदेवे प्रजार दोष-गुणर भागी हब लागे। देवतात उत्पत्ति हलेओ स्वर्गदेउ एके बारेंइ दायित्व-रहित न हय। देवदत्त अधिकार थका हले आहोम रजाक सिंहासनर परा नमाब परा क्षमता मन्त्री-सकलक दिब नोवारिले हेतेन, कारण देवतार परा अधिकार पोवा रजाइ मन्त्रीर वश है चलिब नोवारे। किन्तु आहोम शासनतन्त्रइ देवदत्त अधिकार ना मानिछिल, आरु सेइ कारणेइ मन्त्री-बिलाकर हातत विशेष क्षमता दि रजार हात भरि बान्धि दिछिल।

आहोम शासनविधिमते राजसिंहासनत जेनेंकै कारो बापतीया अधिकार नाछिल, राजक्षमताओ सेई दरें कोनो रजारं व्यक्तिगत स्वत्व बुलि धरा न हैछिल। पुरनी हिन्दु राज्यर नीतिमते राजक्षमता चुक्तिवद्ध अधिकार। राजभार पाइ रजाइ निज स्वार्थ एरि प्रजार हितर निमित्ते चेष्टा करिब लागे। आहोम-बिलाकर मतेंओ राजपद ठिक पुरनि हिन्दूयुगर दरें एखन विश्वास करि दिया भार। नियम-मते बहन करिब नोवारिलें कोनो नृपतियेंइ एइ

भार चिरकाल दाबी करिव नोवारे। अनुपयुक्त जेन देखिले डाङरीया-सकले एजन रजार मूरर परा खहाइ नि राजभार आन जनर हातत दियाटो आहोम राजतन्त्रर एटा अति स्वाभाविक फल बुलि धरिव लागिव। यथार्थते आहोम शासन-प्रणालीर राज्यर शेष अधिकार (sovereignty) रजा, नाइवा गोहाँइ-सकलर हातत नाछिल। आमेरिकार युक्त-प्रदेशर दरे एइ अधिकार शासनतन्त्रते निवद्ध। गोहाँइ-सकले शासनतन्त्रर पराहे रजा भङा पता क्षमता पाइछिल, आरु रजायो शासनतन्त्रे अङ्ग हिछावेहे राजकार्यत प्रधान क्षमता चलाव पारिछिल। राज्यर सुशासनर निमित्ते शासनतन्त्रत वन्धा छटा नियम आछिल, सेइ नियम उलङ्घा करिले रजायो राजक्षमता चलाव नोवारिछिल आरु मन्त्री-सकलेओ रजा भङा पता करिबलै वल पाइछिल। एतेके आहोम मते रजा, मन्त्री, डाङरीया सकलो समाने शासनतन्त्रर अधीन।

आहोमर एइ कटकटीया शासनतन्त्र लिपिवद्ध अवस्थात नाछिल। देश दस्तूर आरु पूर्वापर आचार मते राजकार्य ओ चलोवा हैछिल। एइ आचार-विलाकर सकलो देशर मानुहर माजतेइ अद्भुत क्षमता देखा जाय। जनसाधारणे सहजे आगर धरण करण एरि नतुन नीति नियम लव नोखोजे, आरु रजाइ किवा कारणे न प्रथा सुमाव खुजिलेओ अशेष चेष्टार फलत हे सेइ प्रथा चलाव पारे। आहोम राज्यर नीति-नियम-विलाक प्राय सदाय एकेइ आछिल। तार कारण एटा एइ जे आहोम रजार सैनिक-वल एने नाछिल जे सहजे कोनो एटा पुरनि नियम गुछाइ वलेरे प्रजार माजत नतुन नियम चलाव पारे। आहोम राज्यत स्थायी फौज रखा दिहा नाछिल, आरु स्थायी फौज ना राखिले रजार क्षमता स्वतते सीमावद्ध।

स्थायी फौज रखार दिहा नाछिल यदिओ आहोम-विलाकर राज्य रक्षार निमित्ते एटा अति सुश्रृङ्खल सामरिक व्यवस्था आछिल। तेओँलोके राज्य लवरे परा शेषलैके प्राय सकलो समयते देशत एटा न हय एटा उत्पात आछिल। मराण, कछारी, मछल्मान आदिर उपद्रवर माजत देशत शान्तिरक्षा करि प्रजाक सुखे सन्तोषे रखा साधारण शक्तिर काम न हय। एवार न हय दुवार न हय चैध्य वार मछल्माने आसाम आक्रमण करे, आरु एइ चैध्यवारेइ आहोम-विलाके शत्रु लगत जुजि देशर स्वाधीन जीवनरक्षा करिछिल। मछल्मान-सकले निजे असमीया सेनाक शलागि गैछे। आचल कथा, आसामर सामरिक व्यवस्था एने परिपाटी आरु टान आछिल जे इङ्गितते गोटेइ जातिटोवेइ काचिपारि जुजलै जाव पारे। सेइ कारणेइ देखा जाय जे आगर परा गुरि लैके गोटेइ आहोम विषया-विलाक सामरिक मर्य्यादार अधिकारी। गोहाँइ, फुकन, वरूवा, हाजरीका, शईकीया, वड़ा सकलोटि सामरिक कर्मचारी। युद्धर समयत तेओँलोके भागे भागे सेना लै युद्धक्षेत्रत उपस्थित हव लागे। एइ सेनार परिमाण अनुसारे उपरुवा कर्मचारी-सकलर मान-मर्य्यादाओ कम-वेच हय। सेना-विलाकक पाइक बोला होइछिल। पाइक शव्दर अर्थ पदातिक। पाइक-विलाकर भितरत सकलोवे सदाय जूज करिवलै जाव ना लागे। आचलते पाइक-विलाक साधारण रायत। आजिकालिर दरे सेइ दिनत धनर व्यवहार कम थकाकारणे रजा घरर काम करिवलै मानुह पोवा टान आछिल। गतिके रजाइ रायतर परा माटिर कर न लय। खाजनार सलनि प्रत्येक चारिजन पाइकर भितरत एजने गै रजाघरत काम करि दिया नियम आछिल। रजाघरत खाटि दियाबावे पाइके पति दुपुराकै माटि पाइछिल। जि जन पाइक रजाघरत खाटिवलै जाय तेओँर माटि बारि, खेतिबाति बाकी तिनिजने चाय। शान्तिर समयत रजाघरर काम सहज आछिल। खेतिबाति करा, आलि-पदुली तोला, पुखुरी खना आदियेइ पाइकर घाइ काम। जि-बिलाक पाइक रजाक ना लागे, सेइ-बिलाके गै डाङरीया आदि विषया-विलाकर घरत काम करि दिया व्यवस्था आछिल। गतिके डाङरीया-सकले-आजिकालिर उच्च कर्मचारीर

दरमहा ना पाइछिल। तेओँलोकर पारिश्रमिक हिछावे यावतीय काम करिबर निमित्ते रजाघरर परा किछुमान वनुवा पाइछिल। एइ बनुवा-बिलाकेइ युद्धर समयत साजिपारि निज निज विषयार अधीने गै जुज करिब लागिछिल।

माटिर खाजनार सलनी रजा वा राजकर्मचारीर घरत काम करा नियमटो इंग्लण्डतो एकालत आछिल, ताके "फिउडेलिज्म्" बोलिछिल। किन्तु आसामर पाइक-बिलाक इंग्लंडर "भिलेन" प्रजार अनुरूप यथार्थते नाछिल। इंग्लंडर "भिलेन" रायत-बिलाक सेइ देशर डाङर डाङर डाङरीया वा लर्ड-बिलाकर प्रजा। लर्ड-बिलाकर आज्ञामते तेओँलोके जुज करिबलै जाब लागिछिल। तेओँलोके जि माटि खाइछिल सि लर्ड-बिलाकर सम्पत्ति। किन्तु असमीया पाइक-बिलाक आरु आसामर माटि उभयेइ असमीया रजार निजा सम्पत्ति। "सि-सकलर मते (आहोमर मते) रजा जे केवल भूमिर अधिकारी एने न हय, मानुहरो अधिपति। उभयके दान आरु हस्तान्तर करिब पारिछिल।" आसाम बुरञ्जी—गुनाभिराम बरुवा—२७३ पृ०। पाइक-बिलाकरो निजा भोगर माटि दुपुरा पोवा एटा स्वत्व बुलि रजाइ स्वीकार करिछिल, आरु सेइ कारणे पाइक प्रजाइ निर्दिष्ट वयसत भरिदिलेइ खेलर विषयार परा निजर भागर माटि दावी करिब पारिछिल, राबिनछन चाहाबे तेओँर 'एकाउण्ट अव् आसाम' नामर कितापत लिखिछे॰।

आसामर एइ "फिउडेल" प्रणालीर एटा डाङर गुण ए जे आछिल जे एइ देशर प्रजा-बिलाक सदाय रजार अधीनेइ आछिल। इओरोपर फिउडेल राज्यर डाङरीया-सकलर दरे असमीया पाइकक कोनो डाङरीयाइ रजार विरुद्धे तुलि देशत उत्पात करिब नोवारिछिल। कालक्रमत जेतिया धनर प्रचलन हल गा-खाटनिर ठाइत धन दि माटि खोवा नियम चलिल।

पाइक-प्रणाली थकार कारणे आहाम आसामत राजकोषर अवस्था कोनो समयते दुर्बल हबलै ना पाले। देशर दुर्योगर समयत आहोम रजाइ प्रजाक करकाटलेरे चेपा निदि प्रजार हतुवाइ राज्यर यावतीय काम कराइछिल। शिल्प, वाणिज्यर बहुल विस्तारलै बाट नाचायो आहोम रजाइ जयसागर, शिवसागरर दरे पुखुरी, चेउनी, धोदर आलीर दरे गड़ आरु नानान दौल, देवालय कराइ राज्यर समृद्धि बढ़ाब पारिछिल। आन फाले रजा आरु प्रजार भितरत सदाय घनिष्ठ सम्बन्ध आछिल। राज्यर यावतीय कार्यते प्रजार स्वार्थ थका बुलि प्रजाइ सहजे अनुमान करिब पारिछिल, सेइहे विपदर समयत आहोम रजाइ गोटेइ प्रजारे अकपटीया सहाय आरु समर्थन पाइछिल।

चलोवा-करोवार सुबिधार कारणे पाइक-बिलाकक खेले खेले भगोवा हैछिल। खेले खेले बड़ा, शइकीया आदि पाइकर उपरत विषया आछिल। साधारण अपराधी-बिलाकर दोषादोष विचार करि एइ कर्मचारी बिलाकेइ दण्ड विहिब पारिछिल, किन्तु डाङर अपराधीर विचार आरु दण्डकरार भार बरबरुवा आदि राजधानीर विषया-सकलर हातत। कोनो खेलर विषया अत्याचारी है पाइकर उपरत उपद्रव करा जेन देखिले पाइक-बिलाक एकमत है तेओँक भाङ्गि न विषया पातिब पारिछिल, एइ धरणर निर्व्वाचन क्षमता आजिकालिर अति उन्नत गणतन्त्र प्रधान देशतो विरल। बड़ा, शइकीया, हाजरिका आदि विषयार हातत खेलर ओपरत यावतीय क्षमता दिया थाके, तेने विषयाको जि शासनतन्त्र-मते प्रजाइ भाङ्गिब पातिब पारिछिल सेइ शासनतन्त्रर श्रेष्ठता-सम्बन्धे किबा सन्देह थाकिब पारेने? मोटते कबलै गले आहोम शासनतन्त्रत गणतन्त्रर सकलो लक्षणेइ विद्यमान आछिल। देशर सुशासन आरु प्रजार व्यक्तिगत स्वाधीनतार कोनो प्रकार क्षति नोहोवाकै जिमान खिनि स्वायत्त-शासन दिब पारि, आहोम शासनतन्त्रत सेइखिनि दिया व्यवस्था आछिल। एने एटा उच्चतरपर शासनप्रणालीरे जि जातिए च' श' बछर काल एखन राज्य सुख्यातिरे राजत्व करिछिल, सेइ जातिर राजनैतिक प्रतिभा सकलोरे गौरवर विषय।

श्री चैतन्यदेव कोन् शके अन्तर्हित हन ?

अध्यापक श्रीयुत दीनेशचन्द्र भट्टाचार्य, चट्टग्राम ।

[श्री चैतन्यचरितामृत नामक गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के सुविख्यात ग्रन्थ में वर्णित है कि शक संवत् १४५५ में, ४८ वर्ष की अवस्था में, श्री चैतन्य महाप्रभु की मृत्यु हुई। जयानन्द तथा लोचनदास उन की मृत्युतिथि आषाढ़ शुक्ल सप्तमी, रविवार बताते हैं। परन्तु शक संवत् १४५५ में आषाढ़ शुक्ल सप्तमी को रविवार नहीं था। इस में, संवत् में ही भूल मालूम पड़ती है, तिथि में नहीं। दूसरा संवत् १४५८ बताया जाता है परन्तु उस में भी यही कठिनाई आ पड़ती है। यह संवत् १४५४ (शक) होना चाहिए क्योंकि उस वर्ष आषाढ़ शुक्ल सप्तमी रविवार को थी। बालकवि कर्णपूर के 'श्री चैतन्यचरितामृत' में श्री चैतन्यदेव का वय ४७ वर्ष दिया है तथा उसी लेखक के 'श्री चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक द्वारा भी संवत् १४५४ की ही पुष्टि होती है।]

प्राचीन वङ्गसाहित्ये इतिहास ओ जीवनी-ग्रन्थ अति दुर्लभ। कतिपय 'चरित'-ग्रन्थ पाओआ गेलेओ, महापुरुषगणेर जन्म-मृत्युर तारिख-निर्णय करा एक प्रकार असाध्य। एइ साधारण धारणार वशवर्ती हइया आमरा जखन गौड़ीय वैष्णवाचार्यगणेर विवरणीते पाश्चात्य धरणे लिखित वहुतर जन्ममृत्युर शकाङ्क प्रथम देखिते पाइ, तखन वस्तुतइ आनन्दलाभ हय। सम्प्रति कौतूहल-वशत: ऐ रूप कतिपय शकाङ्क विशेषभाव आलोचना करिया आमरा एककाले हताश हइयाछि। एकमात्र श्रीचैतन्यदेवेर जन्म-शकाङ्क व्यतीत, 'वङ्गभाषा ओ साहित्य' प्रभृति ग्रन्थे गृहीत वैष्णवाचार्यगणेर तारिखगुलिर एकटीओ अभ्रान्त वलिया प्रतिपन्न हय किना सन्देह। आमरा वङ्गीय साहित्यिकवृन्दके अनुरोध करितेछि, पवित्र वैष्णव-इतिहासेर एइ कलङ्क जेन ताँहारा विज्ञान-सम्मत प्रणाली अवलम्वने अपनोदन करेन। आमरा वर्तमान प्रवन्धे देखाइते चेष्टा करिव जे स्वयं महाप्रभु कोन् शके अन्तर्हित हइयाछिलेन से विषये यथेष्ट विचारेर अवकाश रहियाछे।

श्री चैतन्यचरितामृत ग्रन्थे स्पष्टाक्षरे लिखित आछे, १४५५ शके ४८ वत्सर बयसे महाप्रभुर अन्तर्धान हय। अन्य कोन ग्रन्थे वोध हय अन्तर्धानेर कोन शकाङ्क स्पष्ट करिया लिखित नाइ। चरितामृत ग्रन्थ महाप्रभुर अन्तर्धानेर अनेक परे रचित। ग्रन्थशेषे ग्रन्थसमाप्तिकाल एइरूप पाओआ जाय —

"शाके सिन्ध्वग्निबाणेन्दौ ज्येष्ठे वृन्दावनान्तरे।
सूर्ये ह्यसितपञ्चम्यां ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गत: ॥"

लिपिकारेर दोषे पाठान्तर घटाय, बहुकाल यावत् तारिखटी सन्दिग्ध अवस्थाय रहियाछे। अथच गणित ज्योतिषशास्त्रेर साहाय्ये अकाट्यरूपे इहा निर्णय करा चले। आमरा गणना करिया देखियाछि, १५३७ शकाव्दे (७३ मे १६१५ ख्री०) ८-इ ज्यैष्ठ रविवार (चान्द्र वैशाखेर) कृष्णा पञ्चमी तिथि ३९-५० पल पर्यन्त छिल। सुतरां इहाइ चरितामृतेर प्रकृत रचनाकाल। "सूर्याहे सितपञ्चम्यां" पाठ भुल, कारण ऐ शके 'असित' अर्थात् कृष्णा सप्तमी मङ्गलवार पड़े, एवं शुक्ला पञ्चमी ज्यैष्ठ मासे सोमवार एवं शुक्ला सप्तमी बुधवार पड़े। "शाका-

ग्निबिन्दुबाणेन्दौ" पाठटी एकेबारेइ भुल एवं कल्पित—१५०३ शके (२३शे मे १५८१ खृ०) २५ शे ज्येष्ठे (चान्द्र-ज्येष्ठेर) कृष्णा पञ्चमी ४ । १० पल पर्ज्जन्त छिल, किन्तु से दिन मङ्गलबार, रबिबार नहे। ऐ मासेइ कृष्णा सप्तमी बुधबार। गौड़ीय बैष्णबेर सम्प्रदायबिशेष दीर्घकाल जाबत् एइ भ्रान्त एवं कल्पित रचनाकाल (१५०३ शक) प्रचार करिया आसितेछेन। प्रेमबिलासेर एक अभिनब बिलासे एवं बनबिष्णुपुरेर एक पुँथिते (बङ्गीय कबि २८-६ पृ०) नाकि एइ तारिख पाओआ जाय।

जाहा हउक, महाप्रभुर अन्तर्धानेर ८२ बत्सर परे रचित एकमात्र ग्रन्थेर उपर निर्भर करिया १४५५ शके ताँहार तिरोभाब अबिसंबितरूपे ग्रहण करा जुक्तिजुक्त नहे। चरितामृते शकाङ्क भिन्न मासादिर उल्लेख नाइ। जयानन्द ओ लोचनदासेर मते रथजात्रार अव्यबहित परबर्ती आषाढेर शुक्ला सप्तमीते महाप्रभुर तिरोधान हय एवं से दिन रबिबार छिल। बहुकालपूर्बे पुरातन "श्री श्रीबिष्णुप्रिया पत्रिकार" द्वितीय बर्षे (७२ पृ०) जनैक लेखक एइ तारिखटी गणना करिया देखियाछिलेन। १४५५ शके ३१ शे आषाढ़ रबिबार शुक्ला अष्टमी ४६।४१ पल छिल (आमादेर गणनाय ४६।३३ पल); किन्तु से दिन शुक्ला सप्तमी पाओआ जाय ना। उक्त लेखक महोदय १४५५ शकाङ्क अभ्रान्त धरिया तिथिटाइ भुल साव्यस्त करियाछिलेन। आमरा किन्तु मने करि तिथि अपेक्षा शकाङ्कटाइ भुल हओआर अधिक सम्भाबना। चरितामृते लिखित शकेर ठिक एक बत्सर पूर्बे १४५४ शकाब्दे १२ इ आषाढ़ रबिबार (९ इ जुन, १५३२ खृ०) शुक्ला सप्तमी ५१।५४ पल पाओआ जाय एवं इहाइ महाप्रभुर तिरोधानेर प्रकृत तारिख हइबे। एतद्भिन्न १४५८ शकेओ २७ शे आषाढ़ रबिबार (२५ शे जुन १५३६ खृ०) शुक्ला सप्तमी ५५।१० पल छिल। महाप्रभुर जीबनीपञ्जी बिभिन्नग्रन्थे बिभिन्नप्रकार; चैतन्यभागबते ताँहार नीलाचले बास अधिकांश पुँथिते "अष्टाबिंशति बत्सर" लेखा आछे (संशोधन करिया "अष्टादश संबत्सर" लिखित हइयाछे)। जयानन्दओ तिन बार लिखियाछेन (पृ० १३७, १४९-५०) २८ बत्सर। दुइ जनेर मते ऐक्य देखिया आमरा प्रथमत: १४५८ शकइ अवधारण करिते प्रवृत्त हइयाछिलाम। कृष्णदासेर मते २४ बत्सरे संन्यास, १८ बत्सर नीलाचले बास एवं ६ बत्सर बिभिन्नस्थाने भ्रमण। ६, १८, २४ संख्यागुलि गणिताङ्केर हिसाबे एतइ बिशुद्ध एवं निर्दोष जे स्वभाबतइ ए स्थले निपुण हस्तेर परिचालना आशङ्कित हय। चैतन्येर चरिताबलीमध्ये सर्बापेक्षा प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थेर दोहाइ दिया आमरा उक्त उभय मतइ परित्याग करिते बाध्य हइयाछि।

इहा नितान्त कलङ्केर बिषय जे गौड़ीय-बैष्णब सम्प्रदायेर कीर्तिस्तम्भ बालकबि कबि-कर्णपूरेर "चैतन्यचरितामृत" महाकाव्य ए जाबत् समुचित आदरलाभे बञ्चित रहियाछे। जगतेर साहित्ये १६ बत्सरेर बालकरचित महाकाव्य अति बिरल। एइ ग्रन्थेर शेष श्लोके "वेदा रसा: श्रुतय इन्दुरिति..." रचनाकाल निबद्ध रहियाछे—१४६४ शक ज्येष्ठ मास कृष्णा द्वितीया सोमबार। एइ तारिखटी गणितशास्त्रेर साहाज्जे बिशुद्ध प्रतिपन्न हय। १४६४ शके ५ इ ज्येष्ठ सोमवार (१ ला मे १५४२ खृ०) कृष्णा द्वितीया २२।१० पल छिल। सम्प्रति ढाका-बिश्वबिद्यालये एइ काव्येर एक मूल्यबान् हस्तलिखित प्रतिलिपि संगृहीत हइयाछे—ताहाते प्रतिलिपिकारक ४टी श्लोके निजेर परिचयादि ज्ञापन करियाछेन। ताँहार नाम बिष्णुदास गोस्वामी एवं तिनि स्वयं रूपगोस्वामीर शिष्य छिलेन। (ढाकार पुँथिखानि बिष्णुदासेर स्वहस्तलिखित पुँथिर अपेक्षाकृत आधुनिक एकखानि नकल-मात्र हइबे।) तृतीय श्लोकटी मूल्यबान्।

चैतन्यचन्द्रचरितामृतमद्भुताभैद्व्यर्ष्टाब्दिकैर्विरचितं कविकर्णपूरैः।
रूपाख्यमत्प्रभुवरैः स्वकराम्बुजान्तैः शाके हयर्तुभुवने लिखितं पुरा यत्॥

इहा हइते जाना जाय अद्भुतकर्मा कबिकर्णपूर मात्र १६ बत्सर बयसे (२८ बत्सर नहे—मूलकाव्ये ओ द्वितीय सर्ग ९० श्लोके "द्व्यष्ट" १६ अर्थे प्रजुक्त हइयाछे) एइ महाकाव्य रचना करेन एवं रचनार मात्र तिन बत्सर परे १४६७ शके स्वयं रूपगोस्वामी स्वहस्ते एइ ग्रन्थ नकल करियाछिलेन। रूपगोस्वामीर करकमलाङ्कित ग्रन्थेर प्रामाण्यबिषये बोध हय मतद्वैध हइबे ना। एइ महाकाव्येर शेष सर्गे पाओआ जाय (४० श्लोके) महाप्रभुर २४ बत्सरे संन्यास, ६ बत्सर श्रीक्षेत्रेर बाहिरे नानादेशे जाताजात एवं २० बत्सर श्रीक्षेत्रबास (१८ सर्ग, ६१ श्लोक द्रष्टव्य)। परवर्ती ४१ श्लोके स्पष्ट भाषाय ४७ बत्सर लीलाकालेर उल्लेख रहियाछे। एतदनुसारे १४५५ (किंबा १४५८) शक छाड़िया १४५४ शकाब्देइ अन्तर्धान अबधारित हय। शास्त्रमते आयुर्गणना सावनमाने करिते हय। १४५४ शके तिरोधानकाले ताँहार बय:क्रम ठिक ४६ बत्सर ११ मास कएकदिन उत्तीर्ण हइयाछिल। तर्कच्छले सौरमान धरिया परबत्सर (१४५५ शके) ओ बय:क्रम स्थूलत: ४७ बत्सर पाओआ जाय बटे, किन्तु शुक्ला सप्तमी तिथि ओ रबिबारेर सम्मिलन घटे ना। तद्भिन्न १४५४ शकाब्द आरेकटी निदर्शन द्वारा सूचित हय।

कबिकर्णपूरेर परिणतबयसेर रचना चैतन्यचन्द्रोदय नाटकेर दशम अङ्के नीलाचले एक बत्सरेर महामहोत्सब विशेषभावे चित्रित हइयाछे। अङ्केर शेषे अद्वैत ओ महाप्रभुर जे कथोपकथन लिपिबद्ध हइयाछे ताहा आलोचना करिले नि:सन्देह प्रतिपन्न हय जे से बत्सरइ महाप्रभुर लीलावसान हइयाछिल। 'लोकान्तरे' किंवा 'बपुरन्तरे' महाप्रभुर सङ्ग प्रार्थना एवं 'अबतारान्तरे' प्रतिश्रुति दान अन्यथा अर्थहीन हइया पड़े। एइ शेष बत्सरेर महोत्सबेर शेष दिन होरापञ्चमी छिल—इहाओ जयानन्देर ओ लोचनदासेर उल्लिखित तिथिर परिपोषक बटे। एइ शेष बत्सरटी गणितेर साहाय्ये बाहिर करिया लओआर एकटी प्रकृष्ट चिह्न अज्ञातभावे विद्यमान रहिआछे। दशमाङ्केर १३ श्लोक हइते जाना जाय से बत्सर "महाज्येष्ठी जोग" सङ्घटित हइआछिल। एइ जोग स्मृतिशास्त्रोक्त एकटी दुर्लभ ग्रह-समावेश। रघुनन्दनेर तिथितत्त्वे एइ जोगसङ्घटनेर नानाबिध शास्त्रीय प्रकार प्रदर्शित हइयाछे। महाप्रभुर नीलाचल-बासकाले दुइ बार मात्र एइ महाज्येष्ठी जोग गणना द्वारा पाओआ जाय। १४४३ शके एवं १४५४ शके। १४५४ शके २१शे ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्दशी ४।२९ पलेर पर पूर्णिमा; अनुराधा नक्षत्र ४५।१ पल पर्ज्जन्त, बृहस्पति अनुराधा नक्षत्रे (७।५।४७।२४) एवं रबि अनुराधा नक्षत्र हइते ठिक पञ्चदश रोहिणी नक्षत्रे बर्तमान छिल। तिथितत्त्वधृत व्याघ्रभूति-बचनानुसारे किंवा तृतीय मतानुसारे इहाइ "महाज्येष्ठी जोग" बटे।

सुतरां श्रीचैतन्यदेबेर अन्तर्धान घटियाछिल १४५४ शकाब्दे १२इ आषाढ़ रबिबार शुक्ला सप्तमी तिथिमध्ये—१५३२ खृष्टाब्दे ९इ जुन तारिखे।

मध्ययुग में राजस्थान और बङ्गाल के बीच साधना का सम्बन्ध

श्रीयुत क्षितिमोहन सेन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

भारतवर्ष में आज आधुनिक शिक्षा-दीक्षा का इतना विस्तार हुआ है और हम लोग विराट् भारतीय संस्कृति और सार्वभौमिकता की बँधी-सधी इतनी बोलियाँ रटा करते हैं, फिर भी हमारी सङ्कीर्ण प्रान्तीयता का अन्त नहीं ।

अच्छी तरह देखने से मालूम होता है कि हमारी उदारता का अर्थ यही है कि दूसरे लोग उदार हो कर हमारी सारी प्रादेशिक वस्तुएँ निर्विवाद स्वीकार कर लें पर हमें अपनी सीमा छोड़ कर ज़रा भी बाहर न जाना पड़े ।

प्राचीन काल में, सम्भवतः, इस तरह की बँधी-सधी बोलियाँ नहीं थीं; पर ज्ञान, धर्म और संस्कृति का लेन-देन कितना स्वाभाविक था ! बाहर की दुनिया के साथ भी इन सब विषयों के साथ योग रहने में भारतवर्ष को कोई बाधा नहीं थी । और रेल, स्टीमर, तार, डाकघर आदि के बिना ही उन दिनों में भारतवर्ष के सभी प्रदेशों में जो योग था वह बड़ा ही विस्मयजनक है ।

मैं गौड़ (बङ्गाल) का हूँ और ओझाजी राजस्थान के । यद्यपि इतनी दूर से आज मैं अपनी अन्तर् की निर्मल श्रद्धाञ्जलि निवेदन करने जा रहा हूँ, फिर भी आजकल बहुतों के लिए इस प्रदेश-भेद का भूल जाना सम्भवतः कठिन होगा । पर उन दिनों में इस व्यवधान से कुछ आता-जाता नहीं था ।

शङ्कराचार्य, रामानुज आदि दक्षिण भारत के निवासी थे पर आज समूचे भारतवर्ष में उन का स्थान है । जयदेव बङ्ग देश के थे पर भारतवर्ष में कहाँ उन का गान आदर के साथ नहीं गाया जाता ? लीलाशुक बिल्वमङ्गल तामिल देश के रहने वाले थे पर आज का बङ्गाली भी, प्रत्येक गृह में, यही समझता है कि वे उस के अपने देश के ही आदमी हैं ।

उन दिनों सारे भारतवर्ष में ऐक्य-योग के कितने ही साधन थे । सारे भारत में फैले हुए तीर्थ थे; इसी लिए अन्यान्य प्रान्तों के लोगों की भाँति ही बङ्गाली के प्रत्येक घर में उस का चित्त राजस्थान के पुष्कर क्षेत्र के दर्शन के लिए व्याकुल रहा करता था । राजस्थान के जैन साधु, दल बाँधकर, बङ्ग देश के पारसनाथ आदि नाना जैन तीर्थों का दर्शन करने आया करते थे ।

साधु लोग अपने शिष्यों के साथ, दल बाँध कर, तीर्थ-दर्शन और अन्य कई उद्देश्यों से नाना प्रदेशों में भ्रमण किया करते थे । चातुर्मास्य और वर्षाकाल के उपलक्ष में बहुत दिनों तक एक ही स्थान पर वास भी करते थे । इसी लिए अनेक प्रकार से प्रत्येक प्रान्त में पारस्परिक भावों का आदान-प्रदान चलता था, इसी लिए एक प्रान्त की संस्कृति (culture) दूसरे प्रान्त में फैल पाती थी ।

किसी एक प्रान्त में एक धर्म या संस्कृति का उदय होता तो उस धर्म और संस्कृति के साथ ही साथ उस प्रदेश की भाषा भी अन्यान्य प्रान्तों में समादृत होती थी ।

संस्कृति और धर्म के साथ ही भाषा का भी विस्तार और प्रचार हुआ करता, तथा प्रत्येक प्रदेश में आपस का परिचय भी घनिष्ठ हो जाया करता था। नाना-प्रदेश-विस्तृत भाषा पर नाना स्थानों की छाप पड़ा करती थी।

मध्य भारत में प्रचलित संस्कृत की बात छोड़ देने पर भी देखते हैं कि जो पाली भाषा बौद्धों की इतनी भक्ति और श्रद्धा का धन थी वह क्या बाद में केवल उत्तर मागधी मात्र रह सकी? दिनों-दिन वह शौरसेनी-धर्माक्रान्त हो गई। जैन-मागधी में ही क्या अन्त तक मगध का वह रूप टिक सका था?

'कल्चर' (संस्कृति) के प्रयोजन से परवर्त्ती काल में भी, देखा जाता है, अपभ्रंश भाषा नाना स्थानों में व्याप्त हो गई। अवश्य ही प्रान्तभेद से उस में कुछ रूप-भेद भी हुआ था। "बौद्ध गान ओ दोहा" में जिस प्रकार का अपभ्रंश पाया जाता है, प्रायः उसी तरह का अपभ्रंश, ज़रा-ज़रा प्रादेशिक विशिष्टता के साथ, कर्नाटक से बङ्गाल तक फैला हुआ था। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के भक्त और साधक लोग उस समय एक-दूसरे के गान और भजन समझ सकते थे।

बङ्गाल के नाथ और योगियों के पद, मैनामती और गोपीचन्द के गान सारे उत्तर भारत—यहाँ तक कि सिन्ध, कच्छ, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक—में भी गाए जाते थे। मैं ने राजपूताने के योगियों में, यहाँ तक कि कच्छ दीनोधर में भी—बङ्गाल के नाथ और योगियों के अनुरूप वाणी का प्रचलन देखा है। गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के गान, नाथ और योगी-पद बङ्गाल, राजपूताना इत्यादि सब जगह प्रचलित थे। जयदेव की भाषा यद्यपि संस्कृत है फिर भी वह काफ़ी मात्रा में प्राकृतधर्मी है। फिर भी, उन का गान काश्मीर से कुमारी तक सर्वत्र समान भाव से समादृत था। यह ठीक है कि इस तरह का विस्तार होने में काफ़ी समय लगा था; किन्तु आज के इस वैज्ञानिक सुयोग के काल में भी वैसा होना सहज नहीं है।

दिल्ली के बादशाह के सेनापति हो कर राजा मानसिंह बङ्गाल आए थे, फलतः यशोहर (जैसोर) की देवी गईं राजपूताने के आमेर में। साथ ही साथ यशोहर की देवी के पुजारियों को भी आमेर जाना पड़ा। आज भी वहाँ उस देवी की पूजा भक्ति के साथ होती है और देवी के उन बङ्गाली सेवकों का दल आज भी उस की पूजा को चला रहा है।

वृन्दावन में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के सात प्रधान ठाकुर थे। श्री श्री गोविन्द को श्री रूप गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था; श्री श्री मदनमोहन को श्री सनातन गोस्वामी ने और श्री श्री राधामोहन को श्री जीव गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था। किसी-किसी का मत है कि इन्हें श्री रूप गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था। श्री श्री गोपीनाथ की प्रतिष्ठा श्री भूगर्भ गोस्वामी और श्री मधु पण्डित ने की थी। श्री श्री श्यामसुन्दर उत्कल देश के भक्त श्री श्यामानन्द के प्रतिष्ठित थे। श्री श्री राधाविनोद की प्रतिष्ठा श्री नरोत्तम ठाकुर ने, श्री श्री गोकुलानन्द की प्रतिष्ठा श्री लोकनाथ गोस्वामी ने और श्री श्री राधारमण की प्रतिष्ठा श्री गोपाल भट्ट ने की थी। श्री श्री राधाविनोद और श्री श्री गोकुलानन्द की सारी सेवा एक ही साथ होती है।

उत्कलवासी भक्त श्री श्यामानन्द के स्थापित श्री श्री श्यामसुन्दर के सेवक उड़िया हैं, और बाक़ी ६ ठाकुरों के सेवक बङ्गाली हैं। "गोविन्द, गोपीनाथ, मदनमोहन" इन तीन ठाकुरों की ही प्रतिष्ठा ज़्यादा है। उन में भी गोविन्द की प्रतिष्ठा सब से अधिक है।

अन्त तक श्री गोपाल भट्ट के प्रतिष्ठित श्री श्री राधारमण का विग्रह ही वृन्दावन में टिक सका। दिल्ली के अत्याचार से श्री श्री गोविन्द, राधा-दामोदर, गोपीनाथ, श्यामसुन्दर, राधाविनोद, गोकुलानन्द इन कई

विग्रहों को राजपूताने के जयपुर में चला जाना पड़ा और श्री श्री मदनमोहन को जयपुराधीश ने अपनी ससुराल करौली में भेज दिया। जयपुर-नरेश के साले करौली के राजा गोपालसिंह ने सन् १७४० ई० के आस-पास करौली में मदनमोहन का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया। कहा जाता है कि भक्त सूरदास वृन्दावन में इन्हीं मदनमोहन के बड़े उपासक थे।

वृन्दावन में गोविन्दजी का जो मन्दिर था वह जैसा मनोरम था वैसा ही विशाल भी। इस मन्दिर की दीवाल में जड़े हुए एक अस्पष्ट प्रस्तर-फलक के पाठ से जाना जाता है कि आमेर-नरेश मानसिंह ने अकबर के चौंतीसवें राज्याब्द में, श्री रूप-सनातन के तत्त्वावधान में, गोविन्दजी की प्रतिष्ठा कराई थी। मुल्तान के कृष्णदास वणिक् ने भी इस में काफ़ी सहायता दी थी। यह मन्दिर बाद को मुसलमानों के हाथ से विकृत हो गया। जो थोड़ा सा बच रहा है उसे देख कर ही अचरज में पड़ जाना पड़ता है। गोपीनाथ का मन्दिर भी शेखावाटी (राजपूताना) के रायसिंह का बनवाया हुआ था। ये सम्राट् अकबर के सभासद थे। इस समय यह मन्दिर जीर्ण हो गया है।

वृन्दावन के सात विग्रहों में से छः तो गए राजपूताने में। वहाँ जाने पर भी छः में से पाँच के सेवक बङ्गाली हैं; उन का विवाहादि सम्बन्ध आज भी बङ्गालियों में ही होता है।

दिल्ली के अत्याचार से राजपूताना बचा था। इसी लिए केवल देवता या देवविग्रह ही नहीं, अनेकानेक स्वाधीन मत और सम्प्रदायों के उपदेष्टाओं ने भी अपने-अपने पोथी-पत्रों के साथ राजस्थान में आश्रय ग्रहण किया। नाना स्थानों से सेठों का दल भी आ कर वहाँ आश्रित हुआ था। इसी लिए उन दिनों में राजपूताना नाना धर्मों, भावों और ऐश्वर्यों से समृद्ध हो उठा था।

छः-छः गौड़ीय ठाकुर अपने सेवकों सहित राजस्थान में प्रतिष्ठित हुए। इस के फल-स्वरूप गौड़ीय मतवाद राजस्थान में विशेष रूप में सम्मानित हुआ। आज भी गीजगढ़ के सरदार ख़ुशहाल सिंह के समान विद्वान् और भक्त लोग गौड़ीय गुरु के शिष्य हैं। आप एक बार जयपुर के हाईकोर्ट के न्यायाधीश थे।

वृन्दावन में गौड़ीय ठाकुर का मन्दिर बनवा कर और कुसमय में छः ठाकुरों को आश्रय दे कर तथा उन की सेवा के लिए व्यय की व्यवस्था कर के राजपूताने के—ख़ास कर जयपुर के—राजा लोग बङ्गाल के चिर कृतज्ञता के पात्र हुए हैं।

नाना कारणों से जयपुर के साथ बङ्गाल का सम्बन्ध बहुत पुराना है। प्राचीन जयपुर नगर की जो नगर-प्रतिष्ठान-व्यवस्था (Town Planning) इतनी सुन्दर है वह बङ्गाली विद्याधर भट्टाचार्य की बनाई हुई है।

अँगरेज़-राजत्व के प्रारम्भ में राज-काज के लिए और विशेषतः अँगरेज़ी शिक्षा देने के लिए जो बङ्गाली राजपूताने में गए थे, आज उन की चर्चा नहीं करूँगा, साथ ही राजपूताने से कलकत्ते में तथा सारे बङ्गाल में जो राजस्थानी, मारवाड़ी व्यवसायियों का दल वास करके दिन-दिन स्वदेश को समृद्ध कर रहा है उस की बात भी आज नहीं करूँगा। क्योंकि यह बात इस नए युग से सम्बन्ध रखती है। हमारा वक्तव्य उस मध्य युग से है जब नाना प्रान्तों में सम्बन्ध स्थापित करने में धर्म और 'कल्चर' का तक़ाज़ा छोड़ कर अन्य कोई स्थूल वैषयिक तक़ाज़ा ही नहीं था।

आज कलकत्ते का बड़ा बाज़ार देखने से जान पड़ता है कि कोई राजस्थान का ही महानगर है। प्राचीन काल में भी व्यवसाय के लिए मुर्शिदाबाद, जियागञ्ज प्रभृति स्थानों में अनेक राजस्थानी जैन सेठ आ कर वास करने लगे थे।

जो हो, राजनैतिक और वैषयिक सम्बन्ध कभी भी ऐसा विशुद्ध नहीं होता। इसी लिए राजपूताने और बङ्गाल में जो विशुद्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध है उसी को मैं आज श्रद्धा-सहित स्मरण कर रहा हूँ।

राजपूताने के पास ही हैं वृन्दावन और मथुरा। श्री श्री वल्लभाचार्य के मत को पुष्टि-मार्ग कहते हैं। इन का स्थान मथुरा-गोकुल में था, वृन्दावन में नहीं। इन को भी अन्त में नाथद्वारा में जा कर आश्रय लेना पड़ा। वृन्दावन गौड़ीय भक्तों की साधना और राजपूत राजाओं की सहायता से ही गठित हो उठा था।

सनकादि सम्प्रदाय से उद्भूत होने पर भी वृन्दावन का राधावल्लभी सम्प्रदाय गौड़ीय मत से, विशेष कर नित्यानन्दी भाव से, प्रभावान्वित था। इसी लिए वे पुरुष की अपेक्षा प्रकृति को ही प्रधान मानते हैं। उन की राधा आगे हैं कृष्ण पीछे। इस सम्प्रदाय के साथ गौड़ीय महाप्रभु के सम्प्रदाय का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि नागरीदास राधावल्लभी कहे जाते हैं पर बहुत लोग उन्हें गौड़ीय सम्प्रदाय के ही समझते हैं।

सोलहवीं शताब्दी के शेष भाग में वृन्दावन में हरिदासी या टट्टी सम्प्रदाय का उद्भव हुआ। इन में भी गौड़ीय भावों का प्रभाव पाया जाता है। इस सम्प्रदाय में विट्ठलविपुल, विहारिणीदास, सहचरीशरण प्रभृति विख्यात लोगों ने जन्म ग्रहण किया। विख्यात कवि शीतल स्वामी का जन्म भी इसी टट्टी सम्प्रदाय में हुआ था। इन सब महापुरुषों के लेख और प्रभाव से भी राजपूताने में गौड़ीय भावों का बहुत प्रसार हुआ है।

भक्त और साधिका मीराबाई राजस्थान की कन्या हैं, यह बात बङ्गाल के भक्त कभी मन में भी लाते हैं? मीराबाई तो उन के अपने घर की हैं; उन की जीवनी, उन का गान तो बङ्गाली भक्तों की अपने अन्तर की वस्तु है!

मीरा के साथ गौड़ीय साधकों का घनिष्ठ परिचय हुआ था, बहुत कुछ गौड़ीय प्रभाव भी उन के जीवन में घटा था। फिर मीरा के गान ने भी बङ्गाल के भक्तों को कम सरस नहीं किया था। वे तो मीरा को अपना स्वजन ही समझते थे।

उन दिनों में भी देखते-देखते किस प्रकार एक प्रदेश का उत्तम काव्य और साहित्य दूसरे प्रदेशों में फैल जाता था, इस बात को हम मलिक मुहम्मद जायसी (१५४०) के 'पदुमावती' काव्य के प्रसार को देख कर समझ सकते हैं। जायसी एक ओर तो चिश्ती सम्प्रदाय के मुहीउद्दीन के शिष्य थे और दूसरी ओर अलङ्कारादि शास्त्रों में ब्राह्मण पण्डितगण उन के गुरु थे। अमेठी के हिन्दू राजा उन के भक्त थे। उन्हों ने ही जायसी की दरगाह बनवा दी थी।

इस पदुमावती की रचना के कुछ ही दिन बाद बङ्गाल में भी उस की ख्याति फैल गई।

सुदूर अराकान तक जब इस की ख्याति फैल गई तो वहाँ के मुसलमान राजा मगन ठाकुर के अनुरोध से कवि अलावल ने पदुमावती का बँगला अनुवाद किया। कहाँ जायसी का देश और कहाँ अराकान! इस पदुमावती काव्य से ही बङ्गाली के घर-घर में भीमसिंह और पद्मिनी की कथा प्रसिद्ध हो गई। इसी लिए पुरानी बँगला कहानियों में पुष्कर की अपेक्षा चित्तौर का नाम अधिक सर्वजन-परिचित है। चित्तौर की इस कथा के कारण सारा राजस्थान उन की अपने घर की चीज़ हो गई।

उस समय साधारण जनता उदयपुर का नाम बहुत कम जानती थी। त्रिपुरा राज्य में एक उदयपुर के स्थापित होने पर भी राजा-रईसों को छोड़ कर साधारण लोग उदयपुर का नाम कुछ अधिक नहीं जानते थे।

वर्तमान युग में प्राचीन भारत की वीरता के प्रति भक्ति दिखाने के लिए राजपूताने के इतिहास ने सम्भवतः बँगला साहित्य में ही पहले-पहल अत्यन्त मुख्य स्थान ग्रहण किया था। किन्तु हमारा विषय है मध्य युग की साधना का परिचय। इसी लिए आज इन बातों के उल्लेख का कोई हेतु नहीं है।

केवल हिन्दुओं के द्वारा ही बङ्गाल और राजपूताने का सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं हुआ। मुसलमान साधकों के द्वारा भी यह सम्बन्ध दिन-दिन घनिष्ठ होता गया है।

साधक-शिरोमणि मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६) ने अपनी साधना का पीठ अजमेर को बनाया। इसी लिए बङ्गाल के ठेठ देहात के मुसलमान भी मक्का की भाँति पवित्र समझ कर अजमेर में तीर्थ-यात्रा को जाते हैं। हिन्दू साधकों में से भी अनेक साधकों ने चिश्ती के साधना-स्थान तक तीर्थ-यात्री की भाँति श्रद्धा सहित यात्रा की है। १६२५ ई० के आस-पास श्रीहट्ट के विथङ्गल मठ के संस्थापक साधक रामकृष्ण अपने शिष्य कृपालदास को ले कर वहाँ गए थे और वहाँ कुछ दिन रह कर बहुत से साधकों से परिचित हुए।

सुप्रसिद्ध फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़ल के पिता का नाम था मुबारक नागोरी। ये यद्यपि भारतवर्ष के बाहर से आए थे फिर भी आ कर जोधपुर के अन्तर्गत नागोर नामक ग्राम में रहने लगे थे। इसी लिए इन की उपाधि 'नागोरी' हुई। क़ुरान, हदीस इत्यादि शास्त्रों पर मुबारक की विशेष आस्था नहीं थी। वे स्वाधीन 'कल्चर' के उपासक थे। इसी लिए वे यूनानी अर्थात् ग्रीक दर्शन और नव-अफ़्लातूनी (Neo-Platonic) ज्ञान के अगाध पण्डित थे। भारत में इतना स्थान रहते हुए भी क्यों ये राजपूताने में ही आ कर रहने लगे, यह समझना कुछ विशेष कठिन नहीं है। जो राजस्थान चिर काल अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए युद्ध करता आया था वही स्वाधीनता के साधकों का आश्रय-स्थान था और था स्वाधीन चिन्ता का उपयुक्त साधना-पीठ। इसी लिए देखा जाता है कि मध्य युग में राजस्थान में अनेकानेक स्वाधीन मतवाद का प्रादुर्भाव हुआ है और बाहरी अत्याचार से पीड़ित अनेक मतवाद इसी राजस्थान में आश्रित हुए हैं।

अकबर जब अपने उदार धर्म के प्रचार के लिए उद्यत हुए उस समय नागोरी मुबारक के पुत्र सुप्रसिद्ध फ़ैज़ी (१५४७) और अबुलफ़ज़ल (१५५१) ही उन के दाहिने हाथ थे। मुबारक ने अपने पुत्रों को भारतीय शास्त्र, दर्शन और कल्चर (संस्कृति) में सुपण्डित बनाया था। फ़ैज़ी वेदान्त के गम्भीर पण्डित थे। उन्हों ने अच्छे-अच्छे वेदान्त-ग्रन्थों, महाभारत, रामायण आदि का अनुवाद किया था।

जब मध्ययुग के उदार धर्म-साधकों ने साधना में हिन्दू और मुसलमानों की अध्यात्म-विद्याओं का समन्वय करना चाहा तो उस समय भारतीय संस्कृति ने वेदान्त-विद्या को तथा मुसलमानों द्वारा समादृत यूनानी 'कल्चर' ने नव-अफ़्लातूनी (Neo-Platonic) मत को आगे किया। इन दोनों मतों ने दो दिशाओं से आ कर बीच में मिलन-सेतु की रचना की थी। वास्तव में ये ही दो मत ऐसे थे जिन में इतना प्रसार-गुण था कि इस कार्य को कर सकते थे। मध्ययुग के भारतीय असाम्प्रदायिक उदार साधकों में, विशेष कर बङ्गाल के आउल-बाउलों में, इस भारतीय नव-अफ़्लातूनी मत को 'नागोरी विद्या' नाम दिया गया है। ख़ूब सम्भव है कि मुबारक नागोरी के नाम पर ही यह नामकरण हुआ हो।

दरिया साहब नाम के दो साधकों ने साधना के द्वारा इस नागोरी मत को विशेष रूप से प्रतिष्ठित और विस्तृत किया था। एक थे दरिया साहब मारवाड़ी (१६७६-१७५८)। इन का जन्म मुसलमान माता से धुनिया वंश में हुआ था। बहुत लोग इन्हें दादू का अवतार समझते हैं। दादू की ही भाँति इन के उपदेश

१५ अङ्गों में विभक्त हैं। इस मत में हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के शिष्य हैं। ये लोग राम, परब्रह्म आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं। इन के यहाँ ब्रह्म परिचय है, और हैं योग की गम्भीर बातें।

और एक दरिया साहब बिहारी थे। उज्जयिनी के राजवंश की एक धारा आ कर बक्सर के पास जगदीशपुर में राज्य करती थी। उसी क्षत्रिय-वंश में साधक पीरनशाह ने जन्म ग्रहण किया था। सूफ़ी साधना से आकृष्ट हो कर पीरन साहब सूफ़ी हो गए। इन्हीं पीरन साहब के पुत्र थे दरिया साहब। कबीर के द्वारा ही विशेष रूप से आप अनुप्राणित हुए थे। आप भगवान् को 'सत्यनाम' कहा करते थे।

ये लोग लिखित किसी शास्त्र, व्रत, तीर्थ, आचार, बाह्य विधि आदि के क़ायल नहीं हैं। विग्रह-मूर्त्ति या अवतार की पूजा भी ये लोग नहीं करते। जाति-भेद भी नहीं मानते। मत्स्य-मांस और जीव-हिंसा का इन के यहाँ निषेध है। इन के ३६ प्रधान शिष्य थे। चार स्थानों पर इन के चार प्रधान अखाड़े हैं। मनुआ चौकी के अखाड़े के अलखशाह पूर्व देश में गए थे। गौड़ वरेन्द्र हो कर, मैमनसिंह और अष्टग्राम होते हुए, ये दक्षिण में शाहबाज़पुर तक गए थे। हिन्दू और मुसलमान सब को ये योग और मैत्री का उपदेश सर्वत्र करते फिरे। इन्हीं के उपदेश के फल-स्वरूप नागोरी मत विशेष रूप से बङ्गाल में प्रचारित हुआ और आउल-बाउल, दरवेश आदि सम्प्रदायों में फैल गया। पूर्व बङ्ग के मदन प्रभृति पद-रचयिताओं में, दक्षिण शाहबाज़पुरी और अष्टग्रामी बाउलों में और रङ्गपुर के पश्चिम भाग के सोनाउल्लाशाह के सम्प्रदाय आदि में यह नागोरी मतवाद इसी तरह प्रतिष्ठित हुआ।

अलवर राज्य में अट्ठारहवीं शताब्दी में रसूलशाह नामक एक फ़क़ीर रहते थे। बङ्गाल के एक तान्त्रिक साधक के निकट वे तान्त्रिक साधना के रहस्यों से अवगत हो कर तान्त्रिक साधना में प्रवृत्त हुए। बाद को वे एक मशहूर तान्त्रिक हुए और उन्हों ने इस मत का प्रचार किया। यह मत पञ्जाब तक फैल गया। ये लोग तान्त्रिकों की तरह चक्र में बैठते हैं और वीराचार से साधना करते हैं। ये लोग षट्चक्र-भेद कर के सहस्रार सुधा का पान करते हैं। लौकिक मद की भी ये लोग उपेक्षा नहीं करते। ये लोग अलौकिक क्रिया कर सकते हैं और रसायनविद्या में बड़े पटु होते हैं। काव्य-साहित्य के रसास्वादन में भी इन की प्रतिष्ठा है*।

इन के एक शिष्य थे शाहअली। ये बङ्गाल में आ कर उत्तर बङ्ग के भोटमारी में गए और सहज साधक रूपचन्द गोसाईं के साथ साधन में युक्त हुए। उस समय वहाँ तीन सहज मत के साधकों के सम्प्रदाय थे। कमलकुमारी, माझवाड़ी और मध्यमा। कमलकुमारी मत के साधक माला-विग्रह आदि ग्रहण करते थे, इसी लिए शाहअली की उन के साथ विशेष घनिष्ठता नहीं हो सकी। माझवाड़ी सम्प्रदाय के साधकगण उदार और "अव्यक्तलिङ्गाचार" थे। ये माला, विग्रह, तुलसी, गङ्गाजल आदि की विशेष पूज्यता नहीं मानते। साम्प्रदायिक भेद-बुद्धि भी इन में कुछ वैसी नहीं थी। इसी लिए इन्हीं के साथ शाहअली का योग हुआ। रूपचन्द गोसाईं के शिष्य खेपा (=पागल) गोसाईं नीलफामारी के अन्तर्गत बेलपूकुर ग्राम में १५-१६ वर्ष पहले मरे हैं। उस समय उन की अवस्था शायद ७५ वर्ष की थी। उस प्रदेश के हिन्दू-मुसलमान बाउलों में आज भी उन की साधना का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

---

* यह लेख लिखा जा चुका था, मैं भेजने की व्यवस्था कर रहा था, कि मेरे एक गुजराती मित्र ने काठियावाड़ में पाई गई बँगला की एक प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तक दिखाई। यह पुम्तक बङ्गाल के रसूलशाही तान्त्रिक मत की है। पुस्तक जैन पुस्तकालय में पड़ी थी। मालूम होता है, भूल से यह पुस्तक राजपूताने का सफ़र करती हुई जैन साधुओं के साथ काठियावाड़ पहुँची।

जयदेव के गीतगोविन्द का ही नाम प्रसिद्ध है। किन्तु साधकों में उन के अनेक सहज पद भी प्रचलित हैं। केवल सिक्ख लोगों के ग्रन्थ साहब में ही नहीं, दादू-पन्थी साधकों प्रभृति ने भी अत्यन्त समादर के सहित उन सब पदों को अपने संग्रह-ग्रंथों में ग्रहण किया है। ये पद असल में बँगला में लिखे गए थे; किन्तु पञ्जाब, राजपूताना प्रभृति प्रदेशों तक पहुँचने में उन्हें कोई बाधा नहीं थी! यद्यपि उन स्थानों में जा कर इन पदों में बहुत रूपान्तर हो गया है। उन दिनों राजस्थान और पञ्चनद के साधक जयदेव को अपने घर का ही आदमी समझते थे; यह बिलकुल नहीं समझते थे कि वे एक भिन्न प्रदेश के आदमी हैं।

रामानन्द के बहुत से शिष्य थे। उन में बहुतों का जन्म राजस्थान में हुआ था। कुछ लोग ऐसे भी थे जो साधना की सुविधा के लिए वहाँ जा बसे थे। रामानन्द के शिष्यों में धन्ना जाट जाति के थे। पीपा राजपूत थे और एक छोटे से राज्य के अधिपति थे। अपने कुल-धर्म शाक्त-साधना को छोड़ कर भक्ति के पथ में आए और राज्य-ऐश्वर्य त्याग कर बाहर निकल पड़े। उन की एक रानी भी उन के साथ चलीं। द्वारका के पास पीपावट में वे बहुत दिनों तक रहे। वहाँ पीपा के भक्तों का एक मठ है।

पूर्व बङ्ग के विख्यात विथङ्गल मठ के स्थापयिता प्रसिद्ध साधक रामकृष्ण १६२५ ई० के आसपास तीर्थ-यात्रा के लिए पीपावट में गए और कुछ दिनों तक वहीं रहे भी। इसी लिए रामकृष्ण के स्थापित विथङ्गल मठ और ढाका फरीदाबाद के मठ में भी उन दिनों पीपा-पन्थी साधुओं का प्रचुर यातायात हुआ करता था। रामकृष्ण के भक्त भी राजस्थान और द्वारका के पीपा भक्तों के मठ में जाया-आया करते थे। वे लोग जयपुर गलता के अनन्तानन्द के मठ में भी जाया-आया करते थे। अनन्तानन्द रामानन्द के ही एक शिष्य थे। जयपुर में ख़ाकी सम्प्रदाय का एक मठ है; वहाँ तक भी बङ्गाल के भक्तों की गति-विधि थी।

साधक रैदास जाति के चमार थे। एक समय राजपूताने में उन का यथेष्ट प्रभाव था। राजस्थान के अनेक कुलीन और राजवंशियों में भी उन के भक्तों का अभाव नहीं था। बङ्गाल में भी बहुत रैदासी थे। इसी लिए वे लोग चिर दिन से ही राजस्थान को प्रीति के साथ स्मरण करते आए हैं।

अलवर के लालदास का जन्म उस मेव-वंश में हुआ था जिन का व्यवसाय ही लूट-पाट था। भक्तों में यह बात प्रसिद्ध है कि एक गौड़ीय वैष्णव साधक की प्रेम-साधना देख कर ही ये भजन-कीर्तन के अनुरागी हुए थे। अलवर के डेहरा ग्राम में भक्त चरणदास का जन्म हुआ था। दिल्ली के आस-पास इन के बहुत भक्त हैं। बिहार और बङ्गाल में भी इन के भक्त बीच-बीच में दिखाई दे जाते हैं।

रामसनेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्तराम या रामचरण का जन्म जयपुर के सुरासेन ग्राम में हुआ था। उत्तर-पश्चिम प्रदेश से ले कर गुजरात तक उन के अनेक मठ हैं। बङ्गाल में भी उन के भक्त कहीं-कहीं थे।

कहा जाता है कि दादू और उन के कई शिष्य देश-पर्यटन करते-करते बङ्गाल और जगन्नाथ तक आए थे। दादू के शिष्य सुन्दरदास भी बङ्गाल में रहे थे। १५९६ ई० में, द्यौसा नगर में, सुन्दरदास का जन्म हुआ था। कविरूप से सुन्दरदास की ख़ूब ख्याति है।

भक्त दादू का (१५४४–१६०३) नाम और साधना-स्थान राजपूताने में मशहूर है। बङ्गाल के बाउल भी उन का नाम अति श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। इन्हीं बङ्गाल के बाउलों के गान में ही मुझे प्रथम बार सन्धान मिला कि दादू पहले मुसलमान थे और उन का नाम था 'दाऊद'। बाउलों के गान में ही सुना था—

"श्रीगुरु 'दाऊद' बन्दि 'दादू' याँर नाम।"

(श्री दाऊद गुरु की वन्दना करते हैं जिन का नाम है. दादू ।) बाद को अनेक राजस्थानी ग्रन्थों में भी मैंने इस बात का समर्थन पाया था ।

कहा जाता है कि दादू ने देश-परिक्रमा करते समय बङ्गाल में आ कर यहाँ के भक्तों और साधना के साथ घनिष्ठ भाव से परिचय स्थापन किया था ।

दादू-पन्थी अनेक पुरातन संग्रह-ग्रन्थों में नवनाथों के नाम और उन के पद पाए जाते हैं । मैंने इस प्रकार का एक बृहत् संग्रह-ग्रन्थ जयपुर के एक वृद्ध दादू-पन्थी साधु के पास देखा था । उन के शिष्य शङ्करदासजी हमारे परिचित थे । ग्रन्थ सन् १७०६ ई० का लिखा था । बाबा ईश्वरदास ने अपने शिष्य वैरागी सन्ता से इसे लिखवाया था । ग्रन्थ का लेखन कुतुबख़ाँ की मढ़ी में बाबा गोकुलदासजी की कुटिया में वैशाख कृष्ण ११ को समाप्त हुआ था । यह एक संग्रह-ग्रन्थ है । इस में एक नाथ-पद है—

"अदेख देखिबा देखि विचारिबा,
आकृष्ट राखिबा बाचिया...
पाताल गङ्गा स्वर्गे चढ़ाइबा"—इत्यादि ।

बङ्गाल के नाथ-पन्थियों में ये पद अति परिचित हैं ।

दादू बानी के माया अङ्ग में है—

"ऊभा मारं, बैठ बिचारं, सम्भारं जागत सूता ।
तीन लोक तत जाल विडारण तहाँ जाइगा पूता ।" (१३६)

और पूर्व वङ्ग के नाथ योगियों में पाया जाता है—

"उठ्या सारन, बैठ्या सारन, सामाल जागत सूता ।
तिन भुवने बिछाइना जाल कइ याबि रे पूता"

राजस्थान के नाना ग्रन्थों में माया और गोरखनाथ का संवाद पाया जाता है । उस में देखा जाता है कि माया कहती हैं कि—

ऊभा मारुं बैठा मारूं, मारूं जागत सूता ।
तीन भवन भग जाल पसारूं, कहाँ जायगा पूता ।

और पूर्व वङ्ग के नाथपन्थियों के पद में देखते हैं—

उठ्या मारुम बैठ्या मारुम, मारुम जागत सूता ।
तिन धामे* काम जाल बिछाइमू कइ जाबि रे पूता ।

राजस्थानी दादू-पन्थी पोथी में देखते हैं तो गोरखनाथ इस के उत्तर में कहते हैं—

ऊभा खण्डूं बैठा खण्डूं, खण्डूं जागत सूता ।
तीन भवन ते भिन ह्वै खेलूं तो गोरख अवधूता ।

बङ्गाल के योगियों के पद में देखते हैं—

उठ्या खण्डुम बैठ्या खण्डुम खण्डुम जागत सूता ।
तिन भुवने खेलुम आलग तय तो अवधूता ।

---

* "तिनभवे भगजाल बिछाइमू" पाठ भी है ।

नाथ-योगियों के पद की यह भाषा पूर्व बङ्गाल की नितान्त परिचित ठेठ ग्राम्य भाषा है।

इस से क्या यह नहीं मालूम होता कि राजस्थान और बङ्गाल के साधकों की घनिष्ठता कितनी गहरी और एकान्त थी ?

नराना, आमेर और साँभर में दादूजी के साधना-स्थान, द्यौसा में जगजीवनजी और सुन्दरदासजी का स्थान, सांगानेर और फ़तेहपुर में रज्जबजी का स्थान, जोधपुर के गूलर ग्राम में माधोदासजी का स्थान, डीड़वाणा और फ़तेहपुर में प्रयागदासजी विहाणी का स्थान, बूशेरा में शङ्करदासजी का स्थान, सांगानेर में मोहनदासजी का स्थान, आन्धी में जनगोपालजी का स्थान—ये सब स्थान बङ्गाल के साधकों के निकट भी अपरिचित नहीं हैं। आजकल के शिक्षित विद्वद्वृन्द इन सब घनिष्ठताओं की कोई ख़बर नहीं रखते; फिर भी इन दो देशों के निरक्षर दीन-दुखी साधकों के दल कितने प्राचीन काल से ही परस्पर में घनिष्ठता-स्थापन करते आ रहे हैं।

४

अर्वाचीन काल

भारतीय दुसरा रणसंग्राम

अथवा

विजयनगरचें शेवटचें युद्ध

श्रीयुत वा० सी० बेन्द्रे, पुणें

[विजयनगर के युद्ध का कारण धार्मिक नहीं था। उस का वास्तविक कारण यह था कि रामराजा के राज्य-काल में विजय-नगर का उत्कर्ष तत्कालीन दक्षिण-भारतीय मुसलमान राजाओं को असह्य था। वास्तव में यह युद्ध दक्षिण भारत के उत्तरी और दक्षिणी अंशों का युद्ध था, न कि हिन्दुओं और मुसलमानों का धार्मिक युद्ध। धर्म का कारण तो पीछे से अली आदिलशाह को अपनी ओर मिलाने के लिए जोड़ा गया। सर्वप्रथम अली आदिलशाह रामराजा के पक्ष में था, तथा उन दोनों में पूर्ण मित्रता थी। रामराजा ने अली आदिलशाह का बाल्यावस्था से पालन किया था; उन दोनों में विरोध का कोई कारण नहीं था। विजयनगर के युद्ध की पहली दो लड़ाइयों में—जिन में से दूसरी लगातार साढ़े चार दिन तक होती रही—रामराजा की विजय रही, तथा यदि एकाएक अली आदिलशाह धोखा दे कर उस पर धावा न कर देता तो शत्रु-सैन्य का पूरा पराभव हो जाता। अली आदिल ने धोखे से रामराजा को पकड़ लिया तथा उसी के कहने से उस का शिरच्छेद कर डाला।]

हिंदुस्थानाच्या इतिहासांत 'विजयानगरच्या साम्राज्याला' महत्वाचें स्थान प्राप्त झालेलें आहे। हें महत्व त्या साम्राज्याच्या क्षेत्रमर्यादेवरून मिळालेलें नसून तें विजयानगरचा ऱ्हास व त्यावेळीं झालेला अतुल रणसंग्राम यामुळें मिळालें आहे। हा रणसंग्राम इ० स० १५६५ त झाला व त्यानंतर थोडक्यांच अवधींत विजयनगरचें साम्राज्य लयास गेलें।

सोळाव्या शतकाच्या सुरुवातीस विजयनगरच्या सम्राटपदावर तुळूव वंशीय कृष्णदेवराय आला होता। यानें मोठा दिग्विजय करून मुसलमानी राज्यांतील बराचसा मुलुख काबिज केला। कृष्णदेवराय इ० स० १५२९ त मरण पावला तेव्हां त्याचा सावत्रभाऊ अच्युतराय गादीवर आला। हाही इ० स० १५४२ त मरण पावला। नंतर त्याचा मुलगा व्यंकटदेव व नंतर सदाशिवराय गादीवर बसले। कृष्णदेवरायाच्या कारकीर्दींत त्याचा जांवई अळीय रामराजा हा शूर व कर्तृत्ववान असल्याने प्रबळ झाला होता। कृष्णदेवरायानंतर यानेंच सर्व कारभार पाहिला व आपल्या बाहुबलानें पुंडपाळेगारांचा मोड करून व शेजारील बराच मुलुख जिंकून आपलें राज्यक्षेत्र वाढविलें आणि सर्वत्रांवर चांगलाच दरारा बसविला, शेजारील उत्तरेकडील पादशाहाहि चिंताक्रांत होऊं लागलें। रामराजाचा उत्तरोत्तर होणारा उत्कर्ष व त्याचें चढाईचें वर्तन त्यांस असह्य वाटत होतें। अशा विजयानगरच्या भरभराटीच्या परिस्थितींत हा रणसंग्राम घडून आला।

इतिहासांत या रणसंग्रामाचें असें कारण देण्यांत येतें कीं, रामरायानें आदिलशाहाच्या एका हरकाऱ्याच्या तोंडावर इस्लामी धर्माचा गौणपणा सिद्ध करण्याचा प्रयत्न केला। त्यामुळे सर्व पातशाहांना त्यानीं चिडवून

लढाईच्या भरीस पाडलें। खास आदिलशाहावर कांहींच परिणाम झाला नाहीं। परंतु जालनापूर येथें जमलेलें कुत्बशाहा, निजामशाहा, व इमाद-उल्-मुल्क अल्लाउद्दीन अकबर रागावले व त्यांनीं संघनमत करून कर्नाटकच्या स्वारीचा बेत ठरविला। या रणसंग्रामांत सामील झालेल्यांत एकीकडे मुख्यत: चारहि पादशाहा व दुसरीकडे रामराजा असल्यानें या युद्धांत इस्लामी व हिंदू धर्माचा लढा असावा असें वाटणें अगदीं साहाजिक आहें। परंतु इस्लामी पादशाहां तर्फें जसा सैन्याचा मोठा भाग व मांडलिक हिंदू होते त्याचप्रमाणें देहार्पण करण्यास सिद्ध झालेला इस्लामी समाज हिंदू रामराजाकडे लढत होता। इतकेंच नव्हें तर या हिंदू राज्याचा शेजारीं आदिलशाहा अगदीं शेवटच्या दिवसापर्यंत रामरायलूचीच मैत्री अभिलाषित होता। सारांश, धर्मातील लढा हें कारण अगदीचं गौण दिसतें। मुख्य व खरें कारण म्हणजे रामरायानें केलेली कर्तबगारी व साम्राज्याची आकांक्षा धरून केलेली राज्याची वाढ हें होय।

रामराजाचा मोड करण्याची मूळ कल्पना इमाद उल्मुल्क अल्लाउद्दिन अकबराची। तिला बाहरी निजामशाहा व इब्राहिम कुत्बशाहा यानी पुष्टि देतांच ती मूर्त स्वरूपास आली। परंतु रामराजावर चालून जाण्याचा मार्ग अदिलशाहींतून। तेव्हां त्याला वश करून घेणें जरूर। परंतु अली आदिलशाहाचा ओढा प्रथमपासूनच रामराजाकडे। अर्थात् त्यांनी इस्लामी बंधुत्वाची मात्रा देऊन त्याला आपलेकडे मिळवून घेतले। परंतु त्याला जरीया कारणपरंपरेचा फोलकटपणा स्पष्ट दिसत होता तरी त्याच्यांत या तिघां पादशाहांच्या विरुद्ध जाण्याची शक्ती नव्हती। म्हणून त्याने आपल्या इस्लामी बंधूस मिळण्याचे ठरविले। मात्र रामराजास आपल्या निष्ठेबद्दल खात्री देऊन आंतून मदत करित होता। यावरून हा रणसंग्राम इस्लामी धर्मासाठी झाला नसून इस्लामियांची राजसत्ता रामराजानें डळमळविली होती ती कायम राखण्याकरितां व विशेषत: रामराजाच्या आगामी धोरणास प्रतिबंध देण्यासाठीं झाला असे म्हणणे अधिक संयुक्तिक दिसते। अली आदिलशाहाने हा कट रचला असे कांहींचे म्हणणे दिसते। परंतु तत्कालीन माहितीवरून हें खरें वाटत नाहीं। बहुध: हा कट म्हणजे हुसेन बहिरी निजामशाहा व कुत्बशाहा यांचेच हें कारस्थान असावें व हें कारस्थान इ० स० १५६४ च्या एप्रिल-मे मध्ये शिजलें असावें।

ह्या कटाची बातमी रामराजा किंवा राजा भूवर यांस दसऱ्याचें पूर्वी म्हणजे इ० स० १५६४ च्या सप्टेंबरांत आली। विजयादशमीच्या दरबारांत त्यानें ती जाहीर केली व या मुसल्मानी पादशाहांत तोंड देण्यासाठी पुढें चालून जाण्याचें ठरविलें। आपली व मांडलिकांची सर्व सेना एकत्र जमवून विजयानगराहून कूच केलें। आदिलशाहानीं आपल्यास मिळावें म्हणून रामराजाप्रमाणे पादशाहांच्याहि खटपटी चालल्या होत्या। शेवटीं आदिलशाहानें पादशाहींच्या सैन्यास वाट देण्याचें व त्यांत शामील होण्याचें ठरवून गुप्तपणें रामराजाला मैत्रीचें व निष्ठेचें अभिवचन दिलें। पादशाही सैन्यहि कूच करून कर्नाटकावर चालून येऊं लागलें।

या सैन्यांची मोजदाद बरीचशी अतिशयोक्तीनें दिली आहे। मात्र या सर्वांची सैन्यें बरींच अफाट होती व तयारी ही चांगली होती असें मानण्यास हरकत दिसत नाहीं। रामराजाकडील सैन्याच्या तळानें तुंगभद्रेच्या उत्तरेकडे कृष्णा नदीपर्यंतचा बत्तीस कोसांचा मुलुख व्यापला होता। निजामशाहाचें सैन्य भीमानदीवरील फरुझाबादेजवळील सुलतानपुराच्या आश्रयानें उतरलें होते इमादचे सैन्य इब्राईमाबरोबर राहिले। आदिलशाहा व कुत्बशाहा कृष्णेवर जमालगडाजवळ राहिले। येथून मुसल्मानी सैन्यानें कृष्णेच्या दक्षिणेकडील मुलुखांत लुटालुट करण्याचा आरंभ केला। तेव्हां राजा भूवरने दहा हजार घोड़े स्वार व वीस हजार पायदळ त्या भागांत पाठवून पळून जाणाऱ्या प्रजेस धीर दिला। इ० स० १५६५ च्या एप्रिलच्या सुरुवातीस रामराजानें आपल्या सैन्याचा तळ-

हलविला। रक्कसगी तंगडगीजवळ जाऊन लढ़ाईस सज्ज राहण्याचा हुकुम दिला। लवकरच तें सैन्य आपल्या युद्धसामग्रीनिशी जाऊन आपापल्या जागीं उभे राहिलें। नंतर रामराजानें सर्वांस निरनिराळी बक्षीसें वगैरे देऊन प्रोत्साहित केलें। पातशाहांना ही बातमी समजतांच त्यांनींहि अपले तरळखानें हालविले व राजा भूवरवर चालून जाण्याचे हुकुम दिले। रामराजाच्या रक्कसगी-तंगडीच्या मुक्कामाजवळ चार कोसावर पातशाही सैन्य उतरले। येथें सर्व पादशाहांचा पुन्हा शपथविधि झाला।

निजामशाहानें गढ़ी बांधून लढण्यास [१२एप्रिल] सुरुवात केली। इमाद-उल्-मुल्कहि सज्ज होऊन कर्नाटकी सैन्यावर चालून येऊं लागला। रामराजानेहि आपले सरदार पाठविले। तोफांस सरबत्ती दिळी। जेजाळा, सुतरनाळा वगैरे अस्त्रें सारखी संहार करूँ लागली। दोन्ही बाजूंच्या सैन्यांत सारखी हातघाईचीं लढाई चालू झाली। तीन दिवस पर्यंत सारखी धुमश्चक्री माजून राहिली। निजामशाहा व कुत्बशाहा यानी मोठ्या धैर्याने व निकरानें लढून चांगलाच पराक्रम दाखविला। परन्तु त्यांचे बरेच सैन्य नाश पावलें। रामराजाच्या सैन्यानें फारच चांगलें शौर्य दाखविलें व शत्रु सैन्याचा मोड [१४ एप्रिल] केला। यावेळी अली आदिलशाहा व बहिमनमुल्क यानी या लढांईत मुळींच भाग घेतला नाहीं। या तीन दिवसांत निजामशाहा व कुत्बशाहा यांचे कडील जे मुख्य मुख्य सरदार कामास आले त्यांत, अळूय मुकुंद देव, जमादार तुळाजीराव, केदारजी सुरावंत, चंद्रोजी कोंडकर, भुजबलराव, सुलतानखान, बड़ेखान, मुल्कसाहेब, हसनखान, हुसेनखान, अकबर बीरखान, कहुमलखान, मुकब अलीखान, महमद अलीखान, जाफरखान, रसूलखान, सिद्दी मुर्तुजाखान, भुजंगराव, सुभानराव, वंकूराव, शीवराव, हिन्दुराव, मुरारी घोरपडे व रामराव हे ठार झालें, आणि शिवाजी राजा, नागोजी भोंसला, निंबाजी काळा, विनूजी पूरा, सूरराव, अंकुशराव, हंसाजी, इब्राईमखान, फरादखान; हिरूतखान, सुगलखान, विलोलखान, मुर्तुजा बेग, सिद्दी हबीबउल्ला, इनायतखान, दाउदखान, अक्लसखान, हजरतखान, अंबाजीराव, ढवळोजीराव, सुबाराव व नागोजी तुकदेव हे जखमी झाले। कैद केलेल्यांत अली नाईक, महिपतराव नाईक, अबदुल नाईक व पीर नाईक असे चौघे मुख्य होते। रामराजाकडे रघुवीर नाईक, कुमारराव अवधूतराव, शिवाजीराव, अंकुशराव, परांडेराव, जगपतीराव, महीपतीराव, भुजंगराव, अलोजीराव, तिम्म नायक, देवराव व सत्यराज सालुंकी हे ठार झाले। सीलरखान, सैद अली लाला, सुलतानजी हिरूजीराव, कृष्णाजीराव, दौलतसिंग, राजा अंकुश, राजा भीमसेन, भास्करराव, सोमण्णा दळवी जगपती, गोपालराय, राजा कुमार शंकरराव, राजा गोपाल, राजा हंसाजी, सेनापती रघुवीर नायक हुळळी, शर्भद शारंगण व तकुळगुंठी वीराप्पा नायक हे जख्मी झाले। सीतळ नायक, पास नायक, मल्ल नायक, नागोजी नायक व तिम्म नायक हे धरले गेले। अशा तर्‍हेने या रणसंग्रामाची पहिली फेर उडाली व जरी दोन्हींहि बाजूंच्या सैन्याचा बराच नाश झाला तरी पातशाही सैन्याचा मोड झाला व त्यांचे सैन्य रण सोडून आपापल्या तळाकडे निघून गेले।

यानंतर दोन्हीही बाजूंचे आदिलशाहाच्या मदतीकडे डोळे लागले। आदिलशाहा पहिल्या रणसंग्रामांत सामील झाला नाहीं हें पाहून दळवी वीराप्पा नायक व पावडो नायक यांचे बरोबर रामराजानें निरोप पाठविला कीं तुला लहानपणीं मांडीवर खेळविलें व तुझ्या दुधभाताकरितां रायचूर मुद्गल व अदोनी हे प्रान्त दिले। तुलां आजपर्यंत हरतर्‍हेची मदत केली व तूंहि आजपर्यंत माझे इच्छेनुरूपच वागत आला आहेस। तरी आतां जे तीन पादशाह माझा नाश करण्यास उद्युक्त झाले आहेत त्यांस तूं मिळणें तुला योग्य आहे कां? आदिलशाहानें उत्तर पाठविलें कीं, 'मी शत्रुसैन्यास अंत:करणपूर्वक मिळालेला नाहीं। या तीन पादशाहांनीं आपलीं सैन्यें जबरदस्तीनें माझ्या मुलुखांत घुसविली। झाडापानांचा जंगलांचा वगैरे बराच नाश केला।

जुलमामुळेंच मला त्याचेबरोबर यावे लागले। मी तुमच्या मांडीवर खेळलों आहे व आद्यापिहि तुमचा पुत्र आहे असेच मानित आहे। आपणांस दिलेल्या आभिवचनांत यत्किंचित अंतर करणार नाहीं। मी तुमचा आहे। जरी मी शत्रू बरोबर असलों तरी माझ्या विषयीं शंका घेण्याचे कारण नाहीं। परंतु ही बातमी पादशाहांस लागतांच त्यानीं आदिलशाहास तोंडी निरोप पाठवून विचारले की, 'ही लपंडावी व फितुरी तुम्हीं करित आहांत हे योग्य नाहीं। आम्हीं तुमचेवर अवलंबून नाहींत। रामराजाचा आम्हीं नाश करणारच। परंतु तुम्हीं जर या लढाईत आमच्या बरोबरीने मेहनत केली नाहींत तर प्रथम तुमचाच नाश करणे आम्हांस भाग पडेल। आदिलशाहा या दटावणीस घाबरला व 'तुम्हीं ज्याप्रमाणें सांगता त्याप्रमाणें आजपर्यंत करीत आलों आहे व पुढेही करीन, शंका नसावी असे त्यानीं कळविलें। आदिलशाहाचें या पूर्वीचें वर्तन व आश्वासन यावर रामराजाचा विश्वास बसला असल्यास नवल नाहीं।

नंतर रामराजानें आपली सेना रक्कसगी-तंगडगीच्या उघड्या मैदानांत नेली। तेथे रणगढी बांधून रणस्तंभही उभारला व त्यासभोंवतीं आपले सैन्य ठेवून शत्रूवर हल्ले करण्यास सुरुवात केली। दोन दिवस [१७-१८ एप्रिल] अशा तऱ्हेनें गेले। इमादच्या सैन्यानें आपला मोर्चा तालीकोट येथील चाळीस घरांच्या मागे नेला व तेथे बारगीर, वजीर व मराठे सरदारांसह तळ दिला। राजा भूवरनेही आपले मुख्य सैन्य रक्कसगीच्या मैदानांत ठेवून तो कांहीं निवडक निवडक सैन्यानिशी तालीकोटकडे गेला। अशा रितीनें या दुसऱ्या फेरीचा वेळीं हें रणक्षेत्र रक्कसगी ते तालिकोट पर्यन्त पसरले गेले होतें। रक्कसगीच्या सैन्याचें अधिपत्य राजा कोंडवरूकडे दिले होतें।

उजाडतांच [ता० २० एप्रिल] पादशाही सैन्य कर्नाटकी सैन्यावर चालून आलें। राजा कोंड़वरू व इतर सरदार त्यांस तोंड देण्यास पुढे गेले। सकाळपासून दुपारीं तीन वाजेपर्यन्त निकराचें युद्ध झलें। दोन्हींहि बाजूंकडील बरेच लोक कामास आले। पादशाही सैन्याचा जोर दिसतांच राजा कोंडवरूने राजा भूवरकडे निरोप पाठविला की 'तीनही पादशाहा आमचेवर तुटून पडत आहेत। तरी त्यांचे पाठीवर सैन्य पाठवावे। असे केल्यास त्यांच्या सैन्याचा नाश होईल व आपणास जय मिळेल। आदिलशाहा व इमाम नायक हे अद्यापि युद्धांत शामील झाले नाहींत। त्यावरून असें वाटतें कीं ते आपले विरुद्ध लढणार नाहींत। परंतु ते आपली कदाचित ऐनवेळीं फसगतहि करतील। तरी त्याचे बोलण्यावर विश्वसून चालणार नाहीं। जर आपण आबाजी नायकाबरोबर दहा हजार घोडदळ व वीस हजार पायदळ रवाना केलेत तर आमची फत्ते होईल व शत्रूची धूळधाण उडेल। रामराजाला हा बेत पसंत पडला व त्याने तावडतोब कुमक रवाना केली। इकडे युद्ध चालूंच होते। इमादधचे सैन्य व निजामशाहा धीर धरून लढत होते। कुत्बशाहाने तर माघार घेतली व आश्रयाची जागा पाहून तेथें जाऊन राहिला। या धुमश्चक्रींत राजा भूवरचेहि बरेच सैन्य कामास आले। हें पाहून रामराजाने त्या दोन्हीं पादशाहांवर तुटून पडण्यास सांगितले। खास रामराजाही आपल्या अमृत गजावर आरूढ होऊन लढाई करीत होता व हुकुम देऊन सैन्य लढवित होता। अशा तऱ्हेने तीन दिवस व चौथ्या दिवशीं नऊ तास युद्ध झालें। तेव्हां शत्रूपक्षाचे बरेच लोक मारले गेले व शत्रुसैन्य सैरावैरा जंगलांत पळूं लागले। शेवटीं त्या तीन्हींहि पादशाहानीं माघार घेऊन दोन कोस मागे तळ घेतला। अशा रीतीने रामराजाला हा दुसरा विजय मिळाला व रामराजाचें सैन्य आनन्दभरित होऊन गाफिल राहिलें।

पातशाही सैन्याचें झालेलें नुकसान व या विजयाने त्यांची झालेली मानहानी यामुळें ते सर्व चिडून गेले। त्यानीं पुन्हां एकदां जोराचा हल्ला देण्याचे ठरविले। त्यानीं आदिलशाहास निकराचा निरोप धाडला कीं, 'तुम्हीं आतापर्यंत आम्हांस कांहीच मदत केली नाहींत। उलट शत्रु आमच्या सैन्याचा नाश कसा करीत आहे हें पाहाण्यांतंच आपण मग्न आहांत। आपली इच्छा। आम्हीं धैर्यानें पुन्हां एकदा निकराचा प्रयत्न करूं आणि आमच्या विश्वासू सरदारांच्या

साहाय्यानें इस्लामी धर्माची अब्रू सांभाळूं।" हा निरोप गेला त्यावेळीं दुपारचें तीन वाजले होतें। पातशाही सैन्य शत्रूवर हल्ला चढविण्यासाठीं तयारी करीत होते व अली आदिलशाह निमाज पढत होता। त्याने तो निरोप ऐकून इस्लामीयांची अब्रू वाचविण्याबद्दल व त्यांस शत्रुवर विजय मिळविण्याबद्दल परमेश्वराची करुणा भाकली। एकदम आपल्या सैन्यास हुकुम दिले व राजा भूवरच्या गाफिल असलेल्या सैन्यावर तो तुटून पडला। रामराजाचा सैन्याची दाणादाण उडाली व लोक लढण्यास तयार होण्यापूर्वीच त्यांचा नाश केला गेला। चिजवस्तु लुटली। आदिलशाहाच्या लोकांनीं राजा भूवर यास वेढा घातला व त्याला पकडून आदिलशाहापुढें नेले। तेव्हां राजा भूवर बोलला कीं, 'आतापर्यन्त तुला मी माझा मुलगा म्हणून समजत आलों। शेवटीं तूं मला असा हा दगा दिलास। हें तुझ्या अब्रूस साजेसें आहें काय? थोर मनुष्य आपल्या पितृस्थानी मानलेल्या माणसाला असें फसवितात कां? माझ्याबद्दल म्हणशील तर अशा तऱ्हेने माझी प्रजा व सैन्य विश्वासघातानें बळी पडल्यानंर मला या जगांत काहीं मिळवावयाचें राहिले नाहीं। तूं कृतघ्नपणें जरी असा विश्वासघात केला आहेस तरी मी तुझ्याजवळ शेवटची मागणी करीत आहे कीं माझें शीर शत्रु सैन्याच्या हातीं पडण्यापूर्वी तूं आपल्या तरवारीने काप व नंतर तुझ्या जातीचा, धर्माचा व राज्याचा उदंड उपभोग घे। शेवटीं रामराजाने परमेश्वराची प्रार्थना केली व पुन्हां एकदां आदिलशाहास शीर कापण्यास सांगीतले व आदिलशाह ने रामराचाचें शीर धडापासून वेगळें केलें। ही बातमी इतर पादशाहांस समजतांच त्यांनीहि हल्ले चढविले। कर्नाटकी सैन्याचा संहार व लुटालुट केली। अशा तऱ्हेनें या भारतीय दुसऱ्या रणसंग्रामाचा शेवट झाला।

नंतर ते पादशाही सैन्य खास विजयानगरावर चालून गेलें व तें शहर लुटलें। आदिलशाहानें सवीस मेजवानी देऊन त्यांची बोळवण केली। राजा भूवरचें शव काशीस पाठविले। विजयानगरचे शहर लुटलें तेव्हां राजधानी पेनकोंड्यास नेली होती। तेथें आदिलशाहानें वेढा दिला व पेनकोंड नंतर दीड महिन्यानीं म्हणजे जूनच्या सुरूवातीस ताब्यांत घेतलें। विजयानगरचें साम्राज्य मोडलें। इसलामी पादशाहांस या दुसऱ्या भारतीय रणसंग्रामांत मिळालेल्या यशाने आपलीं राज्यें चिरस्थायी करतां आलीं।

रामराजा रक्ताची संवत्सरीं (गत) शालीवाहन शके १४८७ (चालू १४८६) वैशाख मासीं बहुल अष्टमी व सोमवार रोजी श्रवण नक्षत्रीं (२३ एप्रिल १५६५ अथवा २२ रमजान ९७२ हिजरी) सायंकाळानंतर मारला गेला।

वरील हकीकतीला मुख्य आधार म्हणजे समकालीन रामाजी हरकारा नांवाच्या खुद्द रामराजाच्या नोकरानें लिहिलेली हकीकत होय यावरून रणसंग्रामाला धर्माधर्मातील तेढ हे कारण नसावे। हा रणसंग्राम हिंदू मुसलमानांतील नसून कर्नाटकचें साम्राज्य व उत्तरेकडील राजे यांचेतील असावा। रामराजा इस्लामी पादशाहांस तोंड देतांना सेनापतीचें काम उत्कृष्टपणें करीत होता व त्या सर्वांस तोंड देण्याइतके त्याचें सामर्थ्य होतें। आदिलशाहाचें व त्याचें वांकडे नसून उलट त्यांची मैत्रीच होती। मात्र आदिलशाहानें ऐनवेळीं विश्वासघात, आणि तोहि इतर पादशाहांच्या दटावणीला भिऊन, केल्यामुळें रामराजा तालीकोट जवळ पकडला गेला व शेवटीं मारला गेला आणि अशा रीतीनें हें रक्कसकगी-तंगडगीच्या मैदानापासून तालीकोटपर्यंत व्यापलेल्या रणक्षेत्रांत हा हिन्दुस्थानच्या इतिहासांतील दुसरा मोठा भारतीय रणसंग्राम हिंदू साम्राज्याच्या नाशास कारणीभूत झाला।

आधार ग्रन्थ

'रामराजा चरित्र' अथवा 'दि हिस्ट्री ऑफ़ दि फ़ाल ऑफ़ रामराजा किंग ऑफ़ विजयनगर' मेकेन्ज़ी का संग्रह, जि० ८, इण्डिया ऑफ़िस; बाम्बे गवर्नमेंट गज़ट-बीजापुर; 'हिस्ट्री ऑफ़ दि कर्नाटक एण्ड डेकन'; भारत इ० सं० मं० इति वृत्तें व संमेलन वृत्तें; राजापुरोहित—'कर्नाटकाचा इतिहास'।

हीरविजय सूरि और अकबर

मुनि विद्याविजय

इतिहासज्ञ लोग, जितना अकबर से परिचय रखते होंगे, उतना हीरविजय सूरि से नहीं। कुछ वर्षों के पहले तो, जहाँ तक मेरा ख़याल है, अच्छे अच्छे जैन विद्वान् भी इस बात को नहीं जानते थे कि हीरविजय सूरि का अकबर के साथ भी ख़ासा सम्बन्ध था। परन्तु संशोधन के ज़माने में कई अप्रकट बातें प्रकाश में आ ही जाती हैं। इस प्रकार अब यह बात प्रकट हो चुकी है कि हीरविजय सूरि का अकबर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और उन्हों ने अकबर के पास चार साल तक निरन्तर रह कर उस पर अपने चरित्र का अपूर्व प्रभाव डाला था।

हीरविजय सूरि अकबर के समकालीन जैन-धर्म के प्रभावशाली आचार्य थे। जैन समाज पर उन का बड़ा प्रभाव था। क़रीब दो हज़ार साधुओं के वे अधिपति थे। उन की विद्वत्ता और साधुता की ख्याति सर्वत्र फैली हुई थी। यद्यपि वे अधिकतर गुजरात में ही भ्रमण करते थे, परन्तु दूर दूर के जैन लोग उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे।

वे बहुत बड़े, जैन-धर्म के शासनसम्राट् होते हुए भी जैन साधुओं के आचारों का कठोरता के साथ पालन करते थे। शारीरिक श्रृंगार न करना, परिमित वस्त्र, और भोजन के लिए काष्ठपात्र रखना, मधुकरी वृत्ति से निर्वाह करना, हमेशा पैदल ही भ्रमण करना, किसी भी प्रकार की सवारी नहीं बरतना, जूते और छाते का धारण न करना, एक स्थान में न रह कर आठों मास भ्रमण करते रहना, और चातुर्मास एक स्थान में रहना, स्त्री और पैसे से सर्वथा दूर रहना इत्यादि साधु आचार, जो भगवान् महावीर के समय से, ढाई हज़ार वर्ष पूर्व से, चले आये हैं, उन का यथोचित पालन करते थे।

इस प्रकार हीरविजय सूरि एक आदर्श साधु, त्याग की मूर्ति, बड़े भारी विद्वान् और उपदेशक थे।

हीरविजय सूरि का जन्म वि० सं० १५८३ में हुआ और उन्हों ने सं० १५९६ अर्थात् १३ साल की उम्र में विजयदान सूरि के पास साधु-दीक्षा ली। उन्हें सं०१६०७ में 'पण्डित' पद, १६०८ में 'उपाध्याय' पद, और १६१० में आचार्य पद प्राप्त हुआ।

जैन साधुओं का उपदेश सार्वजनिक कल्याण के लिए होता है। उन के उपदेश में स्वार्थ की मात्रा नहीं रहती। क्योंकि वे ऐहिक सुखों के लिए किंवा किसी प्रकार के स्वार्थ के लिए साधु नहीं होते। यही कारण है कि जैन साधु प्रजा में सुख-शान्ति स्थापित करने के लिए, प्रजा का कल्याण करने के लिए, समय समय पर राजाओं को भी प्रतिबोध करते आये हैं। जैन साधु हमेशा से मानते आये हैं कि हज़ार आदमियों को उपदेश देने की अपेक्षा एक राजा को उपदेश देना अधिक अच्छा है। क्योंकि राजा का सदाचरण-सद्भाव प्रजा के लिए लाभदायक होता है। इसी कारण कई जैन पूर्वाचार्यों ने राजाओं को प्रतिबोध करने का गौरव प्राप्त किया है। उदाहरणार्थ संप्रति राजा को आर्य सुहस्ति ने, आम राजा को वापभट्टि ने, हस्तिकुंडी के राजाओं को वासुदेवाचार्य ने, वनराज को शीलगुण सूरि ने और सिद्धराज एवं कुमारपाल को हेमचंद्राचार्य ने प्रतिबोध कर प्रजाहित के महत्वपूर्ण कार्य करवाये थे। हिन्दू ही नहीं, मुहम्मद तुग़लक, फीरोज़शाह, अलाउद्दीन और औरंगजेब सरीखे क्रूरहृदय, निष्ठुर मुसलमान बादशाहों पर भी जिनसिंह सूरि, जिनदेव सूरि और रत्नशेखर सूरि जैसे जैनाचार्यों ने प्रभाव डाल कर धर्म और समाज की रक्षा की थी।

इसी प्रकार हीरविजय सूरि ने अकबर जैसे सम्राट् पर भी बहुत प्रभाव डाला, और जैन धर्म के ही नहीं, समस्त प्रजा के कल्याण के अपूर्व कार्य करवाये। वल्कि यों कहना चाहिए कि हीरविजय सूरि और उन के बाद अकबर के समीप गए हुए उन के शिष्यों ने अकबर के जीवन की कायापलट सी कर दी थी।

अकबर की मुलाकात

यह तो जगप्रसिद्ध बात है कि अकबर बड़ा भारी महत्त्वाकांक्षी था। उस को अपनी बुद्धि, ज्ञान और राजत्व का गर्व था। तिस पर भी किसी न किसी कारण से उस में जिज्ञासा वृत्ति अवश्य थी। कोई नई बात उस के देखने वा सुनने में आती तो वह उस का परिज्ञान करने की कोशिश करता। हीरविजय सूरि के समागम में भी ऐसी ही विचित्र घटना का प्रसंग पाया जाता है।

फतहपुर-सीकरी में चंपा नाम की एक जैन श्राविका ने छः महीने के उपवास[1] किये थे। अकबर को इस का पता चला। बादशाह, अपने दो मनुष्यों को, जिन का नाम मंगल चौधरी और कमरूखाँ बताया जाता है, भेज कर जाँच करता है। बाद में छः महीने के उपवास की समाप्ति पर जैनों की तरफ से जो जुलूस निकला, उस में यह तपस्विनी बाई भी थी। अकबर ने बाई को बड़े आदर के साथ महल में बुला कर, कितने उपवास किये, किस प्रकार किये, इतने उपवास क्योंकर हो सके, इत्यादि कई प्रश्न किये। चंपा बाई ने यथोचित उत्तर देते हुए कहा कि—"मैं अपने गुरु हीरविजय सूरि की कृपा से ही इतने उपवास कर सकी हूँ।" बादशाह के पूछने पर बाई ने यह भी बताया कि "हीरविजयसूरि इस समय गुजरात के गंधार शहर में हैं।"[2]

---

[1] जैन साधु किंवा गृहस्थ जितने भी उपवास करते हैं वे सर्वथा निराहार ही करते हैं। दिन में या रात्रि में कोई भी खाद्य चीज नहीं ली जाती। बहुत प्यास लगने पर सिर्फ़ दिन दिन में ही गरम पानी लिया जाता है। इस प्रकार छः महीने का उपवास इस बाई ने किया था।

[2] जगद्गुरू काव्य के कर्त्ता का कथन है कि अकबर ने थानसिंह नामक जैन गृहस्थ से हीरविजय सूरि का पता दर्याफ़्त कर लिया था। विजयप्रशस्ति काव्य के अनुसार अकबर ने हीरविजय सूरि को बुलाने का निश्चय एतमादखां से उन की प्रशंसा सुन कर ही किया था।

हीरविजय सूरि की तरफ आकर्षित होने का तथा उन को बुलाने का यही खास निमित्त था।

बाद में अकबर ने एक पत्र मानुकल्याण और थानसिंह नामक जैन गृहस्थों तथा धर्मसिंह पंन्यास से लिखवाया और एक ख़त खुद लिखा।

उस समय गुजरात का सूबेदार था शहाबखां (शहाबुद्दीन अहमदखां)। बादशाह ने इस सूबेदार को लिख दिया कि 'हीरविजय सूरि को हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे आदि ठाट व इज्जत के साथ भेजो।' ये पत्र बादशाह ने दो मेवडाओं के साथ भेजे। 'हीर सौभाग्य काव्य' में इन मेवडाओं के नाम मौदी और कलाम दिये गये हैं।

हीरविजय सूरि इस समय गंधार में थे। दोनो पत्र हीरविजय सूरि के पास पहुँचने पर अहमदाबाद, खंभात, गंधार आदि के जैन गृहस्थ लोग इकट्ठे हुए। हीरविजय सूरि को जाना चाहिए या नहीं ? इस विषय में बहुत परामर्श हुआ। गृहस्थ लोगों ने, अकबर के निमंत्रण पर अनेक तर्क वितर्क कुतर्क कर के सूरि जी को जाने से मना किया, परन्तु अन्त में सूरि जी ने अपनी ओजस्वी भाषा में सब को उत्तेजित कर के वस्तुस्थिति समझाई, और अकबर के पास जाने का निश्चय किया।

वि० सं० १६३९ के मार्गशीर्ष कृष्णा ७मी के दिन हीरविजय सूरि ने फतहपुर सीकरी के लिए प्रस्थान किया। लंबी मुसाफरी थी। अपना पुस्तक, वस्त्र, पात्र आदि सब सामान कंधे पर उठा कर पैदल चलना था। ग्रामानुग्राम भिक्षावृत्ति करते हुए जाना था। इन कारणों से भक्त जनों को आचार्य जी का गुजरात छोड़ना बहुत खटकता था, दुःखकर होता था, परन्तु भविष्य में होने वाले लाभ पर दृष्टिपात करते हुए सूरि जी ने उन सारे कष्टों को तुच्छ समझा।

हीरविजय सूरि के साथ इस समय ६७ साधु थे, जिन में प्रधान विमलहर्ष उपाध्याय, शान्तिचंद्र गणि, पं० सोमविजय, पं० सहजसागर, पं० सिंहविमल, पं० गुणविजय, पं० गुणसार, पं० कनकविजय, पं० धर्मसी ऋषि वगैरह थे।

हीरविजय सूरि, अपनी इस मंडली के साथ ज्येष्ठ शुक्ला १२ (सं० १६३९) को फतहपुर सीकरी पहुँचे। उन्हों ने गंधार से चंचोला, जंबूसर, सोजीत्रा, मातर, बोरीसाणा, कड़ी, महसाना, पाटन, सिधपुर, रोह, आबू, सिरोही, सादड़ी, वान्ता, बगड़ी, जयताण, फलोदी, सांगानेर, हिंडवण, और बयाना होते हुए फतहपुर सीकरी में प्रवेश किया था। आखरी मुकाम उन्हों ने अमीरामाबाद[1] में किया।

---

[1] ट्रिग्नोमेट्रिकल नक्शे में यह ग्राम (अमिरामाबाद) नहीं है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि हीरविजय सूरि ने आखिरी मुकाम अमिरामाबाद में किया था। ऋषभदास कवि ने हीरविजय सूरि रास में लिखा है—

"बयाना नई अमिरामाबाद गुरू आवंतां गयो विषवाद।
फतेपुर भणी आवइ जसिय अनेक पंडित पूंठि तस्यइ" ॥१४॥ पृ० १०८।

अर्थात् बयाना के बाद अमिरामाबाद आये थे।

हरिसौभाग्य काव्य में लिखा है—

"पवित्र 'स्तीर्थं इवाध्वजन्तून्पुरेऽभिरामादाम्नि।
यावत्समेतः प्रभुरेत्य तावद् द्राग्वाचकेन्द्रेण नतः स तावत् ॥
सर्ग १३, श्लो० ४४।

हीरविजय सूरि का प्रवेशोत्सव वड़े आडम्बर के साथ किया गया। जैनों के साथ राज्य के सहकार ने इस उत्सव की शोभा बहुत वढ़ा दी।

'हीरविजयसूरिरास' के कर्त्ता ऋषभदास कवि का कथन है कि जिस दिन हीरविजय सूरि ने फतहपुर सीकरी में प्रवेश किया, वे फतहपुर सीकरी के एक सामन्त जगन्मल्ल कच्छवाह[1] के महल में ठहरे थे। जगन्मल्ल कच्छवाह ने वड़े आदर के साथ सूरि जी की भक्ति की ।

दूसरे दिन अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ला १३ के दिन हीरविजय सूरि की मुलाकात साम्राट् अकवर से होने वाली थी। अकवर के पास पहुँचने के पहले हीरविजय सूरि अवुलफ़ज़ल के यहाँ कुछ समय ठहरे[2] और उन्हीं के द्वारा इस प्राथमिक मुलाकात का समय निर्णय किया गया ।

बादशाह के महल में सूरि जी बुलाये गये। सूरि जी अपने १२ शिष्यों के साथ महल में पधारे; अर्थात् कुल १३ साधु इस प्रथम मुलाकात में थे। अपनें तीनों पुत्रों (शेखूजी, पहाड़ी (मुराद) और दानियाल), अवुलफ़ज़ल एवं बीरवल आदि राज्य के बड़े बड़े कर्म-चारियों सहित अकवर ने, सूरि जी का स्वागत किया। प्रारम्भ में वाहर के दालान में अनेक सुख वार्त्ताओं की पृच्छा होने के पश्चात् अकबर ने महल की चित्रशाला में पधारने के लिये प्रार्थना की। परन्तु अन्दर के कमरे में गालीचा विछा हुआ था। सूरि जी ने इस पर हो कर चलने के लिये अपने साधु धर्मानुसार इन्कार किया। अकवर ने कारण पूछा। सूरि जी ने साधु धर्म दिखलाते हुए 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्'—'दृष्टि से पवित्र बनी हुई जगह पर पैर रखना चाहिए।' इत्यादि बातें समझाईं। यहाँ आश्चर्य जनक घटना यह हुई कि सूरि जी को अंदर ले जाने के लिये ज्योंही अकवर ने गालीचे का एक पल्ला उठाया, उस ने देखा कि हजारों चींटियाँ फिर रही हैं। इस पर अकवर को वड़ा आश्चर्य हुआ और सूरि जी पर श्रद्धा अधिक बढ़ी। वाद में निर्दोष स्थान में बैठक रक्खी गई और सूरि जी से बादशाह ने उपदेश सुना।

इस प्रथम मुलाकात में हीरविजय सूरि ने देव, गुरु और धर्म का स्वरूप समझाया।

इस मुलाकात के प्रसंग पर बादशाह ने अपने पर लगी हुई शनि की दशा के ख़राब असर को दूर करने के लिए तावीज़ जैसी कोई चीज़ बना देने की प्रार्थना भी की। परन्तु सूरि जी ने 'मंत्र-तंत्रादि करना साधु का धर्म नहीं है' ऐसा स्पष्ट उत्तर दिया।

हीरविजय सूरि के सम्बन्ध में कई ऐसी दन्त कथाएँ, दन्तकथाएँ ही नहीं, बल्कि कुछ संस्कृत ग्रन्थों में भी ऐसा पाया जाता है कि उन्हों ने अकबर को उस के पिछले पूर्वज बताये, टोपी उड़ायी, एक बकरी को ढक कर उस में से दो जीव दिखाये; इत्यादि कई चमत्कारिक बातों का वर्णन पाया जाता है। और ऐसा कर के हीरविजय सूरि की अस्वाभाविक महिमा बढ़ाई गई है। परन्तु यह वात बिलकुल ग़लत है। हीरविजय सूरि ने कोई चमत्कार नहीं दिखाया। बल्कि जब कभी अकबर ने ऐसे प्रश्न किये, तब बिलकुल इन्कार कर दिया। हाँ, इतना अवश्य कहा—'आप जीवों पर रहम कीजिये, जीवों की रक्षा कीजिये, प्रजा के दुःखों को निवारण कीजिये। आप का भला होगा। आप दुःखों से मुक्त होंगे।'

---

[1] जगन्मल्ल कच्छवाह जयपुर के राजा विहारीमल का छोटा भाई था। विशेष के लिये देखो 'आईन-ए अकबरी' के प्रथम भाग का, ब्लॉकमेन अँग्रेज़ी अनुवाद, पृ० ४३६।

[2] विन्सेंट स्मिथ लिखता है:—

बादशाह को उन से (हीरविजय सूरि से) वार्तालाप करने का अवकाश मिला, तब तक वे अबुल फ़ज़ल के पास बिठाये गये। अकवर पृ० १६७।

अकबर के पास पुस्तकों का एक सुंदर भंडार था। वह भंडार पद्मसुन्दर नामक, नागपुरीय तपागच्छ के साधु के स्वर्गवास होने से अकबर के पास आया था, अकबर ने इस प्रथम मुलाकात में हीरविजय सूरि को यह भंडार भेंट किया, परन्तु सूरि जी ने इस को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा कि—"हम जितने ग्रंथ उठा सकते हैं, उतने ही अपने पास रखते हैं। और हमें ग्रंथों की आवश्यकता होती है तो भंडारों से पढ़ने के लिये मांग लेते हैं। आख़िर में 'विजयप्रशस्तिमहाकाव्य' के कर्त्ता के कथनानुसार यह भंडार आगरे में अकबर के नाम से जनता के लाभ के लिये खोला गया।

इस वर्ष का चातुर्मास सूरि जी ने आगरे में ही किया।

अकबर पर प्रभाव

हीरविजय सूरि के चरित्र और विद्वत्ता का प्रभाव अकबर पर बहुत गहरा पड़ा। फतहपुर सीकरी, आगरा और उस के आस पास चार साल तक हीरविजय सूरि रहे। अकबर से समय समय पर मिलते रहे, दूर रह कर के भी संदेश किंवा पत्र द्वारा उपदेश देकर कई प्रजाहित के व जीव दया के कार्य करवाये।

अकबर के यहाँ जो पक्षी दरबों में बंद थे, उन को मुक्त कराया, फतहपुर सीकरी के डावर में मछलियों का पकड़ना बंद करवाया, पर्युषणा पर्व के ८ दिन तथा आगे पीछे के दो दो दिन मिला कर कुल भाद्रपद कृष्ण १० से भाद्रपद शुक्ल ६ तक सारे राज्य में कोई जीवहिंसा न करे, ऐसा हुक्म निकलवाया और 'जज़िया' नामक प्रसिद्ध 'कर' तथा तीर्थों पर जो यात्रियों से 'कर' लिया जाता था, वह भी उठवा दिया।

इस प्रकार हीरविजय सूरि जी ने अकबर से बहुत कार्य करवाये।

शिष्यों से समागम

बादशाह अकबर के दरबार में हीरविजय सूरि का प्रवेश राजा और प्रजा के लिए अत्यन्त लाभदायक हुआ। हीरविजय सूरि का ही क्यों? हीरविजय सूरि के शिष्यों ने भी अकबर के जीवन पर कुछ कम प्रभाव नहीं डाला था। शान्तिचन्द्र उपाध्याय, भानुचन्द्र जी, सिद्धिचन्द्र जी और विजय सेन सूरि भी अकबर के दरबार के रत्न बने थे। इन्हों ने भी अपने चारित्र के प्रभाव व उपदेश से अच्छे अच्छे कार्य अकबर से करवाये।

शान्तिचन्द्र जी ने अकबर की तारीफ़ के १२९ श्लोकों का एक काव्य रचा, जिस का नाम 'कृपारसकोश' है। शान्तिचन्द्र जी बादशाह को यह काव्य सुनाते थे। कभी कभी अपनी अवधान करने की शक्ति से भी बादशाह को चमत्कृत करते थे। बादशाह ने इनके उपदेश से 'अपने (बादशाह के) जन्म दिन वाले सारे महीने में, रविवार के दिनों में, संक्रान्ति के दिनों में और नवरोज़ के दिनों में कोई भी आदमी जीवहिंसा न करे', ऐसा हुक्म निकाला था। 'हीरसौभाग्यकाव्य' के कर्त्ता का कथन है कि—"बादशाह ने अपने तीन लड़कों-सलीम, मुराद और दानिआल के जन्म वाले महीनों के लिए भी जीवहिंसा-निषेध का फ़र्मान निकाला था।

कुल मिला कर एक वर्ष में छः महीने और छः दिन के लिये अकबर ने अपने सारे राज्य में जीवहिंसा नहीं होने के फ़र्मान निकाले थे।

कहा जाता है कि—'जज़िया' बन्द कराने का फ़र्मान भी शान्तिचंद्र जी ने ही प्राप्त किया था। शान्तिचन्द्र जी के कराये हुए कार्यों में इन का 'कृपारसकोश' काव्य प्रधान कारण है।

शान्तिचन्द्र जी के बाद में भानुचंद्र जी और सिद्धिचंद्र जी अकबर के पास रहे थे। इन दोनों का संबन्ध गुरु शिष्य का था। इन दोनों ने अकबर के पास रह कर अच्छी ख्याति प्राप्त की। भानुचन्द्र जी पर बादशाह बहुत प्रसन्न था। बादशाह जब कभी फतहपुर सीकरी किंवा आगरा छोड़ कर बाहर जाता, भानुचन्द्र जी को अवश्य साथ ले जाता। भानुचन्द्र जी अपने साधुधर्म के नियमानुसार पैदल ही जाते थे। बादशाह को विश्वास हो गया था कि इन महात्मा के बचनों में सिद्धि है। इस के उसे कई प्रमाण भी मिल गये थे।

इतिहासकारों के कथन से यह बात स्पष्ट है कि बीरबल के अनुरोध से, अकबर प्रतिदिन सूर्योपासना करता था। बदाउनी लिखता है :—

दूसरा यह हुक्म दिया गया था कि—सवेरे, शाम, दुपहर और मध्यरात्रि में—इस प्रकार दिन में चार बार सूर्य की पूजा होनी चाहिये। बादशाह ने भी सूर्य के १००१ नाम जाने थे। और सूर्याभिमुख होकर भक्ति पूर्वक उन नामों को बोलता था।

सूर्य के ये १००१ नाम किस के द्वारा प्राप्त किये थे ? यह किसी ने नहीं बताया। जैन ग्रंथों में इस के सम्बन्ध में बहुत सी बातें लिखी गई हैं। ऋषभदास कवि ने 'हीरविजयसूरिरास' में लिखा है :—

"पातशाह काश्मीरें जाय, भाणचंद पुंठे पणि थाय;
पूछइ पातशा ऋषि ने जोइ, खुदा नजीक कोने वली होई ? ॥ १९ ॥
भाणचंद बोल्या ततखेव, नजीक तरणी जागतो देव।
ते समयों करि बहुसार, तस नामिं ऋद्धि अपार ॥ २० ॥
हुओ हुकम ते तेणीवार सँभलावे नाम हजार।
आदित्य ने अरक अनेक आदि देवमां घणे विवेक" ॥ २१ ॥

इस से मालूम होता है कि--बादशाह जब कश्मीर गया था तब भानुचन्द्र ने सूर्य के सहस्रनामों का स्त्रोत्र[1] सुनाया और सिखलाया था। भानुचंद्र जी के उपदेश से सिद्धाचल जी की यात्रा पर जाने वाले लोगों से जो 'कर' लिया जाता था वह बादशाह ने बन्द कर दिया, और उस का फ़रमान पत्र लिख कर हीरविजय सूरि के पास भेज दिया।

भानुचन्द्र जी को जैन संघ ने 'उपाध्याय' पद दिया, उस में भी बादशाह का ही अनुरोध था।

भानुचन्द्र जी के शिष्य सिद्धिचंद्र जी बड़े विद्वान् और शतावधानी थे। सिद्धिचंद्र जी की शक्ति से प्रसन्न हो कर बादशाह ने उन्हें 'खुशफ़हम' का पद दिया था।

भानुचन्द्र जी और सिद्धिचन्द्र जी अक्सर विजयसेन सूरि की प्रशंसा किया करते थे। विजय सेन सूरि हीरविजय सूरि के प्रधान शिष्य थे, पट्टधर थे। अकबर ने हीरविजय सूरि को पत्र लिख कर विजयसेन सूरि को अपने पास बुलाया। वि० सं० १६४९ में विजयसेन सूरि राधनपुर (गुजरात) से प्रस्थान करके लाहौर में अकबर से जा

---

[1] इस स्तोत्र की एक हस्त लिखित प्रति आगरे के 'श्री विजय धर्म लक्ष्मी ज्ञान मंदिर' में है, उसका आदि श्लोक यह है—

"नमः श्री सूर्यदेवाय सहस्रनाम धारिणे।
कारिणे सर्व सौख्यानां प्रतापाद्भुततेजसे ॥

मिले। इस समय अकबर लाहौर में रहता था। विजयसेन सूरि और अकबर की प्रथम भेट लाहौर के 'कश्मीरी महल' में हुई। नंदिविजय जी जो कि विजयसेन सूरि के शिष्य थे, अष्टावधान कर बादशाह को प्रसन्न किया। बादशाह ने उन्हें 'खुशफ़हम' का पद दिया।

विजयसेन सूरि की विद्वत्ता और चारित्र पर अकबर बहुत प्रसन्न हुआ। विजयसेन सूरि के उपदेश से अकबर ने गाय, भैंस, बैल और भैसों की हिंसा बन्द करा दी। एवं मृत मनुष्य का 'कर' लेना बन्द करा दिया।

विद्वानों का मत

अब तक के वृत्तान्त से यह स्पष्ट होता है कि—हीरविजय सूरि, शान्तिचन्द्र उपाध्याय, भानुचन्द्र उपाध्याय, और विजयसेन सूरि ने अकबर के जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव डाला था। 'जज़िया' कर उठवाना, सिद्धाचल, गिरिनार, तारंगा, आबू, ऋषभदेव, राजगृह के पहाड़ और सम्मेत शिखर आदि श्वेताम्बर तीर्थों के परवाने लेना, सिद्धाचल का कर बन्द करवाना, मृत मनुष्यों के धन ग्रहण करने का रिवाज बन्द करवाना, पक्षियों को पिंजरों में से छुड़वाना, गाय, भैंस, बैल, भैंसों की हिंसा रुकवाना आदि अनेक कार्य उपर्युक्त जैन महात्माओं ने करवाये थे और जैन साधुओं के उपदेश से अकबर ने मांसाहार भी बहुत अंशों में बन्द कर दिया था। इन बातों का उल्लेख 'अबुल-फजल' ने 'आईन्-ए-अकबरी'[1] में एवं 'बदाउनी' ने भी अपनी पुस्तक में किया है। इसी प्रकार प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ भी अपनी अकबर नामक पुस्तक के ३३५वें पृष्ठ में लिखता है:—

"मांसाहार पर बादशाह की बिल्कुल रुचि नहीं थी; और अपनी पिछली जिंदगी में तो जब से वह जैनों के समागम में आया तभी से उसने इसका सर्वथा ही त्याग कर दिया।

स्मिथ यह भी लिखते हैं:—

"मगर जैन साधुओं ने वर्षों तक अकबर को उपदेश दिया था। बादशाह के कार्यों पर उस उपदेश का बहुत प्रभाव पड़ा था। उन्हों ने अपने सिद्धान्त उससे यहाँ तक मनवा दिये थे कि—लोग उसे जैनी समझने लग गये थे।

विन्सेंट स्मिथ ने अपने 'अकबर' नामक ग्रन्थ के २६२वें पृष्ठ में पिनहरो (Pinheiro) नामक एक पुर्तगाली पादरी के पत्र के एक अंश को उद्धृत किया है, जो उपर्युक्त बात को प्रमाणित करता है, उस में कई जैन सिद्धान्तों का उल्लेख करने के साथ यह भी लिखा है।*

अन्त में लिखा है:—

"इति सूर्यसहस्रनामस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥ अमुं श्री सूर्य सहस्र नाम स्तोत्रं प्रत्यहं प्रणमत्पृथ्वीपति कोटीरकोटि संघट्टित पदकमल त्रिखंडाधिपति दिल्लीपति पातिसाह श्री अकब्बरसाहि जलालदीनः प्रत्यहं शृणोति, सोऽपि प्रतापवान् भवतु ॥ कल्याणमस्तु॥"

कादम्बरी की टीका, विवेक-विलास की टीका और भक्तामर की टीका आदि अनेक ग्रन्थों में भानुचन्द्र जी के नाम के पहले सूर्य सहस्र नामाध्यापकः विशेषण का प्रयोग आया है। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि भानुचन्द्र जी ने ही अकबर को सूर्य के सहस्र नाम सिखलाए थे।

[1] आईन्-ए अकबरी, ब्लोखमैन द्वारा अनुवादित, जि० १, पृ० ६१-६२; अलबदाउनी, डब्ल्यू० एच्० लौ द्वारा अनुवादित, जि० २, पृ० २६४, ३३१।

* "अकबर जैन सिद्धान्तों का अनुयायी है।"

यह पत्र उस ने लाहौर से ता० ३ सितम्बर १५९५ के दिन लिखा था। यह वही समय है जब कि विजयसेन सूरि लाहोर में अकबर के पास थे।

धर्म सभा के सदस्य

इतिहासज्ञों से यह बात छिपी नहीं है कि अकबर ने सन् १५७९ में 'दीन-ए इलाही' नामक स्वतंत्र धर्म की स्थापना की थी। और एक धर्म सभा भी क़ायम की थी। इस धर्म सभा में प्रारम्भ में तो मुसलमान मौलवियों को ही सम्मिलित किया था। परन्तु बाद में ईसाई पादरी, पारसी मोवेद, हिन्दू ब्राह्मण, और जैन साधु भी सदस्य बनाये गये। इनमें कुल मिलाकर १४० सदस्य थे। 'आईन-ए-अकबरी' (अङ्गरेज़ी अनुवाद) के दूसरे भाग के तीसरी 'आयत' में इन सदस्यों की सूची दी गई है। इस धर्म सभा को पाँच श्रेणियों में विभक्त किया गया था। प्रथम श्रेणी में वे सदस्य रखे जाते थे जो इस लोक और परलोक का ज्ञान रखते थे। जिन जैन महात्माओं द्वारा अकबर के जीवन की काया पलट कर देने का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें से तीन महात्मा अकबर की इस धर्म सभा के सदस्य थे ऐसा 'आईन-ए अकबरी' की उपर्युक्त सूची से प्रकट होता है। वे तीन हैं—हीरविजय सूरि, भानुचन्द्र जी और विजयसेन सूरि। इन में हीरविजय सूरि का नाम है प्रथम श्रेणी में, और विजयसेन सूरि तथा भानुचन्द्र जी का नाम है पाँचवीं श्रेणी में। हीरविजय सूरि का नाम है १६ वें नम्बर में और विजयसेन सूरि तथा भानुचन्द्र जी का नाम है १३९,१४० में। ये तीनों नाम अङ्गरेज़ी अनुवादक ने इस प्रकार लिखे हैं हीरजी सूर, विजयसेन सूर, और भानचन्द।

उपसंहार

अब इस लेख को पूर्ण करने के पहले एक बात का यहाँ विचार करना आवश्यक समझता हूँ। यह तो निश्चित हो चुका है कि अकबर के दरबार में जैन साधुओं का प्रवेश हुआ था, और उन जैन महात्माओं ने अकबर के जीवन पर प्रभाव डाला था। इतना ही नहीं, परन्तु उन्हों ने अकबर से लोकोपकार के व जीवदया के अनेक कार्य करवाये थे, तथापि इस का क्या कारण है कि--विन्सेंट स्मिथ के पहिले किसी भी इतिहासकार ने अकबर के जीवन चरित्र को लिखने के समय जैनों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा ?

मैं इस के तीन कारण समझता हूँ। (१) उन ग्रन्थकारों ने जैन साहित्य को देखा ही नहीं। (२) मूल फ़ारसी ग्रन्थों में 'यति' 'सेवडा' 'व्रति' आदि शब्द आये हैं, ये कौन हैं ? इस बात को अनुवादक लोग नहीं समझ सके। (३) 'आईन-ए-अकबरी' में उपर्युक्त तीन जैन महात्माओं के नाम पढ़ने में गलती हुई। इन तीन कारणों से अकबर और जैनों का सम्बन्ध इतिहासकारों से गुप्त रहा।

जैन साहित्य ज्यों ज्यों प्रकाश में आया और विद्वानों के हाथ में आता गया, त्यों त्यों अब विद्वानों को यह बात ज्ञात हुई कि हीर सौभाग्य-काव्य, विजयप्रशस्ति-काव्य, जगद्गुरु-काव्य, कर्मचन्द्र चरित्र, गुर्वावली, कृपारसकोश, सोमसौभाग्य-काव्य, तथा कई पट्टावलियां आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में तथा हीरविजय सूरि रास, लाभोदय रास, कर्मचन्द्र चौपाई, तीर्थमालाएँ, विजयतिलक सूरि रास, अमरसेन-वयरसेन आख्यान, मल्लीनाथ रास, पद्महोत्सव रास, दुर्जनशाल बावनी, परब्रह्म प्रकाश, विजय चिन्ता मणि स्तोत्र आदि कई प्राचीन गुजराती साहित्य ग्रन्थ हैं, जिन में अकबर और जैनाचार्यों के सम्बन्ध का काफ़ी वर्णन पाया जाता है।

दूसरी बात जैन पारिभाषिक शब्दों का न समझना। 'यति' और 'सेवड़ा' शब्द मूल फ़ारसी ग्रन्थों में लिखा गया है। ये शब्द 'बौद्ध' साधुओं के लिये नहीं, परन्तु जैन साधुओं के लिये ही हैं। आज भी

मुसलमान लोग अकसर कर के जैन साधुओं को 'सेवड़ा' कहते हैं। पञ्जाब में तो आमतौर से 'सेवड़ा' नाम से ही पुकारे जाते हैं। जैन साधुओं को प्राचीन समय में 'श्रमण' कहते थे। सम्भव है यही 'श्रमण' 'सेवड़ा' के रूप में आगया हो। डॉ० स्मिथ के कथनानुसार सब से प्रथम भूल मि० चैलमर्स ने 'अकबर नामा' के अंग्रेज़ी अनुवाद करने में की, बाद में इलियट और डाउसन ने भी वही भूल की। इन तीनों की भूल ने वॉननोअर को भी भूल में डाल दिया। इसी प्रकार भूलें होती आईं।

सत्य वात तो यह है कि अकबर के दरबार में कोई 'बौद्ध साधु' गया ही नहीं। विन्सेन्ट स्मिथ लिखते हैं:—

"अकबर की बौद्धों के साथ न कभी भेंट हुई थी और न उस पर उन का प्रभाव ही पड़ा था। न बौद्धों ने कभी फतहपुर सीकरी की धर्म सभा में भाग लिया था और न कभी अबुलफ़ज़ल के साथ ही किसी बौद्ध साधु की मुलाक़ात हुई। इस से बौद्ध धर्म के विषय में उस का (अकबर का) ज्ञान बहुत ही कम था। धार्मिक परामर्श सभा में भाग लेने वाले जिन दो-चार लोगों के लिये बौद्ध होने का अनुमान किया गया है वह भ्रम है। वास्तव में वे गुजरात से आये हुए जैन साधु थे।"

स्वयं अबुल फ़ज़ल 'आईन-ए-अकबरी' में लिखता है "चिरकाल से बौद्ध साधुओं का कहीं पता नहीं है। बेशक पेगु, तनासिरम और तिब्वत में ये लोग कुछ हैं। बादशाह के साथ तीसरी बार रमणीय काश्मीर की मुसाफ़री में जाते वक्त इस मत के (बौद्ध मत के) दो चार वृद्ध मनुष्यों से मुलाकात हुई थी, मगर किसी विद्वान् से भेट नहीं हुई।"[१]

इन बातों से स्पष्ट है कि—अकबर की धर्म सभा में कोई 'बौद्ध साधु' नहीं थे—नहीं गये थे।

तीसरी बात यह है कि—अकबर की धर्म सभा के सदस्यों में तीन जैन साधुओं के नाम अवश्य हैं, परन्तु इसके पढ़ने वालों ने ग़लत पढ़ा और ग़लत पढ़ने पर भी उस पर परामर्श नहीं किया कि—ये कौन होंगे? हीरविजय सूरि के स्थान में हरि जी सूर, विजयसेन सूरि के स्थान में विजयसेन सूर, और भानुचन्द्र के स्थान में भानचन्द—ऐसा अनुवाद किया गया है।

इस प्रकार वि० सं० १६३९ से वि० सं० १६५१ तक अकबर के साथ जैन साधुओं का सम्बन्ध लगातार रहा था। उस के बाद जब तक अकबर जीवित रहा उस को और उस के बाद उस के लड़के जहाँगीर को भी जैन साधु मिलते और धर्मोपदेश देते रहे थे।

---

[१] दे०—आईन्-ए अकबरी (जैरिट कृत अंग्रेज़ी अनुवाद), जि० ३, पृ० २१२।

राजपूत और मराठे

श्रीयुत भास्कर रामचन्द्र भालेराव, ग्वालियर

श्रद्धास्पद श्रीयुत गौरी शंकर जी ओझा महोदय पुरातत्व-विशारद हैं, संशोधक हैं, भारतीय प्राचीन लिपियों के विज्ञ हैं और हैं कई ऐतिहासिक ग्रन्थों के प्रणेता; पर आप का सब से अधिक महत्व का और स्थायी कार्य है राजपूतों के इतिहास की सामग्री का संशोधन, सङ्कलन और सम्पादन। यद्यपि प्राचीन काल से ले कर आज तक के हमारे देश के इतिहास के साधन तो यत्र-तत्र बिखरे हुए विपुल रूपेण पाए जाते हैं; किन्तु अंग्रेज़ी राज्य के स्थापित होने के पूर्व किसी भारतीय पण्डित ने सुसूत्र रूपेण भारतीय, प्रान्तीय या जातीय इतिहास लिखने का प्रयत्न नहीं किया। अंग्रेजी राज्य के आरम्भ काल में कुछ उदाराशय पश्चिमीय विद्वानों ने भारतीय इतिहास की प्राचीन सामग्री एकत्र करना आरंभ किया और एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल जैसी कुछ संस्थाएँ भी स्थापित हुईं, साथ ही व्यक्ति गत रूप से ग्राण्ड डफ़ ने मराठों का इतिहास लिखा, फॉर्बस ने रास माला अर्थात् गुजरात के इतिहास का सम्पादन किया, टॉड ने राजपूताने का इतिहास लिखा तथा मालकम ने मध्यभारत का, कनिंघम ने सिक्खों का, पॉगसन ने बुँदेलों का, ब्रिग्ज़ ने निज़ाम का, विल्स ने मैसूर का तथा उन कार्य कर्ताओं के अन्तिम प्रतिनिधि डॉक्टर विन्सेण्ट स्मिथ ने भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास लिखा। यद्यपि भारतीय दृष्टि कोण से उक्त इतिहासों में कई प्रकार की त्रुटियाँ हैं—उस समय इतने साधन भी उपलब्ध नहीं थे और न एक व्यक्ति को इतनी सामग्री मिल ही सकती थी; तथापि तात्कालीन परिस्थिति के देखते उन आरंभिक कार्यकर्ताओं ने जो कुछ किया, वह तो अवश्य ही श्रेयस्कर है। आज दिन तक कई भारतीय विद्वानों ने उक्त कृतियों की आलोचनाएँ एवं प्रत्यालोचनाएँ भी कीं; किन्तु अब तक बहुत कम विद्वानों ने तत्संबन्धी स्वतन्त्र इतिहास-ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न किया है। श्रद्धेय ओझा जी जैसे भाग्यवान इतिहासकार तो उंगली पर गिने जाने योग्य भी न मिलेंगे, जिन्हों ने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का केवल खण्डन-मण्डन ही नहीं किया वरन् राजपूतों का स्वतन्त्र और सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास लिख कर अपनी कृति को ही एक मात्र अधिकारपूर्ण रचना कहलाने का सुयश प्राप्त किया है। अतएव जब तक राजपूत जाति और हिन्दी भाषा जीवित रहेगी, तब तक ओझा जी का राजपूताने का इतिहास ही एकमात्र सन्दर्भ ग्रन्थ माना जायगा। यों तो सर देसाई ने भी महाराष्ट्र का बृहत् इतिहास लिख कर ग्राण्ड डफ़ के इतिहास की आवश्यकता ही नहीं रक्खी; किन्तु ओझा जी की नाईं जंगलों, पहाड़ों, बीहड़ों, गुफ़ाओं आदि विकट स्थानों पर स्वयं घूम कर सामग्री बटोरने जैसा प्रचण्ड प्रयत्न सिवा राजवाड़े के अन्य किसी भारतीय विद्वान ने नहीं किया; राजवाड़े भी कोई सुसूत्र इतिहास न लिख सके; अतएव श्री ओझा जी की कृति सर्वथा अद्वतीय है। हिन्दी का अहो भाग्य है कि उस के एक सपूत ने अपनी कृति के बल पर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की; अतएव स्मृति-ग्रन्थ के द्वारा उन का अभिनन्दन किया जाना सर्वथा आवश्यक था। अस्तु।

श्री ओझा जी का अधीत विषय है राजपूतों का इतिहास। वास्तव में मराठे भी राजपूत ही हैं और इस बात को श्री ओझा जी ने भी अपने इतिहास के चतुर्थ खण्ड में स्वीकार कर लिया है। महाराष्ट्र के प्राचीन विभाग दण्डकारण्य में बस्ती बसने के समय उत्तरीय भारत के क्षत्रिय और ब्राह्मण ही वहाँ पर उपनिवेशित हुए थे और उन उभय प्रान्तों में पारस्परिक दृढ़ सम्बन्ध भी था। मध्य युग में भी मुसलमानों के आधिपत्य एवं कौटुम्बिक कलह के कारण छत्रपति शिवा जी महाराज के पूर्वज तथा अन्य क्षत्रिय कुटुम्ब राजपूताने से दक्षिण की ओर चल दिये और

महाराष्ट्र में स्थायी रूप से बस जाने के कारण मराठे कहलाये; किन्तु आश्चर्य की बात है कि एक ही रक्त-मांस-पिण्ड के होने पर भी उन दोनों के विभिन्न दृष्टि कोण होने के कारण अनन्तर उन में पारस्परिक मनो मालिन्य हो गया। जिस से कई रण-संग्राम हुए और पारस्परिक भलाई बुराई की बातें भी इतिहास में अंकित हुईं। निर्बल राजपूत यवन सत्ता के पोषक और प्रशंसक बने तो मराठों ने पुरुषार्थ और बाहुबल द्वारा यवनों को हेय सिद्ध कर अपना अधिराज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस संघर्ष में राजपूत मराठों में खूब ठनी, जिस का वर्णन श्री ओझा जी को भी अपने इतिहास में लिखना पड़ा है। राजपूतों के इतिहास लेखक मराठों का दोषाविष्करण करते हैं और महाराष्ट्र के इतिहासकार राजपूतों की भूलें बताते हैं, अतएव उक्त उभय समाजों के प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक पारस्परिक सम्बन्ध, उन के राजनैतिक प्रमाद आदि विषयों का संशोधन, मनन तथा विवेचन, की अत्यन्त आवश्यकता है। इसी से तत्सम्बन्धी अल्प विवेचन, इस लेख के द्वारा, करने की चेष्टा की जाती है।

मराठे और राजपूत एक ही वंश के हैं; इस में कोई संदेह नहीं। राजपूतों के पंचकुल और छत्तीस कुलों की नाईं प्रान्तिक उपभेदों के कारण मराठों के ९६ कुल माने गये हैं और तत्सम्बन्धी पर्याप्त साधन भी उपलब्ध हैं। मराठों के कुल, क्षत्रियों की नाईं, सूर्य, चन्द्र, शेषवंश और यदुवंश में विभाजित हैं। उदयपुर के गोहिल, सीसोदिया, सक्तावत, चूड़ावत राणावत आदि उपकुलों की नाईं महाराष्ट्र वासियों के एक ही कुल या वंश के विभिन्न उपनाम (आड़नाम) पाये जाते हैं। राजपूत सोलंकी, परमार, प्रतिहर और चौहान की नाईं मराठों में चालके अथवा सोलखे, पोवार अर्थात् पवार, चव्हाण तथा प्रतिहार हैं। राजपूत और मराठों के कुलों की समानता निम्नलिखित विवेचन से भी सिद्ध है। यथा :—

मराठा कुल	राजपूत कुल
सूर्यवंशी, सुरोशी, सुरवे	सूर्य
सोम वंशी	सोम
यादव उर्फ जाधव	यदु
पँवार, पोवार	परमार
चालके, सालुङ्के	सोलङ्की
चव्हाण	चौहान
चावरे	चावड़े
रहाठो	राठौर
शेलार, सेलार	सिलार
सैन्द्रक, शिन्दे	सिन्दा
धामपाल	धमपाली
अभीरे	अभीर
अनङ्ग	अनङ्ग
प्रतिहार	प्रतिहार
कलिचुरे	कलचुरके
मोरे	मोरी
तुवार (शिरके-फालके)	तँवर

गोरे	गौर
गूजर	घड़ गूजर, वीर गूजर
काटे	काटी
परिहार	परिहार

महाराष्ट्रीय विभिन्न राजपूत कुलों के कुल, गोत्र और आड़नामों में भी बड़ा फ़र्क पड़ गया है, जिस से एक ही गोत्र के विभिन्न कुल-नाम पड़ गये हैं। यथा—

गोत्र	मराठा कुल	मराठी कुल-नाम
चौहान	चव्हाण	लाड़, तावड़े, मोहिते, कालभोर, रणदिवे, हम्मीर राव
,,	लाड़ कुल	लाड़
,,	तावड़े	तावड़े, साँगल, जामले
,,	मोहिने	बाँडे, काँटे, कामरे आदि।

इसी प्रकार एक गोत्र के कई मराठा कुल और प्रत्येक मराठा कुल के कई आड़नाँव पाये जाते हैं; किन्तु वंशों के चिन्ह, छत्र, कुल, देवता, वर्ण, ऋषि, ध्वजा का रंग, वेद, मुख्य स्थान आदि बातें निश्चित हो जाने से उनके मुख्य कुल का पता चल जाता है। उदाहरणार्थ सोमवंशी राजा चव्हाण, नगर मेवाड़, अवन्तीपुरी, श्वेत सिंहासन श्वेत छत्र, श्वेत निशान, श्वेत घोड़ा, ध्वज पर चन्द्र, कुल—देवता, ज्वालामुखी भवानी, हल्दी, सोना, रुई का उपयोग, गुरु वसिष्ठ, गोत्र चव्हाण, वेद ऋग्वेद त्रिपदा गायत्री छन्द, कुल—लाड़ लावड़ मोहिते आदि इसी प्रकार चालके उर्फ चालुक्य कुल का तख्त गद्दी बदामी दूसरी गद्दी कल्याण, सफ़ेद सिंहासन, सफेद छत्र, निशान घोड़ा, ध्वजपर गणेश जी, गुरु दालभ्य, गोत्र चालुक्य, गायत्री मन्त्र, नील वर्ण ये मुख चिन्ह बतलाये गये हैं।

मराठों के उपनामों की भी विचित्र रूप से उत्पत्ति हुई। किन्हीं कुल में तो वे ही उपनाम चले आते हैं जो आदि में थे यथा—यादव, पवार, चौहान, तौर आदि; किन्तु कोई कोई नाम विशेषघटनाओं के कारण बदल गए। घुरपड़े वास्तव में सिसोदिया राजपूत हैं, किन्तु उनके पूर्वजों ने घुरपड़ अर्थात् गोह की सहायता से एक किले की दीवार को फांदा था, अतएव यही उनका वंश नाम भी हुआ। फालके असल मे तँवर राजपूत हैं। गोलकुण्डा राज्य में इस वंश के दो भ्राताओं में से एक पर प्रसन्न होकर बादशाह ने उसे पोशाक अता की। तब उन दोनों भाइयों ने उसका बटवारा कर लिया, जब वे दरबार में पहुँचे और उनसे पूछा गया तो उन्होंने कहा कि पोशाक के "दोन दोन फाड़ केले" अर्थात् दो दो टुकड़े कर लिये जिससे बाद को वे फाड़के फालके कहलाये। कुछ मराठे अपने ग्राम नामों से प्रसिद्ध हुए यथा पाटपकर सोलंकी राजपूत हैं निम्बालकर पवार हैं आँग्रेवाड़ी से आँग्रे, माहुरग्राम से माहुरकर आदि, किन्हीं किन्हीं के वास्तविक नाम दक्षिणी भाषा में बोले जाने के कारण परिवर्तित हो गये हैं। जैसे राना से राने, मौर्य से मोरे, चालुक्य से चोलके आदि। महाराष्ट्र के शासक भी राष्ट्र कूट चालुक्य, यादव आदि राजपूत वंशज ही थे। छत्रपति शिवा जी के पूर्वज मेवाड़ के अधीश्वर महाराणा अजीत सिंह के पुत्र सज्जन सिंह और क्षेम सिंह थे, जो सम्वत् १३६७ में दक्षिण में जा कर बसे, जिनकी १२ वीं पीढ़ीं में छत्रपति का जन्म हुआ था। प्राचीन समय में इन विभिन्न प्रान्तीय क्षत्रियों में—पारस्परिक विवाह भी होते थे। कल्याण के जैसिंह चालुक्य के पुत्र मूलराज ने अनहिल पट्टण के राजा भोजराज चावड़ा की कन्या से विवाह किया था तथा पृथ्वीराज चौहान का जद्दोभालम

अर्थात् देवगिरि के यादव भिल्लम की कन्या से विवाह होने का भी पता चलता है–पर अनन्तर प्रान्त, भाषा, व्यवहार-वर्ताव आदि भेद तथा प्रवास की असुविधा के कारण पारस्परिक व्यवहार का लोप हो गया। अस्तु।

महाराष्ट्र में क्षत्रियों की वस्ती क्यों और कव हुई? इस विषय की स्वर्गीय डाक्टर भण्डारकर राजाराम शास्त्री भागवत, स्वर्गीय राजवाड़े जी भारताचार्य वैद्य जी आदि ने काफ़ी चर्चा की है। इतिहासाचार्या राजवाड़े जी का तत्सम्बन्धी प्रयत्न अवश्य ही अभिनन्दनीय है। आपने महाराष्ट्र के वसाहत काल के विषय में ग्रामनाम, प्राणी नाम, पर्वत, नदियाँ आदि की काफ़ी खोज-भाल करके यह सिद्ध किया है कि नन्दकुल का अन्त होने पर यहाँ के क्षत्रिय चातुर्वर्ण की रक्षा के लिये इग्लेंड के प्यूरिटन फादर्स अथवा फ्रांस के हेनों की नाई उत्तरीय भारत से प्राचीन दण्डकारण्य में जा वसे हैं; अतएव उत्तरी भारत तथा महाराष्ट्र के क्षत्रियों के एक ही कुल होने, उनके महाराष्ट्र में उपनिवेशित होने का समय आदि विषयों की विशेष खोज तथा विवेचन की अत्यन्त आवश्यकता है। अस्तु.।

मराठों के मध्य कालीन इतिहास का प्रारम्भ देवगिरि के यादव-राज्य-पतन से आरम्भ होता है—महाराष्ट्र में मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित होने पर वहाँ के क्षत्रियों ने आर्य सभ्यता की रक्षा के लिये सुदूर प्रदेश कर्नाटक में विजयनगर साम्राज्य स्थापित किया। उस राज्य में और वहमनी तथा उसकी पाँच मुसलमान शाखाओं के आश्रय में भी मराठों ने अपने वाहुवल पर वड़ा पुरषार्थ दिखाया। उस समय भी राजपूताने के क्षत्रियों ने दक्षिण की ओर जाकर अपना भाग्य निर्माण किया जिसके कई प्रमाण उपलब्ध हैं। हाल ही में सुप्रसिद्ध इतिहासविद् डाक्टर वालकृष्ण जी ने छत्रपति शिवाजी के पिता शाह जी का चरित्र प्रकाशित किया है उसमें मुधौल राज्य के पूर्वजों का शाही फ़र्मानों के आधार पर सीसोदिया वंशज होना, १४ वीं शताब्दी में उनका दक्षिण में बसना तथा दक्षिण के वहमनी वादशाहों द्वारा जागीर प्राप्त करना आदि वातें लिखी हैं। श्री ओझा जी ने भी अपने इतिहास में तत्सम्बन्धी उल्लेख किया है। शिवा जी के पिता शाह जी महाराज के दर्बार में जयराम पिण्डे नामक एक कवि हो गया है, जिसका लिखा राधा माधव विलास चम्पू नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें स्पष्ट रूपेण उन्हें सीसोदिया वंशज लिखा है। शाह जी के दर्बार में विभिन्न भाषा भाषी लगभग ३५ कवि मौजूद थे; उनमें से एक कवि ने लिखा है कि—

जाणा छाँ शाहराज, राणा जी रो भाई छे जी।
देश छै जी चित्रोड़, कुल जात राणा री॥

छत्रपति शिवाजी के दर्बारी कवि वीर रसाचार्य भूषण ने लिखा है—

+ + लियो विरद सीसोदिया × × ×
भूमिपाल तिन में भयो + ×
रन भूसिला सु भौंसला × × × ×

उक्त अवतरणों से भी छत्रपति का सीसोदिया होना सिद्ध है। महाराज शिवाजी का राज्याभिषेक करने वाले पण्डित वर्य गागा भट्ट जी ने भी कहा है कि—

य: क्षात्रधर्मस्य नवावतार:

महाराष्ट्र के तत्कालीन पुराण मत वादी ब्राह्मण छत्रपति शिवा जी को क्षत्रीय स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे, अतएव छत्रपति ने अपना मुख्त्यार उदयपुर भेज कर महाराजा जी से स्वयं को सीसोदिया वंशज होने का प्रमाण पत्र प्राप्त किया और पण्डित वर्य गागा भट्टजी को काशी से निमंत्रित कर उनके द्वारा वेदोक्त पद्धति से निज के उपनयन तथा राज्याभिषेक संस्कार करवाये महाराज शिवा जी का मुगलों से संघर्ष होने के कारण तत्कालीन राजपूत राजा और

सर्दारों से, जिन्हों ने मुगलों की आधीनता स्वीकार कर ली थी, परोक्ष-अपरोक्ष रूप से संबन्ध हुआ था। उन में से जोधपुर के महाराजा यशवन्तसिंह तथा जयपुर के महाराजा मिर्ज़ा राजा जयसिंह से विशेष संबन्ध हुआ। शिवाजी का उन उभय सर्दारों से जो पत्र व्यवहार हुआ, वह पूर्णतया अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है; किन्तु बहुत संभव है कि जयपुर तथा जोधपुर के दर्बारी रेकार्ड से भविष्य में उस का पता चल जाय। महाराजा शिवाजी मुसलमानो सत्ता के बदले स्वराज्य स्थापित करना चाहते थे और मुगल सर्दारों के नाते जयसिंह तथा जसवन्तसिंह का उद्देश्य शिवाजी को धर दबा कर उन्हें मुगलों के आधीन कराना था। वास्तव में शिवाजी का उद्देश्य कहीं ऊँचा और अभिनन्दनीय था और कई नाटकों व उपन्यासों में तत्संबन्धी कई मनोरंजक बातें भी लिखी गई हैं; किन्तु आश्चर्य है कि राजपूताने के भाट चारणों ने मराठा और राजपूतों के संबन्ध में मराठों को सर्वदा हेय बतलाने की ही चेष्टा की है। एक भाट ने तो यहां तक लिख मारा है कि "राजपूतों की तलवारों के आगे मराठों के भाले मोच खा गये" वह कवित्त निम्न है—

गजन संभ्रम लिया, गनीमा तातणीनी गढ़।
हुई खग तणै, भाला तणी हार ॥

अर्थात् गजसिंह के पुत्र जसवन्त ने अपने गनीम—शत्रु—मराठों के किले जीत लिये; राजपूती तलवारों के आगे मराठों के भालों की हार हुई।

यों तो महाराजा शिवाजी का बुँदेला नरेश महाराजा छत्रसाल, रामसिंह, उदैभान राठौड़ आदि कई प्रमुख राजपूत सर्दारों तथा राजाओं से परिचय तथा निकट संबन्ध हुआ था, पर महाराज के राजनैतिक कार्य में प्रमुखतया जयसिंह, जसवन्तसिंह, रामसिंह तथा छत्रसाल ही विशेष उल्लेखनीय हैं, अतएव उस संबन्ध पर ही अब हम विचार करें।

सन् १६६५ में मिर्ज़ा राजा जयसिंह को औरंगज़ेब ने दक्षिण का सूबेदार बनाया था, पर बीजापुर की सेना से पराजित होने के कारण सन् १६६७ में औरंगजेब ने उन्हें हटा दिया और शाहज़ादा मुअज्ज़म को सूबेदार बना कर महाराजा जसवन्तसिंह को उस की सहायतार्थ दक्षिण भेजा। मिर्ज़ा के साथ रामसिंह सीसोदिया, राजा सुजानसिंह बुँदेला, पुत्र कीरतसिंह, पूरणमल बुँदेला आदि राजपूत सर्दार भी थे। मिर्ज़ा जी ने युक्ति प्रयुक्ति से महाराज को दिल्ली चलने तथा किसी प्रकार का धोखा न होने का वचन दिया, जिस के विषय में उन दोनों में बहुत कुछ पत्र व्यवहार हुआ, जो अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है। जयसिंह ने समय समय पर जो पत्र बादशाह की ओर भेजे उस का बहुत सा अंश तो प्रकाशित हो चुका है किन्तु उस की दूसरी बाजू, महाराष्ट्र के तत्कालीन पत्र, अभी हिन्दी या अंग्रेज़ी में प्रकाशित नहीं हुए; अतएव तत्कालीन मुगलों का इतिहास अथवा महाराजा जयसिंह की जीवनी लिखने के लिये मराठी साधनों के अध्ययन की आवश्यकता है। जयसिंह के पुत्र रामसिंह की सहायता से महाराजा शिवा जी का बादशाह की कैद से निकल जाना भी प्रसिद्ध है; किन्तु तत्सम्बन्धी अभी तक यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। सन् १६६८ से १६७१ तक जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह भी मुगल दर्बार से दक्षिण के प्रबन्ध के लिये भेजे गये थे और उनका महाराजा शिवा जी से भी घनिष्ट संबन्ध हो गया था; अतएव तत्संबन्धी महाराष्ट्र तथा राजपूताने की सामग्री एकत्र करने से ही तत्कालीन वास्तविक घटनाओं का पता चल सकता है। महाराजा छत्रसाल बुँदेला महाराज छत्रपति शिवा जी से दक्षिण जा कर मिले थे, जिस का उल्लेख लालकवि ने 'छत्रसाल प्रकाश' में भी किया है, पर उस विषय के

यथेष्ट प्रमाग अभी नहीं मिले हैं। उदैराज, उदैभान राठौड़, राजा कर्ण, कीरतसिंह कछवाहा, पूरणमल बुंदेला, मौहकमसिंह, मोहनदास, रामसिंह सीसोदिया, खुमानसिंह, सुजानसिंह, सुभानसिंह आदि राजपूत राजा तथा सर्दारों का युद्ध, सन्धि, व्यवहार आदि विविध कारणों से महाराजा शिवाजी से परिचय हुआ था, अतएव उन के विषय की दोनों प्रान्तों की सामग्री का सङ्कलन करना आवश्यक है। तत्कालीन महाराष्ट्र की मुसलमान सत्ता बीजापूर से शाहजहाँ तथा औरंगजेब के युद्ध हुए थे और उन में मुगलों के सर्दारों के नाते रतलाम के महाराजा रामसिंह राठौड़ आदि कई राजपूतों ने भाग लिया था। उन के विषय की भी बहुत सी सामग्री महाराष्ट्र में मिल सकती है। छत्रपति शिवाजी के पुत्र संभाजी से वीरवर राठोड़ दुर्गादास का घनिष्ट परिचय और सम्बन्ध हुआ था। संभाजी के दीवान कान्यकुब्ज कविकलश उत्तर भारत निवासी थे तथा महेशदास नामक उन के एक दर्वारी कवि का होना भी पाया जाता है। कोई उसे भाट बतलाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद जी ने कविकलश सम्बन्धी एक पत्र प्रकाशित किया था; उस से सिद्ध होता है कि संभाजी को बादशाह के द्वारा मरवाने में उस का भी हाथ रहा हो, इसी से उसे विश्वासघातक मान कर वहिष्कृत कर दिया गया था। इस उदाहरण से भी सिद्ध है कि उभय प्रान्तों की सामग्री का संशोधन करने से राजपूत और मराठा दोनों जातियों के इतिहास की बहुत सी अप्रकाशित बातें ज्ञात हो जावेंगी। अस्तु।

महाराजा जसवन्तसिंह जोधपुर वाले के पुत्र अजीतसिंह गुजरात के सूबेदार थे और वे उस प्रान्त को हड़पना चाहते थे; इसी से उन्हों ने अपने प्रतिस्पर्धी मराठा सर्दार पिलाजीराव गायकवाड़—वर्तमान बड़ौदा राज्य के स्थापक—को मरवा डाला था। उस का लड़का अभयसिंह भी गुजरात में रहा और वास्तव में उसी ने सन् १७३२ में डाकोर में पिलाजी का खून कराया उस का बदला पिलाजी के भाई महादजी और लड़के दमाजी ने जोधपुर को लूट कर लिया। मराठी में तत्सम्बन्धी बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध है। सवाई जयसिंह के सेनापति कृपाराम नादिरशाह की लूट के समय दिल्ली में थे और मराठों से उस का भी सम्बन्ध था। बाजीराव के भाई चिमाजी ने मालवे पर चढ़ाई कर सन् १७२४ में वहाँ के मुग़लों के सूबेदार गिरधर बहादुर को मार डाला तथा सन् १७३१ में स्वयं बाजीराव पेशवा ने राणोजी सिंधिया, मल्हारराव होल्कर उदाजीराव पवार तथा अन्य मराठा सर्दारों की सहायता से मालवे के सूबेदार दयाबहादुर को तिरला के रणक्षेत्र में मार कर मालवा में मराठा शाही स्थापित की। मालवा पर चढ़ाई कर के उस प्रान्त को मुग़लों के चङ्गुल से छुड़ाने के लिए इन्दौर के जमींदार रावनन्दलाल मण्डलोई ने सवाई जयसिंह के द्वारा पेशवा बाजीराव को निमंत्रित किया था। तत्सम्बन्धी बहुत सी सामग्री प्रकाशित हो चुकी है और भविष्य में और भी मिल सकती है; विशेष रूपेण सवाई जयसिंह की मराठों सम्बन्धी उदारता तो कभी भुलाई नहीं जा सकती। महाराजा सवाई जयसिंह तथा प्रथम बाजीराव पेशवा में जो पत्र-व्यवहार हुआ था उस में से एक संस्कृत पद्य-मय पत्र पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ पर उद्धृत किया जाता है। पत्र के आरम्भ में बाजीराव ने जयसिंह की बड़ी प्रशंशा की है और 'राजाधिराज' 'महाराज' जैसे विशेषणों से युक्त पत्र लिखा है; साथ ही अपने पुरुषार्थ से धमकाया भी है। उसी पत्र में निम्नश्लोक है।

पीत्वा गर्जन्त्यपस्ते दिशि दिशि जलदास्त्वं शरण्यो गिरीणाम्
सुत्राम्ण त्रास भाजां त्रिदशिविटपिनां जन्मभूमिस्त्वमेव।
गाम्भीर्यं तच्च तादृक त्वयि सलिलनिधे किन्तु विज्ञाप्यमेतत्
सर्वोंपायेन मैत्रावरुणमुनिकृपादृष्टयः कांक्षणीयाः॥ १॥

इस श्लोक में राजा जयसिंह को समुद्र की उपमा दे कर कहा है कि तेरा उदक प्राशन करके मेघ चारों ओर गर्जना करते हैं, इन्द्र से पीड़ित पर्वतों का तू रक्षक है, देववृक्ष अथवा कल्पवृक्ष की जन्मभूमि भी तू है, तेरी गंभीरता भी अगाध है, इन सब गुणों के होते हुए भी सूचित किया जाता है कि सभी उपायों से मित्रावरुण के पुत्र अगस्त्य मुनि की कृपादृष्टि के आकांक्षी बने रहो। इस रूपक का अर्थ यह है कि तेरे सामर्थ्य के आश्रय से अन्य राजा तथा सर्दार अपना बड़प्पन टिकाए हुए हैं, तू मुसलमानों से पीड़ित लोगों का अभयदाता है, तू हमारी इच्छापूर्ण कर सकता है, किन्तु अगस्त्य मुनि अर्थात् मुझ बाजीराव पेशवा का कृपाकांक्षी बना रह, अन्यथा तेरा नाश होगा। इस का उत्तर जयसिंह ने निम्नलिखित श्लोक से दिया—

क्षन्तव्या द्विजजातयः परिभवेऽप्येतद्वचः पालनात्।
पीतः कुम्भ समुद्भवेन जलधिः किं जातमेता वता।
मर्यादां यदि लंघयेद्विधिवशात् यस्मिन्क्षणे वारिधिः।
त्रैलोक्यं सचराचरं ग्रसति चेत् कस्तत्र कुम्भोद्भवः॥

महाराजा सवाई जयसिंह उक्त श्लोक में स्वयं को समुद्र स्वीकार कर के कहते हैं कि यदि प्रसंग वश ब्राह्मण क्षत्रियों का अपमान भी करे तो भी वह क्षम्य ही है, इसी बचन का प्रतिपालन हम करते हैं। कुभ (घड़े) से उत्पन्न अगस्त्य मुनि ने समुद्र शोषण किया था यह सच है; किन्तु यदि दैव योग से समुद्र अपनी मर्यादा का उलंधन करे तो वह तत्क्षण ही चराचर सहित त्रैलोक्य को डुबो देगा, फिर अगस्त्य मुनि की तो बात ही क्या है? इस रूपक में जयसिंह ने यह बतलाया है कि ब्राह्मणों की रक्षा करना हमारा धर्म है, अतएव हम को उस के लिये कष्ट भी उठाने पड़ें तौ भी हम तुम पर कृपा भाव ही बनाये रखेंगे, पर इस से तुम हम को निर्बल मत समझना। यदि मैं क्रोधित हुआ तो सारे देश का वण्टाढ़ार कर दूंगा, फिर तुम्हारी तो बात ही क्या है? सवाई जयसिंह के पास व्यंकाजी नामक बाजीराव का वकील रहा करता था, किन्तु अभी तक जयसिंह और मराठों का पत्र व्यवहार बहुत कम प्रकाशित हुआ है। सन् १७३७ में निज़ाम से साथ मराठों का भोपाल के निकट जो युद्ध हुआ, उस में कोटा के राजा दुर्जनसाल भी मराठों से लड़े थे और तभी से मराठों का ध्यान उस राज्य की ओर आकर्षित हुआ।

बाजीराव पेशवा ने महाराजा छत्रसाल बुँदेला को मुहम्मदखाँ बंगश की चढ़ाई के समय जो सहायता दी, वह इतिहास में कभी भुलाई नहीं जा सकती। तत्संम्बन्धी—

जो गति गाह गजेन्द्र की, सो गति भई है आज।
बाजी जात बुँदेल की, बाजी राखो लाज॥

यह दोहा प्रसिद्ध है ही। उस उपकार के उपलक्ष्य में पेशवा को २॥ लाख की जागीर बुँदेलखण्ड में महाराजा छत्रसाल ने दी थी। छत्रसाल ने मस्तानी नामक एक सुन्दर यवन युवती बाजीराव को भेंट की थी। उसी के वंशज बाँदा के नवाब कहलाये। छत्रसाल के पुत्र हृदयसाह तथा जगतराज के भी साथ पेशवा ने भैयाचारे का नाता खूब निभाया। सवाई जयसिंह के वकील विक्रमाजीत, सिवसिंह, सभाचन्द, सभासिंह आदि अन्य सर्दारों से भी मराठों का सम्पर्क हुआ था। उदयपुर के महाराणा संग्रामसिंह, बाजीराव पेशवा तथा प्रसिद्ध मराठा सर्दार श्रीपतिराव प्रतिनिधि को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। उदाहरणार्थ महाराणा के उन्हें लिखे हुए दो संस्कृत पत्रों में से यहाँ पर एक पत्र उद्धृत किया जाता है।

श्री एक लिंगः (ताः २ । ४ । १७२९)

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराणा श्री संग्रामसिंह नृपवर्यादेशात् स्नेहसंदोहसद्मसु स्वामिकार्यैकनिष्ठान्तःकरणप्रवृत्तिषु मुख्यामात्य राजश्री बाजीरावजी बल्लाळेषु सुप्रसादो लिख्यते। यथा श्रीमत्कृपया शमिह भवदीय मीनशमविच्छिन्नमनितरसाधारणमेधमानमीहा महे। श्रीमतोऽत्रत्य भाविकेषिणोह्य कृतिमतया यादृगन्योन्यं प्रेस वर्तते तदधिक वृद्धिंमुपयातु अपरंच चतुः शास्त्रियणों राजद्वरीयमुख्यपण्डिता वीरेश्वर भट्टा विवाहार्थं दक्षिणप्रान्ते यास्यन्ति भवन्मीलनान्तरमेषां पथि निष्प्रत्यूहं गमनागमने भवन्तस्तथा विधास्यन्ति । श्रीमतः किमधिकम् सुविज्ञेषु। संवत्रे रसवसु मुनीन्द्रसंख्ये मध्वमेचक पूर्णायाँ चन्द्रेप्रगे रचितोयं वर्णाचरः ॥
मुख्यायात्म राजश्री बाजीराव बल्लाळेषु योग्य मदः पत्रम् ।

बालाजी बाजीराव पेशवा ने अर्जुन सिंह धंधेले की भी बड़ी सहायता की थी। इसी समय सिंधिया और होल्कर ने बुँदेलों का जैतपुर किला जीत लिया था। तत्सम्बन्धी बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध हो चुकी है। सवाई जयसिंह के पुत्र ईश्वरीसिंह और माधौसिंह में जयपुर की गद्दी हस्तगत करने के लिए जो झगड़ा हुआ, उसमें मराठों ने बहुत कुछ योग दिया। ईश्वरसिंह बड़ा पुत्र था, पर माधौसिंह उदयपुर की राजकन्या का पुत्र होने के कारण राणा जी ने पेशवा को १५,००,००० रुपया नजर देने का वचन देकर माधौसिंह के सहायक होने का आग्रह किया, पर सिंधिया होल्कर ने ईश्वरीसिंह को सहायता करके माधौसिंह तथा उसके सहायक महाराणा जगतसिंह को हरा दिया। कोटा और बूँदी के राजाओं ने भी माधौसिंह को सहायता दी थी, अतएव सिंधिया ने उन दोनों राज्यों पर चढ़ाई करके खूब द्रव्यसञ्चय किया, यह देख कर होल्कर को भी द्रव्य-लोभ छूटा और माधौसिंह ने ६५,००,००० लाख रुपये देने का वचन देते ही होलकर ने पिछली कार्यवाही को भूल कर ईश्वरी सिंह पर चढ़ाई कर दी। अन्त में पेशवा स्वयं राजपूताने में पहुँचे। जब ईश्वरी सिंह ने पेशवा और होलकर दोनों को माधौ सिंह का सहायक पाया, तब उसने और द्रव्य पेशवा को देना कबूल कर लिया; पर, पूरी रक़म न मिलने से पुनश्च उस पर चढ़ाई की गई। अन्त में ईश्वरीसिंह ने आत्म-हत्या कर ली और माधौसिंह को राज-गद्दी मिली। उसी माधौसिंह का दिया हुआ परगना रायपुर अभी तक होलकर के कब्जे में है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जयपुर के झगड़े में मराठों ने लोभवश अकारण उठाई धराई की। उन्होंने कभी ईश्वरीसिंह और कभी माधौसिंह का पक्ष ले कर राजपूतों से सदा के लिए शत्रुता कर ली और स्वयं राजनीति तथा इतिहास में सर्वदा के लिए कलंकित हो गये। ता० ७ मार्च सन् १७४७ का पेशवा का लिखा हुआ एक मराठी पत्र प्रकाशित हो चुका है। उसमें लिखा है कि 'राणा जी के वकील १५,००,००० रुपये नजर देने के लिए तैयार हैं; इसलिए माधौसिंह को २४ लाख की जागीर दिला दो और माधौसिंह से भी १२-१५ लाख या जितना अधिक हो सके, वसूल करो। इससे दोनों तरफ़ से लाभ होगा।''—आश्चर्य की बात है कि पेशवा ने ही सबसे पहले ईश्वरीसिंह को गद्दी पर बिठाने की राय दी थी, पर मल्हार राव होल्कर ने मौधौसिंह को सहायता देकर पेशवा को भी अपनी ओर मिला लिया। अनन्तर ३० अप्रेल सन् १७४८ को पेशवा स्वयं राजपूताना पहुँचे और ईश्वरीसिंह तथा माधौसिंह दोनों से ३१ लाख और १० लाख रुपया क्रम से वसूल करने की सन्धि की। कहना नहीं होगा कि इस बे-पैंदी की नीति से मराठों की बहुत कुछ बदनामी हुई और तभी से राजपूत और मराठों में पारस्परिक द्रोह उत्पन्न हुआ। बुँदेलखण्ड पर चढ़ाई कर के जैतपुर का क़िला हस्तगत करने और उसे पुनश्च जगतराज बुँदेला को देने की मराठों की कार्यवाही पर भी अभी प्रकाश पड़ने की आवश्यकता

है। दतिया के राजा पर चढ़ाई करने के विषय में २२ अक्तूबर सन् १७४६ को पेशवा ने जो पत्र लिखा था, उसे पढ़ कर तो अँगरेजों की कूटनीति का स्मरण हो आता है और यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वेल्ज़ली ने मराठों को जीतने में जिन उपायों का अवलम्बन किया था; वे ही उपाय पेशवा ने अपने सरदारों को सुझाये थे। माधवसिंह जयपुर वाले के सहायक महाराणा जगतसिंह का पेशवा से जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह भी अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। सवाई जयसिंह ११ मई सन् १७४१ को धौलपुर में पेशवा से मिले और उसी समय परस्पर सहायक रहकर, ६ मास के अन्दर, मालवा की सनद पेशवा को दिलाने का अभिवचन, सवाई जी ने दिया था, किन्तु अभी तक जयसिंह और मराठों के विशेष सम्बन्ध पर प्रकाश डालनेवाले पत्र प्रकाशित नहीं हुए हैं। सन् १७४२ में ओरछा के राजा से बरवासागर के निकट मराठों का युद्ध हुआ। उसमें राणो जी सेंधिया के पुत्र ज्योतिबा और मल्हारकृष्ण अलगीवाले मारे गये थे। तत्सम्बन्धी विशेष खोज की भी आवश्यकता है। सन् १७४७ में सिन्धिया ने कोटा पर चढ़ाई की थी। उसी समय से राजा ज़ालिमसिंह का मराठों से सम्पर्क हुआ, जो मराठा-शाही के नष्ट होने तक बना रहा।

ज़ालिमसिंह की राजनैतिक हलचलें मराठों के इतिहास में विशेष महत्व का स्थान रखती हैं और राजपूतों के इतिहास पर भी उसके व्यक्तित्व की छाप जमी हुई है; अतएव तत्सम्बन्धी दोनों प्रान्तों से सामग्री इकट्ठी की जाना चाहिये। इनके अतिरिक्त जानकी राम, राजा दुर्लभराय, हरीराम, सभासिंह, घासीराम आदि लोगों का भी मराठों के तत्कालीन इतिहास में उल्लेख पाया जाया जाता है। मारवाड़ के राजा अजीतसिंह के अभयसिंह और बख्त सिंह नामक दो पुत्र थे। सन् १७५० में अभयसिंह की मृत्यु होने पर उसके पुत्र रामसिंह से बख्तसिंह ने राज्य छीन लिया। रामसिंह ने जगन्नाथ पुरोहित तथा सामन्तसिंह द्वारा जयाप्पा सिंधिया से सहायता चाही; किन्तु बख़तसिंह को अन्य राजपूत राजा तथा जाटों की सहायता थी, पर शीघ्र ही बख्तसिंह की मृत्यु विष खिलाने से हो गई। कर्नल टॉड ने लिखा है कि यदि बख्तसिंह जिन्दा रहता तो मराठों की पटली राजपूताने में कभी न जमती। बख्तसिंह के पुत्र विजयसिंह ने रामसिंह को निर्बल और व्यसनाधीन समझ कर उसके राज्य का बहुत सा अंश हस्तगत कर लिया; अतएव रामसिंह ने अपने वकील चेतराम को जायाप्पा सेंधिया के पास सहायता पाने के लिए भेजा। उस समय सिंधिया होलकर ने सूरजमल जाट पर चढ़ाई की थी। सूरजमल ने जयपुर के ईश्वरीसिंह की सहायता की थी, तभी से मराठों की उससे चढ़ा-चढ़ी हो गई थी। मराठों का उत्तरीय भारत से चौथ वसूल करना भी सूरजमल को अखरा था, तब उससे उसने दिल्ली पर चढ़ाई कर बादशाह को अपने कब्ज़े में करना चाहा। इसी से वज़ीर मीर शहाबुद्दीन ने सूरजमल को धर दबाने का मराठों से आग्रह किया था; तब सिंधिया, होलकर और पेशवा, राघोबादादा ने भरतपुर राज्यान्तर्गत कुम्हेरी के किले पर चढ़ाई कर दी। उस युद्ध में मल्हारराव के इकलौते पुत्र अहिल्याबाई के पति खण्डेराव मारे गये, तब मल्हारराव ने जयद्रथ-वध जैसी जाटों का निःपात करने की भीषण प्रतिज्ञा की। मल्हारराव की यह प्रतिज्ञा सुनकर सूरजमल ने अपने वकील रूपराम कटारे के पुत्र तेजराम कटारे द्वारा जयाप्पा सेंधिया की ओर, पगड़ी-बदला, भैया-चारा स्थापित करने के विचार से, अपनी पगड़ी भेज दी। उधर सिंधिया होलकर में पहले से मनोमालिन्य हो ही चुका था, अतएव जयाप्पा सेंधिया ने होलकर को अकेला छोड़ कर रामसिंह की सहायतार्थ राजपूताने की ओर कूँच कर दिया। तब होलकर को भी विवश होकर १७ मई १७५४ को ६० लाख रुपये कर लेकर जाटों से सुलह करनी पड़ी। उधर विजय सिंह ने भी ५०-६० हज़ार फ़ौज इकट्ठी करके मराठों से सामना किया। मल्हारराव की सहानुभूति विजयसिंह की ओर थी। सिंधिया ने नागोर के किले में विजय सिंह को महीनों तक घेर रखा। तब विजय सिंह ने

केसरी सिंह खोखर नामक एक राजपूत को भिखारी के वेष में भेज कर जयाप्पा को न्हाते समय छुरी से मरवा डाला ।

वास्तव में केवल नैतिक भय से होल्कर अपनी फ़ौज सहित विजयसिंह के सहायक नहीं हो सके, किन्तु उनके उकसाने से ही जयपुर के माधौसिंह तथा अन्य राजा विजय सिंह के सहायक हुए थे । बाद को जयाप्पा के भाई दत्ताजी ने विजयसिंह को धर दबाया । अन्त में मारवाड़ राज्य के तीन भाग किये जाकर एक हिस्सा विजयसिंह तथा एक एक रामसिंह और पेशवा को देने की सुलह हुई और २ करोड़ रुपये दर्बार-खर्च विजयसिंह से लेना तै पाया । जयपुर वालों से भी गुनहगारी वसूल की गई । इसी समय से कृष्णा जी जगन्नाथ नामक एक मराठों का वकील विजयसिंह के दर्बार में रहने लगा, जिसके लिखे हुए सैकड़ों अख़बार (Newsletters) उपलब्ध हुए हैं। और उनसे तत्कालीन इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

मारवाड़ के युद्ध के अनन्तर ही रामसिंह हाड़ा बूँदी नरेश की मृत्यु हुई; अतएव उनकी रानी ने अपने अल्पायु लड़के को गद्दी पर बिठाने में सिंधिया से मदद चाही; जिससे दत्ताजी सिंधिया को ४० लाख रुपये सहज ही में मिल गये । पानीपत के युद्ध के समय देवीदत्त नामक एक दिल्ली निवासी कायस्थ शुजाउद्दौला की ओर से सदा शिवराव भाऊ के पास रहता था । लाला कृपाराम नामक एक कायस्थ सवाई जयसिंह का दरबारी था और उसी के द्वारा बाजीराव तथा जयसिंह में मित्रता हुई थी । बाजीराव पेशवा ने उसको तथा उसके पुत्र तुलजाराम को राजपूताने में अपना वकील नियत किया । तुलजाराम के पुत्र सेवकराम ने भी जयपुर में तथा १७७७ से १७९३ तक कलकत्ता में बहैसियत मराठों के वकील की नौकरी की थी । उसके बहुत से अख़बार उपलब्ध हुए हैं । सूरजमल जाट ने पानीपत के युद्ध में तथा उसके अनन्तर पराजित मराठों को आत्मीय भाव से जो सहायता दी, वह अद्वितीय थी । मराठा जाति उस के उस उपकार को कदापि भूल नहीं सकती । तत्संवंधी वहुत सी सामग्री मराठी में उपलब्ध है ।

सूरजमल के पुत्र जवाहरसिंह ने मल्हारराव होलकर की सहायता से दिल्ली पर चढ़ाई करके नजीबख़ाँ रुहेले को धर दबाया था; किन्तु १७६७ के लगभग जवाहरमल मराठों के विरुद्ध हो गया । गोहद के जाट वास्तव में पेशवा के ही बनाये हुए राजा थे । पर, पानीपत के युद्ध के बाद उन्होंने मराठों से मुख़ालिफ़त की; तब राघोबा पेशवा ने गोहद पर चढ़ाई कर १५ लाख रुपया खिराज १७६७ उनसे वसूल किया ।

काशी के राजा चेतसिंह का मराठों से गहरा सम्पर्क रहा था । वारन हेस्टिंग्ज़ ने उसके साथ जो कुछ अन्याय किया था, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता; किन्तु महाद जी सिंधिया ने उसे आश्रय देकर ५ लाख की जागीर दी थीं । पेशवा तथा नाना फड़नवीस से भी चेतसिंह का परिचय था और उनका पत्र-व्यवहार भी उपलब्ध हो चुका है । इसी प्रकार अनूप गिरि उर्फ़ हिम्मतबहादुर नामक गुसाँई सैनिक का मराठों की उत्तर-भारतीय-राजनैतिक हलचलों में विशेष उल्लेख पाया जाता है । आरंभ में वह तथा उसका भाई उमराव गिरि शुजाउद्दौला के पास नौकर थे और वे पानीपत के युद्ध में मराठों के विरुद्ध लड़े भी थे । जाटों और मराठों के युद्ध में भी उन्हों ने जाटों का साथ दिया था । जब दिल्ली के वजीर मिर्ज़ा नजफ़ख़ाँ ने उन्हें अपने पास रख लिया, तब उनका मराठों से विशेष सम्बन्ध हुआ । महाद जी सेंधिया का दिल्ली पर अधिकार स्थापित होते ही उन्होंने अनूपगिरि की सहायता से दिल्ली के सर्दारों की भीतरी बातें और द्रव्य प्राप्त करने के साधन जानने चाहे; किन्तु २-३ वर्ष बाद महाद जी के विरुद्ध षड्यंत्र रचने का पता सिंधिया को चलते ही उन्होंने गुसाँई को क़ैद कर लिया और उनकी जागीर भी जब्त कर ली । तब उसने सेंधिया के विरुद्ध बलवा किया और वह महाद जी के प्रतिस्पर्धी तुकोजी होलकर तथा बाँदा के नवाब

अलीबहादुर से जाकर मिला। सिंधिया तथा अनूपगिरि गुसाँई के झगड़े के सैकड़ों कागज़ात मराठी में उपलब्ध हैं।

सन् १८०३ में अनूपगिरि ने अङ्गरेजों का साथ दे कर बुँदेलखण्ड में अङ्गरेजों की सत्ता स्थापित कराई थी। हिन्दी के कवि पद्माकर जी ने "हिम्मत बहादुर विरदावलि" नामक ग्रन्थ भी लिखा है। अस्तु, जब मराठों ने सन् १७८३ में गोहद के राणा छत्रसाल पर चढ़ाई की, उस समय राजा माणिकपाल करोली वाले ने जाट को आश्रय दिया था; किन्तु अनन्तर उसने महाद जी के आग्रह और दबाव से राणा को सकुटुम्ब महाद जी को सौंप दिया। १७७८ में जयपुर के राजा पृथ्वीसिंह की मृत्यु हुई; किन्तु उसका पुत्र नाबालिग होने से उसका भाई प्रतापसिंह ही शासन-प्रबंध करता था। माचोड़ी के राव राजा प्रतापसिंह महाद जी के मित्र थे; जो मराठों की कृपा के कारण ही अलवर राज्य के संस्थापक कहलाये। वह जयपुर राज्य में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे, अतएव उन्हों ने महाद जी को सुझाया कि जयपुर का शासक प्रतापसिंह नालायक़ है; अतएव यदि पृथ्वीसिंह के लड़के मानसिंह को उसकी ननसाल किशनगढ़ से लाकर गद्दी पर बिठायेंगे तो आप को ५० लाख रुपये दिलाऊँगा तब जयपुर के ।प्रधानमन्त्री खुशालीराम बोहरा जयपुर वाले प्रतापसिंह का संदेश लेकर महाद जी के पास गया; किन्तु महाद जी ने साढ़े तीन करोड़ रुपया, पिछले कर की बकाया, माँगी। पर खुशालीराम ने इतनी रक़म देने में असमर्थता प्रकट की। तब राव राजा ने ६३ लाख रुपये में झगड़ा निपटवा दिया। उस समय ११ लाख रुपया नक्द तथा शेष रक़म की वसूली के लिए मुल्क देना क़रार पाया। पर जब यह नक्द रक़म भी नहीं मिली, तब सिंधिया ने फौज भेजकर जयपुर के कई मुहालों पर कब्ज़ा कर लिया। उस समय प्रतापसिंह का साथ विजयसिंह जोधपुर वाले ने दिया और खुशालीराम को मराठों का मित्र समझकर वह मार डाला गया। सन् १७८७में जयपुर पर महाद जी सिंधिया ने चढ़ाई की। उस समय मुहम्मदबेग हम्दानी जो दिल्ली का सर्दार था और मराठों से कुढ़ता था, राजपूतों से जा मिला था। उस के षड़यन्त्र से ही राजपूत मराठों में—लालसोट नामक स्थान पर—भीषण युद्ध हुआ, किन्तु मराठा पलटनों की विश्वासघातकता के कारण महाद जी को वापिस लौट जाना पड़ा। जयपुर के उक्त युद्ध सम्बन्धी सैकड़ों असली पत्र मराठी में प्रकाशित हो चुके हैं और अभी सैकड़ों अप्रकाशित पड़े हैं, अतएव कहना नहीं होगा कि बिना उस सामग्री का अध्ययन किये राजपूतों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

राघोगढ़ के खीची राजा पर बाजीराव पेशवा ने चढ़ाई कर उनसे वार्षिक कर लेना निश्चित किया था। नागोर के युद्ध में बलभद्र सिंह खीची ने जयाप्पा सिंधिया को सहायता भी की थी; किन्तु अङ्गरेजों के प्रथम युद्ध में अङ्गरेजों ने खींची को मराठों से फोड़ कर अपनी ओर मिला लिया था; अतएव महाद जी ने राघोगढ़ पर चढ़ाई करके बलवन्त सिंह को क़ैद कर लिया, बलवन्त सिंह, उसके पुत्र जयसिंह, दुर्जनसाल आदि खीची सम्बन्धी मराठी साहित्य भी अध्ययन करने योग्य है। महाद जी को सन् १७८५ में आर्थिक सहायता की आवश्यकता हुई। उसी समय बाँदा के गुमानसिंह के पुत्र मधुकरशाह तथा खुमानसिंह में राजगद्दी के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ, तब महाद जी ने अपने सेनापति खण्डेराव हरी को भेज कर मधुकरशाह को सहायता की। अप्पा खण्डेराव ने पन्ना, ओरछा, कोटरा तथा दतिया के भी कई झगड़े तै कर के उन से सन्धियाँ की थीं। खण्डेराव हरी इन पंक्तियों के लेखक के पूर्वज थे, अतएव उस के संग्रह में बुँदेलखण्ड तथा लालसोट सम्बन्धी बहुत सी अप्रकाशित हिन्दी-मराठी सामग्री मौजूद है। उदयपुर के राणा के निर्बल होने से रावत भीमसिंह मंत्री ही राज्य को दबा बैठा था तब महाद जी ने जालिमसिंह कोटे वाले की—सहायता से चित्तौर का क़िला जीतकर उदयपुर पर अपना प्रभाव स्थापित किया और सुलह की। मराठों को राजपूताने

पर अधिकार स्थापित करने में जालिमसिंह ने बहुत सहायता की, इसके अतिरिक्त जवाहरसिंह, नवलसिंह, रणजीतसिंह जाट, प्रताप सिंह माचौड़ीवाले, विजयसिंह जोधपुर वाले, महाराणा भीमसिंह उदयपुर वाले, किसनगढ़, बीकानेर आदि राज्यों से मराठों का महाद जी के समय युद्ध, सन्धि, राजनीति आदि में बहुत कुछ सम्बन्ध रहा। सम्बन्धी विपुल सामग्री भी उपलब्ध है। इसी समय महाराणा रणजीतसिंह जाट का भी मराठों से सम्पर्क हुआ। हम यह तो नहीं कह सकते कि मराठों से राजनैतिक प्रमाद नहीं हुए, किन्तु यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि ज्योंहीं मराठे साम्राज्य-सत्ता धारी—अर्थात् दिल्ली के स्वामी—बन बैठे, त्योंही राजपूतों ने उनका विरोध करना आरम्भ कर दिया। जिससे पारस्परिक संघर्ष हुआ और अन्यों की दृष्टि में वे दोनों हेय सिद्ध हुए। इस प्रकार राजपूत और मराठे दोनों सर्वदा के लिए निर्बल हो जाने से ही विदेशीय अङ्गरेज़ों का आधिपत्य यहाँ स्थापित हो गया, पर यदि मराठे और राजपूत एक होकर अपनी शक्ति को बढ़ाते तो आज भारतवर्ष का मानचित्र किसी और ही रंग का होता।

महाद जी के दत्तक पुत्र दौलतराव का उनकी माताओं से झगड़ा हो गया था। इस गृह-कलह ने बड़ा भीषण रूप धारण कर लिया था। दतिया के महाराज छत्रजीत तथा भरतपुर के सर्दार दुर्जनसाल ने उन स्त्रियों की सहायता की थीं; तत्सम्बन्धी सामग्री जुटाने की भी आवश्यकता है। गोहद के महाराणा कीरत सिंह तथा अङ्गरेज़ों में जो सन्धियाँ हुईं, वह भी बड़ी महत्वपूर्ण हैं। यशवन्तराव होल्कर ने जोधपुर के राजा की सहायता से अङ्गरेज़ों से युद्ध प्रारंभ किया और मुकुन्दरा के दर्रे में अङ्गरेज़ी सेना को बुरी तरह से हराया। यद्यपि कोटा के मन्त्री राजा ज़ालिमसिंह की अप्रत्यक्ष रूप से अङ्गरेज़ों को सहानुभूति थी, पर यशवन्तराव की समर्थ सेना के आगे अङ्गरेज़ों की कुछ न चली। अन्तिम बाजीराव पेशवा ने भी अङ्गरेज़ों के युद्ध में ज़ालिमसिंह से सहायता चाही थी। सिंधिया, होल्कर तथा पेशवा का ज़ालिमसिंह से जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह बड़ा महत्व-पूर्ण होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। रणजीतसिंह जाट भरतपुरवाले तथा यशवन्तराव ने भरतपुर की चढ़ाई में अङ्गरेज़ों के छक्के छुड़ा दिये थे। वह एक चिरस्मरणीय ऐतिहासिक घटना है। यशवन्तराव के दीवान बालाराम, सेनापति रामदीन तथा वकील लाला भवानीशंकर, महाराजा दौलतराव के दीवान गोकुल पारख, साहूकार खुशालचंद और मुन्शी कमलनयन, लाहौर के महाराजा रणजीतसिंह का अङ्गरेज़ों के विरुद्ध होल्कर को सहायता देने का पत्र-व्यवहार, जोधपुर के राजा तख़्तसिंह, जयपुर के जगत सिंह, अलवर के राव राजा माचौड़ी वाले, भरतपुर के रणजीतसिंह आदि राजाओं का मराठों से सम्बन्ध-विच्छेद और सेनापति लेक से १८०३ सुलह करना तथा सन् १८१७ में उदयपुर, राजगढ़, रतलाम आदि राज्यों को ईस्ट इंडिया-कम्पनी से सम्बन्ध विषयक सामग्री से मराठे और राजपूत दोनों के इतिहास पर प्रकाश पड़ सकता है। दौलतराव ने जयपुर से संधि की थी और चंदेरी, भदावर, शिवपुर आदि छोटे-छोटे राजपूत राज्यों को परास्त किया था। इन्दौर, ग्वालियर, धार, देवास बड़ौदा आदि महाराष्ट्र राज्यों के अधीन अब भी कई प्राचीन राजपूत राजा जागीरदार और सर्दार हैं, तत् सम्वन्धिनी ऐतिहासिक सामग्री से भी कई ऐतिहासिक गुत्थियाँ सुलझ सकेंगी।

अङ्गरेज़ी इतिहासकारों ने लिखा है कि "समस्त राजपूत राजाओं ने स्वेच्छा से अपने हथियार अंग्रेजों को सौंप दिये।" किन्तु यह कथन वास्तविकता से परे हैं। हमको सन् १८१७ का अजमेर के सूबेदार बापूशिंदे का एक पत्र जिसमें उदयपुर के महाराणा जी के एक पत्र को उद्धृत किया है प्राप्त हुआ है, उससे पता चलता है कि

सन् १८१७ में राजपूत राजा अङ्गरेजों से सुलह करने के लिये तैयार नहीं थे, किन्तु सिंधिया होलकर की उदासीनता, तटस्थ नीति तथा पिण्डारियों की गड़बड़ी के कारण उन्हें सुलह करनी पड़ी। सारांश, मराठा और राजपूतों का लगभग ३ शताब्दियों तक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जो राजनैतिक संबन्ध रहा, तत्संबन्धी अभी तक बहुत कम खोज या चर्चा हुई है और इसी से दोनों प्रान्तों के इतिहास में कई भ्रमात्मक बातें अंकित हुई हैं; अतएव सच्चा और निपष्क्ष इतिहास लिखे जाने के लिये उभय प्रान्तों के इतिहास लेखकों को पारस्परिक विचार विनिमय एवं आदान-प्रदान की नीति का अवलम्बन करने की अत्यंत आवश्यकता है।

स्थानाभाव एवं विस्तार भय से इस संक्षिप्त लेख द्वारा हम अधिक विवेचन नहीं कर सके, तो भी इस लेख के द्वारा प्रमुख व्यक्ति, ऐतिहासिक घटनाएँ तथा समय का उल्लेख कर दिया गया है। राजपूताने में तो केवल स्वर्गीय मुंसिफ़ देवी प्रसाद जी, टेसी टोरी, रामकर्ण जी, रेऊजी तथा ओझा जी आदि दस-पाँच महोदयों ने ही ऐतिहासिक खोज का कार्य किया; किन्तु महाराष्ट्र में तो गत ६० वर्षों में १००।५० विद्वानों ने ऐतिहासिक सामग्री एकत्र की, जिससे अब तक लगभग १ लाख असली कागज़ात प्रकाशित हो चुके हैं और इससे दूनी सामग्री अभी अप्रकाशित पड़ी है। पूना का भारत-इतिहास-संशोधक-मण्डल, धूलिया का राजवाड़े संशोधन मन्दिर, सितारे का पारसनीस म्यूज़ियम तथा इन्दौर, धार, ग्वालियर आदि विभिन्न स्थानों के व्यक्ति-गत संग्रहों में राजपूताना संवन्धी बहुत सी सामग्री पड़ी है, जो जिज्ञासुओं की बाट जोह रही है अतएव यदि इस लेख को पढ़कर किसी सज्जन को उस दिशा में कार्य करने की स्फूर्ति हुई, तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

The Author of the First Grammar of Hindustani

प्रो० डा० फ़ोख़ल, लइदन विद्यापीठ

[सर जार्ज ग्रियर्सन में भा० भा० प० में दर्ज किया है कि हिन्दुस्तानी का सर्वप्रथम व्याकरणकार केट्लर था। इसी के विषय में कुछ विशेष टिप्पणियां यहां दी जाती हैं।

यह व्याकरण ओलंदेज़ (डच) भाषा में १६६० व १६६८ ई० के बीच लिखा गया। केट्लर का जन्म पूर्वी प्रशा में एल्बिंग नामक स्थान पर २५ दिसम्बर सन् १६५९ ई० को हुआ था। वह जोशुआ केट्लर नामक जिल्दसाज़ का लड़का था। सन् १६८२ ई० में उसने डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी कर ली तथा भारत में आया। यहां पर उसने काफ़ी पैसा कर लिया। उसकी मृत्यु ईरान में हुई।]

In his *Linguistic Survey of India,*[1] Sir George Grierson has given a brief account of the first Hindustani Grammar written by John Joshua Ketelaar, a servant of the Dutch East India Company. Sir George Grierson says: "He wrote a grammar and a vocabulary of the 'Lingua hindostanica,' which were published by David Mill in 1743, in his *Miscellanea Orientalia.* We may assume that they were composed about the year 1715."

In the present commemoration volume composed in honour of Mahamahopadhyaya Pandit Gauri Shankar Ojha, who, by his excellent works on the archæology and history of Rajputana, has done so much to promote the *lingua franca* of India, it will not be out of place to publish some further particulars regarding the author of the first Hindustani Grammar.

As regards the grammar itself, it is true that it was published in Latin by David Mill (or Millius), Professor of Oriental languages in the University of Utrecht, in his *Miscellanea Orientalia* (Leyden, 1743). The original, however, was written by Ketelaar in the Dutch language; a manuscript copy is preserved in the State Record Office ('Rijks Archief') at the Hague. It contains a grammar and vocabulary both of the Hindustani and Persian languages. I here give the Dutch title in English translation: *Instruction or tuition in the Hindostani and Persian languages, besides their declension and conjugation, together with a comparison of the Hindostani with the Dutch weights and measures, likewise the significance of sundry Moorish names, etc. By John Joshua Ketelaar, Elbingensem. And copied by Isaac van der Hoeve, of Utrecht. At Leckenauw Ao. 1698."*

---

[1] *Linguistic Survey of India,* Vol. IX (Calcutta, 1916), Part I, pp. 6—8.

From this title it is evident that Ketelaar must have composed his grammar between A.D. 1682, the year in which he came to India and A.D. 1698, the date of the Lucknow copy. As he can hardly have undertaken a work of this description in the first years of his Indian career, we may perhaps assume that he wrote it between 1690 and 1698.

It further appears that Ketelaar was born at Elbing, a town in East Prussia, situated on the coast of the Baltic Sea not far from Danzig. His real family name was Kettler, and it was only after he had entered the service of the Dutch East India Company that it was changed to Ketelaar, this form being the Dutch equivalent of the German *Kettler*.

He was of humble extraction,[2] being the eldest son of a bookbinder, Joshua Kettler by name. The date of his birth was the 25th December, 1659. In certain books on the local history of Elbing we find some particulars regarding young John Joshua which go to show that he was not exactly a promising and well-behaved, or even an honest youth. He had been apprenticed to a master-bookbinder, named John Schwechausen. Now it happened again and again that the latter missed small sums of money. He did not know who was the culprit; but at last he caught young Kettler in the act and gave him a sound scolding. The apprentice then hired a horse and bolted to Marienburg. His master went after him and brought him back to his house. This compulsion evidently raised the young man's fury. He made an attempt to poison his master by secretly putting some arsenic in his jug of beer. The worthy master-bookbinder was saved from imminent death only by a considerable dose of liquid butter, administered to him by his neighbour, the apothecary Michael Wulf. This happened on the 5th October, 1680, when John Joshua had nearly reached the age of twenty-one years. Curiously enough he received no further punishment, but was simply dismissed. The same evening the young man left for Danzig, where he found employment with another book-binder, without, however, mending his ways. After a few days he forced his new master's money-chest, stole three rix-dollars and absconded by sea to Stockholm, the capital of Sweden.

For one year and a half we lose sight of John Joshua Kettler. In the spring of the year 1682 we find him at Amsterdam, the capital of Holland. He had taken service with the Dutch East India Company. Like so many of his countrymen, he was probably allured by the tales of India's boundless wealth which unscrupulous crimps were in the habit of relating in order to entice poor Germans into the bondage of the powerful Company.

From this moment it is the Company's well-kept and carefully preserved records which supply us with information regarding the further adventures of John Joshua

---

[2] For the information here published I am greatly indebted to the Keeper of the Municipal Records of the town of Elbing, to whom I here wish to express my obligation.

Ketelaar, as henceforth he was called by his newly adopted Dutch name.[3] A remarkable career it was on which he now entered, and certainly a more honourable one than his early escapades would have led one to expect.

In May, 1682, Ketelaar sailed from Texel on board the Company's ship " 't Wapen van Alkmaar " belonging to the Amsterdam ' Chamber ' of the Company. It was as a common soldier that he started on his Indian career. From the muster-rolls we find that in 1691 he served under the Directorate of Surat and was stationed at Broach in the capacity of ' Assistant.' In 1695 he was ' Assistant ' at Agra, in 1699 book-keeper of the factory at Ahmadābād, and in 1700, when he was transferred to Agra, he bore the title of book-keeper and provisional ' Chief.'

We may perhaps assume that in the course of his first sojourn at Agra he also visited Lucknow. We have seen above that the copy of his Hindustani Grammar now preserved at The Hague was prepared at Lucknow in A.D. 1698. In all probability it was made under Ketelaar's personal instructions and supervision.

In the year 1710 it was resolved to send an embassy under Mr. Cornelius Bezuijen, Director of the Dutch factories in Gujarat and Hindostan, to Shāh 'Ālam Bahādur Shāh who had succeeded his father 'Ālamgīr (Aurangzeb) in 1707. But in October 1710 the ambassador elected died at Surat after a lingering illness. Some time previous to his demise he recommended Ketelaar, then Chief Merchant, to be his successor both as Director of the Dutch factories and as Head of the proposed embassy.[4]

In the following year, 1711, the embassy started from Surat and, travelling by way of Agra, arrived on the 10th December of that year at a distance of 6 kos from Lahore where the Emperor was encamped. The ambassador was still at Lahore waiting for his *firmān*, when Bahādur Shāh suddenly died on the 28th February, 1712. The diary of the embassy gives a vivid account of the confusion that followed the death of the Emperor. The Dutch ambassador was even solicited by the Wazīr Zulfiqār Khān to take an active part in the struggle for the throne on behalf of the eldest son of the deceased monarch; but he politely declined the invitation under the plea of ill-health. When Jahāndār Shāh had come out victorious, negotiations for the *firmān* were continued with his court. They had not yet had the desired effect when on the 9th May the Emperor moved camp and with his whole army started for Delhi. It should be remembered that his nephew Farrukhsiyar was making preparations in Bengal to dispute his uncle's possession of the crown. The Dutch ambassador and his suite accompanied the Imperial Court on the march to the capital which was carried out under conditions of extreme discomfort in the hottest time of the year. On the 24th June Delhi was reached. Here the rest of the summer was passed with continuous solicitations to obtain the desired privileges from the Imperial Court. It was not until the 9th of October that after endless delays on the part of the Emperor and his officials the Dutch ambassador, having attained his object, could leave Delhi.

---

[3] I wish here to record my indebtedness to Dr. R. Bylsma, Keeper of the State Records, The Hague, for the information kindly supplied by him.

[4] An English translation of the journal of Ketelaar's embassy has been published in the *Journal of the Panjāb Historical Society*, Vol. X (1929), pp. 1—94.

The return journey to Surat by way of Agra, Gwalior, Narvar, Sarangpur, Ujjain, Jhabna, Godhra and Baroda, took four months and was attended with grave dangers and great difficulties, as all along the road the country was infested with robbers, while the petty Rajas of Malwa made it their business to levy blackmail from the caravans passing through their territories. When at last Surat was reached on the 17th February, 1713, the first news which greeted the ambassador was that Jahāndār Shāh had been defeated and killed by his nephew Farrukhsiyar. This meant that the privileges granted by the former for the trade of the Dutch had become absolutely valueless and all the exertions and perils sustained had been in vain.

All through this difficult enterprise Ketelaar had shown extraordinary ability. The prolonged negotiations with the Moghul Court required an uncommon degree of patience and tact, and on the long and dangerous journey from Lahore to Delhi and from Delhi to Surat no small amount of courage and firmness was needed. What strikes us most in the account of Ketelaar's embassy is that singleness of purpose and devotion to duty which pervades it in the curious garb of its antiquated matter-of-fact and sometimes humorous style.

The Dutch East India Company was in the habit of sending an embassy to the Shāh of Persia every twenty years. It is not surprising that, when in 1716 the time for this embassy had arrived again, it was Ketelaar who was chosen to be its Head. We possess a detailed account of this Persian embassy composed by a German soldier, Johann Gottlieb Worms by name, who belonged to the ambassador's suite during this expedition.[5] The writer was evidently a man of little education, but a shrewd observer who has faithfully recorded his experiences. In the beginning of his narrative he relates that Ketelaar was a Lutheran by religion and had then been in India for thirty years. This is not far from the truth, as we have seen that he had sailed for India in the year 1682.

Apparently Ketelaar was then at Batavia from where the embassy sailed towards the end of July, 1716. The ambassador's suite consisted of two Senior Merchants, two book-keepers, three 'Assistants' and twelve soldiers, the latter attired in brand-new uniforms, which Worms, who was one of them, describes with evident satisfaction. The embassy was, moreover, attended by a French periwig-maker, a tailor and four or five musicians. According to the fashion of the period the gentlemen wore wigs!

The Company's ship 'Beverwaard,' which conveyed the ambassador and his suite,

---

[5] Johann Gottlieb Worms, *Ost-Indian-und Persianische Reisen*, etc., Dresden and Leipzig, 1737, pp. 247—306. The official journal of Ketelaar's Persian embassy is preserved in the Record Office at The Hague. It covers 500 pages in manuscript.

[6] In English travels of the period the name is spelt: *Gombroon.*

Ketelaar, as henceforth he was called by his newly adopted Dutch name.[3] A remarkable career it was on which he now entered, and certainly a more honourable one than his early escapades would have led one to expect.

In May, 1682, Ketelaar sailed from Texel on board the Company's ship "'t Wapen van Alkmaar" belonging to the Amsterdam 'Chamber' of the Company. It was as a common soldier that he started on his Indian career. From the muster-rolls we find that in 1691 he served under the Directorate of Surat and was stationed at Broach in the capacity of 'Assistant.' In 1695 he was 'Assistant' at Agra, in 1699 book-keeper of the factory at Ahmadābād, and in 1700, when he was transferred to Agra, he bore the title of book-keeper and provisional 'Chief.'

We may perhaps assume that in the course of his first sojourn at Agra he also visited Lucknow. We have seen above that the copy of his Hindustani Grammar now preserved at The Hague was prepared at Lucknow in A.D. 1698. In all probability it was made under Ketelaar's personal instructions and supervision.

In the year 1710 it was resolved to send an embassy under Mr. Cornelius Bezuijen, Director of the Dutch factories in Gujarat and Hindostan, to Shāh 'Ālam Bahādur Shāh who had succeeded his father 'Ālamgīr (Aurangzeb) in 1707. But in October 1710 the ambassador elected died at Surat after a lingering illness. Some time previous to his demise he recommended Ketelaar, then Chief Merchant, to be his successor both as Director of the Dutch factories and as Head of the proposed embassy.[4]

In the following year, 1711, the embassy started from Surat and, travelling by way of Agra, arrived on the 10th December of that year at a distance of 6 kos from Lahore where the Emperor was encamped. The ambassador was still at Lahore waiting for his *firmān*, when Bahādur Shāh suddenly died on the 28th February, 1712. The diary of the embassy gives a vivid account of the confusion that followed the death of the Emperor. The Dutch ambassador was even solicited by the Wazīr Zulfiqār Khān to take an active part in the struggle for the throne on behalf of the eldest son of the deceased monarch; but he politely declined the invitation under the plea of ill-health. When Jahāndār Shāh had come out victorious, negotiations for the *firmān* were continued with his court. They had not yet had the desired effect when on the 9th May the Emperor moved camp and with his whole army started for Delhi. It should be remembered that his nephew Farrukhsiyar was making preparations in Bengal to dispute his uncle's possession of the crown. The Dutch ambassador and his suite accompanied the Imperial Court on the march to the capital which was carried out under conditions of extreme discomfort in the hottest time of the year. On the 24th June Delhi was reached. Here the rest of the summer was passed with continuous solicitations to obtain the desired privileges from the Imperial Court. It was not until the 9th of October that after endless delays on the part of the Emperor and his officials the Dutch ambassador, having attained his object, could leave Delhi.

---

[3] I wish here to record my indebtedness to Dr. R. Bylsma, Keeper of the State Records, The Hague, for the information kindly supplied by him.

[4] An English translation of the journal of Ketelaar's embassy has been published in the *Journal of the Panjāb Historical Society*, Vol. X (1929), pp. 1—94.

The return journey to Surat by way of Agra, Gwalior, Narvar, Sarangpur, Ujjain, Jhabna, Godhra and Baroda, took four months and was attended with grave dangers and great difficulties, as all along the road the country was infested with robbers, while the petty Rajas of Malwa made it their business to levy blackmail from the caravans passing through their territories. When at last Surat was reached on the 17th February, 1713, the first news which greeted the ambassador was that Jahāndār Shāh had been defeated and killed by his nephew Farrukhsiyar. This meant that the privileges granted by the former for the trade of the Dutch had become absolutely valueless and all the exertions and perils sustained had been in vain.

All through this difficult enterprise Ketelaar had shown extraordinary ability. The prolonged negotiations with the Moghul Court required an uncommon degree of patience and tact, and on the long and dangerous journey from Lahore to Delhi and from Delhi to Surat no small amount of courage and firmness was needed. What strikes us most in the account of Ketelaar's embassy is that singleness of purpose and devotion to duty which pervades it in the curious garb of its antiquated matter-of-fact and sometimes humorous style.

The Dutch East India Company was in the habit of sending an embassy to the Shāh of Persia every twenty years. It is not surprising that, when in 1716 the time for this embassy had arrived again, it was Ketelaar who was chosen to be its Head. We possess a detailed account of this Persian embassy composed by a German soldier, Johann Gottlieb Worms by name, who belonged to the ambassador's suite during this expedition.[5] The writer was evidently a man of little education, but a shrewd observer who has faithfully recorded his experiences. In the beginning of his narrative he relates that Ketelaar was a Lutheran by religion and had then been in India for thirty years. This is not far from the truth, as we have seen that he had sailed for India in the year 1682.

Apparently Ketelaar was then at Batavia from where the embassy sailed towards the end of July, 1716. The ambassador's suite consisted of two Senior Merchants, two book-keepers, three 'Assistants' and twelve soldiers, the latter attired in brand-new uniforms, which Worms, who was one of them, describes with evident satisfaction. The embassy was, moreover, attended by a French periwig-maker, a tailor and four or five musicians. According to the fashion of the period the gentlemen wore wigs!

The Company's ship 'Beverwaard,' which conveyed the ambassador and his suite, arrived at Gamron[6] (the same as Bandar Abbās), the well-known port of the Persian Gulf, after a voyage of eight weeks. Thirty days later there arrived two other ships from Ceylon, carrying six elephants which were intended as a present for the king of Persia from the Dutch East India Company. Worms expatiates with obvious delight on the tricks which some of these elephants could perform, an accomplishment which was no doubt calculated to render them more acceptable to the royal recipient.

---

[5] Johann Gottlieb Worms, *Ost-Indian-und Persianische Reisen*, etc., Dresden and Leipzig, 1737, pp. 247—306. The official journal of Ketelaar's Persian embassy is preserved in the Record Office at The Hague. It covers 500 pages in manuscript.

[6] In English travels of the period the name is spelt: *Gombroon*.

The journey from Gamron to Ispahan, which was performed on horses provided by the Persian authorities, took eight weeks. On the way the famous ruins of Persepolis were duly inspected. The solemn entry of the embassy in Ispahan is described by Worms in great detail and is, moreover, illustrated by a quaint engraving. The six Ceylonese elephants headed the procession and were followed by ten horses likewise intended as a present for the King. Next came two trumpeters and ten soldiers, all on horseback. The ambassador followed by the gentlemen of his suite, all of them mounted on Persian steeds, formed the centre of the pageant, while a group of Persian attendants and more than a hundred camels and mules loaded with the embassy's requisites and presents for the Shāh brought up the rear.

It was the policy of the Dutch East India Company to display great pomp in dealing with Oriental potentates. The ruler of Persia at the time of Ketelaar's visit to Ispahan was Shāh Husain, who, according to Worms, was then fifty years old. He was the last unworthy scion of the renowned Safawi dynasty who sat on the Persian throne. The wretched condition of the population clearly betrayed misrule under the nominal authority of the weak and effeminate king. The country was famine-stricken, so that the poor died in the streets of the capital. The carcasses of camels, horses and mules were devoured by the starving people. Worms relates that, while the wealthy Persians showed no compassion, the Dutch ambassador distributed bread and wine among the poor.

Another trait, incidentally recorded by the honest German soldier, shows Ketelaar's interest in the eastern nations with which he came into contact. During his prolonged stay at Ispahan he caused large pictures to be made showing a man and a woman of each of the various nationalities to be met with in the Persian capital, including the fire-worshippers, every one of these wearing the dress peculiar to them. These pictures which were intended to be presented to the East India Company must have formed an interesting collection. It is not known what has become of them.

About this time a military expedition was directed against the Georgians and Khurasanians who had risen in rebellion against the central government. Worms witnessed the Persian army starting on this warlike enterprise,—a force of some 100,000 men including the camp followers. He was struck by the want of order and discipline which characterized these proceedings.

Regarding the negotiations carried on by the ambassador with the Court we find very little in the narrative of the German soldier. Presumably his humble position precluded his being initiated in these weighty affairs We may assume that the Envoy, while staying in the Persian capital, had to bear up against the same kind of procrastination which he had experienced in the course of his Indian mission. This may be inferred from the fact that his sojourn at Ispahan took no less than six months. At last the return journey to the coast could be undertaken.

When the party had travelled as far as Shirāz, the ambassador received letters from the Dutch Director at Gamron conveying the alarming news that two ships manned with Arab soldiers had arrived before Hormuz[7] with the object of wresting that important fortress from the Persians. It was apprehended that they might also attack Gamron. On account of this eventuality the ambassador ordered the twelve soldiers under his command to proceed to Gamron with all possible speed. Riding day and night they covered the distance in twelve days, during which time they enjoyed only twelve hours' sleep. Their arrival at Gamron was hailed with great joy by the Europeans belonging to the Dutch factory.

The ambassador himself arrived a fortnight later. In the meantime the Persian authorities had despatched some 1,000 men under a colonel to Gamron. The ambassador did not fail, on his arrival, to call on the military commander in his camp outside the town. On this occasion the latter demanded that the Company's ships which was to convey the members of the embassy back to Batavia, should, together with the Dutch sailors, be placed at his disposal in order to carry troops to Hormuz and relieve that place. This request, which was repeated on the following day through an officer deputed by the Persian commander, was met with a firm refusal. Ketelaar declared that, being himself a servant of the Company, he had no right to dispose of the Company's ship in this manner. He declined to assume this responsibility.

The Persian commander now resorted to such measures as might coerce the ambassador to comply with his wishes. He posted some hundreds of his soldiers around the Dutch factory. Neither fresh water nor victuals were allowed to enter the building. The discomfort caused by this measure was extreme. Fresh water used to be brought daily on camels from the mountains, as the water in the local cisterns was unfit for drinking purposes. Only one cask of drinkable water was available in the factory besides a limited amount of dried provisions. Even in this distress Ketelaar did not yield. When the blockade had lasted two days, the ambassador was attacked by a violent fever to which he succumbed after three days. The Persian commander, startled by this result of his high-handed action, now withdrew his soldiers.

The mortal remains of the ambassador were buried in great state in the Dutch cemetery which was situated half a mile outside the town of Gamron, not far from the English graveyard. The chief mourner was Samuel Grüttner, a nephew of the deceased, who evidently had served under him. The same relative caused a grand monument to be erected over the grave of his uncle at the cost of 600 guilders. It is described in Worms' itinerary as " a pyramid, 30 cubits high, more costly than any of the sepulchres at that place." Presumably we shall have to imagine a rather clumsy, obelisk-shaped pile, like the contemporaneous monuments still extant on the Dutch cemetery of Surat.

---

[7] Spelt *Ormus* in Worms' account.

From information kindly supplied by the British Consul at Bandar Abbās it appears that the tomb in question has disappeared. In a letter dated 13th March, 1933, that officer writes that " there used to be a very old ruin in the shape of a monument situated on the border of the oldest part of the town (once Gambroon) which was known as " Goor-i-Ferangh ' (Europeans' grave), but this ruin, and others in close vicinity to it, were demolished about twenty-five years ago, when it was decided to build new houses on the site."[8]

From the fortune amassed by Ketelaar considerable endowments were bequeathed by him to the various Protestant churches in his native town. The church " zum Heiligen Leichnam " (i.e., Corpus Christi) spent the money on the purchase of a new organ which is still in use. Not far from it on the southern wall of the church there is a painted portrait of the donor. It shows a full face with ample forehead, a long straight nose, a resolute mouth and chin. He wears no beard or moustache, but a large periwig according to the fashion of the time. It is a face expressive of fortitude and sagacity.

---

[8] In 1900 the monuments in question were still extant, although in a ruinous condition. Cf. *The Geographical Journal*, Vol. XVI (1900), p. 212, where a sketch of them will be found.

चौथ आणि सरदेशमुखी

श्रीयुत यशवंत वासुदेवशास्त्री खरे, मिरज

[चौथ व सरदेशमुखी की मांग सर्वप्रथम शिवाजी ने सन् १६६५ ई० में औरङ्गज़ेब के सन्मुख रक्खी थी। जिस समय दिलावर ख़ाँ तथा मिर्ज़ा राजा जयसिंह की सेना ने महाराष्ट्र पर चढ़ाई की तथा यहाँ पर विजय प्राप्त करना प्रारम्भ किया तब शिवाजी ने उनसे सुलह करने में ही अधिक दूरदर्शिता समझी। अन्य इतिहासकारों का यह कहना कि उस समय शिवाजी ने यह समझ कर कि वे मुग़ल सैन्य का पराभव न कर सकेंगे सधि कर ली, असत्य है। यह सन्धि केवल उन का एक राजनैतिक दाँव था तथा वह पूर्ण सयुक्तिक भी था। उस संधि की शर्तों के परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। शिवाजी ने इस संधि द्वारा मुग़ल साम्राज्य में अपनी टांग अड़ा दी तथा ऐसा करने में अंगुली पकड़ कर पहुँचा पकड़ने की उन की नीति थी। यद्यपि इन शर्तों को औरङ्गजेब ने नहीं माना परन्तु आगे चलकर यह नीति बहुत काम आई। मराठों की भविष्य की सारी नीति उसी पर केंद्रित थी। प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने सैय्यद बन्धुओं के राजत्वकाल में स्वराज्य तथा चौथ व सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त किया। उसमें विशेषत्व यह था कि यह वसूल सरकारी दफ़्तरों में दर्ज उन सूबों की सब से अधिक आय पर लिया जाता था। इस प्रकार मराठी साम्राज्य की पहिली सीढ़ी बनाई गई। तदनन्तर इसी मार्ग पर चढ़ने से मराठों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। अङ्ग्रेज़ों की सहायक नीति भी तात्विक दृष्ट्या यही थी। सन् १७४३ ई० की दूसरी सनद के अनुसार मराठों को मालवा तथा नर्मदा व चम्बल नदियों के मध्य प्रदेश की चौथ व सरदेशमुखी का अधिकार प्राप्त हो गया। तीसरी व अन्तिम सनद से उन्हे मुल्तान पञ्जाब ठट्ठा सिंध अंतर्वेद रुहेलखण्ड व राजपूताना इत्यादि प्रदेशों में वही अधिकार प्राप्त हो गए। परन्तु इसमें मराठों का उत्तरदायित्व बढ़ गया तथा इसी समय ग्रहकलह प्रारम्भ हो जाने से वे उसे पूर्णतया सँभाल न सके। इसी कारण सन् १७६१ ई० में उन्हें हार खानी पड़ी।]

राजकारण हा एक बुद्धि आणि शक्ति या दोन साधनानीं खेळावयाचा डाव आहे। या दोनी साधनांचा पूर्णपणें मिलाप झाल्याशिवाय राजकारणांत कोणतीही गोष्ट सिद्धीस जात नाहीं। सतराव्या आणि अठराव्या शतकांत मराठयानीं स्वराज्याच्या राजकारणाचा एक मोठा डाव मांडला होता। मराठयानीं विशेषेंकरून बुद्धिबळाच्या जोरावरच हा डाव जिंकला होता असें मराठी इतिहासावरून दिसून येतें। मोंगल, रोहिले, पठाण, रजपूत जाठ हे लोक शरीरसामर्थ्यानें मराठयापेक्षां कांकणभर जास्तच होते। या सर्व लोकांचा पाडाव करण्यांत मराठयाना जें वेळोवेळ यश आलें त्याचें श्रेय बहुतांशीं त्यांच्या मुसद्दीपणाला—बौद्धिक श्रेष्ठतेलाच दिळेपाहिजे।

चौथसरदेशमुखी चा हक्क ही मराठी इतिहासांतील गुरु किल्ली होय। या हक्का च्या अभ्यासानेंच मराठी इतिहासांतील बहुतेक कोडीं सुटतात। मराठयांच्या लष्करी हालचाली आणि कारस्थानी डावपेंच—त्यांचे हर्षामर्षाचे प्रसङ्ग—त्यानीं सोसलेल्या आपत्ति किंवा मिळविलेले विजय यांचें मर्म समजून घेण्यासाठीं चौथ सरदेशमुखीच्या हक्का चा ग्रन्थ नेहमीं दृष्टीपुढें ठेवावा लागतो। अशा या महत्वाच्या विषयाचें त्रोटक विवेचन आणि त्रोटक इतिहास आम्ही या लेखांत देणार आहों। तसेंकरण्या पूर्वीं पुढील विवेचनांत उल्लेखिल्या जाणाऱ्या व्यक्ति व स्थळें या सम्बन्धी थोडीशी प्रास्ताविक माहिती प्रथम नमूद केली पाहिजे।

दहाव्या शतकाच्या अखेरीस मुसलमानांच्या भरतखंडावर स्वाऱ्या सुरू झाल्या। पहिलीं दोनशे वर्षें ते पञ्जाब व दिल्ली प्रान्त यांत धुमाकूळ घालीत होते। तेराव्या शतकांत ही परकी सत्ता सर्व हिन्दुस्थान भर पसरली, आणि तिनें दक्षिणेस नर्मदा ओलांडून कृष्णानदी पर्यन्त मजल गांठली। तेराव्या शतकांतच दक्षिणेंत बहामनी पातशाही ची स्थापना झाली। सोळाव्या शतकांत उत्तरेकडे मोठी राज्यक्रांति होऊन मोंगल पातशाहीची स्थापना झाली। अर्वाचीन हिंदुस्थानच्या इतिहासांत या मोंगल पातशाहीचें नांव चिरस्मरणीय होऊन राहिलें आहे। पहिल्या पन्नास वर्षांतच मोंगलानीं सर्व उत्तर हिन्दुस्थान व्यापलें आणि नन्तर त्यानीं दक्षिणेकडे मोर्चा वळविला। मोंगल दक्षिणेत येण्यापूर्वीच बहामनी पातशाही नष्ट होऊन तिच्या जागीं अहमदनगरची निजामशाही, विजापूरची आदिलशाही, आणि गोवळकोंडयाची कुतुबशाही अशीं तीन मोठीं मुसलमानी राज्यें झालीं होतीं। मोंगलानीं दक्षिणेंत येऊन प्रथम निजामशाही बुडविली आणि नन्तर ते विजापूरच्या आदिलशाहीच्या राशोला लागले। परंतु याच वेळीं दक्षिणेत स्वराज्य संस्थापक श्री शिवाजी महाराज यांचा झपाटयानें उत्कर्ष होत गेला त्यामुळें मोंगलांच्या सत्तेस कायमचा पायबंद बसला। महाराजांचा जन्म इ० स० १६३० च्या फाल्गुन महिन्यांत झाला। वयाच्या बाराव्या तेराव्या वर्षींच त्यानीं बारा मावळें काबीज करून स्वराज्य संस्थापनेस प्रारंभ केला। पहिलीं सतरा अठरा वर्षें मराठी सत्ता सह्याद्रीच्या दुर्गम पठारांतूनच वावरत होती। त्या मुदतींत महाराजानीं विजापूरवाल्यांचा अनेकदां पराजय करून त्यांचा दम बराच मोडला। स० १६६० चे सुमारास मराठी सत्ता बद्धमूल होऊन महाराजांचा जयदुंदुभी चौमुलखीं गर्जूं लागला आणि त्यांच्या प्रतापाची झळ सोलापूर अहंमदनगर, नाशीक, खानदेश, गुजराथ या मोंगलांच्या प्रांतास लागणार असा सुमार दिसूं लागला आणि स० १६६१।६२ पासून मराठे व मोंगल यांमधील खऱ्याखुऱ्या झगडयास सुरुवात झाली।

मोंगल व भोसले यांची शत्रु या नात्यानें जानपछान दोन पिढयांची होती। शिव छत्रपतींचे वडील शाहाजी राजे हे पूर्वीं निजामशाहींत मोठया मान्यतेचे सरदार होते। मलिकंबर वजीरानें जहांगीर व शहाजहान या मोंगल पातशहाशीं अनेक युद्धे केलीं त्यांतून शहाजी राजानीं मोठा पराक्रम गाजविला होता। मलिकंबराच्या मृत्युनंतर शहाजी राजांचा लौकिक व दरारा अतिशय वाढला आणि त्यांच्या इच्छे प्रमाणें आदिलशहा व निजामशहा यांच्या दरबारांचीं सूत्रें हालूं लागलीं। शहाजी राजे हे स्वपराक्रमानें प्याद्याचे फर्जी झाले होते आणि त्यांच्याएवढा प्रताप शाली पुरुष त्यावेळीं दक्षिणेंत कोणी ही नव्हता। इंग्रज इतिहासकार त्यांना किंगमेकर अशी पदवी देतात ती सार्थ आहे। स० १६३१ सालीं त्यानीं एक अल्पवयी मुलगा निजामशाही तख्तावर बसविला आणि त्याचा नांवावर शहाजी राजानीं मोंगलाशीं उघड वैर आरंभिलें हें युद्धसुमारें सहा वर्षें चालूं होतें आणि त्या मुदतींत मराठे व मोंगल यांमध्यें अनेक रणसंग्राम होऊन शहाजीराजानीं पुष्कळ वेळां मोंगली फौजांची दाणादाग उडवून दिली पुढें आदिलशाहा मोंगलाना मिळाले त्यामुळें शत्रूचें पारडें पुष्कळ जड झालें। तथापि शहाजी राजानीं हिंमत खचूं ने देतां आदिलशहा व मोंगल या दोनी शत्रूशीं मोठ्या मर्दुमकीनें टक्कर दिली। शेवटीं प्रतिकूल परिस्थिती मुळें शहाजीराजाना हार खावी लागली आणि शेवटीं त्याना निजामशाही राज्य मोंगलांच्या स्वाधीन करावें लागलें। स० १६३६ सालीं शहाजी राजे आदिलशहांचे जहागीरदारदार बनून कायमचे कर्नाटकांत गेले आणि तिकडें ही त्यानीं मोठें राज्य संपादन केलें। याप्रमाणें दक्षिणेंत मराठयांचें वर्चस्व प्रस्थापित करण्याचा शहाजी राजांचा प्रयत्न फसला तथापि त्यांच्यापराक्रमाचें महत्व कोणत्याही प्रकारें कमी होत नाहीं। कार्थेजच्या इतिहासांत हानिबालच्या पराक्रमानें त्याच्या पित्याचे म्हणजे हॅमिल्कार याचें कर्तृत्व झांकलें गेलेलें दिसतें त्या प्रमाणें मराठी इतिहासांत महाराजांच्या अलौकिक प्रतापामुळें शहाजी राजांचें कर्तृत्व

चांगलेसें दृष्टींत भरत नाहीं। वस्तुतः महाराजानीं प्रारंभीं ज्या चळवळी केल्या आणि अल्पावधींत जें मोठें यश मिळविलें त्याचें बरेचसें श्रेय शहाजी राजानाच दिलें पाहिजे। शहाजी राजांच्या कर्तृत्वा मुळें पुढील दोन परिणाम घडून आलेले स्पष्ट दिसतात। ते असे—(१) मराठे सेनापतीनीं तयार केलेलें मराठी सैन्य हिंदुस्थानांतील नामांकित मुसलमानी सैन्यांचा पराजय करूं शकतें ही गोष्ट शहाजी राजानीं प्रथमच सिद्ध केली त्यामुळें मराठ्यांचा आत्मविश्वास वाढला आणि त्या मानानें मोंगलांच्या लौकिकाचा भ्रम कमी झाला। या आत्मविश्वासाच्या बळावरच महाराजांना आपल्या कारकीर्दीच्या प्रारंभींच मराठी राष्ट्राचें स्वातंत्र्य जाहीर करण्याचें धारिष्ट उत्पन्न झालें। महाराजानीं वयाच्या चौदाव्या वर्षी म्हणजे स० १६४४,४५ सालीं आपल्या नांवाचा शिक्का करविला त्यांत पुढील मजकूर आहे—

प्रतिपच्चंद्र लेखेव वर्धिष्णु विश्ववंदिता।
शाहसुनोः शिवस्यैषा मुद्रा भद्राय राजते॥

या मुद्रेपैकीं 'प्रतिपच्चंद्रलेखेव वर्धिष्णुः' आणि 'विश्ववंदिता' हे दोन शब्द अतिशय अर्थपूर्ण आहेत। पहिल्या शब्दाने महाराजांचा आत्मविश्वास व्यक्त होतो आणि दुसऱ्यानें त्यांच्या महत्वकांक्षेची मर्यादा समजते। (२) शहाजी राजानीं पंधरा वीस वर्षें मोंगलाशीं राजकीय प्रतिस्पर्धी या नात्यानें सामने दिले त्यामुळें महाराजांना मोंगलांच्या गुणदोषांची पारख उत्तम प्रकारें करता आली। मोंगल लोकांची कृष्ण कारस्थानाबद्दल मोठी ख्याति होती। छद्मवेषघेणें, खोटीं पत्रें तयार करणें, भूलथापा देऊन शत्रूची दिशाभूल करणें, विश्वास दखवून शत्रूचा नाश करणें खोटया आणाशपथा घेणें वगैरे अनेक दुर्गुण मोंगली राजनीतींत प्रामुख्यानें वावरत होते। मोंगलांच्या या दुर्लौकिकामुळेंच कोणत्याही दगलबाजीच्या कृत्याला 'मोंगली कावा' असें मराठी बखरींतून नांव दिलेलें आढळतें। महाराजानीं 'शठंप्रति शाठयं' या न्यायानें मोंगलाशीं वागतना असे धूर्तपणाचे डावपेंच लढविले कीं, त्यामुळें मोंगलांची ही दगलबाजीची अक्कल शेवटीं गुंग होऊन गेली। मराठयांच्या या धूर्तपणाला मोंगलानीं 'गनिमीकावा' असें नांव दिले आणि तो शब्द अजूनही मराठी भाषेंत त्याच अर्थानें रूढ आहे। गनिमीकाव्याचें उत्कृष्ठ उदाहरण म्हणजे चौथसरदेशमुखीची कल्पना हें होय।

महाराजानीं प्रारभींच आपलें स्वातंत्र्य जाहीर केलें तथापि काळवेळ ओळखून आणि स्वपरबलाबल जाणून ते या स्वातंत्र्याच्या कल्पनेंत फरक करावयास तयार असत। स० १६६० पर्यंत महाराजांचीं विजापूरकराशीं युद्धें झालीं त्यांतून आदिलशहांचें अवसान ओलखून महाराजानीं शत्रूशीं बरोबरीच्या नात्यानें सामने दिले आणि शत्रूचा पुरा मोड केला। पुढें मोंगलाशीं गांठ पडली तेव्हां मोंगली साम्राज्याचें सामर्थ्य ओळखून महाराजानीं स्वातंत्र्याची भव्य कल्पना उराशीं बाळगून शत्रूशीं कायमचें वैर बांधण्याची इर्षा धरली नाहीं। त्यानीं प्रथम 'चौथसरदेशमुखी' या नांवाखालीं आपली एक नोकरीची कल्पना मोंगला पादशह। पुढें मांडली। या कल्पनेचा उल्लेख मराठी इतिहासांत प्रथम स० १६६५ सालीं झालेला आढळतो, तो प्रसंग असा—

त्या सालीं जयनगरचा मिर्झा राजा जयसिंग आणि दिलीरखान हे दोन मोंगल सरदार महाराजांवर चालून आले। प्रथम महाराजांना वठणीवर आणून त्यांचा कायमचा बन्दोबस्त करावा आणि नन्तर विजापूरच्या आदिलशहाना तंबी देऊन त्यांज कडून सालाबाद प्रमाणे खंडणी वसूल करावी अशी दोन मुख्य कामें या मोंगल सेनापतींना सांगण्यांत आलीं होतीं। एप्रिल महिन्यांत (स० १६६५) मोंगली फौजेनें पुणें प्रांतीं येऊन सिंहगड व पुरन्दर या किल्ल्याना वेढा दिला। महाराज त्यावेळीं मोठें आरमार बरोबर घेऊन मलबारप्रांती गेले होते। तिकडे त्यानीं गोव्यापासून बार्सिलोर, कुमठें, होनावर, गोकर्ण पर्यंत मुलूख लुटून मोठी लूट मिळविली। या आरमारी स्वारीला मराठी

इतिहासांत 'बसनूरची स्वारी' असें नांव दिलेलें आढळतें। महाराज या स्वारीहून रायगडावर परत येतात तोंच त्यांना मोंगलांची बातमी समजली। महाराजांच्या गैरहजेरींत नेताजी पालकर आणि काडतोजी गुजर या मराठे सेनापतींनीं मोंगलाशीं टक्कर दिली। परन्तु तींत त्याना यश आलें नाहीं। मोंगलांचा दिवसें दिवसें विजय होत चालला आणि त्यांच्या अघाडीच्या टोळ्यानीं खुद्द रायगडापर्यंत मजल गांठली तेव्हां पुढील मसलतीची चर्चा करण्याकरितां प्रमुख मराठे सरदार व मुत्सद्दी महाराजां जवळ रायगडावर जमा झाले। या लोकांच्या सभेंत काय चर्चा झाली याची हकीगत कोठेंही दिलेली नाहीं। परिणामावरून या चर्चेचें अनुमान बांधावयाचें तर मराठी राष्ट्रपुरुषांची ही सभा चिरस्मरणीय समजली पाहिजे। या सभेंत पुढील दोन गोष्टी निश्चित करण्यांत आल्या। त्या अशा—(१) मोंगलांची फौज आली आहे तिच्याशीं लढून व्यर्थ नुकसान करून घेण्यापेक्षां पुढील फायद्यावर नजर देऊन तूर्त शत्रूशीं सलोखा करावा। तहाच्या निमित्तानें आपली नोकरीची कल्पना मोंगल दरबारांत कितपत रुजते याचा एकदां ठाव घ्यावा। एकदां नोकरीच्या निमित्तानें मोंगली राज्यांत चंचुप्रवेश झाला म्हणजे पुढें मुसलप्रवेश करून शत्रूचें राज्य आपल्या काबूंत आणतां येईल। (२) मोंगली राज्याशीं आपलें पुढील धोरण निश्चित ठरेपर्यंत तहाच्या निमित्तानें लढाई बंद ठेवावी आणि मोंगली फौजेचें लचांड आपणावर आलें आहे तें तूर्त विजापूरच्या आदिल शहावर परभारें सोडून द्यावें। मोंगलाना मिळून आदिलशाही मुलूख लुटण्यांत आपला तूर्त फायदाच आहे। याप्रमाणें राज्यांतील प्रमुख मुत्सद्दी व सरदार यांच्या विचारें भावी धोरण निश्चित केल्यावर महाराज पुढील उद्योगास लागले। राजा जयसिंग आणि दिलीरखान पैकी दुसरा केवळ आडमुठा पठाण सरदार होता। राजा जयसिंह हा मात्र दिल्ली दरबारांतील नामांकित मुत्सद्दी व सरदार होता। दोन्हीं सरदारांचें पातशहांशीं विशेषसें रहस्य नव्हतें। विशेषतः जयसिंगाबद्दल तर औरंगजेबाला विशेषच अविश्वास वाटत होता। जयसिंग व पातशहा यांमध्यें हें जें थोडेसें वैमनस्य होतें त्याचा महाराजानीं ताबडतोब फायदा घेतला। रघुनाथपंत न्यायमंत्री यांच्या मार्फत त्यानीं जयसिंगाशीं सख्यजोडलें आणि नंतर त्याच्या मार्फत मोंगलाशीं तह घडवून आणला। या तहात मुख्य कलमें अशीं होतीं—

१ निजामशाही राज्यापैकीं महाराजानीं मोंगलाकडून अलीकडे मुलूख जिंकला होता त्यापैकीं सिंहगड, पुरंदर वगैरे वीस किल्ले आणि त्या किल्ल्याखालचा तीन लक्ष होनांचा मुलूख महाराजानीं मोंगलास परत द्यावा बाकीचे बारा किल्ले आणि त्या किल्ल्याखालचा एक लक्षहोनांचा मुलूख महाराजानीं स्वतःकडे ठेवून घ्यावा। हा एक लक्ष होनांचा मुलूख आणि महाराजांच्या ताब्यांत असलेला इतर मुलूखही सर्व पातशहा कडून महाराजां कडे चाललेली जहागीर समजावी।

२ संभाजी राजांच्या नावें पातशाही फौजेंत पांच हजार फौजेची मनसबदारी मिळावी। महाराजानीं ही फौज घेऊन मोंगलाना विजापूरचा मुलूखघेण्यांत मदत करावी।

३ मोंगली मुलखावर महाराजाना पाँच लक्ष होनांची चौथ सरदेशमुखी मिळावी। चौथ सरदेश मुखीचा वसूल महाराजानीं स्वतंत्रपणें परभारें घ्यावा सरदेश मुखीच्या हक्काबद्दल मराठयानीं मोंगली रयतेचें चोरदखडे खोरापासून संरक्षण करावें। मराठयानीं स्वतः ही मोंगली रयतेस उपद्रव देऊं नये। चौथाईच्या हक्काबद्दल मराठयानीं फौज ठेवून पातशहा ची चाकरी करावी।

४ चौथ सरदेश मुखीच्या हक्का बद्दल पातशहास दर साल तीन लक्ष होन या हॅत्या प्रमाणें चाळीस लक्ष होनांचा नजराणा द्यावा। तह होतांच मराठे व मोंगल यानीं एकत्र होऊन विजापूर राज्यावर स्वारी करावी।

या तहाच्या अटीं उभयपक्षीं पाळल्या जातील याबद्दलची जामीनदारी जयसिगानें पतकरली होती। या तहामुळें एक गोष्ट तावडतोब घडून आली। ती गोष्ट म्हणजे तह होतांच मराठीआणि मोंगली फौजा एकत्र होऊन विजापूर राज्यावर चालून गेल्या आणि लढाईचा सर्व हंगामा परभारें आदिलशाही मुलखांत पडला ही होय। तह झाल्यावर महाराजानी आपली राजनिष्ठा आणि नम्रता व्यक्त होईल अशा दरबारी भाषेंत पातशहाकडे एक लांबलचक पत्र पाठविलें। सारांश, या तहप्रकरणी आपल्या नोकरी पेशास अनुरूप अशी नम्रता महाराजानीं या प्रसगीं धारण केली होती।

महाराजांचे राजकीय डाव नेहमीं खोल आणि दूरदर्शी असत। या तहांत महाराजानीं तीन लक्ष होनांचा मुलूख देऊन मोंगलाची तावेदारी पतकरली ही गोष्टच प्रथमदर्शनीं ठळकपणें नजरेंत भरते परन्तु तहांतील सर्व कलमांची फोड करून त्यांतील कार्यकारण भाव आणि परस्पर सम्बन्ध लक्षांत घेतले तर हा तह म्हणजे मोंगलाना फसविण्याकरितां महाराजानीं योजलेली एक 'गनिमी काव्याची' झुकांडी होती एवढाच तात्पर्यार्थ शिलक राहतो। आमचें म्हणणें स्पष्ट करण्याकरितां महाराजानीं या तहांत मागितलेल्या चौथ सरदेशमुखीचें स्वरूप आणि तहाच्या सर्व कलमांतून व्यक्त होणारे राजकारणाचे डावपेंच यांचा उलगडा आम्ही येथे करतों।

सरदेशमुखी—मोंगली मुलखावर दर शेकडा जादा दहा टक्के प्रमाणें मराठयानीं वसूल करावे। म्हणजे एखाद्या प्रांताचें उत्पन्न शंभर रु० धरले तर सरदेशमुखीमुळें तें उत्पन्न एकशे दहा रु० समजावें। शंभर मोंगलाचे आणि वरचे दहा मराठयांचे। या हक्काच्या मोबदल्यांत मराठयानीं मोंगली रयतेचें संरक्षण करावें अशी तहामध्यें अट होती। आपल्या प्रजेचें संरक्षण करण्याचा हक्क मराठयांस देणें म्हणजे त्या प्रांतापुरते मराठयांचें वर्चस्व पातशहानें मान्य करणें असाच या गोष्टीचा राजकीय अर्थ होत होता।

२ चौथ अथवा चौथाईः—सरदेशमुखी वजा जातां प्रांताचा वसूल शिल्लक राहील त्यापैकीं पंचवीस टक्के वसूल मराठयानींध्यावा। तहा मध्यें पांच लक्ष होनांचा चैाथाईचा हक्क महाराजानीं मागितला होता। याचा सरळ अर्थ असा कां, वीस लक्ष होन वसूल येणाऱ्या मोंगली मुलखां पैकीं पंधरा लक्ष होन मोंगलानींघ्यावे आणि पांच लक्ष होन मराठयानींघ्यावे। चैाथाईच्या हक्काबद्दल महाराजानीं फौज बाळगून पातशहाची चाकरी करावी। चौथाईचा वसूल मराठयानीं मोंगल अमलदारांस न विचारतां परभारें स्वतंत्र हक्कानें रयतेपासून घ्यावा अशी महाराजानीं तहा मध्यें अट घातली होती ती या बाबतींत विचारांत घेतली पाहिजे। मराठयांचा असला चौथाईचा हक्क मान्य करणें म्हणजे त्या प्रांतापुरता मराठयांचा एक चतुर्थांश मालकी हक्क पातशहानें मान्य करणें असाच या गोष्टीचा राजकीय अर्थ होत होता।

३ तहामध्यें महाराजानीं मोंगलास तीन लक्ष होंनांचा मुलूख दिला तोही एक लपंडावीचा प्रकार होता। या मुलखाच्या मोबदल्यांत पांच लक्ष होनांचा चौथाईचा हक्क म्हणजे पर्यायानें वीस लक्ष होन उत्पन्न येणाऱ्या मोंगली मुलखांत संचार करण्याची मुभा महाराजानीं या तहांत पातशहाजवळ मागितली होती ही गोष्ट या बाबतींत विचारांत घेतली पाहिजे। सरांश, आवळा देऊन कोहळा काढण्या पैकींच हा सर्व प्रकार होता।

४ तहामध्यें दरसाल तीन लक्षहोन नजराणा भरण्याची अट होती तोही असाच लपंडावीचा प्रकार होता। तीन लक्षहोन म्हणजे त्यावेळच्या धारणी प्रमाणें सुमारें दहा अकरा लक्ष रुपये होतात। संभाजी राजाना पातशहानें पांच हजार फौजेची मनसब द्यावी असें एक या तहांत कलम होतें तें या ठिकाणीं विचारांत घेतलें पाहिजे। मनसबदार हे नेहमीं इतलाखी असत। म्हणजे फौजेच्या खर्चाबद्दल त्याना सरकारी खजिन्यांतून नक्त रुपये मिळत असत। संभाजी

राजांच्या पांच हजार फौजेच्या वार्षिक खर्चाची बेरीज तत्कालीन हिशेबाप्रमाणें सुमारें दहा बारा लक्ष रुपये होत होती। महाराजानीं पातशहाकडे भरावयाचा नजराणा आणि संभा जी राजाना फोजेच्या खर्चाबद्दल पातशहा कडून मिलावयाची रक्कम यांची वजावाट केली तर मराठे व मोंगल यानीं एकमेकांस कांहीं देऊं घेऊं नये असा सरळ हिशेब होत होता।

सारांश, प्रजेचें संरक्षण आणि पातशहाची नोकरी या गोड दरबारी नांवाखालीं आपल्या वर्चस्वाचें आणि मालकीहक्काचें उंटाचें पिल्लू शत्रूच्या मुलखांत हळूच सोडून द्यावें एवढाच हा तह ठरविण्यांत महाराजांचा हेतु होता असें स्पष्ट दिसतें। एखादा राजा अडचणींत सांपडून सर्वस्वीं नाडला गेल्याशिवाय तो असली शिरजोरपणाची नोकरी कधींहीं कबूल करणार नाही। मोंगली राज्य त्यावेळीं अत्यंत बलिष्ठ होतें। त्यांतून ओरंगजेब हा महाधूर्त आणि पाताळयंत्री पातशहा होता। तो महाराजांची असली ही नोकरी कसची मान्य करतो ? जयसिंगानें मराठ्यांशीं ठरविलेला तह पातशहानें थोडासा फरक करून मंजूर केला। दरबारी रिवाजाप्रमाणें ओरंगजेबानें महाराजां कडे मानाचा पोषाक, तरवार वगैरे सरंजामही पाठविला। पातशहाकडून महाराजांच्या पत्राचें उत्तर आलें त्यांत महाराजाना उत्तेजन वाटेल असा बराच मजकूर होता। चौथ सरदेशमुखीच्या हक्काचा मात्र पातशहा नें आपल्या उत्तरांत उल्लेखसुद्धां केला नव्हता। मग तो हक्क मान्य करण्याचें दूरच राहिलें।

या तह संबंधीं आम्ही आतां पर्यंत थोडीशी जास्त विस्तारपूर्वक हकीगत दिली आहे त्याचें कारण नमूद केलें पाहिजे। शिवचरित्रा पैकीं ज्या गोष्टींचा अजून नीटसा उलगडा झाला नहीं त्यापैकींच हें तहप्रकरण आहे। याप्रसंगीं मोंगलांची चहूंकडून जबरदस्ती झाली आणि मराठे सेनापतींचें चहूंबाजूनीं उपाय थकले—सर्व राज्य गमावण्याचा प्रसङ्ग प्राप्त झाला तेव्हां महाराजानीं भवानींदेवीला कौल लाविला–नन्तर शत्रूशीं यासमयीं कसा तरी समेट करून बचाव करून घे असा देवीनें दृष्टांत दिला त्यामुळें महाराजानीं मोंगलाशीं हा तह केला अशी वस्तुस्थितीचा विपर्यास करणारी एक भाकडकथा मराठी बखरींतून दिलेली आहे। मि० ग्रांट डफ, न्यायमूर्ति किंकेड, राव, सरदेसाई वगैरे अलीकडील मराठी इतिहास लेखकानीं ही भाकडकथा खरी मानून किंवा आपल्या कल्पनेनें एखादा असंबद्ध कार्यकारणभाव कल्पून या प्रसंगाची हकीगत आपापल्या ग्रन्थांतून लिहून ठेविली आहे। शिवचरित्राचें रहस्य समजून घेण्याचा किंवा वस्तुस्थितीचा ओघ लक्षांत घेण्याचा आतांपर्यन्त कोणाही लेखकानें प्रयत्न केला नाहीं त्यामुळें शिवचरित्रापैकीं या महत्वाच्या प्रसंगाच्या बाबतींत हकीगत आणि मांडणी या दृष्टीनें मोठा विपर्यास घडून आलेला आहे। न्यायमूर्ति रानडे यानीं मात्र हा तह करण्यांत महाराजांचा कांहीं तरी कारस्थानीपणाचा डाव असला पाहिजे असा शेरा या प्रसंगासम्बन्धे लिहून ठेवला आहे। परन्तु तो डाव कोणता हें त्यानाही उलगडून सांगता आलें नाहीं। असो जयसिंगाची स्वारी आणि तहानन्तर घडलेल्या गोष्टी यांची माहिती आतां पर्यन्त प्रसिद्ध झाली आहे तीवरून आमच्या मतें पुढील दोन गोष्टी स्पष्ट दिसतात (१) पहिली गोष्ट अशी कीं, महाराजांचा सर्वस्वीं निरुपाय झाला आणि कशी तरी वेळ मारुन नण्याकरितां त्यानीं पड खावून शत्रूशीं हा तह केला असा सर्व लेखकानीं निष्कर्ष काढला आहे तो चुकीचा आहे। जयसिंग एप्रिल महिन्यांत (१६६५) पुणें प्रांतीं दाखल झाला। पुढें दोन महिन्यानीं महाराजानीं हा तह घडवून आणला। त्या मुदतींत चार दोन किरकोळ लढायांतून मोंगलांची सरशी झाली होती। मोठी लढाई होऊन मराठे व मोंगल यांच्या बलाबलाचा निर्णय लागण्याचा प्रसङ्ग महाराजांनीं या स्वारींत आणलाच नाहीं। या तह प्रकरणाचें मर्म बखरकारांना नींट समजलें नाहीं त्यामुळें महाराजानीं मुलूख देऊन मोंगलांचीं नोकरी पतकरली ही गोष्ट साजरी दिसण्याकरितां त्यांनी याप्रसङ्गी महाराजाना पडलेलें

संकट आणि भवानीदेवीचा दृष्टांत वगैरे काल्पनिक मजकुरानें हा प्रसंग सजविला आहे। महाराजाना स्वतः मोंगलांच्या सामर्थ्याची पर्वा कधींच वाटली नाहीं आणि त्यांच्या पिंडाला भय हा विकार माहीतच नव्हता। शिवाय औरङ्गजेबासारख्या कट्टया दुष्मानाशीं सख्य केलें असतां संकटकालीं आपला बचाव होईल असें मानण्याइतका अप्रबुद्धपणा महाराजांच्या ठायीं खास नव्हता। या तहापूर्वीं दोन वर्षें त्यान्हीं शाहिस्तेखान आणि राजा जसवंतसिंग या मोंगल सेनापतींची अगदीं दाणादाण उडवून दिली होती। तहाच्या आदल्या वर्षींच त्यांनी सुरत शहर लुटलें होतें आणि मक्केचे मुसलमान यात्रेकरू झावडले होते। या तहाचा बेरंग झालेला दिसतांच पुढेंही महाराजानीं मोंगली फौजांची वेळोवेळ अशीच दुर्दशा केलेली दृष्टीस पडते। महाराज व औरङ्गजेब हे दोघेही एकमेकांचें वर्मकर्म पूर्णपणें जाणून होते आणि दोघेही महाधूर्त पाताळयंत्री मुत्सद्दी होते। या सर्व गोष्टी जमेस धरल्या म्हणजे महारानीं एक मोठा राजकारणाचा डाव पोटांत ठेवूनच तहाचें बोलणें सुरू केलें—जयसिंगानें बलाबलाचा विचार पाहूनच हा तह पतकरला आणि औरङ्गजेबानें कोण त्या तरी निमित्तानें एकदां महाराजाना हाताखालीं घालून ठेवावें एवढयाच हेतूनें हा तह तूर्तातूर्त मंजूर केला—या गोष्टी स्पष्ट होतात। (२) मोंगलासारख्या बलाढय सरकाराशीं मराठी राज्याचें भावी धोरण काय रहावें आणि त्या धोरणाची अंमलबजावणी करतां करतां शत्रूचें राज्य आस्ते आस्ते आपल्या काबूत कसें आणावें या गोष्टीची रूपरेषा महाराजानीं प्रमुख मुत्सद्दी व सरदार यांच्या विचारानें या प्रसंगीं निश्चित ठरविली होती असें स्पष्ट दिसतें। पूर्वानुसंधान असल्या शिवाय राजकारणांत कोणतीही गोष्ट एकाएकीं घडून येत नाहीं। पेशवाई अखेरपर्यंत सर्व मराठयानीं मोंगल पातशहाशीं जें एक ठराविक विशिष्ट धोरण ठेविलें होतें आणि चौथसरदेशमुखीच्या हक्काबद्दल मराठयानीं शेवट पर्यंत जो एवढा अट्टाहास घेतला होता त्याचें मूळ महाराजांच्या या धोरणांतच हुडकलें पहिजे। हें धोरण आणि त्याची मांडणी यांचा पहिला प्रयोग या दृष्टीनेंच महाराजानीं मोंगलाशीं हा तह घडवून आणला होता। महाराजांचें या प्रसंगींचें वर्तन या दृष्टीनें त्यांच्या सर्व चरित्राशीं कसें सुसंगत ठरतें हें दर्शविण्याकरितांच आम्ही थोडासा विषयांतराचा दोषपतकरून या तहप्रकरणाची हकीगत इतकी विस्तार पूर्वक दिली आहे।

तहांतील कलमें आणि त्यांतून व्यक्त होणारें राजकीय धोरण यांचा विचार करतां महाराजानीं संभाजी राजांच्या नांवावर पांच हजार फौज घेऊन मोंगलाना विजापूर चा मुलूख घेण्यांत मदत करावी आणि तिच्या मोबदल्यांत त्यांना चौथसरदेशमुखीच्या नांवाखालीं मोंगली राज्यांत एक चतुर्थांश मालकी हक्क मिळावा एवढाच तात्पर्यार्थ शिल्लक राहतो। नोकरी आणि मालकीहक्क यांची अशी ही सांगड घालण्यांतच महाराजांचें अलौकिक बुद्धिकौशल प्रगट होतें। मोंगलांच्य नाशाकरितां महाराजानीं हा एक राजकारणाचा सापळा तयार केला होता। सामान्य लोकाना महाराजांच्या नोकरीचें दूधमात्र दिसावें आणि दुधापाठी मागें उभा असलेला त्यांचा मालकीहक्काचा बड़गा मात्र सहसा कोणाच्याच लक्षांत येऊं नये अशी या कल्पनेंत मोठीसोय होती। मोंगली राज्य त्यावेळीं अत्यंत बलसंपन्न होतें आणि पूर्वेस बंगाला-पश्चिमेस कंदाहार, हिरात आणि उत्तरेस हिमालय दक्षिणेस नर्मदा नदी एवढया मोठया विस्तीर्ण भूप्रदेशावर तें राज्य पसरलें होतें। अशा बलाढय राष्ट्राशीं कायमचें वैर न बांधतां नोकरी करण्याच्या मिषानें त्या राज्यांत प्रथम आपल्पा लहानसा मालकीहक्काचा चंचु प्रवेश करावा-मोंगल सुखासमाधानानें नऐकतील तर जबरदस्ती करून आपल्या मालकी हक्काच्या नोकरीचें खोगीर त्यांजवर लादावेंपुढें पादशाही सत्ता जसजशी दुर्बल होत जाईल किंवा मराठी सत्ता जसजशी प्रबल होत जाईल त्या मानानें आपला

मालकीहक्कजास्त जास्त विस्तृत करून मोंगली राज्य पादाक्रांत करावें-पादशाही नष्ट होई पर्यंत आपल्या नोकरीचा नम्र मुजरा पादशहाच्या डोळ्यासमोर सतत धरावा असें महाराजानीं या प्रसंगी धोरण निश्चित केलें होतें। महाराजांचे हें धोरण त्यांच्या पश्चात् सर्व मराठयानीं पेशवाई अखेर पर्यंत चालविलें आणि त्याधोरणाच्या बळावरच पुढें मराठयानीं सर्व मोगलीं राज्य पादाक्रांत केलें। महाराजांच्या हयातींत मात्र या धोरणाला व्यवस्थित आणि निश्चित स्वरूप प्राप्त झालें नाहीं। या राजकारणाच्या बोलण्यासाठीं महाराज पुढें जयसिंहाच्या मध्यस्थीनें पातशहाच्या भेटी साठीं आग्न्यास गेले होते। तेथें औरंगजेबाच्या अवकृपेंत सांपडून ते कसे नजरबंदींत पडले आणि मिठाईच्या पेटाऱ्यां तून त्यानीं कैदें तून कशी सुटका करून घेतली हा सर्व मजकूर इतिहास प्रसिद्धच आहे। कैदेंतून मुक्त होतांच महाराजानीं मोंगलांस दिलेला मुलूख परत काबीज केला आणि मोंगली मुलखावर स्वाऱ्या करकरून चौथ सरदेशमुखीचा वसूल जबरदस्तीनें घेण्यास सुरवात केली।पुढें गोव्याचे फिरंगी आणि विजापूरचा आदिलशहा यांच्या मुलखांतूनही महाराज या हक्काचा वसूल सक्तीनें घेऊं लागले।

स० १६८० सालीं महाराज कैलासवासी झाले। नंतर सर्वदक्षिण काबीज करण्याकरितां औरंगजेब स्वतः एक लक्ष फौज घेऊन दक्षिणेंत आला। मोगलानीं पहिल्याच सपाटयांत विजापूरची आदिलशही आणि गोवळकोंडयाची कुतुबशाही हीं दोनीं मुसलमान राज्यें समूळ बुडविलीं। नंतर ते मराठी राज्याच्या राशीला लागले। मराठे व मोंगल यांमधील हा घनघोर संग्राम सतत सत्तावीस वर्षें चालू होता। त्या युद्धांत शेवटीं मोंगलांचा पुरा मोड झाला आणि अपेशानें भग्नहृदय होत्साता औरंगजेब स० १७०७ सालीं औरंगाबादेस मृत्यु पावला। तो पातशाहा मराठयांचा कट्टा द्वेष्टा होता। त्यानें मराठयांच्या चौथ सरदेशमुखीस उर्फ मालकी हक्काच्या नोकरीस कधींही मान्यता दिली नाहीं इतकेंच नव्हे, तर तो मराठी राष्ट्राचें स्वतंत्र राजकीय अस्तित्व सुद्धां कबूल करावयास तयार नव्हता। औरंजेबाच्या पश्चात् दिल्ली दरबारांत बेबंदशाही माजली आणि मराठ्यानीं हातपाय पसरण्यास सुरवात केली। गुजराथेंत खंडेराव दाभाडे, वऱ्हाडांत परसोजी भोसले, खानदेशांत नेमाजी शिंदे, विजापूर प्रातीं उदाजी चव्हाण, कर्नाटकांत सिदोजी घोरपडे असे अनेक मराठे सरदार जागजागीं प्रबळ होऊन बसले। औरंगजेब मरून पुरतीं दहा वर्षें झालीं नाहींत तोंच मराठयानीं नर्मदे अलीं कडील मोंगली मुलखावर आपला चौथ सरदेशमुखीचा अंमल बसविला।

मराठयांची अशी जबरदस्ती पाहून जागोजागचे मोंगल अंमलदार त्यांच्या या हक्कास मान्यता देत परंतु पातशाही सनदेशिवाय मराठ्यांच्या या आक्रमणास राजमान्यता येण्यासारखी नव्हती। मराठ्यांस ही राजमान्यता उर्फ पातशाही सनद मिळण्याचा संभव स० १७१८ पासून स्पष्ट दिसूं लागला। त्यावेळीं फरुकशेयर पातशहा दिल्लीच्या सिंहासनावर होता आणि सय्यदबंधु या नांवानें ओळखले जाणारे दोन उमराव त्याचे प्रधान होते। पातशहा आणि दरबारांतील इतर उमराव यांचें सय्यद बंधूशीं वितुष्ट होतें आणि पातशहा तर त्यांचा नाश करण्या करिता संधीच पहात होता। सय्यद बंधूनीं मराठयाशीं राजकारण केलें त्यावरून बाळा जी विश्वनाथ पेशवे हे शाहूछत्रपतींच्या आज्ञेवरून मोठी मराठी फौज बरोबर घेऊन दिल्लीस गेले आणि त्यानीं दिल्ली-दरबारांत सय्यदबंधूंचें वर्चस्व पुनः प्रस्थापित केलें। सय्यदानीं मराठयांच्या साहाय्यानें फरुकशेयर यास पदच्युत करून त्याच्या जागीं महंमदशहास गादीवर बसविलें मराठयांच्या या कामगिरी बद्दल सय्यदानीं स० १७१९ च्या मार्च महिन्यांत महंमदशहाकडूनमराठयांस स्वराज्य चौथ आणि सरदेशमुखी अशा तीन हक्कांच्या सनदा देवविल्या। स० १७१९ हे साल मराठीइतिहासांत सुवर्णाक्षरानीं लिहून ठेवण्याइतकें महत्वाचें आहे। स० १६६५ सालीं शिवाजी महाराजानीं जो राजकारणाचा डाव टाकला होता त्याचा पहिला हप्ता पुढें पन्नास वर्षांनीं पेशव्यांनीं या सनदा मिळवून मोंगलाकडून उगवन

घेतला । जिवंत राष्ट्रांत राजकीय धोरणाचा जिवंतपणा आणि एक सूत्री पणा दिसून येतो त्याचें हें प्रत्यंतर होय। डाव टाकण्यांत ज्याप्रमाणें पहिल्या छत्रपतींचे म्हणजे शिवाजी महाराजांचें अलौकिक बुद्धिवैभव प्रत्ययास येतें त्याप्रमाणेंच त्या डावाचा पहिला हप्ता उगवून घेण्यांतही पहिल्या पेशव्यांचें म्हणजे बाळाजी विश्वनाथ पेशव्यांचें तसेंच अलौकिक बुद्धिकौशल दिसून येतें। महाराज हे ज्याप्रमाणें मराठी राजकारणाचे जनक होत त्याप्रमाणेंच पेशवे हे मराठी राजकाणाचे संरक्षक होत। महाराजानीं गुरुस्थानीं बसून मराठयांना थोडेसे राजकारणाचे मंत्र शिकविले आणि शिष्यानीं पुढें त्या मंत्रांचा मनन पूर्वक अभ्यास आणि तर्कशुद्ध आचार करून राजकारणांतील महत्पद प्राप्त करून घेतलें असें मराठी इतिहासावरून दिसून येतें। असो, स० १७१९ सालीं पातशाही सनदांमुळें मराठयांस काय मिळालें आणि मिळालेल्या हक्कांचा पुढें मराठयानीं स्वराज्यसंवर्धनाकडे कसा उपयोग करुन घेतला हें आतां ओघानेंचा सांगीतलें पाहिजे।

स्वराज्याची सनद—औरंगजेब पातशहा मराठी राज्याचें स्वतंत्र राजकीय अस्तित्वसुद्धां मानावयास तयार नव्हता हें पूर्वीं सागितलेंच आहे। मोंगली दप्तरांत मराठी राज्याची औरंगाबाद सुभ्यांत आतांपर्यंत गणना केली जात असे। या स्वराज्याच्या सनदेनें मराठी राज्यांचें राजकीय स्वातंत्र्य पातशहानें मान्य केलें एवढाच या सनदेचा राजकीय अर्थ आहे। या सनदेच्या व्यवहारांत प्रत्यक्ष मुलूख देण्याघेण्याचा कांहींच संबंध येत नव्हता। या सनदेंत उल्लेखिलेला मूलूख पूर्वीपासून मराठयांच्याच ताब्यांत होता। इतकेंच नव्हे, तर सनदेंत ज्याचा उल्लेख केलेला नव्हता असा पुष्कळच मुलूख मराठयानीं आगाऊच बळकाविला होता। इतर उदयोन्मुख राष्ट्राप्रमाणें मराठे लोक ही नवीन मुलूख जिंकताना तो आपल्य। स्वराज्यापैकीं आहे किंवा परराज्यापैकीं याचा विधिनिषेध कधींही बाळगीत नसत स्वराज्याविषयीं मराठयांची कल्पना प्रारंभीं अगदींच संकुचित स्वरूपाची आणि अल्प प्रमाणावर होती। शहाजी राजे आणि शिवाजी महाराज यानीं संपादन केलेल्या मुलखासच मराठे लोक प्रारंभी स्वराज्य समजत असत। या शिवकालीन स्वराज्यापैकीं सर्व मुलखाचा पातशाही सनदेंत उल्लेख केलेला नव्हता। सामान्यतः जव्हारपासून गोव्यापर्यंत कोंकणपट्टी आणि घांटमाथ्यावरील पुण्यापासून हल्याळ सांबराणीपर्यंत मावळप्रांत आणि तुंगभद्रेच्या उत्तरतीरीं असलेले कोपळ, गदग वगैरे तालुके एवढयाच मुलखाचा पातशाही सनदेंत समावेश केलेला होता। तुंगभद्रेपलीकडे शिरें, बाळापूर, होसकोटें, बिदनूर, बंगलोर, कोलार वगैरे फार मोठा मुलूख शहाजी राजानीं मिळविला होता। तो मुलूख या वेळीं मोंगल किंवा मराठे या पैकीं कोणाच्याच प्रत्यक्ष ताब्यांद नव्हता पुढें हैदरअल्लीनें तो मुलूख जिंकून घेतला आणि मराठयांना हा शिवकालीन स्वराज्याचा भाग पुनः कधीं आपल्या ताब्यांत घेतां आला नाहीं। असो, स्वराज्या बरोबर चौथ सरदेशमुखीच्याही सनदा मिळाल्या त्यामुळें पेशव्यानीं स्वराज्याची कल्पना पुष्कळच व्यापक बनविली। शिवछत्रपतींचा मुलूख आणि त्यानीं मोंगलाकडे मागितलेला चौथ सरदेशमुखीचा हक्क यांस मराठे लोक या पुढें स्वराज्य म्हणू लागले। मराठयांच्या स्वराज्याच्या कल्पनेंत या हक्कांचा समावेश झाला होता ही गोष्ट मराठी इतिहास वाचताना नेहमीं दृष्टी पुढें ठेवावी लागते। कारण जुन्या ऐतिहासिक पत्र व्यवहारांतून स्वराज्य आणि मोंगलाई असे शब्द येतात त्याठिकाणीं स्वराज्याचा अर्थ चौथ सरदेशमुखीचा वसूल असाच नेहमीं घ्यावयाचा असतो। चौथ सरदेशमुखीच्या हक्काचा म्हणजे मोंगली राज्यावरील चौथाई मालकीहक्काचा आपल्या स्वराज्याच्या कल्पनेंत अंतर्भाव करण्यांतच पेशव्यांच्या जयिष्णु राजकारणाचें मर्म सांठविलेलें आहे। स्वराज्याच्या या व्यापक कल्पने प्रमाणें दक्षिणेंतील मोंगली मुलखावर स्वराज्य आणि मोंगलाई असे दोन अंमल पातशाही सनदानीं यावेळीं प्रस्थापित झाले। याचा अर्थ असा कीं, पसतीस टक्क्यापुरते मराठीं अंमलदार आणि पाऊणशे टक्क्यापुरते मोंगली अंमलदार असा दुहेरी अंमल मोंगली मुलखावर बसला।

या प्रमाणें मराठे हे एका दृष्टीनें पातशाही सत्तेंत भागीदार होऊन बसले। ही भागीदारी केवळ कल्पनेंतच न राहतां प्रत्यक्ष व्यवहारांत तिची अंमलबजावणीहोऊं लागली आणि प्रत्येक प्रांताच्या राजकीय व्यवहारांत स्वराज्य आणि मोंगलाई असा स्वतंत्र हिशेब कागदोपत्रीं होऊं लागला। एखादें बलिष्ठ सरकार उलथून पडण्याकरितां पाश्चात्य देशांतून हल्लीं Parallel Government स्थापन करण्याची युक्ति निघाली आहे तिचाच एक सुंदर आणि व्यवस्थित नमुना त्यावेळीं मराठयानीं आगाऊच निर्माण केला होता असें स्पष्ट दिसतें। एका म्यानांत दोन तरवारी ज्याप्रमाणें नांदू शकत नाहींत त्याप्रमाणेंच परस्परांच्या शत्रु स्थानीं असणारीं दोन सरकारें एका प्रांतांत एका वेळीं नांदू शकत नाहींत हा इतिहासाचा अनुभव आहे। राजसत्ता हा कधीं भागीदारीचा विषय होऊं शकत नाहीं। मराठयाना अशी भागीदारी देऊन पातशहानें आपल्याच हातानें मोंगली राज्यास पुरण्याकरितां एक खड्डाच तयार करून ठेवला होता। कारण पातशाही सनदेनें निर्माण झालेले हे दोन अंमल हेंच पुढें मोठें भांडणाचें मूळ होऊन बसलें आणि त्या भांडणांत मोंगली सत्तेचें हळू हळू उच्चाटण होत गेलें। स्वराज्याची सनद मिळवून आणि स्वराज्याची कल्पना व्यापक करुन पेशव्यानीं मोंगली मुलखावर आपल्या Parallel Government च्या कल्पनेचें खोगीर ठेवलें होतें हें वरील विवेचनावरून वाचकांच्या आतां लक्षांत येईल।

चौथ सरदेश मुखीची सनद—दक्षिणेंतील मोंगली राज्याचे औरंगाबाद, वऱ्हाड, बेदर, विजापूर, हैदराबाद आणि खानदेश असे सहा सुभे होते। या सहाही सुभ्यावर चौथ सरदेशमुखी वसूल करण्याचा हक्क मराठयांस या पात शाही सनदेमुळें प्राप्त झाला या हक्कांच्या स्वरूपाचें विवेचन या पूर्वीं करण्यांत आलेंच आहे। पातशहाकडून सनदा मिळवितांना पेशव्यानीं त्यांत एक कारस्थानीपणाची मेख मारून ठेविली होती ती मेख म्हणजे या हक्कांचा वसूल मराठयांनीं तनख्याच्या उत्पन्नावर करावा असा त्यानीं पातशाही सनदांतून उल्लेख करवून घेतला होता ही होय। तनखा हा शब्द जमाबंदी पैकीं आहे। एखाद्या प्रांताचें वसुली उत्पन्न आणि तनख्याचें उत्पन्न यांच्या अर्थांत महदंतर आहे। एखाद्या प्रांताचा आजमितीस जो प्रत्यक्ष वसूल येत असेल किंवा येण्यासारखा असेल तें त्या प्रांताचें वसूली उत्पन्न होय। एखाद्या प्रांताचा कधीकाळीं जास्तींत जास्त वसूल आलेला सरकारी दप्तरांत नमूद असेल तें त्या प्रांताचें तनख्याचें उत्पन्न होय। या दृष्टीनें एक लाख तनख्याच्या उत्पन्नाचा मुलूख आजमितीस कांहीं अस्मानी सुलतानी मुळें फक्त दहा हजार वसूली उत्पन्नाचा असूं शकेल किंवा कदाचित् तो ओसाड मैदानही असूं शकेल। त्या प्रांताचें वसुली उत्पन्न कितीही येवो सरकारी दप्तरांत मात्र त्या प्रांताचें तनख्याचें उत्पन्न एक लाख रुपयेच समजलें जातें। असे मोंगलांच्या दक्षिणेंतील सहा सुभ्यांचें तनख्याचें उत्पन्न अठरा कोट रुपये ठरविलेलें होतें। या अठरा कोटी पैकीं साडेचार कोट रुपये चौथाई आणि अठरा कोटीवर दहा टक्केप्रमाणें एक कोट ऐंशी लक्ष रुपये सरदेशमुखी एकूण सुमारें सव्वा सहा कोट रुपये मराठयांस या सनदामुळें मिळावयाचे होते। वस्तुतः मोंगलांचा हा तनखा म्हणजे एक पोकळ आणि अगडबंब आकडेमोड होती। मोंगलांच्या या सहा सुभ्यांत ज्याचा समावेश करण्यांत आला होता तो मुलूख आतांपर्यंत मोंगलांच्या निर्वेधपणें कधींही ताब्यांत आलेला नव्हता त्यामुळें काहीं तरी ऐकीव माहिती जमेस धरून मोंगलानीं हा तनखाठरविलेला होता। सर्व मुलूख मोंगलांच्या निर्वेधपणें ताब्यांत आला असता तरी सुद्धां या सहा सुभ्यांचें वसुली उत्पन्न अठरा कोट रुपये येण्यासारखें नव्हतें। त्यांतून स० १६८० पासून पुढें चाळीस वर्षेंपर्यंत दक्षिणेंत मोंगल आणि मराठे यांमध्यें प्रचंड झगडा चालू होता प्रत्येक प्रांतांत दंगे, लूट आणि लढाया यांचें साम्राज्य पसरलें होतें—आणि लष्करांच्या पायमल्लीमुळें बहुतेक सर्व प्रांत उध्वस्त झाला होता त्यामुळें अठरा कोट रुपये तनख्याच्या या मोंगली मुलखांतून धड दोन कोट रुपये सुद्धां वसूल येण्यासारखा नव्हाता। अशा स्थितींत मोंगलअंमलदारानीं या दोन कोटींतून मराठयांस सव्वा सहा कोट रुपये द्यावे कुठून

आणि मराठी अंमलदारानीं ते वसूल करावे कसे ? पातशाहानें वसुली उत्पन्नापैकीं मराठयांस चौथाई दिली असती तर हा घोटाळा झाला नसता। परंतु घोटाळा करण्याकरितांच पेशव्यानीं ही तनख्यावरील वसुलीहक्काची राजकारणाची मेख जाणून बुजून मारली होती। त्यामुळें मोंगली अंमलदारांच्या दृष्टीनें ही चौथ सरदेशमुखींची सनद म्हणजे एक अशक्य सनद होऊन बसली। मोंगलानीं आपखुषीनें कितीही दिलें किंवा मराठयानीं जबरदस्तीनें कितीही मिळविलें तरी शेवटीं मराठयांचीच बाकी मोंगल अंमलदारांकडे निघावी अशी पेशव्यानीं सनदा मिळवितांना आगाऊन सोय करून ठेविली होती।

मोंगली प्रांतांत मराठी अंमलाचें उंटाचें पिल्लूं शिरणें ही गोष्ट स्वभावतःच मोंगली सत्तेला नाशकारक होती। त्यांतून मराठी पन्नास या तनख्यावरील वसूली हक्काची जोड मिळाल्यामुळें मराठयाचें पारडें जास्तच जड झालें। पेशव्यानीं पुढें चौथसरदेशमुखीचीं आपापसांत वांटणी केली तींतहीं त्यांचें धूर्त आणि दूरदर्शी राजकीय धोरणच प्रत्ययास येतें चौथसरदेशमुखीमुळें पाऊणशे टक्के मोंगलाई आणि पसतीस टक्के स्वराज्य अशी दक्षिणेंतील मोंगली उत्पन्नाची वांटणी झाली हें पूर्वीं सांगितलेंच आहे। पाऊणशे टक्के मोंगलाईंत दोन वांटण्या होत्या। पन्नास टक्के जहागीर आणि पंचवीस टक्के फौजदारी। जहागीरच्या उत्पन्नाची मालकी मोंगल पातशाहा कडे होती। फौजदारींचें उत्पन्न स्थानिक खर्च आणि बंदोबस्त यांसठीं राखून ठेवलेलें असे। पेशव्यानीं स्वराज्याची वांटणी ठरविली ती अशी—सरदेशमुखी हें छत्रपतीचें वतन ठरविण्यांत आलें। चौथाई पैकीं पंचवीस टक्के राजबावती, सहा टक्के साहोत्रा आणि तीन टक्के नादगौडी असे आणखी तीन हक्क छत्रपतींना देण्यांत आले। बाकीच्या सासष्ट टक्क्यांचा हक्क मोकासा या नांवाखालीं निरनिराळया राजपथकी सरदारांना देण्यांत आला। उदाः—एखाद्या प्रांताचा तनखा चारशे रुपये धरला तर सरदेशमुखींमुळें तें उत्पन्न चारशे चाळीस समजण्यांत येत असे या चारशे चाळीस रु० ची पहिली वाटणी म्हणजे तीनशे रु० मोंगलाई आणि तनख्यापैकीं चौथाई शंभर रु० आणि तनख्यावरील सरदेशमुखीं चाळीस एकूण एकशे चाळीस रु० स्वराज्य ही होय। मोंगलाई व स्वराज्य यांच्या पुढील वांटण्यांचें कोष्टक असें मांडता येईल :—

	मोंगलाई		स्वराज्य
२००	जहागीर	४०	सरदेशमुखी
१००	फौजदारी	२५	राजबावती
३००		६	साहोत्रा
		३	नादगौदी
		६६	मोकासा
		१४०	

मोंगलांची वांटणी मोठी असूनही तींत त्यांचे फक्त दोनच हक्कदार असत। मराठयांची वांटणी छोटी असूनही तींत पेशव्यानीं पांच हक्कदार घातले होते। स्वराज्याच्यां सदराखालील पहिले चार हक्क छत्रपतींचे होते। गावंचे लहान लहान गट पाडून आणि या चारी हक्कांबद्दल निरनिराले अंमलदार नेमून छत्रपती या हक्कांचा वसूल घेत असत। मोकासा ज्यांना वांटून दिलेला होता अशा राजपथकी सरदारांची संख्या तर शेकडों-हजारोंनी मोजण्याइतकी मोठी होती। अशा या लहान वांटण्या पाडण्यांत पेशव्यांचा एक खोल राजकीय डाव होता। मोंगली मुलखांतून या हक्कांचा वसूल

सुधेपणानें येणार नाहीं हें जाणून मराठी पक्षाचे मनुष्यबळ शक्य तेवढें वाढविण्याकरितांच पेशव्यानीं हा सर्व खटाटोप केला होता। पेशव्यांच्या या व्यवस्थेमुळें कोणी छत्रपतींच्या एखाद्या हक्काचे अंमलदार किंवा वतनदार या नात्यानें तर कोणी मोकाशांत वांटणी असलेले सरदार या नात्यानें अशा निरनिराळ्या नात्यानीं महाराष्ट्रांतील बहुतेक सर्व कर्तृत्ववान माणसांचें हितसंबंध हक्कांच्या प्रकरणांत गुंतले गेले आणि राजकीयदृष्टया स्वार्थ आणि परमार्थ यांचा उत्कृष्ट मिलाफ होऊन मोंगलाशीं लढण्याचा प्रसंग पडला म्हणजे हजारों मराठे एका निशाणाखालीं आपोआपच जमूं लागले। पेशव्यानीं नुस्त्या राष्ट्राभिमानाच्या कल्पनेंवरच विशेषशी भिस्त न ठेवतां व्यवहारिक दृष्टीनें हजारों मराठयांचे हितसंबंध या हक्कांच्या वसुलींत गुंतविले त्यामुळें मराठी पक्षास यापुढें मनुष्यबलाची कधींही वाण पडली नाहीं।

शिवाजी महाराजानीं मोंगली राज्यांत दुहेरी अंमलाचा चंचुप्रवेश करण्याची कल्पना काढली त्यावेळीं ती अगदींच ओबड धोबड स्वरूपाची होती। मोंगल सरकार त्यावेळीं जबरदस्त होतें त्यामुळें या कल्पनेस विशेष सें व्यवस्थित मूर्त स्वरूप येण्याचा त्यावेळीं फारसा संभव नव्हता। पुढें मोंगली राज्याची उतरती कळा लक्षांत घेऊन पेशव्यानीं या कल्पनेस व्यवस्थित मूर्त स्वरुप दिलें आणि तनख्यावरील वसुली हक्काची जोड देऊन आणि सर्वांचे हित संबंध या कल्पनेंत गुंतविले जावेत या दृष्टीनें या हक्कांचे क्षेत्र जास्तींत जास्त व्यापक करुन हा चौथ सरदेश मुखीचा हक्क म्हणजे एक राजकीय शस्त्रच बनविलें। हक्कांची मांडणी करताना पेशव्यानीं अशी सोय तींत करुन ठेविली होती कीं जीमुळें मोंगलाचे हातपाय सर्व बाजूनीं आपोआपच बांधले जावेत आणि मराठयांचे हातपाय सर्व बाजूनीं आपोआपच पसरले जावेत। मूळ कल्पना जशी अपूर्व होती त्याप्रमाणेंच पुढें तिची मांडणीही अपूर्वच करण्यांत आली। या दृष्टीनें या कल्पनेचे मूळ जनक शिवाजी महाराज आणि संस्थापक बाळाजी विश्वनाथ पेशवे या दोघांच्याही बुद्धीची करामात सारखीच प्रत्ययास येते आणि क्षणभर असा संदेह उत्पन्न होतो कीं, या बाबतींत गुरूची करामत अधीक कां शिष्याची करामत अधीक। शिवाजी महाराजांसारखे राजकारणाचे गुरु जसे विरळा त्याप्रमाणेच बाळाजी विश्वनाथासारखे शिष्यही विरळाच होत आणि म्हणूनच चौथ सरदेश मुखीच्या बाबतींत पहिले छत्रपति आणि भट घराण्यापैकीं पहिले पेशवे ही गुरुशिष्यांची जोड़ी मराठी इतिहासांत अजरामर होऊन बसली आहे।

बाळाजी विश्वनाथ पेशव्यानीं या पातशाही सनदा मिळवून मराठी इतिहासास निराळें वळण लाविलें आणि त्यानीं पुढें या हक्कांची व्यवस्थित आणि व्यापक मांडणी केली त्यामुळें मराठयांच्या कर्तृत्वास भरपूर वाव सांपडला। आतांपर्यंत मराठी सत्ता सह्याद्रीच्या दुर्गम पठारांतून किंवा कर्नाटकांतील ओसाड आणि निर्जल प्रदेशांतूनच वावरत होती। राजसत्तेचें खरें सुख आणि वैभव मराठयानीं आतांपर्यंत अनुभविलें नव्हतें। इतकेंच नव्हे, तर पाहिलेंसुद्धां नव्हतें। पेशव्यांच्या या कामगिरीमुळें मराठी राजकारणानें यापुढें दक्षिणेकडे पाठ करून उत्तर हिंदुस्थानाकडे तोंड वळविलें। त्या प्रांतांतील अनेक विलासानीं सपन्न असलेले पातशाही राजवाडे, अनेक सुख साधनानीं संपन्न असलेलीं मोठमोठीं शहरें, धनधान्यानें सपन्न असलेले मोठमोठाले भूप्रदेश हे सर्व मराठी राजकारणाच्या यापुढें सतत दृष्टीसमोर दिसूं लागले मराठयांची स्वराज्याची कल्पना यापुढें सह्याद्रीच्या पठारांपुरतीच मर्यादित न राहतां तिनें यापुढें विराट रुप धारण करून पूर्वेस बंगाल्यापासून पश्चिमेस कंदाहार—हिरात पर्यंत मजल गांठली। उद्योगास क्षेत्र मिळालें म्हणजे उद्योग करणारीं माणसें आपोआपच निर्माण होतात। मराठी साधुसंत आणि शिवाजी महाराज यांच्या लोकोत्तर शिकवणीवरून महाराष्ट्रांत नवजीवनाचा संचार आमूलाग्र झाला

होता आणि महाराष्ट्रांतजिकडे तिकडे उत्साह आणि पराक्रम यांचे पाट जागजागीं तुंबले होते। नदी मुखानें समुद्रांत प्रवेश व्हावा त्याप्रमाणे चौथसरदेशमुखीच्या रूपानें मराठयांचा पातशाही राजकारणांत प्रवेश झाला त्यावरोबर या नवजीवनाच्या शक्तीस नवीन क्षेत्र मिळालें आणि हजारों नवीन नवीन माणसें निर्माण होऊन त्यानीं हां हां म्हणतां सर्व मोंगली राज्य ग्रासून टाकलें। मराठी इतिहासांतील या महत्वच्या स्थित्यंन्तराचें सर्व श्रेय बाळाजी विश्वनाथ पेशव्यानाच दिलेंपाहिजे।

चौथ सरदेशमुखी या विषयाचें तात्विक विवेचन हाच या लेखाचा मुख्य विषय आम्ही कल्पिलेला आहे। आणि त्या दृष्टीनें या हक्कांचें स्वरूप आणि त्यांतील राजकारणाचे धागेदोरे यांचें त्रोटक विवेचन आम्हीं आतांपर्यंत केलें आहें। एकदां या हक्कांचें स्वरूप आणि मांडणी निश्चित झाल्यावर व्यवहारिक दृष्टीनें त्या कल्पनेचा विस्तार कसकसा होत गेला या माहितीचा समावेश या लहानशा लेखांत होण्याजोगा नाहीं। कारण चौथ सरदेशमुखीचा विस्तार आणि स० १७२० पुढील मराठी राज्याचा इतिहास या गोष्टी परस्पराहून फारशा भिन्न नाहींत तथापि या कल्पनेचा पुढील विस्तार लक्षांत घेतल्याशिवाय वाचकांना या विषयाचें महत्व नीटपणें अजमावितां येणार नाहीं। सबब विषयाच्या पूर्ततेसाठीं त्या दृष्टीनें आम्ही थोडीशी माहिती येथें संक्षेपानें नमूद करतों।

बाळाजी विश्वनाथानीं पातशाही सनदा मिळविल्या त्यांत दक्षिणेंत मराठी अंमलाचें वर्चस्व प्रस्थापित करावें हाच त्यांचा प्रधान हेतु होता। परंतु या हक्कांचें स्वरूप आणि मांडणी या गोष्टी मुळांतच अशा स्वरूपाच्या होत्या कीं, प्रत्यक्ष प्राणावर बेतल्याशिवाय कोणताही मोंगल सुभेदार त्या कबूल करावयास तयार नव्हता। त्यावेळीं निजामुल्मुलूख नांवाचा दक्षिणेंत मोंगल सुभेदार होता। हा निजामुल्मुलूख आणि त्याचा मुलगा निजामअल्ली यांचा मराठी इतिहासाशीं निकटचा संबंध येतो। हे पितापुत्र स० १७२० पासून स० १८०३ पर्यंत दक्षिणेंत मोंगल सुभेदार होते आणि त्यानीं त्या मुदतींत पहिल्या बाळाजी विश्वनाथापासून शेवटच्या रावबाजीपर्यंत साती पेशव्यांच्या कारकीर्दी पाहिल्या। दोघेही धोरणी मुत्सद्दी आणि पराक्रमी सरदार होते त्यामुळें त्यांजवर या हक्कांचें खोगीर ठेवताना पेशव्याना बहुत प्रयत्न करावा लागला। मराठे व निजाम यांमधील हा लढा स० १७२० पासून स० १७६० पर्यंत विशेष जोरानें चालू होता। त्या मुदतींत मराठयानी निजामावर वेळोवेळ स्वाऱ्या करून आणि नाना कारस्थानें करून दक्षिणेंतील बहुतेक मोंगली मुलूख जिंकून घेलता। स० १७६० पुढेंही निजामास मराठयांचा बहुत त्रास सोसावा लागला शेवटीं निजामानें या त्रासास कंटाळून इंग्रजांचा आश्रय केला त्यामुळें त्याचा बचाव होऊन 'निजामाचें राज्य' या जुन्या नांवाखालीं मोंगलाई पैकीं थोडासा अवशेष अजूनहीं दक्षिणेंत शिल्लक राहिला आहे।

बाळाजी विश्वनाथानीं पातशाही सनदा मिळविल्या त्यावेळीं मालवा आणि गुजराथ या प्रांतांची ही चौथ सरदेशमुखी मराठयांस देण्याचें पातशहा आणि सय्यदबंधु यानीं कबूल केलें होतें। या बाबतींत बोलणें करण्यासाठीं पेशव्यानीं देवराय हिंगणे नांवाचा वकील आपल्या पाठी मागें दिल्लींत ठेविला होता। पुढें दिल्ली दरबारांतून सय्यदांचें उच्चाटण झालें त्यामुळें त्यावेळीं या प्रांतांबद्दल पातशाही सनदा मराठयांस मिळू शकल्या नाहींत। परंतु नवीन मुलूख जिंकताना मराठे पातशाही सनदांची थोडीच अपेक्षा ठेवीत होते! नवीन मुलूख प्रथम काबीज करावा आणि नंतर त्या बद्दल साधेल तेव्हां आणि साधेल तशा पातशाही सनदा मिळवाव्या असा मराठयांचा नेहमीचाच दंडक ढपलेला होता। त्यादृष्टीनें स० १७२० पूर्वींच मराठयानीं बहुतेक गुजराथ प्रांत आगाऊच व्यापून टाकला होता। पुढें दक्षिणेपुरत्या पातशाही सनदा हातीं पडल्यावर मराठे मालवा प्रांतांत शिरले आणि स० १७२४ पासून स० १७३९ पर्यंत अवघ्या आठ वर्षांतच राजा गिरिधर आणि दयाबहादर हे दोन मोंगल

सुभेदार बुडवून मराठ्यानीं त्या प्रांताचा पूर्णपणें कबजा मिळविला। स० १७३३।३४ सालीं मराठ्यांचा बुंदेलखंडांत अंमल बसला। या प्रमाणें दिल्लीच्या मार्गावरील माळवा आणि बुंदेलखंड हे दोन प्रांत मराठी अमलाखालीं आल्यावर मल्हारराव होळकर, राणोजी शिंदे, उदाजी पवार, नारोशंकर राजेबहादर, विठ्ठल शिवदेव विंचूरकर, अंताजी माणकेश्वर, गोविंदपंत बुंदेला वगैरे मराठे सरदारानीं स० १७३४ पासून पुढें तीन वर्षें पर्यंत राजपुताना, जाठवाडा, खेचीवाडा, आहिरवाडा, अयोध्या, दुआब, अंतर्वेदी वगैरे दिल्ली सभोंवतालच्या प्रांतांतून स्वाऱ्या घालघालून मोठी धूम उडविली आणि तीमुळें जागोजागचे मोंगल सुभेदार आणि मोंगली रयत यांची पांचावर धारण बसली। बाजीराव पेशव्यानीं तर स० १७३७ सालीं खुद्द दिल्ली प्रांतावर स्वारी केली आणि पातशाही फौजेस झुकांड्या देत देत पेशव्यांची स्वारी मार्च महिन्यांत एकेदिवशी दिल्लीच्या वेशीजवळ उभी राहिली तेव्हां तर पातशहा आणि पातशाही उमराव यांची भीतीनें बोबडीच वळली। पातशहानें पूर्वीं कबूल केल्याप्रमाणें सनदा द्याव्यात या हेतूनेंच मराठ्यानीं ही सर्व भालेराई चालविली होती।

चौथ सरदेशमुखीची दुसरी सनदः—मराठ्यांचा हा त्रास चुकविण्या करितां पातशहाने स० १७४३ सालीं जुलै महिन्यांत मराठ्यांस चौथ सरदेशमुखीची दुसरी सनद दिली। या सनदेवरून माळवा, नर्मदा व चम्बल या नद्यामधील मुलूख या प्रांताचा दुतर्फा अंमल मराठ्याकडे आला। म्हणजे मोंगलाई आणि स्वराज्य असे दोनी अंमल या प्रांतापुरते मराठ्यांस या सनदे मुळें प्राप्त झाले। शिवाय बाकीच्या पातशाही मुलखांतूनही चौथ सरदेशमुखी वसूल करण्याचा हक्क या सनदेंत पातशहानें मराठ्यांस दिला। सारांश या दुसऱ्या सनदेनें दिल्लीची मोंगल पातशाही मराठ्यांच्या सर्वस्वीं आहारीं सांपडली ही गोष्ट उत्तरेकडील तमाम राजेरजवाडे आणि अमीर उमराव यांस समजून चुकली।

या प्रमाणें नर्मदेपलीकडे मराठी सत्तेची अपूर्व भरभराट होत चाललेली पाहून रजपूत व जाठ राजे, अंतर्वेदी व दुआब प्रांतातील रोहिले व पठाण सरदार आणि दिल्ली प्रांतातील मोंगलिये हे सर्व पातशहा विरुद्ध खळवळले। विशेषतः रोहिले पठाणानीं तर पातशहा विरुद्ध बंडच पुकारलें। अयोध्येचा नवाब सफदरजंग हा त्यावेळीं पातशहाचा वजीर होता आणि निजामुल्मुलूखाचा नातू गाझीउद्दीन हा सेनापति होता। या होघांचेंही मराठ्याशीं चांगलें सख्य होतें। पातशहा, वजीर व सेनापति या तिघानींही हें पठाणांचें बंड मोडण्याकरितां आपली शिकस्त करून पाहिली परंतु त्या प्रयत्नांत त्याना यश आलें नाहीं। दिवसेंदिवस हा रोहिले—पठाणांचा पक्ष प्रबल होत चालला। नजीबखान रोहिला नांवचा एक पाताळयंत्री सरदार या पक्षाचा मुख्य सूत्रधार होता। त्यानें सूत्रें खेळवून सर्व उत्तर हिंदुस्थान मराठ्यांविरुद्ध उठविलें। त्याच्याच प्रेरणे वरून काबूलचा अहंमदशहा अब्दाली यानें पातशाही मुलखावर स्वाऱ्या शुरू केल्या। पुढें पुढें तर या नजीबखानानें पातशहाची सावत्र आई मलका जमानी बेगम आणि वजीर सफदरजंग यांसही आपल्या पक्षाकडे वळविलें।

चौथ सरदेशमुखीची तिसरी व शेवटची सनदः—या प्रमाणें काबूल कंदाहारपासून प्रयागापर्यंत सर्वत्र बंडाचा वणवा उठलेला पाहतांच गाझीउद्दीन याच्या सल्ल्यावरून पातशहानें मराठ्यास तिसरी चौथसरशमुखीची सनद दिली। या नवीन सनदेनें मुलतान, पंजाब, ठट्टा, सिंध, अंतर्वेदी, रोहिलखंड आणि रजपुताना एवढ्या विस्तीर्ण प्रदेशावरील चौथाईचा हक्क मराठ्यांस प्राप्त झाला। अहंमदशहा अब्दाली, रोहिले—पठाण सरदार, रजपूत राजे आणि सिंधचे अमीर याना तंबी पोचवून मराठ्यानीं पातशाहीचें संरक्षण करावें ही मुख्य अट पातशहानें या सनदेंत घातली होती। मराठ्यानीं ही अट पतकरली आणि पातशहास आपल्या संरक्षणाखालीं घेतलें। याप्रमाणें

सर्व पातशाही मुलखावर मराठी अंमल प्रस्थापित करण्याचा सुयोग मराठ्यांस आतां दिसूं लागला। या सनदे प्रमाणें पाहिलें तर दिल्ली शेजारचा पांच पन्नास मैलांचा टापू आणि शहानशहा ही भपकेबाज पदवी एवढेंच वैभव आतां दुर्दैवी दिल्लीच्या पातशहाजवळ शिल्लक राहिलें होते। पातशहाकडून ही तिसरी सनद स० १७५० सालीं मराठ्यांस प्राप्त झाली।

या सनदेमुळें मोंगल पातशाहीचें डोईजड ओझें मराठ्यानीं डोक्यावर घेतलें तें मात्र त्याना नीटसें झेपतां आलें नाहीं आणि त्या उद्योगांत मराठे आणि रोहिले—पठाण यांचें हाडवैर जुंपलें। ही सनद हातीं पडतांच स० १७५१ सालीं जयाजी शिंदे आणि मल्हारराव होळकर यानीं दुआबांत शिरुन एकाच स्वारींत साठ सत्तर हजार रोहिले—पठाणांची फौज बुडविली। रघुनाथराव पेशव्यानींही स० १७५४, ५५ सालीं आणि १७५७, ५८ सालीं अशा उत्तरप्रांतीं दोन स्वाऱ्या केल्या पहिल्या स्वारींत मराठ्यानीं रजपूत व जाठ राजे आणि अंतर्वेदींतील पठाण सरदार यांना नरम केलें, दुसऱ्या स्वारींत तर मराठ्यानीं अफगाणिस्थाना पर्यंत मजल गांठून अटके पावेतों भगवा झेंडा नाचविला। याप्रमाणे मराठ्यांच्या स्वाऱ्या चालू होत्या तरी त्यांच्या विशेषसा उपयोग होत नसे। कारण मराठे स्वारीहून परत दक्षिणेंत येतात तोंच त्यांच्या पाठोपाठ अबदालीही दिल्ली प्रांतांत येत असे आणि मराठ्यानीं केलेल्या सर्व कार्याचा विध्वंस करीत असे। अबदालीचा हा त्रास चुकविण्याकरितां स० १७५७ सालीं दत्ता जी शिंदे साठ सत्तर हजार फौज बरोबर घेऊन पंजाब आणि अंतर्वेदी या प्रांतांत गेले। या स्वारींत अफगाण, रोहिले आणि पठाण यानीं एकजूट करून शिंध्यांचा मोडकेला आणि दिल्लीशेजारीं बदाऊ घाटावर उभयपक्षांत मोठी लढाई झाली तींत दत्ता जी शिंदे आणि हजारों मराठे यांची शत्रूकडून कत्तल झाली। शिंद्याच्या या स्वारीचें अपेश धुवून काढण्या करितां सदाशिवराव पेशवे एक लाख फौज बरोबर घेऊन स० १७६० साली दिल्लीप्रांती दाखल झाले। पेशव्यांची ही स्वारी 'पानिपतची मोहीम' या नांवानें मराठी इतिहासांत प्रसिद्ध आहे। या मोहिमेंतही मराठ्यांना भयंकर अपेश आलें आणि बहुतेक मराठी फौज या स्वारींत गारद झाली।

याप्रमाणें मोंगल पातशाही ताब्यांत घेण्याच्या प्रयत्नांत मराठ्यांना द्रव्य आणि मनुष्यबल यांची भयंकर हानी सोसावी लागली तथापि चिकाटी धरून त्यानीं हातीं घेतलेला उद्योग सोडला नाहीं। माधवराव पेशव्यांच्या कारकीर्दींत स० १७६९, ७० सालीं रामचन्द्र गणेश कानडे आणि विसाजी कृष्ण विनीवाले हे दोघे सरदार पन्नास साठ हजार फौज घेऊन पुनः दिल्ली प्रांतीं आले आणि शहाआलम याची तख्तावर स्थापना करून त्यानीं दिल्ली दरबार हातीं घेतलें। मराठ्यांचें हें दिल्लीवरील वर्चस्व फार दिवस राहिलें नाहीं कारण स० १७७३ सालीं दक्षिणेंत नारायणराव पेशव्यांचा खून झाला आणि पुढें मराठ मंडळांत गृहकलहाची यादवी माजली त्यामुळें मराठ्यांना दिल्लीतून आपोआपच पाय काढून घ्यावा लागला मराठ्यांतील हा गृहकलह स० १७८२ सालीं समाप्त झाला आणि लागलीचा महादजी शिंद्यानीं ही दिल्लीची मसलत पुनः हातीं घेतली। शिंद्यानी आठ दहा वर्षें सख्त मेहनत करून दिल्ली प्रांतांतील रोहिले—पठाण सरदारांचा असा बीमोड करून टाकला कीं, मराठ्यांना विरोध करण्यास यापुढें त्यापैकीं कोणी शिल्लकच राहिला नाहीं। शिंद्यांच्या या पराक्रमामुळें मराठे विरुद्ध रोहिले-पठाण या तंटयाचा कायमचा निकाल लागला आणि पातशहा मराठ्यांच्यां कायमचा हातीं सांपडला। शिवाजी महाराजानीं स० १६६५ साली जो राजकारणाचा डाव मांडला होतां तो पुढें सवाशे वर्षांनी महादजी शिंद्यानीं याप्रमाणें सिद्धीस नेला त्यामुळें मराठी इतिहासांत त्यांचें नांव चिरस्मरणीय होऊन राहिलें आहे।

वरील विवेचना वरून मराठी राज्याच्या वाढींत चौथसरदेशमुखीच्या कल्पनेचा केवढा मोठा संबंध होता हें आतां वाचकांच्या लक्षांत येईल। या विवेचनावरुन आणखीही एक गोष्ट स्पष्ट होते। ती अशी कीं, राजकारणांत महत्त्व प्राप्त

करून घ्यावयाचें तर मुत्सद्यांजी बुद्धि आणि वीरांची तरवार यांचा पूर्णपणें मिलाफ व्हावा लागतो। मुत्सद्यांच्या बुद्धीची करामत केवढीही मोठी असली तरी तिचा अंमल मंत्रसभेपुरताच मर्यादित असतो। व्यवहारांत त्या करामतीची अंमलबजावणी नेहमीं मनगटाच्या जोरावरच करावी लागते। मराठयांची बुद्धि जशी व्यापक आणि पल्लेदार होती त्याप्रमाणेंच त्यांचें मनगटही तसेंच बळकट आणि खंबीर होतें आणि त्यामुळेंच सह्याद्रीच्या पठारांतून वावरणाऱ्या कंगाल मराठयाना स्वराज्य आणि स्वधर्म यांचा उद्धार करून हिंदुपदपातशाही स्थापन करतां आली। चौथ सरदेशमुखीचें आम्ही आतांपर्यंत विवेचन केलें आहे त्यावरून मराठे केवळ लुटारू होतेत्यांच्या हालचालींत शिस्त नव्हती—त्यांना राजकीय धोरण माहीतच नव्हतें—त्यांच्यांत माणुसकीचा गंधसुद्धां नव्हता--मराठी राज्य म्हणजे वस्तुगतीच्या ओघांतील एक वाऱ्याचा फुगारा–तो आपोआपच वाढला आणि आपोपच फुटला--अश्या प्रकारचीं विधानें मुसलमान आणि इंग्रज इतिहासकारानीं लिहून ठेविलीं आहेत तीं किती द्वेषमूलक, अप्रबुद्ध आणि खोटीं आहेत हेंही वांचकांस दिसून येईल। सतराव्या आणि अठराव्या शतकांत मराठयानीं स्वराज्याचा झगडा चालविला होता तो सर्व हिंदुस्थानाच्या इतिहासांत केवळ अपूर्व होता आणि त्या झगडयांत स्वराज्य आणि स्वधर्म यासाठीं ज्यानीं देह झिजविले आणि प्रसंगी प्राणसुध्दां अर्पण केले त्या पुण्यात्म्याना जेवढे धन्योद्गार द्यावेत तेवढे थोडेच ठरणार आहेत।

चौथ सरदेशमुखीच्या कल्पनेंत नोकरी आणि मालकीहक्क यांची जी मुळांत सांगड घालण्यांत आली आणि त्या कल्पनेची पुढें जी मांडणी करण्यांत आली त्याला तोड दुसऱ्या कोणत्याही इतिहासांत सांपडत नाहीं राजकारणांत असली ही अघटित घटना घडवून आणण्याचा पहिला मान मराठी इतिहासानेंच पटकावला आहे आणि त्या गोष्टींतच शिवछत्रपति आणि बाळाजी विश्वनाथ पेशवे यांच्या बुद्धिवैभवाचें अपूर्वत्व सांठविलेलें आहे। पुढें हिन्दुस्थानचें राज्य जिंकताना इंग्रजानीं मराठ्यांच्या या चौथसरदेशमुखीची नक्कल अंमलांत आणलेली दिसून येते। इंग्रजानीं पुढें या नांवाखाली ही कल्पना अंमलांत आणून अनेक लहान मोठीं राज्यें घशांत टाकलीं। या कल्पनेला पगारी मैत्री असें नांव देतां येईल। मराठयानीं मालकीहक्काची नोकरी करतां करतां साम्राज्य उभारलें तर इंग्रजानीं पुढें पगारी मैत्री करतां करतां सर्व हिन्दुस्थान जिकलें। मराठयांची चौथ सरदेशमुखी उर्फ मालकी हक्काची नोकरी आणि इंग्रांजची पगारी मैत्री या दोनी कल्पनांतून मूलभूत तत्व, साय आणि साधनें या दृष्टीनें विलक्षण साम्य आहे। मराठयांची मूळ कल्पना जास्त व्यापक आणि गुंतागुतीची होतीं। इंग्रजानी नक्कल करताना कल्पनेचा व्यापक पणा बहुतांशीं कायम ठेवला आणि गुंतागुंत मात्र बरीच कमी केली। इंग्रज व मराठे यांच्या राजनीतींत मात्र बराच फरक दृष्टीस पडतो। इंग्रज हे व्यापारी होते त्यामुळें त्यांची ही पगारी मैत्री म्हणजे केवळ एक ताकापुरतें रामायण होतें। फायद्याचा प्रसंग दिसला म्हणजे ते मैत्रीच्या जोरावर हात पुढें करीत आणि नुकसानीचा प्रसंग दिसला म्हणजे मात्र ते मैत्री गुंडाळून ठेवून खाका वर करीत। निजामानें इंग्रजाशीं ही मैत्री केली परंतु खडर्यांचे लढाईंत इंग्रजानीं त्याला तोंडघशीं पाडलें। रजपूत राजानीं ही पगारी मैत्री पतकरली परंतु नुकसानीचा प्रसंग पडतांच लॉर्ड कार्नवालिस याने वचन भंग करून त्या रजपूत राजाना शिंदे होळकरांच्या भक्ष्यस्थानीं खुशाल सोडून दिलें। अयोध्येचा नवाब सुजाउद्दौला याने या पगारी मैत्रीचा आश्रय केला परन्तु पुढें सुजाचा मुलगा असफउद्दौला याच्या हातीं भिकेची झोळी देऊन आणि सुजाची बायको व आई यांची द्रव्यासाठीं बेअब्रू करून वॉरन हेस्टिंग्सनें या मैत्रीचें चीज कसें करून दाखविलें हें इतिहास प्रसिद्ध च आहे। सारांश, इंग्रजांच्या पगारी मैत्रीतं अतःकरणाचा ओलावा नव्हता। मराठे हे राजे होते त्यामुळें त्यांच्या राजनीतींत जास्त सौजन्य दिसून येतें। त्यानीं शत्रु ताब्यांत सांपडला असतां त्याची विटंबना केली नहीं किंवा मैत्रीच्या मिषानें त्यांनीं कोणाची वंचना केली नाहीं। मराठयानीं नोकरी करताना

आपला प्रामाणिकपणाही कधीं सोडला नाहीं। मोंगल रियासतींतील मुसलमान उमरावानींच दिल्लीच्या मुसलमान पादशहाची वेळोवेळ अप्रतिष्ठा करण्यांत पुढाकार घेतल्याचें दिसून येतें। सय्यदबंधूनीं फरुकशेयर पातशहाचा खून केला गाजीउद्दीन वजीरानें अहंमदशहा आणि अलमगीर या दोन पातशहांचे पाठोपाठ खून केले। गुलाम कादरानें तर शहाआलम पातशहाचे डोळे काढून आणि पातशाही बेगमावर अत्याचार करुन पातशाही राजवाडयांत नंगा नाचच घातला। मराठे हे पातशहाचे शत्रु असतांही त्यानीं पातशाही पदाची कधीं अप्रतिष्ठा केली नाहीं। उलट पातशहाचे अन्नूसाठीं मराठयानीं अनेक हालअपेष्टा आणि नुकसानें सोसलीं आणि पानिपताचा दुर्धर प्रसंग आपल्या राष्ट्रावर ओढवून घेतला। या सर्व गोष्टी लक्षांत घेतां इंग्रजांच्या पगारी मैत्रीपेक्षां मराठयांची मालकीहक्काची नोकरी जास्त प्रामाणिक स्वरूपाची होती असें स्पष्ट म्हणावें लागतें।

पंडित गौरीशंकर ओझा यांचा इतिहासाचा व्यासंग दांडगा आहे। मराठी इतिहासापैकीं या महत्वाच्या विषयावर आमचें विचार प्रदर्शित करून आम्ही पंडितजींची एक नम्र सेवा केली आहे। पंडितजींच्या वयाला सत्तर वर्षें पुरीं झालीं असतांही त्यांचा उद्योग अजून अखंड चालू आहे। दीर्घायुष्य आणि दीर्घोद्योग यांचा असा हा मेळ क्वचितच दृष्टीस पडतो। पंडित महाशयाना दिवसेंदिवस आयुरारोग्य लाभो आणि त्यांच्या हातून उत्तरोत्तर वाङ्मयसेवा घडो असें चिंतून आम्ही हा लेख पुरा करतों।

हिंदुस्थानचा लष्करी इतिहास

जनरल नानासाहेब शिंदे, बडोदा

वैदिक काल

वैदिककाळीं आर्य लोक हिंदुस्थानांत आले त्यावेळीं ते हिंदुस्थानांतील अनार्य लोकांपेक्षां, युद्धकलेमध्यें व शस्त्रास्त्रांत जास्त निष्णात होते, हें कबूल करावें लागतें। त्यावेळीं चारी वर्णांची स्थापना झालेली नव्हती। लढाई करीत ते क्षत्रिय, व देवतांची पूजाअर्चा करीत ते ब्राह्मण, अशी त्यावेळीं समाजाची रचना होती। हिंदुस्थानांतील रानटी लोकांस घोडयाची माहिती नव्हती। आर्य लोकांबरोबर दथिक्रा म्हणजे घोडे होते, व त्या घोडयावर बसून अगर रथांत बसून ते लढत असत, त्यामुळें पायदळापेक्षां त्यांचा वेग जास्त असला पाहिजे। त्यांस भिऊन अनार्य लोक परभाव पावत व पळून जात असत। अनार्य लोकांच्या नुसत्या तीरकमठ्योपेक्षां आर्यलोकांचीं लढाईचीं हत्यारे जास्त सुधारलेंलीं होतीं। बाण, तीर, तूणीर, ढाल, तरवार, भाला, परशु वगैरे हत्यारें आर्यलोक लढाईंत वापरीति असत। याशिवाय दुष्मनांच्या तीरापासून शरीराचें रक्षण करण्याकरितां चिलखत व शिरस्त्राणही वापरण्यांत येत असे। दुष्मनावरजास्त वेगानें व जोराचा हल्ला करण्याकरितां घोडयांचा व रथांचा उपयोग केला जात असे। त्यांच्या बाणांस हरणाची अणकुचीदार शिंगें अगर लोखंडाची पातीं लावलेली असत। त्याचप्रमाणें आर्यलोक जुटीनें शत्रूशीं लढत असत। या कारणानें या मूठभर आर्य लोकांनीं अनार्यलोकांचा लढाईंत पराभव करून, त्यांच्या मुलाखांत आपली कायमची वसाहत केली व तेथें लहान लहान राज्यें स्थापन केलीं। म्यागझीन रायफल असलेली व शिस्त शिकलेली शंभर शिपायांची एक

कंपनी, ठासण्याच्या बंदुका असलेल्या बीन शिस्तीच्या हजार लोकांसही भारी असते, असा अर्वाचीन युद्धकलेचा अनुभव आहे। यावरून ज्यांचीं शस्त्रास्त्रें उत्तम व शिस्त चांगली, ते लटाईंत विजयी होणार हा नियम सिद्ध होतो।

भारतीय युद्ध

२ भारतीय युद्धाचे वेळीं भरतभूमीचें लष्करी वैभव अगदीं शिखरास पोंचलें होतें, व युद्ध कलाशास्त्र अगदीं पूर्णत्वास गेलें होतें, असें म्हटलें असतां अतिशयोक्ती होणार नाहीं। परंतु मोठया दुःखाची गोष्ट ही आहे कीं, ह्या युद्धकलेचा उपयोग स्वतःच्या कुलाचा व इतर क्षत्रिय कुलांचा संहार करण्याकडेसच करण्यांत आला। राष्ट्रवृद्धि करण्याकडेस ह्या कलेचा उपयोग झाला नाहीं। त्याकाळीं सुद्धां लढाईचें काम मुख्यतः क्षत्रिय वर्गासच करावें लागत असे। घोडदळ, पायदळ, हत्ती व रथ असे फौजेचे मुख्य चार भाग असत। ह्याशिवाय ट्रान्सपोर्ट, नौका, हेर, इंटेलिजन्स डिपार्टमेन्ट (शत्रूची माहिती ठेवणारें खातें) अशी चार निरनिराळीं खातीं होतीं। ही फौजेची रचना व व्यवस्था अर्वाचीन काळच्या अगदीं सुधारलेल्या फौजेप्रमाणेंच होती। तोफखान्याचें काम रथ करीत असत। विमानाची कलाही त्यावेळीं माहित होती व तिचा उपयोग द्वारकेच्या वेढयांत करण्यांत आला होता। विमानांतून बाँबच्या एवजीं त्यावेळी दगड व बाण फेंकण्यांत येत असत। तोफांचा उपयोग किल्यावरून करण्यांत येत असे, असें वर्णन आहें। परंतु ह्यावेळीं तोफेची व बंदुकीची दारू माहित होती कीं नाहीं याबद्दल संशय आहे। ह्यावेळच्या तोफा म्हणजे दगडी गोळे फेंकण्याची विशिष्ट प्रकारचीं एका तऱ्हेचीं यंत्रें होतीं असें मानण्यांत येतें। बंदुकीचें काम धनुष्यबाण करीत असत। आर्यलोकांनीं ही कला फार उन्नतीला नेली होती। बाणाचा पल्ला एका मैलपर्यंत जात असे। हत्तींची योजनाही लढाईंत करण्याची चाल होती, परंतु या गजसेनेपासून कधीं कधीं स्वपक्षाचेंही नुकसान होत असे। मंत्रविद्येचाही उपयोग लढाईंत करण्यांत येत असे। परंतु हल्लींच्या सुधारलेल्या विसाव्या शतकांत, ह्या मंत्रविद्येस कोणी महत्व देईल कीं काय ह्याचा संशयच आहे। अशक्य कोटींतंच या विधेची गणना हल्लीं करण्यांत येईल।

भारतीव युद्धाच्या कालीं
फौजेची रचना

३ कंपनी, बटालियन, ब्रिगेड, डिव्हीजन, आर्मीकोर वगैरे हल्लींच्यां सुधारलेल्या फौजे प्रमाणें त्यावेळच्या फौजेची रचना होती व तीवर हल्लीं प्रमाणेंच निर निराळ्या दर्जाचे अंमलदार नेमण्यांत येत असत। निरनिराळ्या प्रकारचीं, शत्रुसंहार करण्यांचीं हत्यारें वापरण्यांत येत असत। प्रत्येक राजाजवळ कांहीं ठराविक खडी फौज असे। सक्तीची लष्करी नोकरी त्यावेळीं अंमलांत नव्हती। फौजेस वेळेवर पगार दोण्यांत येत असे।

भारतीय युद्धाची हल्लींच्या
महायुद्धा बरोबर तुलना

४ किल्याला वेढा पडला म्हणजे कशी व्यवस्था करण्यांतयेत असे, ह्याचें द्वारेकच्या वेढ्यांत फारच चांगलें वर्णन केलें आहे। हल्लींच्या महायुद्धांतील लीज, नामूर, अँटवर्प वगैरे प्रसिद्ध किल्यांचे वेढे असेच होते। त्यावेळीं धर्मयुद्ध करण्याकरितां फार सक्तीचे नियम करण्यांत आले होते, ते हल्लींच्या सुधारलेल्या राष्ट्रांच्या नियमांसारखेच होते। या नियमास जर्मनीनें जसें सध्यांच्या महायुद्धांत धाब्यावर बसविलें, तसें त्यावेळीं कोणी केल्यास, त्यास फार हीन मानीत असत। लढाईच्या वेळीं निरनिराळे व्यूह करण्यांत येत असत। हल्लींही घोडदळ, पायदळ व तोफखाना कसा लढवावा याबद्दल निरनिराळे व्यूह ठरलेले आहेत लढाईला उत्तम वर्षा काळ कोणता व लढाई कोणत्या जाग्यावर द्यावी ह्याबद्दलही नियम ठरविलेले असत। फौजेच्या तळावर घासदाण्याचा, हत्याराचा वगैरे पुरवठा करण्यांत येत असे। जखमा बांधण्याकरितां शस्त्रवैद्यही बरोबर असत। लेबरकोर (मजूर) चे लोकही बरोबर ठेवीत असत। भारतीय युद्धांत एकंदर ६६ लक्षांवर लोक मारले गेले असें स्त्रीपर्वांत म्हटलें आहे। हल्लींच्या महायु-

द्धांत इतके लोक एकसमयावच्छेदेंकरून मारले गेले नाहींत, म्हणून आजपर्यंतच्या सर्व युद्धांत भारतीय युद्ध महायुद्ध ठरतें। भारतीय युद्ध फक्त १८ दिवसच चाललें होतें, परंतु हल्लींचें युद्धचार वर्षांवर चाललें होतें। भारतीय फौजेला उभें राहण्यास जितकीं जागा लागली असेल तितक्या टापूंतच हें युद्ध झालें, परंतु हल्लींच्या युद्धाच्या रणांगणाची रुंदी पांचशें मैलांच्या वर होती। हल्लींच्या महायुद्धांतील सेनापति किती तरी मागें असे व त्याला तरवारही बाळगावी लागत नसे, परंतु भारतीय युद्धाच्या सेनापतीस स्वतः धनुष्यबाण घेऊन रोज लढावें लागत असे। हल्लींच्या सेनापतीस हातांतील शस्त्रांपेक्षां स्वतःच्या डोक्याचाच फार उपयोग करावा लागतो। लढाईच्या प्रदेशाचे नकाशे, तारायंत्रें, टेलिफोन, विमानें, वगैरेंच्या साह्यावर हल्लींच्या सेनापतीस शेकडो मैलांच्या अंतरावरून लढाई चालवावी लागते। ही सुधारणा भारतीय युद्धाच्या वेळीं नव्हती। बाकी इतर गोष्टींत भारतीय युद्धच्या वेळीं हिंदुस्थानांतील युद्धकलाशास्त्र व शिस्त हल्लीं प्रमाणेंच होती असें म्हटलें असतां अतिशयोक्ति होणार नाहीं। फौजेची रचना, घटना व व्यवस्था अगदीं सुधारलेल्या पाश्चिमात्य राष्ट्राप्रमाणें होती। या युद्धांत सामील झालेल्या १८ अक्षौहिणी सैन्यापैकीं फक्त १० इसम जिवंत राहिले, बाकीची सर्व फौज कत्तल झाली। अठरा दिवसांत इतका मोठा मनुष्य संहार झाल्याचें जगाच्या इतिहासांत एकही उदाहरण सांपडणार नाहीं। हें महायुद्ध म्हणजे क्षत्रिय कुलांचा—लढवय्यांचा निःपात असेंच म्हणावें लागतें।

बौद्ध व पोराणिक काल

८ बौद्ध व पौराणिक काळामध्यें लष्करची रचना, व्यवस्था व शिक्षण सुधारण्याकडेस राजे लोकांचें फारसें लक्ष होतें असें दिसत नाहीं। पूर्वीं जें चालत आलें होतें, तेंच चालू ठेवण्यांत आलें। बौद्ध व हिंदु धर्माच्या भांडणा मध्येंच राजे लोकांचा बहुतेक काळ जात होता असें दिसतें। आर्य लोक या काळांत मनुष्याच्या उंची इतकें मोठें धनुष्य वापरीत होते। तीन हात लांबीची तरवार दोन्ही हातांत धरून मारण्यांत येत असे। घोडेस्वाराजवळ दोन भाले असत, त्यांचा उपयोग ते एकावेळीं कसा करीत असत हें समजणें कठीण आहे। घोडयाच्या तोंडांत लोखंडी लगाम न देतां नुसती ओंठाळीदेऊन ते लोक घोड्यावर बसत असत। धाव्याच्या वेळीं हे घोडे त्यांच्या काबूंत कसे रहात असत हेंनवल आहे अरबस्तानामध्ये ह्या प्रमाणेंच अद्याप अरब लोक घोडयावर बसतात, व एका लाकडीच्या इशाऱ्यानें ते आपल्या घोडयास वाटेल त्या ठिकाणीं उभा करितात अगर वळवितात। हे लोक घोडयावर बसण्याच्या कामांत फार पटाईत म्हणून ह्यांची ख्याती आहे। लढाईच्या वेळीं शेतकऱ्यांस उभयपक्षांकडून कोणत्याही प्रकारचा त्रास पोंचत नसे, चंद्रगुप्ताच्या वेळीं फौजेच्या सहा भागांची देखरेख तीस अंमलदारांचें कौन्सील नेमून त्यांच्या मार्फतीने ठेवण्यांत येत असे। अशोक राजापासून “अहिंसा परमो धर्मः” हें बौद्धधर्माचें आदितत्व अंमलांत आल्याने बहुतेक लढाया बंद पडल्या। अर्थात् लष्कराचें महत्वही कमी झालें। लष्करी उन्नतिपेक्षां आत्मिक उन्नतीकडे सर्वांचें लक्ष लागलें। उत्तर हिंदुस्थानांत प्रख्यात राजा हर्षवर्धन हा झाला। या चक्रवर्ती राजाने ३५ वर्षेपर्यंत लढाया सुरू ठेवून सर्व उत्तरहिंदुस्थान एक छत्राखालीं आणिलें। हर्ष्याने आपल्याजवळ फार मोंठी खडी फौज ठेविली होती, रथांचा लढाईंत उपयोग होत नसे, म्हणून हर्ष्या राजानें रथ ठेवण्याचें प्रथम बंद केलें। मनूनें लढाईसंबंधी बरीच माहिती आपल्या ग्रंथातून दिलेली आहे। किल्ले कसे असावे, त्यांचा बंदोबस्त कसा करावा, लढाई कोणत्या ऋतूंत सुरू करावी। लढाईमध्यें फौजे ची वाटणी कशी करावी, दुष्मनाच्या फौजेंत फंदफितूर कसा करावा वगैरे बद्दलचीं ठोकळ धोरणें त्यानें नमूद केलेलीं आहेत। या कालांत निरनिराळ्या प्रकारचीं मनुष्यसंहारक हत्यारें वापण्यांत येत असत। परन्तु बंदुकीच्या दारूचा शोध लागला

होता असें दिसून येत नाहीं। अग्निअस्त्र विश्वकर्म्यानें शोधून काढीलें म्हणून म्हटलें आहे, परन्तु तें अस्त्र म्हणजे दारूचे फेंकण्याचे बाण असावेत असें वाटतें।

हिंदु राजांचा काल

६ महंमुदाच्या वेळची हिंदुस्थानची स्थिति मात्र शोचनीय दिसतें। अनेक प्रसंगी रजपूत राजे एकत्र होऊन महंमुदाशीं लढण्यास आले त्यांच्या फौजेची संख्या अतोनात होती। असें असतां एकाही प्रसंगीं त्यांस यश मिळालें नाहीं। युद्धाचीं शिरत अगाऊ ठरवून ठेवणें हें जें युद्धकलेचें महत्तत्व, तें हिंदु लोकांनी कधींहीं पाळिलें नाहीं। अनेक प्रसंगीं जयप्राप्ती होण्याच्या अगदीं ऐन गर्दीत, सेनापति पडला अगर त्यास हत्तीघेऊन पळाला, किंवा निशाण दिसेनासे झालें, कीं हिंदु फौज भयभीत होऊन समर सोडून पळून जाई। महंमुदानें परमेश्वराची आराधनात करावी म्हणजे जय ठेविलेला असें त्याचे लोकांस वाटे, पण शौर्यवीर्यादि गुणांमध्यें पुरातन काळापासून नांवांजलेल्या रजपूत लोकांच्या हातून, महंमुदाच्या यःकश्चित फौजेचा मोड एकदांही होऊं नये हें मोठें नवल आहें। एकंदरींत हिंदु राज्यांचा वृद्धापकाळ झाला होता; लोकांचें शौर्याचें व पराक्रमांचे दिवस गेले होते, कोण आला व कोण गेला ह्याची चाड राहिलेली नव्हती। अंगांतील सत्व निघून गेल्यामुळें जुजुमास्तव हातपाय हालवावे, अशांतली त्यांची स्थिति झाली होती। ह्याच्या उलट महंमुदाची स्थिति होती। महंमुदाचे राज्यास नुकता आरंभ झालेला; मुसलमानी धर्माची भरज्वानी; परदेशीं गेतया शिवाय स्वदेशीं राहून काम भागणारे नव्हतें। तेन्हां अर्थात मुसलमानांचा तीव्र वेग वृद्ध हिंदूंस सहन झाला नाहीं।

नवीन युद्धकलेचा रजपुतां मध्ये अभाव होता

७ त्या वेळच्या मानानें रजपुतांचें युद्धकलेचें ज्ञान परिपूर्ण नसून, त्यांनीं नवीन युक्त्या किंवा नवीन पद्धति स्वीकारल्या नाहींत। ते जुन्यांचाच आश्रय धरून राहिले। शस्त्रास्त्रांच्या व युद्धकौशल्याच्या बाबतींत ते मुसलमानांहून फार मागें होते। युक्तीचा किंवा काव्याचा ते आश्रय करीत नसत। युद्धाच्या वेळीऐन प्रसंगीं ते आळशी राहत। हेर पाठवून शत्रूच्या हालचालीची बातमी आणून त्यांजवर नजर ठेवणें, रात्रीचे छापेघालणें, हुलकावणी दाखवून शत्रूस पेंचांत आणणें, असल्या गोष्टींचा त्यांनीं अवलंब केला नाहीं; तसेंच अनेक बारीक बाबतींची तजवीज अगाऊ लावून ठेवणें जरूर असतें। आयत्यावेळीं विपरीत प्रकार झाल्यास त्याच्या प्रतिकाराचा विचार अगाऊ ठरवून ठेवावा लागतो। हें काम हिंदू राजांनीं केल्याचें दिसत नाहीं। त्यांच्या फौजांत सर्व प्रकारचा गोंधळ व अव्यवस्था असे। गज्नवी महंमूद, महंमद घोरी, अल्लाउद्दीन खिलजी, तयमूरलंग, बाबर, हे सर्व कसलेले योद्धे असूतन तत्कालोन युद्धकलेंत पूर्णपणें वाकब होते। त्यांच्या तोडीचा एक ही पुरुष हिंदूच्या बाजूस दिसून आला नाहीं। रजपूतांचें युद्धकलेचें ज्ञान हजारों वर्षांचें जीर्ण झालेलें होतें। आपसांतल्या युद्धांत त्यांस त्या ज्ञानाचा कितीही उपयोग होत असला, तरी परकीयांशीं त्यांचा सामना झाल्याबरोबर ते फिके पडले। युद्धकलेचा तरी बारंवार अनुभव पाहिजे। बाह्य जगाशीं वरचेवर युद्धप्रसंग येऊन राष्ट्र कसत गेलें पाहिजे। तसे प्रसंग हिंदु लोकांस पूर्वीं फार दिवस आले नसल्यानें, मुसलमानांशीं त्यांची एकदम गांठ पडली तेव्हां त्यांचा निभाव लागला नाहीं।

रजपुतांची युद्धकला संरक्षणात्मक होती।

८ युद्धकले संबंधीं आणखी दुसरा एक मुद्दा असा आहे कीं, रजपुतांनीं केवळ स्वसंरक्षणापुरताच विचार पाहिला; आपण होऊन शत्रूवर स्वाऱ्या करून त्यांस त्यांच्या मुलखांत जेरीस आणण्याचा प्रयत्नच कोणी केला नाहीं। संरक्षणात्मक व अभिघातात्मक अशीं युद्धाचीं दोन अंगें आहेत। एकदा युद्ध सुरू झाल्यावर जरूरी प्रमाणें ह्या दोन ही अंगांचा अवलंब करावा लागतो। शत्रूच्या मूळठिकाणावर प्रहार केल्याशिवाय त्याचा निःपात होत नाहीं। गज्नवी महंमूद किंवा

महंमद घोरी ज्याप्रमाणें हिंदुस्थानावर स्वाऱ्या करीत होते, त्याचप्रमाणें जयपाळ किंवा पृथ्वीराज ह्यांनीं अफगाणिस्तानावर स्वाऱ्या केल्या पाहिजेहोत्या। त्यांनीं पुष्कळदां मोठमोठे जमाव करून मुसलमानांशीं टक्कर मारली, पण किल्यांचा आश्रय करून ते शत्रूच्या हल्यांची वाट पहात स्वस्थ बसत। अशा पद्धतीनें मुसलमानांचें नुकास होणारे नव्हतें। त्यांचां पराभव झाला, तरी डोंगरांपलीकडील त्यांचें स्वतःचें राज्य सुरक्षित असे। हिंदुस्थानांत इंग्रजांनीं आपली राज्यस्थापना ज्या पद्धतीवर केली, तीचें उदाहरण प्रस्तुत विवेचन करितांना ध्यानांत ठेवण्याजोगें आहे।

रासा ग्रंथ काय सांगतो

९ ह्या काळीं आमच्या रजपूत क्षत्रियाचीं कशी दुर्दशा झाली होती, हें समजण्यास तत्कालीन रासा ग्रंथ फार उपयोगी पडतील। विशेषतः चंद भाटाचा ग्रंथ विस्तृत व वाचनीय आहे। निरनिराळ्या राजघराण्यांतील परस्पर वैमनस्यें, पैशाच्या लोभानें मुसलमान शत्रूंस बातमी पोंचविणाऱ्या राष्ट्रद्रोही लोकांचासुळसुळाट, रजपूत फौजांची अव्यवस्थित रचना, शत्रूकडील बातमी मिळविण्याविषयीं आमच्या वीर पुरुषांनीं केलेली हयगय, जातिभेदाच्या व्यवस्थेमुळें एकट्या क्षत्रियांवरच पडलेलायुद्धाचा सर्व बोजा, आणि इतर वर्गांच्या ठिकांणीं असलेली स्वदेश संरक्षणाविषयीं अनास्था, इत्यादि कारणा मुळेंच इतक्या दूर अंतरा वरून मुसळमानांचा रिघाव हिंदुस्थानांत कसकसा झाला, त्याची उमज ह्या रासा ग्रंथावरून पडणारी आहे। येथील शेतकरी व कामकरी कामकरी वर्ग इतक्या निकृष्टावस्थेंतपडला होता कीं, ब्राह्मणांस व क्षत्रियांस ते शत्रुसमांन समजत, आणि त्यांच्या जाचणुकींतून सुटका होईल तर बरी असें त्यांस होऊन गेलें होतें अशा स्थितींत मुसलमानांशीं लढण्याची सर्व भिस्त केवळ एका वर्गावर पडली, आणि ब्राह्मण, वैश्य व शूद्र हे अगदीं अलिप्त राहिले। त्यांस युद्धशिक्षण व शस्त्रास्त्रांचा उपयोगही ठाऊक नव्हता। "देशाचें कांहीं कां होईना, कसा तरी आपला बचाव झाला म्हणजे बस" एवढीच भावना ब्रह्मणांच्या ठिकाणीं राहिलीं होती; वैश्यांनीं द्रव्यार्जनाच्या नादीं राहून आपला धनसंचय राष्ट्रकार्यास दिला नाहीं; शूद्रांस तर परशत्रूच्या आगमनानें आनंदच वाटला। आपसांतील वैमनस्याचा सूड घेण्याकरितां जयचंद राठोड वगैरे कित्येक राजांचें पाठबळ मुसलमानांस होतें। कनोजच्या फौजेंत मुसलमानांचा भरणा होता। पृथ्वीराजाच्या हालचालींची खडानखडा बातमी महंमद घोरींस जयचंदा कडून समजत होती।

रजपुतांनीं 'जशास तसें' वर्तन ठेविलें नहीं

१० पूर्वापार चालत आलेले रजपुतांचे सुद्ध संप्रदाय व वीर्यशालीपणाचे संकेत अनेक वेळां त्यांसच बाधक झाले आहेत। असे संकेत लढणाऱ्या दोनही पक्षांनीं पाळिले, तरच त्यांचा हेतु सफल होतो। नाहींतर एकट्यानेंच पाळिले असतां ते पाळणारास बाधक होतात। उदाहरणार्थ, समरांगणीं पराभव झाला असतां, शत्रूस पाठ दाखवून परत यावयाचें नाहीं, अथवा शरण आलेल्या शत्रूचें पारिपल्य करावयाचें नाहीं, हे रजपुतांचे संकेत प्राचीनकाळीं त्यांस कितीही सन्मान्य वाटले, तरी मुसलमानांशी झगडण्यांत त्यांजपासून रजपुतांचें नुकसानच झालें आहे, हें जयपाळ पृथ्वी राज इत्यादिकांच्या गोष्टीवरून व्यक्त होईल सबक्तगीन हातीं लागला होता त्याचवेळीं त्यास जर पृथ्वीराजानें ठार केला असता, तर पुढील भयंकर प्रसंग त्याजवर ओढवला नसता। एकवार पराभव झाला असतां गोंधळून न जातां व्यवस्थितपणें फौजेस परत आणून, पुनः सर्व युद्धाची सर्व तजवीज नीटपणें लावून शत्रूंस जिंकावें, तें सोडून देऊन रजपुतांनीं आपल्या सन्मान्य संकेतांस अनुसरून अनेक प्रसंगीं बायकामुलांची कत्तल करून धारातिर्थीं मोक्षपद मिळविलें आहे। पडता काळ आला असतां युक्तीनें स्वसंरक्षण करून कावेबाजपणानें शत्रूस जिंकण्याचा अवश्य मार्ग आरंभी आरंभी तरी रजपुतांनी स्वीकारिला नाहीं। उदात्त व वीर्यशाली वर्तन, तशाच प्रकारचा सामने

वाला असेल तरच फायदेशीर होतें, नाहीं तर प्रसंग पडेल शीच तजवीज ठेवणें भाग आहे। रणजितसिंगाचा सेनापति हरिसिंग ललवा यानें अफगाणिस्तानांत गोमांसाचें, डुकराचें मांस कसें करून दाखविलें याजबद्दलची हकीकत शीखलोकांच्या प्रकरणांत दिलेंली आहे। त्याप्रमाणें जशास तसें वर्तन ठेवल्याशिवाय अशा कामीं निभावणूक नसते।

विजयनगरच्या राजांची स्थिति

११ आरंभीच्या शंभर दीडशें वर्षांत विजयनगरच्या राजांची सत्ता व ऐश्वर्य बहामनी राज्याच्या मानानें फारच मोठें होतें। पण ह्या हिंदु राज्याच्या पायास न्याय व नीति ह्यांची भर नव्हती पुष्कळसा धनसंचय करून रोषआराम व चैन करावी, इकडेच बहुतेक राजांची व दरबारी मंडळींची विशेष प्रवृत्ति होती। सभोंवारची परिस्थिति ओळखून तदनुसार आपली राजव्यवस्था करण्यास लागणारी उदार व उच्चतर दृष्टि राजकर्त्यांपैकीं कोणाच्याच ठायीं असलेली दिसत नाहीं। बहुतेक राजे विषयी व स्त्रीलंपट होते। त्यांचें लक्ष सदा चैन करण्याकडे असे। प्रांतिक कामदारांस नेहमीं असे हुकूम दिलेले असत कीं, कोठेंही सुंदर किंवा विशेष देखणी मुलगी आढळून आली कीं, लगेच तीच्या आइबापांच्या संमतीनें ती राजाकडे पाठवून द्यावीद्ध हा प्रघात राज्यांत विशेष जाचक झाला असेल हें सांगणे नकोच। राज्यांतील बऱ्याचशा व लढायावबहुतेक भानगडी अशा स्त्रीविषयक कारणांनीं उदवलेल्या होत्या बायकामुलांची मानहानि सहन करण्यापेक्षां लढ्रूत जीव गेलेला बरा, अशा प्रकारची उत्तरेंतील रजपुतांची उच्च भावना, दक्षिणेतील ह्याराजांच्या मनास कधीं शिवली नाहीं। पुष्कळसें द्रव्य दिलें म्हणजे आपगांस पाहिजे ती गोष्ट अनुकूल करून घेतां येईल, अशीच त्यांची नेहमीं समजूत होतीं।

शीख शिपाई

१२ शीख फौजेची शिस्त व लष्करी तयारी रणजितसिंगाच्या वेळीं कंपनी सरकारचा फौजेसारखीच्या होती। पायदळाचें खरें महत्व ह्यास चांगलें समजलें होतें। यूरोपियन अंमलदार नेमून आपल्या फौजेस ह्यानें नवीन तऱ्हेचें लष्करी शिक्षण दिलें होतें। इंग्रज सरकारची दोस्ती ठेवण्यांतच आपल्या राज्याची बळकटी आहे, हें रणजितसिंगास पक्कें माहित होतें। महाराजा रणजितसिंग मरण पावतांच फौजेंत गोंधळ सुरू झाला। युरोपियन अंमलदारांस फौजेंतून कमी करण्यांत आलें। पराक्रमी, करारी व धोरणी राजा अगर सेनापति नसल्ययानें फौज शिरजोर झाली। इतक्या उदयास आलेली शीख फौज, पुढें चांगल्या राजाच्या व सेनापतीच्या अभावीं बेलगामी झाली। कोणाचा पायपोस कोणाच्या पायांत राहिला नाहीं। राजवाड्यांत चालू असलेल्या नीतिमत्तेच्या अभावाचा परिणामही शीख फौजेवर झाला। महाराजा रणजितसिंगानें स्थापन केलेलें शीख लोकांचें राज्य फौजेच्या बेहुकमीपणामुळेंच लयास गेलें। शीख शिपाई उत्तम लढवय्या, ह्याची जाणीव कंपनी सरकारास होती म्हणून शीखाचें राज्य खालसा करतांच शीख लोकांस आपल्या फौजेंत त्यांनी दाखल केलें। तयार असलेल्या साधनांचा इंग्रजांस पुढें फार फायदा झाला। रणजीतसिंगानें केलेल्या प्रयत्नाचें फळ इंग्रजांस मिळालें। इंग्रजी फौजेमध्यें शीख शिपायांची गणना उत्तम लढवय्यांत करण्यांत येत असते। बेलगामी शीख शिपाई इंग्रजी फौजेंत शिस्तीचा दास बनला। सर्व अकलेचें काम !

मोगल बादशहाशिवाय इतर मुसलमान राजांचा काल।

१३ हिंदुस्थानांत मुसलमानाचें राज्य, गुलामवंशांतील कुत्बुद्दीन ह्यानें प्रथम स्थापन केलें व दिल्ली ही त्यानें आप राजधानी केली। गुलामवंशानंतर खिलजी घराणें दिल्लीच्या तख्तावर आलें। या घराण्यांते अल्लाउद्दीन खिलजी, हा प्रख्यात व शूर सुलतान झाला। ह्यानें देवगिरीच्या लुटींत मिळविलेल्या द्रव्याचा उपयोग आपल्या फौजेची सुधारणा करण्याकडेस केला। मोंगलांच्या स्वारीस टक्कर देऊन त्यानें त्यांस पळवयांस लाविलें। पद्मिनीकरितां ह्याने चितोडगडास वेढा घालून चितोडगड घेतला, परंतु पद्मिनी मात्र मिळाली नाहीं। दिल्ली येथें ह्याने एक मोठा किल्ला बांधला।

मोगलांच्या स्वारीपासून हा पुष्कळ अक्कल शिकला । नवीन तोफा ओतण्याचा व हत्यारें तयार करण्याचा कारखाना ह्याने सुरू केला । फौजेचे पगार कायम केले, व धान्याचे भावही नक्की ठखून दिले होते । खिलजी घराण्यानंतर तुघ्लख घराणें दिल्लीच्या तक्तावर आले । या घराण्यांतील "अचाट कल्पनांचा" बादशहा महंमद तुघ्लख हा प्रसिद्ध आहे । चीनवर स्वारी करण्याकरितां ह्यानें एक लाख फौज पाठविली होती, परंतु त्यापैकीं फक्त १० इसमच परत आले; तसेंच तुर्कस्थान व इराण जिंकण्याकरितां याने मोठी फौज तयार केली होती । ह्यांच्या पदरीं नऊ लाख घोडदल होतें असें महणतात । तुर्की घोडदळाचे घोडे उत्तम जातीवंत होते । फौजेची हजरी बादशहा स्वतः घेई, व, सर्व फौजेस पगार सरकारी तिजोरीतून मिळत असे । तुघ्लख घराण्यानंतर दुसरे बादशहा झाले, परंतु ते सर्व दुर्बल होते । दक्षिणेमध्यें मुसलमानांचें बहामनी राज्य उदयास आलें । ह्या सुलतानाजवळ फार मोठी खडी फौज रहात असे । फौजेस पगार इंग्रजी फौजेच्या पगारपेक्षां जास्त मिळत असे । गुजराथमध्येंही महंमद बेगडा व बहादुरशहा हे फार शूर सुलतान झाले । गुजरायच्या सुलतानाच्या फौजेंत ढाल, दोन तरवारी, खंजीर, गदा व तुर्की तीरकमठे बापरीत असत । शिपाई लोक अंगात चिलखतें अगर कापूस घालूत शिवलेले जाड कोट घालीत असत । ह्या सुलताना जवळ उत्कृष्ट तोफखाना होता व तोफा ओतण्याचा कारखानाही होता । दक्षिणेमध्यें बहामनी सुलतानानंतर हैदरअल्ली व टिपू सुलतान हे प्रख्यात मुसलमान राजे झाले । हैदरअल्लीनें कवायती फौज ठेविली होती, व त्याच्या मुलानें ह्या फौजेची फारच सुधारणा केली होती । त्यांनी आपल्या फौजेंत फ्रेंच अंमलदार नोकरीस ठेविले होते । ह्यांच्या लढाइच्या युक्त्या फारच सुधारलेल्या होत्या । टिपू सुलताननें परेट कवायतीचें एक पुस्तक तयार केलें होतें । कवायतीचे फ्रेंच शब्द बदलून ते पर्शियन व तुर्की केले होते । तोफा ओतण्याचा कारखानाही काढिला होता । हिंदुस्थानांतील इतर राजांप्रमाणें तरवारीवर व भाल्यावर भिस्त ठेवणारा टिपू सुलतान नव्हता तोफांचेंत । बंदुकांचें खरें महत्व त्यास समजलें होतें । त्याच्या तोफखान्यांत हाविट्झर जावीची तोफही होती । दोन नळी व तीन नळी बंदुकाही त्याचा कारखान्यांत तयार होत असत । बंदुकीची गोळी आरपार जाऊं नये अशा प्रकारच्या ढालीही तयार करण्यांत येत असत ।

मोगल रियासतीचा काल

१४ मोगल बादशहांनीं युद्धकला हिंदुस्थानांत ऊर्जित दशेस आणिली । पूर्वींचे हिंदु राजे सेनांचे मालक होते, पण नायक नव्हते । लाखो लोकांची फौज व्यवस्थितपणें वागवून व तिजवर हुकमत चालवून काम घेणें, ही गोष्ट मोगल बादशहांनींच केली । खरें युद्धकलानैपुण्य दाखविण्याचे प्रसंग बादशहांसच आले । बहुधा प्रत्येक बाबतींत मोगल लष्कराची व्यवस्था परिपूर्ण होती । लश्कराच्या सोयीचे रस्तेही सर्व देशभर मोगलांनींच बांधीले; तसेंच शहरासभोंवती मजबूद तटबंदी करून बंदोबस्त करण्याची पद्धत, जरी पूर्वीं येथें ठाऊक असली, तरी ती तत्कालीन सुधारणांनीं परिपूर्ण करण्याचें काम मोगलांनींच केलें । आग्रा, दिल्ली, अहंमदाबाद, सुरत, लाहोर, अलाहाबाद इत्यादि बाटेल तितक्या शहरांची उदाहरणें ह्यासंबंधीं देता येतील । मोंगल बादशहांच्या वेळीं घोडेस्वारांचें माहात्म्य वाढून, पायदळ फोज निकामी ठरली । हिंदुस्थानांत प्रथम तोफांच्या उपयेग बाबरनें केला । मुसलमान लोकांस तोफांच्या व बंदुकीच्या दारूची माहिती झालेली होती । ह्याच्या लष्कराची शिस्त फारच उत्तम होती । शिपायांप्रमाणें हाही थंडीवाऱ्यात पडून रहात असे । त्यानें आपल्या फौजेस उच्च प्रतीचें लष्करी शिक्षण देऊन तयार केले होतें । अकबर बादशहानें लष्करची रचना व व्यवस्था फारच उत्तम रीतीनें ठेविली । बादशाही फौजेमध्यें मुसलमानांची व रजपुतांची, असा दोन्ही जातींच्या फौजा होत्या । बादशाही मनसबदारी मध्यें व उमरावामध्यें दोन्ही जातींचे लोक होते । रजपूत राजेलोकांशीं शरीर संबंध करून, त्यांस त्यानीं आपलेसें केलें होतें । शिपायापासून मनसबदारां पर्यंत सर्वांचे पगार नक्की करण्यांत आले सोते । मोठमोठाया

मनसबदारांस जहागिरी देण्याची पद्धत याच बादशहानें सुरू केली । अशा जहागिरी रजपूत मनसबदारांस फार देण्यांत येत असत । कित्येक मुसलमान मनसबदारांसही जहागिरी देण्यांत येत असत । या जहागिरीच्या पद्धतीनेंच मनसबदार पुढें बलाढ्य झाले, व मोगल बादशाहीच्याउतरत्या काळांत स्वतंत्र झाले । फौजेतील सर्व घोडयांस बादशाही डाग देण्यांत येत असे । मानाच्या पदव्या देण्याची चाल मोगल बादशाहीच्या वेळीं अंमलांत होतीं । घोडदळ, पायदळ व तोफखाना, ह्याप्रमाणें फौजेचे तीन प्रकार होते । तरी लढाइमध्यें सर्वभिस्त घोडदळावरच असे । घोडदळाचा मान पायदळांपेक्षा फार होता । या तिन्ही प्रकारच्या फौजेमध्यें हल्लीं प्रमाणें रेजिमेंट ब्रिगेड, डिव्हीजन असे ठरीव भाग नव्हते । मनसबदार लोक खोटी हजरी दाखवून पगार उपटीत असत । तोफा तयार करण्या चा कारखाना अकबर बादशहानें ठेविला होता । पुढें पुढें फ्रेंच, पोतुगीज वगैरे लोकांकडून सुद्धां तोफा विकत घेण्यांत येत असत । तोफांस बहुतकरून बैलांच्या जोड्या जोडीत असत । कांहीं हलक्या तोफा असत त्यांस घोडे जोडीत असत ।

मोगलफौजेचें लष्करी शिक्षण

१५ प्रथम सुरवातीस लढाइमध्ये हत्तीचा उपयोग करीत असत परन्तु पुढें हत्तींचा उपयोग मुख्य सेनापतीस बसण्याकरितां व राजझेंडे नेण्याकरितांच करूं लागले । बादशाही जनाना व सामान नेण्याकरितांही हत्तींचा उपयोग करीत असत । बंदुकांचा उपयोग लढाईंत होऊं लागल्यापासून हत्तीस कोणीही लढाईंत नेत नसत । निरनिराळया जातीचे लोक आपआपल्या रिवाजाप्रमाणें पोषाख करीत असत । आपली फौज सोडून दुष्मनाच्या फौजेस मिळणाऱ्या लोकांस देहांत शासन देण्यांत येत असे । शिपायास कोणत्याही प्रकारचें कवायतीचें शिक्षण दिलें जात नसे परन्तु प्रत्येक शिपाई स्वतंत्रपणें कसरत करून आपल्या शरीराची जोपासना करीत असे । लढाईमध्ये सांपडलेल्या लोकांचीं कत्तल करून त्यांच्या शिरकमलांवर मनोरे बांधण्याची दुष्ट चाल मोगल बादशाहींत होती ।

मोगल बादशाही रसातलास जाण्याची कारणें

१६ आरंभीं मोगल लोक हे साहसी व स्वोन्नति प्रित्यर्थ झटणारे होते, परन्तु त्यांस स्वास्थ्य मिळूं लागल्या बरोबर ते चैनी व आळशी बनले । बाबर बादशहा दोन दिवसांत घोडयावर १६० मैल मजल करून गंगानदींतून दोन वेळ पोहून गेला । त्याच्याच पांचवा वंशज औरंगजेब तक्तावर असतां दरबारच्या लोकांस मृदु मलमलीचा पोषाखसुद्दां जड वाटे । बादशहाच्या स्वारीबरोबर प्रवासांत असतां ते लोक पलंगावर निजून रहात व नोकर त्यांस पलंगासकट वाहून नेत । आणि मुक्कामावर पोंचल्या बरोबर भोजन त्यांची वाट पाहात तयार असे । अश्या ऐदी व मिजासी लोकांची दक्षिणेंमध्यें कांदा भाकर खाणाऱ्या चपळ मराठयांनीं त्रेधा उडवून दिली यांत कांहीं नवल नाहीं । मराठयांचा छापा आला म्हणजे जामानिमा घालण्यांत व दाढी मिशीची कंगई करण्यांतच या लोकांचा पुष्कळ वेळ जात असे । “अल्ला, अल्ला, या तोबा, ये मराठे कैसे सैतान है” असें म्हणून घोडयावर स्वार होईपर्यंत मराठे निघून ही जात असत । मोगल बादशाही नाहींशी होण्यास मुख्य कारण फौजेची बरोबर तयारी नव्हती व फौजेमध्यें शिस्त बिलकुल राहिली नव्हती । फौजेमध्यें राजनिष्ठेचा अभाव होता व स्वाभिमान अगर देशाभिमान बिलकुल नव्हता, कांहीं मुसलमान फौजचें बादशाही तक्तावर प्रेम होतें, परंतु मोठी संख्या हिंन्दूंची असल्यानें वरील प्रेमाचा कांहीं एक उपयोग झाला नाहीं । औरंजेबानंतर कोणीही खंदा बादशहा दिल्लीच्या तक्तावर बसला नाहीं । त्यामुळें मोगल बादशाही लवकरच उबाघईस आली । प्रत्येक स्वारास आपला घोडा भरावा लागत असल्यानें तो त्याची फार काळजी घेत असे । घोडा लढाईंत मेला कीं आपलें कायमचें त्यास माहित असे । म्हणून तो शूर शिपाई असला तरी अपला घोडा बचविण्याकरितां लढाईंत

कुचराइ करीत असे। लष्करी शिक्षण व शिस्त यांचा अभाव व सरंजामी पद्धत यामुळेंच मोगल बादशाही रसातळास गेली असेंही कित्येकांचें म्हणणें आहे।

श्री छः शिवाजी महाराजांचा काल

१७ श्री छ० शिवाजी महाराजानीं मराठी राज्याची स्थापना केली। पूर्वीच्या हिंदु राजांची व यवनी बादशहाचीं पद्धत लक्षांत घेऊन व त्यांत स्वतःच्या अनुभवानें योग्य त्या सुधारणा करून, महाराजानीं आपल्या फौजेची रचना व व्यवस्था केली होती। त्यांच्या फौजेचे घोडदळ व पायदळ असे दोन मुख्य भाग होते। तोफखाना त्यांचेजवळ फार थोडा होता। गनिमी काव्यानें, डोंगराळ मुलखांत त्यांस लढावें लागत असल्यानें त्यांना तोफखान्याची जरूरीही भासत नसे। डोंगरी किल्लयावर मात्र तोफा ठेवण्यांत आल्या होत्या। तोफा बहुतकरून, इंग्रज, फ्रेंच व पोर्तुगीज व्यापाऱ्यांकडून खरेदी करण्यांत येत असत। तोफा अगर बंदुका तयार करण्याचा कारखाना नव्हता। सुरवातीस मावळे लोकांच्या पायदळ फौजेवर लढाईचें काम भागत असे, परंतु पुढें राज्यवृद्धी जास्त झाल्यावर व मुसलमानांच्या मोठमोठ्या फौजाबरोबर सामने करण्याचे प्रसंग येऊं लागले तेव्हां, घोडदळ ठेवणें भाग पडलें। घोडदळांत बारगीर व शिलेदार असे दोन प्रकार होते। हीच पद्धत हल्लींच्या इंग्रज सरकारच्या देशी फौजेंतही आहे। घोडेस्वारास चांगला पोषाख देण्यांत आला होता। तरवार भाला व ढाल हीं घोडेस्वाराचीं मुख्य हत्यारें असत। हत्यारें ज्यांनीं त्यांनीं आपल्या पदरचीं आणावी असा नियम होता, दारूगोला मात्र सरकारांतून मिळत असे, सेक्शन, ट्रूप, स्क्वॉड्रन, रेजिमेंट, ब्रिगेड ह्या अर्वाचीन लष्करी पद्धतिप्रमाणें घोडदलाची रचना होती, व त्यांवर लहान मोठे अंमलदार मुक्रर केलेले असत। प्रत्येकाच्या पगाराचा अंक नक्की केलेला असे। पायदळांत मावळे आणि हेटकरी हेच लोक नोकर असत। प्रत्येक पायदळा जवळ ढाल, तरवार व बंदुक हीं तीन हत्यारें असत। पायदळांत सुद्धां लहान मोठ्या तुकड्या असून त्यांच्यावर नाईक, हवालदार, जुमलेदार, हजारी वगैरे अंमलदार असत। ह्या लष्कराशिवाय महाराजांच्या खास जिलबीची फौज निराळी होती। फौजेंत भरती महाराजांच्या पसंतीनें केली जात असे, व प्रत्येक इसमानें जुन्या शिपायाची जामीनकी घ्यानी लागत असे।

शिवाजी महाराज फौजेचा उपयोग कसा करीत असत

१८ महाराष्ट्रांतील लढाईच्या सैन्यरचनेच्या कसबाची सर्व मदार डोंगरी किल्लयावर असे, म्हणून अशा डोंगरी किल्लयावर महाराजानीं फारच उत्तम व्यवस्था ठेविली होती। पावसाळा पुरा झाला कीं, घोडदळास परमुलखांत स्वारी करण्यास पाठविण्यांत येत असे। ह्याचा हेतु हा असे कीं, घोडदळाचा आठ महिन्याचा खर्च, परभारें शत्रूच्या मुलखांतील लुटीवर भागविण्यांत यावा व फौज नेहमीं लढाईच्या कामीं तयार रहावी। स्वारीस जाणाऱ्या लष्करा पैकीं कोणीही इसमानें आपली बायको, बटीक किंवा कलावंतीण बरोबर घेऊं नये व स्वारी बरोबर कलाल नसावे अशी सक्त ताकीद असे। हा नियम तोडणारास देहांत शासन देण्यांत येत असे किती सक्त शिस्त ! स्वारीस निघण्यापूर्वीं सर्व फौजेची महाराज स्वतः तपासणी करीत असत। स्वार, घोडा व त्याचें सामान बरोबर आहे की नाहीं हें पाहण्यांत येत असे। हल्लींच्या मोबिलीझेशन इन्स्पेक्शन सारखीच ही तपासणी होती। जहागिरी देण्याची पद्धत महाराजांनीं अगदीं बंद केली होती। सर्वांस लावकीप्रमाणें रोकड पगार देण्यांत येत असे। वंश परंपरा एकाच हुद्यावर कोणासच ठेवण्यांत येत नसे। कर्तबगारी दाखवावी आणि बढती मिळावी असा प्रकार होता। प्रत्येक किल्ला, व छावणी व स्वारी यांतील अधिकाऱ्यांवर नजर ठेवण्याकरितां हेर ठेविले होते। शत्रूकडील बातमी काढण्याकरितांहीं इंटेलिजन्स डिपार्टमेन्ट होतें। महाराज स्वतः उत्तम लढवय्ये होते। दोन्ही हातांत पट्टे चढवून लढाईच्या अगदीं गर्दींत ते घुसत असत। यामुळें

त्यांच्या फौजेची त्यांच्यावर नेपोलियन बोनापार्टा प्रमाणें भक्ति होती। महाराज बक्षिसें देण्यांत ज्याप्रमाणें उदार होते, त्याच प्रमाणें कोणाही कामांत कसूर केली तर त्यास सक्त शासन देण्यांत ते पुढेंमागें पहात नसत।

मराठयांचा उदय कसा झाला

१९ डफ व एलफिस्टन यासारखे मराठेशाहीचे इतिहासकार, यांचें म्हणणें असें होतें कीं, मराठयांचा उदय सह्याद्रि पर्वतावरील वाळलेल्या गवतांत अकस्मात उद्भवणाऱ्या वणव्याप्रमाणें होता। या वणव्याचा ज्याप्रमाणें आधीं कांहींएक मागमूस नसतो, पणतो एकदम पेट घेतो व त्याचा क्षणार्धांत जिकडेतिकडे फैलाव होतो व तो वणवा लवकरच विलयास जातो। तीच तऱ्हा मराठयांच्या राजकीय उदयाची आहे। शिवाजीपासून या राजकीय उदयास एकाएकी प्रारंभ झाला। थोडयाच काळांत मराठेशाहीचा सर्व हिंदुस्थानभर विस्तार झाला व थोडयाच काळांत त्याचा विलयही झाला। डफ साहेबांचें हें मत त्यावेळीं सर्वसंमत असें समजलें जात असे, पण न्यायमूर्ती रानडे यांनीं आपतया "मराठयांच्या सत्तेचा उदय" या ऐतिहासिक ग्रंथांत मत खोडून काढिलें आहे।

पेशवाइच्या अमदानीचा काल

२० पेशवाईच्या अमदानींत, श्री० छ० शिवाजी महाराजांनीं केलेंली लष्करची रचना व व्यवस्था पुढें चालविण्यांत आली नाहीं। सातारकर राजेपेशव्यांचे मालक न राहतां त्यांच्या कैद्या सारखे राहिले। पेशव्यांसवस्त्रें देण्यापुरतीच त्यांची नांवाची सत्ता राहिली, बाकी सर्व सत्ता संपुष्टांत येऊन पेशवेच सर्व मराठी राज्याचे मालक बनले। पेशव्यांनीं सरंजामी पद्धत सुरु करून आपल्या हाताखालील सरदारांस मोठमोठया जहागिरी दिल्यानें ते स्वतंत्रपणें वागूं लागले। भोंसले, शिंदे, होलकर, गायकवाड, पवार वगैरे मोठमोठे सरदार मोठमोठया लढाऊ फौजा बाळगून मुलूखगिरी करीत असत। पेशव्यांची खडी फोज अशी दहापांच हजारांवर नव्हती। मराठी फौजेंत पायदळापेक्षां घोडदळाचा भरणा अधिक होऊं लागला। गनिमी काव्यानें मैदानांत लढण्याच्या पद्धतीला घोडदळाचाच उपयोग जास्त होऊं लागला, त्यामुळें पायदळ मागें पडलें। खड़ी पायदळ फौज व पागा ही बारमहा नोकरींत असे, परंतु शिलेदार वगैरे इतर फौज तात्पुरती जमविलेली असे। तिच्या नोकरीस ठराविक मुदत नसे। मुलुखगिरीवर फौज निघाली म्हणजे हे लोक येऊन सामील होत व मुलुखगिरी सपूंत फौज परत फिरली म्हणजे हे लोक आपआपल्या गांवीं परत जात। यांच्यामध्यें शिस्त बिलकूल नव्हती। भरतीकरितां केव्हांही माणसांची अगर घोडयांची खोट नसे। शिपाईगिरी हा त्यावेळच्या मराठयांचा पेशाच झाला होता। बंदुका व तोफा मराठे करीत असत, परन्तु त्या चांगल्या होत नसत। ही हत्यारें इंग्रज फ्रेंच व पोर्तुगीज व्यापाऱ्यांकडून विकत घेत असत। तोफांची व बंदुकांची दारूही चांगली होत नसे। मराठ्यांच्या स्वारी बरोबर तोफखाना असे, परन्तु त्यांची सारी भिस्त घोड़दळावर असे। कवायती पायदळचा व तोफखान्याचा उपयोग प्रथम पानिपतच्या लढाईंत मराठ्यांनीं केला। पुढें कवायती फौजेची ही पद्धत, महादजी शिंद्यानें तर चांगलीच यशस्वी करून दाखविली। महादजीनें ही कला यूरोपयन लोकांपासून उचलली। त्याची महत्वाकांक्षा मोठी असल्यानें लष्करी सामर्थ्याचें हें साधन त्यानें ताबडतोब उपयोगांत आणलें, व डिबॉइनच्या हाताखालीं त्यानें कवायती कंपू तयार करविले। हत्यारें व तोफा ओतण्याचा कारखाना शिंद्यानें आग्र्यास काढिला। वडगांव व खर्डा येथील लढायांत या कवायती कंपूंचा उपयोग विशेष झाला। या कंपूंत मराठ्यांशिवाय अठरापगड जाती होत्या। "मराठ्यांच्या खालचा घोडा ज्या दिवशीं निघून गेला, त्या दिवशींच त्यांचें राज्य गेलें" असें एकानें म्हटलें आहे। मराठयांनी गनिमी काव्याची युद्धपद्धति टाकून कवायती पद्धति स्वीकारली ही गोष्ट त्यांच्या फायद्याची झाली नाहीं असें पुष्कल लोकांचें म्हणणं आहे। मुख्य सत्ता कमजोर

झाल्याने सरदार स्वतंत्र झाले। जो तो आपआपल्या पुरता पाहूं लागला, यामुळें मराठी साम्राज्याचें तुकडे तुकडे झाले। श्री०छ० शिवाजी महाराज, पहिले बाजीराव पेशवे व महादजी शिंदे ह्यांच्या मराठी साम्राज्य स्थापनेच्या ज्या महत्वकांक्षा होत्या त्या रसातळास गेल्या। इंग्रजासारख्या परकीयांचा प्रवेश हिंदुस्थानांत होण्यास एकच्या मराठ्यांचाच काय तो अडथळा होता तो अडथळा मराठा साम्राज्याचे तुकडे झाल्यानें नाहिंसा झाला।

मराठ्यांची मर्दुमकी

२१ मराठा शिपायानें आपला दरारा सर्व हिंदुस्थानभर वसविलेला होता। त्यानें मोंगल पातशाही नामधारी पातशाही केली, अफगाणांना खडे चारून अटकेपार घालवून दिले, रोहिल्यांची रग जिरविली, आणि शूरपणामध्यें साऱ्याजगांत गाजलेलें जे रजपूत, त्यांस आपल्या ताटाखालचीं मांजरें बनविली। रजपूत कधीं कपटानें लढणारे नव्हते, परंतु मराठ्यांशीं लढताना ते इतके जेरीस आले कीं, त्यांनीं आपली धर्म युद्धाची परंपरा सोडून जयाप्पा शिंद्याचा कपटानें मारेकऱ्याडून खून करविला। मराठे गनिमी काव्यांत पटाईत होते, तसेच समोरासमोर दोन हात करण्यांत ही कोणाला हार जाणारे नव्हते। त्यांच्या तरवारीचें पाणी व भाल्याची फेंक यांना अफगाण व रजपूत हे चांगल्या रीतीनें ओळखीत असत। फिरंग्यांनाही मराठ्यांच्या शौर्याची ओळख वसईच्या वेढ्यांत व अन्य प्रसंगीं चांगल्या रीतीनें पटली होती। परंतु मराठेशाहीचा अंत झाल्यालर मराठ्यांना वाईट दिवस आले। त्यांच्या तरवारीला गंज चढूं लागला व त्यांच्या क्षात्रतेजाला प्रोत्साहन मिळेनासें झालें। पुढें इंग्रज सरकारच्या देशी फौजेंत मराठे नोकर राहूँ लागले मुंबई सरकाचे चीफ सेक्रेटरी मि० पी० आर० कॅडेल यांनीं "मराठा शिपाया संबंधी" तारीख २६ फेब्रुवारी सन् १९१९ मध्यें अन्थ्रॉपोलॉजिकल नावाच्या मुंबईतींल वजनदार संस्थे पुढें एक निबंध वाचला। त्यामध्यें त्यांनीं मराठा शिपायाची फारच तारीफ केली आहे। मराठा शिपाई देखने में ढब्बू नाहीं। तो पठाण किंवा शिख शिपाया प्रमाणें धिप्पाड किंवा मजबूत बांध्याचा दिसत नाहीं। त्याचा पोषारव भपकेदार नसतो। "जी हुजूर" "जी गरीब परवर" अशी दरबारी थाटाचीं अदबशीर हिंदुस्थानी मिठास भाषा तो बोलत नाहीं, म्हणून इंग्रजी फौजेमध्यें मराठ्यांची भरती कमी करण्याकडे कल होंऊं लागला। चालू महायुद्धांत "मरेन पण हटणार नाही व "मराठा" हें नांव खरें करीन," अशा प्रतिज्ञेनें तो रणांगणावर लढला। महाराष्ट्रांत सैन्य भरतीचें काम जोरानें सुरू झालें तेव्हां पुन्हा मराठे सार्वभौम सरकारास मदत करण्यास पुढें आले। मोठमोठे लष्करी अंमलदार मराठा शिपायाचा पराक्रम, धाडस, हुषारी, काबेबाजपणा, काटकपणा, चिकाटी, इमान इत्यादि विषयीं चोहोंकडे बोलबाला करीत आहेत। फ्रान्स, मेसॉपोटेमिया, ईस्ट आफ्रिका, इजिप्त, पॅलेस्टाईन वगैरे देशांतल्या रणांगणामध्यें मराठ्यांनीं आपलें क्षात्रतेज प्रत्ययाला आणून दिलें। जर्मनांना आणि तुर्कांना जेरीस आणण्याच्या कामीं मराठ्यांनीं उत्कृष्ट सहाय्य केलें। मराठ्यांच्या लष्करी बाण्याची परंपरा फार जुनीं आहे। त्यांच्या क्षात्रतेजाबद्दल नुसती कागदावर अगर भाषणांत बोलबाला करून त्यांचें समाधान होणार नाहीं। इंग्रज सरकारास जर ह्या लष्करी बाण्याच्या लोकांचा खरा उपयोग करून घेणें असेल तर यांच्यांतील सुशिक्षित मराठ्यांस लष्करी कॉलेज मद्धे शिक्षण देऊन सरकानें या तरुण मराठ्यांस लायक करून सढळ हातानें फौजेमध्यें वरिष्ठ अंमलदाराच्या जागा देऊन, त्यांची बूज करणेंच योग्य होईल। प्रत्येक मराठा जातीनें शिपाई आहे। लष्करी पेशा हा मराठ्यांचा आवडता पेशा आहे। त्यांच्या नैसर्गिक गुणाचें चीज होण्यास त्यांस संधी व उत्तेजन मात्र दिलें पाहिजे।

शिवाजी का क्षत्रियत्व

प्रो० बालकृष्ण एम० ए०, पी-एच० डी०, कोल्हापुर

शिवाजी की पूर्व पीठिका

वृहत्तर महाराष्ट्र के संस्थापक शाहजी भोंसले का वंश सीसोद के सूर्य वंश से जुड़ा हुआ है। राजपूताना में चित्तौड़ और उदयपुर तथा दक्खन में कोल्हापुर और मुधोल के राजाओं का परस्पर रिश्ता था और वह सम्बन्ध अब तक भी चला जाता है। मुधोल के सरदारों को बहमनी और आदिलशाही बादशाहों से जो फ़ारसी सनदें मिली थीं, उन से भोंसलों का मूलतः राजपूत होना निःसंशय रूप से सिद्ध हो गया है। सात पीढ़ियों तक वे 'राणा' नाम से प्रसिद्ध थे। यह उपाधि १४७१ ई० में भीमसिंह के समय में राजा नाम से बदल दी गई। उस साल से मुधोल के शासकों ने 'राजा घोरपड़े बहादुर' यह विरुद धारण किया और दूसरी शाखा; देवगिरि जागीर के जागीरदार, भोंसले नाम से प्रसिद्ध रहे। भोंसले शब्द ही उन का भास्वत कुल या सूर्यवंशी होना सूचित करता है। दक्षिण में उन्हों ने प्रचण्ड पराक्रम और उग्र वीरता के काम किए थे; इस लिए भी उन को 'भृशबल' व भोंसले कहते थे। पुराणों ने यह सिद्धांत प्रचारित किया कि कलियुग में केवल दो ही वर्ण हैं—एक ब्राह्मण और दूसरा शूद्र; क्योंकि सच्चे क्षत्रिय और वैश्य विलुप्त होगये हैं। इस कारण दक्खन में क्षत्रिय भोंसले ब्राह्मणों की परिभाषा के अनुसार शूद्र हो गये। ब्राह्मणों के इस बद्धमूल विश्वास ने शिवाजी को क्षत्रिय राजा की तरह वैदिक रीति से राज्याभिषेक कराने के अयोग्य ठहरा दिया। यह प्रचलित विश्वास तात्कालिक एक डच-पत्र में प्रकट होता है। उस में लिखा है कि "राज्याभिषेक से ८ दिन पहले २९ मई १६७४ ई० को शिवाजी को क्षत्रिय बनाया गया। उसी दिन वे ब्राह्मणों के समान हो गये; क्योंकि अन्य ब्राह्मणों के विरोध करने पर भी गागाभट्ट ने उन के सामने वेदमन्त्रों का पाठ किया।" यह स्मरण रखना चाहिए कि १७ वीं सदी के ब्राह्मणों का राजपूतों को क्षत्रिय मानने से इनकार करना उन के वास्तविक ऐतिहासिक पूर्व-पीढ़ी और उच्च-वंश को नहीं बदल सकता। शिवाजी के मूल पुरुष भोंसलों का सम्बन्ध सीसोदिया से है और इस कारण वे राजपूत कुलों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

ऐतिहासिकों की भ्रान्त धारणा

शिवाजी महाराज के पूर्वज किस वंश के थे, इस की खोज में कई ऐतिहासिकों ने मनगढ़न्त कल्पनाओं और कहानियों का सहारा लिया है। इस रोग से मुसलमान, पुर्तगाली डच और अंग्रेज ऐतिहासिकों में से कोई भी अछूता नहीं बचा है। मुग़ल साम्राज्य और बीजापुर की आदिलशाही के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी शिवाजी को नीच वंश का सिद्ध करने में मुस्लिम ऐतिहासिकों ने कुछ उठा नहीं रक्खा है। शिवाजी के महत्त्व को कम करने और उन को एक साधारण किसान का लड़का सिद्ध करने के उद्देश से उन्हों ने निराधार काल्पनिक कहानियाँ गढ़ी हैं। अज्ञानवश कुछ लोगों ने इन निराधार बातों को तथ्य के रूप में मान लिया और अपनी पुस्तकों में भी इसी मत को स्थान दिया। जैसे फादर नवराट (१६७०) ने शिवाजी को एक मुगल लिखा है। इसी तरह Relation ou Journal d'un voyage fait aux Indes Orientales एक फ्रेंच लेखक ने भी महाराज शिवाजी को मुग़ल-सम्राट् का रिश्तेदार बनाया है। गाडी लिखता है कि शिवाजी बसीन शहर के पास के विरार गांव के स्वामी मेनेजेज़ का लड़का है। थेवनो ने भी यह ग़लती की है और वह लिखता है कि शिवाजी बसीन में पैदा हुए थे। भीमसेन ने 'नुशक्-ए-दिलकशा' नामक अपने रोज़नामचे

में शिवाजी के पूर्ववंशजों के विषय में एक कल्पित मत प्रचलित किया है। उस का लिखना है कि राणा भीमसिंह का एक दासी-पुत्र पहले ख़ानदेश आया और वहाँ से बाद को पूना चला गया। इस में जो वंशावलि दी गई है, वह सर्वथा असम्बद्ध है। इस लिए यह विश्वास-योग्य नहीं है। मनूची भी इसी बात पर विश्वास कर के लिखता है कि राणा का एक दासी-पुत्र मेवाड़ से भाग कर बीजापुर के दरबार में आया और उस को दरबार के चौल, खम्भात, बसीन और बम्बई का इलाक़ा जागीर में मिला। ख़ाफ़ीखां और फरिश्ता ने भी इसी मत को स्वीकार किया है। ये चारों ऐतिहासिक मुगल-सम्राटों और मुसलमान शासकों के यहाँ नौकर थे। इस लिए इन लोगों का शाहजी और शिवाजी के पूर्वजों के वृत्तान्त को पक्षपात-रहित हो कर लिखना सम्भव नहीं था। अब यह बात निर्विवाद मान ली गई है कि शिवाजी और उस के पूर्वज सीसोद और चित्तौड़ के शासक विशुद्ध और सर्वोच्च सूर्यवंशी राजपूतों के वंशज थे।

सर यदुनाथ सरकार का भ्रम

राजा जसवंतसिंह ने शिवाजी के साथ पूना में गुप्त सन्धि करते समय उसे राजपूत माना था। यह घटना राज्याभिषेक से नौ साल पहले की है। पर यह आश्चर्य-जनक है कि प्रो० यदुनाथ सरकार ने अपने चरित्र-नायक की महत्ता पर सब से बड़ी चोट लगाई है; क्योंकि उस के बारे में लिखा है कि "शूद्र का लड़का हो कर भी उसने क्षत्रियों के लिए उचित अधिकार और सम्मान की इच्छा की है।" सरकार के मतानुसार भोंसले न तो क्षत्रिय थे और न द्विज, पर एक खेती करने वाले किसान थे। प्रायः सब स्मृतिकार खेतिहरों को वैश्यों के अन्तर्गत मानते हैं और वैश्य द्विजों के अन्तर्गत हैं। इस पर भी सरकार भोंसलों को द्विजों से बाहर रखते हैं। सरकार बाबाजी को चिटनीस और दूसरे लेखकों की बखरों के आधार पर किसान बताते हैं। पर वस्तुतः शिवाजी के पूर्वज सेनापति और दक्खन के राज्यों के सामन्त थे। चिटनीस के बखर में शिवाजी के आदि-पूर्वजों के जो नाम दिये हैं, वे दक्खन के बादशाहों द्वारा दी गई सनदों से पुष्ट होते हैं, इस लिए वे पूर्ण रूप से प्रामाणिक हैं। सरकार एक ओर गागाभट्ट को उस समय का सब से बड़ा धर्मशास्त्री, वाग्मी, चारों वेदों और छओं शास्त्रों का पूर्ण विद्वान् बताते हैं। हिन्दू जाति में गागाभट्ट उस समय का व्यास और ब्रह्मदेव के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु दूसरी ओर यह लिख कर कि, "रुपयों के लोभ में पड़ कर उस समय के व्यास और ब्रह्मदेव ने शिवाजी को क्षत्रिय उद्घोषित कर दिया। यद्यपि वह वस्तुतः क्षत्रिय नहीं था। इस तरह इस ब्रह्मदेव ने अपनी अन्तरात्मा को स्वर्ण के टुकड़ों पर बेच दिया।" इस प्रकार गागाभट्ट पर यह लांछन लगा कर उस को साधारण लोगों की नज़रों में भी सरकार ने गिरा दिया। इस के अतिरिक्त उन का यह भी कहना है कि भोंसले वंश की वंशावली चतुर मंत्री बालाजी आवाजी और दूसरे कर्मचारियों ने जाली बनाई है। पर सरकार का यह आरोप ठीक नहीं है। क्योंकि चिटनीस घराने और बखरों का वंश-वृक्ष अधिकांश में सनदों से प्रमाणित हो चुका है। शिवाजी के चतुर मन्त्रियों की यह जालसाज़ी नहीं है, पर वस्तुतः सरकार की यह चातुरी है कि बिना कोई कारण दिये उन्हों ने वंश-वृक्ष को कल्पित बना दिया है।

साहित्यिक साक्षियाँ

शिवाजी क्षत्रिय कुलोत्पन्न सूर्यवंशी और सीसोदिया वंश के हैं इस बात पर शिव-काल में किसी को सन्देह ही नहीं हुआ था। उस समय या उस के बाद के साहित्य में शिवाजी को सूर्यवंशी क्षत्रिय सब ने स्वीकार किया है। स्थालीपुलाक न्याय से हम कुछ साक्षियां नीचे देते हैं—

१. 'शिवभारत' लिखता है कि मालोजी और शाहजी सूर्यवंश से सम्बन्ध रखते हैं—

तं सूर्यवंशमनघं कथ्यमानं मयादितः।
सर्वेऽप्यवहितात्मनः शृण्ध्वं शृणवतां वराः॥
दक्षिणस्यां दिशि श्रीमान् माल वर्मा नरेश्वरः।
बभूव वंशे सूर्यस्य स्वयं सूर्य इवौ जंसा॥

शि० भा० अ० १.४१-४२

एक जगह अन्यत्र शिवभारत का कर्त्ता लिखता है कि सूर्यवंशी लोग डरे हुए पर अपना पराक्रम नहीं दिखाते, इस कारण शिवाजी ने भागती हुई रुश्तम की सेना को पकड़ा नहीं—

तदनु शिव नृपस्तं प्राप्त भंगं पुरस्तात्
प्रसभमपसरन्तं रुस्तुमं त्रस्तमुच्चैः।
निकटगमपि नैव न्य ग्रहीन्निग्रहा र्हं
न हि विदधति भीरौ शूरतां सूर्यवंश्याः॥

शि०भा०अ०२४.७४

२. 'परनाल पर्वत ग्रहणाख्यान' शिवाजी का सीसोदिया वंश बताता है।

३. शिवाजी के राज्याभिषेक के समय हुई उन के वंश की खोज का परिणाम लिखते हुए 'सभासद' लिखता है—

"गागाभट्ट ने राजा के वंश की खोज कर के कहा कि राजा शुद्ध क्षत्रिय सीसोदिया वंश के उत्तर से दक्षिण में आये एक घराने में है। उत्तर में क्षत्रियों के जिस प्रकार संस्कार होते हैं उसी प्रकार राजा का संस्कार कराओ।"[1]

४. शवाजी के दरबारी, वीर-रस के हिन्दी-कवि भूषण ने शिवाजी को सूर्यकुलवंशोद्भव लिखा है—

सूर सिरोमनि सूरकुल सिव सरजा मकरंद।
भूषन क्यों औरंग जितै कुल मलिच्छ कुल चंद॥ १६३॥

सीता संग सोभित सुलच्छन सहाय जाके भूपर भरत नाम भाई नीति चारु है।
भूषन भनत कुल सूर कुल भूषन हैं दासरथी सब जाके भुज भुव भारु है।
अरि लंक तोर जोर जाके संग बानर हैं सिंधुर हैं बांधे जाके दल को न पारु है।
तेगहि कै भेंटै जौन राकस मरद जाने सरजा सिवाजी राम ही को अवतारु है। १६६

(श्री शिवराज-भूषण)

राजवंश का वर्णन करता हुआ राज-कवि लिखता है—

राजत है दिन राज को वंश अवनि अवतंस।
जा में पुनि पुनि अवतरे कंस मथन-प्रभु-ग्रंस॥ ४॥
महावीर ता वंस मैं भयो एक अवनीस।
लियो विरद "सीसोदिया" दियो ईस को सीस॥ ५॥

---

[1] पृष्ठ ८२।

ता कुल मैं नृप वृंद सब उपजे बखत बुलंद ।
भूमिपाल तिन मैं भयो बड़ो "भाल मकरंद" ॥ ६ ॥
(श्री शिवराज-भूषण)

५. शाहजी ने ६–७–१६५७ ई० को कर्णाटक से बीजापुर के सुलतान अली आदिलशाह के नाम एक पत्र लिखा था, जिस में उस के व्यवहार की शिकायत करते हुए उसे निम्न शब्दों में चेतावनी दी थी—"मैं सुलतान को स्मरण कराना चाहता हूँ कि मैं राजपूत हूँ। आज तक मैंने चार बादशाहों की नौकरी की है, पर कहीं भी बेइज्ज़ती और गैर मेहरबानगी की नौकरी नहीं की है।"

६ स्कॉट की हिस्ट्री ऑफ डक्कन के बुन्देला प्रकरण पृ० ४ में शिवाजी को सीसोदिया राजपूत लिखा हुआ है।

७. ख़फ़ी ख़ाँ ने लिखा है कि शिवाजी चित्तौड़ के राणा के वंशज हैं।

८. रामचन्द्र पंत आमात्य को, जो शिवाजी, सम्भाजी और राजाराम के समयों में मन्त्री-पद पर काम करता रहा, शिवाजी के विपय में पूर्ण ज्ञान था। वह अपने एक राजकीय आदेश में शिवाजी को 'क्षत्रिय-कुलावतंस' लिखता है।

९. शिवाजो के पिता शाहजी के दरबार के राज-कवि 'जयराम' ने अपने 'राधा-माधव-विलास चम्पू' नामक ग्रन्थ में, जो उस ने १६५४–५८ ई० में लिखा था, शाहजी को सूर्यवंशी और सीसोदिया राजपूतों का वंशज बताया है:—

सुनियतु करन बलि भोज वो करन—
साहे सम साता को मनता कोहि करतु है।
शील औ सुकृत वंस उन में न एको अंस—
सिसोदिया अवतंस सहजुधरतु है ॥४७॥

महीच्या महेंद्रा मधे मुख्य राणा।
व (द) ली पास त्याचें कुलीं जन्म जाणा ॥
त्याचे कुळीं 'भाल' भूपाल झाला।
जयानें जलें शंभु संपूर्ण केला ॥ ८५ ॥

इंद भयो सब हींदुन को अरु आयु खमान यो छत्र कियो है।
ज्यो हि गोवर्धन कृष्ण धर्‍यो तर गोकुल व लोक जियो है ॥
साहे खुमान को दान कहा विधि कैसैं कयो निधि मोल लियो है।
कारनिया को कह्यो करतार नें सीसोदियें कुल सीसोदियो है ॥ १०४ ॥

पुच्छत भादकुं आवेर के नर दान लयो गुन कौन किये ते।
भाट कहे नृप साह दियो रे सिसोदियो देत असीस दिये ते ॥१०८॥
शाह महीसुर फौजें चलें महामंडल दान चक्र हले।
गढ़ मढ ढप्प ढब ढुहले बैसे खमठ दिपिट्ठि मले।
रुद्र रूप भूप जस तज सुंचन्नु सु भन्नु किले।
विक्रम कसिवीसे उसीनर सीसोदिये ईस जित्तिलिले ॥ ११५ ॥(२७० पृ०)

१०. प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुत गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपने 'राजपूताना का इतिहास' प्रथम भाग (पृ० ५१४) में लिखा है—"इस पर उस (अजयसिंह) के दोनों पुत्र—सज्जनसिंह और क्षेमसिंह—अप्रसन्न हो कर दक्षिण चले गये। मेवाड़ की ख्यातों के कथनानुसार इसी सज्जनसिंह के वंश में मरहटों का राज्य स्थापित करने वाले प्रसिद्ध शिवाजी उत्पन्न हुए।"

११. उदयपुर राज्य के 'वीर-विनोद' नामक वृहत इतिहास में शिवाजी का महाराणा अजयसिंह के वंश में होना लिखा है। (वीर-विनोद, खंड २। पृ० १५८१-८२) इस पर टिप्पणी करते हुए श्री ओझा ने लिखा है कि--

"शिवाजी और उन के वंशज मेवाड़ के सिसोदिया राजवंश से निकले होने के कारण सितारे के राजा शाहू के कोई संतान न होने से उस ने उदयपुर के महाराणा जगतसिंह (दूसरे) के छोटे भाई नाथजी को सितारे की गद्दी के लिए दत्तक लेना चाहा था।"

१२. २८ नवम्बर १६५९ ई० के एक अँगरेजी पत्र में शिवाजी को "एक महान् राजपूत लिखा है।"[1]

१३. १० दिसम्बर १६५९ ई० के एक अँगरेजी पत्र में लिखा है कि "राजपूत इतर हिन्दुओं से अलग समझे जाते हैं।"[2]

१४. टॉड ने आपने राजस्थान के इतिहास के प्रथम भाग में शिवाजी का वंश-वृक्ष दे कर उन को अजयसिंह व अजयसी के पुत्र सज्जनसिंह का वंशज बताया है[3]।

१५. कास्ट एण्ड ट्राइब्स के लेखक मि० रसल ने (भा० ४०, पृ० २००) लिखा है कि--"मि० एनथोवन ने १८३६ ई० में लिखा है कि पवित्र राजपूत घराने के शिरोमणि उदयपुर के महाराणा ने अपने एक कर्मचारी द्वारा जाँच करा कर स्वीकार किया कि भोंसले और अन्य कुछ घराने राजपूत होने का हक़ रखते हैं।"

१६. वंश की जांच का परिणाम दो पत्रों में मि० डोंगरे कृत 'सिद्धान्त विजय' में प्रकाशित हुआ था। एक पत्र महाराणा उदयपुर का और दूसरा उन के राजगुरु अमरेश्वर के पुरोहित का, सतारा के महाराजा श्री प्रतापसिंह के नाम लिखा हुआ है। उन में लिखा है कि--"आप हमारे निकट के सम्बन्धी हैं। उस बात के लिए कोई भेद-भाव नहीं है। हम इस बात को सदा अपने हृदय में स्थान देंगे। मूलतः हम दोनों एक हैं।"

१७. कर्नल जी० बी० भालसन (१८७५) ने अपनी पुस्तक हिस्टॉरिकल स्केचेज़ ऑफ दि नेटिव स्टेट्स (पृ० २५४-२५५) में लिखा है—"मराठा अनुश्रुति के अनुसार शिवाजी उदयपुर के उस राजकीय परिवार के वंशज है, जो डुंगरपुर में राज्य करता था। इस राजघराने के राज्याधिकार से वंचित १३ पुत्रों में से एक अपने पैतृक घर को छोड़ कर बीजापुर के दरबार में आया और उस की सेवाओं के बदले उसे दरबार से मुधोल जिले में ८४ गांवों की जागीर और 'राजा' की उपाधि मिली। इस व्यक्ति का नाम सज्जनसी था और इस के चार पुत्र थे, जिन में सब से छोटे पुत्र सूगाजी का शिवाजी को सीधा वंशज बताया जाता है।"

लेखक का Shivaji the Great Vol I. P. 54

---

[1] डॉ० बालकृष्ण—शिवाजी दि ग्रेट, जि० १, पृ० ५४

[2] वहीं, पृ० १५१।

[3] टा० रा० जि० १०, पृ० ३१४।

१८. मि० क्लून्स ने Historical Sketch of the princes of India (पृ० १३०) में लिखा है—

"उनमें से 'सज्जन सी' नाम का एक व्यक्ति दक्खन में आया और बीजापुर राज्य की सेवा में भरती हुआ, जिसने उसे मुधोल जिले के ८४ गाँव और राजा की पदवी दी। सज्जनसी के चार पुत्र थे—बाजीराजे, जिसके घराने में मुधोल की जागीर है, दूसरा निःसन्तान मर गया, बलव्सी से कपिशा के घोरपड़े उत्पन्न हुए हैं। सब से छोटे सूगा जी के भोसा जी नाम का एक लड़का था; जिससे भोंसले शाखा की उत्पत्ति हुई है। इसके दस पुत्र थे, जिनमें से सब से बड़ा पाटूस के समीप देउलगड़ में जाकर बसा, जिस गांव का पटेल भालो जी था। वह अहमदनगर के सुलतान के आधीन कर्तृत्ववान पुरुष था और जिसको सुलतान की ओर से एक जागीर मिली थी, जो उसके बाद उसके पुत्र शाह जी को मिली। बाद में वह बीजापुर के सुलतान के नीचे एक प्रधान मराठा सरदार हुआ। उसने अपनी जागीर में सतारा पूना—जितने का आजकल पूना जिले में समावेश होता है—और सतारा जिले का कुछ भाग मिला लिया। इन्हीं घाटियों में उसके पुत्र शिवाजी ने उसकी स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की कल्पना को पूर्ण किया।"

इस उद्धरण में बहुत सी बातें अशुद्ध हैं, पर मुख्य बात कि शिवाजी राजपूत थे, निर्विवाद और सन्देह-रहित है।

इस में एक बात ध्यान देने की है कि 'शिवभारत' 'परनाल-पर्वत-ग्रहणाख्यान' 'राधामाधव विलास चम्पू' और 'शिवराज-भूषण' शिवाजी के राज्याभिषेक से पहले या कुछ काल बाद उन्हीं के जीवन-काल में ही लिखे जा चुके थे; और वे सब मानते थे कि शिवाजी क्षत्रिय हैं और क्षत्रिय कुलावतंस उदयपुर के सीसोदिया राणा के वंशज हैं। इस कारण यह कथा कि शिवाजी के राज्याभिषेक के समय यह प्रश्न उठा कि शिवाजी क्षत्रिय हैं या नहीं और गागा भट्ट ने उन्हें क्षत्रिय उद्घोषित किया, सर्वथा कल्पित प्रतीत होती है; क्योंकि इस की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। सब जानते थे और मानते थे कि शिवाजी क्षत्रियकुल शिरोमणि सूर्यवंशी हैं। इस में यदि कुछ सच्चाई का अंश है, तो इतना ही है कि दक्खन में ब्राह्मणों के सिवाय और तीनों वर्णों के संस्कार शूद्रों के समान होते थे। इस कारण सम्भव है कि महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों ने यह प्रश्न उठाया हो कि शिवाजी का राज्याभिषेक किस विधि से किया जाय और इस विषय में गागा भट्ट का निर्णय मान कर उन का राज्याभिषेक-संस्कार उत्तर के क्षत्रिय राजाओं के समान किया गया। इस के अतिरिक्त इस प्रचलित कथा में और कुछ सच्चाई नहीं मालूम होती।

प्राप्त वंशावलियाँ

यह ऊपर दिखाया गया है कि शिवाजी सूर्यवंशी राजपूत और महाराणा उदयपुर के वंशज थे। पर शिवाजी और भोंसले वंश को क्षत्रिय मान लेने से ही सारा काम नहीं समाप्त हो जाता। इस के लिए यह भी आवश्यक है कि सज्जनसिंह से ले कर शिवाजी तक का वंश-वृक्ष पेश कर के वंशावलि द्वारा सिद्ध किया जाय कि शिवाजी क्षत्रिय थे। इस समय चार वंशावलियाँ—कोल्हापुर दरबार, टॉड-राजस्थान, चिटनीस की बखर और सतारा म्युज़ियम और तंजौर का शिला-लेख प्राप्त है। इन के अनुसार शिवाजी का वंशवृक्ष आगे दिये वंश-वृक्षों के अनुसार होगा:—

शिवाजी के पूर्वजों का वंश-वृक्ष

कोल्हापुर दरबार	टॉड-राजस्थान	चिटनीस की बखर और सतारा का म्युज़ियम	तंजोर का शिलालेख
१. लक्ष्मणसी १३०३ (मृत्यु)	१. अजयसी	१. लक्ष्मणसिंह	१. येकोजी
२. सज्जनसिंह १३१० में सोडावाडा में आया	२. सज्जनसी	२. सज्जनसिंहजी	२. शरभजी

कोल्हापुर दरबार	टॉड-राजस्थान	चिटनीस की बखर और सतारा का म्युज़ियम	तंजौर का शिलालेख
३. दलीपसिंह	३. दलीपजी	३. दलीपसिंहजी	३. महासेन
४. शिवाजी	४. शीओजी	४. सिंहजी	४. एकशिव
५. भोसाजी	५. भोरजी	५. भोसाजी	५. रामचन्द्र
६. देवराजजी	६. देवराज	६. देवराजजी	६. भीभारी
		१४१५ ई० में दक्षिण में आये	
७. उग्रसेन	७. उगरसेन	७. इन्दुसेनजी	७. एकोजी
८. माहुलजी	८. माहलजी	८. शुभकृष्ण	८. वराह
९. खेलोजी	९. खेलूजी	९. रूपसिंहजी	९. एकोजी
१०. जनकोजी	१०. जनकोजी	१०. भूमीन्दुजी	१०. ब्रह्मजी
११. सम्भाजी	११. सत्तुजी	११. धापाजी	११. शाहजी
१२. बाबाजी	१२. सम्भाजी	१२. बरबटजी	१२. अम्बाजी रेवायु
१३. भालोजी	१३. शिवाजी	१३. खेलकर्ण व खेलोजी	१३. परसोजी
१४. शाहजी		१४. कर्णसिंह व जयकर्ण	१४. बाबाजी रेवायु
१५. शिवाजी		१५. सम्भाजी	१५. भालोजी उभा
		१६. बाबाजी	१६. शाहजी
		१७. भालोजी	१७. एकोजी
		१८. शाहजी	

तंजौर-शिला लेख में दी गई वंशावली सर्वथा अशुद्ध अप्रामाणिक और अनुपयोगी है। कोल्हापुर और चिटनीस के दिये वंश-वृक्ष में लक्ष्मणसिंह के पुत्र सज्जनसिंह के पिता अजयसिंह व अजयसी का उल्लेख नहीं है। चौथी पीढ़ी में इन में क्रमशः शिवाजी और सिंहजी लिखा है जो दोनों अशुद्ध हैं। सनदों में इस को सिधोजी लिखा है। ७वीं पीढ़ी में चिटनीस ने उग्रसेन के स्थान पर इन्दुसेन लिखा है। हस्त लिखित मुधोलबखर (पृ० ८८) में लिखा है कि इन्द्रसेन शत्रु के हृदय में अपना भय और आतंक बिठाने से उग्रसेन के नाम से प्रसिद्ध था। वह उग्रसिंह के नाम से भी मशहूर था, पर हमने उग्रसेन को स्वीकार किया है क्योंकि सनदों में उसका यही नाम मिलता है। ८वीं पीढ़ी का नाम चारों वंश-वृक्षों में भिन्न भिन्न है। पर अन्तिम तीन नाम बाबाजी, भालोजी और शाहजी पांचों वंशावलियों में एक ही हैं। शिवाजी के इन तीन पूर्वजों के नाम बहुत से हस्तलिखित पत्रों में मिलते हैं। बीच के नाम उस समय तक सन्देहास्पद रहेंगे, जब तक कि कोई सनद या पत्र न मिले। अब तक ज्ञात शुद्ध वंशावली नीचे दी जाती है —

ये अग्राह्य हैं

शिवाजी के पूर्वजों की शुद्ध वंशावली

सनदों के आधार पर	१. लक्ष्मणसिंह
	२. अजयसिंह
	३. सज्जनसिंह--१३२० ई० के लगभग दक्षिण के लिए प्रस्थान किया।
	४. दलीपसिंह
	५. सिधोजी
	६. भैरोंजी व भोसाजी
	७. देवराजजी
	८. उग्रसेन
	९. शुभकृष्ण
पुस्तकों के आधार पर	१०. रूपसिंह
	११. भूमेन्दुजी
	१२. धोपाजी
	१३. बारहटजी
	१४. खेलोजी
	१५. परसोजी
पत्रों के आधार पर	१६. बाबाजी
	१७. मालोजी
	१८. शाहजी
	१९. शिवाजी

शिवाजी के पूर्वज

शिवाजी का आदिपुरुष उपर्युक्त वंशावलियों में सज्जनसिंह दिखाया गया है, और वस्तुतः वही था भी। यह अजयसिंह व अजयसी का ज्येष्ठ पुत्र था। इस के पूर्वज चित्तौड़ और सीसोद के शासक थे। इसे निम्न वंश-वृक्ष में दिखाया गया है—

सज्जनसिंह के पूर्वजों का वंशवृक्ष १

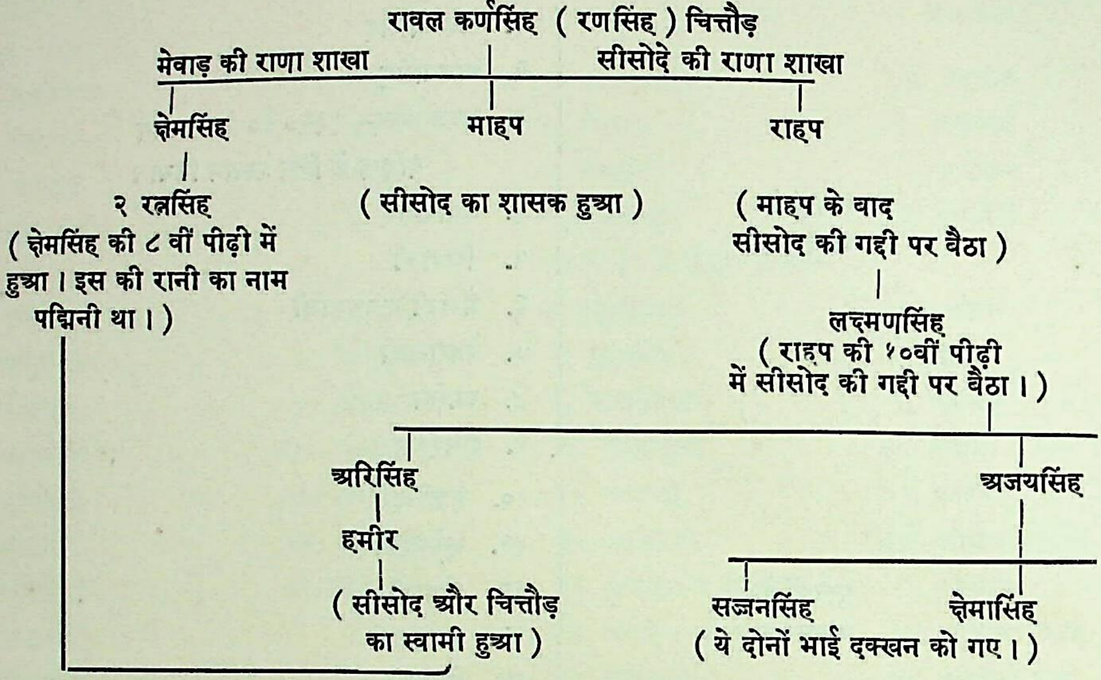
रावल कर्णसिंह (रणसिंह) चित्तौड़
मेवाड़ की राणा शाखा
सीसोदे की राणा शाखा
क्षेमसिंह
माहप
राहप
२ रत्नसिंह
(क्षेमसिंह की ८ वीं पीढ़ी में हुआ। इस की रानी का नाम पद्मिनी था।)
(सीसोद का शासक हुआ)
(माहप के बाद सीसोद की गद्दी पर बैठा)
लक्ष्मणसिंह
(राहप की १०वीं पीढ़ी में सीसोद की गद्दी पर बैठा।)
अरिसिंह
अजयसिंह
हमीर
(सीसोद और चित्तौड़ का स्वामी हुआ)
सज्जनसिंह
क्षेमसिंह
(ये दोनों भाई दक्खन को गए।)

उक्त दो पीढ़ियाँ सज्जनसिंह और उसके पिता का नाम नवम्बर १३५२ में सज्जनसिंह के पुत्र राणा दिलीपसिंह को मिले हुए फ़र्मान से पुष्ट होते हैं और यह भी पता लगता है कि देवगिरि या दौलताबाद के प्रान्त में उन को दस गाँव इनाम में दिये गये थे। दिलीपसिंह के पुत्र राणा सिधोजी ने गुलबर्गा के बहमनी बादशाहों को बहुत सहायता दी और इस के बदले में उसे 'मीर नौबत' की उपाधि दी गई, ऐसा फ़रिश्ता का कथन है। सिधोजी के पुत्र भैरोंजी ने भी बादशाह की सेवा में कुछ कसर बाक़ी न रक्खी। इसलिए इस राणा को १३९८ ई० में मुधोल का नगर और उसके पास के ८४ गाँव इनाम में दिये गये। यह फ़ीरोजशाह की दी हुई सनद से पता लगता है। उसके पुत्र देवराज ने १६ वर्ष तक बादशाह की सेवा की। फिर उसके पुत्र उग्रसेन ने अलाउद्दीन अहमदशाह बहमनी की जान बचाई। इस असाधारण सेवा के बदले में उसे १४२४ ई० में फ़र्मान दिया गया; जिसमें चार पीढ़ियों के नाम स्पष्ट रूप से दिये गये हैं। वे ये हैं—

राणा सिधोजी, भैरोंसिंह जी, राजसिंह देवराणा और उसका पुत्र राणा उग्रसेन। राणा उग्रसेन का नाम इन्दुसेन भी प्रसिद्ध है। यह अपने भाई प्रतापसिंह के साथ कोंकणपट्टी को जीतने में लगा रहा। एक बार वह विशालगढ़ या खेलना के शिर्के सरदारों के हाथ में पड़ गया। परन्तु कुछ मुद्दत बाद उस के बहादुर पुत्रों ने उसे छुड़ा लिया। सनदों से ऐसा प्रतीत होता है कि १४५४ ई० तक इन सीसोदिया भोंसलों को देवगिरि, मुधोल, रायबाग और वाँईं जैसे दूरस्थ इलाक़ों में जागीरें मिली हुई थीं। उग्रसिंह की मृत्यु के पश्चात् उस के दो पुत्रों कर्णसिंह और शुभकृष्ण में परस्पर वैमनस्य हो गया। इस पर छोटा भाई शुभकृष्ण अपने चाचा प्रतापसिंह के साथ देवगिरि की जागीर पर १४६० ई० के करीब चला गया और इस तरह इन दो भाइयों के अलग अलग होने पर भोंसलों की दो शाखाएँ

---

१ विशेष के लिए देखिए श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा का राजपूताने का इतिहास भाग १. पृ० ५२२

हो गई। बड़ी शाखा मुधोल में राज्य करती रही और उस के सम्बन्ध में बहुत से फ़र्मान राजा साहब मुधोल के पास मौजूद हैं।

दूसरी शाखा देवगिरि की जागीर पर कुछ काल तक सन्तुष्ट रही। परन्तु उन्हें भी निज़ामशाही के बादशाहों ने अपना सरदार बनाया और पूना के आस-पास की जागीर उन्हें इनाम में दी। बावाजी, मालोजी और शाहजी के सम्बन्ध में बहुत से हस्तलिखित पत्र मिलते हैं; जिन से पता लगता है कि उन्हों ने बहुत बहादुरी के काम कर के यश प्राप्त किया।

इस बात को सिद्ध करने के लिए कि देवगिरि की शाखा मुधोल के राजाओं के साथ सम्बन्ध रखती थी, दो सनदें मौजूद हैं। एक १४९४ ई० में कर्णसिंह और रामकृष्ण नामक दोनों भाइयों को वाई में जागीर दी गई। इस में से कुछ हिस्सा शाहजी ने घोरपड़ों से वापिस लिया। इस बात को बताने के लिए १६४६ई० की एक सनद मौजूद है; जिस में दोनों शाखाओं का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट तौर पर बताया गया है[1]। इस की पुष्टि उस पत्र से भी होती है जो शिवाजी ने बाजीराजे के पुत्र मालोजी घोरपड़े को लिखा था[2]।

इस तरह बीच के थोड़े से नामों को छोड़ कर पहले और पिछले वंशजों के नाम सनदों, हस्तलिखित पत्रों आदि से पुष्ट होते हैं। उन साक्षियों से सिद्ध होता है कि शिवाजी के पूर्वज सूर्य-वंशकुलोत्पन्न थे और सीसोद और चित्तौड़ के राणाओं के वंशज थे।

सिंहावलोकन

संक्षेप में कहा जा सकता है कि तत्कालीन सनदों और अन्य बातों के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि सतारा और कोल्हापुर के शासक और उन के रिश्तेदार मुधोल कापशी आदि घोरपड़े शासक सूर्यवंश से सम्बन्ध रखते हैं और चित्तौड़ और उदयपुर के राणा के वंशज हैं। इस लिए न्याय-पूर्वक वे अपना सम्बन्ध ऐतिहासिक महाकाव्य काल के श्री रामचन्द्र से जोड़ सकते हैं। महाराष्ट्र साम्राज्य के संस्थापक शिवाजी, शिवराम, शिवराज व शिव छत्रपति की नसों में राजपूतों का विशुद्ध रक्त प्रवाहित हो रहा था। उन के पूर्वज शूद्र किसान न थे; दक्खिनी सुलतानों के नीचे १३५०ई० से एक विशाल प्रदेश के शासक थे। इस के अतिरिक्त माता की ओर से देवगिरि के यादवों के वंशज होने का वे गौरव कर सकते थे। बहुत से लोगों ने शिवाजी को तुच्छ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है; क्योंकि उन्हों ने स्थापित मुसल्मानी राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। सब से अधिक शक्तिशाली प्रतापी मुग़ल-सम्राट् औरंगजेब को नीचा दिखाया, ७०० वर्षों के राष्ट्रीय पतन का प्रतीकार किया, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू-धर्म की महिमा और गौरव को फिर से स्थापित किया और मुग़ल-साम्राज्य और दक्खन के सुलतानी राज्यों के भग्नावशेषों पर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया।

---

[1] शिवाजी दि ग्रेट, जि० १, पृ० २०० ।

[2] वहीं, जि० २, पृष्ठ २८१

राजपूताने में प्राचीन शोध

दीवानबहादुर हरबिलास सारदा, अजमेर

भारतवर्ष के इतिहास में सदा से राजपूताने का महत्व-पूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन काल में ही नहीं, किन्तु मुसलमानों के समय में भी इस प्रान्त के निवासी उन से लड़ने अथवा उन के सहायक होने के कारण बहुत प्रसिद्ध हुए। इस देश में अनेक वीर, विद्वान् एवं कुलाभिमानी राजा, सरदार आदि हुए, जिन्हों ने अनेक युद्धों में अपने प्राणों की आहुति दे कर अपनी कीर्ति को अमर किया। क्षत्रिय जाति सदा से वीरता के लिए प्रसिद्ध रही है। चित्तौड़, कुंभलगढ़, मांडलगड़, अचलगढ़, रणथंभोर, गागरौन, भटनेर (हनुमानगढ़), बयाना, तहनगढ़, मंडोर, जोधपुर, जालोर, आम्बेर आदि क़िलों तथा अनेक प्रसिद्ध रण-खेतों में कई बड़े-बड़े युद्ध हुए, जहाँ अनेक वीर क्षत्रियों ने वहाँ की मिट्टी का एक एक कण अपने रक्त से तर किया। कई स्थानों में वीर क्षत्राणियों तथा क्षत्रिय बालाओं ने अपने धर्म तथा सतीत्त्व की रक्षा के लिए वीरता के साथ जौहर की धधकती हुई आग में कूद कर अपने प्राण दिये। इतना ही नहीं, किन्तु कई जगह उन्हों ने तलवार चमका कर लड़ाइयाँ भी लड़ी थीं। राजपूताने में ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से भ्रमण करने वालों को स्थान-स्थान पर ऐसे स्मारक मिलेंगे, जिन्हें देखने से मालूम होगा कि वहाँ अनेक वीर पुरुषों ने शत्रुओं से लड़ कर अपने प्राण दिये थे। कर्नल जेम्स टॉड ने राजपूताने के ऐसे अनेक स्थल देख कर यही लिखा है—

"राजस्थान में कोई छोटा-सा राज्य भी ऐसा नहीं है, जिस में थर्मोपली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले, जहाँ लियोनिडास जैसा वीरपुरुष उत्पन्न न हुआ हो।"

इस वीरभूमिके भिन्न-भिन्न भागों में समय-समय पर अनेक राजवंशों ने अपना अधिकार जमाया, अनेक बाहरी आक्रमणों से—विशेषतः मुसलमानों की चढ़ाइयों तथा उन के साथ की लड़ाइयों के कारण यहाँ के प्राचीन इतिहास के साधन नष्ट हो गये। अपनी प्राचीन पुस्तकें नष्ट हो जाने के कारण भाटों ने कई पुस्तकें लिख डालीं, जिन में उन्हों ने इस देश पर राज्य करने वाले वर्तमान राज-वंशों के पिछले नाम, जो उन्हें मिल सके, दर्ज किये और पुराने नामों में से जिन-जिन प्रसिद्ध राजाओं के नाम परम्परा से सुनने में आते थे, वे ही लिखे। अपनी पुस्तकों को पुरानी बतलाने के लिए उन्हों ने अनेक कल्पित नाम और झूठे संवत् लिखे। जिन प्राचीन वंशों ने यहाँ राज्य किया, उन में से कई एक के नाम तक उन को मालूम न हो सके। उन की पुस्तकें, जो बहुत अशुद्ध लिखी जाती हैं और जिन में उन को दिये हुए इनाम-इकराम का हाल अतिशयोक्ति के साथ लिखा रहता है, इतिहास की पुस्तकें समझी जाने लगीं। उन्हें भी वे किसी को बतलाने में, अपनी जीविका के चले जाने के विचार से, बहुधा संकोच करते रहे। ऐसी स्थिति में राजपूताने का प्राचीन इतिहास अंधकार में ही पड़ा रहा और जिन प्रसिद्ध राजाओं के नाम जन-श्रुति से सुनने में आते थे, वे कब हुए और उन्हों ने अपने जीवनकाल में क्या-क्या किया, यह सब प्रायः अज्ञात ही रहा।

भारत में अङ्गरेज़ी राज्य की स्थापना के पश्चात् विद्या का फिर प्रचार बढ़ा और पश्चिमी शैली पर अङ्गरेज़ी के साथ संस्कृत तथा अन्य भाषाओं की पढ़ाई आरंभ हुई। अपने विद्या-प्रेम के कारण कई अङ्गरेज़ विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन प्रारंभ किया और सर विलियम जोन्स ने महाकवि कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक का अङ्गरेज़ी

अनुवाद प्रकाशित किया, जिसे देख कर पाश्चात्य विद्वान् चकित हो गये और शेक्सपियर की तरह कालिदास का आदर करने लगे।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य की महत्ता का परिचय संसार के विद्वानों को होने लगा। शनैः-शनैः यूरोप में संस्कृत का पठन-पाठन आरंभ हुआ। ई० सन् १७८४ में सर विलियम जोन्स के प्रयत्न से एशिया के इतिहास, शिल्प, साहित्य आदि के शोध के लिए कलकत्ते में एशियाटिक-सोसाइटी-ऑव्-बंगाल नाम की संस्था स्थापित हुई और ई० सन् १७८८ में उक्त संस्था के द्वारा 'एशियाटिक रिसर्चेज़' नामक प्राचीन शोध सम्बन्धी पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ। यूरोप के सब देशों में उस की ख्याति फैली और उस का फ्रेंच अनुवाद भी होने लगा। उक्त पत्रिका की २० जिल्दें छपने के पश्चात् ई० सन् १८३२ से उसी संस्था-द्वारा उस के स्थान में 'जर्नल-ऑव्-दी-एशियाटिक-सोसाइटी ऑव् बंगाल' नाम का त्रैमासिक पत्र प्रकाशित होने लगा। यूरोप में भी इस विषय की बहुत-कुछ चर्चा आरंभ हुई और ई० सन् १८२३ के मार्च से लंदन में भी उसी उद्देश्य से 'रॉयल-एशियाटिक-सोसाइटी' की स्थापना हुई और उस की शाखाएँ बम्बई और सिलोन (लंका) में भी खुलीं। इसी तरह समय-समय पर फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि यूरोपीय देशों में तथा अमेरिका एवं जापान में भी एशिया सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों के शोध के लिए संस्थाएँ स्थापित हुईं। उन के मुख-पत्रों में भारतीय पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयों पर अनेक लेख प्रकट हुए और अब तक हो रहे हैं। ई० सन् १८४४ में 'रॉयल-एशियाटिक-सोसाइटी' ने भारत सरकार द्वारा इस कार्य का होना आवश्यक समझ कर ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी से निवेदन किया और ई० सन् १८४७ में लॉर्ड हार्डिंज के प्रस्ताव पर 'बोर्ड ऑव् डाइरेक्टर्स' ने इस काम के लिए ख़र्च की मंज़ूरी दी। ई० स० १८६१ में युक्त-प्रान्त के मुख्य इंजीनियर कर्नल ए० कनिंगहम ने इस विषय की योजना तैयार कर लॉर्ड केनिङ्ग की सेवा में पेश की, जो स्वीकृत हुई और सरकार की ओर से प्राचीन शोध के निमित्त 'आर्कियॉ-लॉजिकल-सर्वे (पुरातत्त्व-विभाग) नाम का महकमा क़ायम हुआ। फिर जनरल कनिंगहम ने उत्तरी भारत में और डॉ० जेम्स बर्जेस ने पश्चिमी और दक्षिणी भारत में प्राचीन शोध का कार्य प्रारंभ किया। ई० सन् १८७२ में इसी उद्देश्य से 'इंडियन्-एंटिक्वेरी' नामक मासिक-पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। वह अब तक बराबर निकल रहा था। ई० स० १८८८ से आर्कियॉ-लॉजिकल सर्वे की ओर से एपिग्राफ़िया-इंडिका नाम की त्रैमासिक पत्रिका निकलने लगी, जिस की अब तक २० जिल्दें छप चुकी हैं। भारत के इतिहास के लिए उस का बहुत महत्त्व है। इस प्रकार अनेक विद्वानों के श्रम तथा सरकार के प्रयत्न से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की बहुत-कुछ सामग्री उपलब्ध हुई है, जिस से राजपूताने के इतिहास के भिन्न-भिन्न भागों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। निम्न पंक्तियों में हम राजपूताने के इतिहास के अनेक अंगों की पूर्ति के लिए यत्न करने वाले विद्वानों का कुछ परिचय देते हैं।

महाराणा कुंभा

मेवाड़ के सुप्रसिद्ध एवं प्रतापी महाराणा कुंभा बड़े वीर, विद्वान्, शिल्प और संगीत के अद्वितीय ज्ञाता तथा अनेक ग्रन्थों के प्रणेता थे। अपने वंश के इतिहास की तरफ़ उन की विशेष रुचि थी; परंतु उस समय उन के पूर्वजों की शुद्ध नामावली तथा उन का चरित्र तक उपलब्ध नहीं था, जिस से उक्त महाराणा ने अपने राज्य में मिलने वाले अनेक प्राचीन शिलालेखों का संग्रह करवाया और उन के आधार पर अपनी वंशावली ठीक की; इतना ही नहीं, किन्तु यथासाध्य उन का वृत्तान्त भी एकत्र किया। उन्होंने एकलिंग-महात्म्य का 'राजवर्णन' नाम का अध्याय स्वयं संग्रह किया और वह भी अपनी कल्पना के अनुसार नहीं, किन्तु अनेक प्राचीन शिलालेखों के आधार पर। उन्हीं के समय की

कुंभलगढ़ की बड़ी प्रशस्ति की तीसरी शिला के आरंभ में जन-श्रुति के आधार पर उन के पूर्वजों का वर्णन है, फिर 'राज-वर्णन' प्राचीन प्रशस्तियों के आधार पर लिखा गया है। इस 'राजवर्णन' का अधिकांश नष्ट हो गया है थोड़ा-सा अंश बचने पाया है; परंतु उक्त महाराणा के एकलिंग-महात्म्य के 'राजवर्णन' नामक अध्याय से नष्ट हुए सारे अंश की पूर्ति हो जाती है। इस प्रकार महाराणा कुंभा को राजपूताने का सर्व-प्रथम प्राचीन शोधक कहना चाहिए।

कर्नल जेम्स टॉड
(ई० सन् १७८२—१८३५)

कर्नल टॉड ई० सन् १७९९ के मार्च मास में भारत में आये। उस समय उन की आयु १७ वर्ष की थी। ई० सन् १८०० में वे १४ नंबर की देशी पैदल सेना में लेफ्टनेंट के पद पर नियत हुए। इंजीनियरी के काम में कुशल होने के कारण दूसरे ही वर्ष दिल्ली के पास की पुरानी नहर की पैमाइश का काम उन के सुपुर्द हुआ। चार वर्ष के अनंतर वे दौलतराव सिन्धिया के दरबार के सरकारी राजदूत और रेज़िडेंट मि० ग्रीम मर्सर के साथ रहने वाली सरकारी सेना की टुकड़ी के अध्यक्ष नियत हुए। उस समय सिंधिया का मुक़ाम मेवाड़ में होने से उन्हें आगरे से उदयपुर पहुँचना था। मार्ग में ही टॉड ने पैमाइश शुरू कर दी और कुछ लोगों को उस का काम सिखला कर जहाँ वे स्वयं न जा सके वहाँ अपने ही ख़र्च से उन्हें भेज कर नक़शे तैयार करवाए और उन की जाँच कर सब से पहले राजपूताने का नक़शा उन्हों ने ही तैयार किया। ई० सन् १८१८ में गवर्नमेण्ट ने राजपूताने के राजाओं से सन्धि आरंभ की और कर्नल टॉड उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूँदी, सिरोही और जैसलमेर राज्यों के पोलिटिकल-एजंट नियुक्त हुए और १८२२ की जून तक वे इस पद पर बने रहे। फिर वे स्वदेश को चले गये।

वीर जातियों के इतिहास से उन्हें बड़ा प्रेम था, इस लिए उन्हों ने राजपूतों के इतिहास की सामग्री का संग्रह करना प्रारंभ किया और उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूँदी तथा सिरोही राज्यों में भ्रमण कर वहाँ के अनेक शिला-लेख, दान-पत्र; सिक्कों आदि का बड़ा संग्रह कर लिया। जिन राज्यों में वे न जा सके, वहाँ का इतिहास उन्हों ने उन राज्यों से—अथवा अन्य प्रकार से—प्राप्त किया। स्वदेश जाते समय वे उदयपुर से गोगूंदा, बीजापुर आदि स्थानों में होते हुए सिरोही और वहाँ से आबू पहुँचे। तत्पश्चात् परमारों की प्रसिद्ध राजधानी चंद्रावती के प्राचीन खँडहरों का निरीक्षण कर गुजरात होते हुए वे खंभात से काठियावाड़ और कच्छ को पहुँचे। वहाँ से जल-मार्ग द्वारा बम्बई पहुँच कर इंगलैंड को प्रस्थान किया। राजपूताने में रहते समय उन के साथ रहने वाले सरकारी सिपाहियों के अफ़सर कप्तान वाघ (Waugh) चित्रकला में बड़े निपुण थे। कर्नल टॉड जहाँ-जहाँ जाते, वहाँ वे उन के साथ रहते और प्राचीन मंदिरों मूर्तियों आदि के चित्र उन के लिए तैयार करते। इसी तरह जब से वे आये, तब से उन के प्रस्थान के समय तक यति ज्ञानचंद्र बराबर उन के साथ रहे। उन को टॉड अपना गुरु मानते थे और वही उन्हें पृथ्वीराज रासो आदि भाषा-काव्यों का अर्थ सुनाते और शिला लेख आदि पढ़ते थे। कर्नल टॉड राजपूताने से संस्कृत और भाषा के अनेक ग्रन्थ, २० हज़ार प्राचीन सिक्के, कई शिलालेख तथा अन्य सामग्री अपने साथ विलायत ले गये। लंदन पहुँचने के बाद उन्हों ने राजपूताने का कीर्तिस्तम्भ रूप ऐनल्स-ऐंड-ऐंटिक्विटीज़ ऑव् राजस्थान, नाम का एक बृहद् ग्रन्थ लिख कर ई० स० १८२९ में उस की पहली जिल्द और १८३२ में दूसरी जिल्द प्रकाशित की, जिस से पहले पहल यूरोप वालों को राजपूतों की वीरता, उदारता आदि गुणों का परिचय हुआ। उस के पश्चात् उन्हों ने उदयपुर से प्रस्थान कर बंबई तक की अपनी यात्रा का वर्णन "ट्रेवल्स-इन-वेस्टर्न-इंडिया" नाम के एक बृहद् ग्रन्थ में लिखा, जो उन की मृत्यु के पीछे ई० सन् १८३९ में प्रकाशित हुआ।

आधुनिक काल के राजपूताने के प्राचीन शोधकों में कर्नल टॉड सब से पहले थे। उन्हों ने सैकड़ों शिलालेखों, अनेक ग्रन्थों, ख्यातों तथा फ़रिश्ता आदि की फ़ारसी तवारीखों के आधार पर राजपूताने का जो इतिहास लिखा, वह पहला एवं असाधारण ग्रन्थ है। उन के समय में राजपूताने में रेल, तार, डाक, सड़कें आदि न थीं ऐसी दशा में उन्हों ने घोड़ों, हाथियों, ऊँटों आदि पर हज़ारों मील की यात्रा कर जो कार्य किया, वह उन की असाधारण गवेषणा, अथाह परिश्रम और कुशाग्र बुद्धि का परिचय देता है। राजपूताने की प्राचीन शोध-सम्बन्धी जो बातें इस समय ज्ञात हुई हैं वे बहुधा उस समय अज्ञात थीं और अधिक प्राचीन लेख पढ़ने के साधन न थे, जिस से उन के ग्रन्थों में कहीं कहीं परिवर्तन करने की अब आवश्यकता हुईहै, तो भी उस समय के उन के अगाध परिश्रम और गवेषणा को देखते हुए राजपूताने के इतिहास से प्रेम रखने वाला कोई भी विद्वान् उन की सराहना किये बिना नहीं रह सकता।

यति ज्ञानचंद्र

ज्ञानचन्द्र जयपुर के खरतरगच्छ के यति अमरचंद के शिष्य थे। भाषा-कविता के अच्छे ज्ञाता होने के अतिरिक्त उन्हें संस्कृत का भी ज्ञान था, इस कारण कर्नल टॉड उन को अपना गुरु मान कर सदा अपने साथ रखते टॉड के राजस्थान तथा ट्रैवल्स इन वेस्टर्न इंडिया में जितने शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों का उल्लेख मिलता, वे सब उन्हों ने ही पढ़े थे। वे ई० सन् की १० वीं शताब्दी के आस-पास के शिला-लेखों को पढ़ लेते थे, परन्तु प्राचीन शिलालेख उन से ठीक नहीं पढ़े जाते थे। संस्कृत का ज्ञान भी साधारण होने के कारण कहीं कहीं उनमें त्रुटियाँ रहगईं, जो टॉड के ग्रन्थों में ज्यों की त्यों पाई जाती हैं। कर्नल टॉडने महाराणा भीमसिंह से सिफारिश कर उन को बहुत-सी ज़मीन दिलाई। उन का उपासरा मांडल नामक क़स्बे में है, जहाँ ठॉड के समय की कई एक पुस्तकों, चित्रों तथा शिला-लेखों की नकलें विद्यमान हैं।

अलेग्ज़ेंडर किंलोक फ़ॉर्ब्स
(ई० सन् १८२१--१८६४)

जिस प्रकार कर्नल टाड ने राजपूताने के इतिहास के लिए प्रशंसनीय प्रयत्न किया, उसी तरह किंलोक फॉर्ब्स ने गुजरात के इतिहास का उद्धार किया। पाटन आदि स्थानों में गुजरात से संबंध रखने वाले कई प्राचीन, संस्कृत ग्रन्थ मिल जाने से इन्हों ने बड़ी खोज के साथ रासमाला नामक गुजरात का बृहद् इतिहास लिखा। उस के सम्बन्ध में उन्हों ने आबू की यात्रा की और वहाँ के कई शिला-लेखों की नकलें कीं और देलवाड़े के दोनों जैन-मन्दिरों की कारीगरी की उत्तमता के विषय में बहुत-कुछ लिखा है।

अलग्ज़ेंडर कनिंगहम
(ई० सन् १८१४--१८८३)

अलेग्ज़ेंडर कनिंगहम इंजीनियर थे और कई लड़ाइयों में रहे थे। ई० सन् १९६१ में भारत-सरकार ने आर्कियॉलॉजिकल डिपार्टमेंट स्थापित कर उन्हें उस का अध्यक्ष नियत किया। उन्हों ने चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरणों को मूल अधार मान कर सारे उत्तर-भारत में प्राचीन शोध का काम किया। राजपूताने में वैराट्, आंबेर, जयपुर, अजमेर, चंद्रावती (झालरापाटन), कोलवी की गुफाएँ (झालावाड़ राज्य), कोटा, भरतपुर, कामा, बयाना, विजयमन्दिरगढ़, तहनगढ़, खानवा, तिजारा, बहादुरपुर, अलवर, राजगढ़, पारानगर आदि स्थानों का निरीक्षण कर वहाँ के शिलालेख, शिल्प आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला। उन के समय तक अशोक के जितने शिला-लेख ज्ञात हुए, उन की उन्हों ने एक पुस्तक प्रकाशित की, जिस में वैराट (जयपुर राज्य) का लेख और भाभ्रू वाला अशोक का संघ के नाम का पत्र भी प्रकाशित हुआ है। इन्हों ने पुरातत्व सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे और भारतवर्ष के प्राचीन भूगोल के सम्बन्ध

में एंश्यंट जिऑग्रफ़ी ऑव इंडिया नाम की बृहद् पुस्तक लिखी, हज़ारों सिक्के एकत्र किये और उन पर चार ग्रन्थ लिखे। महाराणा कुम्भा के चतुरस्र बड़े सिक्के को पहले पहल उन्हों ने ही प्रकाशित किया। उन के सिक्कों के ग्रन्थों में राजपूताना से सम्बन्ध रखने वाले भी कई सिक्के छपे हैं। उन की रिपोर्टों की २३ जिल्दें तथा अन्य ग्रन्थ राजपूताने के लिए ही नहीं, किन्तु सारे भारतवर्ष के प्राचीन शोध के लिए बड़े महत्त्व के हैं। उन के अगाध परिश्रम और अध्यवसाय का परिचय उन के ग्रन्थों से ही अनुमान किया जा सकता है। सरकार ने आप को सी. ऐ. इ, के सी. ऐ. इ. की उपाधियाँ दीं थीं।

ए० सी० एल० कार्लाइल

मि० कार्लाइल जनरल कनिंगहम के असिस्टेंट थे। उन्हों ने राजपूताने में खेड़ा, रूवास, बयाना, विजयमंदिर-गढ़, माचेड़ी, वैराट, धौसा, नांई, चाट्सू, शिवडूंगर, टोड़ा, बघेरा, वीसलपुर, कर्कोटकनगर (जयपुर राज्य), नगरी (मध्यमिका, उदयपुर राज्य), मोरा, बिजोल्यों आदि स्थानों में भ्रमण कर वहाँ का विवरण लिखने के अतिरिक्त कई शिला-लेखों का पता लगाया और बहुत से सिक्के संग्रह किये। कर्कोटकनगर से मिलने वाले मालवों तथा शिवि जनपद की मध्यमिका (नगरी मेवाड़) के सिक्के और मेवाड़ के प्रथम राजा गुहिल के सिक्के सब से पहले उन्हीं को मिले थे। ई० सन् १८७१ से १८८० तक की जनरल कनिंगहम की आर्कियॉलॉजिकल सर्वे की रिपोर्टों में कई जगह इन के राजपूताना-सम्बन्धी अनुसंधानों का विवरण मिलता है।

एच० बी० डब्ल्यू गैरिक

मि० गैरिक भी जनरल कनिंगहम के असिस्टेंट थे। उन्हों ने वैराट, आंबेर, जयपुर, अजमेर, नागौर, मंडोर, जोधपुर, पाली, नाडौल, जूना खेड़ा, नाथद्वारा, चित्तौड़, निमटोर, चंद्रावती (झालरापाटन) खटकड़ और भीमगढ़ आदि स्थानों का निरीक्षण किया और कई शिलालेखों का पता लगाया। वे चित्तौड़ के कीर्तिस्तंभ की बची हुई दो शिलाओं तथा रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३३० के चित्तौड़ के शिलालेख का चित्र सर्व-प्रथम प्रसिद्धि में लाये।

डा० भगवान लाल इन्द्रजी

डॉ० भगवानलाल इंद्रजी जूनागढ़ के रहने वाले प्रश्नोरा नागर थे। रासमाला के कर्ता किंलोक फॉर्ब्स की सिफ़ारिश से वे बंबई के सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डा० भाऊदाजी के असिस्टेंट नियत हुए। उन्हों ने भाउदाजी के साथ रहते समय काठियावाड़, दक्षिण आदि के अनेक शिलालेख संग्रह किये और उन्हें पढ़ा। उड़ीसा की प्रसिद्ध हातीगुम्फा वाले राजा खारवेल के शिलालेख को सर्व-प्रथम प्रसिद्ध में लाने का श्रेय भी उन्हीं को है। उन्हों ने नेपाल में भ्रमण कर वहाँ के अनेक शिला-लेख संग्रह किये। मथुरा के समीपवर्ती प्रदेशमें दौरा कर मथुरा के प्रसिद्ध सिंहध्वज का, जिस पर खरोष्ठी लिपि में क्षत्रपों के कई लेख खुदे हुए थे, पता लगा कर उसे प्राप्त किया। कामा की मसजिद के स्तंभ पर खुदे हुए शूरसेन वंशी यादवों के ई० सन् की ७ वीं शताब्दी के लेख को शुद्धतापूर्वक पढ़ा और प्रकाशित किया। मि० कैम्बेल की अध्यक्षता में प्रकाशित होने वाले बम्बई गैज़ेटियर की पहली जिल्द के लिए गुजरात का प्राचीन इतिहास भी आपने ही लिखा, जिस में राजपूताना के बहुत से भागपर राज्य करने वाले सोलंकियों का विस्तृत इतिहास भी है। अन्य अन्य सिक्कों के सिवा आपने क्षत्रप राजाओं के सिक्कों का बहुत बड़ा संग्रह किया जिसे अपनी मृत्यु के समय उपर्युक्त मथुरा वाले सिंहध्वज के साथ ब्रिटिश-म्यूज़ियम को भेंट कर दिया। उन की शोधक-बुद्धि, विद्वत्ता और गवेषणा अपूर्व थी। लयिदन की युनिवर्सिटी की तरफ़ से आप को 'डाक्टर ऑव् फिलॉसफ़ी, की उपाधि मिली थी। ई० स० १८८८ के १६ मार्च को उन का स्वर्गवास हुआ।

महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदास ई० सन् (१८९६-१८९४)

ये दधवाड़िया गोत्र के चारण थे। उन के पूर्वज रूण के साँखले राजाओं के पोलपात थे। साँखलों का रूण का राज्य छूट गया, तब वे भी अपने स्वामी के साथ मेवाड़ में आ रहे। यहाँ समय समय पर उन्हें महाराणाओं की तरफ़ से कई गाँव मिले। कविराजा श्यामलदास उदयपुर के महाराणा शंभुसिंह और सज्जनसिंह के विश्वासपात्र रहे। महाराणा सज्जनसिंह ने अपने राज्य का बृहद् इतिहास प्रकाशित करने का निश्चय कर उस के व्यय के लिए एक लाख रुपये स्वीकृत किये और वह कार्य कविराजा के सुपुर्द किया। आपने अंग्रेज़ी, फ़ारसी और संस्कृत जानने वाले विद्वानों को अपने इतिहास-कार्यालय में भर्ती किया और मेवाड़ तथा बाहर के राज्यों में पंडितों को भेज कर अनेक शिलालेखों की छापें तैयार करवा कर उन का संग्रह किया। उन्हों ने विस्तार-पूर्वक उदयपुर राज्य का और राजपूताना तथा बाहर के अन्य राज्यों का, जिन का किसी न किसी प्रकार उदयपुर से सम्बन्ध रहा, संक्षिप्त इतिहास लिखा। जिन मुसलमान सुलतानों और बादशाहों का मेवाड़ से युद्ध आदि के रूप में संबंध रहा, उन का भी इतिहास इस ग्रंथ में लिखा गया। उक्त बृहद् ग्रंथ का नाम 'वीर-विनोद' रक्खा, जिस में अनेक शिलालेखों, दान-पत्रों, सिक्कों, राजकीय पत्र-व्यवहार, बादशाही फ़रमान आदि का बहुत अच्छा संग्रह हुआ है। यह उपयोगी ग्रंथ छप तो गया, परन्तु राज्य की तरफ़ से प्रसिद्ध न किया गया। इस से उन का सारा श्रम वस्तुतः जैसा होना चाहिए, वैसा सफल न हो सका और विद्वत्समाज को उस का यथेष्ट लाभ न पहुँच सका। उनका देहान्त वि० सं० १९५१ तदनुसार ई० स० १८९४ में हुआ।

मुंशी देवीप्रसाद (ई० सन् १८४८—१९२३)

मुंशी देवीप्रसाद जाति के कायस्थ थे। पहले वे टोंक राज्य में नौकर थे, फिर उन्हों ने जोधपुर राज्य की सेवा आरंभ की। वे फ़ारसी के अच्छे विद्वान् और इतिहास के प्रेमी थे। उन्हों ने अनेक फ़ारसी-ग्रन्थों के आधार पर बाबरनामा, हुमायूंनामा, अकबरनामा, जहाँगीरनामा, शाहजहाँनामा, औरंगज़ेबनामा, ख़ानख़ानानामा आदि पुस्तकें लिख कर हिन्दी-पाठकों के लिए मुसलमान-कालीन इतिहास जानने का अच्छा साधन उपस्थित कर दिया। अपने इतिहास-प्रेम के कारण उन्हों ने उदयपुर, जयपुर, बीकानेर, जोधपुर आदि के कई राजाओं के चरित्र भी हिन्दी और उर्दू में प्रकाशित किये। मुंशी जी जहाँ जाते, वहाँ के शिला-लेखों की छापें तैयार करते और अपने इतिहास-प्रेमी मित्र गौरीशंकर हीराचंद ओझा के पास भेज कर उन्हें पढ़वाते। उन्हों ने प्रतिहार राजा बाउक और कक्कुक के शिला-लेख और दधिमति माता के मन्दिर के गुप्त संवत् २८९ (ई० सन् ६०८) का तथा जालौर आदि के शिला-लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया। वे निर्भीक इतिहास-लेखक थे। उन की पुस्तकों की राजपूताने में बहुत कुछ प्रशंसा है। उन का देहान्त ता० १५ जुलाई ई० सन् १९२३ (वि० सं० १९८०) में हुआ।

रावल तख्तसिंह जी (ई० सन् १८५८—१८९६)

भावनगर राज्य के स्वामी रावल तख़्तसिंह जी को इतिहास का अधिक प्रेम होने के कारण उन्हों ने ई० सन् १८८१ में अपने राज्य में आर्कियॉलॉजिकल डिपार्टमेंट स्थापित किया और कई विद्वानों-द्वारा काठियावाड़ से मिलने वाले मौर्यों, क्षत्रपों, गुप्तों, वलभी के राजाओं, सोलंकियो और गोहिलों के शिला-लेखों तथा दानपत्रों का संग्रह करवाया और उदयपुर के सूर्यवंश से अपने वंश का निकास होने के कारण उदयपुर, चित्तौड़, एकलिंगजी, नागदा, आबू, राणापुर, नारलाई, सादड़ी, राजनगर आदि स्थानों से मिलने वाले मेवाड़ के सूर्यवंशी राजाओं के भी कई एक शिला-लेख अपने पंडितों द्वारा एकत्र करवाये।

ई० सन् १८८५ में भावनगर-प्राचीन-शोध-संग्रह नामक वृहद् ग्रन्थ का प्रथम भाग, जिस में उक्त राज्य की ओर से सूर्यवंशियों (मेवाड़ के गुहिल वंशियों और काठिवाड़ के गोहिलों) से सम्बन्ध रखने वाले कई एक शिलालेख उन के गुजराती और अङ्गरेजी भाषान्तर सहित—विजयशंकर गौरीशङ्कर ओझा के द्वारा संपादित एवं प्रकाशित हुए हैं। उक्त ग्रन्थ के अंत में काठियावाड़ और राजपूताना के कई सौ अन्य शिलालेखों की तालिका उन के संक्षिप्त परिचय सहित दी गई है। यह ग्रन्थ इतिहास-प्रेमियों के लिए बड़ा उपयोगी है। इस के अतिरिक्त एकलैक्शन ऑव प्राकृत एंड संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स” नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी महाराजा ने प्रकाशित किया, जिस में काठियावाड़ से मिलने वाले मौर्यवंशी राजा अशोक, क्षत्रपों, गुप्तवंशी स्कंदगुप्त और वलभी के राजाओं, मेवाड़ के गुहिल वंशियों, काठियावाड़ के गोहिलों और गुजरात के सोलंकियों के ६४ शिला-लेख एवं दान-पत्र अंग्रेजी अनुवाद और उन के चित्र-सहित छापे हैं।

उक्त महाराजा का यह कार्य सर्वथा प्रशंसनीय है।

डा० जॉन जॉर्ज बूलर (ई० सन् १८३७–१८९८)

डॉ० बूलर जर्मनी के हेनोवर नगर के रहने वाले थे। उन्हों ने हेनोवर, गॉटिंगेन, पेरिस, ऑक्सफर्ड आदि नगरों में रह कर जर्मन, अङ्गरेजी और संस्कृत की शिक्षा पाई और ई० सन् १८८० में बंबई के एल्फिंस्टन कॉलेज में संस्कृत के प्रोफ़ेसर और फिर उस विभाग के अध्यक्ष नियत हुए। उन को बम्बई गवर्नमेंट ने कई वार हस्तलिखित संस्कृत और प्राकृत पुस्तकों के संग्रह करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों में भेजा। उन्हों ने लगभग ५००० संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त किये। उन्होंने भी दौरा किया और जैसलमेर के प्रसिद्ध जैन भंडारों के संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों को राजपूताने के कुछ भाग में देखने के लिए ऊँट की सवारी कर मरुभूमि में वहाँ तक की यात्रा की। वे ही पहले विदेशी विद्वान् थे, जिन्हों ने वहां के भंडारों को देखा। इसी तरह उन्हों ने कश्मीर में जा कर वहाँ की पुस्तकों की खोज की और अनेक प्राचीन पुस्तकें प्राप्त कीं, जिनमें शारदा (कश्मीरी) लिपि में भोज-पत्र पर लिखी हुई जयानक रचित पृथ्वीराजविजयमहाकाव्य की पुस्तक उल्लेखनीय है। यद्यपि यह पुस्तक अपूर्ण है, तथापि राजपूताने के इतिहास के लिए इस का विशेष महत्त्व है। उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों की खोज के अतिरिक्त अनेक प्राचीन शिला-लेखों का इंडियन ऑंटिक्वेरी, एपिग्राफ़िया इंडिका आदि पत्रिकाओं में सम्पादन किया। प्राचीन भारत के इतिहास के लिए यह बहुत उपयोगी कार्य हुआ है। उन्होंने एन्साइक्लोपीडिया ऑव इन्डों-आर्यन-फाइलॉ-लॉजीं नामक भारतीय खोज-संबंधी कई जिल्दों का ग्रन्थ तैयार करवा कर प्रकाशित करने का सराहनीय प्रयत्न किया, किन्तु उस की थोड़ी ही जिल्दें उन की जीवित दशा में छप सकीं। प्राचीन लिपियों के संबंध में उन्हों ने उसी में Mdisohe Palaeographie नामक ग्रंथ ई० सन् १८९८ में जर्मन भाषा में प्रकाशित किया, जिस का डॉक्टर फ्लीट ने अंग्रेज़ी अनुवाद किया इन में भारतीय प्राचीन लिपियां के ९ नक़्शे हैं, जिन की सहायता से प्राचीन लिपियाँ पढ़ी जा सकती हैं। डॉक्टर बूलर बड़े विद्वान् और पुरावृत के खोजी थे। उन्हों ने कई संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित किये। कई एक का उन्हों ने अनुवाद भी किया। ई० सन् १८९८ ता० ८ अप्रेल को जर्मनी की कोन्स्टन्स नामक झील में सैर करते समय किश्ती के उलट जाने से उन की खेद-जनक मृत्यु हुई।

डॉ० कील हॉर्न प्रशिया (जर्मनी) के गोटिंगेन नगर के रहने वाले संस्कृत के असाधारण विद्वान और संस्कृत व्याकरण के अच्छे ज्ञाता थे। उन्हों ने प्रो० मेक्समूलर को सायण की टीका सहित ऋग्वेद के प्रकाशन में बहुत कुछ

सहायता की थी। ई० स० १८६६ में वे हिन्दुस्तान में आये और पूना के डेक्कन कॉलेज में संस्कृत के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। उन्हों ने पतंजलि का संपूर्ण महाभाष्य चार जिल्दों में सम्पादित किया

डॉक्टर फ्रॅन्ज कील् हॉर्न
(ई० सन् १८४०-१९०८)

और व्याकरणके अन्य ग्रन्थों के विषय में भी बहुत कुछ लिखा। भारत के प्राचीन इतिहास की ओर उन का विशेष ध्यान होने से उन्हों ने अनेक शिला-लेख और दान-पत्र "इंडियन ऑंटिक्वेरी, "एपिग्राफ़िया इंडिका" आदि में सम्पादित किए। राजपूताने से सम्बन्ध रखने वाले कई शिला-लेखों का उन्हों ने सम्पादन किया, जो गुहिल, चौहान, परमार, प्रतिहार आदि वंशों के प्राचोन इतिहास के लिए विशेष महत्व के हैं। उन्हों ने अपने समय तक के उत्तरी और दक्षिणी भारत के प्रकाशित शिला-लेखों और दान-पत्रों की सार-सहित सूचियाँ "एपि-ग्राफ़िया इंडिका" में छापीं। ये राजपूताने की ही नहीं, किन्तु भारत भर के इतिहास-प्रेमियों एवं पुरातत्व-वेत्ताओं के लिए परमोपयोगी हैं। उत्तरी भारत की सूची को काशी की ना० प्र० सभा के मंत्री रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास ने प्राचीन 'लेख मणिमाला' नाम से हिन्दी में प्रकाशित की थी।

प्रो० पीटर्सन ने एडिन्बरा और ऑक्सफ़र्ड की युनिवर्सिटियों में अँग्रेज़ी के साथ संस्कृत की शिक्षा पाई और सन् १८७३ में वे बम्बई के एल्फ़िन्स्टन कॉलेज में संस्कृत के प्रोफ़ेसर नियत हुए। बम्बई सरकार की तरफ़ से उन्हों ने संस्कृत एवं प्राकृत की प्राचीन पुस्तकों की खोज के लिए गुजरात और राजपूताने में कई बार दौरे

प्रो० पीटर पीटर्सन
(ई० सन् १८४७-१८९९)

किए। राजपूताने में उदयपुर, कोटा, बूँदी आदि राज्यों में भ्रमण कर उन्हों ने कई पुस्तकों का पता लगाया, जिन में राजपूताना के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले कई संस्कृत काव्य भी हैं। उन्हों ने कोटा के पास वाले कणस्वा के मन्दिर के वि० सं० ७९५ (ई० सन् ७३८) के शिलालेख का, जो कर्नल टॉड के समय ठीक ठीक नहीं पढ़ा गया था, शुद्धतापूर्वक सम्पादन किया। डॉ० पीटर्सन ने संस्कृत पुस्तकों की खोज-सम्बन्धी ६ रिपोर्टें प्रकाशित कीं, जिन में राजपूताने की इतिहास-सम्बन्धी बहुत सामग्री है। इन के सिवा उन्हों ने अलवर राज्य के पुस्तक-भंडार का एक बृहद् एवं महत्त्वपूर्ण सूचीपत्र भी ई० सन् १८९२ में प्रकाशित किया।

डॉ० वेब बीकानेर तथा उदयपुर के रेज़िडेन्सी सर्जन रहे थे। सिक्के एकत्र करने का शौक़ होने के कारण उन्हों ने राजपूताने के हिन्दू राज्यों के सिक्कों का अच्छा संग्रह कर ई० सन् १८९३में "दि करन्सीज़ ऑव् दि हिन्दू स्टेट्स ऑव् राजपूताना" नामकी एक पुस्तक प्रकाशित की, जिस में उक्त राज्यों के प्रचलित

डब्ल्यू० डब्ल्यू० वेब

उपलब्ध सिक्कों का चित्र-सहित विवरण दिया गया है। यद्यपि इस में राजपूताने के सब प्राचीन सिक्कों का विशेष वर्णन नहीं मिलता, तो भी उन्होंने जो संग्रह किया है उतना एक पुस्तक के रूप में अन्यत्र मिलना कठिन है। इसलिए उन की वह पुस्तक भी राजपूताने के इतिहास के लिए उपादेय है।

श्वेताम्बर संप्रदाय के जैनाचार्य विजयधर्म सूरि संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड पंडित, जैन आदि दर्शन-शास्त्रों के अद्वितीय ज्ञाता और जैन-इतिहास के शोधक विद्वान् थे। वे जहाँ-जहाँ जाते चतुर्मास

विजयधर्म सूरि
(ई०सन् १८६८-१९२२)

करते, वहाँ के शिलालेखों का संग्रह बराबर किया करते थे। उदयपुर राज्य का देलवाड़ा नामक स्थान जैन-मन्दिरों के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ तथा उस के समीपवर्ती प्राचीन नागदा नगर से उपलब्ध होने वाले जैन-लेखों का संग्रह 'देवकुल पाटक' नाम की पुस्तिका में उन्हों ने प्रकाशित किया है। उन के संग्रह किए हुए सैकड़ों शिला-लेखों में से ५०० शिला-लेखों का एक अलग ग्रन्थ प्राचीन

लेख-संग्रह भाग १ के नाम से मुनिराज श्री विद्याविजय जी ने ई० सन् १९२९ में उन के स्वर्गवास के अनंतर प्रकाशित कराया। ये लेख राजपूताना के इतिहास के लिए बड़े उपयोगी हैं।

डॉक्टर जॉन फ़ेथफ़ुल फ़्लीट
(ई० सन् १८४७—१९१७)

डॉ० फ़्लीट इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा पास कर सन् १८६७ में बम्बई पहुँचे। ई० सन् १८८३ में गवर्नमेंट एपिग्राफ़िस्ट के पद पर नियत हुए। उन्हें इतिहास से बहुत प्रेम एवं शिला-लेखों को पढ़ने तथा उन की खोज की लगन थी। उन्हों ने ई० सन् १८८८ में "गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स" नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिस में गुप्तों और उन के समकालीन राजाओं के उस समय तक के ज्ञात ८१ शिला-लेख और ताम्र-पत्र चित्रों और अंग्रेज़ी अनुवाद के साथ छपे हैं। इस में गंगधार (झालावाड़ राज्य) से मिला हुआ वि० स० ४८०का, विजयगढ़ (विजयमंदिरगढ़, भरतपुर राज्य) से मिला हुआ यौधेयों का तथा वि० स० ४२८ का विष्णुवर्द्धन का लेख प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में राजपूताने के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले कई अन्य लेख भी प्रकाशित हुए हैं। उन्हों ने 'डायनेस्टीज़ ऑव दि केनारीज़ डिस्ट्रिक्ट' नाम का बम्बई प्रान्त से संबंध रखने वाले प्राचीन इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, जो मि० केम्बेल द्वारा सम्पादित बम्बई गैज़ेटियर की पहली जिल्द के दूसरे भाग में प्रकाशित हुआ है। उन्हों ने "इंडियन ऍंटिक्वेरी" तथा "एपिग्राफ़िया इंडिका" में अनेक शिलालेखों और दान-पत्रों का सम्पादन किया है, जिन में से कई एक राजपूताने से सम्बन्ध रखते हैं। वे "इंडियन ऍंटिक्वेरी" के ई० सन् १८८५ से १८९१ तक संपादक भी रहे।

सेसिल बेंडाल

आप ने लंदन और केम्ब्रिज में अध्ययन किया। संस्कृत के आप अच्छे ज्ञाता और ब्रिटिश म्यूज़ियम के प्राच्य-देशीय (oriental) पुस्तक-विभाग के अध्यक्ष थे। उन्हों ने बौद्ध धर्म-सम्बन्धी प्राचीन पुस्तकों की खोज के विचार से नेपाल की यात्रा की और वहाँ अनेक अज्ञात ग्रन्थों का पता लगाया। वे राजपूताने में जयपुर, उदयपुर, चित्तौड़ आदि में इसी उद्देश्य से गये थे। उन्हों ने आंबेर के क़िले में सूर्य-मंदिर के वि० सं० १०११ के शिखा-लेख का तथा उदयपुर की पुरानी राजधानी आहाड़ के शक्तिकुमार के शिला-लेख का पता लगाया और उन्हें अपनी 'जर्नी ऑव् लिट्रेरी ऍंड ऑर्कियॉलॉजिकल रिसर्च इन् नेपाल ऍंड नॉर्दर्न इंडिया' (१९१८) नामक पुस्तक में चित्र-सहित प्रकाशित किया।

डॉक्टर टेसिटोरी

डॉ० टेसीटोरी इटली देश के निवासी थे। उन को राजस्थानी और डिंगल भाषा से बड़ी अभिरुचि थी। बंगाल की ऐशियाटिक सोसाइटी ने राजस्थानी और डिंगल भाषा के ग्रन्थों की शोध करवाने के उद्देश्य से इस महत्त्वपूर्णकार्य के लिए डा० टेसिटोरी को नियत किया। उन्हों ने जोधपुर और बीकानेर राज्यों में रह कर वहाँ के अनेक डिंगल ग्रंथों की तीन विभागों में सूचियाँ बनाईं, जिन्हें बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ने अलग पुस्तकाकार प्रकाशित किया है। इन सूचियों के अतिरिक्त खडिया जगा कृत 'रतनसिंह री वचनिका', बीकानेर के राठोड़ पृथ्वीराज कृत 'वेलि क्रिसन रुक्मणि री' और विठूसूजा कृत 'राव जयतसी रो छंद' नामक तीनों डिंगल भाषा के ग्रन्थों का सम्पादन किया। इस के सिवा उन्हों ने अपने दौरे की वार्षिक रिपोर्टें भी प्रकाशित कीं, जिन में राजपूताने के कई स्थलों का वृत्तान्त तथा कई शिलालेख भी छपे हैं। ई० सन् १९१८ में यवावस्था में ही उन का देहान्त हो गया।

ये सुप्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान् सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के पुत्र थे और एल्फ़िन्स्टन कॉलेज (बम्बई) में संस्कृत के प्रोफ़ेसर थे। वे भी बंबई-सरकार की तरफ़ से हस्त-लिखित प्राचीन पुस्तकों की खोज के लिए नियत हुए

श्रीधर रामकृष्ण भंडारकर

थे। इन्हों ने राजपूताने में उदयपुर, नाथद्वारा, जैसलमेर आदि के पुस्तक-संग्रहों का निरीक्षण किया, जिन का वर्णन उन की रिपोर्टों में छपा है। जैसलमेर के पुस्तक-भंडार के उत्तम ग्रंथों का विशद वर्णन लिखने के अतिरिक्त उन्हों ने वहाँ के कई एक शिला-लेख प्रकाशित किये। जैसलमेर के शिला-लेखों को सर्वप्रथम प्रसिद्धि में लाने का श्रेय उन्हीं को है।

राखालदास बेनर्जी
(ई० सन् १८८२-१९३०)

ये कलकत्ते के रहने वाले थे। एक प्रसिद्ध वकील के यहाँ इन का जन्म हुआ। अंग्रेज़ी के अतिरिक्त ये संस्कृत, फ़ारसी, हिन्दी, उर्दू, मराठी, गुजराती, अरबी आदि कई भाषाओं के ज्ञाता थे। 'आर्कियॉलॉजिकल डिपार्टमेंट' में प्रवेश करने के पश्चात् वे कलकत्ते के सुप्रसिद्ध इंडियन म्यूज़ियम के पुरातत्व-विभाग के अध्यक्ष रहे। उन को भारत की प्राचीन लिपियों और सिक्कों के विषय में बड़ी अभिरुचि थी। पहले पहल उन्हों ने बंगाल और उड़ीसा में प्राचीन शोध का कार्य किया। फिर आर्कियॉलॉजिकल विभाग में वेस्टर्न सर्कल के सुपरिंटेंडेंट नियत हुए। वेस्टर्न सर्कल से राजपूतने का संबंध होने से उन्हों ने अजमेर, उदयपुर, बीकानेर, भरतपुर, इन्दौर आदि राज्यों में दौरा कर अनेक स्थानों और वहाँ के शिला-लेखों आदि का विवरण लिखा, जो राजपूताने के इतिहास के लिए उपयोगी है। उन की मृत्यु के अनन्तर हाल ही में बड़ी-बड़ी दो जिल्दों में प्रकाशित उन का उड़ीसे का इतिहास उन के जीवन का सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उस के प्रत्येक पृष्ठ पर गम्भीर गवेषणा की छाप लगी हुई है। उन्हों ने "इंडियन आंटिक्वेरी" और "एपिग्राफिया इंडिका" आदि में अनेक शिला-लेख एवं ताम्र-पत्रों का संपादन किया। ईसा से पूर्व क़रीब ३००० वर्ष की सभ्यता का परिचय देने वाले सिंध के सुप्रसिध स्थान मोहनजोदड़ो का पता लगाने और उस की सर्वप्रथम खुदाई करने का श्रेय उन्हीं को है। आर्कियालॉजिकल विभाग से संबंध छोड़ने के बाद वे काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग के अध्यक्ष नियत हुए। उन्हों ने बंगला साहित्य को उन्नत करने के लिए दो जिल्दों में बंगाल का इतिहास तथा अनेक ऐतिहासिक उपन्यास उस भाषा में लिखे। उन की बंगला में लिखी हुई भारत के प्राचीन सिक्कों के संबंध की 'प्राचीन मुद्रा' नामक पुस्तक भी एक उपादेय ग्रन्थ है। ना० प्र० सभा ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। २३ मई सन् १९३० ई० को भारत के उस श्रेष्ठ पुरातत्वविद् का थोड़ी आयु में ही देहान्त हो गया।

मुनि जिनविजय

ये संस्कृत और प्राकृत के बड़े विद्वान् हैं। जैन साधनो से उपलब्ध होने वाले प्राचीन इतिहास से इन्हें बड़ा अनुराग है। इन्हों ने प्राचीन जैन लेखों की दो पुस्तकें प्रकाशित की हैं। पहली छोटी पुस्तक में सुप्रसिद्ध जैन राजा खारवेल का लेख और दूसरी बड़ी में गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना आदि से मिलने वाले ५५७ लेखों का संग्रह है। ये दोनों पुस्तकें इतिहास-प्रेमियों के लिए बड़े महत्व की हैं। आज कल मुनिजी कई प्रतियों के आधार पर प्रबंध-चिन्तामणि, तीर्थकल्प आदि जैन आचार्यों के ग्रन्थों का उत्कृष्ट सम्पादन कर रहे हैं। आप शान्ति-निकेतन (विश्व भारती) में जैन साहित्य के अध्यापक हैं। इन्हों ने जर्मनी जा कर पठन-पाठन तथा सम्पादन-कला का विशेष अध्ययन किया है।

डॉक्टर देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर

ये प्रसिद्ध विद्वान् सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के पुत्र हैं। प्रारंभ में ये आर्कियालॉजिकल सर्वे के वेस्टर्न सर्कल के सुपरिंटेंडेंट मि० कार्जेंस के असिस्टेंट नियत हुए। राजपूताना वेस्टर्न सर्कल में होने के कारण इन्हों ने राजपूताने के उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, कोटा, किशनगढ़ और सिरोही राज्यों में दौरा किया, जहाँ के कई स्थानों और शिलालेखों का वर्णन उस सर्कल

की वार्षिक रिपोर्टों में छपा है। पीछे से ये उक्त सर्कल के सुपरिंटेंडेंट हुए। इन्हों ने “इंडियन आंटिक्वेरी”, “एपिग्राफ़िया इंडिका” आदि में कई शिला-लेख प्रकाशित किये हैं। इस समय ये कलकत्ता युनिवर्सिटी में प्रचीन भारतीय इतिहास के प्रोफ़ेसर हैं और इन्हें उक्त विश्व-विद्यालय से सम्मानार्थ पी एच्० डी० की उपाधि मिली है। इस समय ये “इंडियन आंटिक्वेरी” तथा ‘एनल्स ऑव दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट’ के संपादकों में से एक हैं।

पूर्णचंद नाहर, एम्० ए०, बी० एल्

ये ओसवाल जाति के महाजन और बंगाल के जमींदार और कलकत्ते के निवासी हैं। इन्हों ने धार्मिक भाव से अनेक जैन तीर्थों की कई बार यात्रा की और अपनी शोधक-बुद्धि के कारण जहाँ जहाँ ये गये वहाँ के जैन शिलालेखों का संग्रह करते रहे। उसी के फल-स्वरूप इन्हों ने जैन-लेख-संग्रह की तीन बड़ी बड़ी जिल्दें प्रकाशित की हैं, जिन में करीब २५०० शिला-लेखों का संग्रह हुआ है उक्त संग्रह की तीसरी जिल्द में केवल जैसलमेर के ही जैन-लेखों का संग्रह है। ये जिल्दें राजपूताने के इतिहास के लिए विशेष महत्व की हैं और इन का प्रयत्न सर्वथा सराहनीय है।

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा (१८६३—)

ओझा जी बड़े विद्वान् और इतिहास के अद्वितीय ज्ञाता हैं। आपने अपना विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद अपना सारा जीवन इतिहास की खोज में लगाया है। आप करीब २० वर्ष तक उदयपुर में रहे। आपने कुछ वर्ष कविराजा श्यामलदास के साथ रह कर उक्त राज्य के इतिहास-विभाग में मंत्री का काम किया। तत्पश्चात् ये उदयपुर म्यूज़ियम के अध्यक्ष नियत हुए। ई० स० १९०८ में आप राजपूताना म्यूज़ियम अजमेर के क्यूरेटर बनाये गये। आपने अपने जीवन में राजपूताना के इतिहास-सम्बन्धी बहुमूल्य खोज की। जिस से कई राजपूत वंशों की वंशावलियों में जो शृंखलाएं टूटती थीं तथा कुछ का कुछ लिखा था, वह सब आपने अपनी खोज के आधार पर ठीक किया। आपने कई हस्त-लिखित ग्रन्थ, प्राचीन सिक्के, शिला-लेख एवं ताम्रपत्र आदि एकत्रित किये हैं, जिन से राजपूताने के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ई० स० १८९४ में आपने ‘भारतीय प्राचीन लिपि माला’ नामक अपूर्व ग्रन्थ की रचना की। उस समय तक संसार की किसी भी भाषा में ऐसा अनूठा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था। अतएव भारत तथा यूरोप के विद्वानों तथा पुरातत्त्वविदों ने उस की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। राजपूत जाति से विशेष प्रेम होने तथा उस के शौर्य आदि गुणों से मुग्ध हो कर कर्नल टॉड महोदय ने ऐनल्स् ऐंड ऐंटिकिटीज़ ऑफ़ राजस्थान नामक बृहद् इतिहास-ग्रंथ लिखा था किन्तु नवीन शोध के अनुसार उस में परिवर्तन करने की आवश्यकता हुई। महाराजकुमार बाबू रामदीनसिंह ने इस का अनुवाद कराया, तो इस के संपादन तथा टिप्पणि का भार आप को सौंपा। आपने उस कार्य को विद्वत्ता-पूर्वक किया। महानुभाव टॉड के प्रति भी आप की असीम श्रद्धा एवं भक्ति होने से आपने ई० स० १९०२ में उन की सविस्तर जीवनी लिखी जिसे खड्गविलास प्रेस ने छाप कर प्रकाशित किया। ई० स० १९०७ में आपने सोलंकियों का प्राचीन इतिहास लिखा। आज तक हिन्दी में इस पराक्रमी एवं गौरवशाली जाति का ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास न था। विद्वानों तथा इतिहास वेत्ताओं ने इस इतिहास की बहुत प्रशंसा की तथा नागरी-प्रचारिणी सभा ने इस के लिए एक पदक प्रदान कर आप को सम्मानित किया। मेवाड़ और सिरोही राज्य के इतिहास भी आपकी अमूल्य कृतियाँ हैं। आपके राजपूताने के बृहद् इतिहास की, जो १०—१२ भागों में समाप्त होगा, २ जिल्दें (४ भाग) प्रकाशित हुई हैं। उन के देखने से आपके गंभीर अध्ययन एवं अथक परिश्रम का परिचय मिलता है। यह इतिहास आजतक के लिखे हुए अन्य इतिहासों में अपने ढंग का एक ही है। आपकी स्मरण-शक्ति असाधारण है और आपका मस्तिष्क बहुमूल्य ऐतिहासिक घटनाओं का अखूट भांडार है। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका-द्वारा, जिस का आपने

अब तक संपादन किया, आपने हिन्दी-जगत् को उत्कृष्ट साहित्य के साथ अमूल्य ऐतिहासिक सामग्री भेंट की है। आप ही के शोध से राजपूताने के इतिहास के प्रत्येक अंग पर प्रकाश पड़ता है। आप का राजपूताने का इतिहास संपूर्ण प्रकाशित हो जाने पर गिबन के 'राइज़ ऐंड फ़ॉल ऑव् दि रोमन एम्पायर' नामक इतिहास की भाँति युगान्तर उपस्थित कर देगा। ई० सन् १९२८ में आपने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी में ३ व्याख्यान दिये, जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। उक्त पुस्तक में ई० सन् ६००- १२०० तक की भारतीय संस्कृति के विविध विषयों का विशद वर्णन है। राजपूताने की ऐतिहासिक खोज के लिए आप अथक परिश्रमी और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ इतिहासज्ञ हैं।

भारत-सरकार ने आप को रायबहादुर और महामहोपाध्याय की उपाधियें से विभूषित किया है।

उपर्युक्त विद्वानों के महान् श्रम से राजपूताने पर राज्य करने वाले मौर्य, मालव, ग्रीक, आर्जुनायन, वरीक, हूण, गुर्जर, बैस, चावड़ा, गुहिल, प्रतिहार, चौहान, राठौड़, कछवाहा, यादव, परमार, सोलंकी, नाग, योधेय, तंवर, दहिया, निकुंप, डोडिया, गौड़, झाला आदि राजवंशों का बहुत कुछ शुद्ध इतिहास प्रसिद्धि में आ गया है, जिस से भाटों की पुस्तकों और ख्यातों में लिखी हुई अनेक कल्पित बातों का निराकरण हो सकता है। अतएव ये विद्वान् प्रत्येक विद्यानुरागी तथा इतिहास-प्रेमी राजपूताना निवासी के सम्मान पात्र हैं।

५

अभिलेखों, मुद्राओं, लिपि तथा प्राचीन पोथियों का अनुशीलन

प्राचीन राजशासनांतील दानच्छेदाचा निषेध करणारे श्लोक

श्रीयुत पांडुरंग वामन काणे, एल्० एल्० एम्०, मुम्बई

[याज्ञवल्क्य स्मृति (१. ३१८-२०) में विधान है कि आगामी अच्छे राजाओं के परिज्ञान के लिए राजा को दानपत्र या निबन्ध को कपड़े या ताम्रपट पर अंकित करवाना चाहिए; तथा इस प्रकार के लेख उस की मुद्रा से अंकित होने चाहिएँ और उन पर दानोच्छेद के परिणामों को भी लिख देना चाहिए। अपरार्क ने इन श्लोकों पर टीका करते हुए बृहस्पति और व्यास से श्लोक उद्धृत किए हैं, जिन में इस का विस्तार से वर्णन है कि कपड़े या ताम्रपत्र पर लिखे जाने वाले राजशासनों पर क्या लिखा जाना चाहिए। इन में से दोनों स्मृतियों में पाए जाने वाले एक श्लोक में लिखा है कि दानपत्र में इस तरह के श्लोक रहने चाहिएँ जिन में दान का पालन करने वाले को स्वर्गप्राप्ति और उस का उच्छेद करने वाले को ६०,००० वर्ष नरकभोग लिखा हो।

पांचवीं शताब्दी के बाद से ऐसे श्लोक सब दानपत्रों में मिलते हैं। प्रारम्भिक गुप्त और पल्लव दानपत्रों में इस प्रकार के श्लोक नहीं हैं। पांचवीं या छठी सदी ई० के दानपत्रों में जहां प्रायः इस प्रकार के २, ३ श्लोक ही रहते हैं वहां १० वीं सदी और उस के बाद के दानपत्रों में एक एक दर्जन से भी ज़्यादा श्लोक इस प्रकार के रहते हैं। इस लेख में ऐसे ४१ श्लोक इकट्ठे किए गए तथा उन के अनुवाद दिए गए हैं। उन में से कुछ धर्मशास्त्र, महाभारत, बृहस्पतिस्मृति तथा अन्यान्य ग्रंथों में आए हैं यह दिखाया गया है। यह दिखाने का यत्न किया गया है कि सब से पुराने किन अभिलेखों और दानपत्रों में श्लोक आए हैं तथा उन के कुछ एक पाठभेदों को भी दे दिया गया है।]

याज्ञवल्क्यस्मृतींत राजानें दान देतांना कोणती पद्धति स्वीकारावी या विषयीं खालीं दिलेले श्लोक आहेत।

दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं च कारयेत्।
आगामिभद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिवः॥
पटे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नितम्।
अभिलेख्यात्मनो वंश्यानात्मानं च महीपतिः॥
प्रतिग्रहपरीमाणं दानच्छेदोपवर्णनम्।
स्वहस्तकालसम्पन्नं शासनं कारयेत्स्थिरम्॥ (१. ३१८-२०)

अर्थ—भूमिदान केलें असतां किंवा एखादी वृत्ति नेमून दिली असतां पाठीमागून येणाऱ्या सज्जन राजांच्या माहितीकरितां राजानें लेख लिहवून ठेवावा। तो लेख वस्त्रावर किंवा ताम्रपट्टावर लिहवावा आणि त्यावर आपल्या (गरुड़, वराह वगैरेनीं युक्त असलेल्या) मुद्रेचा ठसा उमटवावा, आपल्या वंशांतील पुरुषांचीं नांवें व आपलें नांव त्या लेखांत लिहवावें, दान दिलेल्या भूमीचें किंवा निबन्धाचें परिमाण त्याचप्रमाणें दानाचा विच्छेद केला असतां

काय परिणाम होतो याचें वर्णन ही त्या लेखांत असावें। त्या लेखावर स्वतःची सही करून कालाचा (शकनृपकाल वगैरे) निर्देश करून चिरकाल टिकणारें असें शासन राजानें करवून ठेवावें।

अपरार्कानें याज्ञवल्क्यस्मृतीवरील आपल्या टीकेंत बृहस्पति व व्यास यांच्या स्मृतींतील अवतरणें या श्लोकांच्या व्याख्यानांत दिलीं आहेत तीं महत्वाचीं आहेत, त्यांपैकीं बृहस्पतिस्मृतींतील उतारा खालीं देतों।

दत्त्वा भूम्यादिकं राजा ताम्रपट्टेऽथवा पटे।
शासनं कारयेद्धर्म्यं स्थानवंश्यादिसंयुतम् ।।
अनाच्छेद्यमनाहार्यं सर्वभाव्यविवर्जितम्।
चन्द्रार्कसमकालीनं पुत्रपौत्रान्वयागतम् ।।
दातुः पालयितुः स्वर्गं हर्तुर्नरकमेव च।
षष्टिवर्षसहस्राणि दानच्छेदफलं लिखेत् ।।
स्वमुद्रावर्षमासार्धदिनाध्यक्षाक्षरान्वितम्।
एवंविधं राजकृतं शासनं समुदाहृतम् ।।

यांतील तिसऱ्या श्लोकाचा अर्थ—दान देणाराला, दिलेलें दान पुढें चालू ठेवणाराला साठ हजार वर्षं स्वर्ग आणि दानाचा अपहार करणाराला तितकींच वर्षं नरक असें दानाच्या विच्छेदाचें फळ (राजशासनांत) लिहावें। बृहस्पतिस्मृतीच्या अवतरणांतील दुसरा व तिसरा हे श्लोक व्यासस्मृतींत ही होते असें अपरार्कटीकेवरून दिसतें।

या स्मृतींत सांगितल्याप्रमाणें ईसवी सनाच्या पांचव्या शतकापासून सर्व राजशासनांत मजकूर लिहिलेला सांपडतो। राजशासनांत येणाऱ्या बाकीच्या मजकुराशीं या निबन्धांत कांहीं कर्तव्य नाहीं। दानाची स्तुति व दानविच्छेदाचा निषेध बहुधा प्रत्येक शासनाचे शेवटीं असतो। मुख्यत्वें गुप्तशासनें व एपिग्राफिआ इन्दिका यांत प्रसिद्ध झालेल्या शासनांवरून वरील दोन विषयां सम्बन्धानें आलेले श्लोक येथें एके ठिकाणीं उद्धृत केले आहेत। शासन जितकें प्राचीन तितके अशाप्रकारचे श्लोक कमी असा साधारण नियम आहे। उदाहरणार्थ, मैत्रक कुलांतील व्याघ्रसेन याच्या ताम्रपट्टांत दोनच श्लोक आहेत (ए० इं० जि० ११ पान २२१), ध्रुवसेनाच्या (गुप्त वलभी) संवत् २०६ च्या शासनांत व संवत् २१० च्या शासनांत (ए० इं० जि० ११ पान १०७ व १११) तीनच श्लोक आहेत; पण यशःकर्णदेव याच्या संवत् ८२३ (कलचुरि) च्या शासनांत १६ श्लोक (ए० इं० जि० १२ पान २०५), चाहमान रत्नपाल याच्या विक्रम संवत् ११७६ च्या ताम्रपट्टांत पंधरा श्लोक (ए० इं० जि० ११ पान ३१२-१३) व कनोजचा राजा गोविन्दचन्द्र याच्या विक्रम संवत् ११८६ मधील सहेथ-महेत येथील ताम्रपट्टांत सात श्लोक आहेत। येथें निरनिराळ्या शासनांतील ४१ श्लोक उद्धृत केले आहेत व ते होतां होईल तों किती प्राचीन काळापासून आढळतात तें व भारतवर्षाच्या निरनिराळ्या प्रांतांतही आढळतात हेंही दाखविण्याचा प्रयत्न केला आहे। खालीं दिलेले श्लोक कधीं व्यासाचे म्हणून, कधीं मनूचे म्हणून, कधीं स्मृतींतील म्हणून व कधीं कोठील तें निर्दिष्ट न करतांच शासनांत दिलेले

---

* ह्या निबन्धांत खालीं दिलेले संकेत आहेतः इं० ऑं० = इण्डियन ऑन्टिक्वेरी; ए० इं० = एपिग्राफिआ इन्दिका, गुप्त० = डा० फ्लीट यांनीं संपादिलेलीं गुप्त शासनें।

आढळतात। ह्या निबन्धांत प्रथम श्लोक, नंतर त्याचा अर्थ, नंतर तो कोणत्या प्राचीन शासनांत सांपडतो त्याचें दिग्दर्शन व क्वचित् तो वाङ्मयांत इतरत्र सांपडतो कीं काय हें ही दाखविलें आहे। खालीं उद्धृत केलेल्या श्लोकांपैकीं बरेच जीवानन्द यांनीं प्रसिद्ध केलेल्या बृहस्पति स्मृतींत आढळतात।

१—बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिः सगरादिभिः।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥

सगरादि अनेक राजांनीं पृथ्वीचें दान केलें। ज्या ज्या काळीं ज्या ज्या राजाच्या ताब्यांत पृथ्वी असेल त्या त्या वेळीं त्या त्या राजाला त्या दानाचें (पुण्य) फळ प्राप्त होतें।

हा श्लोक व पुढील चार श्लोक हे अनेक शासनांत येतात। यांचे इतके दुसरे श्लोक शासनांत आढळत नाहींत। ह्या श्लोकांतील दुसरा चरण 'बहुभिश्चानुपालिता' असा पल्लव सिंहवर्म याच्या पिकिर ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ८ पान १६२) व कुमारविष्णु याच्या चेंदलूर ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ८ पान २३५) पठित केलेला आहे व तो ब्रह्मगीत श्लोक म्हणून कुमारविष्णूच्या शासनांत दिलेला आहे। हा श्लोक बृ० पान ६४६ वर आहे। हा श्लोक गुप्त० अनुक्रम २१ पान ९३ येथें महाराज हस्तिन् याच्या ताम्रशासनांत (गुप्त संवत् १५६), त्याचप्रमाणें महाराज हस्तिन् याच्या गुप्त संवत् १९१ मधील ताम्रशासनांत (गुप्त० अनुक्रम २३ पान १०८), धरसेनाचें वलभी शासन (सन् ५८८, इं० ॲं० जि० ६ पान ९), मंगलीश चालुक्य याचें शक ५०० मधील शासन (इं० ॲं० जि० ६ पान ३६३), शके ७३५ मधील तोरखेडें ताम्रपट्ट (ए० इं० जि० ३ पान ५७) इत्यादि शासनांत आलेला आहे। पहिल्या दोन शासनांत तो व्यासाचा म्हणून दिलेला आहे; तोरखेडें येथील शासनांत 'उक्तं महर्षिभिः' असें म्हटलें आहे। कदम्बवंशीय कृष्णवर्मा (दुसरा) याच्या बनहळ्ळि ताम्रशासनांत मनूचा म्हणून (ए० इं० जि० ६ पान १८) व होय्सळ वीरबल्लाल याच्या शके १११४ मधील शासनांत 'मन्वादयः' म्हणून हा श्लोक अवतारित केलेला आहे। गुप्त संवत् ३०० मधील एका शासनांत 'उक्तं च स्मृतिशास्त्रे' असा उल्लेख आहे (ए० इं० जि० ६ पान १४५)।

२—षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः।
आच्छेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् ॥

अर्थ—भूमिदान करणारा साठ हजार वर्षें स्वर्गांत आनन्दांत रहातो आणि त्या दानाचा विच्छेद करणारा व विच्छेदाला अनुमति देणारा तितकींच वर्षें नरकांत वास करितो।

यांतील दुसरें अर्ध बृहस्पति स्मृतींत (पान ६४६) आहे। बदामी येथील महाकूट स्तंभावरचें मंगलीशाच्या कारकीर्दीच्या पांचव्या वर्षांतील शासन (इं० ऑं० जि० १९ पान १६, धर्मशास्त्रांतील श्लोक म्हणून), गुप्त संवत् २३२ मधील नन्दनाचें अमौघ ताम्रशासन (ए० इं० जि० १० पान ५१) व (चेदि) संवत् २०७ मधील दह्सेन याचें पार्डी ताम्रशासन (ए० इं० जि० १० पान ५३, व्यासाचा म्हणून), सिंहादित्याचें पालिठाणा ताम्रशासन (इसवी सन् २७४, ए० इं० जि० २१ पान १६-१८, व्यासाचा म्हणून), वल्लभी संवत् २०६ मधील ध्रुवसेनाचें शासन (ए० इं० जि० २१ पान १०७, व्यासाचा म्हणून), मैत्रक व्याघ्रसेन याचें (चेदि?) संवत् २४१ (म्हणजे ई० स० ४९०) मधील सुरत ताम्रशासन (ए० इं० जि० ११ पान २२१, व्यासाचा म्हणून), शके ६९२ मधील गोविन्दाचें ताम्रशासन (ए० इं० जि० ६ पान २११) इत्यादि शेंकडों ठिकाणीं हा श्लोक अवतारित केलेला आहे। ए० इं० जि० १२ पान १३५ येथें हा श्लोक व आणखी तीन श्लोक (अनुक्रम नम्बर १, ५, २५) व्यास व मनु या दोघांचे म्हणून दिलेले आहेत। गुप्त० अनुक्रम

२१ (गुप्त संवत् १५६ मधील) व गुप्त० अनुक्रम २३ (गुप्तसंवत् १९१ मधील), गुप्त० अनुक्रम २६ पान ११७ (गुप्त संवत् १७४ मधील) महाराज जयनाथ याचें ताम्रशासन इत्यादि ठिकाणीं व्यासाचा म्हणून व शेवटच्या शासनांत महाभारतांतील म्हणून दिलेला आहे। पुष्कळ ठिकाणीं 'षष्टिं वर्षसस्राणि' असा पाठ आहे।

३—स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्।
गवां शतसहस्रस्य हन्तुः प्राप्नोति किल्बिषम् ॥

अर्थ—आपण दान केलेली किंवा दुसऱ्यानें दान दिलेली भूमि जो हरण करतो त्याला एक लक्ष गाईंचा वध करणाऱ्याला जें पाप लागतें त्याची प्राप्ति होते। गृहस्थरत्नाकर या ग्रंथांत बृहस्पतीचा म्हणून हा श्लोक दिलेला आहे, वलभी येथील धरसेन याच्या वलभिसंवत् २६९ मधील शासनांत (इं० आँ० जि० ६ पान ९, व्यासाचा म्हणून), पल्लव राज्ञी चारुदेवी हिच्या ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ८ पान १४६, 'हन्तुः पिबति दुष्कृतम्' असा पाठ आहे), पल्लव सिंहवर्म याच्या पिकिर ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ८ पान १६२, आर्ष श्लोक म्हणून), ध्रुवसेन याच्या वलभि संवत् २१० मधील ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ११ पान १११, व्यासाचा म्हणून), इत्यादि अनेक ठिकाणीं हा श्लोक सांपडतो।

४—स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्।
स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह पच्यते ॥

अर्थ—आपण दान केलेली किंवा दुसऱ्यानें दान दिलेली भूमि जो हरण करितो तो विष्ठेंतील कृमि होऊन आपल्या पितरांसहवर्तमान क्लेश भोगतो।

गुप्तसंवत् १७४ मधील महाराज जयनाथ याच्या ताम्रशासनांत (गुप्त० अनुक्रम २६ पान ११७, 'सर्वसस्यसमृद्धां तु यो···सह मज्जति', असा पाठ आहे), गुप्त संवत् १९१ मधील महाराज हस्तिन् याच्या ताम्रशासनांत (गुप्त० अनुक्रम २३ 'मज्जते' असा 'पच्यते' बद्दल पाठ), इ० स० सातव्या शतकाच्या पूर्वार्धांतील भास्करवर्मन् या राजाच्या निधनपुर ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० १२ पान ७५), शके ५०० मधील चालुक्य मंगलीश याच्या शासनांत (इं० आँ० जि० ६ पान ३६३, 'मज्जति' असा पाठ), शशांक राजाच्या कारकीर्दीतील गुप्तसंवत् ३०० मधील एका शासनांत (ए० इं० जि० ६ पान ४५ स्मृतिशास्त्रांतील म्हणून), ई० सं० ६६० मधील पहिल्या विक्रमादित्याच्या शासनांत (ए० इं० जि० ९ पान १०१, 'षष्टिं वर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः' असा पाठ), कदम्बवंशीय कृष्णवर्म याच्या शासनांत (ए० इं० जि० ६ पान १८, 'षष्टिवर्षसहस्राणि घोरे तमसि पच्यते' असा पाठ), राष्ट्रकूट कृष्णराज पहिला याच्या शके ६९० मधील तळेगांव ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० १३ पान २७०, व्यासाचा म्हणून), शके ८५१ मधील चवथ्या गोविन्दाच्या शासनांत (ए० इं० जि० १३ पान ३३३), संवत् ११९९ मधील गोविन्दचन्द्र याच्या ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० १३ पान २१९) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक आहे। हा बृहस्पति स्मृति पान ६४६ येथेंही आहे। काहीं ठिकाणीं 'स्वविष्ठायां' असा (बृहस्पति) व काहीं ठिकाणीं 'श्वविष्ठायां' असा पाठ आहे।

५—स्वदत्तां परदत्तां वा यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर।
महीं मतिमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम् ॥

अर्थ—बुद्धिमानांत श्रेष्ठ युधिष्ठिरा! आपण दान दिलेल्या किंवा दुसऱ्यानें दान दिलेल्या भूमीचें यत्नपूर्वक रक्षण कर; (स्वतः) दान देण्यापेक्षां दिलेलें दान रक्षण करणें (किंवा चालू ठेवणें) हें जास्त श्रेयस्कर आहे।

यांतील शेवटचा चरण याज्ञवल्क्य १. ३१८—३२० वरील मिताक्षरा टीकेंत आला आहे। कदाचित् तो श्लोक ६ मधून ही घेतलेला असेल। महाराज संक्षोभ याचें गुप्त संवत् १५६ मधील ताम्रशासन व महाराज हस्तिन् याचें गुप्तसंवत् १९१ मधील ताम्रशासन (गुप्त० अनुक्रम २१ व २३, दोन्हीं ठिकाणीं 'पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो' असा पाठ आहे), महाराज जयनाथ याचें गुप्त संवत् १७४ मधील ताम्रशासन (गुप्त० अनुक्रम २६ पान ११७ येथें 'स्वदत्तां' असाच पाठ आहे), मैत्रक व्याघ्रसेन याचें संवत् २४१ म्हणजे सन् ५६० मधील सुरत ताम्रशासन (ए० इं० जि० २१ पान २२१ 'पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष' असा पाठ आहे), गुप्त संवत् १९९ (ई० स० ५१८-१९) मधील महाराज संक्षोभ याचें बैतूल ताम्रशासन (ए० इं० जि० ८ पान २८७, येथेंही 'पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो' हा पाठ आहे), इं० ऑ० जि० ६ पान ३६३ चालुक्य मंगलीश याचें शके ५०० मधील शासन (व्यासाचा म्हणून), बुद्धराज याचें ताम्रशासन (सन् ६०९-१० मधील ए० इं० जि० पान २९७, येथें ही 'पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो' हा पाठ आहे), चेदि संवत् ३९२ मधील चवथ्या दद्दाचें शासन (ए० इं० जि० ५ पान ३७)—या सर्व ठिकाणीं व्यासाचा म्हणून हा श्लोक दिलेला आहे। चाहमान रत्नपाल याच्या संवत् ११७६ मधील ताम्रशासनांत 'पूर्वदत्तां नरेन्द्रैश्च यत्नाद्रक्ष शतक्रतो' असा पाठ आहे।

६—स्वं दातुं सुमहच्छक्यं दुःखमन्यार्थपालनम्।
दानं वा पालनं वेति दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम्॥

अर्थ—स्वतांच्या मालकीची वस्तु दान करणें पुष्कळ शक्य आहे पण दुसऱ्यानें दिलेल्या दानाचें पालन करणें कठीण आहे। (स्वतः) दान देणें किंवा (दुसऱ्यानें दिलेल्या) दानाचें पालन करणें यांतून पालन करणें हें जास्त श्रेयस्कर आहे।

विक्रमादित्य चालुक्य (पहिला) याचें इ० स० ६६० मधील ताम्रशासन (ए० इं० जि० ७ पान १०१), कादम्बवंशीय कृष्णवर्मा याचें ताम्रशासन (ए० इं० जि० ६ पान १८, मनूचा म्हणून) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक आला आहे।

७—अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं भूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गावः।
दत्तास्त्रयस्तेन भवन्ति लोका यः काञ्चनं गां च महीं च दद्यात्॥

अर्थ—सुवर्ण हें अग्नीपासून प्रथम उत्पन्न झालें, भूमि ही विष्णूची कन्या आहे व गाई ह्या सूर्याच्या कन्या होत। जो सुवर्णदान, गोदान व भूमिदान करील त्यानें तिन्ही लोकांचें दान केलें असें होतें (कारण अग्नि, विष्णु व सूर्य ह्यांचीं पृथ्वी अन्तरिक्ष व द्युलोक हीं अधिष्ठानें आहेत)।

हा श्लोक वसिष्ठधर्मसूत्र २८.१६ (येथें तिसरा चरण 'तासामनन्तं फलमश्नुवीत' असा आहे), वनपर्व अध्याय २००.१२८ व बृह० पान ६४७ या ठिकाणीं सांपडतो। हा श्लोक तीवरदेव याच्या राजिं ताम्रशासनांत (गुप्त० पान २९१), तीवरदेवाच्या बालोद ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ७ पान १०५, व्यासाचा म्हणून), दन्तिवर्म याचें शके ७८९ मधील शासन (ए० इं० जि० ६ पान २८५ व २९३, व्यासाचा म्हणून), तिसरा इन्द्रराज याच्या शके ८३६ मधील शासनांत (ए० इं० जि० ९ पान ३७), महासुदेव याच्या खरिआर शासनांत (ए० इं० जि० ९ पान १७३) सांपडतो।

८—विन्ध्याटवीष्वतोयासु शुष्ककोटरवासिनः ।
कृष्णसर्पा हि जायन्ते ब्रह्मदेयापहारकाः ॥

अर्थ—ब्राह्मणाला दिलेल्या दानाचा अपहार करणारे जलविरहित अशाविन्ध्य पर्वताच्या अरण्यांत शुष्क वृक्षाच्या ढोलींत राहाणारे कृष्णसर्प म्हणून जन्मास येतात ।

इं० ऑं० जि० ६ पान ७३ (शके ५३४, व्यासाचा म्हणून), कलचुरि संवत् २९२ (इ० स० ५४१) मधील संगमसिंहाचें ताम्रशासन (ए० इं० जि० १० पान ७४), वलभी संवत् २१० मधील ध्रुवसेन याचें पालिठाणा ताम्रशासन (ए० इं० जि० ११ पान ११३-१४, येथें 'कृष्णाहयो हि जायन्ते भूमिदानं हरन्ति ये' असा पाठ आहे), ए० इं० जि० २ पान २० (सन् ५९५, व्यासाचा म्हणून), चेदि संवत् ३९२ मधील चवथ्या दद्दाचें शासन (ए० इं० जि० ५ पान ३७), ए० इं० जि० ६ पान २११, शके ६९२ गोविन्द याचें शासन, शके १११४ मधील वीरवल्लाळ याचें शासन (ए० इं० जि० ६ पान ९७, मन्वादि महर्षींचा म्हणून) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक येतो। यशःकर्णदेव याच्या चेदि संवत् ८२३ म्हणजे सन् १०७३ मधील ताम्रशासनांत 'वारिहीनेष्वरण्येषु शुष्ककोटरवासिनः । कृष्णसर्पास्तु जायन्ते ब्रह्मदेवस्वहारिणः ।' असा पाठ आहे। महाराज हस्तिन् याच्या गुप्तसंवत् १९१ मधील ताम्रशासनांत 'अपानीयेष्वरण्येषु···कृष्णाहयोभिजायन्ते पूर्वदानं हरन्ति ये ॥' असा पाठ आहे ।

९—यानीह दत्तानि पुरा नरेन्द्रैर्दानानि धर्मार्थयशस्..राणि ।
निर्माल्यवान्तप्रतिमानि तानि को नाम साधुः पुनराददीत ॥

अर्थ—धर्म, अर्थ आणि यश यांची प्राप्ति करून देणारीं जीं दानें पूर्वी राजांनी दिलीं तीं निर्माल्य किंवा वान्ति याप्रमाणें असणारीं कोणता साधु पुरुष परत घेईल ?

ए० इं० जि० २ पान २० (चेदि संवत् ३४६ म्हणजे इ० स० ५९५), ए० इं० जि० ५ पान ३७ (चेदि संवत् ३९२), वलभी संवत् २४६ मधील गुहसेनाचें ताम्रशासन (ए० इं० जि० १३ पान ३३९), शके ७८९ मधील दन्तिवर्म शासन (ए० इं० जि० ६ पान २८५, २९३), ए० इं० जि० ६ पान २९८ (इ० स० ६०९-१०, 'निर्भुक्तमाल्य' असा पाठ आहे), इं० ऑं० जि० ६ पान ७३ (शके ५३४), वलभी संवत् ३२० मधील ध्रुवसेनाचा ताम्रपट्ट (ए० इं० जि० ८ पान १९०), बुद्धराज याचें ताम्रशासन (इ० स० ६०९ मधील, ए० इं० जि० १२ पान ३५), या सर्व ठिकाणीं व्यासाचा म्हणून हा श्लोक दिलेला आहे। इ० स० ५७४ मधील सिंहादित्याच्या पालिठाणा ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ११ पान १८) 'यानीह दारिद्र्यभयान्नरेन्द्रैर्धनानि धर्मायतनीकृतानि' असा पाठ आहे । काहीं ठिकाणीं 'दत्तानि यानीह' असा पाठ आहे ।

१०—सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नृपाणां काले काले पालनीयो भवद्भिः ।
सर्वानेतान् भाविनो भूमिपालान् भूयो भूयो याचते रामचन्द्रः ॥

अर्थ—सर्व राजेलोकांना (हें दिलेलें दान) साधारण असून त्यांना तो धर्माप्रत पोंचविणारा सेतु आहे । (म्हणजे एकट्यालाच ह्या दानाचें पुण्य मिळणारें नसून त्या पुण्यांत मागून येणारे सर्वराजे अंशभाक् आहेत); तुम्हीं (भावी) राजांनीं वेळोंवेळीं या सेतूचें (दानाचें) पालन केलें पाहिजे । अशी प्रार्थना रामचन्द्र पुनः पुनः सर्व भावी राजांना करीत आहे ।

चवथ्या गोविन्दाचें शासन (ए० इं० जि० १२ पान ३३३), ए० इं० जि० ९ पान ३७ (शके ८३६ मधील तिसऱ्या इन्द्रराजाचें शासन), विक्रम संवत् १०७८ मधील भोजाचें ताम्रशासन (इन्डियन हिस्टारिकल कार्टर्ली सन १९३२ पान ३०५), ए० इं० जि० २ पान २२० (शके ८२२), परमर्दिदेवाचें संवत् ११२३ मधील ताम्रशासन (ए० इं० जि० ४ पान १९३), होयसळ वीरबल्लाळ याचें शके १११४ मधील शासन (ए० इं० जि० ६ पान ७७, मन्वादिमहर्षींचा म्हणून), या ठिकाणीं हा श्लोक आहे। काहीं ठिकाणीं अर्धांचा व्यत्यास अहे म्हणजे 'सर्वानेतान्' अशी सुरवात केलेली आहे। उदाहरणार्थ, शके ८१५ मधील नोळंब वंशीय शासन (ए० इं० जि० १० पान ६७, 'याचते रामचन्द्रः' बद्दल 'अर्थयत्येष रामः' असा पाठ), संवत् ११७६ मधील गोविन्दचन्द्राचें सहेट-महेट शासन (ए० इं० जि० २१ पान २४), कर्णदेवाचें सन् १०४७ मधील शासन (ए० इं० जि० २१ पान १४१), चाहमान विग्रहराज याचें शासन (ए० इं० जि० २ पान १२५)।

११—न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।
विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रकम्॥

अर्थ—विष हें खरोखर विष नव्हे असें (जाणते लोक) म्हणतात; ब्रह्मस्व हेंच विष आहे (कारण) विष हें एक जणाला मारतें परन्तु ब्रह्मस्व हें (अपहार करणाराच्या) पुत्रपौत्राचाही घात करतें।

हा श्लोक वसिष्ठधर्मसूत्र १७.७६ येथें, बृह० पान ६४८ येथें आहे व पहिलें अर्ध बौधायन धर्मसूत्रांतही आहे (१.८. १०२). शके ८१५ मधील धर्मपुर येथील नोळंब शासन (ए० इं० जि० १० पान ६७, येथें 'देवस्वं विषमुच्यते' असा पाठ आहे), शके ९७७ मधील सोमेश्वराचें शासन (ए० इं० जि० १३ पान १७३, 'देवस्वं विष' पाठ आहे), संवत् ११७६ मधील चाहमान रत्नपाल याचें सेवाडी ताम्रशासन (ए० इं० जि० २१ पान ३१३-१४), कनोजच्या चन्द्रदेवाचें संवत् ११४८ मधील ताम्रशासन (ए० इं० जि० ७ पान ३०५)।

१२—आस्फोटयन्ति पितरः प्रवल्गन्ति पितामहाः।
भूमिदोऽस्मत्कुले जातः स नस्त्राता भविष्यति॥
१३—प्रायेण हि नरेन्द्राणां विद्यते नाशुभा गतिः।
पूयन्ते ते तु सततं प्रयच्छन्तो वसुन्धराम्॥

अर्थ—पितर टाळ्या पिटतात, पितामह उड्या मारूं लागतात, की आमच्या कुळांत भूमिदान करणारा झाला, तो आम्हाला तारील; प्रायः राजांना अशुभगति प्राप्त होत नाहीं कारण ते वसुन्धरेचें सतत दान करीत असल्यानें पुनीत होतात।

यांतील पहिला श्लोक बृहस्पतिस्मृतींत (पान ६४५) आहे। दोन्ही श्लोक गुप्त संवत् १७४ मधील महाराज जयनाथ याच्या ताम्रशासनांत आहेत (गुप्त० अनुक्रमांक २६ पान ११७)।

१४—सुवर्णमेकं गामेकां भूमेरप्येकमङ्गुलम्।
हरन्नरकमाप्नोति यावदाभूतसंप्लवम्॥

अर्थ—एक सुवर्ण (सोन्याचें नाणें), एक गाय किंवा एक अंगुलसुद्धां भूमि यांचा जो अपहार करितो त्याला भौतिक प्रलयापर्यंत नरक मिळतो।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतींत (पान ६४७) येतो। तेथें 'गामेकां स्वर्णमेकं वा भूमेरप्यर्धमङ्गुलम्। रुन्धन्नरकमायाति' असा पाठ आहे। इ० स० १०४७ मधील कर्णदेवाच्या ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० २१ पान १४१), संवत् ११४८ मधील कनोजच्या चन्द्रदेवाच्या शासनांत (ए० इं० जि० ९ पान ३०५ येथें 'गामेकां स्वर्णमेकं च' असा पाठ आहे), संवत् ११८६ मधील एका शासनांत (ए० इं० जि० २ पान ३६३) हा श्लोक येतो।

१५—भूमिं यः प्रतिगृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति।
उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतं स्वर्गगामिनौ॥

अर्थ—जो भूमीचें दान करितो व जो भूमिदानाचा प्रतिग्रह करितो ते दोघेही पुण्यकर्म करणारे असून निःसंशय स्वर्गास जातात।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतींत पान ६४७ व वृद्धहारीत ७.१६४ येथें आहे। हा श्लोक कर्णदेवाच्या इ० स० १०४७ मधील शासनांत (ए० इं० जि० ९ पान १४१), संवत् ११८६ मधील गोविन्दचन्द्राच्या शासनांत (ए० इं० जि० २१ पान २४), संवत् ११४८ मधील चंद्रदेवाच्या शासनांत (ए० इं० जि० ९ पान ३०५), इ० स० १०४७ मधील कलचुरि सोढदेव याच्या शासनांत (ए० इं० जि० ७ पान ९३), संवत् ११६२ मधील शासनांत (ए० इं० जि० २ पान ३६०) येतो।

१६—फालकृष्टां महीं दद्यात् सबीजां सस्यमालिनीम्।
यावत्सूर्यकृता लोकास्तावत्स्वर्गे महीयते॥

अर्थ—नागरानें नागरलेली, बीजयुक्त व पीक आलेली अशी जमीन जो दान देतो तो जो पर्यंत सूर्याच्या प्रकाशानें लोक प्रकाशित होत आहेत तों पर्यंत स्वर्गांत महत्व पावतो।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतींत (पान ६४५) आहे। दुसरा सत्याश्रय पुलकेशी याच्या चिपळूण ताम्रशासनांत (इ० स० सातवें शतक पूर्वार्ध, ए० इं० जि० ३ पान ५२), इ० स० १०७३ मधील यशःकर्णदेवाच्या ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० १२ पान २०५) तो येतो।

१७—भूमिप्रदानान्न परं प्रदानं दानाद्विशिष्टं परिपालनं तु।
सर्वेऽतिसृष्टां परिपाल्य भूमिं नृपा नृगाद्या त्रिदिवं प्रपन्नाः॥

अर्थ—भूमिदानापेक्षां श्रेष्ठ असें दुसरें दान नाहीं, पण भूमिदानापेक्षांही भूमिदानाचें परिपालन करणें जास्त श्रेष्ठ आहे। दान केलेल्या भूमीचें परिपालन केल्यामुळेंच सर्व नृगादि राजे स्वर्गलोकाप्रत गेले।

महाराज संक्षोभ याच्या गुप्त संवत् १९९ (म्हणजे इ० स० ५१८-१९) मधील बैतूल ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ८ पान २८७, व्यासाचा म्हणून), व त्याच राजाच्या गुप्त संवत् २०९ (गुप्त० अनुक्रम २५ पान ११५) मधील ताम्रशासनांत हा श्लोक येतो।

१८—भूमिदानसमं दानमिह लोके न विद्यते।
यः प्रयच्छति भूमिं हि सर्वकामान्ददाति सः॥

अर्थ—ह्या जगामध्यें भूमिदानासारखें दान नाहीं; जो भूमिदान करितो तो सर्व काम देतो।

पल्लव सिंहवर्म याच्या पिकिर ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ८ पान १६२, आर्ष श्लोक म्हणून) हा दिलेला आहे।

१९—योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव वा ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥

अर्थ—जो मानमरातबानें दान देतो व जो अशा प्रकारें दिलेलें दान घेतो ते दोघे स्वर्गास जातात; याच्या उलट स्थिति असल्यास ते नरकांत जातात ।

संवत् ११६२ मधील शासनांत हा श्लोक आहे (ए० इं० जि० २ पान ३६०)। हा मनुस्मृति ४·२३५ आहे ।

२०—अपि गङ्गादितीर्थेषु हन्तुर्गामथवा द्विजम् ।
निष्कृतिः स्यान्न देवस्वब्रह्मस्वहरणे नृणाम् ॥

अर्थ—गङ्गादितीर्थांच्या ठिकाणीं गाय किंवा द्विज यांचा वध करणाराही पुरुष कदाचित् पापापासून मुक्त होईल परन्तु देव व ब्राह्मण यांचें धन हरण करणारा पुरुष (पापांतून) मुक्त होणार नाहीं ।

वेळगांवच्या इ० स० १२०४ च्या एका शासनांत हा श्लोक येतो (ए० इं० जि० १३ पान २२)।

२१—मद्वंशजाः परमहीपतिवंशजा वा पापादपेतमनसो भुवि भाविभूपाः ।
ये पालयन्ति मम धर्ममिमं समस्तं तेभ्यो मया विरचितोऽञ्जलिरेष मूर्ध्नि ॥

अर्थ—माझ्या वंशांतील किंवा परवंशांतील जे भावी राजे पापापासून मन परावृत्त करून मी जें हें दान केलें आहे तें समग्र पालन करितील त्यांच्यापुढें शिर वाकवून मी अञ्जलि करितों (म्हणजे मी त्यानां हात जोडून नमस्कार करितों). सहाव्या विक्रमादित्याच्या निळगुन्द येथील सन् ११२३ मधील ताम्रशासनांत हा श्लोक आहे (ए० इं० जि० १२ पान १५५)।

२२—अद्भिर्दत्तं त्रिभिर्भुक्तं सद्भिश्च परिपालितम् ।
एतानि न निवर्तन्ते पूर्वराजकृतानि च ॥

अर्थ—जलपूर्वक कलेलें दान, तीन पिढ्या उपभोगिलेली जमीन व साधुपुरुषांनीं परिपालन केलेलें दान आणि पूर्वीच्या राजांनीं केलेलीं दानें ही निवृत्त होत नाहींत। कदम्बवंशीय कृष्णवर्म याच्या ताम्रशासनांत मनूचा म्हणून हा श्लोक दिलेला आहे (ए० इं० जि० ६ पान १८)।

२३—शङ्खो भद्रासनं छत्रं वराश्वा वरवारणाः ।
भूमिदानस्य चिह्नानि फलमेतत्पुरन्दर ॥

अर्थ—हे इन्द्रा ! शङ्ख, राजसिंहासन, छत्र, श्रेष्ठ घोड़े व श्रेष्ठ गज हें जें फळ (एखाद्याला) प्राप्त होतें तें भूमिदानाचें द्योतक आहे (म्हणजे पूर्वजन्मीं किंवा या जन्मीं भूमिदान करणाराला हीं राजचिह्नें प्राप्त होतात)।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतींत (पान ६४५) आहे। कलचुरि सोढदेव याच्या इ० स० १०७७ मधील ताम्रशासन (ए० इं० जि० ७ पान ९३), कनोजच्या चन्द्रदेवाचें संवत् ११४८ मधील शासन (ए० इं० जि० ९ पान ३०५), संवत् ११८६ मधील गोविन्द्रचन्द्राचें शासन (ए० इं० जि० ११ पान २४), यशःकर्णदेवाचें इ० स० १०७३ मधील शासन (ए० इं० जि० १२ पान २०५) येथें हा श्लोक आढळतो।

२४—न तथा सफला विद्या न तथा सफलं धनम् ।
यथा तु मुनयः प्राहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

अर्थ—या कलियुगांत एक दान जसें सफल होतें तशी विद्या किंवा धन सफल होत नाहीं असें मुनि म्हणतात।

दुसऱ्या भिल्लमाच्या शके ९२२ मधील संगमनेर ताम्रशासनांत हा श्लोक व आणखी चार श्लोक (७,१२, ४०,४१) 'इति पराशरकुत्साङ्गिरस-गौतम-मनु-याज्ञवल्क्यमुनिवचनान्यवधार्य' असें म्हणून दिलेले आहेत (ए० इं० जि० २ पान २१९)।

२५—भूमिदानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति !
तस्यैव हरणात्पापं न भूतं न भविष्यति ॥
२६—पूर्वैः पूर्वतरैश्चैव दत्तां भूमिं हरेत्तु यः ।
स नित्यव्यसने मग्नो नरके च वसेत्पुनः ॥

अर्थ—भूमिदानापेक्षां श्रेष्ठ दान पूर्वी झालें नाहीं व पुढें होणार नाहीं। त्या भूमिदानाचा अपहार केल्यानें जें पाप लागतें त्याहून मोठें पाप झालें नाहीं व होणार नाहीं। प्राचीन व अतिप्राचीन (दात्यांनीं) दिलेल्या भूमीचा जो अपहार करील तो नेहमीं संकट-ग्रस्त होईल आणि नरकांत वास करील।

हे दोन्ही श्लोक काञ्ची येथील पल्लव राजवंशांतीत दुसरा कुमारविष्णु याच्या चेंदलूर ताम्रशासनांत आहेत (ए० इं० जि० ८ पान २३५, ब्रह्मगीत श्लोक म्हणून)। श्लोक २५ हा इन्द्रवर्म याच्या ताम्रशासनांत आहे (ए० इं० जि० १२ पान १३५, व्यास-मनु-गीतश्लोक म्हणून श्लोक, १,२,५, व २५ या ठिकाणीं दिलेले आहेत)।

२७—गण्यन्ते पांसवो भूमेर्गण्यन्ते वृष्टिबिन्दवः ।
न गण्यन्ते विधात्रापि धर्मसंरक्षणे फलम् ॥

२८—परदत्तां तु यो भूमिमुपहिंसेत्कदाचन ।
स बद्धो वारुणैः पाशैः क्षिप्यते पूयशोणिते ॥

अर्थ—जमिनीवरील मातीचे कण मोजतां येतील किंवा वृष्टि होत असतां पडणारे पाण्याचे बिन्दु मोजतां येतील, परन्तु धर्माचें (दानाचें) रक्षण केल्यानें जें फळ (पुण्य) प्राप्त होतें त्याचें माप ब्रह्मदेवालाही घेतां येणार नाहीं। जो कोणी कधींही दुसऱ्यानें दान केलेल्या भूमीचा विच्छेद करील तो वरुणाच्या पाशांनीं बांधला जाऊन रक्त व पूयात फेंकला जाईल।

हे दोन्हीं श्लोक शके १११४ मधील होयसळ वीरबल्लाळ याच्या गदग येथील शासनांत आहेत (ए० इं० जि० ६ पान ९७, मन्वादिमहर्षींचे म्हणून)।

२९—इति कमलदलाम्बुबिन्दुलोलां श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवितं च ।
अतिविमलमनोभिरात्मनीनैर्नहि पुरुषैः परकीर्तयो विलोप्याः ॥

अर्थ—मनुष्याचें जीवित व संपत्ति हीं कमलपत्रावरील पाण्याच्या बिन्दूप्रमाणें चंचल आहेत हें ध्यानांत वागवून अतिशुद्ध अन्तःकरणाच्या व आमच्या वंशांतीत पुरुषांनीं दुसऱ्याच्या कीर्तीचा (दानें देऊन मिळविलेल्या) लोप करूं नये।

शके ६९७ मधील ध्रुवराज याच्या पिंपरी ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० १० पान ८९), शके ७८९ मधील दन्तिवर्म ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ६ पान २९४), इ० स० १०७७ मधील कलचुरि सोढदेव याच्या ताम्रशासनांत

(ए० इं० जि० ७ पान ९३), संवत् १०७९ मधील भोजाच्या ताम्रशासनांत (इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली स० १९३२ पान ३०५) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक आहे।

३०—वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्यमापातमात्रमधुरा विषयोपभोगाः।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां धर्मः सखा परमहो परलोकयाने ॥

अर्थ—पृथ्वीचें आधिपत्य हें वाऱ्यानें फिरविल्या जाणाऱ्या अभ्राप्रमाणें (चंचल किंवा क्षणिक) आहे, विषयांचें सेवन केवळ प्रारम्भी गोड लागतें (परन्तु परिणामीं कडू किंवा घातक), मनुष्याचे प्राण हे तृणाग्रीं लोंबणाऱ्या जलबिन्दूप्रमाणें आहेत (केव्हां खालीं पडतील याचा नियम नाहीं), म्हणून लोकहो, परलोकीं जातांना धर्म हाच श्रेष्ठ मित्र होय।

यशःकर्णदेव याच्या कलचुरि संवत् ८२३ (इ० स० १०७२-७३) मधील ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० १२ पान २०५), संवत् ११८६ मधील गोविन्दचन्द्र याचें सहेतमहेत ताम्रशासन (ए० इं० जि० २१ पान २४), त्याच राजाचें संवत् ११९९ मधील ताम्रशासन (ए० इं० जि० १३ पान २२०) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक आहे।

३१—अस्मत्कुलं परमुदारमुदाहरद्भिरन्यैश्च दानमिदमत्र नु मोदनीयम्।
लक्ष्म्यास्तडित्सलिलबुद्बुदचञ्चलाया दानं फलं परयशःप्रतिपालनं च ॥

अर्थ—आमचें कुल अत्यन्त थोर आहे अशी घोषणा करणाऱ्या (आमच्या वंशांतील) राजांनीं व इतरानीं हें जें दान (आम्हीं) दिलें आहे त्याला अनुमति द्यावी। विद्युत् किंवा पाण्याचा बुडबुडा याप्रमाणें चञ्चल अशी जी लक्ष्मी तिचें फल म्हटलें तर दान व दुसऱ्याच्या (दानें केल्यामुळें मिळालेल्या) यशाचें परिपालन हेंच होय।

संवत् १०७९ मधील भोजदेवाच्या नवीन संपादिलेल्या ताम्रशासनांन (इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली १९३२ पान ३०५, 'कुलक्रममुदारमुदाहर०' असा पाठ आहे)', संवत् ११६२ मधील गोविन्दचन्द्राच्या बनारस ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० २ पान ३६०) मध्यें हा श्लोक येतो।

३२—अस्मिन् वंशे द्विजघ्नोऽपि यश्चान्यो नृपतिर्भवेत्।
तस्यापि करलग्नोऽहं शासनं न व्यतिक्रमेत् ॥

अर्थ—या (आमच्या) वंशांत ब्रह्महत्या करणाराही जरी कोणी नृपति झाला तरी त्याच्याही पुढें मी अञ्जलि जोडतों कीं (प्रार्थना करितों कीं) मी दिलेल्या शासनाचा त्यानें भंग करूं नये।

इ० स० १०४७ मधील कर्णदेवाचें ताम्रशासन (ए० इं० जि० २१ पान १४१), संवत् ११७६ मधील चाहमान रत्नपाल याचें सेवाडो ताम्रशासन (येथें 'अस्मद्वंशे यदा क्षीणे यः कोपि नृपतिर्भवेत्। एतस्याहं करे लग्नः' असा पाठ आहे व तो जास्त चांगला आहे), इ० स० १०७३ मधील यशःकर्णदेव याचें ताम्रशासन (ए० इं० जि० १२ पान २०५) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक येतो।

३३—यावन्ति सस्यमूलानि गोरोमाणि च संख्यया।
नरस्तावन्ति वर्षाणि स्वर्गे तिष्ठति भूमिदः ॥
३४—न्यायेनोपार्जिता भूमिरन्यायेनापहारिता।
हरन्तो हारयन्तोऽपि आघ्नन्त्यासप्तमं कुलम् ॥

३५—त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती ।
आसप्तमं फलन्त्येते दोहवाहनिवेदनैः ॥
३६—सर्वेषामेव दानानामेकजन्मानुगं फलम् ।
हाटकक्षितिगौरीणां सप्तजन्मानुगं फलम् ॥
३७—तडागानां सहस्रेण अश्वमेधशतेन च ।
गवां कोटिप्रदानेन भूमिहर्ता न शुध्यति ॥
३८—सत्यं चैव हुतं चैव यत्किंचिद्धर्मसंचितम् ।
अर्धाङ्गुलेन सीमाया हरणेन प्रणश्यति ॥
३९—ऋणहर्ता भूमिहर्ता हारयिता हि ते त्रयः ।
एते च नरकं यान्ति यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥

अर्थ—गाईच्या रोमांची जितकी संख्या आहे (म्हणजे असंख्य) किंवा शेतांत उगवणाऱ्या पिकांची जितकीं मुळें असतात तितकीं वर्षें भूमिदान करणारा मनुष्य स्वर्गलोकीं वास करितो। न्यायानें मिळविलेल्या भूमीचा जर अन्यायानें अपहार केला गेला तर अपहार करणारे आणि करविणारे यांच्या कुलाचा सात पुरुषांपर्यंत घात होतो (म्हणजे नरक-गति प्राप्त होते)। गाय, पृथ्वी आणि विद्या हीं तीन दानें सर्वदानांत पलीकडचीं आहेत। ही दानें देणाऱ्याच्या कुळांत सातव्या पुरुषापर्यंत दुग्ध, वाहन व निवेदन (विद्यासंपन्नता) या तीन प्रकारांनीं फल प्राप्त होत असतें। सर्व दानांचे फल फक्त एक जन्मापुरतेंच मिळत असतें, परन्तु सुवर्ण, भूमि आणि कन्या यांच्या दानांचें फल सात जन्म पर्यंत बरोबर येत असतें। भूमीचा अपहार करणारा एक हजार तलाव बांधून, शंभर अश्वमेध करून, एक कोटी गाई देऊन ही (पापांतून) शुद्ध होत नाहीं। सत्याचें पालन, अग्नींत हवन यामुळें व दुसऱ्या मार्गानीं जो कांहीं धर्माचा संचय केलेला असेल तो सर्व अर्धअंगुळ इतकी सुद्धां जर सीमा अपहृत केली तर नाश पावतो। ऋणाचा अपहार करणारा, भूमीचा अपहार करणारा व (ऋण आणि भूमि) यांचा अपहार करविणारा हे (तीघेही) चवदा इन्द्रांचें (देवांवर) अधिराज्य असे पर्यंत नरकांत जातात।

हे सातही (३३-३९) श्लोक चाहमान रत्नपाल याच्या संवत् ११७६ मधील सेवाड ताम्रशासनांत आढळतात (ए० इं० जि० ११ पान ३१२-३१३)। यांपैकीं ३५ श्लोकाचा पूर्वार्ध, ३७ व ३४ हे श्लोक बृहस्पति स्मृतींत (पान ६४६ व ६४७) येतात। 'त्रीण्याहुरति··सरस्वती' हें अर्ध वसिष्ठस्मृति (२९-१९) येथें ही आढळतें। श्लोक ३३, ३४ हे यशःकर्णदेवाच्या ताम्र शासनांतही येतात (ए० इं० जि० १२ पान २०५)। श्लोक ३७ व ३९ राष्ट्रकूट कृष्णराज ह्याच्या शके ६९० मधील तळेगांव ताम्रपट्टांत आहेत (ए० इं० जि० १३ पान २८०-८१, ३९ चें उत्तरार्ध 'नरकान्न निवर्तन्ते यावदाभूतसंप्लवम्' असें आहे)। ३६ चें पूर्वार्ध बृह० पान ६४६ व वसिष्ठधर्मसूत्र २९.१९ येथें आहे.

४०—भूमिदानं सुपात्रेपु सुतीर्थेपु सुपर्वणि ।
अगाधापारसंसारसागरोत्तारणं भवेत् ॥
४१—धवलान्यातपत्राणि दन्तिनश्च मदोद्धताः ।
भूमिदानस्य पुण्यानि फलं स्वर्गः पुरन्दर ॥

अर्थ—योग्यपुरुषांना उत्तम तीर्थांचे ठिकाणि व चांगल्या पर्वकालीं दिलेलें भूमिदान अगाध आणि अपार असा संसारसागर तरून जाण्याचें साधन होतें। हे इन्द्रा! मदमत्त हत्ती व शुभ्रछत्रें हीं भूमिदानाचीं पुण्यें आहेत व स्वर्ग हा फल आहे।

हे दोन्हीं श्लोक संगमनेर येथील शके ९२२ मधींल यादववंशीयदुसऱ्या भिल्लमाच्या ताम्रशासनांत आहेत (ए० इं० जि० २ पान २१९).

ह्या श्लोकांवरून सुचणारे कांहीं विचार नमूद करणें आवश्यक आहे। गुप्तवंशाच्या पहिल्या शासनांत असले श्लोक नाहींत। उदाहरणार्थ, गुप्त संवत् ८८ (इ० स० ४०७-८) मधील दुसऱ्या चन्द्रगुप्ताच्या शिलाशासनांत ‘यश्चैनं धर्मस्कन्धं व्युच्छिन्द्यात् पञ्चमहापातकैः संयुक्तः स्यादिति’ एव्हढेंच वाक्य आहे; त्याच प्रमाणें गुप्त संवत् ९३ मधील (गुप्त० अनुक्रमांक ५ पान ३२) शासनांत ही ‘तदेतरप्रवृत्तं य उच्छिन्द्यात् स गोब्रह्महत्यया संयुक्तो भवेत्पंचभिश्चानार्यैः’ असें आहे। गुप्त संवत् १४६ मधील स्कन्दगुप्ताच्या ताम्रशासनांत एक श्लोक आहे पण तो व्यासाचा किंवा स्मृतींतील म्हणून दिलेला नाहीं व पुढें आढळणाऱ्या श्लोकांपैकीं नाहीं। तो श्लोक असा ‘यो विक्रमेद्दायमिमं निबद्धं गोघ्नो गुरुघ्नो द्विजघातकः सः। तैः पातकैः पञ्चभिरन्वितोधो गच्छेन्नरः सोपनिपातकैश्च ॥’ गुप्तवंशाप्रमाणेंच प्राचीन पल्लव वंशांतील शिवस्कन्दवर्मन् याच्या शासनांतही (ए० इं० जि० १ पान ७) हे श्लोक येत नाहींत। यावरून असें दिसतें कीं इ० स० च्या चवथ्या शतकापर्यंत शासनें लिहण्याची सर्वसंमत पद्धति ठरली नव्हती व दानविच्छेदासम्बन्धाचे श्लोक सर्वश्रुत झाले नव्हते। पुढें जसजसें गुप्तसाम्राज्य वळावत जाऊन विस्तृत झालें व वैदिक धर्माचा पुनः विजय व सर्वत्र प्रचार झाला आणि निरनिराळ्या याज्ञवल्क्य बृहस्पति इत्यादि स्मृति प्रमाण मानण्यांत येऊं लागल्या तेव्हां विशिष्ट पद्धतीनें शासनें लिहिण्यांत येऊं लागलीं व दानविषयक श्लोक उद्धृत करण्यांत येऊं लागले।

दानविच्छेदाचा निषेध पुष्कळ श्लोकांत जरी केलेला असला तरी लोभी राजे व इतर लोक दिलेली दानें परत घेत किंवा त्यांचा लोप वारंवार करीत असें दिसतें। यासंबंधानें परिव्राजक महाराज संक्षोभ व हस्तिन् यांच्या शासनांत एक नैराश्यपूर्ण विलक्षण वाक्य येतें त्याचा उल्लेख केला पाहिजे। गुप्त संवत् १९१ मधील ताम्रशासनांत ‘योन्यथा कुर्यात्तमहं देहान्तरगतोपि महतावध्यानेन निर्दहेयम्’ (जो कोणी माझ्या दानाचा विपर्यास किंवा छेद करील त्याला मी दुसऱ्या देहांत असलों तरी अत्यंत अकल्याण चिंतून जाळून फस्त करीन) अशी धमकी महाराज हस्तिन्[1] यानें दिलेली आहे (गुप्त० अनुक्रमांक २३ पान १०७)। त्याच प्रमाणें गुप्त संवत् १९९ मधील संक्षोभ याच्या शासनांत (ए० इं० जि० ७ पान ८७) तेच शब्द आहेत। त्याच प्रमाणें गुप्त संवत् २०९ मधील महाराज संक्षोभ याच्या ही शासनांत आहेत (गुप्त० अनुक्रमांक २५ पान ११५)। चालुक्य विक्रमादित्य (पहिला) याच्या इ० स० ६६० मधील ताम्रशासनांत ‘देवब्राह्मण यांना दिलेलीं शासनें त्या तीन राज्यांत नष्ट झालेलीं विक्रमादित्यानें पुनः प्रस्थापित केलीं असें वर्णन आहे (ए० इं० जि० ९ पान १००)। तिसऱ्या इन्द्रराजाच्या शके ८३६ मधील शासनांत ‘पूर्वींच्या राजांनीं विलुप्त केलेले चारशें गांव त्यानें परत दिले’ असा उल्लेख आहे (ए० इं० जि० ८ पान २४)।

---

[1] ‘अवध्यान’ याचा अर्थ ‘तुच्छ लेखणें, तिरस्कार’ असा आहे। तो अर्थ येथें बरोबर जुळत नाहीं। मुळांत ‘अपध्यानेन’ असें असल्यास जास्त बरें। ‘अपध्यान’ म्हणजे मनांतल्या मनांत शाप देणें। हा शब्द कादम्बरी वगैरे संस्कृत ग्रन्थांत येतो।

विजयादित्य का अम्मणिगि-ताम्रपत्र

श्रीयुत पं० वीरभद्र शर्मा तैलंग, वेद-काव्यतीर्थ, साहित्यविशारद, काशी

चार साल हुए यह ताम्रपत्र मुझे अपने मित्र पं० श्रीगुरुदेव जी स्वामी द्वारा मिला। आपने बताया कि "१५ साल हुए, मैंने इसे अपनी जन्मभूमि अम्मणिगि गाँव के हिरेमठ में पहले पहल पाया था। यह मठ बड़े श्रीशैल (ज़ि० कर्नूल) के पास वाले, प्रसिद्ध सारंग-मठ वालों के वंशजों का है। इस वंश में दो उपक्रम माहेश्वर स्वामी प्रसिद्ध तपस्वी और विद्वान् हो गये हैं। पश्चिमी चालुक्य राजाओं के शासनकाल में पंडितों का आदर बहुत होने के कारण हमारे पूर्वजों में से कुछ लोग वहाँ से निकल कर इस अम्मणिगि गाँव (ज़ि० बेलगाँव) में वास करने लगे थे। इस पत्र के बारे में हमारे वंश में परम्परा चली आती है कि यह पत्र चालुक्य महाराजाओं ने भूदान करते समय हमारे पूर्वजों को दिया था। ३० वर्ष पूर्व इस पत्र के साथ और भी दो पत्र थे, किन्तु इधर कितने ही विद्वानों ने परिशोध के बहाने बहुत कुछ पुस्तकें (ताड़पत्र की) और ताम्रपत्रों को 'अपनाया' है, इस के अतिरिक्त मठ के पालकों की असावधानी से भी कुछ पत्र लुप्त हो गये हैं।"

हमारे पास एक ही पत्र है, जिस की लम्बाई ९ १/८ अंगुल, और चौड़ाई, ४ ३/८ अंगुल है। पत्र के दोनों तरफ नौ नौ पंक्तियाँ हैं, और चारों तरफ के कोने मोड़ कर थोड़े ऊपर को उठाये गये हैं। एक तरफ का कोना थोड़ा फट गया है। इस तरह पत्र की हालत बहुत कुछ अच्छी है।

विक्रमादित्य सत्याश्रय श्री पृथ्वीवल्लभ महाराज परमेश्वर भट्टारक के पौत्र और विनयादित्य सत्याश्रय महाराज के पुत्र श्रीविजयादित्य सत्याश्रय महाराज के सभी को आज्ञापूर्वक घोषणा करने के कारण इस पत्र का दाता दानावसर पर लिखा जाना माना जायगा। इस पत्र के मालिकों का वंश-परम्परागत कथन भी इस का समर्थक है। दाता तो पश्चिमी चालुक्य वंश का सुप्रसिद्ध राजा है। ये लोग, पहले वातापि (बादामि) नगर में राज्य करने के कारण इतिहास-जगत् में "वातापि के चालुक्य" कर के भी प्रसिद्ध हैं। वंशतालिका के अनुसार यह विजयादित्य द्वितीय पुलकेशी का प्रपौत्र और प्रथम विक्रमादित्य का पौत्र ठहराया गया है। उस समय में द्वितीय पुलकेशी का भाई, विष्णुवर्धन महाराजा और उन के पुत्र मिल कर पूर्वी-चालुक्य (वेंगी अथवा आन्ध्र) राज्य का पालन करते थे। इस दान के दाता विजयादित्य का समय उस के पिता (विनयादित्य) और पौत्र (कीर्तिवर्मा) के दानपत्रों और शिलालेखों का अवलोकन कर के इतिहास के विद्वानों ने ई० सं० ६९६ से ७३४ के बीच माना है।[१]

---

[१] ए० इं० (५), पृ० २०० प्र; इं० ऑँ० (६), पृ० १८२ प्र।

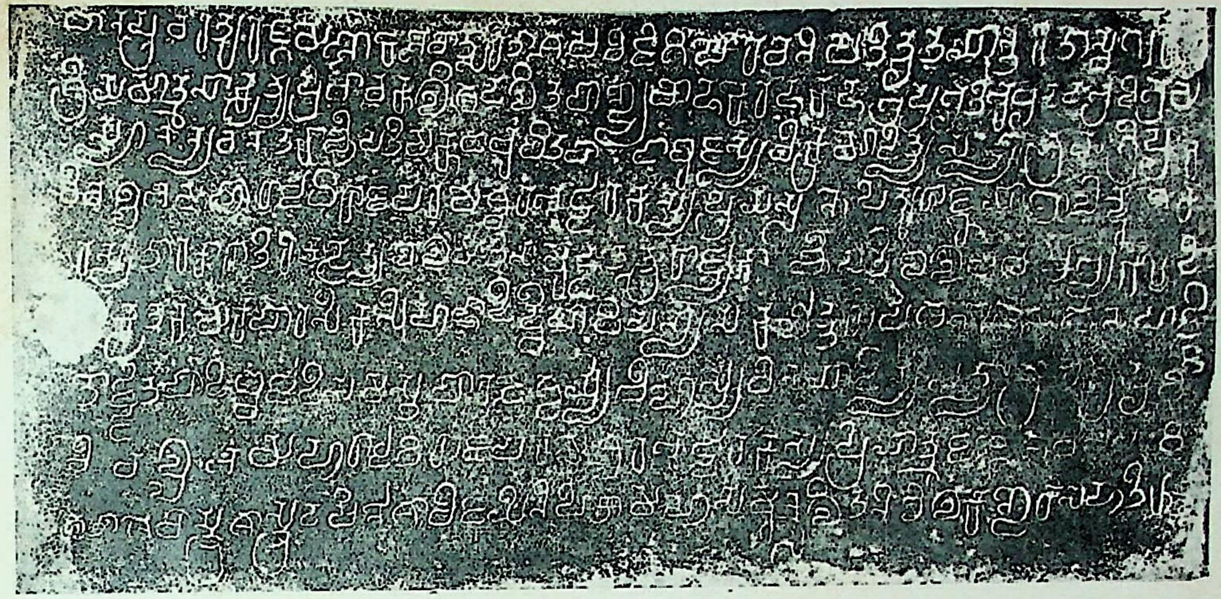

अम्मणिगि ताम्रपत्र की पहली ओर

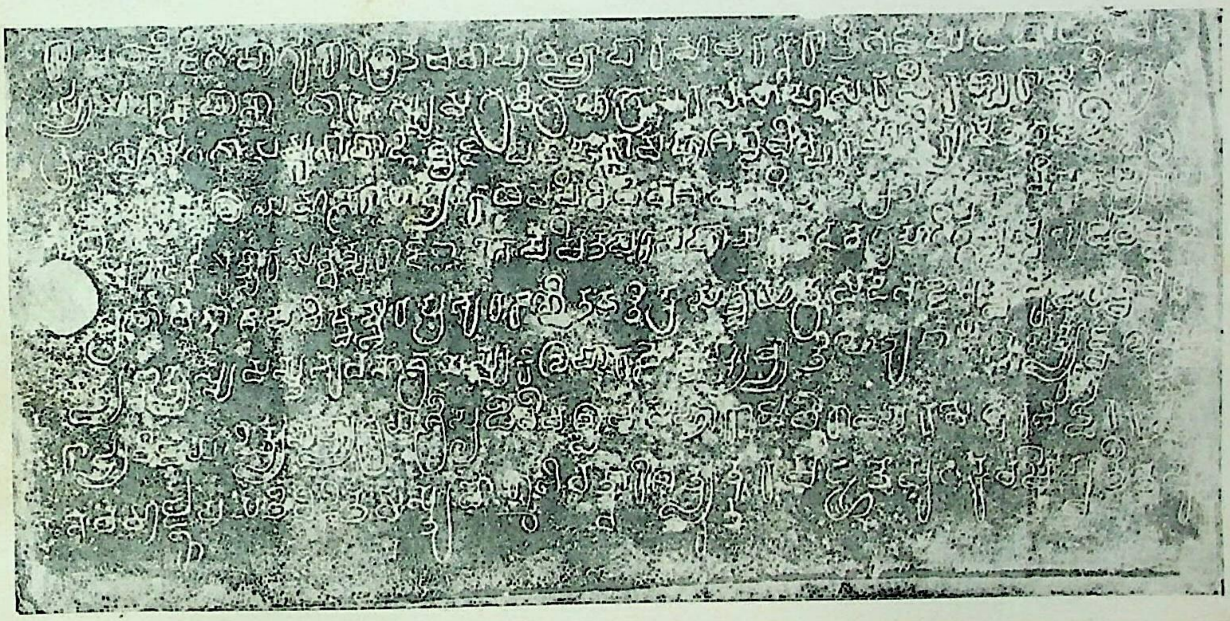

अम्मणिगि ताम्रपत्र की दूसरी ओर

पतिगृहीता

इस पत्र का अगला भाग न मिलने से इस दान के प्रतिगृहीता का ठीक नाम या वंश नहीं बतलाया जा सकता। तो भी अम्मरिणगि के मठ में चली आती चिरकालीन परम्परा के कारण यही अनुमान होता है कि उसी मठ के किसी प्राचीन और तपस्वी आचार्य को यह दानपत्र दिया गया होगा; क्योंकि दक्षिण भारत के मठों में इस प्रकार के दानपत्र अब तक बहुत मिल चुके हैं।

दानपत्र का समय

इस ताम्रपत्र में "चत्वारिंशत्युत्तरषट्छतेषु शकवर्षेष्वतीतेषु" (शक वर्ष ६४० बीतने पर अर्थात् ई० स० ७१८) ऐसा स्पष्ट उल्लेख होने से इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि इस पत्र को दिये हुए अब बारह सौ पन्दरह बरस हो चुके। इस पत्र की लिपि भी इस बात को सिद्ध करने में समर्थ है। कालनिर्णय के विषय में तो यह दानपत्र औरों के लिए भी आदर्श है।

विशेषताएँ

इस पत्र के अक्षर प्राचीन आन्ध्रकर्नाटक-लिपि के हैं, पत्र के एक तरफ के अक्षर गोल और दूसरी तरफ के अक्षर इस से कुछ भिन्न याने कोनेदार होने से ऐसा भास होता है कि इस पत्र को लिखने वाले दो आदमी होंगे। अक्षरों के गड्ढों में कोई कठिन मसाला भरा है जो बहुत परिश्रम करने पर भी ठीक नहीं निकल सका, इस के अलावा पत्र का दूसरा पाश्व ज्यादा ऊँचा नीचा है, अतः पत्र का प्रतिबिंब वैसा नहीं आया, जैसा मैं चाहता था।

स्वरों में इ ए और हलों में 'क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल ळ व, श ष स ह; क्ष त्र ज्ञ, अक्षर आये हैं। स्वर मात्राओं में " ॅ, ॏ" को छोड़ सभी मात्राएँ आने पर भी 'इ, और ई' की मात्रा में कोई भेद मालूम नहीं होता। हल् मात्रओं में क् ख् ग् च् छ् ज् ट् ड् त् द् न् भ् म् य् र् ल् व् श् स् ह्" आई हैं। कुछ जगह महाप्राणों के लिए अल्पप्राण प्रयुक्त किये गये हैं, दोष तो नहीं से हैं। ( ), [ ] इन कोष्ठों में दोष और च्युत अक्षरों को दिखाऊँगा, यहाँ मेरे पाठ के अनुसार मूल, और मेरे उतारे हुए दो चित्र दिये जाते हैं।

पहली ओर का पाठ

१. धान[1] प्रवरतुरङ्गमेणैकेनैवोत्सारिताशेषविजिगिषोरवनिपतितृतय न्तरिता[ं] स्वगुरो [:]
२. श्रियमात्मसाक्रि(त्कृ)त्य प्रभावकुलिश दलित पाण्ड्यचोळ केरळ कळभ्र प्रभृति भूभृदद्भ्रविभ्रम-
३. स्यानन्यावनत काञ्चीपति मकुट चुंवि(म्बि)त पादांबु(म्बु)जस्य विक्रमादित्यसत्याश्रयश्रीप्रुथु(थि)-
४. वीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरभट्टारकप्रियसूनो [:] पितुराज्ञया बालेन्दु शेक (ख)-
५. रस्यतारकारातिरिव दैत्यवलमतिसमुद्धतत्रैराज्यकाञ्चीपतिबलमवष्टभ्य करदी-
६. क्र(कृ)तकवेर पारसिकसिंहलादिद्वीपाधिपस्य सकलोत्तरापथनाथमथनोपार्ज्जि-
७. तोर्ज्जितपाळिध्वजादिसमस्तपारमैश्वर्यचिन्हस्य विनयादित्यसत्याश्रयश्रीप्रुथि-
८. वीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरभट्टारकस्यप्रियात्मजश्शैशवएवाधि-
९. गताशेषास्त्रशास्त्र (स्त्रो) दक्षिणाशाविजयिनि पितामहे सम्मुन्मूलितनिखिलकण्टकसंहितिरुत्त-

दूसरी ओर का पाठ

१०. रापथ विजिगीषोर्गुरोरग्रतएवावहव्यापारमाचरन्नरातिगजघटापाटनविशी-
११. र्य्यमान(ण) क्र(कृ)पाणधारस्समग्रविग्रहाग्रेसरससाहसरसिकः परामु(ङ्मु)खीक्र(कृ)तश-

---

[1] इस 'धान' शब्द के पहले 'चित्रकंठ' (याने चित्रकंठाभिधान) का पाठ और और पत्रों में आता है।

१२. त्रुमण्डल(लो) गंगा(ङ्गा) यमुनापाळिध्वजपट(ह)ढक्कामहाशब्दचिन्हकमाणिक्यमतंग(ङ्ग)जादीन्पितृ [सा]-
१३. त्कुर्व प(न्प) रैः पलायमानैरासाद्य कथमपि विधिवशादपनीतोपि प्रतापादेव विषयप्रकोप[1]-
१४. मराजकमुत्सारयन्वत्सराजइवानप(पे)क्षित परसहायकत(स्त)दवग्रहानि(न्नि)र्गत्य स्वभुजावष्टभ (म्भ)
१५. प्रसाधिताशेष विश्वम्भर [:] प्रभुरक(ख)ण्डितशक्तित्रयत्व(त्वा,छ(च्छ)त्रुमदभञ्जनत्वादुदारत्वा
१६. न्निरवद्यत्वाद्यस्समस्तभुवनाश्रयः सकलपारमैश्वर्यव्यक्तिहेतुपाळिध्वजात्युज्वलप्राज्य-
१७. राज्यविजयादित्यसत्याश्रयश्रीप्रुथिवीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वर भट्टरकस्सर्वा-
१८. नेवमाज्ञापयति विदितमस्तुवो [ऽ] स्माभिच(श्च.त्वारि [ं] शत्युत्तरपट्छतेपु शकवर्पेष्वतीतेपु

तात्पर्य

"चित्रकंठ नामवाले एक अश्व से ही अनेक वीरों को भगा कर, तीन राज्यों से संपादित की हुई अपने पिता की लक्ष्मी को अधीन करते हुए, अपने पराक्रम रूपी वज्रायुध से पाण्ड्य चोळ केरळ कळभ्र देशों के नृपति रूपी पर्वतों को भेदते हुए, और किसी राजा के सामने न झुकने वाले कांची नरेश से पूजित विक्रमादित्य सत्याश्रय श्रीप्रुथिवीवल्लभ महाराज परमेश्वर भट्टारक के सुपौत्र—जैसे शिव जी की आज्ञा से कुमारषण्मुख ने राक्षससैन्य का विध्वंस किया था, वैसे ही अपने पिता की आज्ञानुसार अत्यद्भुत त्रिदेश कांची राजा की सेना को बाँध कर, कवेर पारसिक सिंहलादि द्वीपाधीशों को करदाता बनाने वाले, समस्त उत्तराखंड के राजाओं को मथ कर पाळिध्वजादि निखिलपार्मैश्वर्य चिन्हों को प्राप्त करने वाले, श्री विनयादित्य सत्याश्रय महाराजा के पुत्र समग्र धनुर्विद्या को अध्ययन कर के दक्षिण-देश विजय के लिए पितामह के जाने के बाद, विविध बाधाओं को दूर कर, उत्तर-देश विजय के लिए प्रयाण किये हुए अपने पिता के आगे ही युद्ध कार्य को निभाते हुए, शत्रु-राजाओं के कुम्भ-भेदन से अपनी तलवार की धारा फट जाने पर भी युद्ध के अन्त तक सब के आगे रहने के कारण से हो सर्वैर्यरसिक, गङ्गा यमुना-पाळिध्वजादि से चिन्हित, माणिक्यगजों को अपने पिता के हस्तंगत कराते हुए भागते हुए शत्रुओं से दुर्दैव से किसी तरह पकड़ा जाने पर भी स्वपराक्रम से ही दूसरों की सहायता की अपेक्षा न करते हुए, वत्सराज की तरह, शत्रु वन्धन से बाहर आ कर स्वभुज बल से इस विश्व को वश में करने वाले और प्रभुमंत्रोत्साह नामक शक्तित्रय की संपन्नता से, शत्रु गर्वपरिहरण से, उदारता से, निर्मलता से, समस्तजगदाधार, और निखिल पारमैश्वर्य के कारण पाळिध्वज से अत्युज्वल साम्राज्य में विराजमान विजयादित्यसत्याश्रय महाराजा सारी प्रजा को यह आज्ञा देते हैं कि "तुम लोगों को मालूम होना चाहिए कि हम इस शकवर्ष के छः सौ चालीस गुजर जाने पर"—

अनुबन्ध

ताम्रपत्र का भाग थोड़ा उपलब्ध होने पर भी यह विजयादित्य के प्रताप को जनाने में समर्थ है। अन्य ताम्रपत्रों से यह मालूम होता है कि पश्चिमी चाल्युक्यराजाओं ने, काञ्ची के पल्लव राजाओं को युद्ध में हरा कर, कावेरी नदी के तीर पर दूसरी राजधानी की स्थापना की थी। यहाँ, पराक्रम का अभिमान या राज्य के आशा से प्रेरित हो कर उत्तरदेशीय राज्यों पर भी चालुक्यों ने हमला किया, जंग में काफ़ी जीत भी हुई, किन्तु गडबड़ी में युवराज विजयादित्य पकड़ा गया और उस ने अकेले ही शत्रुओं से लड़ कर अपने आप को मुक्त करा लिया, इत्यादि बातों से कर्णाटक के राजाओं के गत गौरव की सूचना मिलती है।

ऐसा मालूम होता है कि उस समय में गंगा यमुना पाळिध्वजादि राजाओं के लिए बड़े गौरव के चिन्ह थे। तभी तो विजयादित्य ने भी उत्तरदेशीय राजाओं से छीन कर उन चिन्हों को पिता के अधीन किया।

---

[1] "विषय प्रकोपमराजक" का तात्पर्य समझ में ठीक नहीं आता।

"गंगा यमुना" नामक विरुद शायद नदी या कलश के रूप में कोई चिह्न हों। "पाळिध्वज" तो जैनियों के सिद्धान्त के अनुसार सार्वभौमत्व (परमेश्वर) का चिह्न है। जिनसेनाचार्य-विरचित "आदिपुराण" के २२ वें सर्ग में पाळिध्वज के वारे में इस प्रकार कहा गया है—

स्रग्वस्त्रसहसानाब्जहंसवीनमृगेशिनाम् ।
वृषभेभेन्द्रचक्राणां ध्वजाः स्युर्दश भेदकाः ॥१॥
अष्टोत्तरशतं ज्ञेयाः प्रत्येकं पाळिकेतनाः ।
एकैकस्यां दिशि प्रोक्तास्तरंगास्तोयधेरिव ॥२॥
पवनान्दोलितास्तेषां केतूनामंशुकोत्करः ।
व्याजुहू धुरिवाभासि जिनेज्यायै नरामरान् ॥३॥
इत्यमी केतवो मोहनिर्जयोपार्जिता वभुः ।
विभोस्त्रिभुवनेशत्वं शंसतोऽनन्यगोचरम् ॥४॥
दिश्येकस्यां ध्वजाः सर्वे सहस्रं स्यादशोति यत् ।
चतसृष्वथ ते दिक्षु शून्यद्वित्रिकसागराः ॥५॥

"पुष्पमाला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, वृषभ, गज, चक्र," इन चिह्नों से अंकित ध्वजाएँ दस प्रकार हैं, एक एक प्रकार में १०८ खड़ी करने से एक हज़ार नौ ध्वजाएँ हो जायँगी, इसी समूह का नाम पाळिध्वज है। चारों दिशाओं में इस प्रकार खड़ा करने से ध्वजाओं की संख्या ४३२६ हो जाती है; इस का भी पाळिध्वज नाम है। ऐसा कहा जाता है कि मोहत्याग के वाद जिन भगवान् ने जिस समय त्रिभुवनपतित्व को अपनाया था, उस समय पाळिध्वज को भी प्रभुत्व के चिह्न के तौर पर स्वीकार किया था। तभी से राजाओं ने साम्राज्य-चिह्नों में इस पाळिध्वज को महत्त्व दिया होगा।

वुधवुद्धिः पुरातत्त्वं विशित्वाशु महोज्ज्वलम् ।
येन भारतमैतिह्यं गुप्तं दृश्यं भविष्यति ॥

—

एकटि शिवकालीन मुद्रा

श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ सेन, बी० लिट्० (आक्सफ़ोर्ड), एम्० ए०, पी-एच० डी० (कलकत्ता), कलकत्ता

[कृष्णाजी अनन्त सभासद ने अपनी पुस्तक में शिवाजी के कोषागार का वर्णन करते हुए अनेक सिक्कों का उल्लेख किया है। यह पुस्तक सन् १६९४ ई० में समाप्त हुई। उस समय ये सब सिक्के प्रचलित होने के कारण उन्हों ने उनका मान बताने की आवश्यकता न समझी। परन्तु अब वे सिक्के लुप्त-प्राय हो गये हैं, अतएव उन का ठीक ठीक मान बताना कठिन है।

उस तालिका में उल्लिखित सब से प्रथम सिक्का गम्बार (अँग्रेज़ी गबार) है। हण्टर के मतानुसार यह मुद्रा सन् १७६३ ई० में बम्बई में प्रचलित थी, तथा इस का मूल्य तीन रुपये साढ़े बारह आने था। अठारहवीं शताब्दी के दूसरे तथा तीसरे दशक में भी पश्चिमी भारत के वाणिज्य-केन्द्रों में यह चलती थी। तत्कालीन कम्पनी के पत्रों से ज्ञात होता है कि सन् १७३६ ई० में सूरत में इस का मूल्य कुछ घट गया था। इस के मूल्य का ठीक पता लगाना तो कठिन है; परन्तु बहुधा यह तीन और चार रुपये के बीच होता था।]

कृष्णाजी अनन्त सभासद शिवाजी महाराजेर कोषागारेर विवरणे अनेकगुलि सुवर्ण ओ रौप्य मुद्रार उल्लेख करियाछेन। एइ मुद्रागुलि शिवाजी महाराजेर जीवितकाले ओ मृत्युर अव्यवहित परे एरूप प्रचलित छिल जे सभासद तत्सम्बन्धे अन्य कोनो तथ्य प्रदान करा प्रयोजन बोध करेन नाइ। कालक्रमे एइसकल मुद्रा एकेबारे लोप पाइयाछे, सुतरां आधुनिक समये एइ मुद्रागुलिर उत्पत्तिस्थान ओ विनिमय-मूल्य सम्बन्धे आलोचना करा असंगत हइबे ना। सभासदेर-ग्रन्थेर इंराजी अनुवाद प्रकाश-काले एइ प्राचीन मुद्रागुलि सम्बन्धे आमि विशेष कोनो तथ्य संग्रह करिते पारि नाइ। किन्तु मत्प्रणीत Administrative System of the Marathas वा मराठा-दिगेर राष्ट्र-शासनपद्धति नामक इंराजी ग्रन्थेर द्वितीय संस्करणे एकटि परिशिष्टे एइ सम्बन्धे संक्षेपे आलोचना करियाछिलाम। ऐ परिशिष्ट प्रधानत: विदेशी पर्यटकदिगेर लिखित विवरणेर साहाय्ये सङ्कलित हइयाछिल।

परे लण्डनेर इण्डिया-आफ़िसेर कागज-पत्रेर मध्ये सभासदेर तालिकार प्रथम सुवर्णमुद्राटि सम्बन्धे आरओ किछु खबर पाओया गियाछे। महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर ओझा महाशयके श्रद्धाञ्जलि प्रदान उपलक्ष्ये एइ सामान्य तथ्य कयेकटि ऐतिहासिक साधारणेर गोचर करितेछि।

सभासदेर तालिकार प्रथम मुद्राटिर नाम 'ग म्बा र'। शिवाजी महाराजेर भाण्डारे एक लक्ष गम्बार छिल। एइ गम्बार ओ समसामयिक इंराजी चिठिपत्रे उल्लिखित 'गबार' (Gubbur) जे अभिन्न, ताहा नि:सन्देहे बला जाय। हाण्टार साहेबेर मते १७६३ अब्दे बोम्बाइयेर बाजारे एइ मुद्रार प्रचलन छिल। तखन एकटि गबार छिल तिन टाका साड़े बारो आनार समान (Hunter, Annals of Rural Bengal, Appendix O, p.474.)। बोम्बाइ पाब्लिक कन्साल्टेशन (Bombay Public Consultation) हइते जाना जाय जे एइ मुद्रा अष्टादश शताब्दीर द्वितीय

ओ तृतीय दशके पश्चिम भारतेर बहु वाणिज्य केन्द्रेइ प्रचलित छिल। १७२७ सालेर ३रा जानुआरीर कन्साल्टेशन वा आलोचनाय एइ मुद्रार उल्लेख आछे, किन्तु उहार विनिमय-मूल्य सम्बन्धे कोनो कथा नाइ। १७३४ सालेर १७ अगष्ट तारिखे एकखानि चिठिते तेलीचेरीर इङ्गराज वणिकेरा सुरत हइते अन्यान्य मुद्रार मध्ये गबारओ चाहिया पाठाइयाछिलेन। ("A supply of money in rupees, venetians and Gubburs for carrying on their purchases."—Bombay Public Consultation, Range CCCXLI No. 7 (b) p. 306)

१७३६ साले एइ मुद्रार विनिमय-मूल्य पूर्वापेक्षा कमियाछिल। एइ जन्य ६इ सेप्टेम्बर बोम्बाइयेर कर्तृपक्ष सुरतेर कर्मचारीदिगके दश हाजार गबार किनिते लिखियाछिलेन। तिन टाका साड़े दश आना वा एगारो आना दरे पाइले पनेरो हाजार पर्य्यन्त गबार क्रयेर अनुरोध एइ पत्रयोगे करा हइयाछिल। ('It was reported that Gubburs could be bought at Surat at less than their usual price. The gentlemen at Surat were instructed to buy ten thousand and if they are to be had for three rupees ten anas and an half, or three rupees eleven anas then they may buy fifteen thousand.'—Bombay Public Consultation, Range CCCXLI No. 8. p. 324)। इहा हइते बुझा जाइतेछे जे १७३६ साले गबारेर मूल्य बोम्बाइयेर बाजारे तिन टाका एगारो आना अपेक्षा वेशी छिल, किन्तु १७३६ हइते १७६३ साल पर्यन्त एइ मुद्रार मूल्येर बोध हय वेशी तारतम्य हय नाइ।

कृष्णाजी अनन्त सभासद १६९४ साले ताँहार ग्रन्थ समाप्त करन। ऐ समये गबारेर मूल्य किरूप छिल ताहा सठिक जाना जाय ना। अनुमान हय जे इहार मूल्य तिन हइते चारि टाकार मध्येइ छिल।

सभासदेर तालिकार अन्यान्य सुवर्णमुद्रा सम्बन्धेओ प्राचीन ग्रन्थ ओ समसामयिक चिठि-पत्रेर साहाय्ये आलोचना हओआ आवश्यक।

मुड़िया लिपि में एक ग्रन्थ

श्री कामताप्रसाद जैन, अलीगंज, एटा

दिल्ली और संयुक्त-प्रान्त के हिन्दू व्यापारियों में जो लिपि बहीखाता लिखने के लिए प्रचलित है उसे 'मुड़िया' कहते हैं। वह नागरी लिपि का लघु रूप है। हिन्दू व्यापारी उसे अपने सुभीते के लिए वर्त्तते हैं। किन्तु वह लिपि व्यापारिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही। पाठक शायद आश्चर्य करें कि धर्मज्ञ जैन गृहस्थों ने उसे साहित्य-रचना का भी साधन बना लिया था। अलीगंज, ज़िला एटा, के दिगम्बर जैन शान्तिनाथ के मन्दिर में हमें आठ ऐसी बहियाँ मिली हैं जिनमें जैन साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'त्रिलोकसार' की गाथाओं पर मुड़िया लिपि में टीका लिखी हुई है। पहली वही का आकार ७$\frac{१}{२}$ इंच चौड़ा और २१ इंच लम्बा है, और उस में कुल ३७ पत्रे हैं। शेष बहियाँ भी प्राय: इसी आकार और कुछ कमती-ज़्यादा इतने ही पत्रों की हैं। पहली वही पर आदि में निम्न प्रकार का लेख लिखा हुआ है:—

धर्मपाल के माथे त्रिलोकसार के गाथान का व्यौरा
चैत बदी ५ सुकर त्रिलोकसार थापा १८२५।

इसी वही के अन्तिम पत्र पर इस की समाप्ति का समय 'संवत् १८२५ मिती सावन सुदी १४ बृहस्पतिवार देवहरा' लिखा हुआ है। इन उल्लेखों से मुड़िया के इस ग्रन्थ का नाम 'त्रिलोकसार के गाथान का व्यौरा' और उस की रचना का आरम्भ सं० १८२५ में सिद्ध होता है। आठवीं वही के अन्त में लेखक ने अपना परिचय और समय निम्न लिखित शब्दों में दिया है:—

'मिती कुआँर बदी १० सनीचर संवत् १८३० लिखित बनारसीदास के बेटा शिवसुख पद्मावतीपुरवार वासी जहानाबाद के।'

इस से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ जहानाबाद के निवासी किन्हीं शिवसुख द्वारा लगभग पाँच वर्ष में रचा गया था। हमारे ख़याल से मुड़िया लिपि में शायद यही सब से पहली उपलब्ध रचना है।

इस ग्रन्थ से दो बातों का पता चलता है। पहली तो यह कि मुड़िया लिपि साहित्य-रचना में भी प्रयुक्त हुई है; और दूसरी यह कि वर्तमान प्रचलित मुड़िया से संवत् १८२५—३० की मुड़िया हिन्दी के बहुत निकट, और उस से सादृश्य रखती थी, जैसे कि साथ में लगे हुए मानचित्रों से प्रकट है। संभव है, उस समय इस लिपि का जन्म हुए अधिक समय नहीं बीता था।

उक्त ग्रन्थ की रचना का नमूना भी देखिये—

पंक्ति १. "१ सकती। और सेना। और स्थूलपना। और रूप इन का नाम बल है।
२. "सो अहै बल सबद नपुंसकलिंग है॥ बहुरि बल बीरज और दैतअ (?)

(१)

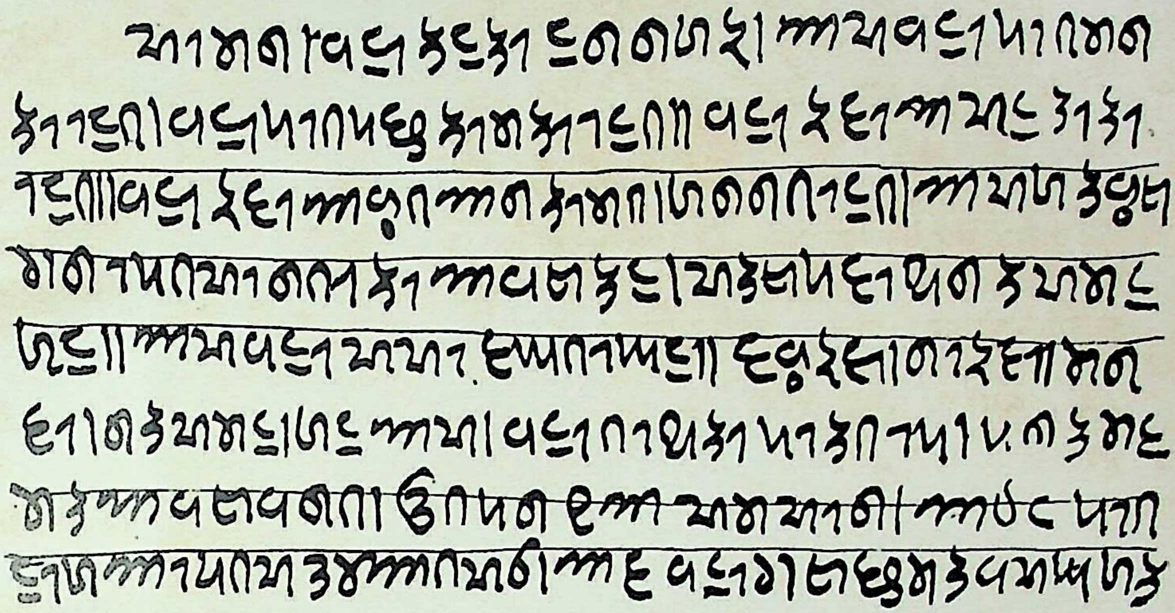

(२)

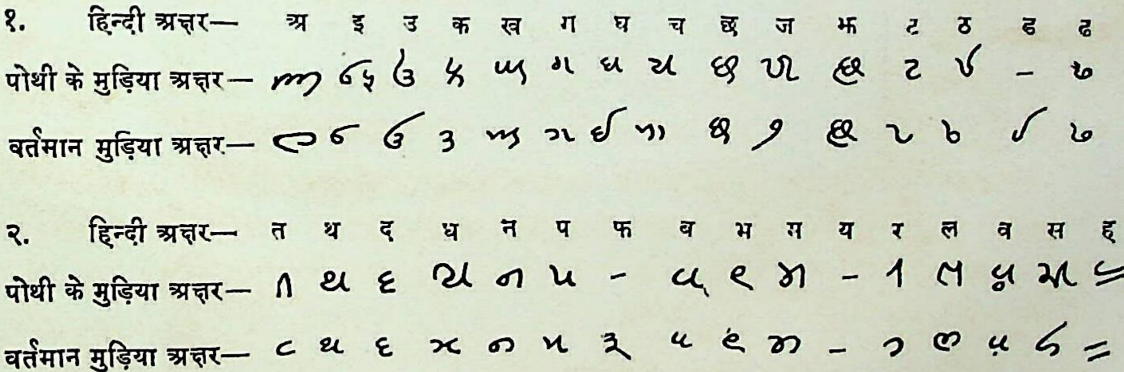

१. हिन्दी अक्षर— अ इ उ क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ

पोथी के मुड़िया अक्षर—

वर्तमान मुड़िया अक्षर—

२. हिन्दी अक्षर— त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व स ह

पोथी के मुड़िया अक्षर—

वर्तमान मुड़िया अक्षर—

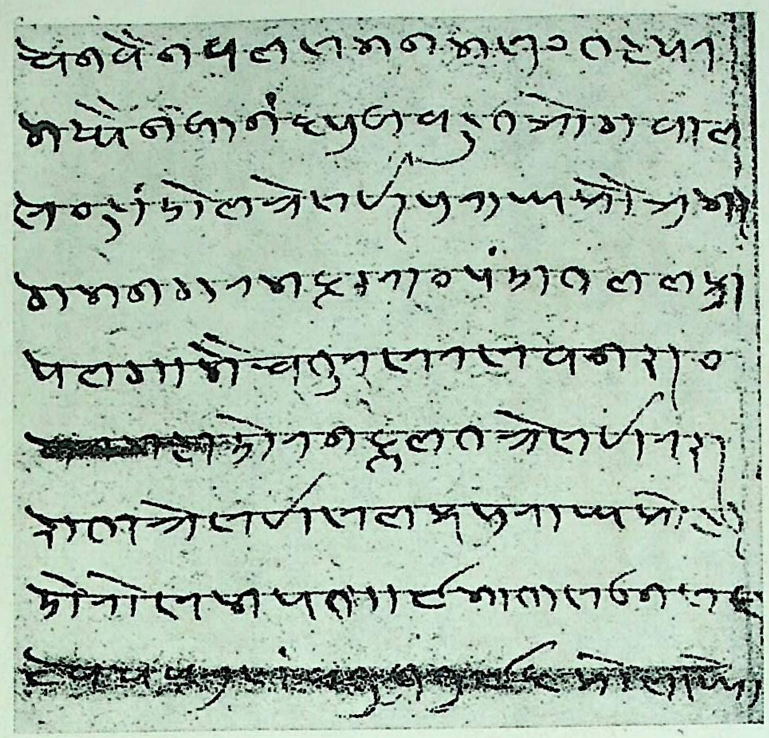

३. और काक (? और बलवान। इन का नाम बली है ॥ सो अहै बल सबद।
४. पुरख लगा है ॥ सों इह बल सबद कर सकती सेना रूप तन अरथ गरा है ॥"

चित्र १ में दिये गये उद्धरण का पाठ

"॥ है ॥ श्रीमान्। बहुरि काहूकरि हना न जाइ। ऐसा बहुरिं प्रतिमान करि रहित। बहुरि प्रतिपक्षी कर्म करि रहित ॥ बहुरि इन्द्रिय सहकार करि रहित ॥ बहुरि इन्द्रियवत अनुक्रम तें। जानने तें रहित। ऐसा जो केवलज्ञान रूप तीसरे नेत्र कर अवलोका है। सकल पदार्थन का समूह जहाँ ॥ ऐसा बहुरि संसार दुख तृषा है (?) ॥ देवेन्द्र। नरेन्द्र। मनेन्द्रन का समूह। जहाँ ऐसा। बहुरि तीर्थंकर प्रकृति रूप पुण्य की महिमा के अवलम्बन तें। उत्पन्न भया समोशरण। आठ ८ प्रातिहार्य और ३४ चौंतीस अतिशय। आदि——"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि इस लिपि में मात्राओं का अभाव था। ऊपर हम यह लिख चुके हैं कि मुड़िया लिपि का जन्म उक्त ग्रन्थ के रचना-काल से किञ्चित पहले हुआ होगा। हमारे इस कथन का समर्थन विक्रम सं० १७९६ के लिखे हुए एक अन्य हस्तलिखित गुटके की लिपि से होता है। उस में प्रयुक्त अक्षर-लिपि की समानता नागरी से अधिक है और उस में आधी-पद्धी मात्रायें भी जहाँ-तहाँ लगाई गई हैं। उस का नमूना चित्र सं० ३ में दिया गया है। उस नमूने का पाठ यों है—

१. चानवै नवल सामान मासे० तहां पुर (?)
२. मध्ये नवीनंद पु (?) बहुत जोग वील (?)
३. स० हींडोला त्रेसठ। पुरष कौ भीमी (?)
४. गाम नगर मधे। ग० पंडित लाल जी
५. पलगामै (?) चतुर सरस वनरा०
६. धर्म हींडोरन झूलते त्रेसठ। र—(?)
७. —(?) त्रेसठ। सलाका पुरुष को हीं—
८. —डोरो समाप्तं ॥ ९ मिती सावन सुदी
९. ८ बुधवार संवत् १७९६ को लिखा।

इसी पोथी में एक स्थल पर सं० १७६५ भी लिखा है। लेखक ने समय-समय पर रचनाएँ लिखी हैं।

इन उद्धरणों को आधार मान कर यह कहा जा सकता है कि मुड़िया लिपि का हिन्दी से निकास होना संवत् १७६९ के लगभग आरंभ हो गया था। आरंभ में उस के साथ थोड़ी-बहुत मात्राएँ भी सुविधानुसार लगाईं जाती थीं; किन्तु संवत् १८२५ तक वह लिपि बहुत कुछ विकसित हो गई और उस में मात्राएँ बिल्कुल नहीं रक्खी गईं।

चित्रप्रश्नम्

श्रीयुत अनुजन अचन, कोच्चि

चित्रप्रश्नं ज्योतिश्शास्त्रसंबन्धमाय ओरु ग्रन्थमाकुन्नु। ओरुवन्‍रे भाविये संबन्धिच्चुळ्ळ अरिवु वळरे एळुप्पत्तित् इतु नोक्कुन्नतुकोण्टु सिद्धिक्कुन्नु। ई ग्रन्थत्तिले एतेङ्किलुं चित्रत्तोटु चोदिच्चालरियां ओरुवन्‍रे भावि गुणमो दोषमो एन्नु।

तालपत्रत्तित् एळुत्ताणिकोन्टु वरच्चिट्टुळ्ळ चित्रङ्ङळोटुकूटिय "चित्रप्रश्नग्रन्थङ्ङळ्" मध्यकेरळत्तिले मून्नु ग्रन्थप्पुरकळित् निन्नु ई लेखकन्नु कण्टुकिट्टियिट्टुण्टु[1]। इत्तरं ग्रन्थङ्ङळ् इन्त्ययित् वेरे एविटेयेङ्किलुं उण्टो एन्नु अरियुन्निल्ल[2] एनिक्कु कण्टेत्तुवान् कळिञ्ञेटत्तोळं ग्रन्थङ्ङळ् ओत्तुनोक्कि चित्रङ्ङळोटुकूटि प्रसिद्धप्पेटुत्तेंणमेन्नाणु विचारिक्कुन्नतु। कोच्चियिले आर्कियोळजिकल डिप्पाइटुमेण्टिले ओरु मम्मोयर् आयिट्टायिरिक्कुं ईग्रन्थं प्रसिद्धघेटुत्तुन्नतु।

ई लखकन्नु पकर्तियेटुक्कुवान् साधिच्चिट्टुळ्ळ ग्रन्थङ्कित् ओन्नु तेन्कैलासमेन्नु प्रसिद्धिकेट्ट तृश्शिवपेरूरिले ओरु सन्यासिमठत्तित् निन्नुं किट्टियिट्टुळ्ळताकुन्नु। जगत्गुरु श्री शङ्कराचार्यरुटे शिष्यपरम्परयित् पेट्ट सन्यासिमारुटे ई मठं, कोच्चि राज्यत्तिले सन्यासिमठङ्ङळित् वेच्चु एऱ्ऱवुं प्रधानप्पेट्ट ओन्नाकुन्नु। प्रस्तुत ग्रन्थं अविटत्ते इप्पोळत्ते मठाधिपतियाय शक्तिधरानन्दब्रह्मानन्दभूति स्वामिकळ् एनिक्कु पकर्त्तियेटुक्कुवान् सन्तोषपूर्वं सम्मतिच्चतन्नि ट्टुळ्ळताकुन्नु।

ई ग्रन्थत्तित् आके ओरुनूरु चित्रङ्ङळुण्टु। ओरो चित्रवुं ओरो तालपत्रत्तिन्‍रे मुन्वशत्तु वरक्कप्पेट्टिरिक्कुन्नु। अतातु चित्रङ्ङळे संबन्धिच्चुळ्ळ फलङ्ङळ् अतातु पत्रत्तिन्‍रे पिन्वशत्तु श्लोकरूपत्तित् एळुतप्पेट्टिट्टुण्टु। ओरो श्लोकत्तिन्‍रेयुं एटत्तु भागत्तु मार्जिनिलायि अतिन्‍रे मलयाळार्थवुं एळुतियिट्टुण्टु।

ई ग्रन्थत्तिले चित्रङ्ङळ् एत्रत्तोळं विशेषप्पेट्टवयाणेन्नु ई लेखनत्तोटुकूटि प्रसिद्धप्पेटुत्तियिट्टुळ्ळ "तामरप्पोयक्"[3] एन्न। चित्रत्तित् निन्नुं मनस्सिलाक्काम्। इतु ई ग्रन्थत्तिले पतिनारामत्ते चित्रमाकुन्नु।

उत्तरइन्त्ययिले ओरु महापण्डितन्‍रे स्मारकमायि प्रसिद्धप्पेटुत्तुन्न ओरु ग्रन्थत्तित्, द्राविड भाषयाय मलयाळत्तित् ओरु लेखनं नागरीलिपियित् एळुति प्रसिद्धप्पेटुत्तुन्नतु अभिलषणीयं आणेङ्किलुं अल्लेङ्किलुं, अङ्ङिनेवेणमेन्नु निश्चयिच्च "ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ समित" युटे विशालमनस्कतये इविटे नन्दिपूर्वं अनुस्मरिक्काते निवृत्तियिल्ला॥

---

१. ये तीनों पुस्तकालय कोचिं राज्य के अन्तर्गत हैं।

(१) दि पलियम मेनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, चिन्नमयलम्;

(२) दि तेक्केमधम लाइब्रेरी, त्रिचूर;

(३) दि ग्रन्थ लाइब्रेरी, त्रिप्पुनिथुर।

२. इस टिप्पणी के साथ प्रकाशित होने वाले इन पोथियों में से एक के एक फ़ोटोग्राफ़ से इन चित्रों का स्वरूप और ताड़-पत्र पर लिखने का प्रकार अच्छी तरह प्रकट हो जायगा।

३. कमल-ताल।

तामरप्पोयक्

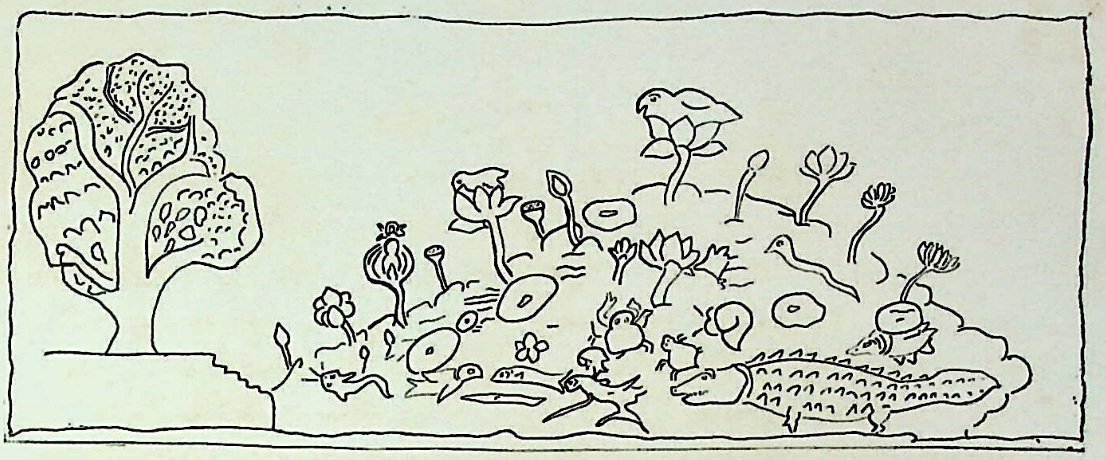

नवपङ्कजकैरवाभिरामं
सर एतत्सरसोऽभिवीक्षते यः ।
धनलाभबले अतीव कान्तिं
परमैश्वर्यमपि प्रयाति सोऽयम् ॥

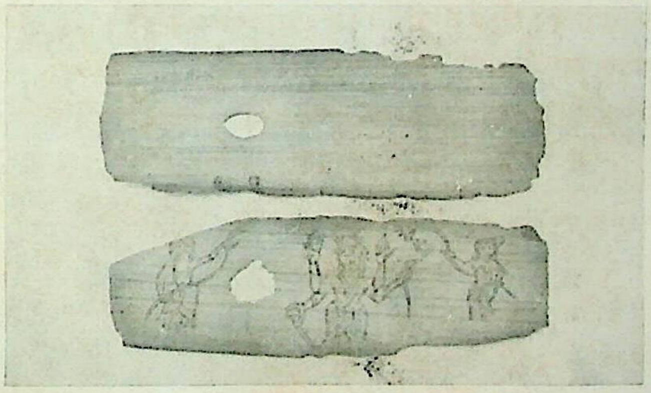

'चित्रप्रश्नम्' पोथी का एक पन्ना

[अनुवाद*]

चित्रप्रश्नर् ज्योतिप शास्त्र का एक ग्रन्थ है इसे पढ़ने से एक के भविष्य के बारे में अच्छा ज्ञान आसानी से हो जाता है। इस के किसी चित्रसे पूछने से यह जाना जा सकता है कि एक का भविष्य अच्छा है या बुरा।

ताड़ के पे पर लोहे के कांटे से खींचे गये चित्रों सहित ग्रंथ मध्य केरळ के तीन ग्रंथालयों से मिले हैं। पता नहीं है कि ऐसा ग्रन्थ हिन्दुस्त में और कहीं है या नहीं। मेरा विचार यह है कि जितने ग्रंथ मुझे प्राप्त हुए हैं उन सब को चित्रों के साथ छाप कर प्रकाशित कर चाहिए। यह ग्रंथ कोचि के आर्चियालॉजिकल डीपार्टमेन्ट के स्मारक के लिये प्रकाशित किया जाएगा।

मैं जितने थों की नक़ल कर सका उन में से एक ग्रंथ "तीन कैलास" के नाम से प्रसिद्ध "तृशिवपेरूर" के एक संन्यासी के आश्रम से प्राप्त हुआ है। जगतगुरू श्री शङ्कराचार्य जी के शिष्यों में से एक का यह आश्रम कोचीं के दूसरे आश्रमों से बहुत श्रेष्ठ है। प्रस्तुत ग्र वहाँ के आजकल के मठाधिपति "शक्तिधरानन्द ब्रह्मानन्द भूति स्वामी" ने नक़ल करने के लिये मुझे दिया है।

इस ग्रन्थ कुल १०० चित्र हैं। हर एक चित्र एक एक ताड़ के पत्ते पर खींचा गया है। साथ साथ चित्रों के फलों के बारे में श्लोक भी लिखे हैं। हर एक श्लोक की बाईं ओर उस का मलयालम अर्थ भी लिखा गया है।

इस लेख ाथ छपने वाले "तामरप्पोयक" नामक चित्र से जाना जा सकता है कि इस ग्रन्थ के चित्र कितने श्रेष्ठ हैं। यह इस ग्रन्थ का वां चित्र है।

उत्तर भार एक बड़े पण्डित के स्मारक के लिये प्रकाशित होने वाले एक ग्रंथ में द्राविड़ भाषा "मलयालम" में एक लेख नागरीलीपि में लिर प्रकाशित करना, चाहे यह आवश्यक हो या न हो, वैसा करने का निश्चय करने वाली "ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ समिति" की ाल हृदयता का धन्यवादपूर्वक अभिनन्दन किये बिना मैं नहीं रह सकता।

---

* दक्षि-हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास, की कृपा से प्राप्त।

६

ललित कला

Zur Vorgeschichte des Buddha-Bildes

प्रो॰ डॉ॰ हेल्मुथ फ़ॉन ग्लाज़नाप, कोनिग्सबर्ग विद्यापीठ

[इस बात की व्याख्या कि साँची और भारहुत के मूर्त दृश्यों में बुद्ध की उपस्थिति को उन की मूर्ति के बजाय चिन्हों द्वारा दर्शाया गया है, जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के मूलतः अभाव से तुलना कर के करनी होगी। जान पड़ता है शुरू में, जैसे ब्राह्मण लोग नाम रूपहीन ब्रह्म को चित्रित नहीं करते थे, उसी तरह शिल्पी लोग उन महात्माओं का भी जिन्हों ने संसार छोड़ दिया है और निर्वाण पा चुके हैं, मूर्त चित्रण करना पसन्द न करते थे।

परन्तु ईसवी पूर्व की पिछली शताब्दियों के धार्मिक विकास के कारण इस में परिवर्तन हुआ। एकेश्वरवादी विचारों के विकास का फल यह हुआ कि शिव या विष्णु को ईश्वर—अन्य संसारी देवताओं की तुलना में सत् और आनन्द स्वरूप—समझा जाने लगा। ईश्वर का, जैसा कि भगवद्‌गीता में है, ब्रह्म से एकत्व माना गया है।

पर क्योंकि शिव या विष्णु के रूप में उस की मूर्तियाँ पहले से विद्यमान थीं, अतः अब इस युक्ति के लिए कोई स्थान न रहा कि केवल उसी को चित्रों द्वारा उपस्थित किया जा सकता है जो संसारी हो।

इस का प्रभाव जैनों पर पड़ा, जो सदा से अपने उपासकों को, जो कुछ दूसरे धर्मों में हो उसे देने में तत्पर रहते थे हिन्दुओं की प्रतिमा-पूजन की सफलता ने उन्हें तीर्थंकर-प्रतिमाओं को प्रचलित करने को प्रेरित किया। यदि विष्णु या शिव को मूर्त किया जा सकता था तो महावीर और पार्श्व को भी मूर्त करना कुछ कठिन न था। जैनों के सिद्धान्त के अनुसार मुक्तात्मा सदा के लिए संसार के शिखर पर अवस्थित ईशत्प्राग्भारा लोक में सर्वज्ञ, आनन्द-स्वरूप और पूर्ण आध्यात्मिक पुरुषों के रूप में निवास करते हैं। वे सांसारिक परिवर्तनों से अछूते रहते हैं, और सांसारिक झगड़ों से बिलकुल अलहदा। उन की व्यक्त आकृति या देह नहीं होती, पर इन का एक (अभौतिक) परिमाण होता है, जो उन के अन्तिम अस्तित्व का दो तिहाई रहता है। अतः वे सब एक दूसरे के समान होते हैं।

यदि कोई कलाकार ऐसी दिव्य-सत्ताओं की पार्थिव प्रतिमूर्ति बनाना चाहता तो उसे निर्वस्त्र महात्मा के रूप में ही, जो ध्यान-मग्न हो और जिस की मुद्रा से स्वर्गीय शान्ति झलकती हो, उपस्थित करना होता। उन की संसार से पूर्ण विरक्ति अधमुँदे नेत्रों द्वारा प्रकट की जा सकती। व्यक्तित्व के पूर्ण लोप का भाव सब तीर्थंकरों को बिना किसी प्रकार के वैय्यक्तिक भेद के एक सा उपस्थित करने से प्रकट हो सकता (इस लिए उन की एक दूसरे से पहचान उन के चिन्हों से ही हो सकती)। इस प्रकार तीर्थंकर प्रतिमाओं का आदर्श स्थापित हुआ।

इस धारणा के लिए कि तीर्थंकर प्रतिमाएँ उन महात्माओं की मुक्तावस्था को ही प्रकट करतीं तथा उन के सांसारिक व्यक्तित्व की स्मृति उन में न रहती थी, दो प्रमाण दिये जा सकते हैं। पहला यह कि अनेक तीर्थंकर-प्रतिमाओं के नीचे यह स्पष्ट लिखा है। दूसरे, तीर्थंकर-पूजा के सिद्धान्त से भी इस की पुष्टि होती है। वह सिद्धान्त यह है कि सब जिन-प्रतिमाएँ ध्यान के साधन का काम देती हैं; उन का अस्तित्व केवल इस लिए है कि वे मुक्ति की कामना को जगातीं और उस की प्राप्ति में सहायक होती हैं।

ऐसी सन्त आत्माओं से, जो सव प्रकार की सांसारिक वातों से उदासीन हैं, किसी अन्य प्रकार के इनाम या वरदान की आशा नहीं की जा सकती।

सर्वसाधारण पर इन प्रतिमाओं का वहुत प्रभाव पड़ता देख वौद्धों को भी बुद्ध को चिन्हों के वजाय प्रतिमा द्वारा प्रकट करने की सूझी होगी। पर उन के निर्वाण का सिद्धान्त जैनों से विलकुल भिन्न होने से वे उस को निर्वाग-प्राप्त अवस्था को चित्रित न कर सकते थे। अतः स्वभावतः उन्हों ने बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति और परिनिर्वाण के वीच उन के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को चित्रित करना शुरू किया। यही कारण है कि वौद्ध प्रतिमाएँ तीर्थंकर-प्रतिमाओं की अपेक्षा वहुत अधिक विविधता और सजीवता प्रकट करती हैं। बुद्ध धर्मोपदेश करते, पृथ्वी को साक्षी वनाते आदि कई रूपों में चित्रित किये गये हैं।

पुरानी बुद्ध प्रतिमायें तीर्थंकर-प्रतिमाओं का भाव ले कर ही वनीं, लेखक के इस मत से इस वात की व्याख्या हो जाती है कि सव से पुरानी बुद्ध-प्रतिमाओं और तीर्थंकर-प्रतिमाओं में समानता है; जिसे युवान च्वाङ ने भी उतना ही अनुभव किया था जितना भारतीय मूर्ति-कला में रुचि रखने वाले शुरू के यूरोपियनों ने।

अतः लेखक का विश्वास है कि नालन्दा, सारनाथ, वोरोबुदर आदि में प्राप्त प्रतिमाओं से पहले भी बुद्ध-प्रतिमाएँ रही होंगी जो अव नहीं मिलतीं; पर जिन के नमूनों पर ये पिछली प्रतिमाएँ वनीं। यह मानना कठिन है कि बुद्ध की मूर्ति पहले पहल यूनानी कलाकारों ने ही आविष्कृत की। लेखक का यह दृढ़ विश्वास है कि उन्हों ने पहले से विद्यमान एक नमूने को केवल यूनानी साँचे में ढालने का काम किया था।

परन्तु लेखक यह स्वीकार करता है कि इस स्थापना के लिए अभी मूर्त प्रमाणों की ज़रूरत है, इस वात से इनकार नहीं किया जा सकता। जव तक भारतीय शिल्प की प्राचीन-तम कृतियों के नमूने और न मिलें, तव तक बुद्ध-प्रतिमाओं के उद्भव-विषयक किसी भी स्थापना को सचाई की खोज के प्रारम्भिक प्रयत्न से अधिक कुछ कहना निरी वेपरवाही होगी।]

Die bekannte Tatsache, dass der Buddha auf den Reliefs von Sâñci und Bhârhut nicht figürlich dargestellt sondern durch bestimmte Symbole vertreten wird, ist oft zu erklären versucht worden. Die meisten Interpretationen befriedigen nicht. Dass es „den früheren indischen Künstlern an fruchtbarem künstlerichhem Geist wie an technischem Können gemangelt hat", um die Gestalt eines Buddha zu schaffen, ist unwahrscheinlich, weil sie dann auch nicht Indra oder andere göttliche Wesen hätten zur Darstellung bringen können. Auch die vielfach vertretene Ansicht, die älteren Buddhisten hätten sich, gemäss dem Wort des sterbenden Buddha: „Die Lehre ist euer Meister, wenn ich hingegangen bin" nicht für die Person des Buddha, sondern nur für die Lehre desselben interessiert und deshalb den Meister durch Symbole der Lehre wie das Rad des Gesetzes versinnbildlicht, greift fehl: hätten die Buddhisten an der Persönlichkeit des Erhabenen keinen Anteil genommen, so würden sie die Geschichte seines Lebens nicht so ausführlich auf den Toren der Stûpas in Stein verewigt haben. Der Grund dafür, dass die älteren Buddhisten es vermieden, den Buddha abzubilden, wird erst begreiflich, wenn man die Untersuchung nicht auf den Buddhismus beschränkt, sondern sie auf die anderen Erscheinungen des religiösen Lebens Indiens im 1. Jahrtausend v. Chr. ausdehnt. Es zeigt sich dann, dass auch die Jainas ihre Tîrthankaras ursprünglich nicht bildlich dargestellt haben: in den ältesten Teilen des Kanons hören wir wohl von Statuen oder Tempeln von Göttern und Yakshas, Jina-Statuen werden aber erst in späterer Zeit in kanonischen Texten erwähnt. Es ist deshalb anzunehmen, dass die Ubereinstimmung zwischen Jainas und Bauddhas keine zufällige ist. Wenn man sich vergegenwärtigt, dass alle noch in den Banden der Welt gefesselten Wesen, Götter, Menschen und Tiere, abgebildet werden, nur die aus dem Samsâra ausgeschiedenen Erlösten nicht, dann liegt es nahe zu glauben, dass die Künstler der älteren Zeit sich scheuten, den über das Weltgetriebe emporgewachsenen in das Nirvâna eingegangenen Heiligen noch in körperlicher Form wiederzugeben. Für sie war die leibliche Darstellung eines Vollendeten, der das Nirvâna verwirklicht hat, ebenso undenkbar, wie für die Brahmanen die Darstellung des über Name und Gestalt erhabenen Brahman.

In den letzten Jahrhunderten vor Beginn unserer Zeitrechnung trat hierin ein Wandel ein. Das machtvolle Emporwachsen monotheistischer Anschauungen bewirkte, dass unter den zahlreichen Göttern von den Vishnu von anderen Shiva als der eine höchste Weltenherr (îshvara) angesehen wurde, der im Gegensatz zu den im Samsâra verstrickten vergänglichen Devas ewig und selig ist. Dieser îshvara der theistischen Sekten ist nun aber, wie dies z. B. deutlich in der Bhagavadgîtâ hervortritt, zugleich der Allgott und wird mit dem Brahman identifiziert. Da der îshvara aber gleich den devas schon bildlich dargestellt war (Shiva z. B. schon in Mohenjo Daro), bestand für diese neue theistische Erlösungslehre kein Grund mehr für die Anschauung, dass nur der im Samsâra wandelnde bildlich wiederzugeben sei. Dies blieb nicht ohne Rückwirkung auf die atheistischen Religionen der Jainas und Bauddhas. Die Jainas sind zu allen Zeiten bestrebt gewesen, ihren Anhängern alles zu bieten, was andere Religionen boten, sie haben deshalb den verschiedensten Legenden, Anschauungen, Einrichtungen und Gebräuchen der Hindus Heimatsrecht gewährt, und ihnen ursprünglich Fremdes in ihr System eingebaut. (H. v. Glasenapp, „Der Jainismus", Berlin 1925, S. 446 und Beitr. zur Literaturwiss. u. „Geistesgesch. Indiens" (Festgabe H. Jacobi) Berlin 1926, S. 339 f.) Der Erfolg des Bilderkults der Hindus veranlasste sie, dem Zuge der Zeit zu folgen und Tîrthankara-Bilder einzuführen; wenn der über den Samsâra erhabene Vishnu oder Shiva durch den Meissel eines Künstlers in Holz oder Stein dem Auge der Verehrer gezeigt werden konnte, dam musste es auch möglich sein, Mahâvîra oder Pârshva vor dem Blick des Frommen erstehen zu lassen.

Die Form der Darstellung ergab sich von selbst: ein Jina konnte nur so abgebildet werden, wie er für alle Ewigkeit nach seinem Nirvâna existiert. Nach der Lehre der Jainas leben die Erlösten als allwissende, selige, rein geistige Wesen in der auf dem Gipfel der Welt gelegenen Region Īshatprâgbhârâ für alle Ewigkeit fort, von allem irdischen Wechsel unberührt und frei von jeder Anteilnahme an irdischen Dingen. Sie sind ohne sichtbare Gestalt, körperlos und darum durchdringbar, aber mit einer räumlichen (immateriellen) Ausdehnung von 2|3 derjenigen, welche sie in ihrer letzten Existenz gehabt hatten. Bei ihnen sind alle individuellen

Verschiedenheiten geschwunden, welche die Karman-Stoffe den Seelen beilegen, sie sind deshalb alle einander gleich. Wollte ein Künstler ein materielles Abbild eines solchen erhabenen Wesens schaffen, dann musste er es als einen unbekleideten, in tiefe Meditation versunkenen Heiligen darstellen, dessen Gesichtszüge erhabene Ruhe wiederspiegeln. Die völlige Weltentrücktheit könnte durch halbgeschlossene Augen ausgedrückt werden, die völlige Entpersönlichung dadurch, dass alle Tîrthankaras nach genau demselben Typus, ohne jede individuellen Unterschiede (darum also nur durch Unterschriften oder „cihnas" von einander unterscheidbar) dargestellt werden. So entstand das typische, immer wiederkehrende, starre und unbewegliche Tîrthankara-Bild, das heute noch im Jainismus vorherrscht. Dass die ältesten Tîrthankara-Bilder den Heiligen im Zustand der erlangten Erlösung zeigen, nicht aber die Erinnerung an seine irdische Existenz wachhalten sollen, ist aus zwei Gründen wahrscheinlich. Erstens, weil dies bei manchen Tîrthankara-Bildern ausdrücklich bezeugt ist (In Jaina-Miniaturen ist dies meistens dadurch angedeutet, dass der Heilige auf der halbmondförmig gezeichneten Siddhashîlâ sitzt, über Wolken thront u.s.w. Vergl. die Bilder Plate III fol. 55, VII fol. 38, XIII fol. 66, XVIII fol. 73, XIX fol. 80, 88 bei A. K. Coomaraswamy, Catalogue of the Indian Collections in the Museum of Fine Arts, Boston 1924) und zweitens weil die Theorie über die Tîrthankara-Verehrung dies bestätigt. Der Idee nach sollen nämlich die Jina-Bilder als Konzentrationsobjekte dienen; ein Daseinsrecht haben sie nur insofern, als sie bei den Gläubigen, die sich ihrer Betrachtung hingeben, das Heilsverlangen wachsen lassen und die Entstehung der Voraussetzungen zur Erlangung des Nirvâna fördern. Der Tîrthankara-Kult hat also nur einen subjektiven, keinen objektiven Wert, denn die allem irdischen Streben entrückten Vollendeten haben garnicht die Möglichkeit auf das Geschehen in der Welt einzuwirken und ihre Verehrer zu belohnen.

Die grosse Anziehungskraft, welche der Kult der Tîrthankara-Bilder auf die Gläubigen, zumal die Laien ausübte, mag auch die Buddhisten dazu veranlasst haben, ihren Meister nicht mehr durch Symbole sondern in köperlicher Gestalt darzustellen. Bei der grundlegenden Verschiedenheit ihrer Nirvâna-Lehre von der der Jainas konnten sie den Buddha natürlich nicht als einen in ewiger Weltabgeschiedenheit fortlebenden seligen Geist abbilden, sondern sie konnten nur versuchen, die Erinnerung an sein Erdenwallen festzuhalten. Sie stellten ihn deshalb so dar, wie er sich den Gläubigen in der Zeit zwischen der Erlangung der Bodhi und dem Parinirvâna offenbarte. Aus diesem Grunde zeigen die Statuen von Buddhas im Vergleich zu denen von Tîrthankaras eine viel grössere Verschiedenheit und Aktivität: der Buddha predigt, er ruft die Erde als Zeugin an u.s.w. Dass die ältesten Buddha-Statuen, wie ich glaube, in Anlehnung an Tîrthankara-Statuen entstanden, kann als Erklärung für das merkwürdige Phänomen dienen, dass manche Buddha-Darstellungen solchen von Tîrthankaras ausserordentlich ähneln, eine Tatsache, die Hiuen-tsang ebenso aufgefallen ist wie den ersten Europäern, die sich mit indischer

Plastik beschäftigten. Ich möchte deshalb annehmen, dass die ältesten (uns heute nicht mehr erhaltenen) Buddha-Statuen Vorläufer der Buddha-Typen gewesen sind, wie sie uns durch die Buddhas von Sârnâth, Nâlandâ, Borobudur bekannt sind. Aus diesen Erwägungen heraus kann ich mir nicht vorstellen, dass hellenistische Künstler überhaupt erst das Buddha-Bild erfunden haben, es spricht vielmehr meines Erachtens alles dafür, dass sie einen bereits bestehenden Typûs in griechischem Sinne umgewandelt haben.

Die hier entwickelten Gedankengänge, welche die geistesgeschichtlichen Voraussetzungen für das Entstehen des Buddha-Bildes darzulegen suchen, bedürfen natürlich noch des Beweises durch Tatsachenmaterial. Solange unser Besitz an Werken der ältesten indischen Kunst noch so gering ist wie heute, wäre es vermessen, zu behaupten, irgendeine Hypothese über die Genesis des Buddha-Bildes sei mehr als ein provisorischer Versuch, die lückenhaften Tatsachen zu deuten. Ich glaubte aber meine Ansichten den Kunsthistorikern deshalb unterbreiten zu dürfen, weil ich meine, dass sie geeignet sind, einige Punkte aufzuhellen, die bisher nicht erklärt worden sind.

PALLAVA PAINTING

श्रीयुत ति० ना० रामचन्द्रन्, एम्० ए०, मद्रास

[अजिंठा, वाघ, रामगढ़, शित्तन्नवाशल, काञ्चीपुरम् के कैलासनाथ और तंजोर के बृहदीश्वर मन्दिरों के भित्ति-चित्र प्राचीन भारतीय चित्रकला के वचे हुए सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। अजिंठा आदि के वारे में वहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस लेख में शित्तन्नवाशल और काञ्चीपुरम् के चित्रों की व्याख्या की गई है।

शित्तन्नवाशल—पद्दुकोटै राज्य में राजधानी से ९ मील उत्तर एक जैन गुहामन्दिर है, जिस की भीतों पर पूर्वपल्लव राजाओं की शैली के चित्र हैं, जो तामिल संस्कृति और साहित्य के महान् संरक्षक, कवि और प्रसिद्ध कलाकार राजा महेन्द्र वर्मा प्रथम (६००—२५ ई०) के वनवाये हुए हैं, और अत्यन्त सुन्दर हैं।

गुफा की वनावट यों है—एक ९′ ६″×९′ ६″ और ७′ ५″ ऊँची कोठरी; आगे २२′ ६″×७′ ५″ और ८′ ३″ ऊँचा मंडप, संपर्यंक मुद्रा में स्थित पुरुष-परिमाण अत्यन्त सुगढ़ और सुन्दर पाँच तीर्थंकर मूर्तियाँ, जिन में से तीन अन्दर और दो मंडप के दोनों पार्श्वों में रक्खी गई हैं।

शित्तन्नवाशल का मूल प्राकृत रूप है सिद्धण्ण वास—सिद्धों का डेरा। जैन देवगाथाओं में सिद्धों का महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

यहाँ अब दीवारों और छत पर सिर्फ़ दो-चार चित्र ही कुछ अच्छी हालत में वचे हैं। इन की खूवी यह है कि वहुत थोड़ी परन्तु स्थिर और दृढ रेखाओं में अत्यन्त सुन्दर और मूर्त आकृतियाँ वड़ी उस्तादी के साथ लिख दी गई हैं। छाया आदि डालने का प्रयत्न प्रायः नहीं किया गया। रंग वहुत थोड़े हैं—सिर्फ़ लाल, पीला, नीला, काला और सफ़ेद। इन्हीं को मिला कर कहीं-कहीं कुछ

और हरा, पीला, जामुनी, नारंगी आदि रंग भी बना लिये गये हैं। इतनी सरलता से बनाये गये इन चित्रों में भाव आश्चर्य जनक ढंग से स्फुट हुए हैं और आकृतियाँ सजीव सी जान पड़ती हैं।

सारी गुहा कमलों से अलंकृत है। सामने के दोनों खम्भों को आपस में गुँथी हुई कमलनालों की बेलों से सजाया गया है। खम्भों पर नर्तकियों के चित्र हैं। बरामदे की छत के मध्य भाग में एक पुष्करणी का चित्र है; हरे कमल पत्रों की भूमि पर लाल कमल खिलाये गये हैं; जल में मछलियाँ, हंस, जल मुर्गाबी, हाथी, भैंसे आदि जल-विहार कर रहे हैं। चित्र के दाहिनी तरफ़ तीन मनुष्याकृतियाँ हैं, जिन की आकृतियाँ आकर्षक और सुन्दर हैं। दो मनुष्य इकट्ठे जल-विहार करते दिखाये हैं; इन का रंग लाल दिया है; तीसरे का रंग सुनहला है और वह इन से अलग है। इस की आकृति बड़ी मनोमोहक और भव्य है।

सौधर्मेन्द्र ने तीर्थंकर के केवली होने पर बैठ कर उपदेश देने को संवर्पण नामक एक स्वर्गीय मण्डप रचा था। उस के चारों तरफ़ ७ भूमियाँ होती हैं, जिन में से गुज़र कर ही कोई व्यक्ति उस प्रासाद में तीर्थंकर का उपदेश सुनने पहुँच सकता है। इन में से दूसरी भूमि का नाम खातिका है। जैन दिगंबर मूर्ति-शास्त्र श्रीपुराण नामक ग्रन्थ के अनुसार यह खातिका भूमि एक तालाब होती है, जहाँ पहुँच कर भव्यों (संवर्पण में तीर्थंकर का उपदेश सुनने के अधिकारी उपासकों) को स्नान और जल-विहार करने को कहा जाता है। उक्त चित्र इसी खातिका भूमि का है।

अन्य बचे हुए चित्रों में दो नर्तकियों के चित्र हैं जो अन्दर घुसते ही सामने के दो खम्भों पर बने हैं। एक की दाहिनी भुजा गज-हस्त और दूसरी की दण्ड-हस्त मुद्रा में फैली है। इन चित्रों में कलाकार ने मानों गहनों से लदी पतली कमर और चौड़े नितंबों वाली, चीते की तरह प्रचंड शक्तिवाली और भव्य, स्वर्गीय अप्सराओं के और शिव-नटराजन की कल्पना में प्रकट होने वाली नृत्य-ताल और प्रचण्ड स्फूर्ति को एक ही जगह चित्रित कर दिया है।

अन्दर के दाहिने खम्भे पर एक सुन्दर पुरुष-शिर के, जिस के पीछे एक वैसा ही सुन्दर स्त्री का शिर है, निशान दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ लोगों ने इसे अर्धनारीश्वर का चित्र माना है। पर एक तो यह जैन मन्दिर है, दूसरे इस को जरा ध्यान से देखने से मालूम होता है कि इस के शिर पर जटा-जूट नहीं बल्कि राजमुकुट था जो अब मिट गया है। संभवतः यह चित्र राजा महेन्द्र वर्मा का अपना ही है। महाबलिपुरम् की वराह गुहा में भी राजा महेन्द्र वर्मा का एक चित्र इसी तरह है। वहाँ राजा अपनी दो रानियों के साथ मन्दिर में घुसता हुआ दिखाया गया है।

कैलासनाथ—काञ्ची पुरम् के कैलासनाथ के मन्दिर में भी मन्दिर की दीवारों पर कलई की परत के नीचे इसी काल के चित्रों के अस्तित्व का पता मिला है। कुछ थोड़ी सी आकृतियों का उद्धार कलई की परत को हटा कर किया गया है। इन में भी वही खूबी है। पर कोई पूरा चित्र अब तक आविष्कृत नहीं हो सका है। इस मन्दिर का बनानेवाला पल्लव राजा नरसिंह वर्मा उर्फ़ राजसिंह (६९० ई०) था।

मलयाडिपट्टि आदि अन्य भी कई स्थानों से इस प्रकार के चित्रों का पता मिला है।]

It is surprising indeed that the earliest extant specimens of Indian painting are so very few that they give room to the doubt whether painting, though spoken of highly in Indian literature, was ever practised at all like sculpture and architecture. But the surviving specimens in the caves of Rāmgarh, Ajaṇṭā, Bāgh and Śittannavāśal and in the Kailāsanātha temple at Kāñchīpuram and the Bṛihadīśvara temple at Tanjore go to prove effectively that not only was painting popular but was often practised as a single craft being combined with sculpture. Such a combination was treated as the highest form of religious art, being "more difficult and costly

than simple painting, and therefore conferring more merit both on the artist-devotees and their patrons". The result of such a process with a religious background was that fresco and tempera painters attempted "not to produce the atmosphere of Western painting, but to give their work the solidity and reality of sculpture", to show something more than an art of line, to exhibit a remarkable power of delineation and "a subtle modelling of surfaces". The modelling of surfaces was so pleasant and wonderful that we my agree at once with Havell when he says "whether they were modelled by the painter or the sculptor, the finishing brush-outline gave life to the forms."[1] The charge levelled against Indian painting, that it is an art of line only, "that is Indian paintings are not true pictures in the European sense, they are only coloured drawings", cannot be said to be true of that school of Indian mural painting that is seen at its best at Ajaṇṭā, Bāgh, Śittannavāśal and the Kailāsanātha temple at Kāñchīpuram. Several writers have dealt with the paintings at Ajaṇṭā and Bāgh; it shall be our pleasant task to take up those at Śittannavāśal and Kāñchīpuram which were done in the seventh century and are attributed to the Pallava kings, for which reason we have chosen to call them "Pallava painting".

Śittannavāśal

In a cave temple here executed in the early Pallava style of the Mahendra period are the said paintings of this place, attributed to the royal artist Mahendraverman I (600—625 A.D.), "one of the greatest figures in the history of Tamilian civilisation". This king was, as we have proved elsewhere,[2] a royal patron of art, an accomplished artist himself, an intrepid architect and a highly cultured poet, musician and dramatist. To him are attributed several cave temples, among which Māmaṇḍūr and Śittannavāśal cave temples which resemble each other closely are alone interesting for our study of Pallava painting. Some traces of paint were noticed on the walls of the Māmaṇḍūr cave (6 miles south of Kāñchīpuram) as also at Mahābalipuram by Dr. Jouveau Dubreuil but they yielded no satisfactory result. But an inscription found at Māmaṇḍūr, though fragmentary, is of great importance to us as it speaks of the literary accomplishments of Mahendravarman I and his contributions to painting, dance and music. Line 11 of the inscription relates to painting and contains the following verse almost restored:—*Kalpāt Pravibhajya* .... *Vṛittim Dakshiṇa-chitrākhyam* (*kāra*) *yitvā yathāvidhi.*

---

[1] *Indian Sculpture and Painting*, p. 165.

[2] See my paper "The royal artist Mahendravarman I" read in December 1931 at the First Bombay Historical Congress.

Translation: "Classifying (the subject) from (an old standard) *kalpa* (*i.e.*, work on the subject) he caused to be compiled a commentary or edition (*vṛitti*) called *Dakshiṇa-chitra i.e.*, South Indian art or painting) following strictly the methods and the rules laid down for such a work".

It is evident that the king analysed the subject of painting that was laid down in an earlier work which was probably cumbrous or not clear or which had to be revised in the light of later inventions in the field. The results of his analysis, derived probably from a practical study of the subject, he embodied in a treatise which conformed to the rules relating to such compositions and which he named *Dakshiṇa-chitra* or Southern Art or Painting.

While Māmaṇḍūr has very little of paintings to show to us today the Śittannavāśal frescoes offer us a pleasant study and entitle the cave temple to be called a *Chitra-śālā* or picture gallery. The architecture and sculptural details of this temple are briefly as follows:—It is identical with that at Māmaṇḍūr. In plan, it consists of a *cella*, 9′ 6″ square and 7′ 5″ in height with a small pillared verandah in front measuring 22′ 6″ in length, 7′ 6″ in width and 8′ 3″ in height. The temple contains five life-size rock-cut sculptures of Jaina Tīrthaṅkaras seated in the *samparyaṅka* pose, three inside the main shrine and one at each end of the *maṇḍapa*. The two outer ones may be said to represent, as I have proved elsewhere[1], the Tīthaṅkaras Pārśvanātha and Chandraparbha. These sculptures are similar in style and execution to some of the later Buddhist images at Ajaṇṭā. The carving is marvellous for its precision and excellence of anatomy. The figures are natural and carry themselves with a grace though in an erect posture "like a flame that flickereth not in windless space".

The surface of the rock inside was given a finish to suit it for the subsequent fresco-process. As at Ajaṇṭā the walls and ceiling were covered with a layer of plaster, "not only to lighten the gloomy interior but also to serve as a ground work for colour decoration. The designs were first drawn in Indian red on the white plaster, then flat washes of colour were applied and finally outlined in black to show up the designs and colours. The latter were water colours and only five pure colours were used, *viz.*, red, blue, yellow, black and white. From these colours the artists also produced orange, green, brown, purple and pink. Very little attempt at shading was made, less than is found in the Ajaṇṭā paintings which they closely resemble".[2] The cave was intended, even when it was actually carved, to be painted over inside for "the figures carved are not finished as such, for that was left to the painter's plaster and brush". Being the most perishable of the fine arts the painting in this cave has suffered a good deal owing to age and age-long neglect and indifference, darkening of the interior of the cave by smoke from the fire of way-side wandering pilgrims cooking their food in, the peeling off of the plaster here and there owing of course to neglect and the almost horrible vandalism to which it has been subjected at the hands of cattle-boys, the natives of the soil.

---

[1] In my paper "The royal artist Mahendravarman I".

[2] Kern Institute—Leyden. Annual Bibliography of Indian Archæology, 1930, p. 11.

The credit of discovering these paintings ought strictly to go to the late lamented Gopinatha Rao, who communicated his discovery to his scholar friend Dr. Jouveau Dubreuil who forthwith drew the attention of the world by means of a leaflet and an article in the *Indian Antiquary* (Vol. LII, pp. 45—47) with a tracing of the outline of a well-preserved dancing figure. With his remarkable precision in judgment and the instinct of a born archaeologist he was able to determine that—

"1. The process of Pallava painting is similar to that of the Ajaṇṭā paintings.

2. . . . The painting of the Pallavas was, perhaps, even more beautiful than their sculpture.

3. The Śittannavāśal cave is a Jain temple".[1] After closely examining the Śittannavāśal paintings and sculptures we have only to conclude that the Professor is remarkably correct in his estimation. The sculptures which represent Tīrthaṅkaras have been already examined. The subject-matter of the paintings alone remains.

Before taking to a study of these it is interesting to note that the name of the place, Śittannavāśal is so un-Tamilian that to explain its derivation we have to look to its Sanskrit or Prākṛit form. In Sanskrit it will be "Siddhānām vāsaḥ" *i.e.,* the abode of the Siddhas or ascetics and in Prākṛit "Siddhaṇṇa-vāsa". As we know that the Jainas and the Buddhists had a special leaning towards Prākṛit culturally we shall take the Prākṛit form as the nucleus of the modern Tamil name of the place, Śittannavāśal. The term "siddha" is of special value to us for our study for we know that the "siddhas" occupy a pre-eminent place in Jaina iconography and worship. Among the *pañcha-namaskāras* that every follower of the Jaina faith should make, the first *namaskāra* is reserved for the "Siddha". And in Jaina cosmology the highest place or heaven (to use a common and popular term) is spoken of as the *Siddhaloka,* the denizens of which are the *siddhas* or the liberated souls whom even the Tīrthaṅkaras worship prior to initiation (*dīkshā*)[2]. The Jaina ascetics of the place naturally required solitary places like the cave under discussion for the performance of their austerities and *dhyāna.* The rocky nature of the country afforded them ample cave-resorts, one of which was the one under discussion, which was embellished with sculptures and paintings by a royal patron of rare artistic taste who was probably drawn to the place either because of the sanctity of the place or because of his fervour for the Jaina religion—a point which we have discussed elsewhere.[1] Of those paintings of the place that are intact, careful copies have been made by Mr. M. S. S. Sarma of Madras, some of which have been figured by Mehta in his book on "Studies in Indian Painting". I have seen his copies in colour and was struck by their fidelity to the originals. They have been drawn to correct scale and have been properly toned.

---

[1] I. A. Vol. LII, p. 45.

[2] This has been dealt with in detail by me in my monograph, on *Jaina painting* to be published as a volume of the Madras Museum Bulletin.

The plaster serving as the primed ground is very thin, of about an eighth of an inch and has adhered to the surface of the rock so well that it is not easy to remove its traces. Particles of husk and straw can be seen in some places and the lime appears to have been mixed up with fine sifted sand. At Bāgh one finds lime mixed up with cow-dung. My friend Mr. Chitra of the Madras School of Arts tells me that the latter mixture would give a suitable ground for the best colour-effect. The colours used are not many; those used are red, yellow, blue, green, black and white. Mr. M. S. S. Sarma has examined them very carefully and tells me that they are natural colours or vegetable colours as some of the local Tamil painters would call them. A bit of the primed ground furnished by the lime-mixture was tasted by him and found to be sweet. While only one variety in each of black, green, blue and white pigments is found, red and yellow have two varieties each. Red has "red ochre" and "vermilion"; and yellow "yellow ochre" and "bright golden".

The colour scheme is harmonious and simple, the colours being well soaked into the surface and given a final polish with probably small prepared pebbles. It is natural without any elaborate attempt at light and shade. The backgrounds are mostly red or green. The paintings are essentially linear; they "began and ended with outlines, and the boldness and firmness displayed in them are really marvellous", "every form being brought out firmly by its decided outline." It has been supposed that the first outline here must have been done with red ochre as at Ajāṇṭā, an inference which is but natural as, in the case of such paintings time, exposure, weather and natural decay would tend to obliterate everything else save the red outlines. But according to Mr. M. S. S. Sarma the execution here was different. "The cuncumá (*Kuṅkuma*) stem which Indian ladies use even today in their toilet is the thing that was used for the preliminary outline. The alkaline nature of the fresh ground converted the yellow of the stem into a rich red colour which was then fixed by outlines of different appropriate colours, thus parcelling out the ground for subsequent coats of colour. The outlines then were emphasised with suitable tints here and there. When the surface moisture is gone, but when the ground is still damp, light shading by hatching and stippling is indulged in, and afterwards, before the ground completely dries up, the whole is given a polish with small prepared pebbles".[1] The linear draughtsmanship reveals a knowledge of anatomy and perspective far advanced.

---

[1] See my paper. "The royal artist, Mahendravarman I" read at the I Bombay Historical Congress.

The chief decorative *motif* in the whole cave is the lotus with its stalk, leaf and flower. As Dr. Dubreuil has remarked in his "Pallava Painting", "The decoration of the capitals of the two pillars of the façade is well preserved and consists of painted lotuses whose blooming stems intertwine with elegance," the pillars being adorned with the figures of dancing girls. The ceiling of the inner cell reveals a geometrical design, complicated, most of which has been unfortunately obliterated. Of those fragments that are luckily intact and have been copied by Mr. Sarma, that on the ceiling of the verandah is the most interesting. It is located in the centre of the ceiling and is flanked by two simple decorative panels with designs looking like carpets spread. A lotus tank in blossom with fishes, geese and other birds, animals such as buffaloes and bulls and elephants and three men who are according to Dr. Dubreuil "surely Jains" wading through gathering lotus flowers, is the subject treated. While the water of the tank alone is treated in a conventional manner the rest is done in a most natural, elegant and simple manner. The fishes and the geese play about in the tank here and there and recall a pleasant paradise. Lotus leaves are made to stand as the background of every lotus flower in bloom. Of the three men, whose pose, colouring and the "sweetness of their countenance are indeed charming", two stand close to each other while the third stands alone at the right hand end of the fresco. The skin of two is dark-red in colour while that of the third is bright yellow or golden. While both Mehta and Sarma do not agree with Dr. Dubreuil who identifies the scene depicted as "probably from the religious history of the Jains", we are of opinion that the French archæologist is seldom wrong in his surmises and if he errs at all he errs rather on the right side than on the wrong one. The scene depicted is one of the most attractive heavens that find a place in the "Samavasaraṇa" or heavenly pavilion created by Saudharmendra for the Jina to sit and discourse, the moment that he becomes a "Kevalī". Seated in the *Gandhakuṭī* within the "Lakshmīvara-maṇḍapa" which in turn is in the centre of the whole *samavasaraṇa* structure the Tīrthaṅkara or the Jina holds the divine discourse attended by all pomp. A *divyadhvani* emanates from Him which is interpreted by the *Gaṇadharas,* the occupants of the first *koshṭa* which is one of the 12 *koshṭas* surrounding the seat of the Jina containing god's creation come to witness the grand scene of the Lord's discourse. The structure including the *Lakshmīvara-maṇḍapa* wherein the 12 *koshṭas* or compartments are located and the *Gandhakuṭī* with the Lord in it is surrounded by seven *bhūmis* or regions, each region being encircled by a rampart called *vedikā* or *sāla*. Those that are *bhavyas i.e.*, those good people who will have the good fortune to attend the Lord's discourse in the *samavasaraṇa* structure, have to pass through these regions before they repair to their respective *koshṭas* in the *Lakshmīvara-maṇḍapa*. The second *bhūmī* or region is called the "khātikā bhūmi" or the region of the tank. According to the "Śrīpurāṇa" (a manuscript in Tamil-Grantha in the Madras Oriental Mss. library), a work on Digambara Jaina iconography, this region is described as a delightful tank with fishes, birds, animals, and men frolicking in it or playing in it. The *bhavyas* are said to get down into the tank, wash their feet and please themselves as best as they can. And our painting shows this tank-region with those men pleasing themselves by gathering lotus flowers while animals such as elephants and bulls and birds and fishes are frolicking about pleasing themselves as best as they can[1].

---

[1] Triveni Vol III (1930). No. 1. p. 72

The other paintings in a tolerable state of preservation are two dancing figures on the cubical pillars that catch our eye as we enter the cave. They have been figured by Mehta in his book in plates 3 and 4. The one on the right side is not so well preserved as the one on the left, a sketch of which was published by Dr. Dubreuil in the *Indian Antiquary*. From a sketch of the figure left out by Dr. Dubreuil but figured by Mehta in plate 4 of his book we can see that the left hand of the danseuse is stretched out gracefully in the *daṇḍ-hasta* pose. The left hand of the other figure (figured by Dr. Dubreuil) is thrown in the *gaja-hasta* pose. Both are treated with singular grace, their supple moments being rendered with ease, charm and sureness that could result only from the closest observation and æsthetic insight. Mr. Mehta was so much attracted by these danseuses that he bursts out as follows:—'It was left to the artists of Southern India to crystallize into immortal form, the rhythm of dance and the energy of dynamic movement, as seen respectively in the glorious figures of swaying *Apsaras*, "loaded with jewelled ornaments, broad-hipped, narrow-waisted, powerful and graceful as panthers", and in the noble conception of Śiva as Naṭarāja—the Divine Dancer"[2].

On the inner side of the right-hand pillar as we face the cave can be seen a beautiful head with traces of a figure in front and of a woman's head behind. It has been figured in plate 1 of Mehta's book. I examined the copy of Mr. Sarma which shows many more details than Mr. Mehta's. It is that of a splendid figure with an ornamental coronet or head-dress and with *patra-kuṇḍalas* in both the ears. While we agree with Mr. Mehta's description of the figure as "an impressive study—showing the strength of delineation and directness of treatment which belonged to the palmy days of Ajaṇṭā and Bāgh"[1], we are unable to accept his identification of the figure as Ardhanārīśvara or Mahādeva. The figure is surely that of a king accompanied by his wife whom he probably leads into the shrine. Such is the purpose in relegating this painting on the inner side of the pillar as if the persons are heading towards the interior of the shrine. The *patra-kuṇḍalas* and the ordinary coronet (not *jaṭā-mukuṭa* as Mehta describes it to be) show that Śiva was not intended. And Śiva has no place in a Jaina shrine. We are unable to see in the figure any divinity of expression, that should go as a monopoly to Śiva alone. Such dignity, if any, can go to the king of the land also who in this case ought to be the royal artist Mahendravarman I. That the figure behind him is that of his wife and that he is going with her to the shrine can be easily inferred if we bear in mind that the Varāha cave at Mahābalipuram contains a portrait of Mahendravarman heading towards the shrine, accompanied by two of his queens, the nearer of whom he appears to be leading by her right hand while his half-raised right hand points towards the shrine[2]. He was probably similarly engaged here, though only the head of the king remains with the outline of what looks like a feminine face which we have assumed to be thatof his queen.

---

[1] A detailed description of the *samavasaraṇa* which occurs in the Digambara Jaina at Tiruparuttikunram near Kāñchīpuram finds a place in my work on "Jaina painting" to be published as a volume of the Madras Museum Bulletin.

[2] Mehta, p. 12.

Kanchipuram

The discussion over this head takes us to the still more fascinating study of the newly discovered fresco-paintings in the Kailāsanātha temple at Kāñchīpuram. The credit of their discovery goes again to Dr. Jouveau Dubreuil who has brought to our notice marvellous Pallava frescoes executed in the same style as those of Śittannavāśal. Mr. M. S. S. Sarma has taken copies of these also, two of which have been photographed and published in the *Triveni* (Vol. IV, No. 1). Fig. 1 shows the outline of the left side of a man, probably a king, with an expression identical with that of Mahendra at Śittannavāśal. I had been to the Kailāsanātha temple several times and seen them and three others also exposed by the Professor. The paintings cannot date earlier than 690 A.D.; for the temple came into existence only then during the rule of the Pallava NarasimhavarmanII *alias* Rājasiṃha. The tradition regarding paintings should have descended down to Mahendra's successors also who were probably also artists like their illustrious predecessor. What has been exposed consists of 5 heads, of which only one is entire. Among the others, one is the right half of a man's torso, another shows the fore-arm and three fingers of a hand, a third shows another half-head and a fourth the head of probably a child with a small coronet on head. A panel contains the design of two vases placed alongside. Traces of drapery of figure, rather fragmentary, are made out here and there: also traces of "crude brush lines" which Mr. Sarma thinks to be of far later date.

---

[1] Mehta, p. 12.

[2] Gopalan, *Pallavas of Kāñchī*, p. 88.

In the few that are visible the outlines are clear and sharp and the colouring bright and rich. The lines flow in curves and have been done in a masterly manner so as to look as if they were designed without any effort. The heads so far revealed are those of men, graceful and dignified. The head that Mr. Sarma figures in the *Triveni* as No. 1 (Vol. IV, part I) is easily the best, though half eaten away. The left eye that alone remains "sits charmingly over the left cheek and is full of pathos and feeling revealing a whole world of its own". It is hoped that the coats of white wash that the cells in this temple have had periodically will soon be removed carefully and when these are removed much more of these paintings are likely to be exposed. Even in the Śittannavāśal temple the inner cell shows on the floor a round stone piece inserted in its centre. Does it lead to a cell underneath? And does the cell underneath also treasure paintings, which, if true must be in a state of excellent preservation? This awaits further investigation.

Dr. J. Dubreuil's find of paintings at Kāñchīpuram was followed by others of equal importance in the Pudukottah state, this time by Mr. K. Venkatarangam of the Pudukottah Museum, who discovered in the rock-cut temple at Malayaḍipaṭṭi dedicated to Vishṇu and founded by the later Pallava king Dantivarman (788—840 A.D.) in the 16th year of his reign, ancient paintings of great beauty and in the style of Sittannavāśal[1]. They were found on the ceiling of the temple and are said to represent scenes from Vaishṇavite mythology. As I have not seen them yet I am unable to say what they represent.

---

[1] Kern Institute. Annual Bibliography for 1931, p. 1/.

७

मानुषविज्ञान, जनविज्ञान

Some Tibetan Customs and a Few Thoughts Suggested by them*

स्वर्गीय डॉ० सर जीवन जी जमशेद जी मोदी, पी-एच० डी०, एल-एल० डी०

[लेखक को कुछ दिन दार्जिलिङ्ग के आस-पास गुंम्पाओं में तिब्बती लामाओं से मिलने और तिब्बतियों के रीति-रिवाजों का अध्ययन करने का मौका मिला है। सांस्कृतिक जन-विज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार के अध्ययन का बड़ा महत्त्व है।

जातियों और राष्ट्रों के रीति-रिवाजों में अधिकांश का उद्भव धर्म में हुआ है। आज-कल के दर्बारी रीति-रिवाज और शिष्टाचार के बहुत से नियमों की नींव धार्मिक है।

तिब्बती बौद्ध या लामा-धर्म में तीन धर्मों की झलक है। ज़रतुश्ती-धर्म, ईसाई-धर्म और तिब्बत का प्राचीन बोन धर्म। ज़रतुश्ती धर्म की याद तो हमें उनके अन्त्येष्टि संस्कार को देख कर आती है। मुर्दों को पशु-पक्षियों के खाने को फेंक दिया जाता है। उन के पूजा पाठ और कई विश्वासों को देख कर ईसाइयत—कैथोलिक संप्रदाय—का स्मरण हो आता है। भूत-प्रेत, मन्त्र-तन्त्र, शकुन आदि में विश्वास प्राचीन बोन धर्म के प्रभाव के कारण है।

प्राचीन ईरान के इतिहास-ग्रन्थों से पता लगता है कि ईरान और तिब्बत का परस्पर काफ़ी संबन्ध रहा है। फ़रिश्ता के अनुसार काबुल, तिब्बत, पंजाब और सिन्ध पर प्रसिद्ध रुस्तम तक कूशस्पि के उत्तराधिकारियों का कब्ज़ा था।

बौद्ध महायान संप्रदाय, लामा धर्म जिस कि एक शाखा है, और इसाईयत् में बहुत अधिक समानता है यह तो सब लोग जानते ही हैं, इस समानता को देख कर तरह तरह की कल्पनाएँ ईसाइयों ने की हैं; जैसे गुदफर (पहली शताब्दी ई० के लगभग) के दर्बार में महायान संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य अश्वघोष और सेंट थामस का मिलना इत्यादि। पर इस प्रकार की कल्पनाओं से इसकी व्याख्या नहीं हो सकती। असल में समानता का कारण दोनें धर्मों का एक ही सिद्धान्तों वाले स्रोत से निकलना ही है। मथ् धर्म और ईसाइयत की समानता का भी यही कारण है।

तिब्बती बौद्ध-धर्म या लामा-धर्म कई अंशों में बुद्ध की शिक्षाओं के अक्षरार्थ के अनुकूल होता हुआ भी उन की शिक्षा के भाव से सर्वथा विरुद्ध है। उदाहरणार्थ बुद्ध ने भिक्खु के लिए विवाह का निशेध किया है। तिब्बती लामा विवाह नहीं करते पर रखैल रखने में कोई हर्ज़ नहीं समझते। बुद्ध के अहिंसा के सिद्धान्त के अनुसार मांस आदि न खाना चाहिए, पर तिब्बती लोग गाय, भैंस आदि बड़े बड़े पशुओं को मार कर उनका मांस खाते हैं। पक्षियों को या छोटे छोटे प्राणियों को नहीं मारते। उन का कहना है कि बुद्ध ने कहा था कि कम से कम हिंसा हो। छोटे प्राणियों का मांस खाने से एक आदमी के लिए ही कई प्राणियों का वध करना पड़ता है। अतः बड़े प्राणियों का ही मांस खाना चाहिए। भगवान् बुद्ध ने भिक्खुओं को बीच बीच में कुछ काल एकान्तवास कर के आत्म-चिन्तन करने की शिक्षा दी थी। तिब्बती लामा एक अन्धेरी गुफा में ६ मास, ९ वर्ष और जन्म भर बन्द हो कर एकान्त सेवन किया करते हैं।

उन में शकुनों और भूत-प्रेतों पर विश्वास हद दरजे का है।]

Introduction.

I had the pleasure of passing about five weeks in May-June, 1913, at the Himalayan Hill Station of Darjeeling. I had the good fortune of visiting several hill-stations of India, and among them, some of the hill-stations of the Himalayas. But, with no hill-station, I was so much pleased as with that of Darjeeling. The charming scenery it commands, both of its beautiful hill-side vegetation and especially its tea gardens, and of the great snowy hills towered over by the lofty Kinchinjanga, is in itself a great attraction. But the hill had pleased me, nay fascinated me, by the opportunity it afforded me of knowing something of the Tibetan Lamas and of their Buddhist Monasteries. I had read something of the Lamas, their Buddhist religion and their monasteries, but there, at Darjeeling, I had an opportunity to see and study them. We see some remains of the old Buddhist monasteries of India in our country, in our very neighbourhood, for example, in the ruins of the caves of Kenheri in the Thana district and Ellora in H. E. H. the Nizam's dominions, but they are quite of a different type.

---

* This theme formed the subject of a public lecture delivered under the auspices of the Sassoon Mechanics Institute on the 10th of February, 1914.

A study of the Tibetan customs is very interesting from an Anthropological point of view, as it throws a side-light upon many a point of cultural anthropology. At least, as a Parsee, I have been much interested in many of their customs, which have enabled me to understand some of our old Iranian customs--customs once observed perhaps in Central Asia, both by the ancestors of the ancient Persians and of the Tibetans, or customs given, as suggested by some, by the ancient Persians to the ancient Tibetans. On the subject of some of these old Iranian customs on which some side-light is thrown by the modern Tibetan customs, I have spoken at some length in my five papers before other literary societies.[1] So, in this paper, I will only make a passing reference to them.

Church, the cradle of many customs.

We know that most of the customs of a community or nation, have their rise in its church or religion. Most of the customs, known as Court customs or manners and most of the social customs have their parallel, nay, even their origin, in the Church customs. For example, take the ceremonies observed in receiving and honouring royal personages or their representatives.[2] We see the like of most of them in the Church. Take for example the following :

1. The hoisting of flags and banners and all kinds of bunting as marks of welcome.
2. (a) The firing of guns ; (b) the ringing of bells ; (c) the playing of bands of music ; (d) the cheering of the people ; (e) the wavering of hands.
3 The various forms of salutation, beginning with prostration and ending with the most recent forms of court courtesy.
4. The spreading of carpets or red cloth for great men to walk upon.
5. The ceremonial presence of body-guards.
6. The ceremonial forms of address as "Your Majesty, Your Highness, Your Worship, Your Honour," and in the East as "Khudavand, Hazrat, Jan'ab," etc.

---

[1] Vide *Journal of the Anthropological Society of Bombay*, 1913, Vide my *Anthropological Paper* II, pp. 68—124; the Sir Jamset Jijeebhay Jadrsa Jubilee Volume, my *paper*, pp. 35, 36.

[2] *J. Anthrop. Soc.*, Bomb., Vol. XIII, pp. 779—803.

All these forms of respect and honour observed in Court ceremonials and on other high ceremonial occasions seem to have their origin in the Church.

Tibetan Church.

Such being the case, we will first speak of the Tibetan Churches, which are ordinarily spoken of as monasteries, by the Westerners and by the Tibetans.

In the vicinity of Darjeeling, we have three Buddhist Ganpas or monasteries. I had visited them several times. I had opportunities to see more than once, their services, to attend two of their religious processions and to have long talks with some of the Lamas. What I propose saying to-day is the result of my own observations, of my talk with the Lamas and with others, especially with the two well-known travellers of Tibet, who had made a long stay in Tibet—Rai Sarat Chandra Das Bahadur and Rev. Kawagouch—and of my study of the books of known travellers.

The Religion of the Tibetans.

Tibet is a tableland of Central Asia situated at a height, varying from 10,000 to 18,000 feet. It is all surrounded by mountains, the Himalayas being its southern boundary. It has an area of 700,000 square miles. Though most of the religious customs are common, some vary in different parts of the country. The Tibetan monasteries at Darjeeling give us a vivid idea of the religion of the Tibetans. Their religion, or to speak more correctly, their religious services and observances remind us of three religions—(a) Zoroastrianism, (b) Christianity, and (c) Bon religion—with which the early Tibetans seem to have come into some contact.

(a) Their customs of the disposal of the dead, not as observed at Darjeeling, but as observed in Tibet itself remind us of the Zoroastrian mode of the disposal of the dead—the custom of exposure before flesh-devouring birds, observed by the Parsees of Bombay.

(b) Their religious hierarchy, their religious services and even some of their beliefs remind us of Christianity.

(c) The third religion of which we are reminded in Buddhism, which is the prevalent religion, is the ancient Bon religion, which has given some of its elements to the Buddhism of Tibet, more properly spoken as Lamaism.

The fascinating name of Buddha.

The name and the religion of Buddha have so much fascinated some writers that they see his name in the names of the gods of distant countries, and even in the name of the day of a week. For example, Lieutenant Richard Burton says : "But the celebrated Eastern reformer's name has extended as far as the good old island in the West. It became Fo-e and Xa-ca (Shakya) in China ; but, in Cochin China, "Pout," in Siam, "Pott" or "Poti" in Tibet ; perhaps the "Wadd" of Pagan Arabia, "Toth" in Egypt, "Woden" in Scandinavia, and thus reaching our remote shores, left traces in

Wednesday,[3] i.e., the day of Woden, the highest God of the Germans and Scandinavia." Justi, Darmesteter, Harlez, Haug, and Meherji rana-vacha take the Gaotama of the . . . . Farvashis Yasht (Yh. XIII, 16) to the Gaotama Buddha himself.

Ferishta, in his well-known history, known, as *Tarikh-i-Ferishta*, while tracing the connection between India and Persia from remote times, beginning with the Peshdadian King Faridun, thus refers to the conquest of Tibet by Persia : " Some authors, however, relate that Faridun even possessed the Punjab ; and that the descendants of Koorshasp (Kershasp), down to the celebrated Rustom, held it in subjection together with Kabul, Tibet, Sind and Nemrooz."[4]

(a) Influence of Zoroastrian Persia on Tibet.

According to the Arab historian Maçoudi,[5] who lived in the tenth century A.D., some of the descendants of Āmour (عامر) the grandson of Jafet, the son of Noah, had gone and settled in Tibet. Their kings were latterly known as " Khakans." The Kingdom of Tibet was a kingdom distinct from China.[6] Its people were cheerful, gay and contented. They were rarely seen to be sad or sorry. That was due to its fine climate. This gaiety and cheerfulness of temper have led the people to cultivate the arts of music and dancing. The same cheerfulness makes them feel less the loss of their near and dear ones. Maçoudi derives the name Tibet from the Arabic word tabat (ثبت) " to fix " " to settle " on account of the Himyarite Arabs having settled there.[7] According to this author, Tibet was known for its musk[8] (مسك). Chosroes I (Nowshirwan the Just) was on friendly terms with the Khakan of Tibet who sent him some Tibetan curiosities with a letter,[9] and of all the tribes of the Turks, the Tibetans were the most noble.[10]

Macoudi on Tibet.

The Arab historian Tabari,[11] in his account of the history of the Kings of Yeman for the time between the reign of Kai Kaus and that of Bahman of Persia says : that in the times of Kings Gustasp and Bahman there reigned in Yeman Tobba,[12] Abou-Kourroub. The rulers of many countries near and far were afraid of him. The King of India, once sent him an embassy

Tabari on Tibet.

---

[3] Lieutenant Richard F. Burton's—" Goa and the Blue Mountains of Six Months of Sick-leave."

[4] Brigg—Ferishta I, *Introductory Chapter on Hindoos*, p. Lxvi. According to a recent writer it was an Iranian prince who first promulgated Buddhism in China, (*Vide* my *paper* on the subject contributed to Mahamahopadhyaya Dr. Jha Memorial Volume).

[5] Macoudi, traduit par Barbier De Maynard, Vol. I, p. 289.

[6] *Ibid.*, pp. 350, 351.

[7] *Ibid.*, p. 351.

[8] *Ibid.*, p. 353 et seq.

[9] *Ibid.*, II, p. 203.

[10] *Ibid.*, III, p. 253.

[11] Tabari, par Zotenberg, Vol. I, p. 505, et seq.

[12] *Tobba'* was the name by which the Arab Kings of Yaman were known.

with very rich presents made of silk, amber, etc. The Tobba inquired if those things were made in India. The ambassador, afraid lest his answer in the affirmative may tempt the Tobba to take possession of India for its riches, pointed to China as the home of the rich products and praised that country for its beauty and its riches. The Tobba of Yaman thereupon, sent an army to invade China. The army went through Tibet. The commander of the army left an army of 12,000 Arabs in Tibet on his way to China, so that, in case of defeat and retreat, that army may be of use to him. He was victorious in China and on his return he left the 12,000 Arabs in Tibet to live and flourish there. Tabari says that many of the inhabitants of Tibet are descended from the Arabs.

(b) Christianity and Buddhism.

The religious services of the Lamas are of a variegated character. At times, it is unusually noisy ; and, at times, it is dignifiedly quiet and solemn. To one who sees it long and on various occasions, it appears to be more the former than the latter. We, in India, are familiar with noisy religious services, wherein drums, trumpets and such other instruments play a prominent part. But, what we see here is nothing compared to what we see in the Tibetan monasteries at Darjeeling. They bring into service all imaginable noisy instruments of their so-called music. and make with these a really terrific noise, which, at times, seem to strike terror in us, and which, no doubt, are likely to strike terror among the demons, the ejection of whom is one of the objects of their service.

But, during a part of the service when they conduct it in a quiet muttering tone, if one, familiar with the service of the Catholic Christians, were to hear it from outside, he would suppose it to be some Christian service. The intonation of the prayers during the service is very similar to that of the Christian Catholic prayers. Jesus Christ is known among them as "Yshu-mashi."

Mr. R. F. Johnstone says[13]: "It is a matter of common knowledge that some of the doctrines of the Mahayana (not to mention its ritualistic practices) bear a remarkable resemblance to some of the teachings of Christianity." One critic has been venturesome enough to assert that Ashvaghosha and the apostle St. Thomas actually became personally acquainted with one another at the Court of St. Thomas's supposed Indian patron, Gondophares, or Godopharms, and that such Christian elements as are to be found in the Mahayana were therefore the result of the intercourse between the Christian apostle and the Buddhist patriarch. The problem of the nature of the relationships between Christianity and Buddhism is not to be explained by any such airy suggestion as this : On the whole, there is something to be said for the view, that the resemblances between the Christianity and the "New" Buddhism (as the Mahayana has been called) are not due to borrowing either on one side or the other, but to the fact that both had access to some sources of doctrinal inspiration—sources which in themselves were not specifically either Christian or Buddhist. It is now a matter of common knowledge that Christianity and Mithraism were in many respects amazingly alike ; yet the best authorities assure us, that, at the foot of these two religions, 'lay a common eastern origin (Persian and Babylonion) rather than any borrowing.'

---

[13] Reginald F. Johnstone, *Buddhist China*, p. 36.

Huc saw so much of similarity between Christian ritual and Tibetan ritual that he said : "The devil in his hostility to Christianity had anticipated his coming." Dr. Waddell speaks of the religious service of the Lamas as a "most impressive spectacle."

They say that both Ashvaghosh the Buddh and St. Paul the Christian were at one time present in the Court of Gondophur.

Lamaism. The Tibetan Lamas.

Buddhism, mixed with some elements of the ancient Bon religion, is known as Lamaism. A Tibetan traveller, writes of Tibet as the country of the Lamas, women and dogs. Every monastery has a number of Lamas or priests attached to them. Those who are regularly enrolled as full-fledged monks get ten rupees per month. The distant monasteries are spoken of as attached to one or another of the big monasteries of Lhasa or Tashai Lumpo, or some such other big monastery. The monastery of Tashilumpo, presided over by the Tashi Lama, has 3,000 Lamas. Their principal dress consists of a loose gown of a pale reddish colour. They move about generally bare-headed and barefooted. On ceremonial occasions, the chief Lama puts on an additional gown and an umbrella-like cap. The Lamaship is hereditary and a father begins to initiate his son into the order at the age of about nine. The Lamas in the monasteries round Darjeeling are not much versed in their religious lore ; but most of those in Tibet are asked to go through a certain course of learning, some of which is a mechanical learning by heart of the Tibetan scriptures. Before initiation they are made to recite by heart the principal portions, about 125 pages of ordinary size. If any candidate commits a single mistake, he is rejected and is made to leave the monastery which educated and maintained him. The Lamas have neither caste nor purdah system.

The early religion of Tibet was Bon religion. It was in the eighth century that Padma Sambhava introduced Buddhism into the country. This Buddhism with the elements of the old Bon religion preceding it is known as Lamaism. It has also something of the elements of Sivaism in it. The belief in devils is an element of the old Bon religion.

In Tibetan Buddhism as seen at Darjeeling, we find that some of the principal injunctions of Buddha are more honoured in the breach than in their observance. The Lamas seem to cling more to the letter than to the spirit. We see this in the following two principal cases : (a) Not to kill ; (b) Celibacy.

Buddha's injunction not to kill.

Gaotama Buddha enjoined, that his disciples should not kill. That injunction led to abstinence from animal food. Thus, all Buddhist Lamas are expected to be vegetarians. But that is not so. The Lamas at Darjeeling, when asked, why they ate meat, said, they "did not kill" but ate the meat of animals killed by others. The Hindus of India venerate the cow and request their Mahomedan brethren not to kill cow. But the Lamas at Darjeeling eat the flesh of all kinds of animals, even of the cow, and I was surprised to see on the back verandah of a monastery itself, a piece of beef in a meat-safe. But, strange to find that, though they eat all kinds of meat, they advocate abstinence from eggs, fish and birds. Their plea in defence of this custom seems to have some force. They say "Buddha has prohibited the killing of animals, so the lesser the number of lives killed for our food the better. When one eats eggs or fish he has to eat several of them to satisfy his hunger. So, he takes several lives. It is better therefore to kill one big animal like a cow or sheep and feed from its meat a number of men than to have a number of eggs and fish for each person and thus sacrifice many lives."

(b) Buddha's injunction of Celibacy.

Buddha had enjoined celibacy to the priests. This injunction also is observed more in its letter than in its spirit. They do not marry, thinking it unlawful to marry, but they keep women, saying, that is not "marrying." So, their monasteries have the so-called nuns, who are known as *anis* and are kept by the Lamas.

Entombed Lamas.

Some of the Lamas get themselves entombed. Such entombed Lamas are of three classes : (a) those of the first class take vows for six months ; (b) those of the second take vows for three years, three months and three days ; (c) those of the third class take vows for life. They shut themselves up in a mountain cave, the entrance to which is shut up, a small opening only being left to pass food. At times, young boys of twelve to fifteen entomb themselves. At first, they think of entombing themselves only for six months with a view to exalt their spiritual character. When they come out, some of them turn out idiotic. This idiocy leads them to take a further vow and thus some entomb themselves for life.

In this case of entombed Lamas, we see a perversion of Buddha's teaching. His injunction for short or long retirements had for its object a kind of moral and religious discipline. He taught that such a temporary retirement gave opportunities for (a) self-examination, and (b) constructive thought which led to the proper way of salvation. But the original good idea was perverted.

The furniture of these tomb-caves was as horrible as the idea and the surroundings. Their drinking bowls of the entombed Lamas were made of skulls of deceased persons. For their blowing instruments for worship they had bone-trumpets made out of the thigh bones of deceased persons. It was believed that the souls or spirits of deceased persons were pleased when their bones were made use of by living men for domestic and religious purposes. So, in the paraphernalia of wandering monks, we often see bone-trumpets and skulls. The Lamas are, as it were, roaming monasteries, i.e., they carried on their bodies, most of the instruments which we see in a monastery,—bells, flags, rosaries, trumpets, praying-wheels, clarions, dorjis (symbolic small scofotros), etc.

It is no wonder that retreats of this kind with horrible surroundings make the hermits idiotic and eccentric. Even milder forms of retirement are, at times, said to have produced temporary eccentricity. Martin Luther even, under such a mild temporary retirement, is said to have grown a little eccentric, and to have once thrown an ink-stand against a devil, who, he imagined, was before him.

Lama's Robes.

Their early code of ritual enjoins that the material of their robes should be "woolen cloth." But, nowadays, silk is used by some rich Lamas. The colour of the robes in Tibet is yellow or saffron-like. The colour spoken of in their books is *nur senig* or Brahman goose-coloured. This sad-coloured bird, the ruddy shell-drake has, from its solitary habits and conjugal fidelity been long in India symbolic of recluseship and devotion.[14]

The priestly garb consists of three vestments. The first is the lower patched robe. It is made of about 23 patches, sewn in seven divisions, and fashioned by a girdle at the waist. The patches give an idea of poverty.

Among the Buddhists there is a particular month, at the end of the rains, known as Chīvar Môsa, i.e., Robe-month, when all mendicants are presented with new robes.[15] Their robes are made up of patched cloths, because patched clothing indicates poverty.

The Tibetans, a it-nation.

As a man is a child of circumstances and of his surroundings, so also is a nation to a certain extent. We have too many monasteries and too many monks in Tibet. In fact, the Tibetans are spoken of as a hermit-nation. It is this country that has made them so. The country is isolated. (a) It is surrounded by lofty mountains of which the Mt. Everest has the height of 29,000 feet. (b) It is barren on account of the frequent fall of snow for a great part of the year and on a great part of the country. (c) It is surrounded by uninviting deserts. These have made all the people also reserved. They do not like the company of foreigners. All these circumstances tend to make the people ascetic or hermit-like. Thus, we see many monasteries and monks here and many cases of extreme asceticism like those of entombed hermits.

The Dalai Lama held as Incarnations.

The Dalai Lama and the Tashi Lama are the two chief Lamas at the head of all. The Dalai Lama rules at Lhasa. He is both the Temporal and the Spiritual Head of the country. The Tashi Lama rules at Tashi Lumpo, and is next to Dalai Lama in dignity and public estimation. His monastery has 3,800 monks attached to it. He, however, has to a certain extent somewhat independent sway over his country. He has the right to officiate at the installation of the Dalai Lama. The latter is held, as it were, as an incarnation of the Spiritual Lord, his predecessor. Not only do the Tibetans address him as such but even European diplomats have, out of diplomacy, so addressed a child Dalai Lama.

---

[14] Dr. Waddell—*Lamaism*, p. 200.

[15] *Ibid*., p. 511.

Sir W. Hastings' Embassy to the boy Dalai Lama.

We have an instance of this kind in Sir W. Hastings' embassy. We thus read about it : "On the morning of the 4th December, 1783, the British envoy had his audience and found the child, then aged eighteen months, seated on a throne with his father and mother on his left hand. Having been informed, that, though unable to speak, he could understand, Captain Turner said : 'The Governor-General, on receiving the news of your decease in China was overwhelmed with grief and sorrow, and continued to lament your absence from the world until the cloud that had overcast the happiness of your nation was dispelled by your reappearance ; and then, if possible, a greater degree of joy had taken place than he had experienced grief on receiving the first mournful news. The Governor anxiously wished that you might long continue to illumine the world by your presence, and was hopeful that the friendship which had formerly subsisted between us would not be diminished, but rather that it might become still greater than before ; and that by your continuing to show kindness to his country fellow-men there might lie an extensive communication between your votaries and the dependents of the British nation.'

"The infant looked steadfastly at Captain Turner with the appearance of much attention, and nodded with repeated slow motions of the head as though he understood and approved every word. His whole attention was directed to the envoy, and he conducted himself with astonishing dignity and decorum. He was the handsomest child Captain Turner had ever seen."

The Tibetans peculiarly, as it were metamorphose foreign names. This name of Warren Hastings is "Gval-tochal" Reinponchippo of Calcutta.

Manning's account of his visit to the Dalai Lama.

Manning thus describes his visit to the Dalai Lama : "This day (17th December, 1811) I saluted the Grand Lama. Beautiful youth. Face poetically affecting; could have wept. Very happy to have seen him and his blessed smile. Hope often to see him again."

Manning goes on to relate : "The Lama's beautiful and interesting face and manner engrossed almost all my attention. He was at that time about seven years old, had the simple and unaffected manners of a well-educated, princely child. His face was, I thought, poetically and affectingly beautiful. He was of a gay and cheerful disposition, his beautiful mouth perpetually unbending into a graceful smile which illuminated his whole countenance. He enquired whether I had not met with molestation and difficulties on the road, to which I promptly returned the proper answer. I said that I

ফা০ ২

had had troubles, but now that I had the happiness of being in his presence they were amply compensated. I thought no more of them."

Dr. Suen Hedin says of the Tashai Lama that he is " more powerful than all the kings of the world." He rules " over the faith and souls of men from Volga to Lake Baikal, from Arabia to India." Of his visit to the Tashai Lama he says : " I left the Labang, his cloistered palace, intoxicated and bewitched with his personality. This one day was worth many days in Tibet." Dr. Suen Hedin, when speaking of the Tashai Lama, his monastery, his officers, etc., speaks of them in Christian phraseology as the Pope, the Vatican, Cardinals, Prelates, etc. The Tashai Lama is spoken of as Panchen Rinpoche, i.e., the Great person Tashai. He is believed to be the incarnation of one Dhyani Buddha. He is taken more as a teacher or spiritual head, while the Dalai Lama, who is known as Gyalpo Rinpoche, i.e., the precious king, is taken as the Temporal head.

The Kashmir Government sends a tribute every three years to the Grand Tashai Lama. This grand Lama sends at first about 500 mules to Laddhak in Kashmir, to welcome the embassy bringing the tribute. The members of the embassy load them as bales of merchandise on the mules and carry them for trade to Tibet.

The monastery of Tashai Lama and other monasteries of Tibet were built like walled forts. They served as fortresses during fight, and these monks, like the Christian monks of the Middle ages, fought as soldiers.

Prayer-Machines.
(a) Prayer-flags.

Among the religious instruments of the Lamas, what we should generally term as Prayer-Machines[16] draw our special attention. Among these Prayer-Machines, I include their (a) Prayer-flags, (b) Prayer-wheels, cylinder or barrels, and (c) rosaries.

Their Prayer-flags are, as it were, "the rallying posts of religious sentiments. You see them in monasteries, in the yards of private residences, on hill-tops, rivers, streams and streamlets, on boats, and even in the hands of mendicant Lamas. The more the prayer-flags flutter with currents of air, the better. So you see them on roofs of houses, on fire-places, tops of hills, and rivers. There they flutter by the force of the ascending or descending currents of air and of currents of water. They are inscribed with certain prayers, and, with each motion or fluttering movement, a prayer is taken to have been recited.

The most common prayer formula on these flags is that of " om maṇi padme hum," i.e., " Hail, the Jewel in the Lotus flower." It is like the Pater noster of the Christmas, Bismilla of the Mahomedans, Yathā-hu-vairyô of the Zoroastrians. It brings all help and support from divine powers.

---

[16] For a detailed account of these different prayer-machines, *vide* my *Papers* before the Anthropological Society of Bombay Journal, 1913, *Vide* my Anthropological Papers, Part II. pp. 68—92.

Love of Colours.

The flags are made of variegated colours. The Tibetans come into frequent contact with the variegated colours of Nature on their mountains. So, they are very fond of variegated colours. This we see in their flags, and even to some extent, in their dress. The women are on occasions gaily decorated in a dress of variegated colours. Even their shoes or slippers are made of thick cloths of different colours. They buy from the bazars only the soles of shoes and the upper part is their own handwork of variegated colours.

In the weekly bazars at Darjeeling, I was struck at times, with richness of the coloured stuff of the clothes, even of some poor who acted as porters. Some of them put on satin clothes. At first, I thought these satin robes or gowns were presented to them by some rich women whom they served. But, on seeing them on the body of several, I inquired from a shopkeeper, and he said that they were very fond of such clothings, and even the poor of the working class, at times, bought satin worth at about a rupee and a half per yard.

(b) Prayer-wheels.

Next to prayer-flags, the most common prayer-machine that we see is the prayer-wheel, cylinder or barrel. They are seen in monasteries, on house-roofs, on streams, at fire places and in the hands of religious-minded persons. They vary in size from a quarter of a foot in length or height to six, seven or more feet and a few inches in diameter to three or four feet in diameter. It is the monasteries that contain the large wheels. At the outside of a monastery, you find, at first, a number of smaller wheels on both the sides of the entrance. The visitor or worshipper at the monastery, first turns all these wheels in turn. He then enters into what may resemble a verandah, where there is a very large wheel. He turns that wheel by means of a large handle. It is an effort to turn this huge machine for some time. I was struck with the devotion of an old Tibetan mendicant woman at the rural monastery of Gang, with which she moved the great machine. The women go to the work as they go to that on a grinding mill with rhythmic movements of their body to and fro. Just as we hear in India of mendicant *sadhus* going from shrine to shrine, living upon the charity of religious-minded persons, we see and hear of mendicant beggars, both men and women going from monastery to monastery, and there turning the prayer-wheels with devotion. The Lamas at the monasteries are expected to feed them while they are there.

The wheels, barrels or cylinders that are placed on roofs of houses and fire-paces, etc., are of a very light structure, so as to move with the slightest current of air produced by the moving wind or the ascending current of hot air. The wheels carried by the Lamas are still lighter. Some of them are like the big rattles (गुंगरा) with which our children play. The Tibetans turn these wheels while talking with you and walking in the street.

These wheels have long pieces of paper rolled over them. These papers have religious prayers written on them. With each turn, or set of turns of the wheel, a prayer is taken to be recited. Thus, in a minute a number of turns of the wheel would, as it were, recite a number of prayers for the person who carried it and moved it.

I think the origin of this custom can be seen in the old custom of writing papers in the form of round scrolls. We see them still in the case of modern Indian horoscopes and even of old writing. Prayers, at first, were written on long pieces of paper which were then rolled on a roller. The worshipper, at first, recited leisurely the full prayer reading it in the paper rolled round the roller. Then, subsequently, some parts of the written prayer were, here and there, omitted. In that operation, the wheel had to move quickly. The shortening process went on till at last, it came to a mere mechanical movement.

Prayer-beads or Rosaries.

All religious-minded Tibetans carry rosaries in their hands, which they turn, when at prayers, and even while talking or walking. We see the use of rosaries among many religious communities, and in their use also we trace the shortening or substitution process. At first they were used for counting prayers. With each recital of short-prayer like the pater noster or the bismilla or the Yathâ-ahu-vairyô one bead was turned. As in the case of the wheel so in the case of the rosary, a shortening process went on. After some time whole prayers ceased to be recited and only the first parts of the prayers were recited. That also in process of time fell through, and the matter came to a mere mechanical movement. The English word ' rosary ' comes from the word ' rose '. So, the corresponding words for it in other languages also come from words related to gardening or vegetation. For example, the Gujrati word hārdi from hār a garland. These words show, that, at one time, some vegetable products like rose leaves, etc., formed the beads of rosaries.

Latterly rosary came from the Church to the state, from temples to society rooms and we find that rosaries formed the part of ladies' ornament in the form of necklaces of gold, pearl, etc.

A shortening process in the shouts of Hip Hip Hurrah.

The above shortening process is traced in the history of the word "Hip" in the formation of words "Hip Hip Hurrah." It is said that at the commencement of the Crusades, Peter the Hermit went from city to city, town to town and village to village, shouting Hierasalyma est perdita, i.e., "Jerusalem is lost." The Saracens had taken the holy city of Jerusalem, and so, Peter went from place to place to arouse Christians to join the Crusaders for the religious war, and, in order to draw the attention of the people to the event and the cause uttered the above words. Then, in haste, he shortened the words. He only spoke the first letters, viz., H. E. P. of the three words of the above sentence or formula. He then joined the letters and spoke the word Hep. The people had become so familiar with Peter and his shouts that no sooner he appeared and began to utter the word Hep they welcomed him, joined him and exclaimed Hep Hep Hurrah. Thus, gradually what were at one time religious words, or words of the Church, latterly became words of welcome on gay occasions both in streets and in banqueting halls. From the Church the shout came to the State, from temples to society rooms.

The Tibetan word Lha-sol reminds us of the shortening process in the Christian religious word Hep in Hep Hep Hurrah. At first, the Tibetan words were " Lhagya lo Lhagyalo," i.e., " God (may give) a hundred years." It was an invocation to the mountain deities. Latterly, the words were shortened into Lha. Sol. which were used generally for a joyful exclamation.

Tibetan salutations.

Various forms of salutations are known aomng the Tibetans. They vary according to the position of the person who salutes and the person saluted. The various forms are the following :

(a) Bowing or lowering the head ; (b) Protruding the tongue ; (c) Pointing the thumb ; (d) Scratching the head ; (e) Scratching the ear ; (f) Pointing or protruding the ear ; (g) Doffing the cap ; (h) Rubbing of foreheads ; (i) Prostrating on knees ; (j) Presenting a scarf.

Among these, the following strike us as very peculiar : The saluter takes off his cap with his right hand, bows a little, holds forth his left ear and puts out his tongue. This form of salutation is a relic, reminding one of an old custom of Tibet, China and Central Asia, whereby conquering heroes or kings at times cut off the ears of their war-prisoners or of the persons whom they wanted to punish or to whom they wanted to show their displeasure. At times, they cut off the tongue also. So in the above mode of salutation, we see a remnant of this custom. The saluter holds forth his ear and tongue, and bends his head in submission, indicating, by all these signs, that he places his ear and tongue and even his head at the disposal of the person whom he salutes, and the latter may, if he likes, cut all these off. Herbert Spencer has traced, at the bottom of most of our modern-day salutations remnants of the old idea of self-surrender of the person saluting to the person he salutes.

The modern salutation of lowering the head out of respect is a remnant of the old custom, whereby the saluter places at the disposal of the person saluted, his head, his very life. The modern salutation of ladies to royalties, known as doing courtesy, wherein, they bend their knees, is a remnant of the old form of salutation by prostration. Instead of prostrating their whole bodies, the ladies bend their knees indicating that they are prepared to fall in and prostrate.

Another form of salutation is that of aising the thumbs and protruding the tongue. The projecting of the thumb means approval and satisfaction, and raising the little finger indicates disapproval and hostility. Even, in the midst of conversation, if one wished to indicate his assent to what the other person says he raises his thumb. The custom in modern assemblies to express assent by raising hands seems to be connected with this custom of indicating assent by raising a thumb. In Gujerat, and even in Bombay, we see children indicating friendship with their play-fellows by raising their two fore-fingers with the thumb in the middle, and indicating enmity by protruding their last finger. This seems to have some connection with the above old method. The ancient Roman gladiators also raised their thumbs when they showed their submission.

Another peculiar form or mode of salutation during visits is that of presenting scarfs. When one goes to another friend, he holds before him a scarf, which consists of a piece of woolen stuff. The other side also presents such scarfs. In the case of visits to great Lamas, this presentation of scarfs holds the same place as that of holding *nazrana* in India. The Indian custom of presenting shawls or *poshaks* (suits of dress on great occasions) seems to have an origin in this old custom.

Comparing the modern forms of salutation with these old forms which exist in Tibet, we find that almost all the modern forms have come down from the old. An European gentleman's doffing his hat, a lady's courtesy, an Indian gentleman's low salam, a Free-mason's greeting in the First Degree, an officer's presentation of a sword, before the Governor, a soldier's salute by moving his hand across the head, a Parsee lady's salutation of Ovarna all these are modern forms of a kind of self-surrender to the person saluted.

Disposal of the Dead.

The Tibetans have several known modes of the disposal of the dead. Among these, the principal is the one resembling that of the Parsees, viz., disposal by submitting the bodies to be devoured by flesh-eating animals. They expose their bodies to be devoured both by vultures and by dogs. In big centres like Lasa and Tashi lumpo, the corpse-bearers form a separate class, living apart from the people. They have a number of dogs which devour the flesh. They cut the bodies into small pieces, so that the work of the vultures and dogs is made easier. They even break and pound the bones and mix them, so that they can be easily eaten away.

Belief in devils.

We see in all monasteries paintings on inner walls, wherein pictures of devils in all possible horrible forms predominate. This belief in devils they have inherited from the old Bon religion, once prevalent in the country. Some of their paintings carried by itinerant beggars,—Lamas and nuns—from village to village to illustrate their steriotyped religious lectures or sermons, remind us of the pictures of heaven and hell observed on the walls of some of the Christian religious places of Europe and of the pictures in the illustrated works of Dante's *Divine Comedy* and Ardai Viraf's *Pahlavi Viraf Nameh*.

One of their religious functions is that of the well-known devil-dances which they generally perform once a year. Therein, the monks put on horrible head-dresses bearing the features of devils and dance.

Superstitions.

No nation or community is free, more or less, from some kinds of superstitious beliefs. The Tibetans are more prone to such beliefs, most of them borrowed from the ancient Bon religion. Dr. Waddell, who is a great authority on Lamaism, takes a very broad liberal view of this matter and says : " The movement of the Human spirit is one shape of many names." He adds as an illustration : "If a learned Tibetan were to attend a wee Free-Kirk service in the Highlands, or in that lonely forbidden region of the Clyde the island or Airan, he might be quite right in thinking it no better than some of the most degraded observances of his friends at home.[17]

The following are some instances of their superstition :

(a) During the Tibetan expedition, on 16th March, 1904, they sent a number of Lamas near the British Camp, to pray and ask for the curses of the devils upon the British.

(b) All Tibetans carry some chains. In the war with the English, all the Tibetan soldiers were given chains as amulets. When some were killed even in spite of the chains, they said, that the chains were intended to act against the lead bullets of the enemy, but the English had a little salna in their bullets ; so the chains had no effect.

(c) They invoked the spirits of wild animals for protection. In times of war, they suspended carcasses of wild animals, like the yak on the gates of their forts, believing that their spirits would help them in driving away the invading enemy.

(d) The teaching of the Lamas that the votaries would go to higher heavens in proportion to the beauty and value of their offerings had led to the encouragement of some Tibetan arts. They aim at producing beautiful votive offerings for the monasteries.

Miscellaneous Beliefs and Customs.

(1) On returning from places of pilgrimage, when they come across big trees, they stop and dance round it.

(2) It is an honour for them to ride donkeys.

(3) Among various Buddhist symbols, flower-pots, two fish tied together, and crows are often seen.

(4) The killing of birds is a crime and sin.

(5) They have no caste and purdah system.

(6) The mastiffs or great dogs are the life and soul of the Tibetan shepherds.

(7) The sacred formula of "Om maṇi padme hum" is held as their eternal truth.

(8) They have a peculiar flag-saluting ceremony which reminds us to a certain extent of our modern military custom.

(9) One of their New Year's Day celebrations consists of burning papers on which prayers and good wishes are written. They believe that the burning of these papers leads to the realization of the blessings of the prayers written on them. This is something similar to the Chinese beliefs. I had the pleasure of seeing a Chinese temple in

---

[17] Dr. Waddel's *Lamaism*, p. 447.

Calcutta, where such papers with prayers written on it were sold. These papers were purchased and burnt by the worshippers. The Chinese prepared paper horses, etc., also and burnt them believing that they received the meritoriousness of supplying the help of horses, etc., to travellers.

(10) The most important implement of religious ritual among the Tibetans was the Dorji, a kind of sceptre. The word meant a thunder-bolt, and it symbolized emblem of power. Darjeeling is said to have derived its name from this word Dorji.

(11) They have periods of the day for religious services, corresponding to the five gahs of the Parsees and the five periods of Catholic service.

(12) The words of Buddhist prayer exclamation are Lha-sal. It is, as said above, a contraction of "Lhagya lo Lhagya lo" meaning "God (give me) an hundred years, God (give me) an hundred years."

(13) Ghee or classified butter plays an important part in many religious ceremonies and even in social customs. When one presents to another a peg or a bottle of their wine, they place on it a little ghee.

(14) They have elaborate rain-making ceremonies. Regular falls of snow in winter are good for their crops. During the Tibetan invasion by the English army from India, they had a very mild winter and they were afraid of the crops being short that year. They saw heliographs being frequently used, and they thought that the English, by the working of the heliograph, were in some magical way keeping off the snow. So it is said, that in one place a deputation of some Tibetans went to the Commanding Officer of the place and implored him not to write the heliographs and thereby keep off the snow from their fields and lead to their starvation.

(15) Wine and barley are held to be symbols for good omen. When one goes out on a long journey, or on an important errand, the women stand at the door, holding these in hands to wish him godspeed and success. A ragged old woman carrying on an empty basket is a bad omen.

(16) Like the Christian nuns, even women are attached to some monasteries. They are known as "ani." Some of these "anis" live there as kept women of the Lamas who are prohibited to marry. The Lamas do not marry, but some keep women thus adhering to the letter but not to the spirit of the original injunction.

(17) A part of their religious literature is known as the Kangyur. Once a year, Kangyur books have to be read in the monastery. They form a large number. The reading lasts for some days, beginning at about 5 a.m. and ending at 7-30 p.m. They have their meals and tea at irregular intervals during the reading. I saw them drinking their tea with bread in the midst of even smaller services lasting for about an hour. The head Lama sits at one end and the other Lamas on his two sides in parallel lines. They have drinking bowls before them and a woman moves about in their midst pouring hot tea. They seem to be very fond of hot tea, which they lisp in the midst of services. No sooner is a cup emptied, than it is re-filled by the woman, the tea cup-bearer.

(18) It is a rule of etiquette never to drink more than one-third of the cup of tea at first, neither less than one-third nor less than one-third, the latter being taken as an insult to the cook of the host as it may imply, that he had not prepared good tea.

(19) In their religious offerings the torma plays an important part. It is a kind of sweet, formed in the form of a *chorten*, a religious symbolic form.

(20) Pillars serve as notice boards in the city of Lhasa. The Dalai Lama sticks copies of his edicts on these pillars. All important events like treaties with foreigners are thus announced to the public.

(21) The following serve as good omens

(a) A well dressed man or woman ; (b) A full vessel ; (c) Grain ; (d) Grass ; (e) Firewood ; (f) A prayer-flag ; (g) Sound of cymbals ; (h) A woman carrying a child, milk or curd.

Ksatriyas in Greater India

बिजनराज चैटर्जी, पी-एच० डी०, डी० लिट०

[कम्बुज, आनाम, जावा आदि से मिले अभिलेखों में ब्राह्मणों का ज़िक्र बहुत हुआ है। पर क्षत्रियों के उल्लेख बिरले ही हैं। भारत से प्रायः ब्राह्मण लोगों ने जा-जा कर परले हिन्द के प्रदेशों में उपनिवेश बसाये थे। बाद में इन्हीं के वंशजों ने अपने आप को क्षत्रिय कहना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार के कई उदाहरण इस लेख में दिये गये हैं, जब कि ब्राह्मणों ने जा कर राज्य स्थापित किये और बाद में अपने आप को क्षत्रिय कहना शुरू कर दिया। कम्बुज उपनिवेश की स्थापना कम्बु ऋषि नामक एक ब्राह्मण द्वारा किया जाना प्रसिद्ध है। अप्सरा मेरा और कम्बु से वहां एक सूर्यवंश का आरम्भ हुआ। इसी तरह एक दूसरे ब्राह्मण कौण्डिन्य और सोमा यक्षिणी से सोमवंश का भी उद्भव उल्लिखित है। बोर्नियो, जावा आदि के राजाओं के नामों के पीछे वर्मा आता है। संभवतः पल्लव राजदर्बार से ही, जिसका कि इन द्वीपों के भारतीय उपनिवेशों पर बड़ा प्रभाव था, इस का आरम्भ हुआ है। इस प्रकार के उदाहरण बारहवीं सदी तक मिल सकते हैं कि ब्राह्मण परिवार को सेनापति आदि का पद देकर क्षत्रिय बना दिया गया। केवल वर्मा शब्द से ही इन का अपने को क्षत्रिय बतलाना सूचित होता है। ये लोग बड़े विद्वान् थे तथा वेद शास्त्रादि बारहवीं शताब्दी तक भी पढ़ते थे।]

In the Sanskrit inscriptions discovered in Cambodia, Annam, Java, etc., by French and Dutch archæologists we find frequent mention of Brahmans but only occasionally do we come across the word ‘Kṣatriya.’ Of course, in Cambodia there is the ‘solar’ dynasty founded by the Ṛiṣi Kambu and the apsarā Merā. From the name Kambu we get Kambuja—the name of the country of which the Europeanised form is Cambodia. Then there is the ‘lunar’ dynasty traced from the Brahman Kaundinya and Soma—a native queen whose hand the Brahman won after many adventures on his arrival in the newly discovered land. But the founders of both these dynasties were, as we see, Brahmans. The later rulers, however, assume the Kṣatriya title of ‘Varman.’ In India too we find dynasties, Brahman in origin, which were recognised later on as Kṣatriya.

Indeed in the earliest inscriptions discovered in Champā (South Annam), Borneo, Java and Cambodia we find all the royal names ending in ‘Varman., Probably this title of ‘Varman’ came from the Pallava court of Kanchi which influenced in many ways the Hinduised portions of South Eastern Asia. The title ‘Varman’ was retained right up to the end (of the Hindu period) by the rulers of Cambodia and Champā but elsewhere, as, e.g., in Java, it (this title) fell into disuse much earlier.

From a study of the traditions and inscriptions of Greater India it would thus appear that the Brahmans, who went over from India to those distant regions, married freely native princesses, and after a few generations (when Indian traditions had struck deeper root in the new sort) their offspring, who ruled the land, became known as Kṣatriyas. In Borneo where we find a prince of the name of Mulavarman, son of

Ashvavarman and grandson of King Kundanga, inviting Brahmans to Borneo to perform a Yajña (in the fourth century A.D.)—it is possible that Kundanga was a native ruler who was accepted as a Kṣatriya by Brahmans who had early visited that island and that Mulavarman might have been inviting a fresh batch of Brahmans to get his status as a Kṣatriya confirmed. In Indian history too there have been ruling families, with no pretensions to Kṣatriya blood, who have been recognised later on as Kṣatriyas.

Indeed in Cambodia, Siam, Burma and Champā we have traditions of Brahman sages having founded kingdoms in those distant regions. From inscriptions it appears that these early Brahman pioneers were reinforced by Brahman immigrants coming from India continuously from the fifth to the fourteenth century A.D. We do not hear of such a continuous inflow of members of any other caste. We hear of some Cambodian monarchs like Harṣavarman III (1065—1090 A.D.) boasting in their inscriptions of having made people observe strictly the duties of the four castes (जाति). But we do not get substantial evidence of any other caste besides that of Brahmans.

If we leave out for the present the title Varman of the kings perhaps the only instance in Cambodian epigraphy where we come across a mention of the word Kṣatriya (as referring to residents in that country) is in the eulogy of the mother of King Indravarman (877—889 A.D.) in the inscription of the temple of Baku :—" The Queen (mother), born of a family where kings have succeeded one another, ... became the wife of Prithivīndravarman, who came of a family of Kṣatriyas (क्षत्रान्वयाप्तोद्गतैः) and her was the ruler of the land—Shri Indravarman, before whom kings bowed down."

Another passage, which in the opinion of some savants may also refer to Kṣatriyas, is in connection with the regulations of the royal āshrama of King Yashovarman of Cambodia (889—910 A.D.)—" Into the interior of the royal hut (in the āshrama compound) the king, the Brahmans, and the offspring of Kings (नृप सूनवः) can alone enter without taking off their ornaments." Just after a few lines in the same inscription we get :—" The head of the āshrama . . . should do all the duties as, e.g., offering welcome to guests such as Brahmans, children of kings (भूपाल सुत), the leaders of the army, ascetics . . . ." May we take the words (नृपसूनवः) and (भूपालसुत) in the same sense as Rajput, to mean Kṣatriyas?

In the fourteenth century Javanese chronicle *Nagarakṛtāgama*—we find in the description of the Javanese capital, Majapahit, that in the western part of the city there were the houses of the Ksatriyas and ministers. In Ta Prohm inscription of Jayavarman VII (1182—1202 A.D.) the last of the great Cambodian monarchs, we find an enumeration of the favours conferred by the King on his guru and the guru's family. " To the descendants (of the guru's sons) the title of Senāpati was given as if they had been the descendants of Kings." Do we get here a rather late instance of a Brahman family becoming Kṣatriya through royal favour?

Caste regulations, as we learn from the inscriptions, were much more elastic in Kambuja (Cambodia) than in India. Not only did learned Brahmans (some of them just on their arrival from India) wed royal princesses—but Cambodian monarch like Jayavarman II and Jayavarman VII married Brahman maidens.

If, however, we take the title 'varman' of the Indo-Chinese monarchs to denote the fact that these rulers really belonged to the Kṣatriya caste, then we will find ample material in the inscriptions of Champā (South Annam) and Cambodia for a thousand years (almost to the end of the fifteenth century A.D.) about the education, accomplishments, etc., of Kṣatriya potentates in a region so remote from India. We learn, e.g., that several of the royal princes were educated by their gurus in astronomy and mathematics, the grammatical works of Pāṇini and Patañjali, the Dharma-shāstras, the Atharva Veda, and the different systems of philosophy. One sovereign—Yashovarman—wrote a commentary on the Mahābhāshya of Patañjali. Dancing and singing may also be mentioned among princely accomplishments.

As regards the religion of these rulers we may say that most of the Indo-Chinese monarchs were Shaiva. But some illustrious sovereigns like Jayavarman VII (of Cambodia) were also Buddhists.

We may conclude this short paper on Kṣatriyas in Greater India with a stanza from Yashovarman's Loley inscription in which, in a pithy sentence, an ideal picture of an Indo-Chinese monarch (Yashovarman) is attempted :—" He who reigned over the earth, the limits of which were the Chinese frontier and the sea, and whose qualities, glory, learning and prosperity were without any limits."

चीन-संधि-पयोधिभ्याम् मितोर्व्वी येन पालिता । गुणावलीव कीर्त्तिस्तु विद्येव श्रीरिवासिता ।

Such would be the high standard which we may expect of Kṣatriya rulers if they were to rule successfully countries at such a distance from India as the Hinduised Kingdoms of Indo-China—though this particular passage, cited here may be only the panegyric of court poet.

मध्यप्रदेश तथा मध्यभारत के राजपूत

रायबहादुर डॉ० हीरालाल, डी० लिट्०, कटनी।

राजपूत का असल अर्थ राजा का पुत्र होता है चाहे वह किसी जाति का हो, परन्तु अनेक युगों से क्षत्रिय जाति के लोग बहुधा राजा होते आए हैं इस से वह इस जाति का पर्य्यायवाची शब्द बन गया है[1]। कहीं-कहीं अब तक भी ऐसे घराने विद्यमान हैं जो राजपूत कहलाना पसन्द नहीं करते, वे अपने को ठेठ क्षत्रिय कहते हैं। राजपूत का एक और पर्य्यायवाची शब्द ठाकुर है जिस का अर्थ स्वामी या मालिक होता है। जब कोई व्यक्ति अपने को ठाकुर बतलाता है तो उस से राजपूत का बोध होता है, यद्यपि ब्राह्मणों के भी कई ऐसे घराने पाए जाते हैं जो भूमि-प्रभुत्व के कारण ठाकुर घराने कहलाते हैं। इसी प्रभुत्व के कारण निम्न श्रेणियों के घरानों की भी इसी प्रकार की छाप पड़ गई है। कभी-कभी इस प्रकार की पदवियों और अधिकार के कारण विवाह-सम्बन्ध हो जाने से अनेक जातियाँ क्षत्रिय जाति में सम्मिलित हो गई हैं, जिन का पृथक् करना अब असम्भव सा दिखता है। मगध का महाप्रतापी गुप्तवंश कारस्कर[2] जाति का था। यह जाति जाटों से मिलती-जुलती थी, परन्तु उस घराने की राजकुमारी प्रभावती गुप्ता का विवाह ब्राह्मणवंशी वाकाटक महाराजाओं के यहाँ होने से वाकाटक घराना अन्त में राजपूतों की श्रेणी में आ गया। इसी प्रकार गढ़ामण्डला के गोंड़ों का घराना राज-क्षमता ही के कारण राजपूतों के वर्ग में गिना जाने लगा था और उन का विवाह-सम्बन्ध असल क्षत्रियों के घरानों में होने लगा था। गोंड़ राजा दलपतिशाह की भार्या इतिहास-प्रसिद्ध रानी दुर्गावती चन्देल घराने की कुमारी थी। उस के पीछे अन्य जो राजा हुए उन की रानियाँ कोई पड़िहारिन, कोई बघेलिन, कोई अन्यवंशीय क्षत्राणियाँ थीं। च्युतपद और अत्यन्त ग़रीब हो जाने पर भी यह घराना अभी तक सिवाय राजपूतों के अन्य किसी से विवाह-सम्बन्ध नहीं करता।

इसी प्रकार की स्थिति का मनन कर कतिपय विदेशी इतिहासकारों ने कह डाला है कि राजपूत या क्षत्रिय कोई जाति ही नहीं थी, वह केवल सैनिक और शासक लोगों का समूह था जिसने आपस में शादी-विवाह कर लेने से एक विशेष जाति का रूप धारण कर लिया। परन्तु महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने बृहत् राजपूताने के इतिहास में इस का पर्याप्त रूप से खण्डन कर सिद्ध कर दिया है कि यह भ्रम है[3]। क्षत्रिय जाति का अस्तित्व बहुधा प्राचीन काल से है। सम्मिश्रण की कथा दूसरी है; ऐसी कोई भी जाति नहीं है

---

[1] महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर ओझा का कथन है कि मुसलमानों के समय से क्षत्रिय जाति राजपूत कहलाने लगी। दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ३८।

[2] श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल—हिस्ट्री ऑव् इंडिया १५०-३५० ए० डी० (लाहौर १९३३), पृ० ११५।

[3] राजपूताने का इतिहास, अध्याय २।

जिस में मिश्रण न हुआ हो, परन्तु उस से यह सिद्धान्त नहीं निकलता कि उन जातियों का अस्तित्व ही नहीं था; अस्तु।

भारतवर्ष में राजपूतों की संख्या लगभग एक करोड़ है। राजपूताना उन का ठेठ स्थान समझा जाता है परन्तु वहाँ राजपूतों की संख्या केवल ६ लाख है। मध्यप्रदेश में कोई साढ़े चार लाख तथा मध्यभारत में चार लाख राजपूत पाए जाते हैं। पण्डित गौरीशङ्करजी ने बड़ी खोज के साथ राजपूताने के राजपूतों का विवरण अपने राजपूताना के इतिहास में लिखा है; हम यहाँ पर मध्यप्रदेश और मध्यभारत के राजपूतों और उन के कुलों का कुछ परिचय देने का प्रयत्न करेंगे परन्तु स्थानाभाव से यह केवल बहुत संक्षिप्त रीति से किया जा सकता है।

कवि पद्माकर ने अपनी हिम्मतबहादुर की विरदावली में इन प्रमुख कुलों की सूची दे कर प्रत्येक कुल या कुरी की विशेषता या गुण प्रसङ्गानुसार प्रकट कर दिया है; उन का वर्तमान मनुष्य-गणना-विभाग (Census) द्वारा गिनी गई कुरियों से मिलान करने से कुछ उपयोगी बातों का पता लगता है।

पद्माकर लिखते हैं कि रणधीर पवाँर अर्जुनसिंह पर जिस समय हिम्मतबहादुर ने धावा किया, उस समय उन की सेना में अनेक कुरियों के योद्धा उपस्थित थे; यथा—

चौहान चौदह आकरे। धन्धेर धीरज धाकरे।
बुन्देल विदित जहान में। जे लरत अति घमसान में।
वघरू बघेले करचुली। जिन की न बात कहूँ डुली।
रन रैकवारन के झला। जे करत अरिदल पै हला।
गज्जत गहरवारहु सजे। जुरि जङ्ग जे न कहूँ भजे।
बर बैस वीर जुझार जे। झुकि झमक झारत सार जे।
गौतम तमक जे रन करैं। अरि काटि कटि कटि कै लरैं।
पड़िहार हार न मानहीं। जिन को हरप घमसान ही।
उद्धत सुलङ्की साहसी। जे करत रन में राह सी।
रजपूत राना हैं सजे। जिन के खड़क रन में गँजे।
हरखे सु हाड़ा हिम्मती। जिन की जगत रन किम्मती।
राठौर ठुर ठौरन गने। रिपु जियत नहिं जिन के हने।
रन कर करे कछवाह हैं। जे लरत दिग्ध ठुवाह हैं।
सँग लिए सूर सिसोदिया। जिन को जुरत फूलत हिया।
तहँ तौंर तीवन ताकिए। रन-विरद जिन के बाँकिए।
सेंगर संपूती सों भरे। जे सुद्ध जुद्धन में लरें।
रन अटल वीर इटौरिहा। जे रन जुरत सिरमौरिहा।
विलकैत वीर बली चढ़े। सफ रङ्ग जङ्ग सदा मढ़े।
नदवान नाहर पिपरिहा। बल के बनाफर सिपरिहा।
सिरमौर गौर गराजि कै। सोभित सिला हैं साजि कै।
रनधीर वीर चन्देल हैं। जे लरत रन बगमेल हैं।

इन सब कुरियों का धावा पवाँरों पर था जिन के बाहुल्य का पता मनुष्य-गणना-विभाग से लगता है। यद्यपि सन् १८९१ से ले कर प्रत्येक गणना के समय राजपूतों की कुरियों का शोध अनवरत किया गया, तथापि आधे से अधिक राजपूत अपनी कुरियाँ लिखाने से किसी न किसी प्रकार वञ्चित रह गए, तिस पर भी मध्यप्रदेश और मध्यभारत में कम से कम दो लाख पवाँरों ने अपनी कुरी दर्ज करवा ही दी। इन में से कोई डेढ़ लाख इस प्रकार के पवाँर हैं जिनका व्यवसाय खेती होने के कारण वे कुनबी या कुरमी की स्थिति को उतर गए हैं। इस प्रकार पवाँरों में भिन्नता आ गई है। किसान पवाँरों के सिवाय मराठा पवाँर और बुंदेला पवाँर भी सामाजिक व्यवहार में कुछ भिन्नता लिए हुए पाए जाते हैं। असल धार के परमार[1], जिन के विषय में कहावत प्रसिद्ध है कि "जहाँ धार तहाँ परमार जहाँ परमार तहाँ धार", अब बहुत सङ्कुचित हो गए हैं। उन की संख्या प्रायः बीस हज़ार के लगभग निकलेगी। मराठा पवाँर तो परमारों से भिन्न और कुछ न्यून समझे जाते हैं, परन्तु विचित्र संयोग से धार का राज्य मराठा पवाँरों के हाथ आ गया है। यद्यपि विवाह के नियमों के अनुसार समान कुरी वाले आपस में शादी नहीं कर सकते, तथापि निदान किसान पवाँरों में एक ही कुरी के भीतर विवाह हुआ करता है जिस से स्पष्ट है कि अब के पवाँरों ने कुरी का सङ्केत त्याग कर अपने को पृथक् जाति का रूप दे दिया है।

पवाँरों के पश्चात् रघुवंशियों का नम्बर आता है। ये कोई आधे लाख के इधर-उधर होंगे। इन का भी एक खण्ड पवाँरों की नाईं किसान हो गया है, इसलिए इन की गिनती कृषक-वर्ग में होती है। अयोध्या के रघुवंशी घराने इन लोगों से बराबरी का व्यवहार नहीं करते, इसी कारण जैसे किसान पवाँर पवाँर में शादी कर लेता है वैसे किसान रघुवंशी रघुवंशी से अपना विवाह-सम्बन्ध जोड़ता है[2]।

रघुवंशियों से कुछ कम अर्थात् लगभग चालीस हज़ार चौहान हैं जिन की संख्या मध्यभारत से प्रायः दूनी है। चौहान अपनी शान अलग ही रखता है और अग्निकुलों में अपने को श्रेष्ठ समझता है[3]। क्या यह बात छिपी हुई है कि दिल्ली की गद्दी पर एक समय वही विराजमान था, परन्तु 'सब नर होत न एक सर'। कालान्तर में इस कुरी के कुछ लोग तो इतने उतर गए कि वे चौकीदारी का व्यवसाय करने लगे जिस से चौहान नामधारी एक शाखा[4] ऐसी फूट गई कि वह सामाजिक व्यवहार में कोतवालों के बराबर समझी जाने लगी, क्षत्रियत्व से उस का बन्धन टूट गया और वह एक अलग जाति बन कर अपने ही फ़िरक़े के भीतर निर्वाह करने लगी। यह जाति विशेष कर प्राचीन महाकोशल में पाई जाती है। इसी प्रान्त में कुछ वर्ष पूर्व पटना का राज्य सम्मिलित था, जो कुछ काल तक उड़ीसा से सम्बद्ध रह कर अब एक अलग एजेंसी में सम्मिलित हो गया है; वहाँ के महाराजा चौहान-वंशी हैं और अपना सम्बन्ध दिल्ली से बतलाते हैं।

राठौर राजपूत मध्यप्रदेश में प्रायः सात ही हज़ार हैं, परन्तु मध्यभारत में इन की संख्या इस से तिगुनी से अधिक बैठती है। राठौर राष्ट्रकूट का अपभ्रंश है। इन का दक्षिण में विशेष दौरदौरा था। कोई इन्हें

---

[1] परमारों की गिनती अग्निकुलों में होती है, परन्तु राजा मुञ्ज के समय अर्थात् ईसा की दसवीं शताब्दी तक वे ब्रह्मक्षत्र कहलाते थे, अर्थात् वह वंश जो ब्राह्मण और क्षत्रिय के योग से उत्पन्न हुआ था। दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ६१।

[2] रसेल और हीरालाल—ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव् सी० पी०, जि० ४, पृ० ४०३।

[3] पं० गौरीशंकर ओझा ने सतर्क सिद्ध कर दिया है कि चौहान अग्निकुल के नहीं थे, वे यथार्थ में सूर्य्यवंशी थे। दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ६३।

[4] ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव् सी० पी०, जि० २, पृ० ४२७।

सूर्यवंशी और कोई यदुवंशी समझते हैं। मध्यप्रदेश में तेलियों में राठौड़ नाम की एक शाखा है, जो राठौड़ राजपूतों से उत्पन्न होने का दावा करती है। उन का कहना है कि पेट पालने के लिए उन के पूर्वजों ने तेल निकालने का व्यवसाय स्वीकार कर लिया, इस से उन की गिनती तेली जाति में होने लगी। सतना के निकट नारोगढ़ नामक क़िले में तेलियों के राज्य की अनुश्रुति प्रखर रूप से प्रचलित है, जैसी कि उचहरा की ओर बैरागियों की है। बैरागी-राज्य का भी आधार मिलता है, क्योंकि गुप्त महाराजाओं के समय में यहाँ पर परिव्राजक महाराज राज्य करते थे। कदाचित् नारो के शासक राठौड़ रहे हों, परन्तु अपना सम्बन्ध तेल के व्यवसायियों से रखने के कारण जनता उन्हें तेली जाति का समझने लगी हो। दूसरे स्थान से आए हुए लोगों की जाति-पाँति का यही हाल होता है, यथा उचहरा के निकटस्थ मैहर राज्य के अधिकारी को लोग जोगी समझते हैं, यद्यपि वे कछवाहा राजपूत हैं और उन का सम्बन्ध जयपुर राज्य से स्थिर है। कछवाहों में एक शाखा जोगावत या जोगी[1] होती है। बस, उसी पर से लोगों को नटों की समता की जोगी जाति से मिला देने में कुछ देर न लगी।

बघेल यथार्थ में चालुक्य या सोलङ्की राजपूत हैं। इन का एक वंश गुजरात के बाघेली ग्राम से आ कर चित्रकूट के पास बस गया। कालान्तर में वह उस के आसपास की भूमि का स्वामी बन गया, जिस से उस प्रान्त का नाम उस वंश के नाम पर से बघेलखण्ड चल निकला। बघेलों का प्रभाव इतना बढ़ा कि अब उन का नाम प्रमुख वंशों में गिना जाने लगा है। वस्तुतः वह सोलङ्कियों की एक शाखा ही है। मध्यप्रदेश में बघेल कोई डेढ़ ही हज़ार होंगे; परन्तु मध्यभारत में उन की संख्या इस से १६ गुनी है, क्योंकि उस में समस्त बघेलखण्ड का राज्य सम्मिलित है जिस में बघेलों का बाहुल्य स्वाभाविक ही है। जो सोलङ्की अपने को बघेल शाखा में नहीं गिनते वे मध्यप्रदेश में तो प्रायः दो हज़ार परन्तु मध्यभारत में इस से पचगुने हैं। इस प्रकार बघेल शाखा को ले कर सोलङ्कियों की संख्या प्रायः चालीस हज़ार हो जाती है। सोलङ्की अपनी गणना अग्निकुलों में करते हैं; परन्तु महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर ओझाजी ने 'सोलङ्कियों का प्राचीन इतिहास'[2] नामक पुस्तक में प्रमाणित कर दिया है कि वे चन्द्रवंशी थे। उन्हों ने एक जगह लिखा है—"गुप्तों के पीछे एक समय ऐसा था कि उत्तरी भारत में थानेश्वर के प्रतापी राजा हर्ष का और दक्षिणी भारत में सोलङ्की पुलुकेशी (दूसरे) का राज्य था। इस प्रतापी सोलङ्कीवंश के राजा बड़े दानी और विद्यानुरागी हुए हैं।" यह तो बात हुई हज़ार डेढ़ हज़ार वर्ष पुरानी, परन्तु विचित्रता यह है कि सोलङ्कीवंश में दानशीलता और विद्यानुराग वर्त्तमान समय तक बना रहा। बघेलखण्ड के राजकुलों में महाराजा विश्वनाथसिंह और महाराजा रघुराजसिंह उच्च कोटि के कवि और अत्यन्त विद्यानुरागी केवल १०० वर्ष के भीतर-भीतर विद्यमान थे। देने-लेने में तो वे मुक्तहस्त थे ही, साथ ही अन्य कार्य भी अपना रूप देख कर करते थे। महाराजा रघुराजसिंह ने तो शेर को भी लोहे या सीसे की गोली से कभी नहीं मारा; जब मारा तब चाँदी की गोली से। रहीम ख़ानख़ाना ने अपनी विपत्ति के समय बघेल राज्य के चित्रकूट का आश्रय लिया था। ऐसी अवस्था में भी उस के दानपात्र वहाँ पर पहुँचे और प्रेरणा की कि उन को कुछ दिया जाय। बेचारे रहीम के पास उस समय कुछ न था। तब उस ने बघेल महाराजा को यह दोहा लिख भेजा—'चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध-नरेस। जा पर विपदा परति है सो आवत यहि देस ॥' इसे पाते ही महाराजा ने अपने कुल-गुणानुसार एक लाख रुपया तुरन्त दे दिया।

---

[1] रुद्रसिंह तोमर—रुद्रक्षत्रियप्रकाश (तोमर-प्रकाशनगृह, दिल्ली, १६८३), पृ० २४।

[2] दे०—पृ० ३-१४।

यादव या यदुवंश का महत्त्व श्रीकृष्ण के उस वंश में जन्म लेने से विशेष हुआ। मध्यभारत में इन की संख्या ७ हज़ार है, परन्तु मध्यप्रदेश में इस की दूनी है। इन की युद्ध-शीलता का परिचय महाभारत में विशेष रूप से मिलता है, परन्तु इस कुल की भी एक शाखा फूट कर कृषि-व्यवसायी हो गई है और अपना क्षत्रिय धर्म अर्थात् 'मरिए कि अरि को मारिए हँसि के हथ्यारन झारिए' को भूल कर इतनी डरपोक हो गई है कि लोगों ने कहावत बना ली है—'पत्ता खटका जादम सटका।' इन्हीं जादमों की एक अलग जाति बन गई है जो मध्यप्रदेश में बहुतायत से है।

पड़िहार अथवा परिहार मध्यभारत में चार अग्निकुलों में से हैं[1]। ये मध्यभारत में बहुत हैं अर्थात् १६ हज़ार से ऊपर, परन्तु मध्यप्रदेश में इस का दशांश ही पाया जाता है। नागौद और अलीपुरा के राजा इसी कुल के हैं। चन्देलों के पहले इन का बड़ा दौरदौरा था।

सीसोदिया या गहलौत या गोहिल सूर्यवंशी राजपूत हैं। समस्त राजपूत-कुलों में यह कुल श्रेष्ठ समझा जाता है। उदयपुर के राना ठेठ रामचन्द्रजी के वंशज होने का दावा करते हैं। उन की सब राजपूतों के घरानों में प्रतिष्ठा मानी जाती है। इस घराने में सन् ५६८ ई० के आसपास गुहिल नामक राजा हुआ जो बड़ा प्रतापी था। इसलिए इस वंश का नाम उस के नाम से गुहिल कहलाया जिस का अपभ्रंश गोहिल, गोयल, गुहलौत इत्यादि हो गया। पीछे से इस वंश की एक शाखा सीसोदा गाँव में रहने लगी, इसलिए उस का नाम सीसोदिया पड़ गया। इसी शाखा के वंशधर उदयपुर के महाराणा हैं। मध्यप्रदेश में इनकी संख्या बहुत थोड़ी है, परन्तु मध्यभारत में ये बीस हज़ार से कम नहीं हैं। श्रीरामचन्द्रजी रघुवंशी थे, इसलिए इन को कभी-कभी रघुवंशी कहते हैं। यदि रघुवंशियों की संख्या इन में मिला दी जाय तो इन का बल बढ़ कर, प्रायः केवल मध्यप्रदेश और मध्यभारत ही में, आधा लाख हो जाता है।

जिस प्रकार बघेलवंश द्वारा शासित प्रान्त का नाम बघेलखण्ड पड़ गया है, उसी प्रकार बुंदेला लोगों के आधिपत्य की भूमि को बुंदेलखण्ड कहते हैं। बुंदेला विन्ध्येल शब्द का अपभ्रंश है जिस का अर्थ होता है विन्ध्य पर्वत के निवासी। परन्तु साधारण क़िस्सों के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति बूँद अथवा बाँदी से बतलाई जाती है। कोई-कोई कहते हैं इन के आदिपुरुष ने अपना सिर देवी को काट कर चढ़ा दिया था। उस समय जो बूँद गिरी उस से एक पुरुष पैदा हुआ, जो बुंदेला कहलाया। दूसरे कहते हैं कि ये लोग बाँदी (दासी) से पैदा हुए हैं इसलिए बंदेला या बुंदेला कहलाए। यथार्थ में ये काशी के गहरवारों की औलाद हैं। इन की संख्या मध्यभारत में कोई बीस हज़ार के लगभग, परन्तु मध्यप्रदेश में केवल दो हज़ार, है। बुंदेलखण्ड के अनेक राजा इसी वंश के हैं। यथार्थ में आदि घराना ओड़छा से अलग हो कर पन्ना, अजयगढ़, चरखारी, बिजावर, दतिया आदि पृथक्-पृथक् रजवाड़े हो गए हैं।

बैस-वंश भी भारत के इतिहास में बड़ा प्रतापी हो गया है। हर्षवर्धन के समय में इस का बड़ा विस्तीर्ण राज्य था। इस वंश के लोग अपने को शालिवाहन के वंशज बतलाते हैं। मध्यभारत में इनकी संख्या दस हज़ार और मध्यप्रदेश में चार हज़ार है। संयुक्तप्रान्त के रायबरेली और उन्नाव ज़िलों में बैसवाड़ा नामक प्रान्त है जहाँ इन का विशेष बाहुल्य है। उस प्रान्त का नाम इसी कारण से पड़ा।

गौड़ राजपूतों का नाम गौड़ देश में रहने के कारण पड़ा। अयोध्या प्रान्त का प्राचीन नाम गौड़ कहा जाता है। मध्यप्रदेश और मध्यभारत में इन की संख्या बराबर-बराबर है, अर्थात् दोनों प्रान्तों में पाँच-

---

[1] यथार्थ में ये सूर्यवंशी हैं। राजशेखर ने इन्हें रघुकुलतिलक कहा है।

पाँच छः-छः हज़ार। इन लोगों में चमरगौर नामक शाखा श्रेष्ठ समझी जाती है, यद्यपि साधारण रीति से इस प्रकार का नाम निम्न श्रेणी का सूचक होता है। गौरों से निकल कर गौराये नामक एक अलग शाखा बन गई है जिस की स्थिति सब गौरों से नीची समझी जाती है। मध्यप्रदेश में ये प्रायः सात सौ हैं, परन्तु जान पड़ता है कि मध्यभारत में ये गौरों में मिला दिए गए हैं।

सेंगर क्षत्रिय चन्द्रवंशी समझे जाते हैं। इन का राज्य कभी अङ्ग देश (वर्त्तमान भागलपुर, मुँगेर) में था। इन का मूल उत्पति-स्थान शृङ्गेरी बतलाया जाता है। उसी स्थल पर से इन का नाम पड़ा जान पड़ता है; परन्तु कोई-कोई कहते हैं कि कुल-नाम उन के एक शतकर्णी नामक पुरुष के नाम पर रक्खा गया जिस ने यमुना के दक्षिण गङ्गासागर से चम्बल नदी तक अपना अधिकार जमाया था। इन की संख्या दस हज़ार है।

इतने ही सेन्धो हैं जो नागवंशियों की शाखा के जान पड़ते हैं। इन का प्राचीन नाम सिन्दा या सिन्दक था। इन लोगों का राज्य वर्त्तमान बस्तर रजवाड़ा और हैदराबाद के इलाक़े में था। नागवंशियों का किसी समय बड़ा प्रताप था। बुंदेलखण्ड के भारशिव, जिन्हों ने हिन्दू-धर्म का बौद्ध झमेले से उद्धार किया, नागवंशी-शिरोमणि थे। उन्हीं के सम्बन्धी वाकाटक कहलाए, जिन्हों ने अपने वर्द्धमान समय में अनेक अश्वमेध यज्ञ किए और सम्राट् की पदवी धारण की। विद्यामहोदधि श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने बड़ी खोज के साथ पता लगाया है कि वाकाटक लोग वाकाट (वर्तमान वागाट, जो झाँसी ज़िले में है) के निवासी थे। ये आदि में ब्राह्मण थे; परन्तु, जैसा पूर्व कह आए हैं, गुप्त महाराजाओं से सम्बन्ध करने से क्षत्रिय-वर्ग में आ गए थे।

धाकड़ों का मध्यभारत में अभाव है, परन्तु मध्यप्रदेश में वे नौ हज़ार के लगभग हैं। कहीं-कहीं धाकड़ शब्द 'विदुर' के अर्थ में प्रयुक्त होता है; इस प्रकार पतित राजपूत धाकड़ कहलाते हैं। इन की एक अलग जाति ही बन गई है, जिस के भीतर ये अपना वैवाहिक निस्तार कर लेते हैं।

मध्यभारत में एक विशेष प्रकार के राजपूत मिलते हैं जो चौरसिया कहलाते हैं। प्रत्यक्षतः ये लोग किसी विशेष चौरासी के निवासी थे, जो किसी कारण अन्य वर्गों से अलग कर दिए गए। इन की संख्या सात हज़ार है।

इसी प्रकार उसी प्रान्त में हजूरी पाए जाते हैं, जो राजाओं के हुज़ूर में सेवा किया करते थे। इन का पद न्यून समझा जाता है। इन की संख्या छः हज़ार है।

चन्देल अथवा चन्द्रात्रेय अपनी उत्पत्ति गहरवारों के पुरोहित से बतलाते हैं। यह एक प्रकार का प्रतिलोम-सम्बन्ध था। बुंदेलखण्ड में बुंदेलों के पहले ये बड़े प्रतापी राजा हो गए हैं। इन्हीं लोगों ने खजुराहो में अत्यन्त भव्य मन्दिर बनवाए, जिन की कारीगरी की समता उत्तर के अन्य मन्दिर नहीं कर सकते। रानी दुर्गावती इसी कुरी की सन्तति थी, जो वीरता में अपना नाम अमर कर गई है। चन्देलों की संख्या पाँच हज़ार है।

तोमर या तँवरवंश की संख्या भी इतनी ही है, परन्तु मध्यप्रदेश में इन में कँवर जाति के अनेक व्यक्ति मिले हैं, जिन्हों ने अपना असल नाम त्याग कर तँवर नाम रख लिया है। तोमर वंश बड़ा प्राचीन है और वह आदि में दिल्ली में राज्य करता था। दिल्ली ही की ओर ये विशेष पाए जाते हैं, परन्तु यहाँ इन की संख्या कँवर-परिवर्तित तँवरों को मिला कर पाँच हज़ार से अधिक नहीं है।

बनाफर भी इतने ही हैं। इन का अड्डा मध्यभारत ही में है। ये बड़े शूरवीर और प्रचण्ड क्षत्रिय समझे जाते हैं। प्रख्यात आल्हा और ऊदल इसी दल के वीर थे, जिन की कीर्त्ति अब भी गाई जाती है और सुनने वालों को वीररस से ओत-प्रोत कर देती है। ये चन्देलों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं, और उन्हीं की शाखा में समझे

जाते हैं। कहते हैं, इन का पूर्वज वन में मिला था, इसलिए उस के वंशज बनाफर कहलाए; परन्तु अन्य विद्वानों का मत है कि यह नाम बनस्फर से निकला है जो विदेशी कनिष्क राजा का क्षत्रप था। इसी कारण यद्यपि ये वीरता में श्रेष्ठ समझे जाते हैं, तथापि कुल में कुछ न्यून गिने जाते हैं।

गहरवार या गाहड़वाल एक प्रधान और सम्मानित वंश है, जिस ने पड़िहारों के पश्चात् कन्नौज का राज्य अपने अधीन कर लिया और चारों ओर अपना आतङ्क जमाया। राजपूताने के राठौड़ अपनी उत्पत्ति इन्हीं गाहड़वालों से बतलाते हैं। गाहरवारों की संख्या पाँच हज़ार है।

इतने ही बागड़ी हैं जिन का नाम राजपूताने के बागड़ नामक विभाग से पड़ा है। बीकानेर राज्य के एक बड़े भाग में काँटों की बागड़ या बाड़ी लगाने की चाल है, इसलिए उस विभाग का नाम बागड़ पड़ गया है। बीकानेर में जाटों की संख्या अधिक है इस से यह अनुमान किया जाता है कि उन में से बहुत से लोग बागड़ी राजपूत कहलाने लगे हों; परन्तु इस स्थल में पहले परमारों का राज्य था इसलिए कोई-कोई इन्हें परमारों की शाखा का समझते हैं।

मध्यभारत में देवड़ा या देवला राजपूतों की संख्या कोई चार हज़ार है। यह जाति चौहानों की एक शाखा है जो अपना निस्तार पृथक् रूप से करती है। पुरबियों की भी संख्या इतनी ही है। ये मध्यभारत और मध्यप्रदेश में बराबर-बराबर बँटे हुए हैं। यह नाम पल्टनिया है और केवल पूरब के रहने वाले राजपूतों का द्योतक है। कोई-कोई पुरबियों को तवँरों के अन्तर्गत समझते हैं। (दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ७७)

मध्यभारत में कोई तीन हज़ार व्यक्तियों ने अपने को सोमवंशी लिखवाया, और मध्यप्रदेश में पाँच सौ ने। कांकेर के महाराजाधिराज अपने को सोमवंशी ही कहते हैं। कोई हज़ार वर्ष पूर्व महाकोशल (मध्यप्रदेश का वर्त्तमान छत्तीसगढ़) के राजा सोमवंशी ही कहलाते थे। यद्यपि सोमवंशी का अर्थ चन्द्रवंशी ही होता है, तथापि सोमवंशी कुरी अलग सी हो गई है।

पाइक पुरबिया नाम के समान है। पाइक का अर्थ होता है सिपाही। सम व्यवसाय करने से इन लोगों की अलग कुरी बन गई है। इन की संख्या प्रायः ढाई हज़ार है। अधिकतर ये मध्यभारत में रहते हैं।

कनौजिया राजपूतों की संख्या तीन हज़ार है। ये केवल मध्यप्रदेश के जबलपुर ज़िले में विशेष पाए जाते हैं। उस ज़िले में एक प्राचीन परगना कनोजा नाम का था। उस स्थल के राजपूत कनोजिया कहलाए। इस नाम का सम्बन्ध संयुक्तप्रान्त के कन्नौज से बिलकुल नहीं है और न वहाँ पर इस नाम के कोई राजपूत मिलते हैं।

धन्धेरों की भी संख्या तीन हज़ार है; परन्तु ये सब मध्यभारत में विद्यमान हैं, मध्यप्रदेश में नहीं। इनकी जाति चौहानों की एक शाखा है। यद्यपि पद्माकर ने इन का आदि ही में ज़िक्र किया है, तथापि अब इन का विशेष महत्त्व नहीं है।

खींची चौहानों की एक प्रमुख शाखा है। इन की संख्या दो हज़ार है। प्रायः दो सौ को छोड़ कर शेष सब मध्यभारत में रहते हैं। यही दशा दीखितों की है और उन की संख्या भी खीचियों के बराबर है। इन के एक राजा ने जैन गुरु हेमचंद्र सूरि की दीक्षा ली थी इसलिए ये दीक्षित या दीखित कहलाए। पश्चात् इस वंश में दुर्गादास नामक व्यक्ति हुआ, जिस के कारण इस कुरी का पर्य्यायवाची नाम दुर्ग या दग हो गया। एक शाखा बिलखर नामक गाँव में बसने को चली गई इसलिए उस का नाम बिलखरिया पड़ गया।

बक्सरिया मध्यप्रदेश ही में दो हज़ार पाए जाते हैं। इन का नाम प्रसिद्ध स्थान बक्सर से पड़ा है। जैसे बहुतेरी जातियों में जायस से आए हुए जायसवाल पाए जाते हैं, वैसे ही बक्सरिया भी अनेक जातियों में होते हैं। बक्सरियों का स्थान राजपूतों में कुछ नीचा समझा जाता है।

चांवड़ा भी दो हज़ार हैं। ये विशेष कर मध्यभारत में रहते हैं। ये परमार-वंश से निकले हैं और यही प्राचीन चापोत्कट या चावोटक थे। इन के पुरखा का नाम चाप था। जैवार मध्यप्रदेश में प्राय: तीन सौ और मध्यभारत में सत्रह सौ हैं। रावत एक आदर-सूचक शब्द है जो राव की न्यूनतावाचक संज्ञा है। यह अब अलग कुरी बन गई है। मध्यभारत में इस कुरीवालों की संख्या दो हज़ार है। स्मरण रहे कि मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ विभाग में लाखों रावत हैं, परन्तु वे जाति के अहीर हैं। कहीं-कहीं सौर अथवा शवर लोगों की भी उपाधि रावत है।

झाला कच्छी राजपूत हैं। मध्यभारत में इन की संख्या डेढ़ हज़ार है। मध्यप्रदेश में एक भी नहीं है। कहते हैं, इन के पूर्वज एक राजा के लड़के की ओर हाथी झपटा, तब उस की माँ ने झाला दे कर अर्थात् इशारा कर के उसे अपने पास बुला लिया। तब से उस के वंशजों और कुरी का नाम झाला पड़ गया। सौराष्ट्र में एक विशाल विभाग का नाम झालावाड़ है, वहाँ पर बहुत से झाला रहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में झाला या झल्लों की उत्पत्ति व्रात्य क्षत्रियों से बतलाई गई है।

मध्यभारत में सोहनेर पन्द्रह सौ और सकरवार (सीकरी के रहनेवाले) ग्यारह सौ बतलाए गए हैं, परन्तु ये अन्य कुरियों की शाखा के जान पड़ते हैं। वहीं पर सहस्रेक मोरी भी हैं, जो प्राचीन मौर्य्यों की सन्तान हैं। महाप्रतापी अशोक इसी कुल के शिरोमणि थे। यह नाम इस वंश के उन पुरखों के निवासस्थान से पड़ा था, जो मोरों की अधिकता के कारण मौर्य्य राज्य कहलाता था। निकुम्भों की संख्या भी मोरियों के बराबर है। ये सूर्य्यवंशी राजा निकुम्भ की सन्तान कहे जाते हैं।

गौतम क्षत्रिय अपनी उत्पत्ति गौतम बुद्ध के वंश से बतलाते हैं। ये लोग कोरा में राज्य करते थे और वहीं पर इन का एक क़िला बना था जो शाहजहाँ के समय में नष्ट कर दिया गया। परन्तु अब भी फ़तहपुर ज़िले में इन की छोटी सी रियासत है। गौतम संयुक्तप्रान्त और अवध में अधिक हैं। मध्यभारत में ये केवल एक हज़ार हैं और मध्यप्रदेश में केवल तीन सौ।

भदौरिया या भदवारिया चौहानों की एक शाखा है, जो अब प्राय: बिलकुल अलग हो गई है। यमुना के दक्षिण में भदावर नाम का स्थान है, वहाँ पर रहने के कारण इन का नाम भदौरिया पड़ा। इन की संख्या एक हज़ार के लगभग है। बड़गूजर सूर्यवंशियों की शाखा के हैं। ये रामचन्द्र के पुत्र लव की औलाद समझे जाते हैं। उभय प्रान्तों में संख्या केवल छ: सौ पाई गई।

विसेन का मूलपुरुष विश्वसेन समझा जाता है, जो मयूर नामक ब्राह्मण का पुत्र था। उस की माता सूर्यवंशी क्षत्राणी थी, इसलिए यह 'ब्रम्ह' क्षत्रिय-वंश कहलाता है। किसी-किसी का कथन है कि विसेन महाभारतीय वृष्णि का अपभ्रंश है। ये लोग वृष्णिवंशज हैं। इन की संख्या बहुत कम—कोई चार सौ—है; परन्तु युक्तप्रान्त में ये कुछ अधिक हैं। विसेनों ही के बराबर गिन्नौरे, राना, कदम्ब और रैकवारों की संख्या है। कदम्ब दक्षिण का प्राचीन वंश है। उस वंश के राजा किसी समय बड़े प्रतापी थे। रैकवार अपनी उत्पत्ति सूर्यवंशी भरत के पुत्र पुष्कल से बताते हैं। ये जम्मू के निकट रैकागढ़ में रहते थे, इसलिए इन का नाम रैकवार पड़ गया। मथुरेश कवि ने इस वंश के एक राजा की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'सालि और बालि रैकवार भै प्रसिद्ध बड़े रै का तें और करो उत्तर को जोर है'।

सौ और तीन सौ के बीच वाली अन्य लघु-संख्यक कुरियाँ ये हैं—सुरकी (जो सोलङ्की का अपभ्रंश है), नाहर, ऊमट, खरवाँच, हरिया, जाँगड़ा और खाँगर। ये विविध मुख्य कुरियों की शाखाएँ हैं; जैसे ऊमट पवाँरों

की, नाहर और खाँगर अग्निवंशियों की। जिन राजपूत कुरियों की संख्या सौ से कम बतलाई गई है वे ये हैं—बनौधिया, बच्छानिया, जलखेड़, पैंजवार, फरहरा, हाड़ा, हैहयवंशी करचुलि (कलचुरि), सायनी, सिंदा, केसरिया, लङ्गर और रकसेल। इन में से बहुतेरे मूल कुरियों की शाखाओं या उपशाखाओं के नाम हैं; जैसे हाड़ा चौहानों की एक शाखा है, सिंदा नागवंशियों की इत्यादि। परन्तु इन में हैहय एक ऐसा कुल है जिस का प्राचीन काल में बड़ा प्रसार और बाहुल्य था। इस वंश का मूल पुरुष कार्त्तवीर्य या सहस्रार्जुन था जिस ने रावण को अपने घर पर कई महीनों तक बाँध रक्खा था। इस को परशुराम ने समूल नष्ट करने का २१ बार प्रयत्न किया, परन्तु सफल न हुए। इस की राजधानी माहिष्मती (वर्त्तमान मान्धाता) में थी, जो मध्यप्रदेशान्तर्गत नीमाड़ ज़िले में नर्मदा के किनारे पर है। कालान्तर में एक शाखा वर्त्तमान जबलपुर ज़िले में जा बसी और नर्मदा के तट पर त्रिपुरी को उसने राजधानी बनाया। यह स्थान अब जबलपुर से ६ मील पर तेवर के नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश में अनेक प्रतापी राजा हुए, जिन में से कर्ण डहरिया का नाम विशेष स्मरणीय है। उस को नेपोलियन की उपमा दी जाती है। कहावत है—'कर्ण डहरिया कर्ण जुझार। कर्ण हाँक जानै संसार।' कर्ण डहरिया ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। उस समय मध्यभारत कलचुरि क्षत्रियों से परिपूर्ण था, परन्तु एक सहस्र वर्ष के भीतर ही इतना हेर-फेर हो गया है कि उन के वंशजों की गणना सहस्रों के बदले दहाई के भीतर आ गई है। इन का राज्य तेरहवीं शताब्दी में अस्त-व्यस्त हो गया; परन्तु प्रश्न उठता है, इन के सहस्रों वंशधर क्षत्रियों का क्या हुआ ? शोध से प्रकट होता है कि वे लोग कहीं चले नहीं गए। वे क्रमशः यहीं की जनता की अन्य जातियों में समा गए। राजच्युत और पदच्युत होने पर प्रत्यक्षतः उन को पेट पालने के लिए अन्य व्यवसायों में संलग्न होना पड़ा। बहुतेरों ने राजघरानों या धनाढ्यों के यहाँ 'कलेवा' आदि बनाने का काम स्वीकार कर लिया और अपने स्वामियों की रुचि मद्य की ओर देख कर उस का भी बनाना आरम्भ कर दिया। फल यह हुआ कि वे अपने-अपने व्यवसाय-सूचक नामों से पुकारे जाने लगे। तथापि कुछ घराने ऐसे भी बच रहे जिन्होंने अपना प्राचीन नाम और काम सुरक्षित रक्खा। वे अब रीवाँ रियासत और जबलपुर ज़िले में करचुलि नाम से प्रसिद्ध हैं। हैहयों या कलचुरियों के पहले भारत के मध्य भाग में भारशिव और वाकाटक क्षत्रियों का बड़ा दौरदौरा रहा; परन्तु किसी भी व्यक्ति ने अपने को इन वंशों का नहीं बतलाया। कदाचित् इन के वंशजों ने अपने को अधिक प्रचलित नागवंशी नाम में सम्मिलित कर लिया हो, जिन का उत्थान आदि में मध्यभारत के भिलसा स्थान से हुआ। भारशिवों ने अपने बाहुबल से बौद्ध धर्म को हटा कर पुनः हिन्दू धर्म का प्रचार किया और झाँसी के निकट वागाट नामक स्थान से उत्पन्न वाकाटक राजाओं से सम्बन्ध कर के भारतवर्ष में एक प्रबल साम्राज्य स्थापित किया जिस का सामना कोई न कर सका। इन का बल प्रचुर काल तक यथावत् स्थिर रहा परन्तु पाटलिपुत्र के गुप्तों ने वाकाटकों को अपनी लड़की दे कर अन्त में उन के राज्य को निर्मूल कर दिया। गुप्तों का भी उभय प्रान्तों में कहीं पता नहीं है, यद्यपि सागर ज़िले का एरन उन का स्वभोगनगर था।

ऊपर लिखे विवरण से जान पड़ेगा कि मध्यप्रदेश और मध्यभारत में प्राचीन प्रतिभाशाली राजपूत-वंश नागवंशी, वाकाटक और भारशिव, हैहयवंशी कलचुरि, परमार या पवाँर, चालुक्यवंशी बघेल, सोमवंशी पाण्डव, राष्ट्रकूट या राठौड़, प्रतिहार या पड़िहार और चन्द्रात्रेय या चन्देल थे। इन में से बुंदेले और बघेले समृद्धिवान् रह गए हैं।

८

वराह अवतार

श्रीयुत रामेश्वर-गौरीशङ्कर ओझा, एम० ए०, अजमेर ।

देवो हरिर्जयति यज्ञवराहरूप: सृष्टिस्थितिप्रलयकारणमेकमेव ।
यस्योदरस्थितजगत्त्रयवीजकोशनिर्गच्छदङ्कुरशिखेव विभाति दंष्ट्रा ॥

सोन्नोक[1]

हिन्दू-धर्म में ब्रह्मा, विष्णु और शिव अथवा महेश इन तीन देवताओं का प्रमुख स्थान है। ये जगत् की तीन भिन्न-भिन्न शक्तियों अथवा प्रवृत्तियों—सृष्टि, स्थिति एवं संहार—के अधिष्ठाता माने जाते हैं। विष्णु का संसार के संरक्षण-पालन आदि से सम्बन्ध रहने के कारण सनातनधर्मावलम्बियों का यह धार्मिक विश्वास है कि विशेष परिस्थिति में कुछ असुरों (कु-प्रवृत्तियों) का नाश करने के लिए अथवा उन के कारण जगत् में फैलने वाले अधर्म एवं अत्याचार के प्रतीकार द्वारा शान्ति स्थापित करने के उद्देश से भगवान् विष्णु समय-समय पर मर्त्य-लोक में मनुष्य एवं मनुष्येतर रूप में अवतीर्ण होते रहे हैं। जिस रूप में भगवान् प्रकट होते हैं, वह उन का अवतार कहा जाता है।

सामान्यत: विष्णु के दस अवतार माने जाते हैं[2]—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह (या नरसिंह), वामन, परशुराम, राम (रामचन्द्र), कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि। भागवत पुराण में विष्णु के बाईस अवतार बतलाए गए हैं—(१) पुरुष, (२) वराह, (३) नारद, (४) नर-नारायण, (५) कपिल, (६) दत्तात्रेय, (७) यज्ञ, (८) ऋषभ, (९) पृथु, (१०) मत्स्य, (११) कूर्म, (१२-१३) धन्वन्तरि, (१४) नरसिंह, (१५) वामन, (१६) परशुराम, (१७) वेदव्यास, (१८) राम, (१९) बलराम, (२०) कृष्ण, (२१) बुद्ध और (२२) कल्कि[3]। फिर भी विष्णु के उपर्युक्त दस अवतार ही प्रधान माने जाते हैं। विष्णु के अवतारों की ठीक संख्या का निर्णय यहाँ अनावश्यक है; हमें यहाँ केवल वराह अवतार का विचार करना है।

---

[1] इस लेख के अन्त में उद्धृत।

[2] मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥

वामन-शिवराम आप्टे—दि प्रैक्टिकल संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, 'अवतार'-शब्दान्तर्गत।

म० भा० (कुम्भकोणम्-संस्क०, शान्तिपर्व, अध्याय ३४८, श्लोक २) में उपर्युक्त श्लोक के 'कृष्णश्च' के स्थान में 'रामश्च' पाठ मिलता है, जो बलराम का द्योतक है। सर राजा राधाकान्तदेव के शब्दकल्पद्रुम नामक बृहत् संस्कृत कोष में भी यही पाठ दिया गया है। जयदेव कवि ने अपने 'गीतगोविन्द' काव्य के प्रथम सर्ग के आरम्भ में, मालव राग में, विष्णु के दशावतारों की स्तुति की है, उस में भी कृष्ण के स्थान में हलधर (बलराम) का नाम है; किन्तु कृष्ण के पूर्णावतार होने के कारण हमें बलराम के स्थान पर उन की गणना उचित प्रतीत होती है। लेखक का यह कथन केवल कपोल-कल्पना नहीं है, क्योंकि महाभारत की किसी हस्त-लिखित प्रति में 'कृष्णश्च' पाठ भी मिलता है। दे० कुम्भकोणम्-संस्क० के उपर्युक्त श्लोक का टिप्पण।

[3] श्रीमद्भागवत (निर्णयसागर-संस्क०), १. ३. १—२६।

(१)

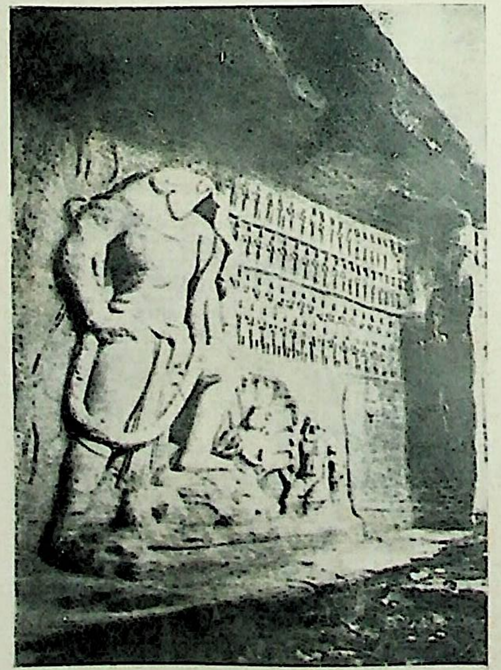

उदयगिरि की गुफा में खुदी हुई नृवराह-प्रतिमा

(२)

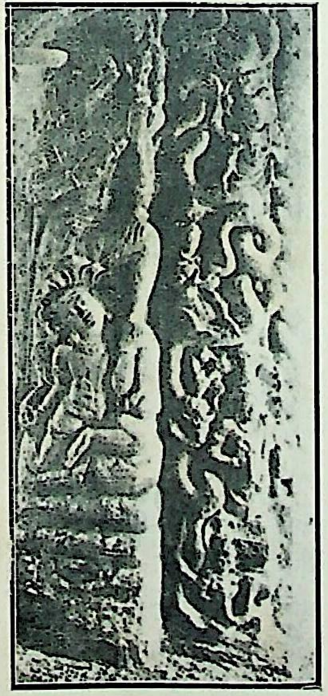

राजिम की नृवराह-प्रतिमा

(३)

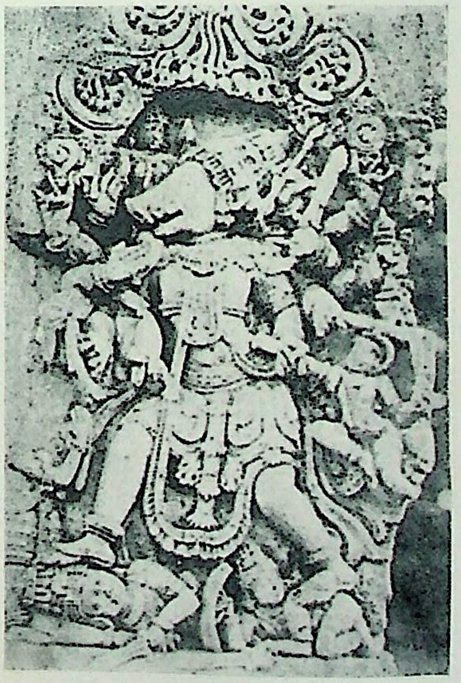

चेन्नकेश्वर मंदिर की वराह-प्रतिमा

(४)

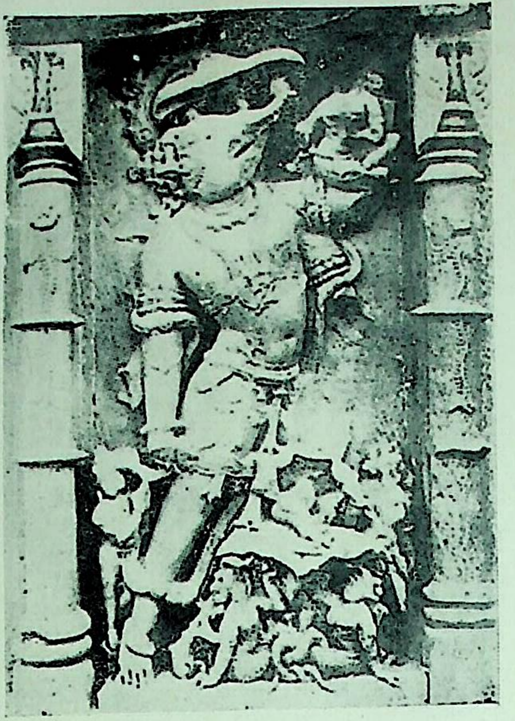

फलोदी की वराह-प्रतिमा

(५)

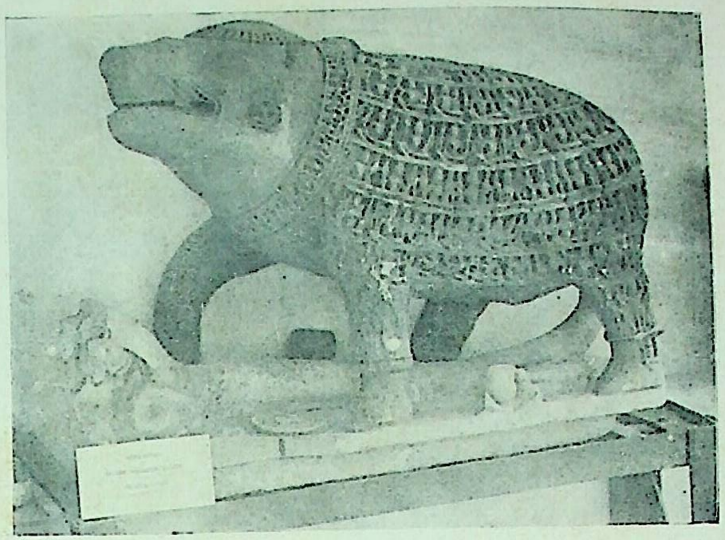

इंदौर म्यूज़ियम की वराह-प्रतिमा

ऋग्वेद[१] में रुद्र, मरुत् और वृत्र के लिए लाक्षणिक रूप में वराह-सूचक शब्द का प्रयोग हुआ है। उस से ज्ञात होता है कि एक बार विष्णु ने सोम-पान किया और इन्द्र की प्रेरणा से वराह (वृत्र) के सौ भैंसे और दुग्धमय मद्य छीन लिया; इतने में इन्द्र ने आ कर उस भयङ्कर वराह को मार डाला[२] । इस से अवतार-सम्बन्धी कथा का स्पष्टीकरण नहीं होता; इसलिए हमें पहले-पहल शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ[३] ब्राह्मण में सृष्टिक्रम के सम्बन्ध में एमुष नामक वराह[४] द्वारा पृथ्वी के उठाए जाने का उल्लेख मिलता है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता से जान पड़ता है कि "पृथ्वी-रूप जगत् की उत्पत्ति से पूर्व सर्वत्र जल ही जल था। मूर्त शरीर से ठहरने के लिए कोई स्थान न होने के कारण प्रजापति ब्रह्मा वायु-रूप से उस जल में सञ्चार करते थे। उस समय उन्हों ने जल में डूबी हुई पृथ्वी को देखा और वराह का रूप धारण कर वे उसे दाँत से उठा कर जल से ऊपर ले आए। उसे बाहर लाते ही उन्हों ने अपना वराह-रूप छोड़ विश्वकर्मा बन कर उस का विस्तार किया। तब यह दृश्यमान पृथ्वी बन सकी। 'प्रथन' (विस्तार) से ही इस का पृथ्वी नाम पड़ा। तदनन्तर देव-सृष्टि आदि हुई[५] "। इस से पता चलता है कि जगत् की सृष्टि के समय प्रजापति ब्रह्मा ने वराह-रूप धारण किया था, न कि विष्णु ने। तैत्तिरीय आरण्यक के 'वराहेण कृष्णेन शतबाहुना उद्धृता', इस वाक्य से भी सौ बाहु वाले श्यामवर्ण वराह द्वारा पृथ्वी का उद्धार होना (जल में से निकाला जाना) जान पड़ता है।

---

[१] १. ६१. ७।

[२] मैकडॉनल—**वैदिक माइथॉलॉजी**, पृ० ४१।

[३] १४. १. २. ११।

[४] संस्कृत-साहित्य में वराह (सूअर) के लिए कई पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त होते हैं, जो पाठकों के परिचय के लिए निम्नांकित श्लोकों में दिए गए हैं—

वराहः सूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरः किटिः ।
दंष्ट्री घोणी स्तब्धरोमा क्रोडो भूदार इत्यपि ॥ २ ॥
अमरकोष, द्वितीय काण्ड, सिंहादि वर्ग ।

........................अथ किरः किरिः ।
भूदारः सूकरः कोलो वराहः क्रोडपोत्रिणौ ॥ ३५३ ॥
घोणी घृष्टिः स्तब्धरोमा दंष्ट्री किट्यास्यलाङ्गलौ ।
आखनिकः शिरोमर्मा स्थूलनासो बहुप्रजः ॥ ३५४ ॥
हेमचन्द्राचार्य—**अभिधानचिन्तामणि**, काण्ड ४ (तिर्यक्काण्ड)।

सूकरे कुमुखः कामरूपी च सलिलप्रियः ।
तलेक्षणो वक्रदंष्ट्रः पङ्कक्रीडनकोऽपि च ॥
अभिधानचिन्तामणि के उपर्युक्त श्लोकों की टीका ।

कलिङ्ग देश के राजा पुरुषोत्तमदेव ने अनुमानतः पन्द्रहवीं शताब्दी में 'त्रिकाण्डशेष' नामक पद्यबद्ध सुंदर संस्कृत कोष लिखा, जिसे बम्बई के खेमराज श्रीकृष्णदास ने सन् १६१६ ई० में प्रकाशित किया। इस संस्करण में मुद्रित सीलक्खन्ध महाथेर की टीका में 'वराह' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है कि 'वराय अभीष्टाय मुस्तादिलाभाय आहन्ति खनति भूमिम्', अर्थात् अपनी प्रिय मुस्ता नामक घास के लिए भूमि को खोदने वाला (पशु) वराह है। वराह को मुस्ता के लिए भूमि खोदना बहुत पसन्द होता है;—दे० विश्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले ...॥ कालिदास—अभिज्ञानशाकुन्तल, २. ६।

[५] (आनन्दाश्रम-संस्क०) ७. १. ५।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में तैत्तिरीय संहिता की वराह-सम्बन्धी घटना विशद रूप में वर्णित है। उस के अनुसार "सृष्टि से पूर्व, हमें देख पड़ने वाली पृथ्वी के स्थान में, केवल जल था; इसलिए उस समय प्रजापति ने जगत् की सृष्टि करने के लिए बहुत विचार किया। प्रजापति विचार-मग्न थे, उस समय उन्हें जल पर लम्बी दण्डी का एक कमल-पत्र देख पड़ा। उसे देख कर प्रजापति ने अनुमान किया कि वह मृणाल-युक्त कमल-पत्र अवश्य किसी न किसी वस्तु के आधार पर ठहरा होगा। उस वस्तु की खोज के लिए जल में डुबकी लगाना आवश्यक था, इसलिए उन्हों ने वराह-रूप धारण कर उस कमल-पत्र के मृणाल के पास ही जल में डुबकी लगाई। भीतर पहुँचने पर उन्हें पृथ्वी मिल गई। तत्पश्चात् उस पृथ्वी की बहुत सी गीली मिट्टी अपने दाँत से उखाड़ कर वे (वराह-रूपी प्रजापति) ऊपर निकल आए और उक्त कमल-पत्र पर उसे फैला दिया। फैलाने (विस्तार) के कारण उस का नाम पृथ्वी (अर्थात् विस्तृत) पड़ा। तदनन्तर सन्तुष्ट हो कर प्रजापति ने कहा कि यह स्थावर-जङ्गम प्राणियों की आधार-वस्तु हो जाय। 'होना' के संस्कृत रूप 'भवति' से इस की व्युत्पत्ति होने से इस का नाम भूमि हुआ। फिर उस आर्द्र भूभाग (मृत्तिका) को सुखाने के लिए चारों दिशाओं से प्रजापति-सङ्कल्पित वायु बहने लगा। पवन के झोकों से सूखती हुई उस भूमि को प्रजापति ने छोटे-छोटे कङ्कड़ों से दृढ़ बनाया और अपने कल्याण की इच्छा की। शर्करा (छोटे कङ्कड़) द्वारा उस की सुखोत्पत्ति होने से उस (पृथ्वी) का नाम शर्करा पड़ गया। वराह द्वारा लाई हुई मिट्टी (पृथ्वी) की ऐसी महिमा है, इसलिए वराह द्वारा भूमि की जो मिट्टी खोदी जाय, उस का आदर करना चाहिए[1]"। तैत्तिरीय ब्राह्मण के उपर्युक्त वृत्तान्त से जान पड़ता है कि सृष्टि बसाने के लिए प्रजापति (ब्रह्मा) ने पृथ्वी का उद्धार किया न कि विष्णु ने, जैसा पिछले ग्रन्थों में लिखा मिलता है।

वैदिक साहित्य के बाद अब हम रामायण, महाभारत, पुराणों आदि पिछले ग्रन्थों को लेते हैं। वाल्मीकि-रामायण में वसिष्ठ रामचन्द्र को पृथ्वी की उत्पत्ति बतलाते हुए कहते हैं—"पहले सर्वत्र जल ही जल था (अर्थात् जलमयी सृष्टि थी), उसी में पृथ्वी बनी। फिर देवताओं के साथ ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिन्हों ने वराह-रूप धारण कर पृथ्वी को (जल से ऊपर) निकाला और अपने पुत्रों सहित सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की[2]।" इस कथन से जान पड़ता है कि रामायण के अनुसार भी आदि-सृष्टि के समय ब्रह्मा ने वराह-रूप से पृथ्वी का उद्धार किया था, न कि विष्णु ने। वराह को विष्णु का एक अवतार मान कर उस की जो महिमा प्रचलित है वह वैदिक काल में,

---

[1] **कृष्णयजुर्वेदीयं तैत्तिरीयब्राह्मणम्** (आनन्दाश्रम-संस्क०), १. १. ३. पृ० १८। विषय के अधिक स्पष्टीकरण के लिए सायण-कृत भाष्य भी देखना चाहिए।

[2] क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम्॥ १॥
निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद्वाक्यमब्रवीत्।
इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे॥ २॥
सर्वं सलिलमेवासीत्पृथिवी तत्र निर्मिता।
ततः समभवद्ब्रह्मा स्वयंभूर्दैवतैः सह॥ ३॥
स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम्।
असृजच्च जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः॥ ४॥

निर्णयसागर-संस्क०, अयोध्याकाण्ड, ११०, पृ० ३३१।

अथवा रामायण काल तक, प्रचलित नहीं थी; केवल वेदोत्तर-काल के—उन में भी पिछले—ग्रन्थों में वराह विष्णु के अवतार के रूप में देख पड़ता है[1] ।

महाभारत के वनपर्व में लिखा है कि पाण्डवों के वनवास-काल में एक बार लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर से कहा कि एक सींग वाले वराह (विष्णु भगवान्) ने पाताल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया। "पूर्व समय में, कृतयुग (सत्ययुग) में, एक बार भयङ्कर परिस्थिति उत्पन्न हुई। उस समय आदिदेव ब्रह्मा ने यमत्व (मृयु का निग्रह) किया, जिस से जगत् में कोई नहीं मरता था, किन्तु सर्वत्र उत्पत्ति देख पड़ती थी। हिंसक पशु, पक्षी, मृग, बैल, घोड़े, मनुष्य आदि प्राणी हज़ारों की संख्या में इस प्रकार बढ़ने लगे, जैसे प्रलय-काल में जल की बाढ़ आ जाती है। भयङ्कर संख्या-वृद्धि के कारण बोझा बढ़ जाने से पृथ्वी सौ योजन नीचे चली गई; तब उस ने व्यथित हो भगवान् नारायण की शरण में जा कर उन से अपना भार हलका करने के लिए प्रार्थना की। इस पर विष्णु ने उसे आश्वासन दिया कि उस का बोझ हलका हो जायगा, इसलिए उसे भयभीत न होना चाहिए। उन्हों ने पृथ्वी देवी को सान्त्वनापूर्वक बिदा कर अत्यन्त देदीप्यमान (एक) सींग और लाल नेत्रों वाले वराह का रूप धारण किया। फिर अपने चमकते हुए सींग से सौ योजन नीचे से वसुमती (पृथ्वी) को उठा लिया। पृथ्वी के उद्धार के समय बड़ा संक्षोभ हुआ, जिस से देवता, ऋषि, तपस्वी, स्वर्ग, भूमण्डल एवं तीनों लोक, सब में हाहाकार मच गया और देव या मनुष्य किसी को चैन न पड़ने लगा। तब देवताओं एवं ऋषियों ने ब्रह्मा के पास जा कर नम्रतापूर्वक उनसे प्रार्थना की कि तीनों लोकों में संक्षोभ हो रहा है, चराचर जगत् व्याकुल हो गया है, समुद्र-जल क्षुब्ध हो रहा है, सारी पृथ्वी सौ योजन डूब गई है और हम सब संज्ञा-हीन हो रहे हैं, इसलिए हमें बतलाइए कि किस के प्रभाव से जगत् में इतनी व्याकुलता मची हुई है। उन को धैर्य दिलाते हुए ब्रह्मा ने कहा कि इस समय तुम्हें असुरों के उत्पात से भयभीत न होना चाहिए, क्योंकि सर्वत्र विचरणशील घट-घट-वासी परमात्मा के प्रभाव से यह संक्षोभ हो रहा है। सौ योजन पर्यन्त डूबी हुई पृथ्वी उसी विष्णु परमात्मा द्वारा निकाली गई है; उस की उद्धरण-क्रिया को इस संक्षोभ का कारण जान कर तुम अपना संशय मिटाओ। यह सुन देवताओं ने कहा कि यदि आप हमें वह प्रदेश बतला दें जहाँ पृथ्वी का उद्धार हो रहा है, तो हम सब वहीं चले जायँ। ब्रह्मा ने वह स्थान और विष्णु की पहचान बतलाते हुए कहा कि कालाग्नि के समान देदीप्यमान वराह-रूप में भूतल उठाते हुए लोकहितैषी भगवान् को तुम नन्दन वन में खड़ा पाओगे। उनके वक्षःस्थल पर श्रीवत्स शोभित हो रहा है।"

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार वराहरूपी ब्रह्मा द्वारा आदि सृष्टि के समय पृथ्वी का उद्धार नहीं हुआ, किन्तु पशुओं एवं मनुष्यों की संख्या में असाधारण वृद्धि होने से भाराक्रान्त पृथ्वी जल में कई योजन डूब गई, तब उस की प्रार्थना पर ध्यान दे कर भगवान् विष्णु ने उस का उद्धार किया। रामायण में ब्रह्मा द्वारा पृथ्वी का उद्धार बतलाया गया है, किन्तु यहाँ वही कार्य विष्णु द्वारा एक बिल्कुल भिन्न परिस्थिति में सम्पन्न हुआ।

महाभारत के वनपर्व के २७८वें अध्याय[2] में वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार का प्रासङ्गिक उल्लेख है। वहाँ इस सम्बन्ध में लिखा है कि नाभि-पद्म से उत्पन्न चतुर्मुख ब्रह्मा ने जगत् को शून्य देख कर मरीचि आदि मानस-पुत्रों को उत्पन्न किया, जिन से चराचर जगत, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, नाग, मनुष्य आदि की उत्पत्ति हुई।

---

[1] कुम्भकाणम्-संस्क०, १४४, २८—६३।

[2] श्लो० ४५-५६।

प्रजापति ब्रह्मा अपनी तीन अवस्थाओं द्वारा सृष्टि का सञ्चालन करते हैं—ब्रह्मा-रूप में सृष्टि, पुरुष (विष्णु)-रूप में पालन और रुद्र-रूप में संहार। तत्पश्चात् विष्णु के अद्भुत कर्मों का निर्देश करते हुए लिखा है कि जिस समय सारी पृथ्वी जलमय हो गई थी, उस समय चराचर-स्वामी भगवान् पृथ्वी को स्थापित करने के लिए उसे इधर-उधर इस प्रकार खोजने लगे मानो वर्षा-काल की रात्रि में जुगनू इधर-उधर उड़ रहा हो (इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि इस कथन के अनुसार प्रलयकाल में पृथ्वी जल में डूब गई थी, न कि जन एवं पशु-संख्या की अत्यधिक वृद्धि से भाराक्रान्त हो कर)। अन्त में पृथ्वी को जल में डूबी हुई देख कर वे सोचने लगे कि कौन सा रूप बना कर उसे जल के भीतर से निकाला जाय। दिव्य दृष्टि के प्रभाव से उन्हें जल-विहार की रुचि रखने वाले वराह के रूप का स्मरण हुआ। तब भगवान् ने चतुर्वेदमय यज्ञवराह का रूप धारण कर जल में प्रवेश किया। उस का शरीर सौ योजन लम्बा, दस योजन चौड़ा, गगनचुम्बी महापर्वत जैसा ऊँचा और श्याम मेघ के समान देख पड़ता था। उस का शब्द प्रचण्ड मेघ-गर्जन की समता करता और उस का तीक्ष्ण तथा चमकीला दाँत बाहर निकला हुआ था। वह यज्ञवराह समुद्र में डूब गया और उस ने अपने एक दाँत पर पृथ्वी को उठा कर उसे यथास्थान स्थापित कर दिया। वनपर्व के १०१ अध्याय[1] में भी विष्णु को सम्बोधन कर पृथ्वी का उन के वराह-रूप द्वारा उद्धार होने का उल्लेख[2] मिलता है।

उल्लिखित पंक्तियों से जान पड़ता है कि वैदिक साहित्य एवं रामायण के रचना-काल तक आदि-सृष्टि के समय जल के अनन्तर स्थल-सृष्टि करने के लिए प्रजापति (ब्रह्मा) द्वारा समुद्र में से पृथ्वी का उद्धार होना माना जाता था; किन्तु महाभारत-काल से वराह को विष्णु का एक अवतार माना जाने लगा, जिस के द्वारा पृथ्वी का उद्धार हुआ। अब हमें देखना है कि पौराणिक साहित्य इस विषय में क्या कहता है। विष्णु-पुराण[3] में निम्न-लिखित वृत्तान्त मिलता है।

कल्प के आरम्भ में नारायण नामधारी ब्रह्मा ने प्रजा-सृष्टि की। गत कल्प के अन्त में सत्त्व-गुण-सम्पन्न ब्रह्मा ने रात्रि-निद्रा से उठ कर संसार को शून्य देखा। उस अनादि, सृष्टिकर्त्ता, ब्रह्म-स्वरूप नारायण परमात्मा ने जगत् को सागरमय और पृथ्वी को उस में लीन देख कर उस का उद्धार करने के लिए—पूर्व कल्पों में धारण किए हुए मत्स्य, कूर्म आदि रूपों की भाँति—वराह का रूप ग्रहण किया, जो वेद-यज्ञ-मय था। तत्पश्चात् जनलोकवासी सनक आदि मुनियों द्वारा स्तुति किए जाने पर उस स्थिरात्मा, सर्वात्मा, परमात्मा प्रजापति ने जल में प्रवेश किया। उन के पाताल में पहुँचने पर उन्हें देख कर देवी वसुन्धरा (पृथ्वी) भक्ति-पूर्वक प्रणाम कर नाना प्रकार से उन की स्तुति करने लगी, जिस में सर्वव्यापी परमात्मा की विभूति का उत्कृष्ट वर्णन है। पृथ्वी द्वारा स्तुति होने के अनन्तर पृथ्वी-धारी (वराह-रूपी) परमात्मा ने साम-गान के स्वर में घर्-घर् शब्द से

---

[1] त्वया भूमिः पुरा नष्टा समुद्रात्पुष्करेक्षण ।
वाराहं वपुराश्रित्य जगदर्थे समुद्धृता ॥ २२ ॥
महाभारत एवं रामायण के वराह-विवरण के सम्बन्ध में दे० हॉप्किन्स—एपिक माइथॉलॉजी, पृ० २१० ।

[2] म० भा० सभापर्व, अ० ४५ और शान्तिपर्व, अ० २०८ में वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार की जो कथा मिलती है, वह पीछे से जोड़ी हुई जान पड़ती है। सम्भवतः वह पुराणों के आधार पर लिखी गई है।

[3] अंश १, ४, श्लो० १—५२ ।

गर्जना की, और नीलवर्ण देह तथा विकसित पद्म जैसे नेत्र वाला वह महावराह पृथ्वी को अपने दाँत पर उठा कर पाताल से ऊपर उठा......। जिस समय वह पृथ्वी को उठा रहा था, उस के वेदमय शरीर के रोएँ-रोएँ में बसने वाले सनन्दन आदि मुनिजन भक्तिपूर्वक उस की स्तुति करने लगे, जिस में वराह के कुछ अवयवों का यज्ञ के अङ्गों एवं उपकरणों से साम्य दिखलाया गया है। तदनन्तर मुनिजन महावराह-रूपी परमात्मा की महत्ता प्रकट करते हुए उन से जगत् की स्थिति के लिए पृथ्वी का उद्धार कर सब के कल्याण की प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार अपनी स्तुति सुन कर भू-धारी परमात्मा ने पृथ्वी को उठा कर समुद्र पर रख दिया, जिस से ऐसा जान पड़ता था मानो उस जल-समूह पर कोई विशाल नाव ठहरी हुई हो। वराह भगवान् के देह की अधिक वृद्धि हो जाने से पृथ्वी डूबती नहीं थी। फिर उसे समतल बना कर अनादि परमेश्वर ने उस पर पर्वत आदि बनाए।

विष्णुपुराणोक्त वराह-वर्णन में प्रलयकाल में पृथ्वी का उद्धार होना बतलाया गया है। इस के अनुसार नारायण-नामधारी विष्णु को ब्रह्मा का एक स्वरूप मान कर उन के द्वारा भू देवी का उद्धार जान पड़ता है। ऋषियों की स्तुति में विष्णु के महावराह-रूप का यज्ञ से सादृश्य दिखाया गया है, अर्थात् उसे यज्ञवराह माना है।

वराह अवतार की यह कथा थोड़े-बहुत अन्तर से—संक्षिप्त या विस्तृत रूप में—वायु, अग्नि, मत्स्य, भागवत, पद्म, लिङ्ग, वराह एवं गरुड आदि पुराणों में भी मिलती है। स्थानाभाव से यहाँ इन सब पुराणों में मिलने वाली इस कथा का सविस्तर परिचय देना सम्भव नहीं है, अतएव तत्सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातों का निर्देश-मात्र किया जाता है। वायुपुराण[1] में लिखा है कि अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई। अग्नि के नष्ट होने पर पृथ्वी-तल अन्तराल में लीन हो गया, जिस से स्थावर-जङ्गम सृष्टि का विध्वंस हो कर चारों ओर एकाकाँर समुद्र देख पड़ने लगा। उस समय नारायण-नामधारी ब्रह्मा योग-निद्रा में निमग्न हुए और सत्त्व-गुण के आधिक्य-वश नींद टूटने पर जगत् को शून्य देख वे वायु बन कर उस जल में, वर्षा-काल में खद्योत की भाँति, सञ्चार करने लगे। फिर पृथ्वी को समुद्र-तल में रही हुई जान कर उस का उद्धार करने के लिए उन्हों ने जल-क्रीड़ा के अनुकूल दस योजन लम्बा और सौ योजन ऊँचा वराह-रूप धारण किया और अपने दाँत से पृथ्वी को उठा कर उस का उद्धार किया। महावराह अथवा यज्ञ-वराह की आकृति आदि का वर्णन[2] महाभारत वन-पर्व के २७३वें अध्याय के उल्लिखित वर्णन से बहुत मिलता-जुलता है। यहाँ यज्ञ-वराह के शरीर के विभिन्न अवयवों का यज्ञ के अङ्गों से भली भाँति साम्य दिखलाया गया है, जिस में वह महावराह यज्ञ का, उस के पैर चारों वेदों के, उस का दाँत यूप (यज्ञ-स्तम्भ) का, सीना शक्ति का, मुख चिति (वेदि बनाने में ईंटों की चुनाई)

---

[1] अ० ६, श्लो० १—२७।

[2] दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमुच्छ्रितम्।
नीलमेघप्रतीकाशं मेघस्तनितनिस्वनम् ॥ १२ ॥
महापर्वतवर्ष्माणं श्वेतं तीक्ष्णोग्रदंष्ट्रिणम्।
विद्युदग्निप्रकाशाक्षमादित्यसमतेजसम् ॥ १३ ॥
पीनवृत्तायतस्कन्धं सिंहविक्रान्तगामिनम्।
पीनोन्नतकटीदेशं सुश्लक्ष्णं शुभलक्षणम् ॥ १४ ॥
रूपमास्थाय विपुलं वाराहममितं हरिः।
पृथिव्युद्धरणार्थाय प्रविवेश रसातलम् ॥ १५ ॥

का, जीभ अग्नि की, रोएँ दर्भ के, सिर ब्रह्मा का, नेत्र रात-दिन के, कान के आभूषण वेदाङ्ग के, नाक (अर्थात् नाक से निकलने वाला द्रव पदार्थ) घी का, थूथनी स्रुव की, शब्द साम-घोष का, खुर प्रायश्चित्त के, घुटने यज्ञ-पशु के, आँतें उद्गाता की, लिङ्ग होता का, श्वास-वायु अन्तरात्मा का, नितम्ब मन्त्रों के, रक्त सोमरस का, कन्धे वेदि के, उस की गन्ध हवि (होमने का पदार्थ) की, तेज़ चाल हव्य-कव्य की, शरीर प्राग्वंश (यज्ञशाला का एक भाग) का, हृदय ब्राह्मणों को दी जाने वाली दक्षिणा का, एक आभूषण प्रवर्ग्य (सोम-याग-सम्बन्धी एक क्रिया) का और उसकी छाया यजमान-पत्नी की सूचक[1] है।

मत्स्यपुराण[2] में, पृथ्वी पर होने वाली, प्रजापति की सृष्टि का क्रम बतलाते हुए वराह अवतार का निर्देश किया गया है। उस से जान पड़ता है कि बहुत योजनों तक फैलने वाले पर्वतों की अनेक सुविशाल श्रेणियों के असह्य भार से आक्रान्त हो कर पृथ्वी जल में डूब गई थी। उसे कीचड़ में फँसी हुई दुर्बल गाय की भाँति नीचे जाती देख कर मधुसूदन (विष्णु) ने उस के उद्धार का निश्चय किया। उस समय अपने उद्धार के लिए पृथ्वी देवी ने भगवान् की अनेक प्रकार से स्तुति की। इस पर विष्णु परमात्मा ने, उसे सान्त्वना देते हुए, कुछ सोच कर जल-क्रीड़ा के लिए वराह-रूप धारण किया। महावराह के शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों का यज्ञ के विभिन्न अङ्गों से सादृश्य-सूचक वर्णन और वराह-रूप में पृथ्वी के उद्धार का उल्लेख वायुपुराण के तत्सम्बन्धी प्रकरण से ज्यों का त्यों मिलता है। इस में वराह के शरीर की ऊँचाई लम्बाई से दूनी बतलाई गई है[3]।

श्रीमद्भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध में विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों का उल्लेख है, जिस से ज्ञात होता है कि यज्ञाधिपति परमेश्वर ने रसातल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिए दूसरा, अर्थात् वराह का, स्वरूप धारण किया[4]। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि यहाँ वराह को तीसरा नहीं किन्तु दूसरा अवतार

---

[1] स वेदपादो यूपदंष्ट्रः क्रतुवक्षाश्चितीमुखः।
अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः॥ १६॥
अहोरात्रेक्षणधरो वेदाङ्गश्रुतिभूषणः।
आज्यनासः स्रुवतुण्डः सामघोषस्वनो महान्॥ १७॥
सत्यधर्ममयः श्रीमान्धर्मविक्रमसंस्थितः।
प्रायश्चित्तरथो घोरः पशुजानुर्महाकृतिः॥ १८॥
उद्गात्रंत्रो होमलिङ्गः स्थानबीजी महौषधिः।
वाय्वन्तरात्मा मन्त्रस्फिगाज्यस्पृक् सोमशोणितः॥ १९॥
वेदस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यातिवेगवान्।
प्राग्वंशकायो द्युतिमान्नानादीक्षाभिरन्वितः॥ २०॥
दक्षिणाहृदयो योगी महासत्रमयो विभुः।
उपाकर्मेष्टिरुचिरः प्रवर्ग्यवित्तभूषणः॥ २१॥
नानाछन्दोगतिपथो गुह्योपनिषदासनः।
छायापत्नीसहायो वै मणिशृंगमिवोच्छ्रितः॥ २२॥
भूत्वा यज्ञवराहो वै अपः स प्राविशत्प्रभुः।

[2] अ० २४८, श्लो० १—७७।

[3] शतयोजनविस्तीर्णमुच्छ्रितं द्विगुणं ततः। ....॥६४॥

[4] द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम्।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः॥ ७॥

माना गया है। इस के सिवा तीसरे स्कन्ध के तेरहवें अध्याय में, विदुर-मैत्रेय-संवाद में, विदुर ने मैत्रेय से पूछा कि ब्रह्मा के प्रिय पुत्र सार्वभौम राजा मनु ने अपनी पसन्द की पत्नी पा कर क्या-क्या किया? मैत्रेय ने उत्तर दिया कि विवाह के पश्चात् मनु ने हाथ जोड़ कर ब्रह्मा से पूछा कि आप मेरे पिता हैं, मैं आप की सन्तान हूँ; इसलिए बतलाइए, मैं किस प्रकार आप की सेवा कर सकता हूँ? मेरे योग्य कार्यों में से कौन सा करने से मुझे इस लोक में कीर्ति और परलोक में सद्गति प्राप्त होगी? इस पर ब्रह्मा ने उसे अपनी स्त्री से अनुरूप सन्तति उत्पन्न कर पृथ्वी का धर्म-पूर्वक पालन और यज्ञ द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न करने को कहा। मनु ने आज्ञा शिरोधार्य कर प्रार्थना की कि पृथ्वी—जो मेरा, मेरी प्रजा और सब प्राणियों का निवास-स्थान है—जल में डूब गई है, इसलिए सब से पहले उसे ऊपर निकाला जाय। पृथ्वी का डूबना जान कर ब्रह्मा उस के उद्धार का उपाय सोचने लगे। ब्रह्मा ने देखा कि ईश्वर ने सृष्टि की उत्पत्ति के लिए उनको पैदा किया है और सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी रसातल में चली गई, इसलिए जिनके हृदय से वे उत्पन्न हुए, वही परमात्मा पृथ्वी के उद्धार की योजना करें, तो अच्छा हो। वे इस प्रकार सङ्कल्प-विकल्प कर रहे थे, इतने में अचानक उनकी नाक में से अँगूठे के परिमाण का वराह का बच्चा निकल आया। ब्रह्मा ने क्षण भर उस की ओर देखा, इतने ही में वह हाथी जितना बढ़ गया। यह देख कर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और मरीचि आदि विप्रों तथा मनु आदि कुमारों के साथ ब्रह्मा उस वराह के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विचार करने लगे। ब्रह्मा को शङ्का हुई कि कहीं यज्ञ-रूप भगवान् तो उन्हें मोह में नहीं डाल रहे हैं! अपने पुत्रों के साथ ब्रह्मदेव तर्क-वितर्क में लगे हुए थे, उस समय भगवान् ने अपना शरीर पर्वतप्राय बना कर गर्जना की, जिस से दिशाएँ गूँज उठीं और ब्रह्मा तथा सनकादि ऋषि हर्षित हुए। तदनन्तर जन, तप एवं सत्य लोकों के निवासी ऋषियों ने उस पवित्र वराह-स्वरूप की स्तुति की, जिसे सुन कर आदिवराह ने पुनः एक बार गर्जना की और गजराज के समान लीला करते हुए जल में प्रवेश किया। उस समय उक्त महावराह के केश कड़े और चमड़ी मोटी थीं; वह अपने खुरों से मेघ पर आघात करता था। उस के दाँत स्वच्छ और पैने, दृष्टि तीक्ष्ण, पैर में तीन जोड़, खुर बाण जैसे लम्बे, पूँछ ऊपर उठी हुई और गर्दन के बाल हिल रहे थे। तमाल-पुष्प के समान नील वर्ण वाले उक्त वराह ने अपने दाँत से पाताल में डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर उठा कर जल से बाहर निकाला; इतने में हिरण्याक्ष नामक दैत्य ने अपनी गदा से उस पर आक्रमण किया, जिस से आदिवराह ने क्रुद्ध हो कर—जिस प्रकार सिंह हाथी को मारता है उसी तरह—उस का भी अन्त कर डाला। उस के रक्त से आदिवराह का मुख-मण्डल लाल हो गया। हिरण्याक्ष के वध से ब्रह्मा ने उन्हें ईश्वर जान कर वेदमन्त्रों से उन की स्तुति की, जिस में उन के भिन्न-भिन्न अवयवों की यज्ञ के विभिन्न अङ्गों से तुलना की गई है। ऋषिगण वराह-रूपी परमेश्वर की स्तुति कर रहे थे, उस समय भगवान् अपने खुरों से पृथ्वी को क्षुब्ध जल में भली भाँति स्थापित कर वहाँ से चले गए। भागवत पुराण के तीसरे स्कन्ध के १८-१९वें अध्याय में हिरण्याक्ष-वध का सविस्तर वर्णन मिलता है।

लिङ्गपुराण[1] से जान पड़ता है कि ब्रह्मा ने वराह-रूप धारण किया था। प्रलय-रात्रि में, जब सब स्थावर-जङ्गम प्राणियों का नाश हो गया, चारों ओर एकाकार समुद्र देख पड़ता था; ब्रह्मा ने उस पर शयन किया

---

१. एलिमेंट्स ऑव् हिन्दू आइकानोग्राफी जि० १, भा० १, पृ० १३१।

इसी पुराण में, पूर्व-खण्ड के ९४ वें अध्याय में, दैत्य हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी के पीड़ित होने और उस के कष्ट के कारण भगवान् विष्णु के उसे पाताल से निकालने की कथा है, जिस से जान पड़ता है कि इस पुराण का यह पिछला अंश किसी समय क्षेपक-रूप में जोड़ा गया।

और सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा की। तब उन्हों ने वराह-रूप बना कर समुद्र के भीतर से पृथ्वी को निकाल कर उसे पहले की तरह स्थापित कर दिया। इस से यह भी विदित होता है कि पृथ्वी का उद्धार करने के पश्चात् विष्णु[1] अपना वराह-स्वरूप छोड़ कर अपने लोक में चले गए तब शङ्कर ने उस दाँत को, जिस पर पृथ्वी उठाई गई थी, ले कर अपने केशपाश में रख लिया, जिस से शिव की शोभा बहुत बढ़ गई।

अग्निपुराण[2] से ज्ञात होता है कि हिरण्याक्ष दैत्यों का राजा था; उस ने देवताओं को जीत कर स्वर्ग-लोक में निवास किया। तब देवताओं ने यज्ञ-रूपी भगवान् विष्णु के पास जा कर उन की स्तुति की, जिस पर उन्हों ने वराह-रूप धारण कर अन्य दैत्यों के साथ उक्त दानव का संहार किया।

पुराणों के वराह-सम्बन्धी विवरण से मालूम होता है कि विष्णु, वायु एवं मत्स्य में वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार का जो वृत्तान्त है, उस में हमें दैत्य हिरण्याक्ष के साथ के युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता। हिरण्याक्ष की कथा श्रीमद्भागवत तथा अन्य पिछले पुराणों में पाई जाती है। अग्नि, गरुड[3], वराह और पद्म पुराण[4] से दैत्य

---

[1] अथ देवे गते त्यक्त्वा वराहे क्षीरसागरम् ॥ २६ ॥
वराहरूपमनघं चचाल च धरा पुनः।
तस्य दंष्ट्रा भराक्रान्ता देवदेवस्य धीमतः ॥ २७ ॥
यदृच्छया भवः पश्यन् जगाम जगदीश्वरः।
दंष्ट्रां जग्राह दृष्ट्वा तां भूषणार्थमथात्मनः ॥ २८ ॥
दधार च महादेवः कूर्चान्ते वै महोरसि।
देवाश्च तुष्टुवुः सेन्द्रा देवदेवस्य वैभवम् ॥ २९ ॥

[2] अवतारं वराहस्य वक्ष्येऽहं पापनाशनम्।
हिरण्याक्षोऽसुरेशोऽभूद्देवाञ्जित्वा दिवि स्थितः ॥ १ ॥
देवैर्गत्वा स्तुतो विष्णुर्यज्ञरूपो वराहकः।
अभूत्तं दानवं हत्वा दैत्यैः साकं च कण्टकम् ॥ २ ॥
वेंकटेश्वर-संस्क०, अ० ४।

[3] वंशादीन्पालयामास ह्यवतीर्णो हरिः प्रभुः।
दैत्यधर्मस्य नाशार्थं वेदधर्मादिगुप्तये ॥ १ ॥
अवतीर्णो वराहोऽथ हिरण्याक्षं जघान ह।
पृथिवीं धारयामास पालयामास देवता ॥ ६ ॥
पूर्वखण्ड, अ० १४२।

[4] अप्रमाणशरीरः स हिरण्याक्षो मदोद्धतः।
उद्घाट्य बाहुसाहस्रैः पृथिवीं समहीधराम् ॥ १२ ॥
...उत्पाट्य शिरसाऽधाय प्रविवेश रसातलम् ॥ १३ ॥
ततो देवगणाः सर्वे चक्रुशुर्भयपीडिताः।
शरणं प्रययुर्देवं नारायणमनामयम् ॥ १४ ॥
ततस्तदद्भुतं ज्ञात्वा शङ्खचक्रगदाधरः।
वाराहं रूपमास्थाय विश्वरूपी जनार्दनः ॥ १५ ॥
दंष्ट्रयैकया तं दैत्यं जघान परमेश्वरः।
संचूर्णितमहागात्रो ममार दितिजाधमः ॥ १६ ॥
पतितां धरणीं दृष्ट्वा दंष्ट्रयोद्धृत्य पूर्ववत्।
संस्थाप्य धारयामास शेषे कर्मवपुस्तदा ॥ १७ ॥
उत्तरखण्ड, अ० २६४।

हिरण्याक्ष द्वारा मर्त्यलोकवासियों के पीड़ित होने, उस के अत्याचारों के फल-स्वरूप पृथ्वी के रसातल में पहुँचने और अन्त में वराह-रूपधारी विष्णु द्वारा उस का उद्धार होने का पता चलता है। हरिवंश[1] का वर्णन वायुपुराण से बहुत मिलता-जुलता है, इसलिए उस का यहाँ पृथक् उल्लेख आवश्यक नहीं। पिछले ग्रन्थों में वराह को विष्णु का अवतार माना गया है और आगम तथा तन्त्र-ग्रन्थों में भी इसी मत की झलक देख पड़ती है।

पुराणोक्त वराह-वर्णन के अनन्तर शिल्प-शास्त्र तथा आगम-ग्रन्थों में मिलने वाले विष्णु के इस अवतार के विवरण का यत्किञ्चित् परिचय असङ्गत प्रतीत न होगा। इस के साथ-साथ वराह अवतार की भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक जान पड़ता है। तक्षण-कला के फलस्वरूप हमें वराह-अवतार की जो खण्डित एवं अखण्डित सुन्दर प्रतिमाएँ भारत में यत्र-तत्र प्राप्त होती हैं, उन्हें स्थूल रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) आदिवराह, नृवराह अथवा भूवराह।
(२) प्रलयवराह।
(३) यज्ञवराह।

वैखानसागम के अनुसार आदिवराह अथवा भूवराह की प्रतिमा में मनुष्य के शरीर के साथ वराह का मुख, सन्ध्या-काल जैसा वर्ण और चार हाथ होने चाहिएँ, जिन में से सामान्यतः दो में शङ्ख और चक्र रहें। दाहिना पैर शेषनाग (सपत्नीक) के फन की मणि पर ठहरना चाहिए। उस पैर की जाँघ पर अपने पैर लटकाए पृथ्वी देवी बनाई जाय। वराह के शेष दो हाथों में से बाँया भू देवी के पैरों और दाहिना कमर पर रहे। वराह के मुख से जान पड़े कि वह देवी को सूँघ रहा हो। भू देवी के हाथ अञ्जलिबद्ध हों और उस का शरीर वस्त्र, पुष्प एवं आभूषणों से सुसज्जित होना चाहिए। देवी का मुख श्याम-वर्ण और हर्ष एवं लज्जा का सूचक होना चाहिए। उस का सिर वराह के सीने तक पहुँचे। उस की प्रतिमा को पञ्चतालविधि के अनुसार बनाना चाहिए[2]।

विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार उपर्युक्त प्रतिमा में शेषनाग के चार भुजाएँ, रत्न-जटित फन और आश्चर्य-विकसित नेत्र हों। आदिशेष का फन कुछ ऊँचा रहे, जिस से जान पड़े कि वह देव को देखने के लिए उत्सुक है। उस के दो हाथों में हल और मूसल रहें। सर्प की पीठ पर भगवान् आलीढासन में विराजमान हों। उन के बाएँ हाथ पर प्रणाम करती हुई दो भुजाओं वाली स्त्रीरूपिणी पृथ्वी रहे। जिस भुजा पर पृथ्वी हो उसमें शङ्ख और शेष में पद्म, चक्र एवं गदा रहनी चाहिए। नृवराह की मूर्ति कपिल की भाँति ध्यानावस्थित रूप में भी होती है अथवा उस के हाथ पिण्डदान करते हुए बनाए जाते हैं। इस के सिवा मनुष्य का शरीर न हो कर केवल शूकर की आकृति की प्रतिमा भी होती है, जिस में बहुत से दानवों के साथ वराह भूमि खोदता हुआ देख पड़ता

---

[1] अ० २२४।

[2] आदिवराहं चतुर्भुजं शङ्खचक्रधरं सस्यश्यामनिभं (सन्ध्याश्यामनिभं—पाठान्तर) नागेन्द्रफणामणिस्थापितदक्षिणपादं तदूरौ महीं दधानं दक्षिणहस्तेन देव्योः पादौ गृह्णन्तं मुखेन देवीं जिघ्रन्तं कृत्वा तां महीं प्राञ्जलीकृतहस्तां प्रसारितपादां पुष्पाम्बरधरां श्यामाभां किंचिद्देवं समीक्ष्य व्रीडाहर्षेण संयुक्तां सर्वाभरणसंयुतां देवस्य स्तनान्तां वा पञ्चतालेन मानेन कारयेत्। ५६वां पटल।

है[1]। विष्णुधर्मोत्तर से ज्ञात होता है कि इस अवतार की दार्शनिक व्याख्या सर्वशक्तिमान् ऐश्वर्य-सम्पन्न परमात्मा द्वारा हिरण्याक्ष-रूप में मूर्तिमान् अज्ञान का नाश करना है[2]।

शिल्परत्न में लिखा है कि नृवराह शूकर के मुख से शोभित, गदा-पद्म-धारी और अपने दाँत के अग्रभाग पर भूमि देवी को उठाए होना चाहिए। आश्चर्य-विकसित नेत्रों वाली देवी हाथ में नीलोत्पल लिए हुए वराह की बाईं कोहनी पर बैठी हो। उस का एक पैर आदिशेष और दूसरा कमठ (कछुए) पर ठहरना चाहिए। इस ग्रन्थ में भी आधे मनुष्य और आधे शूकर के रूप के सिवा पूरे वराह की आकृति भी मानी गई है। उस में मोटी थूथनी, चौड़े कन्धे, तेज़ दाँत और रोमाञ्चयुक्त विशाल शरीर होना चाहिए[3]।

अग्निपुराण में भी आदिवराह का इस से मिलता-जुलता वर्णन है। इस के अनुसार वराह-प्रतिमा का नारङ्गी के जैसा वर्ण होना चाहिए। उस के दाहिने हाथ में शङ्ख और बाएँ में पद्म अथवा लक्ष्मी रहे। यदि प्रतिमा में लक्ष्मी बनाई जाय, तो भू देवी और शेषनाग उस के चरणों

---

[1] नृवराहोऽथवा कार्यः शेषोपरि गतः प्रभुः।
शेषश्चतुर्भुजः कार्यश्चारुरत्नफणान्वितः॥
आश्चर्योत्फुल्लनयनो देववीक्षणतत्परः।
कर्तव्यौ सीरमुसलौ करयोस्तस्य यादव॥
सर्पभोगश्च कर्तव्यस्तथैव रचिताञ्जलिः।
आलीढस्थानसंस्थानस्तत्पृष्ठे भगवान्भवेत्॥
वामरत्निगता तस्य योषिद्रूपा वसुन्धरा।
नमस्कारपरा तस्य कर्तव्या द्विभुजा शुभा॥
यस्मिन् भुजे धरादेवी तत्र शङ्खकरो भवेत्।
अन्ये तस्य कराः कार्याः पद्मचक्रगदाधराः॥
नृवराहोऽथवा कार्यो ध्याने कपिलवत्स्थितः।
द्विभुजस्त्वथवा कार्यः पिण्डनिर्वपनोद्यतः॥
समग्रक्रोडरूपेण बहुदानवमध्यगः।
नृवराहो वराहश्च कर्त्तव्यः क्ष्माविदारणः॥

[2] मूर्तिमन्तमनैश्वर्यं हिरण्याक्षं विदुर्बुधाः।
ऐश्वर्येणाविनाशेन स निरस्तोऽरिमर्दनः॥

[3] नृवराहं प्रवक्ष्यामि सूकरास्येन शोभितम्।
गदापद्मधरं धात्रीं दंष्ट्राग्रेण समुद्धृताम्॥
बिभ्राणं कोर्परे वामे विस्मयोत्फुल्ललोचनाम्।
नीलोत्पलधरां देवीमुपरिष्टात्प्रकल्पयेत्॥
दक्षिणं कटिसंस्थं च बाहुं तस्य प्रकल्पयेत्।
कूर्मपृष्ठे पदं चैकमन्यन्नागेन्द्रमूर्धनि॥
अथवा सूकराकारं महाकायं क्वचिल्लिखेत्।
तीक्ष्णदंष्ट्राग्रघोणास्यस्कन्धकर्णोर्ध्वरोमकम्॥
२५वाँ पटल।

के पास होने चाहिएँ[1]। अग्निपुराण के अनुसार वराह-प्रतिमा स्थापित करने से राज्य-लाभ और भवसागर से मुक्ति मिलती है[2]।

प्रलयवराह की प्रतिमा में भगवान् सिंहासन पर बैठते हैं। उन का दाहिना पैर लटकता और बाँया मोड़ कर आसन पर रखा हो। पिछली भुजाओं में शङ्ख-चक्र रहते हैं; सामने का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में और बाँया जाँघ पर रहता है। प्रतिमा का वर्ण नीला, वस्त्र पीले और शरीर आभूषणों से सुसज्जित होना चाहिए। वराह भगवान् की भाँति पैर रखे हुए भू देवी उन की दाहिनी ओर सिंहासन पर बैठी हो। देवी का वर्ण श्याम और शरीर पर आवश्यक गहने होने चाहिएँ। दाहिना हाथ आसन पर रख, बाएँ में उत्पल लिए हुए वह आश्चर्य-युक्त नेत्रों से भगवान् को देखती हो[3]।

यज्ञवराह की प्रतिमा प्रलयवराह से बहुत मिलती-जुलती होनी चाहिए। वह श्वेत वर्ण की और चतुर्भुज होती है। उस की दाहिनी ओर सोने के वर्ण वाली लक्ष्मी देवी बाएँ हाथ में कमल ले कर वराह भगवान् की भाँति सिंहासन पर बैठती है। प्रलयवराह-प्रतिमा में जहाँ भू देवी बनाई जाती है, वहाँ इस में लक्ष्मी देख पड़ती है। यज्ञ-वराह के बाईं ओर भू देवी रहती है। भू देवी का वर्ण श्याम, बाँया पैर लटकता हुआ और दाहिना मोड़ कर आसन पर रहता है। दाहिने हाथ में नीलोत्पल और बाँया हाथ आसन पर रहता है। भगवान् की ओर मुड़े हुए पृथ्वी देवी के चेहरे से आश्चर्य झलकता है[4]।

विष्णु के राम, कृष्ण आदि प्रसिद्ध अवतारों की भाँति प्राचीन काल में सारे भारत में वराह-पूजा का भी बहुत प्रचार था। इस देश में अनेक स्थानों में वराह-मन्दिर बने हुए थे, जिन में से कुछ अब तक विद्यमान हैं। बहुत से मन्दिर नष्ट हो गए हैं, तो भी उन के खँडहरों से अनेक वराह-प्रतिमाएँ अब तक मिलती हैं, जिन में से कई एक पुरातत्त्व-सम्बन्धी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

---

[1] नारङ्गो वाथ कर्तव्यो भूवराहो गदादिभृत्।
दक्षिणे वामके शङ्खो लक्ष्मीर्वा पद्ममेव वा ॥ २ ॥
श्रीर्वामकूर्परस्था तु क्ष्मानन्तौ चरणानुगौ।......॥ ३ ॥
चतुर्बाहुर्वराहस्तु शेषः पाणितले धृतः।
धारयन्बाहुना पृथ्वीं वामेन कमलाधरः ॥ १६ ॥
वेंकटेश्वर-संस्क०, अ० ५०।

[2] वराहस्थापनाद्राज्यं भवाब्धितरणं भवेत् ॥ ३ ॥
वही अध्याय।

[3] वक्ष्ये प्रलयवराहं वामपादं समाकुञ्च्य दक्षिणं प्रसार्य सिंहासने समासीनं नीलाभं शङ्खचक्रधरमभयदक्षिणहस्तमूरुप्रतिष्ठितवामहस्तं पीताम्बरधरं सर्वाभरणभूषितं कारयित्वा तस्य दक्षिणे देवीं महीं पादं वाममाकुञ्च्य दक्षिणं प्रसार्यासीनां श्यामाभां सर्वाभरणभूषितामुत्पलधरवामकरामासननिहितदक्षिणकरां किञ्चिद्देवं समीक्ष्य विस्मयोत्फुल्ललोचनां कारयेत्।

[4] अथ यज्ञवराहं श्वेताभं चतुर्भुजं शंखचक्रधरं वामपादं समाकुञ्च्य दक्षिणं प्रसार्य सिंहासने समासीनं पीताम्बरधरं सर्वाभरणभूषितं कारयित्वा तस्य दक्षिणे देवीं श्रियं हेमाभां वामपादं समाकुञ्च्य दक्षिणं प्रसार्यासीनां पद्मधरवामहस्तामासने निहितदक्षिणहस्तां वामपार्श्वे महीं देवीं सस्यश्यामनिभां दक्षिणपादमाकुञ्च्य वामं प्रसार्यासीनामुत्पलधरदक्षिणहस्तामासने निहितवामहस्तां देवं किञ्चित्समीक्ष्य विस्मयोत्फुल्ललोचनां कारयेत्।

भारतवर्ष में एक से अधिक स्थानों के साथ वराह का महत्त्व सम्बद्ध है। युक्तप्रान्त में एटा से २७ मील उत्तर-पूर्व में गङ्गा-तट पर सोरों नामक प्रसिद्ध हिन्दू-तीर्थ है, जिस का प्राचीन नाम शूकरक्षेत्र[1] है। वराह-पुराण के अनुसार विष्णु ने इसी स्थान पर वराह-रूप ग्रहण कर अपने दाँत से पृथ्वी का उद्धार किया था[2]। यहाँ वराह का एक मन्दिर बना हुआ है। भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने बाल्य-काल के पाँच वर्ष यहाँ बिताए थे[3] और यहीं उन्हों ने अपने गुरु नरहरिदासजी[4] से पहले-पहल रामायण की कथा सुनी थी[5]। काश्मीर में झेलम नदी के दक्षिण तट पर बसे हुए बारामूला के आसपास का प्रदेश भी वराहक्षेत्र[6] कहलाता है। बारामूला संस्कृत के वराहमूल[7] का अपभ्रंश है। कहते हैं, विष्णु के वराह अवतार का यहाँ

---

[1] नंदलाल दे—जियॉग्राफ़िकल डिक्शनेरी ऑव् एंश्यंट ऐंड मेडिएवल इंडिया (दूसरा संस्कृ०), पृ० १९५-९६, २५८।

[2] मम क्षेत्रं परञ्चैव शुद्धं भागवतप्रियम् ॥ ५ ॥
परं सौकरवं स्थानं सर्वसंसारमोक्षणम् ।......॥ ६ ॥
यत्र संस्था च मे देवि ह्युद्धतासि रसातलात् ।
यत्र भागीरथी गङ्गा मम सौकरवे स्थिता ॥ ७ ॥
अ० १३७ (वेंकटेश्वर-संस्क०)।

[3] रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—गोस्वामी तुलसीदास (हिन्दुस्तानी एकॉडमी, इलाहाबाद), पृ० ४०।

[4] रामचरितमानस (सटीक), इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग (प्रथम संस्क०), भूमिका-भाग, पृ० २०; गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ३७। वेणीमाधवदास के 'गोसाईं'-चरित' के अनुसार तुलसीदासजी के गुरु का नाम नरहर्यानन्द था। वही पृ० ३८।

[5] मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥ ४९ ॥
रामचरितमानस, बालकाण्ड।

वेणीमाधवदास के मतानुसार इस सूकरखेत की स्थिति सरयू और घाघरा के संगम पर है। यह सूकरखेत सोरों से भिन्न होना चाहिए।

[6] नंदलाल दे—जियॉग्राफ़िकल डिक्शनेरी ऑव् एंश्यंट ऐंड मेडिएवल इंडिया, पृ० २३।

कल्हण-कृत राजतरंगिणी में वराहक्षेत्र और वराहमूल का कई स्थानों में उल्लेख मिलता है।

मर्तुं ययौ च वाराहक्षेत्रं यत्र विधायकः ।...॥ १८९ ॥
नवावमानखिन्नः स मिलितानन्तसैनिकः ।
प्रत्यावृत्य ततो मानी वाराहं क्षेत्रमाययौ ॥ २०४ ॥
डॉ० स्टाइन-सम्पा० संस्क०, छठा तरंग।

वराहक्षेत्र एवं वराहमूल के भौगोलिक एवं ऐतिहासिक विवरण के सम्बन्ध में दे० डॉक्टर सर ऑरल् स्टाइन—ए क्रॉनिकल ऑव् दि किंग्ज़ ऑव् कश्मीर जि० १, पृ० २५१, टिप्पण १८९ और जि० २, पृ० ४८२-८३।

[7] वराहमूलं प्रविशन्नागतां द्विषतां बलात् ।...॥ १३०९ ॥
राजतरंगिणी (स्टाइन-सम्पा०), सातवाँ तरंग।
...वराहमूलं संप्राप कथंचित् प्रस्थितिं भजन् ॥ ४५१ ॥
...वराहमूलेन समं तस्य सैन्यमलुण्ठयत् ॥ ४५२ ॥
वराहमूलं सम्प्राप्तमप्रायातः प्रियं सुतम् ।
आश्लिष्य विषयेो राजा बभूवानन्दशोकयोः ॥१२२९॥
वही, आठवाँ तरंग।

आविर्भाव हुआ था। यहाँ आदिवराह का एक मन्दिर है। बारामूला के पास वाले वराह पर्वत[१] का नाम भी इस अवतार के सम्बन्ध के कारण पड़ा होगा। बङ्गाल के पुर्निया ज़िले में नाथपुर के पास तमोर, अरुण और सुनकोशी नदियों के सङ्गम पर भी एक स्थान वराहक्षेत्र[२] कहलाता है। यह वराहक्षेत्र पुराण-वर्णित कोकामुख[३] है। इन उदाहरणों से यह जान पड़ता है कि प्राचीन काल में इस देश में ऐसे अनेक स्थान विद्यमान थे, जिन की प्रसिद्धि वराह-अवतार के सम्बन्ध से हुई। इसी तरह कुछ गाँव, पर्वत आदि के साथ वराह नाम मिलता है। दक्षिण के राष्ट्रकूट-वंशी राजा गोविन्द तृतीय के राधनपुर से मिले हुए शक संवत् ७३० के दानपत्र में रत्तजुण गाँव की सीमा बतलाते हुए उत्तर में वराह ग्राम[४] का उल्लेख है, जो डॉ० कीलहॉर्न के मतानुसार बम्बई प्रान्त का वर्तमान वरगाँव[५] होना चाहिए। अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम में रक्खे हुए कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल द्वितीय (ई० स० की दसवीं सदी) के वि० सं० १००३ के शिलालेख में वराहपल्ली[६] गाँव का उल्लेख है। मद्रास प्रान्त के गञ्जाम ज़िले के अच्युतपुरम् से मिले हुए गङ्गवंशी इन्द्रवर्मन् प्रथम के दानपत्र में वराहवर्त्तनी[७] नामक ज़िले के सिद्धार्त्थक गाँव का कुछ अंश दान में दिए जाने का निर्देश है। मद्रास म्यूज़ियम के गङ्गवंशी वज्रहस्त तृतीय के, शक संवत् ९८४ के, दानपत्र में भी इस ज़िले का नाम मिलता है[८]। गङ्गवंशियों के कई अन्य दानपत्रों में भी इसका उल्लेख है[९]। गञ्जाम ज़िले के नडगाम से

---

१. इंस्टीट्यूट्स ऑव् विष्णु—प्रा० ध० ग्र०, जि० ७, पृ० २५६, टि०।

२. नन्दलाल दे—जियॉग्राफिकल डिक्शनेरी, पृ० २३, १०१ और २०७।

३. श्रीवराह उवाच—

नास्ति कोकामुखात्क्षेत्रं श्रेष्ठं कोकामुखाच्छुचि।
नास्ति कोकामुखात्स्थानं नास्ति कोकामुखात्प्रियम् ॥ १० ॥
मम सा परमा मूर्तिर्यां न जानन्ति गोपिताम्।
स्थितं कोकामुखं नाम एतत्ते कथितं मया ॥ १२ ॥
व० पु०, अ० १४०।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वाराहं तीर्थमुत्तमम्।
विष्णुर्वाराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितो विभुः ॥ १८ ॥
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत्।
म० भा० (कुम्भकोणम्-संस्क०), वनपर्व, अ० ८१।

४. ...उत्तरतः वराहग्रामः...(पंक्ति ४६)। ए० इं०, जि० ६, पृ० २४६।

५. वही, जि० ६, पृ० २४१-४२।

६. दक्षिणस्यां दिशि च पलासकूपिकाक्षेत्रान्तरितं वराहपल्लिग्रामवर्त्मं (पंक्ति २८-२९)।
ए० इं०, जि० १४, पृ० १८७।

७. वराहवर्त्तन्यां सिद्धार्त्थकग्रामे (पंक्ति ८)।
ए० इं०, जि० ३, पृ० १२७-२८।

८. वराहवर्त्तन्यां। तामरचेरुग्रामो नाम (पंक्ति ४३-४४)।
ए० इं०, जि० ९, पृ० ९८।

९. इं० आ०, जि० १३, पृ० १२०, २७३।

प्राप्त उपर्युक्त वज्रहस्त के, शक संवत् ९७९ के, दानपत्र में वराहवर्त्तनी के स्थान में कोलुवर्त्तनी[1] प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में 'वराह' और 'कोल' एक ही अर्थ के सूचक हैं[2]। महाभारत से जान पड़ता है कि मगध राज्य की प्राचीन राजधानी गिरिव्रज (अथवा राजगृह) नगर पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ था, जिन में एक का नाम वाराह[3] था। इस से अनुमान होता है कि उक्त पहाड़ी पर वराह का कोई मन्दिर भी रहा होगा।

यहाँ कुछ ऐसे प्राचीन स्थानों का उल्लेख युक्तिसङ्गत जान पड़ता है जहाँ वराह अवतार की उत्कृष्ट प्रतिमाएँ मिलती अथवा मिली हैं। ग्वालियर राज्य के भेलसा ज़िले में भेलसा से चार मील, २३° ३२′ उत्तर अक्षांश और ७७° ४६′ पूर्व देशान्तर पर, बेतवा और बेश नदियों के बीच उदयगिरि नामक प्राचीन स्थान है, जहाँ पहाड़ी में काट कर बनाई हुई गुफाएँ और आसपास के बौद्ध भग्नावशेष पुरातत्त्ववेत्ता के लिए दर्शनीय हैं। गुफाओं में से चौथी में नरवराह की एक विशालकाय प्रतिमा दीवार पर पत्थर को काट कर बनाई गई है[4]। इस का समय ई० स० ४०० के आसपास[5] माना जाता है। यह गुप्तकालीन तक्षण-कला एक उत्कृष्ट नमूना है।

बिहार के गया ज़िले में सकरी नदी के दक्षिण तट पर अफसड़ (या अफसण्ड) नामक गाँव में, जिसे जाफ़रपुर भी कहते हैं, वराह अवतार की एक गुप्तकालीन प्रतिमा मिली है[6]। शिल्प और सुन्दरता के कारण भारत की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमाओं में इस की गणना होती है[7]। अफसड़ में गुप्तकाल के अनेक प्राचीन देवालय हैं, जिस से अनुमान होता है कि प्राचीन काल में वहाँ वराह का कोई भव्य मन्दिर अवश्य रहा होगा।

मध्यप्रदेश के सागर ज़िले में एरण (संस्कृत एरिकिण) नामक प्राचीन गाँव में गुप्त-काल में एक वराह-मन्दिर था, जिस के भग्नावशेष वहाँ अब तक विद्यमान हैं। गाँव से आधे मील पश्चिम में प्राचीन मन्दिरों का समूह है, उस के दक्षिण अन्त की ओर एक टूटे हुए मन्दिर में लाल पत्थर की भूवराह की ११ .फुट ऊँची और १२$\frac{१}{२}$.फुट लम्बी भव्य, पूर्वाभिमुख एवं प्रेक्षणीय मूर्ति[8] है, जिस के शरीर पर हज़ारों छोटे-छोटे देवता खोदे गए

---

[1] कोलुवर्त्तनीविषये नुगिलग्रामः प्रदत्तः—(पंक्ति ५७)।
एo इंo, जिo ४, पृo १९२।

[2] वही, जिo ४, पृo १८५, टिप्पण ५।

[3] वैहारो विपुलः शैलो वाराहो वृषभस्तथा।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ॥ २ ॥
एते पञ्चमहाशृंगाः पर्वताः शीतलद्रुमाः।
रक्षन्तीवाभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ॥ ३ ॥
कुम्भकोणम्-संस्क० सभापर्व, अ० २१।

मा० पु० में भी एक वराहाद्रि का उल्लेख है। दे० सर मोनियर-विलियम्स—ए संस्कृत-इँग्लिश डिक्शनेरी (नवीन संस्क०), पृ० ९२३।

[4] इंपीरियल गैज़ेटियर ऑव् इंडिया जि० २४, पृ० १०८-०९। कनिंगहम्—आ० स० रि०, जि० १०, प्लेट १८। बर्जेस—दि एंश्यंट मोन्युमेंट्स, टेंपल्स ऐंड स्कल्प्चर्स ऑव् इंडिया (१८९७ ई०), प्लेट २१६-१७। डॉ० कुमार-स्वामी—विश्वकर्मा (लंदन १९१४), प्लेट ९९। डॉ० कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑव् इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, चित्र-संख्या १७४।

[5] वही, पृ० ८५।

[6] .फ्लीट—भा० अ० स०, जि० ३, पृ० २०१। इंपीरियल गैज़ेटियर ऑव् इंडिया, जि० ५, पृ० ६९।

[7] वही।

[8] इस के चित्र के लिए दे० रायबहादुर डॉ० हीरालालजी-रचित सागर-सरोज, पृ० १३।

हैं। वराह के दाहिने दाँत पर स्त्री-रूपी पृथ्वी देवी देख पड़ती है। इस की गर्दन के ऊपरी भाग में एक छोटा सा चौकोना देवालय बना है, जिस के प्रत्येक पार्श्व में एक-एक छोटी प्रतिमा बैठी है[१]। इस भव्य एवं अति प्राचीन वराह-प्रतिमा के सम्बन्ध में यह विशेष उल्लेखनीय है कि इस के शरीर पर २′ ६″ लम्बे और १०$\frac{३}{४}$″ चौड़े स्थान में एक गद्यमय संस्कृत लेख[२] की आठ पंक्तियाँ खुदी हुई हैं। इस लेख[३] में अक्षरों में हूण नृपति तोरमाण के राज्य-काल के प्रथम वर्ष के फाल्गुन मास की दशमी तिथि का निर्देश है (इस में कोई संवत् नहीं दियां गया)। यह एक वैष्णव लेख है, जिस से जान पड़ता है कि स्वर्गीय महाराजा मातृविष्णु के अवसान के पश्चात् उस के छोटे भाई धन्यविष्णु ने विष्णु का वह मन्दिर बनवाया, जिस में यह विशाल प्रतिमा खड़ी थी।

मद्रास प्रान्त में मद्रास से तीस मील दक्षिण में चिङ्गलपट ज़िले में समुद्र-तट पर महाबलिपुरम् (मामल्लपुरम्) नामक स्थान है, जो पाण्ड्यवंशी राजाओं की प्राचीन राजधानी थी। वहाँ चट्टानों को काट कर अत्यन्त सुन्दर गुहा-मन्दिर बने हुए हैं और शिलाओं पर यत्र-तत्र तक्षण-कला के उत्तम नमूने देख पड़ते हैं। इन में से आठ स्तम्भ वाली वराह-गुफा में दीवार पर वराह अवतार की बहुत सुन्दर प्रतिमा खोदी गई है[४]।

बम्बई प्रान्त के बीजापुर ज़िले में कृष्णा नदी की शाखा मलप्रभा के पास बादामी (प्राचीन वातापीपुर) की, जो दक्षिण के चालुक्यों की प्राचीन राजधानी थी, गुफाओं में से तीसरी में अनेक मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, जिन में वराह की प्रतिमा[५] प्रमुख एवं उल्लेखनीय है।

मध्यप्रदेश के रायपुर ज़िले के राजिम नामक स्थान में चालुक्यों के राज्य-काल की नृवराह की एक सुन्दर प्रतिमा है। इस में वराह के चार हाथ हैं, जिन में बाएँ की कोहनी पर भू देवी देख पड़ती है। प्रतिमा-शास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित वराह-लक्षणों से इस में केवल यही भिन्नता है कि यहाँ आलीढासन में बैठे हुए आदिशेष वराह भगवान् को अपने फन के स्थान में दोनों हाथों पर थामे हुए हैं। पास की शिला पर नागकुल देख पड़ता है, जिस में नाग अञ्जलिबद्ध हो कर नृवराह का सम्मान कर रहे हैं[६]।

वेलूर (मैसूर राज्य) के चेन्नकेश्वर-मन्दिर में बारह हाथ वाली वराह-प्रतिमा[७] है। दाहिनी ओर के ६ हाथों में (नीचे से) दानव हिरण्याक्ष के शरीर में डाला हुआ शूल, अङ्कुश, घण्ट, खड्ग, चक्र और बाण हैं। बाईं ओर के हाथों में से दो में फल (नींबू) और खेटक देख पड़ते हैं। तीसरे हाथ की वस्तु अस्पष्ट है। चौथा

---

१. भा० अ० स०, जि० ३, पृ० १५६।

२. वही, पृ० १५६-६०।

३. इसके आरम्भ में वराह अवतार की स्तुति में लिखा है कि—

> जयति धरण्युद्धरणे घनघोणाघातघूर्ण्णितमहीध्रः।
> देवो वराहमूर्त्तिस्त्रैलोक्यमहागृहस्तम्भः॥ (पंक्ति १)।

४. आ० स० इं० १९१०-११, पृ० ५६-५७ और प्लेट २९ (सी)। कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑव् इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १०२। रावबहादुर कृष्ण शास्त्री—साउथ इंडियन इमेजेज़ ऑव् गॉड्ज़ ऐंड गॉडेसेज़, पृ० २४।

५. गोपीनाथ राव—ऐलिमेंट्स ऑव् हिन्दू आइकोनोग्राफी जि० १, भाग १, पृ० १४०, प्लेट ३७। इं० आ०, जि० ६, पृ० ३५४ के सामने की प्लेट, चित्र-संख्या २। विश्वकर्मा, भाग ६, संख्या ९९।

६. वही; पृ० १४१ और प्लेट ३८।

७. वही; पृ० १४३-४४ और प्लेट ४१, चित्र-संख्या २।

पृथ्वी के पैर को थामे हुए है। पाँचवें में शङ्ख है और छठा विस्मय सूचित कर रहा है। भगवान् वराह के पैरों से दो असुर कुचले जा रहे हैं। सामने अञ्जलि-बद्ध भू देवी खड़ी है, जिस का सिर टूट गया है। यह प्रतिमा अधिक पुरानी नहीं है, किन्तु इस में बारीक खुदाई देख पड़ती है।

हिन्दुओं के तीर्थ-गुरु पुष्कर (अजमेर से सात मील पश्चिम) में आदिवराह का एक प्राचीन मन्दिर था, ज़िस में मेवाड़ के महाराणा मोकल (वि० सं० १४७८-८५) ने सोने का तुलादान किया था[1]। मुग़ल बादशाह जहाँगीर ने अपनी दिनचर्या की पुस्तक—तुज़ुके जहाँगीरी—में लिखा है—"पुष्कर के तालाब के चौतरफ़ हिन्दुओं के नए-पुराने मन्दिर हैं।......उन में से एक को राणा सङ्कर (सगर) ने, जो विद्रोही अमर (अमरसिंह) का चाचा और मेरे बड़े सरदारों में से एक है, एक लाख रुपया व्यय कर बनवाया था। मैं उस मन्दिर को देखने गया। उस में श्याम पत्थर की एक प्रतिमा थी, जिस का गर्दन से ऊपर का भाग सूअर के जैसा और शेष मनुष्य का था।......उसे तुड़वा कर मैंने तालाब में डलवा दिया[2]।"

अजमेर ज़िले के बघेरा (प्राचीन व्याघ्रेरक) नामक स्थान में वराह का एक प्राचीन मन्दिर था, जो मुसलमानों के राज्य-काल में तोड़ा गया। फिर महाराणा अमरसिंह के समय (सन् १५९७-१६२० ई०) रावत मेघसिंह (कालीमेघ) चूँडावत ने उस का जीर्णोद्धार करवाया[3]। अब तक अजमेर-मेरवाड़े में इस मन्दिर की बहुत प्रसिद्धि है। इस में चमकते हुए श्याम पत्थर की शूकर वराह की एक विशालकाय एवं सुन्दर मूर्ति है, जिस के सारे बदन पर देवताओं की असंख्य छोटी-छोटी मूर्तियाँ खुदी हैं। महामहोपाध्याय रायबहादुर पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्दजी ओझा का कथन है कि उन की देखी हुई भूवराह की सब मूर्तियों में यह सब से अधिक सुन्दर है। इस मन्दिर में अब तक पूजा होती है और प्रतिवर्ष कार्त्तिकी पूर्णिमा को यहाँ बड़ा मेला लगता है।

मेवाड़ के महाप्रतापी एवं विद्वान् महाराणा कुम्भकर्ण (कुम्भा, ई० स० १४३३-६८) ने चित्तौड़ के इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग पर आदिवराह का मन्दिर बनवा कर[4] अपनी विष्णु-भक्ति का परिचय दिया था। इस की असली प्रतिमा इस समय विद्यमान नहीं है, किन्तु भीतरी परिक्रमा के पिछले ताक में वराह-प्रतिमा होने से इस के गर्भ-गृह की असली प्रतिमा के सम्बन्ध में ठीक अनुमान हो सकता है। इस समय लोग इस को कुम्भ-

---

[1] कार्त्तिक्यामथ पूर्णिमावरतिथौ योदात्तुलां कांचनीं
शाखज्ञः प्रथमं............................।
देवं पुष्करतीर्थसान्निध्यमम् नारायणं शाश्वतं
रूपेणादिवराहमुत्तमतरैः स्वर्णादिकैः पूजयन् ॥ १७ ॥

शृंगी ऋषि का शिलालेख (अप्रकाशित)।

[2] रॉजर्स—मेमॉयर्स ऑव् जहाँगीर (तुज़ुके जहाँगीरी का अँगरेज़ी अनुवाद), जि० १, पृ० २५४।

इस मन्दिर में महाराणा मोकल के तुलादान करने से यह निश्चित है कि यह राणा सगर से बहुत समय पूर्व बन चुका था; अतएव इस के निर्माण-काल के सम्बन्ध में बादशाह जहाँगीर का उपर्युक्त कथन ग़लत जान पड़ता है।

[3] महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा—राजपूताने का इतिहास जि० २, पृ० ८१७, टि० २।

[4] अकारयच्चादिवराहगेहमनेकधा श्रीरमणस्य मूर्तिः ॥ ३१ ॥

कीर्तिस्तम्भ की प्रशस्ति (अप्रकाशित)।

श्याम का मन्दिर कहते हैं। गुजरात के प्रतापी राजा कुमारपाल सोलङ्की ने भी चित्तौड़ पर एक वराह-मन्दिर[1] बनवाया था, किन्तु अब उस का वहाँ पता नहीं चलता।

झालावाड़ राज्य में चन्द्रभागा नदी के तट पर चन्द्रावती नामक प्राचीन नगरी थी, जहाँ अब भी अनेक प्राचीन अवशेष देख पड़ते हैं। बहुत बरस पहले वहाँ भूवराह की एक अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा थी, किन्तु वि० सं० १९५६ के देशव्यापी दुर्भिक्ष में, उस के पेट में धन की शङ्का होने से, किसी ने लोभवश उसे तोड़ डाला। उस का शेष भाग—जिस में केवल शेषनाग, वराह के चारों पैरों के चिह्न और भूदेवी का आधा शरीर है—महामहोपाध्याय रा० ब० गौरीशङ्कर हीराचन्दजी ओझा सन् १९०८ ई० में वहाँ से अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् के लिए ले आए। इस के आसन पर खुदे हुए लेख से नवीं शताब्दी में चन्द्रावती में वराह-मन्दिर के अस्तित्व का पता चलता है।

बाँसवाड़ा राज्य के अर्थूणा नामक पुराने क़स्बे में भी एक प्राचीन वराह-मन्दिर था, जिस की प्रतिमा इस समय राजपूताना म्यूज़ियम् में सुरक्षित है। कोटा राज्य में भी कई एक वराह-मन्दिर थे, जिन की प्रतिमाएँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। आबू पर्वत के नीचे परमारों की प्राचीन राजधानी—चन्द्रावती—में कई वराह-मन्दिर थे। चन्द्रावती के देवालयों से लोग उन की प्रतिमाएँ आसपास के गाँवों में ले गए, जहाँ वे आज भी देख पड़ती है। इन में से शूकराकृति वराह की एक प्रतिमा को इन पंक्तियों के लेखक ने शेहेरा गाँव में लक्ष्मीनारायण-मन्दिर के बाहर देखा है। जोधपुर राज्य के फलोदी नगर की वराह-प्रतिमा कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। वराह की शरीर-गठन, उस के खड़े रहने का आकर्षक ढङ्ग, आभूषणों की बारीक़ खुदाई और फैले हुए कमल-पत्र के नीचे नागदेवता द्वारा उन के निवासस्थान—पाताललोक—का प्रदर्शन आदि इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं[2]।

मध्यभारत में उज्जैन नगर अपने प्राचीन गौरव के लिए भारत भर में प्रसिद्ध है। सुप्रसिद्ध द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से महाकाल का मन्दिर यहीं है। इस प्राचीन नगरी के अवशेषों की खुदाई होने पर किसी दिन भविष्य में अनेक विक्रमकालीन पुरातन वस्तुएँ एवं इतिवृत्त प्राप्त होंगे। अब तक ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व-विभाग की ओर से उज्जैन में खुदाई नहीं हुई है, तो भी वहाँ अनेक वराह प्रतिमाएँ मिलती हैं। इधर कुछ

---

[1] कुमारपालदेवाख्यः आमांस्तस्यास्ति नन्दनः।
नीतिरेव प्रिया यस्य सद्मनो द्युतिकारिणी॥ (पं० ११-१२)।

……………………शौरेः प्रासादं कारयामास॥
विख्या[ता]स्मि यदाख्यया…विभुः सोयं वराहो हरि-
भूंभारं बिभरांचकार…………लवल्लीलया। (पं० २१)।
सोलंकी कुमारपाल का, चित्तोड़गढ़ का, शिलालेख (अप्रकाशित)।

इस लेख के प्रारम्भ में वराह-स्तुति करते हुए लिखा है—

रसातलान्तर्भुवमुज्जिहीर्षोः कोलस्य दंष्ट्रा वदनैकदेशे।
नवेंदुलेखेव…………………………(पंक्ति १)।

[2] ऐलिमेंट्स ऑव् हिन्दू आइकोनोग्राफी जि० १, भाग १, प्लेट ३९, चित्र-संख्या २।

वर्षों से उज्जैन में मिलने वाली खण्डित एवं अखण्डित प्राचीन मूर्तियों का महाकाल-मन्दिर के एक भाग में संग्रह हो रहा है, जिन में शूकर-वराह की भी एक प्रतिमा है। लेखक ने महाकाल-मन्दिर के संग्रह को सन् १९३२ ई० में देखा है। कोई दो वर्ष पूर्व उज्जैन-निवासी पुरातत्त्व-प्रेमी पं० सूर्यनारायणजी व्यास ज्योतिषाचार्य को दो वराह-प्रतिमाएँ मिली थीं, जिन की सूचना उन्हों ने मुझे भेजी थी। इन्दौर राज्य के भानपुरा परगने में भानपुरे से छः मील पर कोहला[1] गाँव प्राचीन अवशेषों के लिए प्रसिद्ध है। कोहला के अनेक प्राचीन देवालयों में वहाँ का वराह-मन्दिर सब से बड़ा और वास्तु-कला की दृष्टि से सुन्दर बना हुआ है। इस समय उक्त मन्दिर का सभा-मण्डप और गर्भगृह विद्यमान है और वहाँ नियमानुसार पूजा होती है। ई० स० १९३० के फ़रवरी मास में लेखक ने इस के गर्भगृह में नृवराह की एक अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा देखी थी। सुप्रसिद्ध पुराविद् राखालदासजी वन्द्योपाध्याय, एम० ए० (स्वर्गीय) के मतानुसार यह वराह-प्रतिमा सन् १९२० ई० तक उन को मिली हुई सब वराह-मूर्तियों में सर्वोत्तम है[2]। कोहला से लगभग तीन मील पर निर्जन वन में बूखर नामक एक पुराने क़स्बे के खण्डहर हैं, जहाँ सन् १९३० ई० में मुझे शूकर-वराह की एक विशाल एवं उत्कृष्ट प्रतिमा मिली थी[3]। तत्पश्चात् वह मेरे प्रयत्न से इन्दौर-म्यूज़ियम् के लिए मँगवा ली गई[4]। पाठक उसे चित्र-संख्या पाँच में देख सकते हैं। इन्दौर-म्यूज़ियम् के अनेक दर्शक उसे देख कर बहुत प्रसन्न होते हैं। साहित्याचार्य पं० पद्मसिंहजी शर्मा (स्वर्गीय) अपनी इन्दौर-यात्रा के समय (सन् १९३० ई०) इस प्रतिमा को देख कर मुग्ध हो गए और इन्दौर से लौटते समय उन्हों ने मुझे वचन दिया था कि अपनी मालव-यात्रा के संस्मरणों में वे इस विशाल एवं सुन्दर वराह-प्रतिमा का उल्लेख कदापि न भुलाएँगे[5]। काल की कुटिल गति से असमय में ही शर्माजी का देहान्त हो गया और, खेद है, मालव-यात्रा के संस्मरण उन की चमत्कार-भरी लेखनी से न लिखे जा सके! अस्तु। उल्लिखित पंक्तियों से यह भली भाँति मालूम होता है कि प्राचीन काल में भारत में ओर से छोर तक वराह-पूजा प्रचलित थी। सुदूर ब्रह्मदेश* (बर्मा) भी इस का अपवाद न था। वहाँ के पगान नगर (=अरिमर्द्दनपुर—सम्पादक) की शहरपनाह के दक्षिण-पूर्व कोने में कई बौद्ध मन्दिर हैं; उन में से नत्-ह्लौङ-क्यौङ नामक दसवीं सदी के देवालय की बाहरी दीवार में कई ताक बने हुए हैं, जिन में से एक में नरवराह की एक प्रतिमा है[6]। यह बनावट में भद्दी है।

वराहपुराण में मथुरा-माहात्म्य के अन्तर्गत कपिलवराहमाहात्म्य-शीर्षक १६३वाँ अध्याय है। उस में बीस योजन के मथुरा-मण्डल के आसपास के तीर्थस्थानों का उल्लेख करते हुए वराह भगवान् पृथ्वी देवी से

---

[1] प्रोग्रस रिपोर्ट ऑव् दि आ० स० प० भा०, सन् १९२० ई०, पृ० ८३-८७।

[2] वही, पृ० ८४।

[3] दि इन्दौर स्टेट गैज़ेटियर (नवीन संस्क०, सन् १९३१ ई०), जि० २, पृ० ३।

[4] वही; पृ० १०।

[5] वीणा, वर्ष ५, अंक ११ (सितंबर १९३२) में लेखक का 'स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा (संस्मरण)'-शीर्षक लेख, पृ० ८७७।

* ब्रह्मदेश कहीं का नाम नहीं है। अँगरेज़ी बर्मा म्यम्म-देश का बिगाड़ा हुआ रूप है।—सम्पादक।

[6] आ० स० इं० सन् १९१२-१३ ई०, पृ० १३७ और प्लेट ७९, चित्र-संख्या (ए)।

कहते हैं कि दक्षिण में केशव (विष्णु) के आकार जैसी मेरी सुन्दर, विशालकाय एवं दिव्यरूपिणी प्रतिमा है, जिस के दर्शन से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। सत्य-युग में मान्धाता नामक राजा ने अपनी भक्ति से मुझे सन्तुष्ट किया, तब मैंने यह प्रतिमा उसे दे दी। वह नित्य इस की भक्तिपूर्वक पूजा किया करता था। मथुरा में लवणासुर का वध हुआ, तब वहाँ उक्त प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई। कपिल नामक भक्त ब्रह्मर्षि ने इस शुभ वराह-प्रतिमा का अपने मन से निर्माण किया था। वह सदा इसकी पूजा किया करता। इन्द्र ने कपिल मुनि को प्रसन्न किया, जिस से उस ने यह दिव्य प्रतिमा सुरराज को दे दी। उस की नियमपूर्वक पूजा करने से इन्द्र को दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। फिर बहुत समय बीतने पर एक बार रावण स्वर्ग-विजय के लिए इन्द्रलोक को गया, जहाँ उस ने युद्ध में इन्द्र सहित सब देवताओं को जीत लिया। इन्द्र को वन्दी कर रावण ने उस के रत्न-भूषित भवन में प्रवेश किया। वहाँ उक्त वराह-प्रतिमा को देखते ही उसे सम्मोह हो गया। उसे प्रसन्न करने के लिए वह नाना प्रकार से स्तुति करने लगा। तब भगवान् जनार्दन ने सौम्य रूप धारण किया। लौटते समय पुष्पक विमान में बैठ कर रावण ने उक्त प्रतिमा को अपने साथ ले जाना चाहा, किन्तु वह अपने स्थान से नहीं हटी। इस पर रावण विस्मयपूर्वक सोचने लगा कि पूर्वकाल में भगवान् शङ्कर के साथ उस ने कैलास को उठा लिया था; किन्तु इस बार एक साधारण सी प्रतिमा को भी अपने स्थान से न हिला सका! तब कपिलवराह ने रावण से कहा कि हे राक्षस! तू तो अवैष्णव है, तुझ में इतनी शक्ति कहाँ से आई? इतने में रावण ने प्रतिमा के दर्शन से अपने में भक्ति का सञ्चार होना प्रकट किया। रावण की भक्ति से उस का रूप छोटा हो गया। फिर रावण उसे लङ्का में ला कर उस का नित्य पूजन करने लगा। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ने रावण को मार कर लङ्का में विभीषण का राज्याभिषेक किया, तब वह प्रतिमा विभीषण से माँग ली। रामचन्द्र उसे अयोध्या ले गए। अयोध्या में उस की स्थापना हुई; वहाँ उसका नित्य पूजन होता था। इस तरह १०१० वर्ष बीत गए। फिर लवण का वध करने के लिए राम ने शत्रुघ्न को चतुरङ्गिणी सेना के साथ मथुरा भेजा। लवणासुर को मार कर शत्रुघ्न ने मथुरा में प्रवेश किया। लवण-वध सुन कर श्रीरामचन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और उन्हों ने शत्रुघ्न से वर माँगने को कहा। शत्रुघ्न ने वराह भगवान् की याचना की, तब राम ने उन्हें उसे मथुरा ले जाने की अनुमति दी। तदनन्तर शत्रुघ्न ने उसे मथुरा में स्थापित किया।

इस कथा के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि पुराणोक्त स्थल-माहात्म्य प्रायः पीछे से क्षेपक-रूप में जोड़े गए हैं। वैसे तो कई पुराण अधिक प्राचीन नहीं हैं, और वराहपुराण की भी उन में गणना होती है। मथुरा के सम्बन्ध में परिश्रम-पूर्वक ग्रन्थ-निर्माण करने वाले हिन्दी-प्रेमी कलैक्टर ग्राउज़ साहब के मतानुसार मथुरामाहात्म्य क्षेपक-अंश है[1]; उन का यह मत असङ्गत नहीं प्रतीत होता। ऐसी दशा में कपिलवराह की कथा में सत्यांश कितना है, यह प्रश्न हम विज्ञ पाठकों के निर्णय के लिए छोड़ते हैं। अस्तु।

यह पहले बतलाया गया है कि विष्णु के राम, कृष्ण आदि अवतारों की तरह वराह अवतार में भी हिन्दू-धर्मावलम्बियों की पर्याप्त श्रद्धा थी और जनता में भक्ति-पूर्वक वराह-पूजन होता था। इतिहास से पता चलता है कि इस देश में अनेक वराह-भक्त राजा थे। जिस तरह परमारों का कुल-चिह्न गरुड़ है, उसी प्रकार दक्षिण के चालुक्यों और विजयनगर के राजवंश का राजचिह्न वराह था। इन वंशों के राजाओं के दानपत्रों पर लगी हुई मुहरों में वराह

---

[1] मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेमॉयर (द्वितीय संस्क०), पृ० ७४।

देख पड़ता है[१]; इतना ही नहीं किन्तु इन के दानपत्रों के प्रारम्भ में वराह-स्तुति भी मिलती है, जिस के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं। बम्बई प्रान्त के थाना ज़िले के सञ्जान नामक स्थान से प्राप्त पश्चिमी चालुक्यवंशी राजा बुद्धवर्ष के दानपत्र के आरम्भ में 'ॐ भ्रमरसङ्काशकायं भीषणरक्तांतलोच......शिखण्डानतं जयतु सदा वराहरूपम्'[२] लिख कर वराह-स्तुति की गई है, और उसी ताम्रलेख की पाँचवीं पंक्ति के 'प्रत्ययो वराहलाञ्छनं च चालुक्यानाम्' इस वाक्य-खण्ड से हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। मद्रास प्रान्त के कृष्णा ज़िले के पोलमोरू स्थान से मिले हुए पूर्वी चालुक्यवंशी राजा बादप के दानपत्र का 'भगवन्नारायणप्रसादसमासादितवराहलाञ्छनेक्षणक्षणवशीकृतारातिमण्डलानां......चालुक्यानां कुलमलंकरिष्णोः[३] (पंक्ति १-४), यह वाक्य भी हमारे कथन का पोषक है। बम्बई प्रान्त में धारवाड़ ज़िले के सूड़ी गाँव के जोड़ुकलशदगुडि नामक मन्दिर में लगे हुए दक्षिण के पश्चिमी चालुक्यवंशी राजा सोमेश्वर प्रथम के शक संवत् ९८१ के शिलालेख के प्रारम्भ में वराह-स्तुति करते हुए लिखा है—

जयत्याविष्कृतं विष्णोर्व्वाराहं क्षोभितार्ण्णवम्।
दक्षिणोन्नतदंष्ट्राग्रविश्रान्तभुवनं वपुः[४] ॥

श्रीरङ्गम् के सुप्रसिद्ध रङ्गनाथ स्वामी के मन्दिर में सुरक्षित तेलङ्ग देश के राजा मुम्मडिनायक के शक संवत् १२३० के दानपत्र के प्रारम्भ में वराह अवतार के सम्बन्ध में ये श्लोक[५] हैं—

---

[१] गैज़ेटियर ऑव् दि बाम्बे प्रेसिडेंसी (कैंबेल-सम्पा०), जि० १, भाग २, पृ० २९९, टि० ४, पृ० ३३८। ए० इं० जि० १३, पृ० १२२।

वराहाङ्कित मुहर के सम्बन्ध में दे० पूर्वी चालुक्य राजा अम्मराज दूसरे की मुहर—इं० आ०, जि० ७, पृ० १२० के सामने का चित्र।

मध्यभारत के सीतामऊ राज्य के राजचिह्न में भी दो वराह अङ्कित हैं। सिन्धु देश के राजा जयद्रथ की ध्वजा में वराह अङ्कित होने से वह वराहध्वज कहलाता था—

वराहः सिन्धुराजस्य राजतोऽभिविराजते।
ध्वजाग्रे लोहिताङ्गाभो हेमजालपरिष्कृतः ॥ २० ॥
शुशुभे केतुना तेन राजतेन जयद्रथः।... ॥ २१ ॥

म० भा० (कुम्भकोणम्-संस्क०), द्रोणपर्व, अ० १०५।

[२] ए० इं०, जि० १४, पृ० १४९।

[३] वही, जि० १९, पृ० १४१। इस से बहुत मिलती-जुलती भाषा के लिए दे० सन् ६१२ ई० का हैदराबाद से मिला हुआ पुलिकेशी द्वितीय का दानपत्र (इं० आ०, जि० ६, पृ० ७४)।

[४] ए० इं०, जि० १५, पृ० ८७। दक्षिण के चालुक्यों के अनेक लेखों में यह श्लोक मिलता है। स्थानाभाव-वश अब तक प्राप्त तत्सम्बन्धी सब लेखों का उल्लेख न कर यहाँ केवल इस के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) मिरज राज्य (दक्षिण भारत) में कौठेम नामक क़स्बे से प्राप्त पश्चिमी चालुक्य राजा विक्रमादित्य पाँचवें (त्रिभुवनमल्ल) का शक संवत् ९३० का दानपत्र (पं० १)—इं० आ०, जि० १६, पृ० २१।

(२) बम्बई प्रान्त के धारवाड़ ज़िले के हङ्गल तालुके के करगुदरी गाँव में लगे हुए पश्चिमी चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य छठे और उसके सामन्त वनवासी के महामण्डलेश्वर तैलप दूसरे का कनडी भाषा का शिलालेख (दूसरा श्लोक)—इं० आ०, जि० १०, पृ० २५१।

(३) पश्चिमी चालुक्य महाराजाधिराज विनयादित्य सत्याश्रय के राज्यकाल के ११ वें वर्ष का करनूल ज़िले से प्राप्त दानपत्र (पहला श्लोक)—इं० आ०, जि० ६, पृ० ८६।

इस सम्बन्ध में विशेष परिचय के लिए दे०, इं० आ, जि० ९, पृ० १२४, १२६, १३० और १३३।

[५] ए० इं०, जि० १४, पृ० ९०, श्लो० २-३।

श्वेतः शुभं दिशतु शश्वदसौ वराहः पातालसद्मनि तमोगहने रहो यः।
औत्सुक्यनुंनधृतिरुद्वहनोत्सवात् प्राक् दन्तेन किंचिदद्रुनोदधरं धरायाः॥
तदाख्ययैव प्रथितेऽत्र कल्पे मन्वन्तरे सप्तम आगतेस्मिन्।
बहुष्वतीतेषु चतुर्युगेषु कलिं विदुः संप्रति वर्तमानम्॥

विजयनगर के हिन्दू-राजवंश के अनेक राजाओं के ताम्रलेखों के प्रारम्भ में, विष्णु के इस अवतार की स्तुति में, भिन्न-भिन्न[1] श्लोक पाए जाते हैं।

दक्षिण के चालुक्यवंशी राजाओं के सोने और ताँबे के सिक्कों पर वराह पाया जाता है। इस सम्बन्ध में पूर्वी चालुक्यवंशी शक्तिवर्मा (सन् १०००-१०१२ ई०) और राजराज (सन् १०१२-१०६२ ई०) के सोने के सिक्के उल्लेखनीय हैं[2]। चाँदी के 'वराह' का—इस सिक्के का यह नाम वराह अवतार के अङ्कित होने के कारण जान पड़ता है[3] —मूल्य लगभग ३½ रु० के बराबर माना जाता है[4]।

---

[1] (१) ओंकाराकारदंष्ट्राय क्रीडते श्रुतिपल्वले।
स्थिरान्धारयते शक्तिं नमः प्रथमपोत्रिणे॥ १॥

विरूपाक्ष का शक संवत् १३०५ का आलंपुण्डि से मिला हुआ दानपत्र, ए० इं०, जि० ३, पृ० २२६।

(२) हरेर्लीलावराहस्य दंष्ट्रादण्डः स पातु वः।
हेमाद्रिकलशा यत्र धात्रीच्छत्रश्रियं दधौ॥

कञ्जीवरम् (मद्रास प्रान्त) से प्राप्त राजा कृष्णदेवराय का शक संवत् १४४४ का दानपत्र, पं० २-४, ए० इं०, जि० १३, पृ० १२६।

यह श्लोक विजयनगर के राजाओं के अनेक दानपत्रों के आरम्भ में मिलता है, जिसके कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

(क) मद्रास प्रान्त के चिङ्गलपट ज़िले के उदयंबाकम् गाँव से मिले हुए विजयनगर के दूसरे राजवंश के राजा कृष्णदेवराय का शक संवत् १४५० का दानपत्र, पं० २-३, ए० इं०, जि० १४, पृ० १७०।

(ख) सदाशिवराय का शक संवत् १४७३ का दानपत्र, पं० २-३, ए० इं०, जि० १४, पृ० २१६-१७।

(ग) विजयनगर के तीसरे राजवंश के राजा तिरुमल प्रथम के राज्य-काल का, शक संवत् १४९३ का, पेनगुलुरु गाँव (कडप्पा ज़िला मद्रास प्रान्त) से प्राप्त दानपत्र, पं० २-४, ए० इं०, जि० १६, पृ० २४७।

(३) सम्पत्तिं श्रीवराहो वः सम्पादयतु भूयसीम्।
सामोदामुद्वहन् भूमिं समुद्रसलिलाप्लुताम्॥

विजयनगर के पहले राजवंश के राजा विजयभूपति का दण्डपल्ली (चित्तूर ज़िला, मद्रास प्रान्त) से मिला हुआ शक संवत् १३३२ का दानपत्र, पं० ३-६, ए० इं०, जि० १४, पृ० ७१।

(४) अत्युज्ज्वलमुदारांगं घृष्टिकायं बिभर्ति यः।
स पायादखिलं विश्वं विष्णुरेपः सनातनः॥

श्रीशैलम् से मिले हुए विजयनगर के प्रथम राजवंश के राजा विरूपाक्ष का शक संवत १३८८ का दानपत्र, ए० इं०, जि० १५, पृ० २०।

[2] ब्राउन—दि कॉइन्स ऑव् इंडिया, पृ० ५९ और प्लेट ७, संख्या ४ का सिक्का। सर वॉल्टर इलियट्—कॉइन्स ऑव् सदर्न इंडिया (दि इंटरनेशनल न्युमिस्मेटा ओरिएंटेलिया में प्रकाशित), पृ० १५२ डो और प्लेट ३, ७९-८६ संख्या तक के सिक्के।

[3] ब्राउन—कॉइन्स ऑव् इंडिया, पृ० ५७, टिप्पणी १। ए० इं०, जि० ४, पृ० ५८, टिप्पणी १।

[4] ए० इं०, जि० ८, पृ० १३०।

प्राचीन काल में वराह-पूजा का पर्याप्त प्रचार था और जनता में विष्णु के इस अवतार के लिए बहुत भक्ति थी, यह इसी से स्पष्ट है कि जिस प्रकार आजकल रामसिंह, रामदास, कृष्णसिंह, नरसिंहदास, वामनराव, बुद्धसिंह, परशुराम आदि विष्णुवाचक नामों के साथ विष्णु के इन अवतारों का सम्बन्ध है, उसी तरह प्राचीन काल में अनेक पुरुषों के साथ वराह नाम जुड़ा रहता था। कतिपय राजाओं के नामों के अन्त में भी वराह शब्द देख पड़ता है। कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहार राजा भोजदेव (सन् ८४३-८८१ ई०) का दूसरा नाम आदिवराह था। इस के चाँदी और ताँबे के सिक्कों में एक तरफ़ 'श्रीमदादिवराहदेव' लेख और दूसरी ओर वराह (नृवराह) बना हुआ है[1]। कामरूप (आसाम) के राजा इन्द्रपाल के गौहाटी से मिले हुए दानपत्र से जान पड़ता है कि वहाँ के राजा रत्नपाल का विरुद श्रीवराह[2] था। ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी में काठियावाड़ के वर्द्धमानपुर (बढ़वान) में चापवंशी धरणीवराह[3] राज्य करता था। अनङ्ग नामक राजा के बुलन्दशहर से मिले हुए वि० सं० १२२३ के दानपत्र में भी धरणीवराह[4] नामक एक शासक का नाम मिलता है। बीजापुर (जोधपुर राज्य) से प्राप्त हस्तिकुण्डी (हथुण्डी) के राष्ट्रकूट-वंशी धवल के वि० सं० १०५३ के शिलालेख में उस के समकालीन शासकों में धरणीवराह[5] नामक राजा का उल्लेख है। जिनसेन-रचित दिगम्बर जैन हरिवंशपुराण में दक्षिण के राष्ट्रकूट-वंशी गोविन्द तृतीय के समकालीन राजाओं का निर्देश करते हुए पश्चिम में वराह (जयवराह) नामक राजा[6] बतलाया गया है।

प्राचीन भारत में राजाओं के सिवा साधारण व्यक्तियों के नामों में भी 'वराह' का प्रचुर प्रयोग देख पड़ता है। गुप्तकालीन भारत के ज्योतिषी वराहमिहिर का नाम भारत भर में प्रसिद्ध है। वराह नामक एक प्राचीन विद्वान् ने गृह्यसूत्रों और श्रौतसूत्रों की रचना की; उस के ग्रन्थ कुछ समय पूर्व प्रकाश में आए हैं। शाश्वत (आठवीं शताब्दी) नामक कोषकार ने अपने संस्कृत कोष 'अनेकार्थसमुच्चय' के अन्त में वराह नामक एक समसामयिक विद्वान् का उल्लेख[7] किया है। इस के सिवा 'ज्योतिषरत्न'-प्रणेता वराहशर्मन्[8], व्याकरण-सम्बन्धी

---

[1] वी० ए० स्मिथ—कै० सं० सि० सु०, जि० १, पृ० २४१-४२ और प्लेट २५, चित्र-संख्या १८। रैप्सन—भा० मु०, प्लेट ५, संख्या ५।

[2] ज० ए० सो० बं०, जि० ६६, पृ० १८। हेमचन्द्र राय—डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑव् नॉर्दर्न इंडिया, कलकत्ता, १९२७, जि० १, पृ० २५३।

[3] इं० आ०, जि० १२, पृ० १९४-९५।

[4] ज० ए० सो० बं०, जि० ३८, भाग १, पृ० २६। कीलहॉर्न—ए लिस्ट ऑव् दि इन्स्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया, संख्या १७०।

[5] कीलहॉर्न—ए लिस्ट ऑव् दि इन्स्क्रिप्शन्स ऑव् नार्दर्न इंडिया, संख्या ५३।

[6] ...पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्साधिराजेऽपराम् ।
सौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥

गैज़ेटियर ऑव् दि बॉम्बे प्रेसिडेंसी, जि० १, भाग २, पृ० १९७, टिप्पण २ और पृ० ३९४—९५। इं० आ,० जि० १५, पृ० १४२।

[7] महाबलेन कविना वराहेण च धीमता ।
सह सम्यक्परामृश्य निर्मितोयं प्रयत्नतः ॥८०७ ॥
शाश्वतकोश (कृष्णाजी-गोविंद ओक-सम्पा०), पृ० ९०।

[8] आफ्रेक्ट—कैटेलॉगस् कैटेलॉगरम्, जि० १, पृ० ५५२।

'प्रयोगसंग्रहविवेक' के रचयिता वराह पण्डित[1], गृह्यसूत्रव्याख्याता वराहदेव स्वामी[2] और ज्योतिष की 'प्रश्नचूड़ामणि' के कर्ता वराह मिश्र[3] के नाम भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। वराह नाम-युक्त ग्रन्थों में वराहपुराण, वराहसंहिता, वराहस्फुट और वराहोपनिषद्[4] आदि का निर्देश किया जा सकता है।

मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा अपराजित ने महाराज वराहसिंह[5] को अपना सेनापति नियुक्त किया था। अजण्टा मे प्राप्त एक खण्डित शिलालेख में वाकाटकवंशी राजाओं के वराहदेव[6] नामक मन्त्री का उल्लेख मिलता है। पालीताणा से मिले हुए गारुलकवंशी सामन्त सिंहादित्य के वलभी-संवत् २२५ (सन् ५७४ ई०) के दानपत्र में उस वंश के सेनापति वराहदास प्रथम और उस के पुत्र सामन्त महाराज वराहदास[7] का नामोल्लेख है। इस के सिवा प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य में वराह[8], वराहदत्त[9],

---

[1] आफ्रेक्ट—कैटैलोगस् कैटैलॉगरम्, जि० १, पृ० ५५२।

[2] वही; पृ० ५५२।

[3] वही; जि० ३, पृ० ११७।

[4] इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में दे० वही; पृ० ५५२–५३।

[5] राजा श्रीगुहिलान्वयामलपयोराशौ स्फुरद्दीधिति...
श्रीमानित्यपराजितः चितिभृतामभ्यर्चितो मूर्धनि...॥ ३ ॥
शिवात्मजो खण्डितशक्तिसंप-
द्धुर्यः समाक्रान्तभुजङ्गशत्रुः।
तेनेन्द्रवत्स्कन्द इव प्रणेता
वृतो महाराजवराहसिंहः ॥ ४ ॥

राजा अपराजित का वि० सं० ७१८ का उदयपुर का शिलालेख (ए० इं०, जि० ४, पृ० ३१)।

[6] आ० स० प० भा०, जि० ४, पृ० १२४। कीलहॉर्न—ए लिस्ट ऑव् दि इन्स्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया, संख्या ६२२। सिस्टर निवेदिता—फ़ुटफ़ॉल्स इन इंडियन हिस्ट्री, पृ० ७१।

[7] ए० इं०, जि० ८, पृ० १७–१८।

[8] (१) भूति के पुत्र वराह का राजतरङ्गिणी में उल्लेख मिलता है—

प्रसादपालवैश्यस्य गौरीशत्रिदशालये।
भूतेर्हलधरो वज्रो वराहश्चाभवन्सुताः ॥ २०७ ॥

सातवाँ तरङ्ग (स्टाइन-सम्पा० संस्क०)।

(२) बोधिसत्त्व वराह का कथा-सरित्सागर में उल्लेख है और वहाँ उस की कथा भी है—

पुरा गुहायां विन्ध्याद्रावासीद्बुद्धांशसम्भवः।
वराहः कोऽपि सुहृदां मर्कटेन समं सुधीः ॥ १२१ ॥

निर्णयसागर-संस्क०, तरङ्ग ७२, पृ० ३७८।

(३) जैनों के नवें तीर्थङ्कर का पहला गणधर वराह है और तेरहवें का लाञ्छन भी वराह ही है। इस सम्बन्ध में दे०—मुनि रत्नचन्द्रजी महाराज द्वारा सम्पा० बृहत् 'सचित्र अर्धमागधी कोष', जि० ४, पृ० ३५२-५३।

[9] युक्तप्रान्त के अल्मोड़ा ज़िले के तालेश्वर नामक स्थान से मिले हुए विष्णुवर्मन के दानपत्र के दूतक का नाम वराहदत्त है—

दूतकः प्रमातारवराहदत्तः (पं० २८)—ए० इं०, जि० १३, पृ० १२०।

वराहदेव[१], वराहगुप्त[२], वराहतीर्थ[३], वराहदेव शर्मा[४], वराहस्वामी[५], वराहरात[६] और वराहदिन्न[७] आदि व्यक्तियों का भी पता चलता है।

लेख समाप्त करने के पूर्व यहाँ वराह अवतार-सम्बन्धी कुछ अन्य ज्ञातव्य बातों का थोड़ा सा परिचय आवश्यक है। वराह अवतार का जिस समय प्रादुर्भाव हुआ, तब से आरम्भ होने वाला कल्प वाराह (या श्वेत वराह)-कल्प[८] कहलाता है। अब तक यही कल्प चल रहा है; इस में इस समय सातवाँ (वैवस्वत) मन्वन्तर है। माघ मास की शुक्ल पक्ष की द्वादशी को वराहद्वादशी[९] कहते हैं। उस दिन वराह अवतार के उपलक्ष्य में वराह-मन्दिरों में उत्सव होता है। यह विष्णु के वराह अवतार ग्रहण करने की तिथि जान पड़ती है। वराहाङ्कित सिक्कों का, जिन्हें 'वराह'[१०] कहते हैं, पहले उल्लेख हो चुका है। वराह की देवीरूप शक्ति को

---

१. राजतरङ्गिणी में वराहदेव नामक द्वाराधिकारी (ड्योढ़ी के दारोग़ा) का उल्लेख है—

तेन सर्वाधिकारेषु जयानन्दो नियोजितः।
द्वारे वराहदेवश्च वितस्तात्रपुरोद्भवः ॥३६४॥
सातवाँ तरङ्ग।

२. श्रीचन्द्रदेव के रामपाल (बङ्गाल में) से मिले हुए दानपत्र में दानभोगी व्यक्ति के दादा (पितामह) का नाम वराहगुप्त है—

वराहगुप्तपौत्राय सुमंगलगुप्तस्य पुत्राय शान्तिवारिकश्रीपीतवासगुप्तशर्मणे...(पं० २७-२८)
ए० इं०, जि० १२, पृ० १३९।

३. दक्षिण भारत के सैादे नामक स्थान के मठ में प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् मध्वाचार्य की शिष्य-परम्परा की जो नामावली सुरक्षित है, उस में मध्वाचार्य की शिष्य-परम्परा में आठवें पुरुष का नाम वराहतीर्थ है (ए० इं०, जि० १२, पृ० ३४६, टिप्पण ४)।

४. बङ्गाल के बर्दवान ज़िले में नैहाटी से मिले हुए सेनवंशी राजा बल्लालसेन के ११वें राज्यवर्ष के दानपत्र में दानभोगी आचार्य श्रीवासुदेवशर्मा के प्रपितामह का नाम वराहदेवशर्मा है—

वराहदेवशर्म्मणः प्रपौत्राय (पं० ४९)—ए० इं०, जि० १४, पृ० १६१।

५. बङ्गाल के राजशाही ज़िले में धनैदह गाँव से मिले हुए गुप्तवंशी कुमारगुप्त प्रथम के, गुप्त संवत् ११३ के, दानपत्र में वराहस्वामी नामक किसी सामवेदी ब्राह्मण को दान दिए जाने का उल्लेख है—

आतृकटकवास्तव्य-छन्दोगब्राह्मणवराहस्वामिने दत्तं (पं० १२)—ए० इं०, जि० १७, पृ० ३४७।

६. मुँगेर (बङ्गाल) से प्राप्त पालवंशी राजा देवपाल के राज्यकाल के ३३वें वर्ष के दानपत्र में दानभोगी के पिता का नाम भट्ट वराहरात है—वेदार्थविदो यज्वनो भट्टविश्वरातस्य पौत्राय विद्यावदातचेतसो भट्ट श्रीवराहरातस्य पुत्राय......भट्टप्रवर बीहेकरातमिश्राय शासनीकृत्य प्रतिपादितः (पं० ४२—४४)—ए० इं०, जि० १८, पृ० ३०६।

७. बघेलखण्ड के सोहावल क़स्बे से प्राप्त उच्छकल्प के महाराज शर्वनाथ के गुप्त संवत् १९१ के दानपत्र के लेखक, महासान्धिविग्रहिक मनोरथ, के पिता का वराहदिन्न (संस्कृत—वराहदत्त) नाम मिलता है—

लिखितं संवत्सरशते एकनवत्युत्तरे...भोगिकवराहदिन्नपुत्रेण महासान्धिविग्रहिकमनोरथेन (पं० २७-३०)—ए० इं०, जि० १९, पृ० १३०।

८. सनातनधर्मावलम्बियों के स्नान आदि के सङ्कल्प में 'श्वेतवाराहकल्पे' का उच्चारण होता है।

९. सर मोनियर-विलियम्स—ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनेरी (नवीन संस्क०), पृ० ९२३।

१०. कञ्जीवरम् (मद्रास प्रान्त) के शारदा मठ के आचार्य महादेवेन्द्र सरस्वती के शक संवत् १६०८ के दानपत्र में रामाशास्त्री को अन्य दानों के साथ दो वराह (क़रीब ७ रु०) प्रतिवर्ष दिए जाने का उल्लेख है। ए० इं०, जि० १४, पृ० ३५४ और ३५९।

वाराही कहते हैं और उस की सप्तमातृकाओं[१] में गणना होती है। इस की भी प्रतिमाएँ यत्र-तत्र मिलती हैं। अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् में भी वाराही की एक प्रतिमा है।

वराह-भक्ति से प्रेरित हो कर कई एक प्राचीन विद्वानों ने वराह अवतार की स्तुति अथवा उस के द्वारा पृथ्वी के उद्धार का उल्लेख किया है, जिन में कविकुलगुरु कालिदास[२], जयदेव[३], जीवक[४], बाणभट्ट[५], मनोरथ[६], मातङ्गदिवाकर[७],

---

१. ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
माहेन्द्री चैव वाराही चामुण्डा सप्त मातरः॥

२. रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव॥

रघुवंश, सर्ग १३, श्लोक ८।

३. वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना
शशिनि कलङ्ककलेव निमग्ना।
केशव धृतशूकररूप जय जगदीश हरे॥ ३॥

गीतगोविन्द, सर्ग १।

४. मेरुरुकेसरमुदारदिगन्तपत्त्रमामूललम्बिचलशेषशरीरनालम्।
येनोद्धृतं कुवलयं सलिलात्सलीलमुत्तंसकार्थमिव पातु स वो वराहः॥

वल्लभदेव-सङ्कलित सुभाषितावलि (डॉ० पीटर्सन-सम्पा०), संख्या ५४।

५. (१) क्वचित्प्रलयवेलेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरणिमण्डला—कादम्बरी (निर्णयसागर-संस्क०), पृ० १४० (विन्ध्याटवी के प्रसंग में)।

(२) आदिवराहसमुद्धृतधरामण्डलस्थानमिव जलपूरितम्—कादम्बरी (पम्पासर-वर्णन), पृ० ४४-४५।

(३) असुरारिमिव प्रकटितनरहरिवराहरूपम्—कादम्बरी, पृ० ८०।

६. क्वेदानीं दर्पितास्ते घनमदमदिरामोदिनो दिग्द्विपेन्द्रा
हे मेरो मन्दराद्रे मलय हिमगिरे साधु वः क्ष्माधरत्वम्।
शेष श्लाघ्योसि दीर्घैः पृथुभवनभरोच्चण्डशौण्डैः शिरोभिः
शंसन्सोत्प्रासमुच्चैरिति धरणिभृतः पातु युष्मान्वराहः॥

सुभाषितावलि, श्लोक ५८।

७. पातु वो मेदिनीदोला बालेन्दुद्युतितस्करी।
दंष्ट्रा महावराहस्य पातालगृहदीपिका॥

सुभाषितावलि, ३०।

वराहमिहिर[1], विभूतिबल[2], विभूतिमाधव[3], विशाखदत्त[4], व्यास[5], सोन्नोक[6] और हनूमत्[7] आदि उल्लेखनीय हैं। इन के सिवा 'सुभाषितरत्नभाण्डागारम्' में वराह-स्तुति के कई श्लोक[8] दिए गए हैं जिन के लेखकों का पता नहीं चलता।

---

[1] लीने श्रोत्रैकदेशे नभसि नयनयोस्तेजसि क्वापि याते
श्वासग्रासोपयुक्ते मरुति जलनिधौ पायुरन्ध्रार्धपीते।
पोत्रप्रान्तैकरोमान्तरविवरगतां मृग्यतः शार्ङ्गपाणेः
क्रोडाकारस्य पृथ्वीमकलितविषयं वैभवं वः पुनातु॥
सुभाषितावलि, ५७।

[2] ...स्मृत्वा वराहवपुरिन्दुकलाप्रकाशः।
दंष्ट्रोद्धृतक्षिति हरेरवतु स्मितं वः॥
सुभाषितावलि, ३४।

[3] न मृन्दीयान्मृद्वी कथमिव मही पोत्रनिकषै-
र्मुखाग्निज्वालाभिः कनकगिरिरीयान्न विलयम्।
न शुष्येयुः श्वासैः सलिलनिधयः सप्त च कथं
वराहो वः पायादिति विपुलचिन्तापरिकरः॥
सुभाषितावलि, ५५।

[4] वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री॥
मुद्राराक्षस, अङ्क ७, श्लोक १९ (भरतवाक्य)।

[5] नमस्तस्मै वराहाय हेलयोद्धरते महीम्।
खुरमध्यगतो यस्य मेरुः खुरखुरायते॥
सुभाषितावलि, ७।

[6] देवो हरिर्जयति यज्ञवराहरूपः
सृष्टिस्थितिप्रलयकारणमेकमेव।
यस्योदरस्थितजगत्त्रयबीजकोश-
निर्गच्छदंकुरशिखेव विभाति दंष्ट्रा॥
कवीन्द्रवचनसमुच्चय (बिब्लियोथेका इंडिका में डॉ० थॉमस द्वारा सम्पा०), ४७

[7] न पङ्कैरालेपं कलयति धरित्रीव्ययभया-
त्समुस्तामादत्तोऽप्युरगनगरभ्रंशभयतः।
न धत्ते ब्रह्माण्डस्फुटनभयतो घर्घररवं
महाक्रोडः पायादिति सकलसङ्कोचितमुखः॥
सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ० १९, श्लो० २९। शार्ङ्गधरपद्धति, ८३।

[8] पृ० १९, श्लो० २३—४०।

राजपूत जाति

श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ, साहित्याचार्य, जोधपुर।

शास्त्रों से पता चलता है कि पहले आर्य जाति में किसी प्रकार का वर्ण-विभाग नहीं था। परन्तु कालान्तर में चार वर्णों की उत्पत्ति हुई। राजा भोज ने अपने "समराङ्गणसूत्रधार[1]" नामक ग्रन्थ में लिखा है—ब्रह्मा ने संसार में शान्ति बनाए रखने के लिए पृथु को पहला राजा बनाया और उस ने राज्य-प्रबन्ध के सुभीते और जाति की उन्नति के लिए चार वर्णों और चार आश्रमों की स्थापना की। उस समय देव-भक्त, शुद्ध आचार-विचार वाले, विद्वान् और गुणी पुरुष ब्राह्मण बनाए गए; बहादुर, उत्साही, बलिष्ठ और रक्षा करने में समर्थ क्षत्रिय हुए; चतुर, धन कमाने की इच्छा वाले, विश्वासी, फ़ुर्तीले और दया वाले वैश्य कहलाए और इज़्ज़त, धर्म, सचाई और पवित्रता के विचार से शून्य शूद्र बना दिए गए।

इस कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि पहले-पहल आर्य जाति में चारों वर्णों का विभाग गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार ही हुआ था[2]। जन्म से इस का कोई सम्बन्ध नहीं था।

इस विषय को यहीं समाप्त कर अब हम आर्य जाति के क्षत्रिय वर्ण के विषय में विचार करते हैं।

वैदिक और पौराणिक साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय वर्ण में भी सूर्यवंश और चन्द्रवंश नाम के दो विभाग हो गए थे। ग्रियर्सन साहब ने भारतीय आर्यों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं का अध्ययन कर उन का दो विभिन्न दलों में भारत में आना और इसी से दो भिन्न वंशों में विभक्त होना माना है। परन्तु कुछ काल बाद इस वर्ण में अग्निवंश नाम के तीसरे विभाग का उत्पन्न होना भी पाया जाता है[3]। पहले-पहल इस का उल्लेख वि० सं० की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बने पद्मगुप्त के 'नवसाहसाङ्कचरित' में मिलता है। उस में लिखा है कि—"आबू पर्वत पर रहने वाले वशिष्ठ ने, विश्वामित्र से अपनी गाय छीन लाने के लिए, अग्नि से एक वीर पुरुष उत्पन्न किया। वह वीर प र अर्थात् शत्रु को मार कर वशिष्ठ की गाय को वापिस ले आया इसी से

---

[1] अ० ७, श्लो० १-१७।

[2] चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

भगवद्गीता, अ० ४, श्लो० १३।

[3] वि० सं० ११६६ (ई० स० ११०९) के गोविन्दचन्द्र के लेख में लिखा है—

प्रध्वस्ते सूर्यसोमोद्भवविदितमहाक्षत्रवंशद्वयेऽस्मिन्
....।
....
उद्धर्तुं धर्ममार्गान् प्रथितमिह तथा क्षत्रवंशद्वयं च॥

इस से प्रकट होता है कि उस समय तक भी क्षत्रिय वर्ण में सूर्यवंश और चन्द्रवंश नाम के दो ही प्रसिद्ध विभाग माने जाते थे।

मुनि ने उस का नाम परमार रक्खा।" इस से अनुमान होता है कि विक्रम की नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में किसी वशिष्ठगोत्री ब्राह्मण ने किसी बौद्धमतानुयायी क्षत्रियवंश को, प्रायश्चित्त द्वारा, फिर से ब्राह्मण धर्म में दीक्षित कर अपनी सहायता के लिए तैयार किया होगा। परन्तु पद्मगुप्त के समकालीन हलायुध ने अपनी 'पिङ्गल-सूत्रवृत्ति' में इस वंश के राजा मुञ्ज को "ब्रह्मक्षत्रकुलीन"[1] लिखा है।

अग्निवंश का स्पष्ट उल्लेख 'पृथ्वीराजरासो' में पाया जाता है। उस में परमार, चालुक्य (सोलङ्की), पड़िहार (प्रतिहार) और चौहान वंशों का वशिष्ठ की अग्नि से उत्पन्न होना मान कर उन्हें अग्निवंशी कहा है। इसी के आधार पर डॉक्टर दे० रा० भाण्डारकर[2] आदि देशी और मिस्टर विं० आ० स्मिथ आदि विदेशी विद्वान् इन वंशों को आर्येतर-विदेशी (खिजर = गुर्जर) जाति की सन्तान अनुमान करते हैं और ब्राह्मणों का प्रायश्चित्त करवा कर इन्हें क्षत्रिय जाति में मिला लेना मानते हैं। परन्तु एक तो 'पृथ्वीराजरासो' में दिया पृथ्वीराज, उस के कुटुम्बियों और समकालीन नरेशों का अधिकांश हाल इतिहास के विरुद्ध सिद्ध होता है। दूसरा उस में मेवाड़-नरेश महारावल समरसिंह का वि० सं० १२४९ (ई० स० ११९२) में पृथ्वीराज की तरफ़ से लड़ कर मारा जाना लिखा है। परन्तु समरसिंह वि० सं० १३२४ (ई० स० १२६७) के बाद मेवाड़ की गद्दी पर बैठा था और वि० सं० १३५९ (ई० स० १३०२) में उस का देहान्त हुआ। तीसरा 'रासो' में भविष्य-कथन के तौर पर मेवाड़-नरेश का वि० सं० १६७७ के बाद दिल्ली-विजय करना भी लिखा है[3]। ऐसी हालतों में उस के लेख पर विश्वास कर लेना अनुचित ही है।

वास्तव में देखा जाय तो क्षत्रिय वर्ण के ये वंश-विभाग राजवंशों की प्राचीनता और महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए कवियों की कल्पना मात्र ही हैं। यदि ऐसा न होता तो भारत के सभी प्रसिद्ध राजाओं के शिला-लेखों और ताम्रपत्रों में उन के वंश का उल्लेख अवश्य मिलता। इस के अलावा यदि किसी वंश के नरेशों की प्रशस्तियों में उन के वंश का उल्लेख मिलता भी है तो उस में बड़ी गड़बड़ पाई जाती है। यदि एक स्थान पर एक वंश को सूर्यवंशी लिखा है तो दूसरे स्थान पर उसी को चन्द्रवंशी आदि लिख दिया है। परमारवंश के विषय में पहले लिखा जा चुका है। आगे कुछ अन्य वंशों के सम्बन्ध में अवतरण दिए जाते हैं।

चालुक्य (सोलङ्की) विक्रमादित्य छठे के वि० सं० ११३३ (ई० स० १०७६) के लेख में चालुक्य (सोलङ्की)-वंश को चन्द्रवंशी लिखा है। परन्तु 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में उस वंश को ब्रह्मा के चुल्लू से—और बिलहारी से मिले हैहय (कलचुरी) युवराजदेव द्वितीय के लेख में द्रोण के चुल्लू से—उत्पन्न हुआ माना है।

ग्वालियर से मिली प्रतिहार भोज[4] की प्रशस्ति में प्रतिहारों (पड़िहारों) को सूर्यवंशी लिखा है। परन्तु बाउक के वि० सं० ८९४ के लेख में उन की उत्पत्ति हरिश्चन्द्र नामक ब्राह्मण की क्षत्रिया स्त्री से बतलाई है[5]।

---

[1] कुछ विद्वान् इस विशेषण से इन का पहले 'वशिष्ठगोत्री' ब्राह्मण होना और बाद में क्षत्रियत्व ग्रहण करना अनुमान करते हैं। आजकल परमार-वंश वाले अपने को मालव-नरेश विक्रमादित्य के वंशज मानते हैं।

[2] इं० आ०, जि० ४०, पृ० ७-३६।

[3] सोरैसे सत्योतरै विक्रम साक वदीत। ढिल्लीधर मेवातपति लैंहि खग्ग बल जीत।

तीसरा समय, छ० ४४, पृ० २६५।

[4] इस का समय वि० सं० ९०० और ९५० (ई० स० ८४३ और ८९३) के बीच माना गया है।

[5] उसी में पहले प्रतिहार-वंश का लक्ष्मण से, जो अपने भाई रामचन्द्र का प्रतिहार (द्वारपाल) था, उत्पन्न होना ध्वनित किया है।

चौहान लुम्भा के आबू से मिले, वि० सं० १३७७ के, लेख में चौहानों को चन्द्रवंशी लिखा है। परन्तु वीसलदेव चतुर्थ के लेख में उन को सूर्यवंशी कहा है।

ऐसी हालत में देशी और विदेशी विद्वानों का 'पृथ्वीराजरासो' के आधार पर ही उपर्युक्त वंशों को अग्निवंशी मान कर विदेशी गुर्जरों (खिजरों) की सन्तान अनुमान करना उचित प्रतीत नहीं होता।

आगे राजपूतों को अनार्य जाति की सन्तान मानने वाले विद्वानों के दिए प्रमाणों पर विचार किया जाता है—

पूर्वपक्ष—'हरिवंशपुराण' में हैहय (कलचुरि)-वंशियों का यवनों, पारदों और काम्बोजों के साथ उल्लेख किया गया है। इस से हैहय क्षत्रिय विदेशी हैं[1]।

उत्तरपक्ष—परन्तु हैहयों की प्रशस्तियों में उन्हें चन्द्रवंशी लिखा है और पुराणों से भी उन का शुद्ध क्षत्रिय होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में उन का यवनों, पारदों और काम्बोजों के साथ उल्लेख होने से ही उन्हें विदेशी मान लेना ठीक नहीं है। इस के अलावा मनु ने तो यवनों, पारदों और काम्बोजों तक को क्षत्रिय माना है। वह लिखता है[2]:—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमा: क्षत्रियजातय:।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणाऽदर्शनेन च ॥ ४३ ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडा: काम्बोजा: यवना: शका:।
पारदा: पह्लवाश्चीना: किराता: दरदा: खशा: ॥ ४४ ॥

अर्थात् पौण्ड्रक, चौड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश नाम की क्षत्रिय जातियाँ धीरे-धीरे धार्मिक कर्मों को छोड़ देने और ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने से शूद्र समझी जाने लगीं।

पूर्वपक्ष—'हर्षचरित' में बाण ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन का हूणों के साथ ही गुर्जरों को जीतना लिखा है। इस से गुर्जरों का विदेशी होना और हूणों के साथ भारत में आना सिद्ध होता है।

उत्तरपक्ष—परन्तु वास्तव में बाणभट्ट की लिखी—"हूणहरिणकेसरी, सिन्धुराजज्वरो, गुर्जरप्रजागर:"[3] इस पंक्ति में गुर्जर शब्द से गुर्जर देश-निवासियों का तात्पर्य ही झलकता है। ऐसी हालत में इस स्थान पर गुर्जर (खिजर) जाति के विदेशी लोगों की कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता। इस के अलावा आज तक के प्राप्त इतिहास से भी विदेशी खिजिर जाति का भारत में आना सिद्ध नहीं होता।

पूर्वपक्ष—राजोर (अलवर राज्य) से मिले प्रतिहार मथनदेव के वि० सं० १०१६ (ई० स० ९६०) के लेख में मथनदेव को गुर्जर-प्रतिहार-वंशी लिखा है। इसी प्रकार दक्षिण के राष्ट्रकूटों की प्रशस्तियों में कन्नौज के प्रतिहारों को 'गुर्जरेश्वर' और अरबों की पुस्तकों में 'जुर्ज' लिखा है। इस से सिद्ध होता है कि प्रतिहार क्षत्रिय भी विदेशीय गुर्जरों की सन्तान थे।

उत्तरपक्ष—परन्तु वास्तव में वहाँ पर प्रतिहारों के गुर्जर जाति के होने का उल्लेख न हो कर उन के गुजरात के निवासी या गुजरात के शासक होने का उल्लेख है। उस समय राजपूताने का एक बड़ा भाग

---

[1] इं० आ०, भा० ४०, पृ० १६।

[2] अ० १०।

[3] उच्छ्वास २, पृ० २४३।

'गुर्जरत्रा'[1] या गुजरात के नाम से प्रसिद्ध था और उस की राजधानी भीनमाल थी[2]। सम्भव है, इसी से वहाँ के प्रतिहारों के लेखों में, कन्नौज के प्रतिहारों की शाखा से उन की भिन्नता प्रकट करने के लिए ही, उन के निवासस्थान का उल्लेख किया गया हो।

कन्नौज के प्रतिहारों ने चावड़ों[3] को हरा कर पहले अपना राज्य भीनमाल में स्थापित किया था। प्रतिहार नागभट प्रथम (नागावलोक) के सामन्त भर्तृवढ्ढ के, वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) के, दानपत्र से उस समय भड़ोच तक के प्रदेश का प्रतिहारों के अधीन होना प्रकट होता है। इस के बाद यहीं से जा कर इन्हों ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया था। ऐसी हालत में यदि राष्ट्रकूटों की प्रशस्तियों और अरब लेखकों की पुस्तकों में इन्हें गुर्जरेश्वर आदि लिखा है तो इस में आश्चर्य की कौन सी बात है।

पूर्वपक्ष—गुर्जरवंशी क्षत्रिय विदेशी खिजर जाति की सन्तान हैं। यह जाति, ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में, यूरोप और एशिया की सीमाओं के सङ्गम-स्थान पर रहती थी। कुछ लोग इस जाति का कनिष्क के समय और कुछ हूणों के आक्रमण के समय भारत में आना अनुमान करते हैं। इसी जाति के सम्बन्ध से इस के जीते हुए प्रदेश का नाम गुर्जर या गुजरात हुआ था।

उत्तरपक्ष—परन्तु एक तो, पहले लिखे अनुसार, आज तक के प्राप्त इतिहास से इस जाति का भारत में आना ही सिद्ध नहीं होता। दूसरा भड़ोच के गुर्जर नरेश जयभट तृतीय के, कलचुरी संवत् ४५६ (वि० सं० ७६२= ई० स० ७०५) के, ताम्रपत्र[4] में इस वंश को महाराज कर्ण की सन्तान लिखा है। तीसरा विक्रम की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आने वाले चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने भी गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल और वलभी के राजाओं को क्षत्रिय बतलाया है।

इसी प्रकार बड़गूजर भी क्षत्रिय हैं और उन का विवाह-सम्बन्ध अब तक उच्च कुल के क्षत्रियों में होता है[5]।

---

[1] प्रतिहार भोजदेव का वि० सं० ९०० का ताम्रपत्र।

ए० इं०, जि० ५, पृ० २११।

[2] हुएन्त्सांग का यात्रा-विवरण।

[3] कुछ विद्वान् चावड़ों को भी गुर्जर-वंश का मानते हैं। परन्तु लाट के चालुक्य (सोलङ्की) पुलकेशीराज के कलचुरी संवत् ४९० (वि० सं० ७९६ = ई० स० ७३९) के ताम्रपत्र में लिखा है—"सैराष्ट्र चावोटक मौर्य गुर्जरादि राज्ये"। इस से प्रकट होता है कि उस समय गुर्जर और चावड़े (चापोत्कट) दोनों भिन्न वंशी माने जाते थे।

बं० ग०, जि० १, ख० १, पृ० १०९।

[4] इं० आ०, जि० १३, पृ० ७७।

[5] यद्यपि प्राचीन काल में आर्य जाति के तीनों वर्णों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों में अनुलोम विवाह होते थे, तथापि अन्त में इस का निषेध कर दिया गया था। इस की पुष्टि आगे के अवतरणों से होती है—

ईसवी सन् से पूर्व की तीसरी शताब्दी में आने वाले ग्रीक लेखक मेगास्थनीस् ने लिखा है—कोई भी पुरुष न तो अपनी जाति से बाहर विवाह ही कर सकता है और न अपना पेशा ही बदल सकता है (मैक्क्रिंडल-कृत अँगरेज़ी अनुवाद, पृ० ८५-८६)।

ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने लिखा है—प्रत्येक जाति का पुरुष अपनी जाति में ही विवाह कर सकता है (हुएन्त्सांग का थॉमस वाटर्स कृत अनुवाद, जि० १, पृ० १६८)।

इस के अलावा यदा-कदा हो जाने वाले अनुलोम विवाहों की सन्तान माता के वंश की समझी जाने लगी थी। जैसे मारवाड़ के राठोड़ मूहण की क्षत्रिया स्त्री की सन्तान मूहणोत क्षत्रिय और वैश्या स्त्री की सन्तान मूहणोत वैश्य समझी जाती है।

पूर्वपक्ष—उत्तर-पश्चिमीय भारत से सासानी शैली के कुछ सिक्के मिले हैं। उन पर नागरी में "श्री वासुदेव वहमन" और पहलवी में "तकान ज़ाउलस्तान सपर्द लक्षान" लिखा है[1]। कुछ विद्वान् 'वहमन' को 'चाहमान' मान कर इस वासुदेव को चाहमान-वंश का सब से पहला ज्ञात नरेश मानते हैं और सिक्कों में के सपादलक्षान से हिमालय के सिवालक नाम से प्रसिद्ध पहाड़ी प्रदेश का तात्पर्य लेते हैं। उन का अनुमान है कि हूणों के साथ आने वाले गुर्जर (खिजर) जाति के लोग ही वहाँ जा कर बस गए थे। इस से चाहमानों के गुर्जर होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

ये सिक्के खुसरो द्वितीय (परवेज़) के सैंतीसवें राज्य-वर्ष के सिक्कों से मिलते हुए हैं। इसलिए चाहमानवंशी वासुदेव का समय ई० स० ६२७ (वि० स० ६८४) के क़रीब होना चाहिए।

उत्तरपक्ष—परन्तु इस विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। जनरल कनिंगहम इन सिक्कों में के वासुदेव को हूण-वंश का और मिस्टर रैप्सन सासानी-वंश का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार अन्य विद्वान् लेख में के कल्पित 'चाहमान' को 'वहमन' पढ़ते हैं।

इस के अलावा राजशेखर सूरि के बनाए 'प्रबन्धकोष'[2] के अन्त की वंशावली में चाहमान वासुदेव का समय वि० सं० ६०८ (ई० स० ५५१) लिखा है। इस समय में और उपर्युक्त सिक्कों के आधार पर स्थिर किए समय में ७६ वर्ष का अन्तर आता है।

चौहानों के इतिहास से ज्ञात होता है कि इस वासुदेव का सातवाँ वंशज गूवक (प्रथम) था। हर्षनाथ से मिले वि० सं० १०१३ के लेख में उस का, अपनी वीरता के कारण, नागावलोक की सभा में वीर की पदवी प्राप्त करना लिखा है। चौहान भर्तृवृद्ध के वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) के लेख में भर्तृवृद्ध को नागावलोक का सामन्त कहा है। इस से नागावलोक और गूवक का वि० सं० ८१३ के क़रीब विद्यमान होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में इस समय में से वासुदेव से गूवक तक के आठ राजाओं के लिए २०० वर्ष का समय निकाल देने से वासुदेव के राज्यारम्भ का समय 'प्रबन्धकोष' में दिए समय के निकट ही आता है।

फिर, चौहानों का राज्य पहले-पहल सिन्ध या मुलतान में न रह कर अहिच्छत्रपुर में रहा था और वहीं से ये शाकम्भरी (साँभर) की तरफ़ आए थे। चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने (जो वि० सं० ६९७=ई० स० ६४० के क़रीब भारत में आया था) अपने यात्रा-विवरण में इस नगर का वर्णन किया है और उसी के आधार पर जनरल कनिंगहम ने उस का बरेली से २० मील पश्चिम में आधुनिक रामनगर के पास होना माना है[3]। 'महाभारत' के अनुसार भी यह अहिच्छत्रपुर उत्तर पाञ्चाल देश की राजधानी था। रही सपादलक्ष प्रदेश के हिमालय में होने की बात। परन्तु विद्वान् लोग सपादलक्ष से सवा लाख पहाड़ों के सिलसिले वाले प्रदेश का अर्थ न ले कर सवा लाख गाँवों वाले प्रदेश का तात्पर्य लेते हैं[4], और चौहानों से शासित साँभर,

---

[1] इन में के अन्य प्रकार के सिक्कों पर पहलवी में "सफवसुतेफ (श्री वासुदेव) वहमन मुल्तान मल्का" लिखा है।

[2] यह कोष वि० सं० १४०५ (ई० स० १३४९) में बनाया गया था।

[3] रुहेलखण्ड के पूर्वी भाग में।

थोमस वाटर्स—हुएन्त्सांग, जि० १, पृ० ३३२; एंश्यंट, जियॉग्राफी ऑव् इंडिया, पृ० ३५९।

[4] 'स्कन्दपुराण' में (जिस का रचना-काल ईसवी सन् की नवीं शताब्दी अनुमान किया जाता है) सांभर, मेवाड़, कर्नाटक, आदि प्रदेशों में से प्रत्येक में सपादलक्ष (सवा-सवा लाख) गांव होना लिखा है।

कुमारखण्ड, अ० ३९, श्लो० १३९-१४०।

नागोर और अजमेर का प्रदेश इस समय भी सवालख के नाम से पुकारा जाता है। ऐसी हालत में चाहमानों का गुर्जर-वंशी होना और हिमालय की तरफ़ से राजपूताने में आना नहीं माना जा सकता।

यही हाल राष्ट्रकूट, गुहिल आदि अन्य चत्रिय जातियों का भी है। श्रीयुत विंसेंट स्मिथ आदि ने राजपूत जाति का ई० सन् की आठवीं या नवीं शताब्दी में एकाएक उत्पन्न होना मान कर उन का विदेशी या आर्येतर होना अनुमान किया है[1]। परन्तु उन का यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि ई० स० की पाँचवीं शताब्दी में दक्षिण में राष्ट्रकूटों का राज्य विद्यमान था और इसी शताब्दी के अन्तिम भाग में उस पर सोलङ्की जयसिंह ने अधिकार किया था। सोलङ्की त्रिलोचनपाल के, शक संवत् ९७२ (वि० सं० ११०७= ई० स० १०५१) के, ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि राष्ट्रकूटों के दक्षिण में जाने से पहले उन (राष्ट्रकूटों) का राज्य किसी समय कन्नौज में भी रह चुका था[2]।

इसी प्रकार मेवाड़ राज्य के इतिहास से गुहिल-वंश के संस्थापक गुहिल (गुहदत्त) का ई० सन् की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में और बापा रावल का ई० सन् की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मौजूद होना पाया जाता है।

अन्त में हम राजपूतों को अनार्य मानने वाले विद्वानों से एक बात पूछना चाहते हैं। वह यह कि यदि वास्तव में ही उन का अनुमान ठीक है तो आख़िर सुदीर्घ काल से भारत में राज्य करने वाले वे पुराने चत्रिय-वंश कहाँ और कैसे लुप्त हो गए ?

(१) यदि यह कहा जाय कि उन के बौद्ध या जैन मत ग्रहण कर लेने से उन का वर्ण नष्ट हो गया तो यह बात उचित नहीं प्रतीत होती; क्योंकि वैशाली के लिच्छवि चत्रियों के बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने और दक्षिण के राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष प्रथम के जैन मत ग्रहण कर लेने पर भी उन के वंशज चत्रिय ही बने रहे थे।

(२) यदि यह मान लिया जाय कि विदेशी आक्रमणकारियों ने चत्रिय वर्ण को समूल नष्ट कर दिया तो यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता; क्योंकि हूण नरेश मिहिरकुल के (वि० सं० ५९९=ई० स० ५४२ में) मरने के बाद से क़रीब पौने पाँच सौ वर्ष (अर्थात् महमूद ग़ज़नवी के पञ्जाब पर अधिकार करने) तक भारतवर्ष बाहरी आक्रमणों से बचा रहा था[3]। और लिच्छवि चत्रियों के वि० सं० ८११ (ई० स० ७५४) तक के मिले लेखों[4] से उन का उस समय तक भी विद्यमान होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में 'पाराशर स्मृति' के "कलावाद्यन्तयोः स्थितिः" इस वचन की दुहाई दे कर राजपूतों को अनार्य मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता।

---

[1] श्रीयुत वि० आ० स्मिथ का चन्देलों, राठोड़ों और गाहड़वालों को अनार्य गोंड, भर और खरवारों की सन्तान अनुमान करना भी प्रमाणशून्य ही है। चन्देलों के शिलालेखों में उन को चन्द्रवंशी लिखा है।

[2] कान्यकुब्जे महाराज ! राष्ट्रकूटस्यकन्यकाम् ।
लब्ध्वा सुखाय तस्यां त्वं चौलुक्याप्नुहि सन्ततिम् ॥ ६ ॥
ई० आ०, जि० १२, पृ० २०१।

[3] यद्यपि ई० सन् की आठवीं शताब्दी में अरबों ने सिन्ध विजय किया था, तथापि उन का प्रभाव भारत के अन्य प्रान्तों पर नहीं पड़ा था।

[4] ई० आ०, जि० ६, पृ० १६३, १६७।

राठोड़ राजवंश का मूल इतिहास

श्रीयुत जगदीशसिंह गहलोत, जोधपुर।

जोधपुर का प्रसिद्ध राजघराना राठोड़ राजवंश कहलाता है। क्षत्रियों के छत्तीस राजकुलों में राठोड़ों का राजवंश प्राचीन है। "आईन-अकबरी" से ज्ञात होता है कि सम्राट् अकबर की सेना में ६० हज़ार सवार और दो लाख पैदल राठोड़ थे[१]। कर्नल टॉड का मत है कि मुग़ल सम्राटों ने जितनी विजय प्राप्त की थी, उन में से अधिकांश का श्रेय राठोड़ों को था।

राजपूताना में प्रसिद्ध है कि—

बलहट-बङ्का देवड़ा, करतब बङ्का गौड़।
हाड़ा बङ्का गाढ़ माँ, रणबङ्का राठौड़॥

अर्थात् देवड़ा राजपूत बल और हठ में एक ही है, गौड़ अपने कर्तव्य में अपूर्व है, हाड़ा बदन से गठीला होने में लासानी है और राठोड़ रणक्षेत्र में अद्वितीय है।

व्रज देशां, चन्दन बड़ा, मेरु पहाड़ा मौड़।
गरुड़ खंगा लङ्का गढां, राजकुलां राठौड़॥

अर्थात् देशों में व्रज, वृक्षों में चन्दन, पहाड़ों में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़, किलों में लङ्का और राजकुलों में राठोड़ बड़े हैं।

राठोड़ों की उत्पत्ति के विषय में बड़ा मतभेद है। इन की ख्यात में लिखा है कि ये इन्द्र की रहट (रीढ़) से उत्पन्न हुए, इसलिए राठोड़ कहलाए[२]। एक मत है कि इन की कुलदेवी राष्ट्रसेना या राठाणी थी; उस के नाम से राष्ट्रकूट या राठोड़ कहलाए[३]। कहीं लिखा है कि इन का मूलपुरुष राष्ट्रकूट था, इस से ये राठोड़ प्रसिद्ध हुए[४]। दूसरी ओर राठोड़ों के बड़वा-भाट इन को दैत्यवंशी हिरण्यकशिपु की सन्तान बतलाते हैं[५]। कर्नल टॉड ने इन्हें भी राजपूतों के दूसरे वंशों की तरह उत्तर की ओर से आए हुए शक आदि अनार्यों की—जिन्हों ने हिन्दू-धर्म तथा सभ्यता स्वीकार कर ली थी—सन्तान लिखा है[६]। डॉ० विंसेंट स्मिथ और उस के लेखों की छाया पर निर्भर रहने वाले कुछ भारतीय विद्वानों का कहना है कि राठोड़, गाहड़वाल और चन्देल आदि प्रसिद्ध राजवंश

---

[१] आईन-अकबरी, जि० ३, पृ० ४४-४५।

[२] राजरत्नाकर, भा० १, तरङ्ग १, पृ० ८७।

[३] सर सुखदेव—दि राठोर्स, देयर ओरिजिन ऐंड ग्रोथ (१८९६ ई०), भूमिका, पृ० १।

[४] राजरत्नाकर, भा० १, तरङ्ग १, पृ० ८८; टॉड-राजस्थान, भाग १, पृ० १०५।

[५] टॉड-राजस्थान, जि० १; पृ० १०६; ए० इं०, जि० ५, पृ० २३।

[६] टॉड-राजस्थान, जि० १, पृ० ७३।

प्राचीन आर्य क्षत्रिय नहीं हैं; किन्तु ये गोंड, भर आदि जङ्गली असभ्य जातियों से निकले हैं और उन्हों ने अपनी उत्पत्ति सूर्य और चन्द्र से जा मिलाई[1]। कुछ लोगों का ऐसा भी अनुमान है कि राठोड़ दक्षिण के द्रविड हैं। परन्तु राठोड़ अपने को शुद्ध क्षत्रिय आर्य और अयोध्या के महाराजा रामचन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वंशज बतलाते हैं।

राठोड़ों का सबन्ध प्राचीन अभिलेखों और वाङ्मय के रठिकों या राष्ट्रिकों से, जिन के नाम से महाराष्ट्र देश का नाम पड़ा है, प्रतीत होता है। रठिकों का उल्लेख हम अशोक के समय से पाते हैं[2]।

वेरूळ की गुफाओं में खुदे लेखों में भी राष्ट्रकूट शब्द मिलता है[3]। कई विद्वान् यह मानते हैं कि राष्ट्रकूट या राठोड़ उत्तर भारत से दक्षिण में गए; परन्तु सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर और महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशङ्कर-हीराचन्द ओझा के मतानुसार राठोड़ों का मूलराज्य दक्षिण में था और वहाँ से उन्हों ने पीछे से गुजरात, राजपूताना, मध्यप्रदेश, मालवा, गया (पोठी) आदि प्रान्तों में राज्य स्थापित किए।

राठोड़ों का, सातवीं शताब्दी के पूर्व का, प्राचीन इतिहास अन्धकार में है। उत्तर भारत के राष्ट्रकूट राजा अभिमन्यु का ताम्रपत्र मिला है जिस में उंडिकवाटिका नामक ग्राम का दान देना सूचित होता है[4]। उस में संवत् नहीं है, परन्तु उस की लिपि सातवीं शताब्दी की अनुमान की जाती है[5]।

सिरूर[6] और नवसारी[7] से मिले शिलालेखों और ताम्रपत्रों में राष्ट्रकूट और रट्ट शब्द का प्रयोग किया गया है। मेवाड़ के महाराणा कुम्भा के बेटे रायमल की रानी और राव जोधा राठोड़ की पुत्री शृङ्गारदेवी की बनाई हुई घोसुंडी बावड़ी के सं० १५६१ वि० के शिलालेख में "राष्ट्रवर्य" शब्द तथा नाडोल (मारवाड़) के चौहान कीर्तिपाल के सं० १२१८ सावन सुदि १४ के ताम्रपत्र में "राष्टोड़" शब्द राठोड़ों के लिए मिलता है[8]। इसी राष्टोड़ शब्द से राठोड़ बन गया और यही आजकल प्रचलित है।

आजकल राठोड़ अपने को सूर्यवशी मानते हैं। राठोड़-राजवंश के प्रायः ९० प्राचीन शिलालेख और ताम्रपत्र दक्षिण गुजरात आदि से मिले हैं। इन में से वि० सं० ९१७ से १०६५ तक के ८ लेखों में राठोड़ों

---

[1] अ० हि० इं० (तृतीय संस्क०), पृ० ३२२।

[2] डॉ० बर्नेल रट्ट शब्द को तैलगू भाषा के रेड्डी शब्द का रूपान्तर मानते हैं, जो उस भाषा में वहाँ के आदिम निवासी किसानों के लिए प्रयुक्त होता है।

[3] केव टेंपलस् इन्स्क्रिप्शन्, पृ० १२।

[4] अर्ली हिस्ट्री ऑव् दि देकन, पृ० ४७।

[5] फ्लीट—बं० ग० १. २, पृ० ३४६ ; ए० इं०, जि० ८, पृ० १६३।

[6] इं० आ०, जि० २२, पृ० २२०।

[7] ज० बं० रा० ए० सो०, जि० २८, पृ० २६६।

[8] जोधपुर राज्य के बाली परगना के गाँव कोयलवाव का अप्रकाशित लेख इस प्रकार है—

संवत १२०८ माघ सुदि १
सोमे श्री जसधवल राजे
राठउड पुर्नसिंह सुत
पूणपाल सुत थाइनु सो
मनदं वि० ९मन ठा (?) कारीता

का चन्द्रवंशी होना लिखा है[१], बाक़ी में उन की उत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं लिखा। राठोड़ों का सूर्यवंशी होना सोलहवीं शताब्दी के लेखों से प्रारम्भ हुआ पाया जाता है।

इतिहासवेत्ताओं में एक और विवाद चला आता है। वह यह है कि क्या राठोड़ और गाहडवाल (गहरवार) वंश एक है या भिन्न। जोधपुर राज्य के मतानुसार गाहडवाल और राठोड़ एक ही वंश है और गाहडवाल राठोड़ों की एक शाखा मात्र है। इस विषय में कई विद्वान् यह प्रश्न करते हैं कि राठोड़ों का गोत्र गौतम और गाहडवालों का कश्यप है, फिर दोनों एक कैसे? गहरवारों का राठोड़ होना आज तक किसी शिलालेख में नहीं मिला। राठोड़ों की गाहडवाल शाखा होना किसी ख्यात या काव्य आदि में भी नहीं पाया जाता। राठोड़ और गाहडवाल आज तक आपस में विवाह तक करते हैं[२]। इस के सिवा गाहडवालों को कर्नल टॉड ने राठोड़ों से हलका माना है। पुराने लेखों में गाहडवालों को सूर्यवंशी और राठोड़ों को चन्द्रवंशी लिखा है।

इन शङ्काओं के उत्तर में जोधपुर राज्य के इतिहास-विभाग का कहना है कि गोत्र तो अपने गुरु के बदलने पर बदल जाता है। विवाह एक ही खाँप (कुल) की उपशाखा में हो जाया करता है और गाहडवाल भी अपने को राठोड़ ही कहते हैं। रहा चन्द्रवंश और सूर्यवंश की बात; सो यह एक मनगढ़न्त कल्पना मात्र है। इस विषय में कैप्टेन ल्युअर्ड[३], हेमचन्द्र राय[४], ओझा आदि कई विद्वानों का मत है कि गाहडवाल राठोड़ों की शाखा नहीं है, गाहडवाल एक स्वतन्त्र कुल है। कन्नौज के गाहडवालों के राज्य में बदायूँ पर राठोड़ों का अधिकार था।

इस के साथ-साथ यह प्रश्न भी है कि वर्तमान जोधपुर-राजवंश के मूलपुरुष किस के वंशधर हैं? राज्य तो इन को कन्नौज के गाहडवाल महाराजा जयचन्द्र के वंशधर मानता है। उस के मत में कन्नौज के गाहडवाल और उस के पड़ोसी बदायूँ के राठोड़ों का मूलपुरुष एक ही था; अर्थात् जो चन्द्र नाम का था। उस का कहना है कि चन्द्र ने पहले बदायूँ और बाद में कन्नौज पर अधिकार किया। बदायूँ में वह राठोड़ कहलाया और कन्नौज में उस के वंशजों का नाम गाहडवाल पड़ा। क्योंकि कन्नौज का पुराना नाम गाधिपुर था जो बिगड़ कर गाहडवाल हुआ। चन्द्र का बड़ा पुत्र मदनपाल कन्नौज की गद्दी पर बैठा और विग्रहपाल को छुटभैया रूप में बदायूँ का राज्य मिला। यही हाल सं० १२५३ के आसपास तक रहा। कन्नौज की शाखा में जयचन्द्र और उस का पुत्र हरिश्चन्द्र हुआ और बदायूँ की शाखा में लखनपाल (लगभग वि० सं० १२८० में)। कन्नौज की शाखा में हरिश्चन्द्र का पुत्र सेतराम माना जाता है जिस का पुत्र राव सीहा वि० सं० १२८२ के लगभग कन्नौज से मारवाड़ में आया।

परन्तु कई विद्वानों का मत इस के विरुद्ध है। वे तो बदायूँ की शाखा को राठोड़ और कन्नौज की शाखा को गाहडवाल मान कर इन दोनों राजवंशों को भिन्न-भिन्न मानते हैं और कहते हैं कि कन्नौज और बदायूँ के राजघरानों का मूलपुरुष एक न था, जैसा कि जोधपुर राज्य के महकमे-तवारीख़ ने माना है। बदायूँ के

---

[१] ए० इं०, जि० ९, पृ० २९; ज० बं० ए० सो०, जि० १८, पृ० २६१।

[२] क्षत्रियमित्र (दिसंबर १९३३), भाग २४, संख्या २१, पृष्ठ २४, पंक्ति ३३।

[३] रूलिंग प्रिंसेज़ एंड चीफ़्स एंड लीडिंग फ़ेमिलीज़ इन सेंट्रल इंडिया (१९२३ ई०), पृ० ९।

[४] डायनेस्टक हिस्ट्री ऑव् नॉर्दर्न इंडिया (प्राचीन काल और मध्य काल), कलकत्ता यूनिवर्सिटी, जि० १, पृ० ५६४–६५।

राठोड़ों के मूलपुरुष का नाम चन्द्र मिलता है और कन्नौज को विजय करने वाले राजा का नाम चन्द्रदेव। बदायूँ का चन्द्र कन्नौज के चन्द्रदेव से पहले हुआ था। उस के छठे उत्तराधिकारी मदनपाल का सं० ११७६ (ई० स० १११९) का शिलालेख गोंडा (अवध) ज़िले के सहेठ महेठ से मिला है। उस में लिखा है कि गाधिपुर (कन्नौज) के राजा गोपाल का सलाहकार विद्याधर था और मदन के समय भी वह उसी पद पर नियत था। गोपाल कन्नौज के गाहडवाल राजाओं में कोई नहीं हुआ। इस से पाया जाता है कि मदन गोपाल का पुत्र होगा। बदायूँ के शिलालेख में गोपाल के तीन पुत्रों के नाम त्रिभुवनपाल, मदनपाल और देवपाल लिखे हैं, जिन्हों ने एक-दूसरे के बाद वहाँ का राज्य पाया। मदन या मदनपाल वि० सं० ११७६ (ई० स० १११९) में विद्यमान था। उस के पहले उस का भाई त्रिभुवनपाल राजा था और त्रिभुवनपाल का पिता गोपाल कन्नौज का राजा था। इस से पाया जाता है कि बदायूँ के राष्ट्रकूट राजा गोपाल ने पड़िहारों के कमज़ोर होने पर उन का राज्य छीन लिया था। मदन या मदनपाल वि० सं० ११७६ में विद्यमान था, ऐसी दशा में उस के भाई त्रिभुवनपाल का वि० सं० ११५६ के आसपास होने का अनुमान किया जा सकता है और गोपाल का वि० सं० ११३६ (ई० स० १०७९) के आसपास मौजूद होना माना जा सकता है।

उधर गाहडवाल चन्द्रदेव का सब से पहला दानपत्र वि० सं० ११४८ (ई० स० १०९१) का मिला है[1], इसलिए पाया जाता है कि गाहडवाल चन्द्रदेव ने राठोड़ गोपाल या उस के पुत्र त्रिभुवनपाल से कन्नौज का राज्य छीन लिया हो।

बदायूँ के शिलालेख के अनुसार वंश-वृक्ष नीचे लिखे अनुसार बनता है—

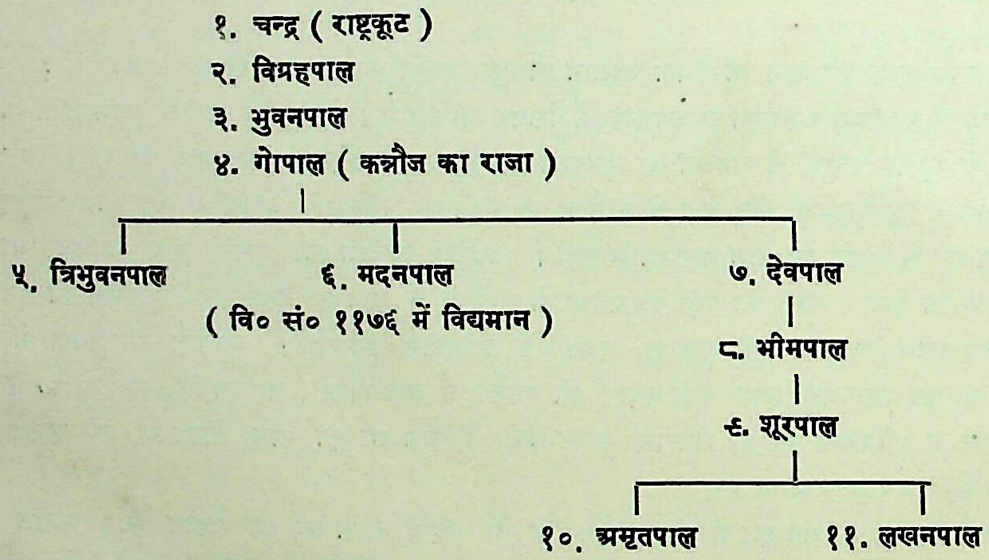

गाहडवाल चन्द्रदेव ने कन्नौज का राज्य या तो गोपाल राठोड़ से या उस के पुत्र त्रिभुवनपाल से लिया होगा। बदायूँ का राठोड़ चन्द्र, गाहडवाल चन्द्रदेव से भिन्न और उस से पहले हुआ था।

उन का कथन है कि बदायूँ (कन्नौज प्रान्त) के राठोड़ों के वंशज सेतराम व सीहाजी थे। जोधपुर के राठोड़ गाहडवाल राजा जयचन्द्र के वंशज होते तो बुन्देलों की नाईं वे गाहडवालों की छोटी शाखा में माने जाते। अतः वे गाहडवाल नहीं किन्तु शुद्ध राठोड़ ही हैं।

---

[1] दे०—आ० स० इं० (न्यू सीरीज़), जि० १, पृ० ७१; ज० बं० ए० सो०, जि० ६१, भा० १।

ऐतिहासिक खोज के पूर्व कन्नौज के राजा जयचन्द्र को पृथ्वीराजरासो और कर्नल टॉड के अनुसार राठोड़ ही मानते थे। परन्तु अब कन्नौज के जयचन्द्र के पूर्वजों के अनेक ताम्रपत्र मिले हैं जिन में उन को गाहडवाल ही लिखा है, राठोड़ कहीं नहीं लिखा। इस से विद्वानों ने अनुमान किया है कि कन्नौज का गाहडवाल राजवंश एक स्वतन्त्र वंश है, वह किसी की शाखा नहीं। इधर जोधपुर राजघराना अपने को राठोड़ मानता है इसलिए इस राठोड़-वंश का कन्नौज से आना मानते हैं परन्तु बदायूँ भी कन्नौज राज्य के अन्तर्गत था। इसलिए बदायूँ से गए हुए राठोड़ कन्नौज राज्य से आए हुए माने जावें तो कोई आपत्ति नहीं।

जोधपुर के राठोड़ों का सम्बन्ध कन्नौज के गाहडवालों से मिलाना शायद भाटों की कल्पना है। आधुनिक खोजों से वह कल्पना हिल गई है और इन की उत्पत्ति कन्नौज प्रान्तीय बदायूँ के राठोड़ों से होना पुष्ट हो रहा है। जो हो, इस में तो तनिक भी सन्देह नहीं कि मारवाड़ में प्रथम प्रवेश करने वाले तथा इस वर्तमान राठोड़-राजवंश के मूलपुरुष राव सीहाजी राठोड़ ही थे जो लगभग सं० १३०० के इधर आए।

८

भूवृत्त

नकुल का पश्चिम-दिग्विजय

श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार

प्रस्तावना

महाभारत सभापर्व के अन्तर्गत दिग्विजयपर्व प्राचीन भारत के भू-विभागों के अध्ययन के लिए बड़े महत्त्व का है। इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवों की राजधानी स्थापित होने पर धर्मराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयों को चार दिशाओं का विजय करने भेजता है, और उन में से प्रत्येक अपनी अपनी दिशा के तमाम राज्यों, देशों और जातियों को जीत कर लौटता है। महाभारत के इस अंश के लेखक या लेखकों का अपने समय का भूमिविषयक ज्ञान इस बहाने वहाँ अंकित हो गया है।

सब से पहले अर्जुन की उत्तर-दिग्विजय की तीन यात्राओं का वर्णन है। उन का रास्ता मैंने पहले पहल सन् १९३० के अन्त में टटोला था, और उस खोज के परिणाम प्रकाशित हो चुके हैं[1]। नकुल की पश्चिम-दिग्विजय-यात्रा दिग्विजयपर्व के अन्तिम अध्याय में है। वह कुम्भघोणम्-संस्करण के अनुसार सभापर्व का ३५ वाँ, तथा सुब्रह्मण्य शास्त्री के मद्रास से प्रकाशित नये दक्षिणी संस्करण के अनुसार २८ वाँ अध्याय है। काठमांडू, नेपाल के श्री ६ मान्यवर राज-गुरु हेमराज पंडित ज्यू को प्राप्त महाभारत की ताळपत्रों पर लिखित अत्यन्त प्राचीन प्रति से भी मैंने सन् १९३२ में इस पर्व का अध्ययन किया था, और सब पाठभेद ले लिये थे। मुझे अत्यन्त खेद है कि यह लेख लिखते समय वे कागज़ात मेरे पास नहीं हैं, और इस समय उन की प्रतीक्षा भी नहीं की जा सकती। यदि कोई विशेष बात उन में मिलेगी तो अपेक्षित संशोधन पीछे कर दूँगा। आगे की विवेचना में गोल कोष्ठों के अन्दर दर्ज संख्याएँ कुम्भघोणम्-संस्करण के अनुसार उक्त अध्याय की श्लोक-संख्याओं को सूचित करती हैं।

पहली चढ़ाई—रोहतक-सिरसा

नकुल खाण्डवप्रस्थ से बड़ी भारी सेना के साथ पच्छिम दिशा को निकलता है (२,३), और पहले-पहल "गवाढ्य धन-धान्य वाले कार्तिकेय के प्रिय" रोहीतक पर जा टूटता है (४); वहाँ उस का शूर मत्तमयूरकों से भारी युद्ध होता है; वह समूची मरुभूमि को और बहुधान्यक को (५), शैरीषक और महेत्थ को वश में कर लेता है, तथा राजा आक्रोश को भी जिस के साथ कि बड़ा युद्ध होता है (६)।

रोहीतक और शैरीषक स्पष्ट ही आधुनिक रोहतक और सिरसा हैं। दिल्ली से जो रास्ता आज दक्खिन पंजाब की तरफ़ सीधा बढ़ता है, वह रोहतक, महेम, हाँसी, सिरसा, फ़ाज़िलका होते हुए सतलज पार करता, और फिर

---

[1] भारतभूमि और उस के निवासी, आगरा १९८८, परिशिष्ट १; छठी भारतीय ओरियंटल कान्फ़रेंस पटना का विवरण, पृ० १०१ प्र; तथा भारतीय इतिहास की रूपरेखा (हिंदुस्तानी एकाडमी, प्रयाग से प्रकाश्यमान,) पृ० १०५९–७१, जहाँ कि उक्त खोज के अन्तिम परिणाम दर्ज किये गये हैं।

गुगेरा के सामने रावी का घाट उतर कर गोजरा होते हुए झंग पहुँचता है[1] । झंग प्राचीन शिवि राष्ट्र को सूचित करता है। वहाँ से यह राजपथ अपनी दो बाहें उत्तर और दक्खिन फैला देता है—एक शाहपुर और रावलपिंडी अर्थात् केकय और गान्धार की तरफ़, और दूसरी मुलतान और बहावलपुर को तरफ़ । स्पष्ट है कि नकुल ने दिल्ली से इसी राजपथ को पकड़ा था। महेत्थं के बजाय सुब्रह्मण्य शास्त्री के संस्करण में चहैमं पाठ है; मूल पाठ शायद महेमं था, जिसे आजकल का महेम समझना चाहिए। रोहतक-सिरसा के समूचे प्रदेश में कुछ अंश मरुभूमि थे, और कुछ बहुधान्यक। रोहतक के विशेषण गवाढ्य—गौओं का धनी—तथा धनधान्यवत् भी ध्यान देने योग्य हैं। इस सब से प्रकट है कि यह वर्णन बहुत ही सच्चा है। रोहतक इलाके में मत्तमयूरक लोग रहते थे, यह एक नई सूचना है। मत्तमयूरक कौन थे ? कहीं मोर पालने के कारण ही तो उन का यह नाम न पड़ा था ? समूचे रोहतक इलाके में आज भी मोर पवित्र प्राणी माना जाता, और घर घर दीख पड़ता है। रोहतक को यहाँ कार्त्तिकेय का प्रिय कहा है; कार्त्तिकेय का वाहन मोर है। क्या रोहतक में कार्तिकेय की पूजा प्रचलित थी, और इसी से वहाँ मोर पवित्र माना जाने लगा था ? जिस प्रदेश के निवासी आज भी भारत की सब से शूर और सुन्दर जातियों के अगुआ हैं, तथा मनुस्मृति के समय भी सेनाओं की हरावलों में रक्खे जाते थे[2], उस में युद्ध के देवता कार्त्तिकेय की पूजा प्रचलित रहना बहुत संगत था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस वर्णन में रोहतक-महेम-सिरसा इलाके का अत्यन्त प्रसिद्ध नाम हरियाणक या हरियाना नहीं है, वह नाम मध्य काल से चला दीखता है, जब कि रोहीतक, महेम और शैरीषक पुराने नाम हैं।

रोहतक-सिरसा इलाके के आगे नकुल की यात्रा का वर्णन यों है—"उन दशार्णों को जीत कर पाण्डु का लाल आगे बढ़ा (प्रतस्थे)। शिविओं, त्रिगर्त्तों, अम्बष्ठों, मालवों, पञ्चकर्पटों (७) तथा मध्यमकेयों और वाटधान द्विजों को (जीतते हुए) फिर लौट कर (पुनश्च परिवृत्य) पुष्करारण्यवासियों को (८)।"

दूसरी चढ़ाई—दक्खिन और मध्य पंजाब

रोहतक-सिरसा इलाकों का यहाँ दशार्ण कहना ठीक है, या यह कोई पाठदोष है, सो मैं नहीं कह सकता। दशार्ण वास्तव में पूरबी मालवा—आधुनिक धसान—प्रदेश है, जहाँ दशार्णा या धसान नदी बहती है। सुब्रह्मण्य शास्त्री वाले संस्करण में यह पंक्ति नहीं है।

इस सन्दर्भ में प्रतस्थे और पुनश्च परिवृत्य शब्द ध्यान देने योग्य हैं। नकुल अपने मुख्य रास्ते से एक तरफ़ प्रस्थान करता है, और फिर लौट कर पहले रास्ते पर आ जाता है। बीच में जिन जातियों के नाम हैं, वे सब दक्खिन और मध्य पंजाब की हैं। शिवियों की राजधानी शिविपुर आधुनिक शोरकोट के स्थान पर थी,[3] और सिकन्दर की चढ़ाई के समय वे लोग चिनाब के बायें किनारे झंग-शोरकोट-प्रदेश में ही थे[4] । त्रिगर्त्तों का नाम यहाँ आने से कुछ कठिनाई उपस्थित होती है। उन का उल्लेख अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय में भी आ चुका है। यह निश्चित है है कि त्रिगर्त्त में आधुनिक द्वाबा (जलन्धर-हुशियारपुर) और काँगड़ा सम्मिलित थे। क्या यह व्याख्या की जाय कि त्रिगर्त्त का पहाड़ी हिस्सा—काँगड़ा—अर्जुन ने जीता, और बाकी—मैदान का—नकुल ने ? ऐसा अर्थ करने पर भी यह कठिनाई रह जाती है कि केवल त्रिगर्त्त नाम यहाँ होने से इन जातियों के नाम स्थान-क्रम से नहीं रहते। अम्बष्ठ

---

[1] इंडिया ऐंड ऐडजेसेंट कन्ट्रीज़ (भारत और पड़ोसी देश, भारत-सरकार के सर्वे-विभाग द्वारा प्रकाशित नक़्शे), शीट नं० ५३,४४,४३,३९ ।

[2] मनुस्मृति, ७. १९३ ।

[3] भारतभूमि, पृ० २१८ ।

[4] भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ५४० ।

सिकन्दर के समय अन्तिम संगम पर थे, और मालव रावी के निचले काँठे में[1]। यहाँ भी उन जातियों की वही स्थिति प्रतीत होती है। पञ्चकर्पटों को पहचान मैं नहीं कर पाया हूँ। मध्यमकेय का स्पष्ट अर्थ है माझा के लोग; पंजाब का केन्द्र प्रदेश अमृतसर-पट्टी-तरनतारन का इलाका है, जिस में सिकन्दर के समय कठ जाति रहती थी[2]। उस जाति के नाम से वह प्रदेश कठ कहलाता था[2]; पंजाब के मध्य में होने से वह माझा है। वाटधान सम्भवतः भटनेर-भटिंडा का प्रदेश था, सो हम अभी देखेंगे।

इस सन्दर्भ में कई बातें विचारणीय और ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात, जैसा कि हम ने अभी देखा, शिवि और अम्बष्ठ के बीच यदि त्रिगर्त्त का नाम न होता तो यह कहा जा सकता कि ये सब नाम स्थान-क्रम से हैं। सिकन्दर के समय शिवि के पड़ोस में एक जाति रहती थी जिसे यूनानियों ने अगलस्स (Agalassoi) कहा है[3]। यदि त्रिगर्त्त के बजाय यहाँ उस जाति का नाम हो तो समूचा क्रम ठीक हो जाय; शायद किसी पुरानी प्रति में वह नाम निकल आय। दूसरे, मालवों का नाम यहाँ अम्बष्ठों के पड़ोस में और मध्यमकेयों से पहले होने से सिद्ध है कि यहाँ पञ्जाब के आधुनिक मालवे—फ़ीरोज़पुर-लुधियाना-प्रदेश—से अभिप्राय नहीं, प्रत्युत रावी के उसी निचले काँठे से है जहाँ सिकन्दर के समय मालव लोग रहते थे। दूसरी शताब्दी ई० पू० के शुरू में मालव गण दक्खिन पञ्जाब से उठ कर उत्तर राजपूताना की तरफ़ चला गया था[4]; यह सन्दर्भ सम्भवतः उस घटना से पहले का है। तीसरे, भारतीय वाङ्मय में माझा का नाम सब से पहले शायद इसी सन्दर्भ में आया है; यद्यपि अभी तक वह पहचाना न गया था। माझा शुद्ध प्रादेशिक नाम है, न कि जातीय; इसलिए यह सन्दर्भ ऐसे समय को सूचित करता है जब वह जातीय नाम मिटने और प्रादेशिक नाम को स्थान देने लगा था।

वाटधान का विचार करना बाकी रहा। शिवि अम्बष्ठ मालव मध्यमकेय—इस क्रम के अन्त में होने से उन्हें माझा के पूरब या दक्खिन कहीं होना चाहिए। क्योंकि वाटधानों को जीत कर नकुल 'फिर लौट आता है', इसलिए उन का देश उस के लौटने के मार्ग पर हो तो ठीक। हम अभी देखेंगे कि लौटने के बाद वह प्राचीन घग्घड़ या हाँकड़ा नदी के काँठे से सिन्ध की तरफ़ बढ़ता है। आजकल वह नदी नहीं है, केवल उस का सूखा पाट है; पर मुख्यतः जिन दो धाराओं के मिलने से वह बनती थी, वे उपरले अंश में विद्यमान हैं[5]। सरसुती और मार्कण्डे दोनों सरमौर की उपत्यका के पहाड़ों से, एक साधौरा के पूरब और दूसरी पच्छिम, पैदा होती है। सरसुती थानेसर के पास से बहती हुई कुछ आगे जा कर पच्छिम मुँह मोड़ लेती, और वहाँ चौतांग कहलाने लगती है; सिरसा के प्रायः ठीक दक्खिन बहादरन तक पहुँचने के बाद वह मरुभूमि में गायब हो जाती है; उस का सूखा पाट आगे भी विद्यमान है। मार्कण्डे साधौरा के पच्छिम शुरू हो कर शाहाबाद को बायें रखते हुए बहता है; पिहोवा या पृथूदक भी, जो प्राचीन काल में उत्तरापथ और मध्यदेश के बीच सीमान्त बस्ती थी, उस के बायें किनारे है; पटियाला नदी का पानी लेने के बाद वह सिरसा की तरफ़ बढ़ता, और सिरसा को अपने दाहिने रखते हुए थोड़ी दूर आगे बहने के बाद रेगिस्तान में लुप्त हो जाता है। उस के ज़रा ही आगे उस के सूखे पाट में वार या वाड़ नामक एक और सूखे नाले का पाट आ मिलता है, और फिर भटनेर को दाहिने छोड़ते हुए यह सूखा पाट रामपुरा पर चौतांग के सूखे पाट में जा मिलता है। सरसुती और मार्कण्डे के समागम से बनने वाली यह सूखी नदी वहाँ से प्रायः सीधे पच्छिम बढ़ते हुए, सरदारगढ़ पर अबोहर की तरफ़ से आने वाले एक और

---

[1] वहीं, पृ० ५४०, ५४२।

[2] वहीं, पृ० ५३७-३८।

[3] वहीं, पृ० ५४०।

[4] वहीं, पृ० ७३५-३६।

[5] अगले वर्णन के लिए 'भारत और पड़ोसी देश' नक्शों की पूर्वोक्त शीटें देखिए।

सूखे नाले के संगम के बाद, ७२° देशान्तर-रेखा से कुछ पहले दो शाखाओं में बँट जाती है; दाहिनी शाखा सीधे पच्छिम बढ़ जाती है, और कुछ दूर तक टटोली जा सकती है; बाँईं ज़रा दक्खिन झुकते हुए पच्छिम बढ़ती है, और सिन्ध और पञ्जाब की सीमा पर रेती नामक बस्ती के पास २८° अक्षांश रेखा तक पहुँच कर समाप्त हो जाती है।

वार अथवा वाड़ नाले के नाम से क्या वाटधान का कुछ सम्बन्ध नहीं हो सकता? महाभारत के कलकत्ता-संस्करण में एक स्थल पर 'वाटधान' के बजाय 'वारधान' पाठ है भी[1]। नकुल की यात्रा की योजना में वाटधान का वाड़ नाले के काँठे में—भटनेर के इलाके में—रहना पूरी तरह संगत होता है। घग्घड़ नदी के जीवन-काल में भटनेर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण फ़ौजी नाका भी था। मेरे श्रद्धेय गुरु श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने हाल में यह स्थापना की है कि वाटधान=पठान[2]। मैं इस स्थापना को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। हमारे प्रस्तुत सन्दर्भ के अतिरिक्त महाभारत का एक और सन्दर्भ वाटधानों की स्थिति को पञ्जाब के दक्खिन-पूरबी छोर पर सर्वथा निश्चित कर डालता है। उद्योग-पर्व में जहाँ सेनाओं के जुटने का वर्णन है, वहाँ कहा है कि कौरवों की सेना हस्तिनापुर में समाती न थी, उस ने पड़ोस के सब प्रदेशों को ढक दिया; पड़ोसी प्रदेशों का उल्लेख वहाँ इस प्रकार है—

न हास्तिनपुरे राजन् अवकाशोऽभवत्तदा ॥२८॥
राज्ञां स्वबलमुख्यानां प्राधान्येनापि भारत।
ततः पञ्चनदं चैव कृत्स्नं च कुरुजाङ्गलम् ॥२९॥
तथा रोहितकारण्यं मरुभूमिश्च केवला।
अहिच्छत्रं कालकूटं गङ्गाकूलं च भारत ॥३०॥
वारणं वाटधानं च यामुनश्चैव पर्वतः।
एष देशः सुविस्तीर्णः प्रभूतधनधान्यवान् ॥३१॥
बभूव कौरवेयाणां बलेनातीव संवृतः[3]।

अर्थात् हस्तिनापुर में कौरव सेनायें न समाती थीं; और समूचा पञ्चनद, कुरु-राष्ट्र का बांगर (कुरुजांगल=आधुनिक बागड़), रोहितकारण्य, मरुभूमि, अहिच्छत्र (उत्तर पञ्चाल देश की राजधानी=आधुनिक बरेली ज़िले में रामनगर), कालकूट (?), गंगा-काँठा, वारण (वरण=बुलन्दशहर?), वाटधान और यामुन अर्थात् कौलिन्द पर्वत (=कुणिन्द राष्ट्र)[4]—यह विस्तीर्ण देश उन से ढका गया। पञ्चनद, जैसा कि हम अभी देखेंगे, पञ्जाब नहीं, प्रत्युत सतलज का निचला काँठा है। इस प्रकार पञ्चाल से पञ्चनद तक कौरव सेनायें फैली थीं, और वाटधान उन के बीच ही कहीं होना चाहिए।

जायसवाल जी ने वराहमिहिर की बृहत्संहिता का एक उद्धरण पेश किया है, जहाँ "वाटधान-यौधेयाः" को उत्तरापथ का निवासी कहा है। यौधेय सतलज के निचले काँठे पर रहते थे[5]; वाटधानों का उन के पड़ोस में भटनेर के चौगिर्द रहना बहुत संगत है। वाटधान शब्द का अपभ्रंश पठान होना भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भले ही ठीक हो, पर पठान शब्द पश्तो या पख़्तो भाषा के पश्तान या पख़्तान का हिन्दी रूपान्तर मात्र है।

---

[1] दे० सौरन्सेन-कृत महाभारत की इंडेक्स, लंडन १९०४, में वाटधान शब्द। [2] इं० आ० १९३३, पृ० ११९।
[3] म० भा० ५. १९। [4] दे० भारतभूमि पृ० ३१०-११ ; रूपरेखा पृ० १०६४।
[5] रूपरेखा, पृ० १३१।

सुब्रह्मण्य शास्त्री वाले संस्करण में रोहतक-प्रसंग के अन्त की आक्रोष राजा वाली पंक्ति नहीं है; उस के स्थान में वहाँ यह पंक्ति है—

लिलन्धान् वटधानाँश्च दूतैरेव जिगाय तान् ।

'लिलन्धान्' के बजाय 'सिलीन्ध्रान्', 'एलधान्' और 'लिलिधान्' पाठ भी हैं। 'वटधान' के बजाय एक पाठ 'पाटधान' भी है। फिर पंजाब-प्रकरण के अन्त में 'वाटधानान् द्विजान' के बजाय 'औपावृतगणान्' पाठ है। लिलन्ध, सिलीन्ध्र या एलध और औपावृतगण की व्याख्या करने में मैं असमर्थ हूँ। वाटधानों का नाम पंजाब प्रकरण के अन्त के बजाय उस के आदि में है, इस से कुछ भेद नहीं पड़ता, क्योंकि वाटधानों की स्थिति हमने पंजाब और रोहतक-प्रदेश के बीच ही पाई है।

पंजाब से लौटने के बाद नकुल की यात्रा का वर्णन यों है—

तीसरी चढ़ाई—हाँकड़ा से हिंगोल

पुनश्च परिवृत्याथ पुष्करारण्यवासिनः ॥ ८ ॥
गणानुत्सवसंकेतान् व्यजयत्पुरुषर्षभः ।
सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः ॥ ९ ॥
शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम् ।
वर्त्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः ॥१०॥

"फिर लौट कर अब उस पुरुषर्षभ ने पुष्करारण्य के रहने वाले उत्सवसंकेत गणों को जीता, और जो सिन्धु के काँठे में आबाद अत्यन्त शक्तिशाली ग्रामणियों के (गण हैं) तथा जो शूद्र और आभीर-गण हैं, और जो सरस्वती पर बसे हैं, तथा जो मछलियों से गुज़र करते हैं, और जो पर्वतवासी हैं (उन सब को जीता)।"

पुष्करारण्य पोकरन हो या पुष्कर का जंगल। नकुल सिरसा-प्रदेश के आसपास लौट कर वहाँ से सीधे सिन्धु की तरफ़ बढ़ता है, इस से स्पष्ट है कि वह घग्घड़-हाँकड़ा के काँठे से उत्तर-पच्छिमी राजपूताना जीतता हुआ सिन्धु पहुँचता है। रघु और अर्जुन के उत्तर-दिग्विजयों में हम उत्सव-संकेत का अर्थ समझ चुके हैं[1]; वह किसी विशेष जाति का नाम नहीं, प्रत्युत ऐसी सब जातियों की परिभाषा थी जिन में विवाह की प्रथा स्थापित न हुई होती; पोकरन प्रदेश अर्थात् पच्छिमी राजपूताना में भी वैसी कोई जातियाँ रहती रही होंगी। शूद्र या शौद्र नाम का एक गण-राज्य सिकन्दर के समय भी उत्तरी सिन्ध में था[2]। आभीर देश पेरिप्लस के लेखक के समय (लगभग ८० ई०) पच्छिमी राजपूताना में सिन्ध की सीमा पर था[3]।

वर्त्तयन्ति च ये मत्स्यैः—जो मछलियों से गुज़र करते हैं—उन लोगों ने सिकन्दर और उस के साथियों को भी चकित किया था। हिंगोल नदी के पच्छिम, भारतवर्ष की पच्छिमी सीमा रास मलान के ठीक बाद उन्हें ऐसे लोग मिले थे, जो केवल मछली पर ही गुज़र करते, तथा बड़ी मछलियों की हड्डियों से ही अपने झोंपड़े भी बनाते और छाते थे। यूनानियों ने उन का नाम इख्थुओफगोई (Ichthyophagoi) अर्थात् मत्स्योपजीवी रक्खा था, और यहाँ भी उसी का ठीक अनुवाद है। उस जाति का जीवन आज भी वैसा ही है; उन के ढोर-डंगर गाय-बकरी तक मछली खा कर रहते हैं!

शूद्राभीरगणों और मत्स्योपजीवियों के देशों के बीच जिस सरस्वती का ज़िक्र है, वह सिन्ध नदी के दाहिने होनी चाहिए। वहाँ तीन ही मुख्य नदियाँ हैं—हाब, पोराली और हिंगोल। हाब खीरथर और पब पर्वतों के बीच है; उस

---

[1] भारतभूमि पृ० ३०८। [2] रूपरेखा, पृ० ५४२। [3] पेरिप्लस, पृ० ३९।

की दाहिनी धारा का नाम सरुना है; वही सरस्वती हो सकती है। पर्वतवासी यहाँ कलात के पहाड़ी—ब्राहुई लोग—ही हो सकते हैं। कलात का अर्थ ही है पहाड़ी गढ़।

चौथी चढ़ाई वास्तव में अलग नहीं, तीसरी के ही सिलसिले में है। उस का वर्णन यों है—

चौथी चढ़ाई—सुलेमान, टोवा-काकड़

कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवामरपर्वतम्।
उत्तरज्योतिषं चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ॥११॥
द्वारपालं च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः।
रामठान् हारहूणाँश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ॥१२॥
तान्सर्वान् स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः।
तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ॥१३॥
स चास्य गतभी राजन् प्रतिजग्राह शासनम्।

—"समूचे पञ्चनद को तथा अमरपर्वत को, और उत्तरज्योतिष को तथा दिव्यकटपुर को, और द्वारपाल को उस तेजस्वी ने झट से वश में कर लिया। रामठों को, हारहूणों को तथा जो पच्छिमी राजा हैं उन सब को, उस पाण्डव ने (दूतों द्वारा अपना) शासन भेज कर ही वश में कर लिया। वहीं ठहरे हुए उस ने, हे भारत, वासुदेव (कृष्ण) के पास हुक्म भेजा; और उस ने उस के हुक्म को बेधड़क स्वीकार कर लिया।"

इस से प्रकट है कि नकुल इस दिशा में दिव्यकटपुर तक या द्वारपाल के देश तक गया, और वहाँ से रामठों आदि के पास उस ने केवल अपना शासन भेजा। पञ्चनद का अर्थ पंजाब मान लिया गया है; वास्तव में उस का अर्थ पंजनद करना चाहिए। सिन्ध में मिलने से पहले और पंजाब की बाकी सब नदियों का पानी ले लेने के बाद सतलज पंजनद कहलाता है, और उस के काँठे का नाम भी पंजनद है। मत्स्योपजीवी देश से कलात की अधित्यका चढ़ने के बाद पंजनद पर आ उतरना स्वाभाविक था। अमर-पर्वत उस के पड़ोस में सुलेमान और शीनग़र के दक्खिनी घुमावों में कहीं होना चाहिए; या वह सुलेमान-शीनग़र का ही नाम हो। फिर उत्तर-ज्योतिष, दिव्यकटपुर और द्वारपाल के देश की भी मैं ठीक ठीक पहचान नहीं कर सकता हूँ, पर इस में सन्देह नहीं कि ये भारत के सीमान्त स्थान थे; क्योंकि नकुल इन के आगे नहीं बढ़ता। उत्तरज्योतिष नाम प्राग्ज्योतिष के नमूने पर है; दोनों ही सीमान्त देश थे; यह देखते हुए उत्तर-ज्योतिष को सुलेमान, शीनग़र और टोवा-काकड़ की तिहरी पर्वतशृंखला का समूचा प्रदेश मानना ठीक जान पड़ता है। दिव्यकट पुर उसी में कहीं होना चाहिए; क्या वह डुकि या कुइटा में से कोई है?

कौटिलीय अर्थशास्त्र २. २५ में हारहूरक देश की अंगूरी शराब का उल्लेख इस प्रकार आया है—

मृद्वीकारसो मधु। तस्य स्वदेशो व्याख्यानं कापिशायनं हारहूरकमिति[1]।

हारहूरक हरउवती नाम का बनाया हुआ संस्कृत रूपान्तर है। वास्तव में हरउवती संस्कृत सरस्वती का रूपान्तर है, और हरउवती का रूपान्तर—अरखुती, अरगंद[2]। अंगूरों की खान कन्दहार शहर जिस नदी के काँठे में बसा है, वह अब भी उसी—अरगंदाब—नाम से परिचित है। हमारे प्रस्तुत सन्दर्भ का हारहूण वही हारहूरक है। रामठ का अर्थ संस्कृत में हींग भी है; रामठ देश स्पष्ट ही हींग का देश था। आज भी पच्छिमी अफ़ग़ानिस्तान और पूर्वी ईरान ही हींग के मुख्य घर हैं; उस हींग-देश का केन्द्र हेरात तथा कन्दहार ही आज भी हींग के मुख्य बाज़ार हैं।

---

[1] शामशास्त्री का संस्क० २, पृ० १२०, पं० १६।

[2] भारतभूमि पृ० १८५।

रामठ का अर्थ हेरात का प्रदेश करना चाहिए। अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय में लोहित अर्थात् अफ़ग़ानिस्तान के दस मण्डलों का उल्लेख आ चुका है;[1] कन्दहार और हेरात ठेठ अफ़ग़ानिस्तान के किनारों के प्रदेश हैं, वे दोनों नकुल के दिग्विजय में कहे गये हैं; इसलिए वे अफ़ग़ान-देश के दस ज़िलों में न थे।

सुब्रह्मण्य शास्त्री वाले संस्करण में इस प्रसंग में अरण, रोम, यवनों के पुर, लम्बक और बन्धक देश—इतने नाम और हैं। अरण अरब का अपपाठ जान पड़ता है, और ये सब नाम स्पष्टतः पीछे से जोड़े हुए हैं।

पाँचवीं चढ़ाई—पह्लव, शक

उत्तरज्योतिष से नकुल मद्र देश (रावी-चिनाब के बीच) की राजधानी शाकल (स्यालकोट) वापिस आता है, जहाँ उस का मामा शल्य 'प्रीतिपूर्वक' उस की अधीनता मानता है (१४-१५)। तब वह वहाँ से बड़ी तैयारी के साथ अपना अन्तिम सम्प्रस्थान (चढ़ाई) करता है, और

ततः सागरकुक्षिस्थान् म्लेच्छान् परमदारुणान् ॥१६॥
पह्लवान् बर्बरांश्चैव किरातान् यवनाञ् शकान्।
ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान्।
न्यवर्त्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ॥१७॥
करभाणां सहस्राणि कोशं तस्य महात्मनः।
ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ॥१८॥

—"तब सागर के पेट में रहने वाले परम दारुण म्लेच्छ पह्लवों, बर्बरों, किरातों, यवनों और शकों को वश में कर के तथा उन राजाओं से रत्नों के उपहार ले कर चित्र-मार्गों का जानकार कुरुश्रेष्ठ नकुल वापिस लौटा। दस हज़ार ऊँट उस महात्मा के महान् धन वाले कोश को मुश्किल से ढो कर लाये।"

सागरकुक्षिस्थान् शकान् इन शब्दों में दारयवहु के अभिलेखों के सकातरदरया[2] या सकापारदरया[4] की स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनाई देती है। पुराने ज़माने में कास्पियन और अराल सागर एक विस्तृत उथले समुद्र और दलदल द्वारा परस्पर मिले हुए थे, और वंक्षु (आमू) नदी उसी समुद्र में अपना पानी ले जाती थी। उस के तट पर रहने वाले शकों को प्राचीन ईरानी सकातरदरया या सकापारदरया कहते थे। पह्लवों या पार्थवों की मातृभूमि भी उसी सागर का तट था। फ़ारिस पर मकदूनी आधिपत्य स्थापित होने तथा बलख तक में यूनानी उपनिवेश बसने के बाद से कुछ यवन (यूनानी) बस्तियाँ भी उस सागर के तट पर रही हो सकती हैं। उत्तरी तिब्बत की किसी किरात जाति का भी उस सुदूर जंगली प्रदेश से सबन्ध रहा हो सकता है, और बर्बर से भी किसी वैसी ही जंगली जाति का अभिप्राय है; अथवा ये दोनों नाम फ़ालतू जोड़ दिये गए हैं। ऊँटों पर खजाना लाद कर लाने की बात वर्णन को सच्चा बना देती है।

---

[1] भारतभूमि पृ० ३१२; रूपरेखा पृ० १०६८।

[2] रूपरेखा पृ० ४०६।

गोमंत पर्वत

रावबहादुर वासुदेव अनंतप्रभु बाम्बर्डेकर, नासिक

[हरिवंश में वर्णित है कि, दक्षिणापथ में गोमंत पर्वत पर श्रीकृष्ण और जरासंध में एक भयानक चक्र-मुशल युद्ध हुआ था। मराठी की एक पत्रिका में प्रकाशित एक लेख में इस पर्वत की शिनाख़्त गोआँ प्रदेश के एक पर्वत से करने का यत्न किया गया है। परंतु श्री० पा० वा० काणे ने उस प्रयत्न की पूरी निरर्थकता दिखलाई है और उस पर्वत को उत्तर कनाडा में सुप्रसिद्ध गेरसप्पा प्रपात के निकट कहीं बताया है जो कि ठीक है। उस का ठीक स्थान निश्चित करने का प्रयत्न हम कर सकते हैं।

हरिवंश में श्रीकृष्ण का दक्षिणापथ में गोमंत पर्वत तक का रास्ता इस प्रकार बताया गया है। १. वेणानदी, २. करवीरपुर (आधुनिक कोल्हापुर), ३. यज्ञगिरि, ४. खट्वांग नदी, ५. क्रौंचपुर, ६. अनडुह तीर्थ और ७. गोमंत पर्वत।

इस वर्णन की पूरी जाँच करने से इतना स्पष्ट है कि 'गोमंत' अनडुह तीर्थ के नीचे परंतु वनवास्य देश की सीमा में, है। हरिवंशकार के अनुसार वनवास्य देश की सीमा चाहे कुछ भी रही हो अब उस से उत्तरी कनाड़ा ज़िले की पूर्वी सीमा पर, सिर्सी कस्बे से ३० मील आग्नेय दिशा में स्थित मैसूर राज्यान्तर्गत वनवासी गाँव का बोध होता है। इसी वनवासी गाँव के दक्खिन हरिवंश में गोमंत पर्वत है, जो कि वस्तुतः सह्याद्रि की एक चोटी है। विजयनगर के राजा हरिहर के कनिष्ठ भाई मारप के १३४७ ई० के एक ताम्रपत्र में इस पहाड़ का ठीक इसी नाम से उल्लेख है।

उस ताम्रपत्र के सम्बद्ध अंश का अनुवाद इस प्रकार है:—'मारप ने कदम्ब वंश के सरदार कल्लसन से पश्चिम का एक प्रदेश जीत कर गोमंत पर्वत पर स्थित सुंदर चंद्रगुप्ति पर निवास किया, और प्रजा की शांतिपूर्वक सुरक्षा की।·····गोमंत पर्वत, जिस का कि दूसरा नाम चंद्रगुप्ति है, वनवासी-बारह-हज़ार-राज्य की राजधानी तथा कुंतल देश का आभूषण······।'

हरिवंश ने इस देश के पशु-पक्षियों और वृक्ष-वनस्पतियों, जलप्रपातों, हाथियों, चन्दन-वनों, मरिच और लवंग-लताओं आदि का जो वर्णन किया है, वह इस प्रदेश पर अब भी पूरी तरह घटता है।]

आपल्या विभूतिमत्वानें भारतवर्षांतील कोटयवधि हिंदु स्त्री पुरुषांच्या अंतःकरणांत आज हज़ारों वर्षें ठाण देऊन बसलेल्या भगवान् श्रीकृष्णाच्या चरित्रांत, त्यांनीं दक्षिणभारतांतील गोमन्त नामक एका पर्वतावर जरासंधाशीं युद्ध केल्याचा एक प्रसंग हरिवंशांत वर्णिलेला आहे. परंतु हा गोमन्त पर्वत कुठें आहे तें आजच्या भौगोलिक परिस्थितीस अनुलक्षून सांगण्याचें आजवर कोणी मनावर घेतलें नव्हतें; त्याचा फायदा घेऊन, गोवें नांवाच्या पोर्तुगीज अमलाखालील प्रांतांतल्या एका 'शणैगोंयबाब' नामधारी गृहस्थानें मुंबईतील 'विविधज्ञानविस्तार' मासिकांत १९३१ साली एक लेख लिहून, 'गोवें या अपभ्रष्ट नांवाचें मूळचें रूप गोमन्त असें होतें, त्या प्रांताचेंच नांव त्यांतल्या एका पर्वताला होतें' इत्यादि मन मानेल तसलीं हास्यास्पद विधानें करून, परमपूज्य भगवान् श्रीकृष्णाला गोव्यासारख्या ठिकाणीं आणून सोडलें. त्यावर मुंबईतील प्रोफेसर पांडुरंग वामन काणे, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० या इतिहास संशोधक विद्वान् गृहस्थानें महाराष्ट्र-साहित्य-पत्रिका नांवाच्या नियतकालिकांत, गोंयबाबच्या जरूर त्या सर्व चुका दाखवून, हा पर्वत उत्तर कनाडा

जिल्ह्यांतल्या सुप्रसिद्ध गेरसप्पा धबधब्याच्या जवळपास असला पाहिजे असें सिद्ध केलें, परंतु नक्की जागा दाखविली नाहीं. ती दाखविण्याचें या लेखांत योजिलें आहे. तत्पूर्वी 'गोंयबाब' यांच्या म्हणण्याचा किंचित् परामर्श घेणें अवश्य आहे.

गोव्यांचें 'गोमंत' किंवा 'गोमंतक' हें प्राचीन नांव म्हणून सांगण्याचा त्यांचा प्रयत्न व्यर्थ असून, हें नांव गोंयबाब सारख्या कांही जणांनी आपुल्या त्या भूमीला व परंपरेनें आपणाला मोठेपणा मिळवून देण्याच्या हेतूनें, गेल्या शंभर वर्षांच्या आंत, नवीन बनविलेलें आहे. गोवें याचें नांव गोवा किंवा गोवें असेंच असल्याचें अनेक लेखांवरून सिद्ध आहे. आणि गोव्यांतील ज्या डोंगराला ऊगर पर्वताला 'गोमन्त' असें नांव ते देऊं पाहतात, त्याचें तर नांव 'वलंगडोंगर' असें आहे. महाराष्ट्र-सांवत्सरिक १९३३, पृ० ११४. शिवाय गोमन्त याचा गोवें असा अपभ्रंश कसा होतो, हें एक व्याकरणशास्त्रांतलें नवीनच कोडें आहे. असो, आतां हरिवंशांतील विष्णुपर्व अ० ३७ ते ४० यांतील श्रीकृष्णाच्या दक्षिणापथांतील प्रवासाची माहिती देऊन, त्यांतील भूगोल विषयक वर्णनाची छाननी करूं.

श्रीकृष्णाचा दक्षिणापथांतीलप्रवास.

जरासंध १८ व्या वेळीं मथुरेवर चालून येत असल्याचें वर्तमान समजतांच, त्याच्या भयानें त्रासलेले यादव एकत्र जमून त्याच्या प्रतिरोधाचा विचार करूं लागले. तेव्हां विकद्रु नांवाच्या एका राजनीतिनिपुण व तेजस्वी यादवानें श्रीकृष्णाला उद्देशून भाषण केलें कीं, "या यदुकुलाची उत्पत्ति कशी झाली हें तुला मीं सांगतों. नंतर पुढें काय करावयाचें तें सांगतों. माझें बोलणें तुला युक्त वाटलें तरच मीं सांगेन त्याप्रमाणें तूं वाग. सर्वज्ञ व्यास ऋषींकडून जशी हकीगत मला कळली तशीच मीं सांगतों. मनूच्या वंशांत हर्यश्व नांवाचा पराक्रमी राजा होता. त्याची मधुमति नांवाची प्रिय भार्या ही मधु नामक दैत्याची मुलगी होती. एके दिवशीं हर्यश्वाला त्याच्या ज्येष्ठभ्रात्यानें राज्यांतून हांकून दिलें. तेव्हां पत्नीच्या आग्रहावरून हर्यश्व आपल्या सासऱ्याकडे गेला. त्यानें आपलें राज्य हर्यश्वाला अर्पण केलें. त्याराष्ट्राचें नांव आनर्त. त्याला यदु नांवाचा एक पुत्र झाला. पित्याच्या निधनानंतर तो आनर्तदेशाचा अधिपति बनला. त्याला धूम्रवर्ण सर्प (नाग) राजानें, आपल्या सर्पपूर नांवाच्या राज्यांत नेऊन आपल्या अविवाहित पांचकन्या अर्पण केल्या. त्यांपासून त्याला (१) मुचुकुंद (२) पद्मवर्ण (३) माधव (४) सारस आणि (५) हारित असे पुत्र झाले. ते पराक्रमी व कुलदीपक होते. ते वयांत आल्यावर, पित्याच्या आज्ञेप्रमाणें मुचुकुंदानें नर्मदातीरावर 'माहिष्मति' नांवाची आपली राजधानी स्थापिली. पद्मवर्णानें सह्याद्रीच्या पाठारावर, वेणानदीच्या कांठीं आपली राजाधानी स्थापिली. त्या नगराचें नांव करवीर व देशाचें नांव पद्मावत[1]. तो देश साधारणपणें लहान होता[1]. सारसानें 'क्रौंचपूर'[2] नांवाचें मोठें रमणीय असें नगर वसविलें. तेथील मृत्तिका[2] ताम्रवर्णाची होती, व ह्या नगरीच्या सभोंवारचा विस्तृत व समृद्ध प्रदेश 'वनवासी'[2] या नांवानें प्रसिद्ध आहे. हारितानें समुद्रांतील एक बेट आपलें राज्य केलें. त्याद्वीपांत असंख्य रत्नें भरलेलीं असून तेथील स्त्रिया सुंदर होत्या. त्याराज्यांत मुद्गुर नांवाचे धीवर होते[3]. इत्यादि

---

[1] पद्मवर्णोऽपि राजर्षिः सह्यपृष्ठे पुरोत्तमम् ॥ चकार नद्या वेणायास्तीरे तरुलताकुले ॥२४॥
विषयस्याल्पतां ज्ञात्वा संपूर्णं राष्ट्रमेव च ॥ निवेशयामासनृपः सवप्रप्रायमुत्तमम् ॥२५॥
[2] सारसेनापि विहितं रम्यं क्रौंचपुरं महत् ॥ चंपकाशोकबहुलं विपुलं ताम्रमृत्तिकम् ॥२७॥
वनवासीति विख्यातः स्फीतो जनपदो महान् ॥ पुरस्यतस्यतु श्रीमान्द्रुमैः सार्वर्तु कैर्वृत्तः ॥२८॥
[3] हारितोपि समुद्रस्य द्वीपं समभिपालयत् ॥ रत्नसंचय संपूर्णं नारीजन मनोहरम् ॥२९॥
तस्यदाशाजले मग्ना मद्गुरा नाम विश्रुताः ॥ ये हरंति सदा शंखान् समुद्रोदर चारिणः ॥३०॥
हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ३८.

"यदूच्या पश्चात् माधव आनर्त देशाचा राजा झाला. माधवाचा पुत्र सात्वत व सात्वताचा भीम. सात्वताचे व भीमाचे आपण (यादव) वंशज असल्यामुळें, सात्वत व भैम या नांवानीं आपण संबोधिले जातों. भीम राजा आनर्त देशावर राज्यकरीत असतां, अयोध्येचा राजा रामचंद्र याचा बंधु शत्रुघ्न यानें लवणाचा वध करून मधुवनाचा उच्छेद केला, आणि त्याठिकाणीं आपुल्या मथुरानगरीची स्थापना केली. राम लक्ष्मणादि बंधूंचें अवतारकृत्य समाप्त झाल्यावर, भीमराजा तेथें राज्य करूं लागला. भीमाचा पुत्र अंधक व अंधकाचा रैवत. रैवत पुत्र जो ऋक्ष तोच विश्वगर्भ. त्याचे वसु, बभ्रु, सुषेण वसमाक्ष हे चार पुत्र. वसूनें कुंतिदेशांत राज्य केलें. त्याला वसुदेव नांवाचा पुत्र व कुन्ति (ही पुढें पण्डूची राणी झाली) आणि कांतिमति (चेदिराज दमघोषाची राणी) ह्या दोन कन्या होत्या. अशा रीतीनें यादव वंश प्रसृत झाला. जरासंध हा सर्व विद्यमान राजांत बलवान् आहे, आणि आपली सामग्री अगदीं अल्प आहे. आपल्या नगरीला त्यानें वेढा दिला तर, एक दिवससुद्धां तो सहनकरण्याचें त्राण आपणांत उरलेलें नाहीं".

विकद्रूचें हें निवेदन ऐकून, श्रीकृष्ण म्हणाला, "मीं समर्थ आहें तथापि सध्यां तुमच्या म्हणण्याप्रमाणें वागतों. मीं दुर्बलाप्रमाणें बलरामासहवर्तमान येथून निघून सह्याद्रीनें युक्त असलेल्या अक्षय व शोभिवंत दक्षिणापथांत प्रवेश करितों[1]. त्या प्रदेशांत गेल्यावर, करवीरपूर आणि क्रौंचपूर या नगरांचें व 'गोमन्त' नामक श्रेष्ठ पर्वताचें दर्शन करूं. आम्हीं मथुरेंतून निघून गेलों असें कळतांच, जयानें उन्मत्त झालेला जरासंध आमचा पाठलाग करील."

पुढें श्रीकृष्ण आणि बलराम, यदुवंशीयांनीं अलंकृत केलेल्या करवीर नगरास आले. तेथें त्यांनीं वेणानदीच्या तीरावर अतिविस्तृत अशा न्यग्रोध[2] वृक्षाखालीं, तेजःपुंज दिसणारा, अपरिश्रांत व अव्यय असा भार्गवराम बसलेला पाहिला. त्या ऋषिशार्दूलाला मधुर व नम्र शब्दांनीं श्रीकृष्णम्हणाला, "भार्गवा, आपण एक शीघ्रगामी बाण मारुन समुद्र मागें हटविला, आणि अपरान्तामध्ये (उत्तरकोकणांत) ५०० धनुष्यें लांब व ५०० बाण रुंद येवढें 'शूर्पारक'[3] नांवाचें क्षेत्र वसविलें[3]. हे विप्रा, तुला एक गोष्ट विचारावयाची आहे ती ऐकून आम्हांला युक्ति सांग." त्यावर परशुरामानें उत्तर दिलें कीं, "हे सर्वशक्तिमान् कृष्णा, तुला मसलत सांगण्यासाठींच, शिष्य बरोबर घेतल्याशिवाय, अपरान्तांतून मीं एकटाच येथें आलों आहें.[4] हें करवीरपूर व भोंवतालचें राष्ट्र तुझ्याच पूर्वजांनीं निर्माण केलें आहें. येथें हल्लीं शृगाल वासुदेव नांवाचा फार क्रूर असा राजा आहे, म्हणून ह्या नगरींत तुम्हीं राहूं नका. तुम्हीं कोणच्या ठिकाणीं राहून उन्मत्त जरासंधाशीं युद्ध करावें तें मीं सांगतों.

आपण आतांच्या आतां आपुल्या बाहुबलानें ही वेणानदी तरून जाऊं. आणि या पद्मावत देशाच्या सीमेवर, यज्ञगिरी म्हणून सह्याद्रीची एक शाखा आहे, त्या ठिकाणी आजची रात्र राहूं. तें स्थान मांसभक्षक चोरांचे निवास-

---

[1] ततः सह्याचल युतं सहार्येणाहमक्षयम् ॥ आत्मद्वितीयः श्रीमंतं प्रवेक्ष्ये दक्षिणापथम् ॥९॥

[2] वटवृक्ष.

[3] त्वया सायक वेगेन क्षिप्तो भार्गव सागरः ॥ इषुपातेन नगरंकृतं शूर्पारकं त्वया ॥२८॥
धनुष्यंच शतायाममिषुपंचशतोच्छ्रयम् ॥ सह्यस्यच निकुंजेषु स्फीतो जनपदो महान् ॥२९॥
अतिक्रम्योदधेर्वेलामपरांते निवेशितः ॥ त्वयातत्कार्तवीर्यस्य सहस्रभुजकाननम् ॥३०॥
धनुष्य आणि बाण यांचें प्रमाण असें: चार हात लांबीचें एक धनुष्य, दोन हात लांबीचा एक बाण.

[4] अपरांतादहं कृष्ण संप्रती ह्यागतः प्रभो ॥ एक एव विनाशिष्येर्युवयोर्मंत्र कारणात् ॥४४॥

हरिवंश अ० ३९.

स्थान[1] आहे. नंतर दुसरे दिवशी आपण खद्वांगा नांवाची नदी ओलांडून जाऊं. ती नदी पर्वतापासून खाली पडते. त्यानदोचा धबधबाहि गंगे सारखा आहे. त्यांत कसोटोचे दगड मिळतात[2]. त्याठिकाणीं विश्रांति घेतल्यावर, पुढें जातां जातां आपणास रमणीय असें क्रौंचपूर लागेल. त्या नगराचा, तुझ्याच वंशांतील, महाकपि नांवाचा व वनवास्य देशाचा स्वामी आहे[3]. त्याची प्रजा वनचर लोकांची आहे. परंतु त्या राजालाहि न भेटतां, सूर्यास्त होईपर्यंत आनडुह नामक तीर्थावर जाऊन तेथेंच आपण विश्रांति[4] घेऊं. तेथून मार्गस्थ झाल्यावर, आपण सह्याद्रीच्या दरींतील प्रख्यात गोमन्त नामक गिरीवर गमन करूं. त्यापर्वताला अनेक शिखरें असून, त्यांतून एक फार उंच असें आहे. त्यावर संचार करून, तुम्हीं दुर्ग युद्धाच्या पद्धतीनें जरासंधाला जिंकाल[5]. शैल युद्धांत त्याचा निरुपाय होईल. तो संग्राम 'चक्रमुशल' या नांवानें प्रख्यात राहील. त्यावेळीं तुझें विष्णुरूप उत्तम प्रकारें व्यक्त होईल." या प्रमाणें पुढें ते गोमंत शिखरावर येऊन पोंचले. तो पर्वत अगरु वृक्ष (चंदनविशेष) तमाल, एला (वेलदोडा), मरीच, पिंपळी यांचीं वनें, राळेचे (देवदार) वृक्ष, अशोक वृक्ष इत्यादि अनेक तरुलतांनी दाट भरलेला आहे. त्यावर हत्तींचे कळप होते. सिंह व व्याघ्र यांच्या आरोळ्यानीं तो दुमदुमून गेला होता. त्याच्या दरींतून जलधारा वाहत असल्यामुळें चंद्रकिरणांनीं तो फारच शोभिवंत दिसत होता. त्याच्या प्रपातांतून निघालेल्या नद्यांची शोभा अपूर्व होती. त्याचा पायथा विशाल असून शिखर उंच होतें.[6] इत्यादि. आतां, या वर्णनापैकीं जरूर त्यागोष्टी विचारांत घेऊन गोमन्त पर्वताचा शोध करूं.

'गोमंत' शोध

विकद्रु आणि परशुराम यांच्या कथनांतून, हरिवंशांतील 'गोमन्त' पर्वत म्हणजे सह्याद्रीच्या ओळींतील दऱ्यांनीं व शिखरांनी युक्त असलेला सह्याचाच विशिष्ट भाग आहे, हें दिसून येईल. श्रीकृष्णाच्या दक्षिणापथांतील प्रवासाचें शेवटचें

---

[1] तीर्त्वा वेणामिमां पुण्यां नदीमद्यैव बाहुभिः ॥ विपर्याते निवासाय गिरिं गच्छाम दुर्गमम् ॥५५॥
रम्यं यज्ञगिरिं नाम सह्यस्य प्ररुहं गिरिम् ॥ निवासं मांस भक्षाणां चौराणां घोरकर्मणाम् ॥५६॥

[2] प्रोष्ये तत्र निशामेकां खट्वांगानाम निम्नगाम् ॥५७॥
भद्रं ते संतरिष्यामो निकषोपलभूषणाम् ॥ गंगा प्रपात प्रतिमां भ्रष्टांच महतो गिरेः ॥५८॥

[3] रम्यं क्रौंचपुरं नाम गमिष्यामः पुरोत्तमम् ॥६०॥
वंशजस्तत्रते राजा कृष्ण धर्मरतः सदा ॥ महाकपिरितिख्यातो वनवास्य जनाधिपः ॥६१॥

[4] तमदृष्ट्वैव राजानं निवासाय गतेहनि ॥ तीर्थमनाडुहंनाम तत्रस्थास्याम संगताः ॥६२॥

[5] ततश्रुता गमिष्यामः सह्यस्य विवरे गिरिम् ॥ गोमन्त मिति विख्यातं नैक श्रृंग विभूपितम् ॥६३॥
श्रृंगस्थौ तस्य शैलस्य गोमन्तस्य वनेचरौ ॥ दुर्ग युद्धेन धावंतो जरासंध विजेष्यथः ॥६८॥
हरिवंश अ० ३९.

[6] लताचारु विचित्रंच नाना द्रुम विभूपितम् ॥ नानागुरु पिनद्धांगं चित्रं चित्रैर्मनोहरैः ॥५॥
हरि प्रपातांबुरवैश्छन्नं शार्दूल पल्लवैः ॥८॥ पनसागातकाम्रोघैर्वेत्र स्यंदन चंदनैः ॥११॥
तमालै लावनयुतं मरीच क्षुप संकुलम् ॥ पिप्पली वल्लिकलिलं चित्रमिंगुदि पादपैः ॥१२॥
हिंतालैश्च तमालैश्च पुन्नागैश्चोप शोभितम् ॥१४॥
नागयूथ समाकीर्ण मृग संघात शोभितम् ॥१७॥ सिंह शार्दूल सन्नदेः सततं प्रतिनादितम् ॥१८॥
सोवितं वारिधाराभिश्चंद्र पादैश्च शोभितम् ॥१९॥
मूलेन सुविशालेन शिरसाप्युच्छ्रितेनच ॥ ते तमासाद्य गोमन्तं रम्ये भूमिधरोत्तमम् ॥ हरिवंश अ० ४०.

स्थळ म्हणजे हा 'गोमन्त पर्वत' होय. त्याचा शोध, कथेंत वर्णिलेलीं प्रादेशिक व इतर लक्षणें त्या त्या क्रमानें घेऊन त्यांवरून केला पाहिजे. यदूच्या आज्ञेनें त्याच्या चार पुत्रांनीं स्थापन केलेलीं लहान-मोठीं चार राज्यें दक्षिण-भारतांत मोडतात. त्यांपैकीं दोन म्हणजे मुचुकुंदानें ऋक्षवान् पर्वताच्या आश्रयानें नर्मदातीरावर वसविलेली माहिष्मती नगरी, आणि हारितानें समुद्रांतील एका बेटावर वसविलेलें राज्य. यांचा—निदान पहिल्याचातरी—गोमंत पर्वताशीं कांहींच संबंध येत नाही. बाकी राहिलेलीं दोन. पहिलें सह्याद्रीच्या पठारावर, वेणानदीच्या तीरीं, पद्मावतानें वसविलेलें 'पद्मावत' नांवाचें लहानसें राज्य. त्याची राजधानी करवीर. दुसरें, सारसानें वसविलेलें 'क्रौंचपूर' नगर. त्याच्या सभोंवारचा विस्तृत व समृद्ध प्रदेश 'वनवासी' या नांवानें प्रसिद्ध होता. म्हणजे क्रौंचपूर हें वनवास्य देशाच्या राजधानीचें शहर झालें. पद्मावत आणि वनवास्य देश या दोन राज्यांत आलेलीं श्रीकृष्णाच्या प्रवासांतीलस्थळें व त्यासंबंधी हरिवंशांत वर्णन केलेली माहिती यांचें सकंलन येणें प्रमाणें:—

स्थळें	लक्षणें व विशेष माहिती.
१ वेणानदी.	बाहुबलानें तरून जाण्याइतकी लहान नदी.
२ करवीरपूर.	पद्मावताच्या राजधानीचें शहर.
३ यज्ञगिरि.	सह्यपर्वताची एक शाखा. त्याच्या आसमंतात् मांसभक्षण करणारे चोर राहतात. हें स्थळ पद्मावत राज्याच्या सीमेवर आहे.
४ खट्वांगा नदी.	ही नदी पोहून जाण्यासारखी नव्हती. ती पर्वतावरून खालीं पडत असल्यामुळें तिचा धबधबा बनला आहे. त्या नदींत कसोटीच्या उपयोगी पडणारे दगड मिळतात.
५ क्रौंचपूर.	वनवास्य देशाची राजधानी. येथील मृत्तिका ताम्रवर्णाची आणि प्रजा वनचर लोकांची आहे. (रानांतून राहणाऱ्या भिल्ल लोकांसारखे, किंवा राक्षस म्हटलेल्या लोकांसारखे, अगर मूळचे द्राविडी लोक).
६ आनडुहतीर्थ.	वनवास्य देशांतील एकाद्या नदीचें बनलेलें तीर्थ.
७ गोमन्त पर्वत.	याचें वर्णन वर आलेंच आहे.

आतां या स्थळांचा क्रमशः विचार करूं. वेणानदी अथवा करवीर या स्थळांपासून गोमन्त पर्वतापर्यंतच्या प्रवासाचें मापन अजमासें १७०।१८० मैल होतें. हा सर्व प्रवास सह्याद्रीच्या ओळींतून झालेला असल्यामुळें उपर्युक्त कोष्टकांतील स्थळें त्या ओळींत अगर जवळपास असलीं पाहिजेत हें उघड आहे. प्राचीन काळच्या देशाची, पर्वतांची, अगर पर्वतांच्या पोटभागांचीं, नद्यांचीं व तीर्थ-क्षेत्रांचीं नावें आजमितीसहि त्याच रूपांत अथवा किंचित् अपभ्रष्ट रूपांत तरी राहिलीं असतील असें नसल्यामुळें, अशीं शेंकडों स्थळें आहेत कीं, ज्यांची स्थानें निश्चित सांगणें मोठमोठ्या विद्वानांसहि अशक्य होतें. तेव्हां यज्ञगिरि, खट्वांगानदी, क्रौंचपूर, आनडुहतीर्थ हीं स्थळें अमुकच आहेत असें निश्चित सांगणें चुकीचें होईल. आतां टप्प्यांच्या स्थळांचा तपास काढीत गोमन्त पर्वताकडे जाऊं.

१ वेणानदीः—ही नदी सातारा जिल्ह्यांत महाबळेश्वराच्या पहाडांतून उगम पावून साताऱ्याच्या पूर्वेस, माहुली, गांवाजवळ कृष्णानदीला मिळते. या ठिकाणाला 'संगम-माहुली' म्हणतात. ही कोल्हापूरचे उत्तरेस (सुमारें ३५ मैलांवर) असल्या बद्दल सर्वांची एक वाक्यता आहे.

२ करवीरपूरः—म्हणजे सध्यांचें कोल्हापूर. या बद्दल वाद नाहीं.

३ यज्ञगिरिः—प्रो. काणे यांनीं या संबंधात कांहीं लिहिलेलें नाहीं. रा० 'गोंयबाब' यांचे मतें "बेळगांवच्या उत्तरेस २० मैलांवर 'हुन्नूर' नांवाचा डोंगर आहे तो. त्याला पवित्रगिरि किंवा पैंझरगड अशीं सांप्रत नावें आहेत. त्याच्या आसपास १०।१५ मैलांच्या भागांत मांस खाणारे व घोर कर्म करणारे 'बेरड' नांवाचे लोक राहतात." अशीं लक्षणं सांगून त्याला बॉम्बे गझेटियर जि. २. पा. ५७१ वे (बेळगांव) मधोल हुन्नूर डोंगराच्या माहितीचा आधार दिला आहे. पण त्यांच्या स्थल निश्चितीला तो उपयोगी पडेल असें वाटत नाहीं. कारण 'हुन्नूर' हेंच त्याचें मूळ (कानडी) नांव, तेथील त्याच नांवाच्या गांवावरून पडलेलें आहे. आणि 'पवित्रगड' हें हुन्नूर डोंगरावरील किल्ल्याला दिलेलें अडीच-तीनशें वर्षांच्या आंतलें नांव आहे. रा० 'गोंयबाब' यांनी 'ग ड' शब्दाच्या जागी 'गि रि' हा पदरचा शब्द ठेवून देऊन, गिरीला गिरि शब्द बेमालूमपणें जुळवून टाकला आहे। शिवछत्रपतीच्यावेळीं त्याचे नांव 'पवित्रगड' होतें, असें ग्रँटडफ साहेबानें मराठ्यांच्या इतिहासांत लिहिलें आहे. (पृ० १३३). ह्याहुन्नूर डोंगराची उंची सुमारें २७० फूट आहे. हरिवंशांत यज्ञगिरीला सह्याचा उपगिरि म्हटलें आहे. 'उपगिरि' याचें टोकाकार नोलकंठ 'प्ररुहं उपगिरिम्' असें स्पष्टीकरण करतो, व कोशकार याचा अर्थ 'डोंगरीगांव' असा देतो. त्यावरून साह्यद्रीपासून एकाद्या गांवापर्यंत वाढत गेलेला त्याचा उंचवटा म्हणजे डोंगरा सारखा भाग हा यज्ञगिरि असावा, असा तर्क होतो. या अनुरोधानें तपास करतां असें समजतें कीं, करवीरच्या दक्षिणेस सुमारें वीस मैलांवर, बेळगांव जिल्ह्यांतील चिकोडी तालुक्यांत, 'सौंदलगे' या नांवाचा एक गांव आहे. त्याच्या अलीकडे दोन मैलांवर एक डोंगर असून त्याला 'मलयाचाडोंगर' म्हणतात. त्यावर यल्लम्माचें[1] एक जुनाट देऊळ आहे. 'मलयाचा डोंगर' तोच हरिवंशांतील 'यज्ञगिरि' असे तिकडील माहितगार लोकांचें मत आहे. या डोंगरापासून जवळच सवामैलावर 'वेदगंगा' नांवाची एक नदी आहे. खेडे गांवा जवळचा हा डोंगर असल्यामुळें बेरडां सारखे रानांत राहणारे लोक त्या ठिकाणीं राहणें शक्य आहे.

खट्वांगानदीः—'घटप्रभा' नांवाची नदी बेळगांव जिल्ह्यांत आहे. ती गोकाकच्या वायव्येस १७५ फूट उंचीच्या डोंगरावरून खालीं उडी टाकते. ह्या प्रपातामुळें नदींत सफेत व गुलाबी रंगाचे कांचमणि व वाटोळे लहान लहान गोटे आढळतात. ह्या लक्षणांवरून रा० 'गोंयबाब' यांनीं खट्वांगा ह्मणजेच घटप्रभा असें निःसंदिग्ध विधान केलें आहे. हें त्यांचें मत, अन्य साधनांच्या अभावीं, बहुतांशीं मला मान्य करावें लागतें.

स्कंदपुराणांत पन्नास खंडें असल्याचें एका पुस्तकांत लिहिलेलें आठवतें. पन्नास खंडांची ही बाब विश्वसनीय नाहींच, पण त्यांत १५ खंडांनी युक्त अशी एक संहिता आहे, त्यांत खट्वांगोखंड, वरदाखंड, तुंगभद्राखंड अशीं खंडाचीं नावें मिळतात; तीं नद्यांचीं द्योतक आहेत यांत संशय नाहीं. आणि साहचर्याच्या दृष्टीनें विचार केल्यास खट्वांगो हें नांव घटप्रभानदीचें असावें असें मानण्याकडे माझी प्रवृत्ति होते.

या ठिकाणीं प्रो० काणे यांच्या कडून नकळत एक चूक झाली आहे ती सांगूं. त्यांनीं क्रौंचपूर आणि वनवास्य देश हा प्रदेश कारवार जिल्ह्यांतील शिरसी जवळ, व त्याच्यापलीकडे गोमन्तगिरि, हें लक्षणांनीं दाखवितांना, "ह्या वर्णनाला जुळण्यासाठीं खट्वांगानदी व तिचा धबधबा म्हणजे गेरसप्पाचा धबधबा मानला पाहिजे, त्या धबधब्याच्या पलीकडे क्रौंचपूर व त्याचेहि पुढें गोमन्त" असें विधान केलें आहे. मागें दिलेल्या कोष्टकांतील क्रमांवरून, त्यांचें हें विधान चुकीचें आहे, हें सहज दिसून येईल. गोमन्त पर्वत वनवासीच्या दक्षिणेस जवळपास असला पाहिजे, ही त्यांची उपपत्ति

---

[1] जमदग्नीचा स्त्री रेणुका, ती परशुरामाची माता, इचें हें कानडी भाषेंतील नांव आहे.

बरोबर आहे, पण जग-प्रसिद्ध गेरसप्पाचा धबधबा हा शरावती नदी पासून बनला आहे, व ती नदी व तो धबधबा हीं—गोमन्त वनवासीच्या दक्षिणेस मानल्यामुळें—वनवासीच्या पश्चिमेस पण तिच्या समांतर रेषेंत दक्षिणेस आहेत.

ह्याठिकाणीं रा० 'गोंयबाब' यांनींहि एक चूक केली आहे. त्यानीं गेरसप्पाचा धबधबा व त्याच्या भोंवतालचा प्रदेश सह्याद्रीच्या टापूंत नसून मलयपर्वताच्या टापूंत पडतो म्हणून सांगितलें, व त्याच्या समर्थनासाठी बॉम्बे गॅझेटिअर जि० १५, (भाग १) पृ० ४ (नार्थ केनाड़ा गज़ट) चा आधार दिला आहे. त्यांनीं त्याच गज़ेटियर मधील एतद्विक सर्व माहिती काळजी पूर्वक वाचली असतो, तर तो धबधबा मलयपर्वतांत नसून सह्याद्रीच्याच ओळींत आहे, इतकेंचनव्हे तर तेथून खालीं १०० मैल पर्यंत सह्याद्रीचीच ओळ आहे हें त्यांस दिसून येतें. ("Shiravati, among magnificient forests and wild granite cliffs, dashes over the west face of sahyadris, a height of 825 feet into a pool 350 feet deep.") असो.

क्रौंचपूर:—क्रौंचपुर आणि त्याच्या खालचें आनडुहतीर्थ हीं दोंन्हो नांवें अनुक्रमें पक्षाच्या व वृषभाच्या (अनुडुह=बैल) नावांचीं आहेत. क्रौंचपुर हो वनवास्य देशाचा स्वामो जो महाकपि त्याची राजधानी होती. महाभारताच्या सभापर्वांत वनवासी देश व त्याची राजधानी जयन्तिपुर ह्या दोहोंचाहि उल्लेख आहे. वनवासी हें म्हैसुर संस्थानांतोल सोराव (सुरभि) तालुक्याच्या पश्चिमेस, वरदानदीच्या कांठावर, आहे. या शहराचा उल्लेख महावंसो नांवाच्या बुद्धग्रंथांत आला आहे, आणि इ.स.च्या दुसऱ्या शतकांतोल ग्रीक भूगोलवेत्ता टॉलिमी यानें पश्चिम किनाऱ्या लगतच्या प्रसिद्ध शहरांत वनवासोचा उल्लेख केला आहे. इ.स. ११६१ च्या चालुक्य सम्राट तैलपच्या ताम्रपटात जयन्तिपुर हें त्याचें राजधानीचें शहर म्हटलें आहे, आणि वनवासी व जयन्तिपुर हीं एकत्र असें मानलें आहे. ह्या उल्लेखां शिवाय कदंबराजे आणि विजयनगरचे राजे यांच्या अमदानींतहि जयन्तिपुर हें राजधानीचें एक शहर असल्याचे कैक उल्लेख इतिहासांत मिळतात. वनवासी आणि जयन्तिपुर हीं दोन नावें एकाच स्थळाचीं असावीं, किंवा प्राचीन वनवासोच्या सन्निध जयन्तिपुर म्हणून एकादें शहर वसलेलें असेल. ह्यामाहितीवरून हरिवंशांतोल क्रौंचपुर हें महाभारतांत सांगितलेल्या जयन्तिपुरीचें दूसरें नांव होय असें म्हणावें लागतें. हरिवंशकारानें त्याला क्रौंचपक्षाचें लाक्षणिक नांव दिलें इतकेंच. ह्या क्रौंचपुराचें आणि वनवास्य देशाचें हरिवंशांत सांगितलेलें लक्षण ताम्रमृत्तिका हें आहे. त्या प्रमाणें त्या प्रदेशांत प्रवाशाला तांबडीच माती पहावयास मिळते. तिला 'कागदळी' असें म्हणतात. क्रौंचपुर संबंधी रा. 'गोंयबाब' यांनीं लढविलेला तर्क कुचकामाचा आहे. त्यांचें म्हणणें असें कीं, बेळगांव जिल्ह्यातील खानापूरच्या आग्नेय दिशेला १० मैलांवर, 'हळसो' किंवा 'हळसिगे' ही कदंबराजांचो इ.स.च्या पांचव्या शतकांत राजधानो होती. तिला कदंबांच्या दोन ताम्रपटांत 'विजयपलाशिका' असेंहि म्हटलें आहे. तेव्हां "हरिवंशांतील क्रौंचपुर हें विजयपलाशिका नगराचें दुसरें नांव होय." 'गोंयबाब' यांना येथून थेट पश्चिम समुद्र-किनाऱ्यावरोल पोर्तुगीज गोवा प्रांताच्या हद्दीवर श्रीकृष्ण-जरासंधाचें भयंकर युद्ध घडवून आणावयाचें असल्यामुळे खानापुराच्या खालो—दक्षिणेस—श्रोकृष्णाला नेलें तर त्यांच्या इच्छित कार्याचा नाश होईल, म्हणून क्रौंचपुर आणि आनडुहतोर्थ हीं दोंन्हो ह्याटापूंतच कोठेंतरो दाखविणें त्यांना प्राप्त झालें. पण त्यांच्या शिवाय (त्यांचा तरी स्वतःच्या तर्कावर विश्वास असेलच असें दिसत नाहीं) दुसरा कोणीहि तें मान्य करणार नाहीं.

आनडुहतीर्थ:—रा० "गोंयबाब" चें म्हणणें असें कीं, "आनडुह ह्या शब्दाचा अर्थ नंदी संबंधाचें, अर्थात् नंदोतोर्थ असा होतो. सांप्रत हळसोच्या (क्रौंचपुर तीच हळसी असें यांचें मत मागें दिलें आहेच) उत्तरेस 'नंदोगड' नांवाचें लहानसें शहर लागतें. त्यावरून आनडुह ऊर्फ नंदीतीर्थ प्राचीन काळीं नंदीगडाच्या जवळच कोठेंतरी असून त्याच्या सान्निध्यानेंच नंदोगड हें नांव प्रसिद्धीस आलें आहें". रा० 'गोंयबाब' यांना प्राचीन स्थळांचीं नांवें निश्चितार्थानें

सांगण्यास अडचण म्हणून कसलीच पडत नाहीं. या गृहस्थानें यज्ञगिरीच्या बाबतींत पवित्र गडाला पवित्र गिरि म्हणण्यांत जी हातचलाखी केली, तशीच या ठिकाणींहि केली आहे। त्यांनीं हळसीच्या उत्तरे कडचें 'नंदीगड' म्हणून जें नांव सांगितलें, तें तसें नसून त्याचें 'नंदगड' असेंच नांव प्रसिद्ध व सर्वतोमुखी आहे. याला पुरावाच पाहिजे असल्यास बेळगांव गॅझेटिअर, पृ० ५९० वर दिलेली 'नंदगड' ची माहिती पहावी. त्यांनीं आनडुह या शब्दार्थाला जमेल असें 'नंदगड' गांवाचें 'नंदीगड' हें नांव बेमालूम ठेवून देण्यांत कौशल्य (?) दाखविलें खरें, पण पुढें त्यांना तीर्थाची अडचण पडतांच 'नंदीतीर्थ' ह्या नांवाचें काल्पनिक तीर्थ मानावें लागून, त्याच्या स्थानाबद्दलहि कल्पनेवरच लटकावें लागलें. म्हणून नावांचे मेळ घालण्याची त्यांची ही सर्व लटपट निखालस खोटी ठरते. 'गोंयबाब' ज्या क्रौंचपुरास हळसी म्हणून समजतात, त्या त्यांच्या क्रौंचपुराच्या दक्षिणेस आनडुहतीर्थ असलें पाहिजे (मागील स्थळांचे कोष्टक पहा) पण त्यांचे नंदीगडा जवळपास कुठें तरी असलेलें काल्पनिक नंदीतीर्थ हळसीच्या उत्तरेस येतें. कारण नंदगड हळसीच्या उत्तरेस ३।४ मैलांवर आहे. लटपटीच्या लेखनांत 'गोंयबाब' यांनीं ही मोठीच घोडचुक केली आहे.

माझ्यामतें, 'आनडुह' याच्या अर्थावरून तें 'वृषभतीर्थ' या नांवानेंहि परिचयाचें असण्याचा संभव आहे. शिर्सी, वनवासी आणि म्हैसूरच्या प्रदेशांतहि 'वृषभतीर्थ' या नांवाची नद्यांच्या सान्निध्यांत एक दोन तीर्थें आहेत असें तपासावरून समजतें. त्यावरून वनवासीच्या जवळपास त्या नांवाचे एकादें तीर्थ असेलहि. नक्की माहितीच्या अभावीं निश्चित विधान करण्याचें धाडस मला करवत नसलें, तरी हरिवंशांतील आनडुहतीर्थ वनवासीच्या जवळपास पण दक्षिणेस येतें, हळसीच्या जवळपास येऊं शकत नाहीं, हें खास.

गोमन्तपर्वतः—येथपर्यंत, सहास्थळाच्या क्रमवार दिलेल्या माहितीवरून, गोमन्तपर्वताचा शोध आनडुह तीर्थाच्या खालीं पण वनवास्य देशांतच लागला पाहिजे, हें स्पष्ट दिसून येईल. या बाबींत प्राफेसर काणे यांनीं त्याचे स्थानासंबंधी बसविलेली उपपत्ति निर्बाध असून ती मला पूर्णतः मान्य आहे. परंतु त्यांनीं गामंत पर्वताचें स्थान निश्चित सांगितलें नाहीं तें आतां निश्चित करावयाचें आहे.

गोमन्त निर्णय.

हरिवंश लिहिणाराच्या समोर महाकपीच्या वनवास्य देशाचा विस्तार कितीहि मोठा असला तरी, सध्यांचें वनवासी हें उत्तर-कानडा जिल्ह्याच्या पूर्व सरहद्दीवर व शिर्सीच्या आग्नेयेला ३० मैलांवर—म्हैसूर संस्थानांत—सुमारें दोन हजार लोक संख्येचें एक गांव आहे. त्याच्या खालीं सह्यागिरीचा विशिष्ट भाग म्हटलेला 'गोमन्त' पवत आहे. त्याची व्यवस्थित माहिती व्हावी म्हणून म्हैसूर प्रांतांतील एका ताम्रलिखित दान पत्रांतील आवश्यक तेवढा भाग खालीं उद्धृत करतों. विजयनगरचा पहिला हरिहरराय याचा कनिष्ट बंधु मारप यानें इ. स. १३४७ सालीं, आंध्रदेशीय अठ्ठावीस ब्राह्मणांना वरदानदीच्या तीरावरील कान्तपुरी नांवाचा गांव अग्रहार करून दिला त्याचें हें दानपत्र[1] आहे.

कल्लासनान् मारप भूमिपालः संप्राप्य राज्यम् दिशि पश्चिमायाम् ।
गोमन्तशैले वरचंद्रगुप्तौ स्थित्वासुखं सम्यग पालयत्प्रजाः ॥

* * *

---

[1] इपिग्राफ़िया कर्नाटिका व्हॉ. ८, भा. २ च्या पा. १९०.

कुंतल[1] देश मंडनायमान वनवासि द्वादश सहस्र संख्याक राज्य प्रधान राजधानी चंद्रगुत्तोऽपरनामधेय गोमन्त पर्वत द्वादश खर्वाट मध्यदेश विलासद यडनाड[2] नगरखंडे कमठपुरान्तर्गत वरदानदी तीरस्थ कान्तपुरीम् प्रतिनाम वीरमारपपुरीम्………

मारप राजानें (कदंबवंशीय) कल्लासन राजाला जिंकून पश्चिम दिशेला राज्य संपादन केलें, आणि गोमन्तशैल अथवा चंद्रगुप्ति येथें आपली राजधानो करून, तो सुखानें राज्य पालन करूं लागला. आपल्या राजधानोचा असा उल्लेख केल्यावर दानपत्राच्या शेवटच्या भागांत त्या दत्तगांवाला वीरमारपपुरी असें स्वतःचें नांव देऊन, त्याचें निश्चित स्थान सांगण्यासाठीं प्रदेशांचीं नांवें नोंदिलीं आहेत. त्यांत कुंतल देशाचें भूषण जें 'बनवासो १२ हजार राज्य,' त्याची मुख्य राजधानी चंद्रगुप्ति अथवा गोमन्त-पर्वत असल्याचें सागितलें आहे. म्हणजे चंद्रगुप्ति[3] आणि गोमन्तपर्वत हीं एकाच स्थळाचीं दोन नांवें होतात, आणि तशीं तीं समजलींहि जातात. गोमन्तशैल हें पहिलें म्हणजे हरिवंश लेखन काला इतकें प्राचोन नांव असून चंद्रगुप्ति हें नांव त्या शैलाला मागाहून प्राप्त झालेलें दिसतें. आतां हरिवंशकाराने वर्णन केलेलीं लक्षणें या गोमंतास कशीं लागू पडतात तें पाहूं. शिर्सीपासून तों चंद्रगुप्तोपर्यंतच्या प्रवासांत येणारा सह्याद्रीचा भाग दक्षिणोत्तर मूळांतून वाढत वाढत उंच होत गेला आहे. ह्या भागांत बरींच शिखरें व अनेक दऱ्या आहेत. गोमन्त हें त्यांतलेंच एक शिखर आहे. त्या भागांतून कांहीं नद्या वाहत असतात व दऱ्यांतून धबधब्यांचे निनाद ऐकूं येतात. त्या पर्वतावर सिंह, व्याघ्र हीं हिंस्र जनावरें आणि हरणांचे कळप असलेले दिसून येतात. हत्तींच्या पैदासी बद्दल तर म्हैसूरचा प्रदेश सुप्रसिद्ध आहे, तसाच चंदनाच्या पैदासीबद्दलहि प्रसिद्ध आहे. तमाल, एला, मरिच, पिंपळी यांची पैदास त्या भागांत वैपुल्याने होते. हरिवंशांत वर्णन केलेले इतर सर्व वृक्ष व सुंदर वनराजी या संबंधो मनाला आल्हाद देणारी वर्णनें अनेक प्रवाशांनी लिहून ठेविलेलीं आहेत. उलटपक्षीं रा० 'गोंयबाव' च्या गोवें प्रांतांत अथवा कुवेशो डोंगराच्या रानांत त्यांपैकी कांहीं एक मिळणार नाहीं. तेथील जंगलांत आणि गांवांतून शिसा, साईल, खैर, बाभूळ, पातफणस, ओख, नारळ, सुपारो, काजु, फणस पपनस, पेरु, जांभूळ इत्यादि वनस्पति आहेत. (महाराष्ट्र-सांवत्सरिक). अर्थात् श्रीकृष्ण-जरासंध युद्धानें प्रसिद्ध असलेला 'हरिवंशांतील गोमन्त पर्वत', हा वर सांगितलेला म्हैसूर प्रांतांतोल होय, हें निर्विवाद सिद्ध होतें.

---

[1] दक्षिणापथांतील एका प्राचीन देशाचें नांव. भारत प्रसिद्ध चंद्रहास कुंतल देशाचा राजा होता.

[2] 'इडाइनाडु' ह्या मूळतामील शब्दाचें 'यडनाड' हें कानडी भाषेंतील अपभ्रष्ट रूप आहे, असें समजतें. त्याचा अर्थ त्याच्या मधस्थ प्रदेश असा होतो. नगर अथवा नागरखंड हा प्रदेश म्हैसूर संस्थानापैकीं शिकारपूर तालुका असा समजला जातो.

[3] (चन्द्रगुप्ति) समुद्र सपाटी पासून २८३६ फूट उंचीचें हें पर्वत शिखर असून त्यावर रेणुकादेवी सतीगेल्यामुळें तिथें देवालय आहें.

६

भाषातत्त्व

Dravidic names for the parts of the human body

प्रो० एल० वि० रामस्वामी ऐय्यर, एम० ए०, बी० एल०, एर्नाकुलम्

[प्रत्येक भाषा में संख्यावाचक विशेषण, सर्वनाम, रिश्तों के सूचक नाम, शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों के लिए प्रयुक्त नाम आदि कुछ इस प्रकार के शब्द पाए जाते हैं जिन में परिवर्तन बहुत कठिनाई से होता है। इस प्रकार के शब्दों के अध्ययन से भाषाओं के वर्गीकरण में विशेष सहायता मिलती है। प्रस्तुत निबंध में द्राविड भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों के नामों का विस्तृत तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

इस अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये नाम निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) सिर, आँख, कान, नाक, मुँह, दाँत, हाथ तथा पैर के सूचक नाम प्रायः समस्त द्राविड भाषाओं में समान हैं, (२) गाल, ठुड्डी, जबड़ा, जीभ, होंठ, अँगुली, नाख़ून तथा खाल के सूचक नामों में दक्षिण तथा मध्यवर्ती द्राविड भाषाओं में विशेष भेद नहीं है, (३) बाल, गाल, गरदन, पसीना, सांस तथा हड्डी के सूचक नाम दक्षिणी द्राविड भाषाओं में पृथक् हैं, (४) भूख तथा हृदय के सूचक नाम दक्षिणी तथा उत्तरी द्राविड भाषाओं में मिलते जुलते हैं, किन्तु मध्यवर्ती भाषाओं में भिन्न हैं, (५) बाल, गाल, जीभ, होंठ, गरदन, नाख़ून, खाल तथा पसीने के सूचक मूल नामों के स्थान पर उत्तरी द्राविड भाषाओं में विदेशी शब्द प्रचलित हो गये हैं, (६) चोटी, गाल, पेट, त्वचा तथा हृदय के सूचक नाम प्रायः आर्यावर्त्ती भाषाओं से दक्षिणी द्राविड भाषाओं में पहुँचे हैं, (७) बाल (कुन्तल) पेट तथा भूख (प्से) के द्राविड रूपों से यह अनुमान होता है कि ये आर्यावर्त्ती भाषाओं में कदाचित् द्राविड भाषाओं से पहुँचे हैं, (८) द्राविड शब्दों के रहते हुए भी कुछ आधुनिक दक्षिणी द्राविड भाषाओं में थोड़े आर्यावर्त्ती भाषाओं के शब्द भी साथ साथ प्रचलित हो गये हैं, (९) बाल, गाल, होठ तथा रक्त के नामों में आधुनिक दक्षिणी द्राविड भाषाओं में कुछ विभिन्नता पाई जाती है।]

In every language certain categories of words are, in normal circumstances, less open than others to replacement through internal processes of change or to displacement by foreign loans. Numerals, pronouns, names of relatives, names for the parts of the human body, expressions denoting elementary ideas like the primary colours and the activities of the senses,—these are the most prominent of such categories. These therefore might be described as forming part of the essential heritage of the vocabulary of a language-family; and except under the influence of extraordinary factors making for change, these categories might be expected to persist largely in the several units of the language-family concerned.—In Indo-European, for instance, a common base underlies widely distributed representatives like Greek *pous* (foot), Latin *pes,* Gothic *fôtus,* Lithuanian *Pêdà* (foot-track) and Indo-âryan *Pâda;* but words for 'hand' appear to be basically different: Greek *cheir*, Latin *manus*, English *hand*, Lithuanian *rankà* and Indo-âryan *hasta*.

The factors that make for change (*i.e.*, replacement or displacement) in the vocabulary of a language in the course of its historical evolution are both internal and external. To the former belong changes involved in the replacement of older words by basically different synonyms, the dropping of words with a view to avoiding confusion between homonyms, and the loss of old words resulting from euphemism, pejoration and from a radical change in the perspective of the people speaking the language. The external or foreign influence may operate when as the result of colonization, conquest, immigration or other historical causes, racial contact or racial coalescence comes into being. If the circumstances favouring linguistic contact are sufficiently strong, the influence of the foreign vocabulary may make itself felt not only among the "culture-words" (which normally are freely borrowed) but also among those categories of words which we have collectively described above as the lexical heritage of a family of languages.

Some of the categories of words forming part of the lexical heritage of Dravidian have already been discussed by me elsewhere. In this paper I propose to examine the available Dravidian words for the parts of the human body with special reference to the question of glossarial resemblances and variations. We shall find that (i) certain groups of words have basically persisted in all the Dravidian dialects; (ii) certain forms are confined exclusively to the South Dravidian speeches, while a few others are common only to the central Indian Dravidian dialects; (iii) many forms of the northern dialects are divergent, mostly owing to displacement by foreign loan-words; (iv) in certain cases, adaptations from Indo-âryan (possibly MIA in some) are not infrequent in the southern speeches too; (v) in certain others the parallelisms between Indo-âryan and Dravidian are such as to lead to the postulate of Dravidian origin for the bases represented in both IA and Dravidian; (vi) the degree of cultural separation" indicated by our discussion between south Dravidian and north Dr. is considerable; (vii) even among the southern speeches there exist in some instances such striking variations in the popularization of forms in the modern colloquials as to indicate cultural divergences within the southern group itself; (viii) the influence of IA has been quite strong in bringing about many of these variations.

In the following table the cognates are grouped together in connection with each title. Those forms which have no cognates (with the same meanings) in other Dr. dialects are enclosed within square brackets. Adaptations from Indo-âryan (whether OIA, MIA or NIA) are marked off within brackets with the abbreviation IA prefixed to them. These forms adduced in the lists are not the original IA words, but their modifications as they appear naturalized in different Dr. dialects.

The important Dravidian speeches are all considered here. Though Kûvi is only a barnch of Kûi, I have included it in the table, as some forms of this dialect differ conspicuously from those of Kûi. The uncultivated "minor" dialects of the Madras Presidency are mainly allied to one or other of the literary speeches; wherever unique forms are discoverable, they have been embodied in the course of my discussions of the severals groups.

		Tamil	Malayâlam	Kannaḍa	Telugu	Tulu	Kûi	Kûvi	Gôṇḍi	Kuru*kh*	*Malto*	Brâhûî
Head	i	*talai*	*tala*	*tale*	*tala*	*taræ*	*tlâ-u*	*tlâ-y-u*, *trâ-y-u*	*talâ*		[*tali* (hair of head)]	
	ii	*maṇḍai* (skull)	*maṇḍa*	*maṇḍa*		*maṇḍæ*						
	iii									[? *kukk*]	[? *xuk*]	[*kâṭum*]
Hair	i	*mayir* *naviram*	*mayir*	*navir*								
	ii	*kurul* (curl, hair)	*kurul*	*kurul*	*kurulu*	*kujalu* (hair)						
	iii	*kûndal* (long flowing hair)	*kodalu*,	*kadalu*, *kûndal*								*kunnal*
	iv	*śuṭṭi* (tuft of hair)	*śuṭṭi*	*juṭṭu*	*juṭṭu*	*juṭṭu*			*cuṭṭî* [NIA?]	*cuṭṭî* [NIA?]		[IA—*cuṇḍ* (lock of hair, top-knot)]
	v	[*śuriyal*, *neḍumai*]	[IA—*rôman*]	[*piṇilu* (woman's long hair)]	[*neṛulu*, *veṇḍruka*]							
Eye	i	*Kaṇ*	*kaṇ*	*kaṇ*	*kannu*	*kaṇṇu*	*kanu*	*kanu*	*kannu*	*xan*	*xan*	*xan*
	ii	[*nâṭṭam*, *nôk̇kam*, *pârvai*, *vili*] (sight)										
Ear	i	*śevi*	*cevi*	*kibi*, *kivi*	*cevi*	*kabi*			*kavi*	*xebda*	*xedve*	*xaf*
	ii	*kâdu*	*kâdu*									
	iii	[*kannam*]			[*vînu*]			[*krî-y-u*]				

Nose		*mûkku*	*mûkku*	*mûkku*	*mûgu,* *mûkku*	*mûkku*	*mungeli*	*mungeli*	*mussôr,* *massôr*	*mûĩ*	*mûs*	*bâmus*
Cheek	i	*kannam*	*cennam*	*kannu*								
	ii	*śenni* (head)	*kenni, cenni*	*kenne*	*cenni*	*kenne*						
	iii		*ceppi*	*cempa*	*cempe*	*keppe,* *kebbu*						
	iv		*cellu*		*kekke,* *cekkili,* *cekku*	*kekke* (neck)	[IA— *gaḍa*]		[IA— *kolvi*]	[IA— *galle*]		[IA— *kallak*]
	v	*tavaḍai,* *tâḍai*	*tâḍa* (dewlap)	*davaḍe,* *ḍavuḍe*	*davaḍa,* *davuḍa*	*davuḍe*		*lapeḍi* (chin)				
	vi	*kadupu*		*kadampu,* *kadupu*								
Mouth	i	*vây*	*vâya*	*bây*	*vâya*	*bây*			*vây*	*baî*		*bâ*
	ii				[*nôru*]		[*suḍa* (month, beak)]		[*tôḍi*]	[IA— *ṭhoṭra* (configu- ration of mouth)]	[IA— *toṛoth*]	[IA— *śuṇṭ* (beak, bill)]
Tooth		*pal*	*pal*	*pal*	*pallu*	*paru*	*pallu*	*pallu*	*pal*	*pal*	*pal*	*pal*
Tongue	i	*nâ, nâkku*	*nâvu,* *nâkku*	*nâlige*	*nâluka,* *nâlika*	*nâlâyi*	cf. *nâk*— (to lick)	cf. *nâk*— (to lick)	cf. *nâk*— (to lick)			
	ii						[*vaṇḍori*]	[*vañjori*]	[*vañjer*]	[? *tatxâ*]		
Lip	i	*tuḍi*	*cuṇḍu*	*tuḍi*		*duḍi*	*tuḍa,* *ṭôṇḍa*	luḍa				[IA—*suṇṭ* (beak, bill)]
	ii	*udaḍu*		*odaḍu*								
	iii	[*edalu*]			[*vâteṛa,* *môvi,* *pedavi*]	[IA— *oṭṭe*]			[? *peddel,* *silvi*]			

		Tamil	Malayâlam	Kannaḍa	Telugu	Tulu	Kûi	Kûvi	Gôṇḍi	Kurukh	*Malto*	Brâhûî
Neck	i	*kaluttu*	*kaluttu*	*kattu*								
	ii			*kuttuga,* *kuttige*	*kuttuga,* *gontu*							[guṭ]
	iii			[*arṛu*]		[I A.— *kekkilu*] [IA— *kaṇṭilu*]			[*varêr,* *guṛung*]	[*xesêr*]		
Body	i	*mey*	*mey*	*mey*	*meya,* *mênu*	*mey*			*mendul*	*mêd*		
	ii	*uḍal,* *uḍambu*	*uḍal*	*oḍal*	*oḍal*							
	iii	[*yâkkai,* *uṛuppu,* *pudai,* *puṇarvu,* *pûtci*]	[IA— *dêham*]	[*ḍokke*] [IA— *aṅga*]	[IA— *aṅga*]	*banji*	[IA— *aṅga*]	[IA— *anga*]	[IA]	[IA]	[IA]	
Belly	i	*vayaṛu,* *vayiṛ*	*vayaṛu*	*basiṛu*		*banji*		*bandi, vabi*				
	ii			*poṭṭe,* *boṭṭe,* *bojje* (paunch) *pode* (belly, breast)	*boṛṛe,* *bojje*				*pîr*	*poṭṭe* *poṭṭe*	*pur*	*pid*
	iii	*paṇḍi*	*palla, paṇḍi*									
	iv			*ḍokke*	*ḍokka*							
	v	[IA *tondi* (pot- belly)]	[IA *tondi*]		[IA— *tundam*]		*ṭûlu*					
	vi	[*môḍu,* *agaḍu*]			[*Kaḍupu*]	[*uḍalu*]						

Hunger	i	*payi, paśi*	*payi*	*pasi*	*pastu* (fasting)					*pac*—(to be hungry)		*?bin*
	ii	[*paṭṭini*]	[*viśappu*] [*paṭṭiṇi, paṣiṇi*]		[IA—*âkali*]	[*baḍavu*]	[IA—*saki*]	[IA—*baki*]	[*Karu*]	[*Kirâ*]		
Hand		*kay*	*kay*	*kay*	*ceyya, ceya cêya, kay, gey*	*kay*	*kaju*	*kayu*	*kay*	*xekka*		
	ii			[*tôl, raṭṭe* (arm)]		[*tôl*]					[kol. *te*]	[Afgh. *du*]
Finger		*viral*	*viral*	*biral, beralu*	*vrêlu*	*biralu*	*vañju*	*vansu*	*virīñj, varañj*			[*ôr*, (*b*). *ôr*]
Nail		*ugir* [IA—*nagam*]	*ugir* [IA—*nakham*]	*ugur*	*gôru*	*ugur*	*gôru*	*gôtu*				
Leg		*kâl*	*kâl*	*kâl*	*kâl*	*kâru*	*kâlu, kâḍu*	*kaḍḍa*	*kâl*	*xeḍ*	*xeḍ*	[Foreign *naṭ*]
Skin		*tôl*	*tôl, togal*	*Togal, toval tôl; sôl* (slough of snake)	*tôl*	*tugal, tôl, coli*		*tôlu*	*tôl*			*? sil*
	ii									[IA—*capṭâ*]		
Perspiration	i	*viyar, vêr*	*veśarpu*	*besar*		*begaru, bevaru, bemaru*						
	ii				[*cemaṭa*]		[IA—*kara*]	[IA—*gama*]	[IA—*kâlum*]	[? *ercra*]	[? *ercra*]	
Flesh	i	*ûn*					*ûju*	*ûṅga* [Pl.]				
	ii	*iṛaicci*	*iṛacci*		*eṛacci*	*ercci*						
	iii	*tû*										*sû*
	iv	[IA—*mâmiśam*]	[IA—*mâmsam*]	[*bâḍ, bikku*] [IA—*kaṇḍa*]	[*nañjuḍu*] [IA—*kaṇḍa*]				[IA—*khaṇḍum*		[? ahṛâ]	[? *abṛâ*]

		Tamil	Malayâlam	Kannaḍa	Telugu	Tulu	Kûi	Kûvi	Gôṇḍi	Kurukh	Malto	Brâhûî
Bone	i	*elumbu*, *enbu*	*ellu*	*elumbu*, *embu*, *emmu*	*emmu*	*elu*						
	ii						[*prênu*]	[*plênu*]	[*peḍêka* *panêka*]			
Blood	i			*nettaru*	*nettaru*	*netturu*	*nederu*		*nattur*			*ditar*
	ii	*śôri*	*côra*	cf. *sôr*— (to drop, as blood rain)								
	iii			cf. *ken-nîr*, (red water blood)				*kasso* (blood 'red')		*xēso*		*xis-un*
	iv	[*kurudi*]	[kurudi]									
	v	[IA— *irattam*]	[IA— *raktam*]									
Heart	i	*kuṇḍi*, *kuṇḍikkûy*		*guṇḍe*	*guṇḍa* (chest, mind, heart)	*guṇḍi*						
	ii	[IA— *idayam*]		[IA— *ede*, *yade* -<*hṛdaya*]	[IA— *eḍade*, *ede*]	*ede*]	[? IA— *jeḍa*]					
									[? cokkî]	[NIA— *bûka*]		

III

(1) 'HEAD'

(*i*) Forms on a *tal-* basis are widely represented. The inter-relationship of the different forms of this group is clear: Tam. *-ai*, Mal. *-a*, Kann. *-e*, Tuḷu *-œ* are related ;

Tuḷu *-r-* corresponding to *-l-* is a Tuḷu feature in instances like *Kâru* (leg), *paru* (tooth). The operation of Aphœresis (consequent on Accent-shift) has produced the kûi kûvi forms with initial consonant groups and lengthened radical vowels.

Malts *taliθ* meaning 'hair' structurally belongs to this series; cf., for the meaning, Tam. *talai,* Tel. *tala* and Taḷu *tarœ*, all of which mean 'head' and 'hair of the head.'

(*ii*) *manḍai*, etc., designate 'skull'; in Tôda, the dialect of the dwindling tribe in the Nilgiris, *maṭ* (related to *manḍe*, etc.,) denotes 'head': cf. Skt. *mastaka* (Modern Bengali *mâthâ*, etc.).

(*iii*) Brâhûi *Kâṭum*, according to Sir Denys Bray, means 'head,' 'point of a needle or spear', 'bank of river.' 'on top of.' Sir Denys Bray suggests south Dr. *Kôḍu* (top, summit of hell, etc.) as being possibly related. Semantically, there is perfect agreement, as *Kôḍu* in the south means not only 'top' but also 'bank of river' [old Tam. and Tel.]; but it may, I think, be difficult for us to prove the regular correspondence of Br.-*â*-to southern -*ô*-.

(2) 'HAIR'

(*i*) Tam. *mayir* is 'hair' while literary *naviram* is 'hair of a male.' Mal. *māyir* has taken on a pejorative signification in the modern varieties of speech in that it means 'hair of the privities'; certain contexts in Tam. usage also suggest this. Mal. commonly uses IA *rôman* to denote 'hair.' Kann. *navir* (hair) is found in old texts while the word in common currency today is *Kodalu* (for which, see below).

These forms *mayir* (and *navir*) are generally supposed to be ancient south Dr. adaptations of MIA (Prakrit) *mhaccu*, *masuru* derived from OIA *śmaśru* (beard) but Gundert maintained that *mayir* was Dravidian. Is *śmaśru* native in IA?

(*ii*) Tam. *Kuruḷ* (curly hair).
Mal. *Kuruḷ*, *Kuruḷ* (curl, hair).
Kaun. *Kuruḷ* (curl).
Tel. *Kurulu* (curly locks of hair) cf. *muṅ-guruḷu* (locks of hair on the forehead).
Tuḷu *Kujal* (hair).

The underlying idea seems to be that of 'curling.' The inter-related ideas of 'curling' 'bending' 'shrinking' 'contracting' are expressed by Dr. words like [Tam.] *Kuruḷ śuruḷ-*, *śuruṅg-*, *Kuṛug.* Verbs like Tam. *Kuruḷ* (to curl), Tuḷu *Kuruṇṭ* (to be coiled, contracted) do exist with a post-dental-*r*-in radical positions. One may also cite here the Tam. word *Kuruḷ-ai* (young ones of certain animals) occurring in very old texts like Tolkâppiyam. While it is the post-dental *r* that appears in *Kuruḷ*, *Kuruḷai* and in *śuruḷ* (along with its derivatives in Tam. and cognates in other dialects), we find a cerebral -ṛ- in Tam. *Kuṛug-*, etc., and its derivatives with the significations of 'shrinking,' 'contracting', etc. Despite this difference in the nature of the *r*-sounds in these words, I consider the two sets (*i.e.*, those with post-dental -*r*- and the others with cacuminal -*ṛ*-) to be related.

Kittel's suggestion (*Kannaḍa Dict*., p. xviii) that Skt. *Kurula*, *Kurala* (curl, lock of hair, especially on the forehead) was adopted from Dravidian, is therefore quite likely.

(*iii*) This group reminds us of Skt. *Kuntala* (hair), and Kittel has suggested (*op. cit.*, p. xviii) a Dr. origin for this Skt. word. The basic idea of the word is preserved in Tamil: 'long, flowing tresses of hair'; structurally, therefore, the base probably was *Kûr-* (pointed, tapering, abundant) which is represented in all the south Dr. speeches.—Prof. Jules Bloch (*Some Problems of IA Philology*, Forlong Lectures, 1929, p. 741) is of opinion that Kittel may be right in attributing to Skt. *Kuntala* a Dravidic origin. From the Dravidic standpoint, one may say that a formation like *Kûr-d-al* (what is pointed, etc.,) can produce *Kûr*(*n*)*dal* < *Kûndal*.

Brâhûi *kunnal* structurally looks like a relative of this group, but the meaning of the Br. word is 'curl of hair' which the words in (*ii*) above denote.

(*iv*) Here we have another set of words with intimate IA connections:

Tam. *śuṭṭi* (tuft of hair, white curl on the forehead, ornament on the forehead)
Kann. *juṭṭu* (tuft of hair left after tonsure)
Kann. *cuṭṭî* (frontlet)
Tel. *juṭṭu* (tuft of hair, the *śikha*)
Tuḷu *juṭṭu* (tuft of hair, hair)
Gôṇḍi *cuṭṭî* (hair of humans and animals)
Kurukh *cuṭṭi* (hair)
,, *jûṛô* (young men's *chignon*, tuft)
Malto *cuṇḍo* (tuft of hair)
Brâhûi *cuṇḍ* (tuft of hair).

One may at once say that the words in Gôṇḍi, Kurukh, Malto and Brâhûi are probably directly connected with different IA dialects; all these Dr. languages have borrowed words plentifully from IA: Gôṇḍi from Hindi and Maraṭhi, Kuṛukh from Hindi, Malto from Hindi and Bengali, and Brâhûi from Baloci. Hindi *cuṭiyâ* (hair-tuft), *juḍa* (top-knot), *coṭi* (top-knot, lock of hair on the head), Oriya *cuṭṭi* (bunch of hair on the head), Baloci *cuṇḍ* (hair-tuft) are some of the instances of NIA forms ultimately derivable from OIA *cûḍâ*. We need only point out here that Gôṇḍi and Kurukh appear to have popularised the form *cuṭṭî* with the generalised meaning 'hair,' while Malto and Brâhûi *cuṇḍ* retain the meaning 'top-knot'.

The forms of the South Dr. speeches are also commonly explained as being adaptations of OIA *cûḍâ*, or (to be more precise) of MIA representatives of OIA *cûḍâ*.

Now, Indo-âryanists are inclined to think that Skt. *cûḍā* itself may have been an adaptation from Dr. forms like Tam. *śûḍ-* (to wear something on the head) and Kann. *śûḍ-*. Prof.

Bloch (op. cit., p. 741) observes: " The Aryans adopted probably some of the Dravidians' ways of dressing the hair; Kittel is, I think, right in quoting *Kuntala* and *cuḍâ* as of Dr. origin." [1]

(*v*) The other words are different in different groups:

Tam. *kûḷai* (females' hair) is probably from *kul̤ai*—(to be soft, tender).

Tam. *śuriyal* (curly hair, lock of hair, woman's hair) is a derivative of Tam. *śuri* –(to be curled, rolled).

Tam. *neḍumai* (length, long hair) is of course from *niḍ-*, *neḍ-*(long) represented in all south Dr. speeches.

Kann. *piṇilu* (braid of hair) with which probably Tam. *funnal* (braid of hair) is cognate, is connected with the base in Tam. *piṇai*—,kann. *peṇe*—, Tel. *peṇe*—, *pene* –, etc., signifying 'to intertwine.'

Tel. *neṛi*, *neṛulu* (tresses of hair) is from *neṛai* (fold, order, beauty).

Tel. *veṇṭruka*, *veṇḍrika*, *veṇṭika*, the common forms in Tel. for ' hair,' go back to *veṇṭ*—(the *aupavibhakti* base of *vennu* ' rear ' ' back ') meaning ' at the back of ' ' in company with.'

Kûvi *bâna* (hair) is probably adapted from a word like Hindî *bâl* (hair).

NOTE: It is noteworthy that, though representatives of the chief groups of words for ' hair ' are found in all or most south Dr. speeches there is divergence in the forms for ' hair ' actually popularised in the colloquials of to-day; Tam. *mayir*, Mal. *rômam* [IA], Kaan. *kodal* (Gr.), Tel. *veṇḍrukalu*, Tuḷu *kojalu* (Gr.). Forms other than these in each dialect are either purely literary now or only employed in the colloquials in special contexts.

---

[1] This would make one reflect if the south Dr. *juṭṭu*, *śuṭṭi* may not (in some of their significations) have been originally native. I shall make here a few observations in this connection from the Dravidist's, standpoint, leaving the question to be discussed further by Indo-âryanists :—

(1) *juṭṭu*, *śuṭṭi* may structurally and semantically be derived from native Dr. *śuruḷ* (to curl, roll)—

śuruḷ + noun-forming *-ṭ-* > *śuruṭṭu* (roll, tuft) > *śuṭṭu* (with syncope as in Kannaḍa, Tel. *cuṭṭu* ' cheroot ' ' roll of tobacco ' < *curuṭṭu* < *curuḷ* ' to roll ')

Also cf. Tam. *śuruḷ* (curl of hair) and *śuruṭṭa-t-talai* (curled hair).

(2) *śûḍ-*, *cûḍ-* *sûḍ-* in native Dr. mean (in their oldest stages) ' to spread or curl round,' ' to surround,' ' to wear in a coil,' ' to be twisted as a sheaf,' etc. —cf. also old Tam. *śûl̤-* (to surround, encompass) and *śul̤i-* (to become curved), *śul̤i* (curl of hair).

śûḍ- and *śul̤-*, *śûl̤* in their earlier significations do imply ' curling ' ' coiling '; and semantically they seem to be allied to *śuruḷ-*. A structural relationship is also possible, but it cannot be absolutely established.

(3) Some of the meanings which the south Dr. forms show, may have to be recognized as having been borrowed from IA: ' gold crest,' ' gold ornament,' 'bracelet' for *śuṭṭi*, *juṭṭu*.

Similarly, the meanings ' head,' ' top ' which the following Tam. words show, are very probably IA: *śûḍam*, *śûḍai*, *śûl̤iyam*.

The intricate nature of the Aryo-Dravidian linguistic connexions is nowhere better illustrated than in this instance.

(3) 'EYE'

(*i*) The forms are pan-Dravidian, the spirant *x* of kurukh, Malto and Br. being normal in instances like these.

(*ii*) A few Tam. words signifying 'sight' are the following:

Tam. *nâṭṭam* from *naḍ*—(to covet, follow with the eye)
nôkkam from *nôkk*—(to see observe)
pârvai „ *pâr*—(,,)
vil̤i „ *vil̤i*–(to open eyes)

These are all derivatives used in this *kunstsprache.* Each of these words has a special connotation of its own, mainly depending upon its original source-meaning.

(4) 'EAR'

(*i*) A very widely represented set of words is this group.

(*ii*) Tam. *kādu* is used in the modern dialect for 'ear'; *śevi* is the older word favoured in literary usage. In the other south Dr. speeches, the forms of Gr. (i) are in common currency in the colloquial today. *kādu*, however, is found only in Tam. and Mal. (Malto *xed* (*ve*) ?]. While *kādu* is the common colloquial form in Tam., Mal. uses *kādu* only in the sense of 'ear-lobes' and not 'the organ of hearing'; for instance 'rings on the ear' are described in certain varieties of the mass colloquial as *kādile môdiram* while 'ear-ache' which affects the organ of hearing is *cevi-k-kuttu*.

Tam. *kannam* (ear) from Skt. *karna* is found only in old literature.

Tel. *vînu* seems also to be a literary word derived from Tel. *vinu*–(to hear).

Kûi *krîu*, *kiru* and Kûvi *kriyu* are unique in that they show a strange *r*.

(5) 'NOSE'

This is another pan-Dr. group.[1] Gôṇḍi *mussôṛ* may possibly be a combination of *mus* (nose) and *tôṛ* (mouth). Br. *bā-mus* similarly is compounded probably of *bā* (mouth) and *mus* (nose). Sir Denys Bray suggests however the meaning 'in front of' for *mus* (*t*) and explains *bāmus* as being 'what is in front of the mouth,' *i.e.*, the nose.

(6) 'CHEEK'

It is very likely that the words for 'cheek' in central Indian Dr. and in the north Dr. dialects are borrowings from forms connected with IA *galla* (cheek). The south Dr. words also are characterized by strange structural variations, in some cases probably owing to contamination and in others owing to their being possible loan-words.

(*i*) This group means both 'cheek' and 'ear'. IA *karna* has been suggested as being at the back of this group.—The palatalisation of *k*-to *c*-in Mal. is of course purely a Dr. feature.

---

[1] Parallel words denoting 'nose' occur in a number of "Austric" languages. Prof. Bloch adverts to them in his article on *Sanskrit and Dravidian* (in *Pre-Aryan and Pre-Dravidian*, p. 57 and points out how very bewildering these parallelisms appear to be.

(*ii*), (*iii*) and (*iv*) These three groups look like being the derivatives (with different affixes and with the syncope of the intermediate syllable not unusual in some Dr. dialects) of a base like *kela* (side, vicinity) which is represented as such in Kann. and as *kelanu*, *kelaṅku*, *kelampu*, *kelavu* (side, flank) in Tel. It is also possible that the forms of Gr. (*i*) may have influenced the structure of words like ***kenni***, ***kenne***, etc. of Gr. (*ii*) Similarly, ***keppe***, ***ceppi*** of Gr. (*iii*) may possibly have suffered some structural contamination with *kebi kibi*, the Dr. forms for the 'ear'. The Malayâḷam forms *konni* [southern dialect] *kome* [northern dialect] and *koviḍu* [with which we may compare *śeviḍu*, *ceviḍu* 'cheek'] also evidence structural " confusion ".

We have pointed out above that the base at the back of these forms for 'cheek' may have been one like *kela* (side, vicinity) occurring in Kannaḍa; but the resemblance of this form to late Skt. *galla* (cheek) which is said to have been a *grâmya* variant (or derivative) of Skt. *gaṇḍa* (cheek) raises complications as to whether the Dravidian base *kela* (side) may itself not have been an adaptation of IA *galla*.

(*v*) These are very peculiar words in Dravidian. While the south Dr. forms mean 'cheek' and 'jawbone or jaw', Kûvi *lapeḍi* [*l* interchanges with *ḍ* in Kûi and Kûvi] means 'chin.' I think that for our purposes we shall have to distinguish these forms from *tāḍi* (beard, chin) occurring in the south Dr. dialects which *tāḍi* is possibly a direct adaptation of IA *dâdhika*.

The structural uncertainties are quite marked. I cannot connect these forms with any elementary Dr. base; and the words do not appear to have struck deep root in any of the southern speeches. They are not found in the literatures of the south. One can therefore strongly supsect them to have been non-Dravidian in origin. Kittel suggests the IA word *dāḍhika* as the possible source and compares Marâṭhi *dābaḍe* (*ābāḍe*) 'jaw' as being a formation like *davaḍe*, etc. of this group; but Prof. Bloch (*Cf cit.*, p. 741) points out (from the Indo-âryanist's point of view) that *ḍāḍhika* (Manu) and Hindi *dāṛhi*, etc. neither phonetically nor semantically could be explained by Skt. *daṁṣṭra* (tusk, fang), and he offers the suggestion that *dāḍhikā* may be related directly to Tam. *taḍai* (cheek) and Tel. *davaḍe*, etc.

As I have said, *tāḍai*, *tavaḍai*, *ḍavaḍe*, *lapeḍi*, etc. occurring in Dr. do not seem to be native and since the IA forms [Skt. *dāḍhika*, Hindi *dāṛhi* (beard) and Mar. *dābāḍe* (jaw)] themselves are probably exotic in IA) we may have to look out for a third source for explaining the ultimate origin of these forms.

Prof S. K. Chatterjee, while making certain tentative suggestions regarding a possible relationship between Skt. *kapola* (cheek, etc.) and a few " Austric " forms, mentions the following "Austric" words (*Pre-Aryan and Pre-Dr.*, p. xxii) meaning 'cheak' or 'face'

Khmer *thpeal* (cheek)
" *thbâl* (")
Nicobar *tapôa* (face)
Sakai *kapa* (cheek)
Semang *kebang* (cheek)

If the presence of different and alternating prefixes, together with the widespread distribution of these forms in "Austric" would warrant the suggestion that the root here may be native "Austric," then forms like *thbâl*, *tapôa* may conceivably be connected[1] with Dr. *tavaḍe*, etc.

(*vi*) This group again is rather peculiar in Dr.

(*vii*) Tam. *kavuḷ* (cheek) an old word in Tamil and Mal. In Tamil it also means, 'temple of an elephant,' 'jaw of an elephant,' 'side'; this word is usually explained as being an adaptation of IA *kapola* (cheek, temple of an elephant, etc.)

But, as we have just seen above, IA *kapola* itself is a suspect.

(*viii*) Among the other words, Kûi *gaḍa* [-*ḍ*- < *ḷ*], Kur. *galle*, Malto *galle* and Br. *kalla* are all, I think, directly borrowed from the neighbouring IA speeches, as suggested by their structural features.

In the south also, direct adaptations of IA *galla* (cheek) exist : Tam. *kaḷam*, Kann. *galla* ; Tulu *gaḍḍa* and Tel. *gaḍḍa* (and probably Tam. *kaṭṭài* in *môvây-kaṭṭai*) signifying 'chin' are also probably related to Prakrit *ghaḍḍam*, Skt. *galla*.

The common colloquial forms for 'cheek' in the south Dr. speeches today are the following:

Tam. *Kannam* (cheek)
Mal. *Kavuḷ*
Tel. *Cekkili*
Tuḷu *Keppe*, *Kenni*
Kann. *Kenni*, *Kenne*

'Jaw' is denoted in the colloquials by *tâḍai* [Tam.], *davaḍe* [Tel., Kann., Tuḷu].

(7) 'MOUTH'

(*i*) This group is represented in all Dr. dialects except Kûi-Kûvi and Malto. In Gôṇḍi, while the usual word for mouth is *tuḍḍî* or *toḍḍî*,[2] the form *vây* occurs in the phrase *vay êt*—(to yawn <'to raise mouth'). The IA loan *thõtra* in Kuṛ. emphasizes the configuration of the mouth, the organ itself being denoted in Kuṛ. by the old native word *baî* which occurs as such and also in numerous old combinations.

---

[1] I can cite here one instance where a Tam.-Mal. word which is neither found in other Dr. speeches nor capable of being explained as Dr., is so remarkably alike to "Austric" forms as to raise the probability of the Tam. word being an adaptation from "Austric".

Tam. *tavakkai*, *tavakkaḷai*, *tavaḷai* (frog) ; Sakai *tabek*, *tabeg*. Semang *tabak* Malay *buâk* (*Cf.* also *Pre-Aryan and Pre-Dr.*, p. xxii under 'frog').

[2] Prof. Bloch (*Sanskrit et Dravidian*, p. 56) notes the parallelism between Skt. *tuṇḍa* (beak, trunk), Mar. *tôṇḍ* (mouth), Guj., Beng, *tuṇḍ* on the one hand, and Tam. *tuṇḍi* (beak), Gôṇḍi *tuḍḍî* (mouth) and Malto *toṛo* (mouth) on the other. Prof. Bloch's reference would imply that the IA forms may have been borrowed from Dravidian. It is difficult to say how far these forms are native in Dravidian. 'Mouth' is denoted in a large majority of Dr. dialects by a different base (*vây*, *vây*, etc.).

(*ii*) Kûi *suḍa*, Malto *toṛo* are (I think) direct borrowings from the IA speeches in the neighbourhood of these Dr. dialects.

(8) 'TOOTH'

A widespread group.

(9) 'TONGUE'

(*i*) All the southern dialects have forms derived from a common base.

(*ii*) *Vanḍ*-in Kûi signifies 'to taste'. *vanḍ-ori* of Kûi looks like a word derived from *vanḍ*-. Whether Gônḍi *vañjêr* is structurally connected with this form, cannot be determined.

(10) 'LIP'

(*i*) That there exists a definite relationship between these forms and Skt. *Tunḍa* (and in the case of Mal. probably to *śunḍa*) is beyond question. The question of the lender and the borrower does not, I think, admit of an easy solution.

One thing may be noted : *tuḍi* (lip) in Tamil is a rare form, not usually met with in the texts or in the colloquial. The common word in the texts is *idaḷ*, while the colloquial has *udaḍu*. Tel. does not possess a cognate for *tuḍi*, *duḍi*, the common form employed in Tel. being *vātera*. Kann. and Tuḷu alone use *tuḍi* and *duḍi* for 'lip' commonly among the south Dr. speeches.

(*ii*) These are common forms in Tam. and Kann.

(*iii*) Tam. *idaḷu* (petal, leaf, lip) is an old adaptation of Sanskrit *dala*.

Tel. *vāteṛa* is literally 'a screen for the mouth.'

Tel. *palukappu* [*palu* (tooth) + *kappu* (covering)] is another literary word for 'lip' in this speech.

The Tuḷu sub-dialectal form *oṭṭe* is adapted from MIA *oṭṭa* (OIA *oṣṭa*).

(11) 'NECK'

(*i*) The forms are not widespread. The resemblance borne by these to Skt. *gala* (neck) has been pointed out by the Tam. Lexicon, while Gundert recalls Skt, *kanṭha*.

(*ii*) These forms are found only in Kann. and Tel.

(*iii*) Tel. *meḍa* appears to have a direct relative in Prakrit *maḍo* (neck).

Tuḷu *kanṭilu* is an adaptation of IA *kanṭha* (neck). Tuḷu *kekkilu* (neck) looks like an adaptation of IA *gala* (neck), modified in Tuḷu with native affixes (cf., for the structure 6 iv).

(12) 'BODY'

(*i*) A group with fairly wide representation in the dialects.

(*ii*) This is confined to south Dr. The base *uḍ*-(to be attached) occurs in other words like *uḍaya* (belonging to, attached to), *uḍu-kk*-(to wear), etc.

(*iii*) A set of purely "literary" words in Tamil.

(13) 'STOMACH'—'BELLY'

(*i*) No representative exists for this group in Tel. which uses *kaḍupu* for 'stomach'. Kûvi has *bandi* (cf. Tuḷu *bañji*) and *vahi* (cf. Belgaum Tam. *vahir*, *vahur*).

(*ii*) Here we have a set of forms, the basic idea of which emphasizes the 'protrusion of the belly.' I consider the forms native, connected as they are with

Tam *poḷḷ*-(to be blown big, enlarged)
,, *poḷḷai* (hollow)
,, *poṭṭai* (empty, hollow)
Kann. *poḷḷe*, *hoḷḷe* (hollow)
,, *poṭṭe* (egg-shell)
Tel. *poṭṭa* (empty, chaff)

MIA (Prakrit) *poṭṭam* and NIA forms like Mar. *pôṭ*, Guj. *pôṭ*, Hindi-Beng. *pêṭ* are, I think, ultimately Dr.-derived in origin.

(*iii*) Tam. *paṇḍi* is compared in the Tam. Lexicon to IA *phaṇḍ*. The IA form is rather rare in IA; on the other hand, *paḷḷai* (sides of the stomach), *paḷḷam* (cavity) etc. are native Dr. and these could very well be connected with Tam. *paṇḍi*, Mal. *paṇḍi* and Mal. *paḷḷa* all of which basically imply a protuberant or expanded stomach, as illustrated by the phrases: Mal. *paṇḍi-vayaṛan* (huge-bellied man), *paḷḷa vîṛtu* (the sides of the stomach have expanded) etc.

The IA form *phaṇḍa* may therefore have been derived from Dr.

(*iv*) If the cacuminal -*ḍ*- is due to cerebralization of an older dental, then these words might be related to Tam. *toḷḷai*, *toḷai* (hollow, what is bored), etc. cf. in this connection Mal. *toḷḷa* (throat), Tam. *toṇḍai* (throat) with Kûi *ḍoḷḷu* and *ḍôka* (throat).

(*vi*) *môḍu* and *agaḍu* are Tam. "literary" words.

For *môḍu* (belly), cf. *mêḍu*, *môḍu* (rising ground, protuberance). *agaḍu* (inside, belly) is connected with *agam* (inside). *uḍalu*, *oḍalu* in certain sub-dialects of Tuḷu means[1] 'stomach", its normal signification being 'body.' This transference of meaning in connection with words denoting bodily organs occurs, as we have already seen, in other instances also. cf. 6 iv.

(14) 'HUNGER'

(*i*) These are old words in the respective speeches. Tel. *pastu* (fasting) is referred to in the Śabdaratnâkaram as non—Tel.,[2] but it is probably allied to this group. A Sanskrit dictionary-word *pse* which means 'food' and 'hunger' has been suggested by Kittel (*Kann. Dict.*) to be Dravidic in origin.

---

[1] This kind of semantic transference in the case of words denoting the members of the human body, is a general phenomenon met with in different families of languages.— Cf. the observations of Prof. Vendryes (*Le Langage*, p. 239) relating to some of the IE speeches.

[2] This probably represents the ingenious view that *pastu* is connected with IA *upa-vâsa* (fasting).

(15) 'HAND'

Malto *te* is probably a borrowing from Kolarian forms like *te*, *ti*, etc. which are widespread in "Austric" languages. Br. *du* has been compared to an Afghan word *du* (hand).

(16) 'FINGER'

The forms are inter-related. Gôṇḍi *varañj*, a variant of *viriñj* shows *-a-* in the radical syllable. The syncope of the intermediate syllable (with *-r-*) of a form like *varañju* may give rise to *vañju* found in Kûi.

(17) 'NAIL'

This group is represented in south and central Dr. Modern colloquial Tamil and Mal. use only the adaptation from IA *nakham*, *ugir* being found in Tam. literary texts only. Kann. and Tuḷu colloquials use *ugur* even today. Tel. similarly uses *gôru* (aphœresized from *ugir*) in both the written and the spoken dialects.

(18) 'LEG'

Pan-Dr. except for Br. *nat* (?)

(19) 'SKIN'

(*i*) If *togal* here is the original form—as I think it is [*tôl* < *to*(*h*)*al* < *togal*]—then the resemblance which the basal portion bears to Skt. *tvak*, *tvac* is quite remarkable. Indeed, IA *tvak* has been adapted by Tam., Kann. and Tel. as *tokku*[1] which is probably separate from *togal* in its linguistic history ;

(*ii*) Kurukh *capṭâ* is an adaptation of a NIA form like Bengali *cāmḍā*.

(20) 'PERSPIRATION'

(*i*) Tam., Mal., Kann. and Tuḷu show a common base, while Tel. *cemaṭa* is probably allied to *cemma* (moisture) which latter looks like an ancient adaptation of a MIA form corresponding to OIA *jalam*.

(*ii*) Kûi *kara*, Kûvi *gāma* and Gôṇḍi *kālum* are adaptations of IA *gharam* (sweat < heat). The semantic development is met with in Hindi and Bengali *ghām*.

(21) 'FLESH'

(*i*) The forms are met with only in Tamil and in Kûi-Kûvi now.

(*ii*) This group is probably based upon *iṛai*—(to be sprinkled).

(*iii*) Tam. *tû* remains an isolated form in the south; its only cognate is found in far-off Brâhûi.

NOTE: IA forms are commonly used in the modern colloquials of the southern speeches; Mal. and Tuḷu also use *eracci*.

---

[1] The IA loan *tokku* in Tam. means 'rind', 'bark', 'skin' and 'sense of touch, one of the five *indriyas*'; in Tel. it signifies 'bark', 'rind'.

(22) ‘ BONE ’

The Central Indian Dr. dialects show in Gr. (*ii*) very near cognates confined exclusively to these speeches with the meaning ‘ bone ’; such a correspondence of forms exclusively between Kûi-Kûvi and Gôṇḍi is also found in 9, ii and in 16. These cases point to a certain degree of “ cultural mingling ” between these two dialects.

(23) ‘ BLOOD ’

(*i*) Whether the base of this group is an ancient adaptation of IA *rakta* through some MIA stage is not quite clear, though the structure suggests it.

For the correspondence of *d*– in the Brâhûî form to *n*–of other dialects, cf. Br. *dîr* (water) with *nîr* of the South.

nederu in Kûi occurs only in the phrase *raka nederu* (blood).

(*ii*) The base here may be *śôr*—(to be poured, to flow) found in all south Dr. speeches.

(*iii*) Redness being a conspicuously visible trait of blood, the words for ‘ redness ’ stand for ‘ blood ’ in Kûvi, Kurukh and Malto. cf. Skt. *rudhira.* The same idea is at the back of *keññîr* (‘red water’ blood) in Kannaḍa and *śennîr* of Tamil; (*ken-śen-*‘ red ’).

(*iv*) *kurudi* of Tam. and Mal. is probably from the base *kur*—(to sprout out, gush forth).

NOTE: The commonly used forms in the colloquials of the south are *irattam* [Tam], *côra* [Mal.], *nettaru, netturu* [Kann., Tel. Tuḷu].

(24) ‘ HEART ’

(*i*) *guṇḍ*—implies ‘roundness’; the words of this group signifying ‘heart’ in the physical sense may be related to this base.

(*ii*) Kann. *ede,* Tel. *eḍadē, ede,* Tam. *idayam* are adaptations of MIA forms corresponding to OIA *hṛdaya* (heart).

(*iii*) Kuṛ. *bûka* is probably adapted from a NIA form like Bengali *bûka* (breast).

The above discussion of Dravidic words for the parts of the human body reveals that

(a) the most widely distributed groups are those denoting ‘head’ (1, i), ‘eye’ (3, i), ‘ear’ (4, i), ‘nose’ (5, i) ‘mouth’ (7, i), ‘tooth’ (8), ‘hand’ (15, i), ‘leg’ (18, i). These groups of words are represented in most, if not all, of the Dravidian dialects. The words in different speeches have basically persisted also with little or no structural alterations ;

(b) The following appear to be common to the southern and the central Indian dialects: ‘cheek, chin, jaw’ (6, v), ‘tongue’ (9, i), ‘lip’ (10, i), ‘finger’, (16, i), ‘nail’ (17), ‘skin’ (19) ;

(c) Those exclusively confined to the south are words denoting ‘hair’ (2, i, ii, iii). ‘cheek’ (6, i, ii, iii, iv), ‘neck’ (11, i), ‘perspiration’ (20, i), ‘flesh’ (21, ii), ‘bone’ (22) ;

(d) A few appear in the southern and the northern dialects without being represented in central Indian Dravidian : ‘hunger’ (i), ‘mind’ (24, i) ;

(e) Native Dr. Forms have been displaced by foreign loans in the northern speeches : 'hair', 'cheek', 'tongue', 'lip,' 'neck', 'nail', 'skin', 'perspiration' ;

(f) The following southern groups are probable borrowings, mostly from IA : 'hair-tuft' (2, iv?), 'cheek' (6, i, ii, iii, iv <IA *galla* ?), 'cheek' (6, v, vi <'Austric' ?), 'belly' (13, iii), 'skin' (19, i <IA *tvac, tvak* ?), 'mind' (24, iii).

(g) The native Dravidian character of the following would suggest that the corresponding IA words may have been derived from Dravidian : 'hair' (2, ii, iii), 'belly' (13, ii, iii), 'hunger' (14, i—IA *psa*);

(h) In spite of the existence of native forms, IA words have become popular in the modern colloquials of some of the southern speeches.

Tel. 'hunger'
Tel. Kann, 'heart', 'mind,'
Mal. 'body'
„ 'hair'
„ 'nail'
Tam. 'nail'
Tam.-Mal. 'mind' (24, iii)
Tam. 'blood'
Tam.-Mal. 'flesh'.

(i) In the colloquials of the southern speeches there are divergences : 'hair', 'cheek', 'lip', 'blood'.

Conjunctive Participles as Pleonastic Suffixes in the Magadhan dialects

अध्यापक वाणीकान्त काकति एम० ए०, गौहाटी

[पूर्वकालिक कृदन्त के रूपों का निरर्थक प्रत्ययों के समान प्रयोग तीन शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) पूर्वकालिक कृदन्त के वे स्वतन्त्र रूप जो मूलधातु के विकारी रूपों के बाद लगते हैं, (२) पूर्वकालिक कृदन्त के वे रूप जो मूलधातु के विकारी रूपों में ऐसे मिल गये हैं कि उन के निरर्थक प्रत्यय होने के सम्बन्ध में भ्रम होने लगता है, (३) वे पूर्वकालिक कृदन्त के रूप जिन का स्वतन्त्र अस्तित्व लुप्त हो गया है और जिन के अवशेपस्वरूप अन्य चिह्न मूलधातु के ही भाग हो गये हैं।

मागधी भाषाओं में पूर्वकालिक कृदन्त के इन तीनों प्रकार के प्रयोगों के उदाहरण मिलते हैं। प्रथम प्रकार के प्रयोग के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं, जैसे आसामी—धरिले गै 'उसको पकड़ लिया', बंगाली—सी कोरले गे 'और तब उस ने किया', बिहारी—खाय कहन 'खाना'। बंगाली की बोलियों से लिये गये निम्नलिखित उदाहरण पूर्वकालिक कृदन्त के दूसरे प्रकार के प्रयोग पर प्रकाश डालते हैं, जैसे बंगाली (नोआखालि) मरि(य्)एर "मैं मर रहा हूँ', बंगाली (चटगांव) करिर 'मैं करता हूँ'। पूर्वकालिक कृदन्त के तीसरे प्रकार के प्रयोग निम्नलिखित उदाहरणों में मिलते हैं, जैसे प्राचीन बंगाली दि-आर 'अवश्य दीजिए',—कहि-आरों 'मैं अवश्य कहता हूँ'; प्राचीन आसामी—हानि-एरे 'वह अवश्य मारता है';—करिएर 'अवश्य करिए'।

ऊपर के समस्त उदाहरणों में पूर्वकालिक कृदन्त के रूपों का अपने कृदन्ती अर्थ में प्रयोग कहीं भी स्पष्ट नहीं है। इनका प्रयोग निरर्थक प्रत्ययों के समान वाक्य में प्रवाह उत्पन्न करने के लिए ही हुआ है।]

The Magadhan dialects present the strange phenomenon of using conjunctive participles as pleonastic suffixes after fully inflected verbal forms to add a certain emphasis. Let us begin with the Easternmost Bengali dialects. The conjunctive participles giyā, gai from the defective root ga, to go " is often added to other verbs to make them more forcible." (L.S.I. V. I. p. 293). The conjunctive sense having been lost, the participle is added to inflected verbs in all tenses and moods as an emphatic particle; e.g. dūrai bidesh gechil giyā—went away to a distant country: *Cāchār* dialect (L.S.I. V. I. p. 234). lai gēcē gai—took away: *Tippera* dialect (L.S.I. V. I. p. 244). gelām gai, I went away; deo gai, give away: *Chittagong:* Ibid. p. 294. dūrai mullukē gēl gai—went away to a far country. kari gai—let us make. *Noākhāli:* (Ibid. pp. 309, 313).

ABBREVIATIONS

A. = Assamese.
B. = Bengali.
L. S. I. = Linguistic Survey of India by Grierson.
O. D. B. L. = Origin and Development of the Bengali Language by Dr. Suniti Kumar Chatterji.
Pischell = Pischell's Grammatik der Prakrit-Sprachen.

The use of gai in this sense is a highly characteristic feature of middle Assamese Prose of the Chronicles. The following forms are taken at random from *Purani Asam Burañjī* published by the Kāmarūpa Anusandhān Samiti.

dharile gai—caught him up (p. 104)
rahil gai—he stayed there (p. 106)
thākil gai—he remained there (p. 107)
bheṭile gai—he did meet him (p. 109)
diye gai—he does give. etc.

This use of gai persists in Mod. A. It is used in narrative prose to give a certain swing and a sense of finality to an expression.

In standard Bengali ge < giya, " added to the imperative expresses the imperative in the immediate future with a slight precative sense " (O.D.B.L. p. 908). eg. āmi karige; tumi kara ge. " With the simple past and the future, it has the force of " though," " nevertheless," " however," " even now," " immediately " (O.D.B.L. p. 909). eg. se kōrle ge—and then he did. tumi kōrbe ge, and you will do.

In middle and modern Assamese there is a similar use of the conjunctive āhi (coming; √ āh. to come) > hi. eg.

phukanat baril hi—took shelter in Phukan: gaṛh dilehi—constructed a fort: Pāṇḍu pālehi—reached Pāṇḍu etc.

This use of hi continues in Mod. A. There is just the difference between 'going' and 'coming' in the uses of gai and hi. The former is used to indicate the consummation of the action of the verb further away from the speaker, while the latter denotes the contrary i.e. towards the direction of the speaker. eg. pāle gai,—reached, going: pāle hi,—reached, coming.

Some East Bengali dialects illustrate a similar use with ± kāri > hāri, āri. eg. giyā hāri, having gone: *Sylhet* (L.S.I. V. I. p. 231), where hāri is not pleonastic but continues the conjunctive sense of the preceding verb. The characteristic illustration is from the *Tippera dialect* (Ibid. p. 244) bāper bāri gelām āri—went to the house of the father.

The standard Bengali pleonastic affix khan, khun, met with in expressions like jābō-khan, I shall go; dilum-khun, we gave; habe-khun, it will be (O.D.B.L. pp. 997, 998) though connected by Dr. Chatterjee With O.I.A. kṣaṇa, instant, is in reality a conjunctive participle occurring in the forms khan, kohon, khan, khā̃ in the Bihārī dialects.

Cf. *Pāch Parganiā* (L.S.I. V. II.); khāy-kahan, eating: dhair-kahan, catching: (p. 171); uiṭh-kohan, uiṭh-kahan, having risen: (p. 167); Nāgpuriā (Ibid. p. 298). āi-kohon, coming; *Sadrī Kōl:* serāi-khan, having completed; kāmāi-khan, having earned. (Ibid. pp. 159, 160); *Bhojpurī* dialect. āwat-khā̃, coming in. (Ibid. p. 206); also E. Hindī. -kan,-khan,-kehen (L.S.I. VI. pp. 177, 178, 225).

As *Sadrī Kōl* where the exact form khan is registered is an Eastern Magadhan dialect and just in the immediate neighbourhood of Bengali the migration of khan is easily imaginable and a postulate for separate origin of B. khan is uncalled for. The following expressions from the Gospel of St. Mark. in Magadhi quoted in O.D.B.L. p. 998 only illustrate the pleonastic use of the conjunctive participle khan in Magadhi : kariai-khan. I do, I shall do; ailai-khan, came; kahal kai-khan, said etc. . .

THE DIALECTICAL BENGALI -re.

(debō-ne, I shall give; jābā-ne, you will go) and the dialectical Assamese (Kāmrūp)-ni (khāwā-ni, do eat; jāwā-ni, do go) are conjunctive endings used pleonastically.

The origin of the conjunctive participles in-na in the various dialects and subdialects of N.I.A. may be briefly indicated here.

The forms in the *Bihārī dialects* as above noted are kahan; kōhan,-khan, khā̃.

The *Nepali* form is kan (shortened for ke-ne).

The Bengali sub-dialects (L.S.I. V. I.) *Chākmā.* p. 324. -inai : jeinai, having gone.

Khaṛiā-Ṭhar (Mānbhum) p. 93. -nā; henā, being : ānā, taking.

Māl Pāhāriā p. 99. -henak : guṭiāi-henak, having collected.

Jalpāi-guri p. 106. -hāne : jāyā-hāne, having gone.

In Rājasthāni dialects : (L.S.I. IX. II.)

Mārwāṛī p. 26. -naĭ, -knaī :

Mālvī. p. 57. -ne, -ī-ne.

All these n- forms go back to O.I.A. (Vedic) -tvāna > M.I.A. -ttāṇa; -ccāṇa; -yāṇa (Pischell S. 592). M.I.A. -yāṇa N.I.A. -āna, -na.

Bihārī kahan; Nep. kan (< ke-ne); Bengali henak, hāne are double conjunctives. In the Bihārī dialects the termination of the conjunctive participle may be either kai or ke (shortened for kari > ka (r)i). In this use kai or ke lost all traces of the verbal significance and became a mere conjunctive suffix subjoined to the conjunctive form of the principal verb. The Rāj. dialects built up an affix in -nai, ne on the analogy of kai, ke.

By blending both the forms we get, kai + na > kaya + na, kahan, kan. The combination kai + na would also > kena, hena, henak with the addition of pleonastic -ka, (in some East B. dialects, k in the middle of a word, and the k in the verb karite, to do, is pronounced as h. Cf. L.S.I. V. I. p. 259; hariā dila=kariā dila : Ibid. p. 261).

The form in -na is the strengthening of -na; and hāne may be derived from ka (often used instead of ke; L.S.I. V. II. p. 52) + ana + i = kāne, hāne.

The form in -ina-i is parallel to M.I.A. -ūṇa : -ina goes back to O.I.A. -tvāna > tyāna (Pischell S. 587) <M.I.A. -tiāṇa; -iāṇa > N.I.A. -īna, > -ina.

Disguised Conjunctive Formations as Pleonastic Affixes.

The above discussions will throw light upon the origin of certain affixes tagged on to inflected verbal forms and so long regarded as pleonastic without any assignable reasons. It will be found that they are highly worn out conjunctive participles added on to emphasise the meaning of the principal verb. The following are the affixed verbal forms :—

Noākhāli dialect (L.S.I. V. I. p. 307).

mari-(y)er :—I am dying.
kari-(y)er :—I do.
Cf. E. H. (Baigāni). maratha-nā, I am dying, jāthe-nā, he goes.

Chittāgong dialect (Ibid. p. 293).

kari-r : also kari—I do.
kara-r : also karas—thou dost.
kare-r : also kare—he does.
khā-er : also khār—he eats.

Hāijong of Mymensingh (Ibid. p. 215).

mārib-ār : mārib-ān, he struck.
thākib-ār : thākib-ān, he remained.

Sylhet (Ibid. p. 226).

jāi-yār }
jāi-r-ām } I am going.
jāit-r-ām }

Early B. (Krishna Kīrtan).

ācherá : he has. beṛhile-rá : surrounded.
dibo-rá : shall give. haibe-rá : shall be.
geli-rá : passed.

In all these examples -rá, -erá have no clearly definable meaning. They are all used in a vague sense of emphasis and obligatoriness associated with English auxiliary verbs like 'do,' 'did,' 'shall,' 'should' etc. and conveying the same shades of meaning as the conjunctive participles examined in the previous section.

In reality they are only decayed conjunctive participles. In Bihāri, there is also the conjunctive formation kar (L.S.I. V. II. p. 39) side by side with kai, ke. In the Western languages kar often appears as -ar. There is also the Nepāli conjunctive in -(y)er, Eastern Hindī,-ker (Turnbull : Nepāli Gr. p. 111; L.S.I. VI. p. 159).

We have already met expressions in East B. with pleonastic use of hāri, āri < kāri (gelām āri) and a Chittāgong form like khāi-r may be regarded as equivalent to khāi kar (i). I do eat. Similarly Noākhāli mari-yer may be equated to mari ker(i), I am dying. (The Māl Pāhāriā dialect has a verbal root √ker: Cf. ānand kerib: hāsi-mōjā kerib: L.S.I. V. I. p. 102).

Dr. Chatterjee regards this -r- as a contracted form of kar and a verbal auxiliary added on to the root (O.D.B.L. p. 996). But he has left the history and function of this -r- undiscussed.

INVERTED CONJUNCTIVES.

There are certain analogous formations in Early B. (Krishna Kīrtan) and in Early A. (Rāmāyaṇ: M. Kandali) in which the position of the characteristic conjunctive ending has been inverted. The principal verb takes on the conjunctive termination and what in similar contexts pass on as conjunctive participles have personal affixes added on to them. The following are the examples:—

Early B. di-āra: do give; āni-āra: do bring; kahi-āra: do speak; khā-āra; do eat; kahi-ārõ; I do speak.

Early A. kari-era: do thou go; tāri-erá: māri-erá: do save: kill etc.
lukāi-erõ: I shall have concealed.
gucāi-erõ: I shall have removed.
hāni-ere: he does strike. etc. . .

Here -ará -erá are clearly related to kará, kerá and the formations di-ārá, tāri-erá may be equated to expressions like diā kara; tāri kerá = giving, do; saving, do, = give; do save. In this respect they may be regarded as compound verbs with the principal verbs put in the conjunctive forms. āniārá may be regarded as equivalent to Mod. B. āniyā phelá: bring off. This use of -ará, era may be due to the fact that though originally conjunctive in sense, they are used without the characteristic conjunctive terminations and were perhaps mistaken for finite verbs in the imperative. This motion once established, personal affixes of the other persons also were added on to them. Cf. Western Assam (Kāmrup) dialectical forms:—khā-n-i, do thou eat; khā-n-ā, do you eat; khā-n-õ, let me eat; where -n- is a conjunctive particle.

Dr. Chatterjee connects -iā with the verbal noun in -ita (O.D.B.L. S. 996). But the explanation suggested does not seem to be quite satisfactory.

Some Lexical Material in Jaina Māhārāṣṭri Prakrit

अध्यापक डा० नौर्मन ब्राउन, पेंसिलवेनिया विद्यापीठ

[लेखक को महीपालचरित्र नामक जैन महाराष्ट्री प्राकृत भाषा के ग्रन्थ में कुछ नवीन शब्द मिले हैं, उन्हें लेखक ने इस लेख में एकत्रित किया है तथा उनका अर्थ भी दिया है। लेखक ने अभी जहाँ तक पुस्तक पढ़ी है वहीं तक के शब्द यहाँ दिये हैं।]

In preparing an edition and translation of the Mahīpālacaritra, a work of 1816 stanzas in Jaina Māhārāṣṭrī Prakrit by Vīradevagaṇin, whose floruit seems to have been about 1250 A.D., I have noticed in the two MSS and have so far used a number of new words, which I list here. My notes are made with special reference to the following two works, which are cited by abbreviations:

PSM *Pāia-Sadda-Mahaṇṇavo*, by Pandit Har Govind Das T. Sheth. 4 vols. Calcutta, 1923—28.

Pischel *Grammatik der Prakrit-Sprachen*, by R. Pischel. Strassburg, 1900.

The references to the text are by stanzas.

aidunga, adj. (not in PSM), "very deep", from Skt. atituṅga: *diṭṭho ego kūvo magga-taḍe tehiṃ aidungo* (1035).

aisailla, adj. (not in PSM), "full of excellent qualities", from *aisayi* (Skt. *atiśayin*) or *aisaya* (Skt. *atiśaya*), with suffix-*illa*: *jass' indeṇaṃ dinnā kevaliyā putthiyā aisaillā, tass' annaṃ pi hu kiṃ ci vi saṃbhāvijjai na saṃdeho* (500).

aṇabbha, adj. (not in PSM), "cloudless", in *aṇabbha-vuṭṭhī* (Skt. *anabhra-vṛṣṭi*): *esā aṇabbha-vuṭṭhī* (491).

aṇalihiya, adj. (not in PSM), "not inscribed", from double negative prefix *aṇa-* (cf. Pischel 77) and *lihiya* (Skt. *likhita*): *khujjo vi patta-sancam aṇalihiyaṃ niya-karammi kāūṇa* (425).

annanna, adj. or n. (add to meaning in PSM), "spell, charm-hocus-pocus", equivalent to *aṇṇaṇṇa*: *Jiṇasundarī vi bhīyā daṭṭhūṇaṃ nivaḍie nie purise, hatthe kāūṇa jalaṃ annanna-smaraṇā bhaṇai evaṃ* (806).

avāḍa, m. (not in PSM), "non-speaking" (?), perhaps from Skt. *a-vāda* (for phonetics cf. Pischel 222 end): *poyāiṃ phuṭṭāiṃ dhaṇaṃ gaheūṇa gayā ya vaṇi-uttā, bhaṇḍa-sālā viṇaṭṭhā gehe vi kuḍumbaya-avāḍo* (73).

ahar, vb. (not in PSM) "make inferior", from Skt. *adharaya* (denom. of *adhara*): *kundu-kaliyâvalīu va jūsiṃ sohinti ḍanta-pantīo, aharanti tāna aharā dāḍima-puppha-ppahā-jālaṃ* (411).

āhīya, n. (not in PSM), "object of thought", form Skt. *ādhīta* : *piuṇā puṭṭho jampai savvaṃ jāṇāmi savva-āhīyaṃ* (1408).

-unna, adj. in comp. (not in PSM), from Skt. *puṇya*, as in *kaya-unna* (Skt. *kṛta-puṇya*) : *to kaya-unno lahihī sokkhāiṃ anna-bhave* (612).

kiriṇ, vb. (this stem not in PSM), "buy", collateral with Pkt. stem *kīṇ*, from Skt. *krī* (*krīṇāti*) (for phonetics cf. *kiriyā* from Skt. *kriyā*, and see Pischel 135): *gacchanteṇaṃ teṇaṃ gahio kiriṇittu tāḍa-pattāṇaṃ, ego rammo sanco aha jiṇa-bhavaṇe jiṇaṃ namiuṃ* (423).

kulhuya, m. (not in PSM), "jackal" (cf. *kulha*), from Skt. *kroṣṭuka* (see Pischel 242) : *Mayaṇo puṇa mariūṇaṃ saṃjāo kulhuo ranne* (1091).

keki, m. (not in PSM), "peacock", from Skt. *kekin* : *keki-kalāva-sukesā taruṇī iva sohae vasuhā* (1700).

khaṭṭulliyā, f. (not in PSM), "little bed", diminutive of *khaṭṭā* (Skt. *khaṭvā*) : *eto Dhaṇaṃjaya-gurū Jiyasattuṃ niya-payammi ṭhaviūṇa, dei kula-kkama-laddhā egā khaṭṭulliyā tassa* (377).

khuḍḍaliyā, f. (not in PSM), variant of preceding word : *to mahayā kaḍaeṇaṃ Ujjeṇiṃ pai calai Mahivālo, cauhiṃ bhajjāhiṃ samaṃ khuḍḍaliyaṃ appaṇā caḍio* (535).

gauravijjanta, pres. pass. pcpl. (not in PSM), "treated with honor," denom. vb. from *gaurava* (cf. Skt. *gaurāya*) : *abhimuha-samāgaehiṃ rāehiṃ gauravijjanto* (731).

Guḍḍara, m. (?) (not in PSM), name of a mountain : *kahiyaṃ keṇa vi Guḍḍara-nagammi kira atthi kāmiyaṃ kūḍaṃ* (1448).

goru or °rū, m. (not in PSM), "horned cow, ox," from Skt. *gorūpa* (cf. Hindi *gorū*, *gorūā goruwā*) : the word occurs twice in the story of the cowherd Sumanas, in stanzas 618, 626.

caḍi-uttar, vb. (not in PSM), "climb and descend," compound of *caḍi* and *uttar*: *to so-puṇar avi caḍio puṇa bhaya-bhīo tao samuttario, caḍiuttariūṇaṃ to jāva tahiṃ ciṭṭhaī eso* (1189).

ciḍa, m. (not in PSM), "bird." Proportional analogy : *ciḍa* : *ciḍiya* : Skt. *caṭa* : Skt. *caṭaka* (Pkt. *caḍaya*) : *tuha virahe maha pāṇā khaṇeṇa vaccanti uḍḍiya ciḍu vva* (817).

cukkav, vb. (not in PSM), " cause to lose," caus. of *cukk* : *viṇaya-suya-sīla-ghāī māṇo-heū hiy' atthiṇā jaṃ so, kīranto suha* (MSS *suhu*)*-dhamm'attha-kāma-bhogāṇa cukkavai* (1399).

jipp, vb. (not in PSM), " be conquered," pass. of *ji* ; the same form of the passive occurs in Apabhraṃśa (see Jacobi, *Sanatkumāracaritam,* Abhandl. d. Bayer. Akad. d. Wissenschaften, Philos.-philol. Kl. 31 Bd., 2 Abhandl., Munich, 1921, p. 120) ; a basis for this form may possibly exist either in the Ardhamāgadhī gerund *jeppi* (see Pischel 588) or the more common Māhārāṣṭri passive *jivvai* (see PSM under *ji* ; cf. Pischel 473, 536), of which *jippai* may be only a phonetic variant : *so khujjo jippai na surehiṃ vi kim uya amhehiṃ* (493) ; *asamāṇa-viggaheṇaṃ jitte vi hu n' atthi tuha jaso koi,* *jaha puṇa kaha vi na jippai to ayaso hoi aibahūo* (543) ; *tā jai jippai teṇaṃ to laṭṭhuṃ hoi* (550).

ṭāl, vb. (not in PSM), "remove, frighten away," from Skt. *ṭālay*, caus. of *ṭal* ; cf. Gujarati *ṭāḷavuṃ* " remove, get rid of," Hindi *ṭālnā* " pass beyond avoid, deter, frighten " ; Platts, *Hindustani Dictionary,* derives from Skt. *tāray*, caus. of *tṛ*, which is phonetically possible (see Pischel 218, 257) : *jāḍasai Siriharaṃ taṃ tā sāsaṇa-devayā tahiṃ jha-tti, tassa bhattīe tuṭṭhā taṃ sappaṃ ṭālai dūraṃ* (1143).

ṭāl, vb. (not in PSM) "shake," from caus. of Skt. *ṭal* "be disturbed" ; probably the same as the preceding word : *so* (elephant) . . . *aṭṭālayāiṃ ṭālai pāḍai haṭṭāiṃ bhanjai gihāiṃ* (201).

ḍakkijj, vb. (not in PSM), "be bitten," pass. of *ḍas*, *ḍaṃs* "bite " ; made on basis of pass. pcpl. *ḍakka* (from Skt. *dakna daṣṭa ;* see Pischel 566) : *jai ḍakkijjasi kaham pi bhuyageṇa* (1716).

ḍanguraya, *ḍanguruya* m. (not in PSM), "drum" ; cf. Pkt. *ḍanka*, Hindi *ḍankā :* used as synonym of *paḍaha* (184) ; *iya ḍangurao nayare vajjanto haṭṭa-majjha-saṃpatto chitto Mahivāleṇaṃ* (185) ; *to ḍanguruyaṃ davāvai purammi* (203).

talāya, *talāyara,* m. (not in PSM), "city police," variants of *talāra, talavara* (cf. Skt. *talāra* "chief of police " ; see in Schmidt *Nachträge . . . pw*) ; perhaps from Skt. *tala*, *talā* " handle of sword, archer's arm-guard," with suffixes-*ka,-ra,-kara-vara : tīe kalagali utte* (MSS *utto*) *pahāviyā tattha talāyarā* (MSS *talāyārā*) (1337) ; *pattā talāya-purisā jovantā cora-paya-pantiṃ* (1350).

timirakkera, m. (not in PSM), "night," from *timira* with suffix-*kkera* (*-kera,* Skt. *-kārya ;* see Pischel 176) : *rehai siresu jāsiṃ susiṇiddho kasiṇa-kuntala-kalāvo, muha-candāṇa* (MSS insert *va*) *bhaeṇa va timirakkero nilīṇo vva* (408).

thāgha, m. (not in PSM) "shallow place", from Skt. *sthāgha*; gloss in MS *A taṭam*: *maccho vi tab-bhaeṇaṃ mojjhaṃ dāūṇa jāi jalahi-taḍe, Mahivālo vi hu thāghaṃ lahiūṇaṃ taṃ muyai hatthā* (337).

devala, n. (not in PSM), "temple"; variant of *devaula, devakula* : *jai nasissāmi ahaṃ gutte* (read *gutto* ?) *vi hu devalassa sihar'ante, tattha vi joissantī vilakkha-cintā ya gantūṇa* (1341).

nikkankha, adj. (not in PSM), "free from desire", from Skt. *niṣkānkṣa* : *so icchiyaṃ na pāvai Siridhara-vaṇiu* (MSS *vaṇiya*) *vva ittha loyammi, nikkankho puṇa suhio* (MSS *sahio*) *hoi jahā so paṇo* (read *paṇau ?*) *pacchā* (1134).

niyaḍa, n. (not in PSM), "foot fetter"; cf. *niyala* ; from Skt. *nigala*, *nigaḍa : so* (elephant) . . . *niyaḍāiṃ toḍiūṇaṃ* (200).

nivved, vb. (not in PSM), "find out, discriminate between, separate"; cf. Hindi *nibeṛnā* "separate, divide" ; Pkt. word possibly from Skt. *nir-vid* (for phonetics cf. Pischel 222 end); Platts (*Hindustani Dictionary*) derives the Hindi word from Pkt. *nivvaṇḍ*, Skt. *nir-vaṇḍ : eyāṇa nicchayaṃ jo karei nivveḍiūṇa donhaṃ pi, tassa dammassa lakkhaṃ dei nivo tuṭṭhi-dāṇeṇa* (184) *panc'anga-pasāya*, m. (compound not in PSM), "five kinds of gifts": *to panc'anga-pasāyaṃ dāūṇa visajjio nie haṭṭe* (151); *to dāūṇa pasāyaṃ panc' angaṃ so visajjio rannā* (520).

paḍali, f. (not in PSM), "box"; from Skt. *paṭalī*: *tamvola-paḍali-majjhe . . . hāro* (1480); *to paḍalīe mottuṃ hāraṃ* (1562).

pariyaḍiya, m. (not in PSM), "entourage", variant of *pariyariya*; note *ḍ* for *r* (see Emeneau in *Journal of the Amer. Or. Soc.*, vol. 51, 1931, p. 33); the form *pariyario* occurring in stanza 587 is followed in stanza 589 by the form *pariyaḍio*.

pāḍicaraṇa, n. (not in PSM), "service, adoration, worship"; variant of *paḍicaraṇa*, *paḍiaraṇa* (for lengthening of first vowel see Pischel 77), from Skt.* *praticaraṇa*: *to anna-diṇe paḍio purao devāṇa pāḍicaraṇammi* (1153).

pāvaṇijja, grdv. (not in PSM), "to be reached"; from Skt. *prāpaṇīya*: *āvinto ya kameṇaṃ langhittā jala-nihiṃ asesaṃ pi, ega-diṇa-pāvaṇijje kūlammi ya āgao jāva* (1002).

phiṭu, indecl. (not in PSM). exclamation of contempt (also in free construction as a neuter noun, like dhiya, Skt. dhik); Skt. *phuṭ*: *pāhario vi hu jampai phiṭu na vahasī kīsa āgao ettha, eddaha-nayarassa jaṇaṃ vanciya kiṃ na hu dhiyaṃ kuṇasi* (170).

biḍa-hara, see below under viḍa-hara.

bhamaḍaṇa, n. (not in PSM), "wandering about"; derived from the Pkt. vb. *bhamaḍ-bham*, Skt. *bhram* (see Pischel 554): *bhaṇiūṇa Mahesareṇaṃ kumāra itth' atthi sasura-gehaṃ te, to tatth' eva ya jāmo kiṃ annatto bhamaḍaṇeṇaṃ* (1328).

maṇḍalaya, n. (meaning not in PSM), "magic circle"; from Skt. *maṇḍalaka*: *to āṇiya bhingāraṃ vihi-puvvaṃ pūiūṇa maṇḍalæ, donni vi manti bhaṇiyā jo tumhāṇaṃ ihaṃ sacco* (190).

māṇusatta, n. (not in PSM), "man's condition"; from Skt. *mānuṣa-tva*: occurs in stanza 1071.

māsalijj, vb. (not in PSM), "made large or stout"; pass. of denom. from adj. *māsala*, *māṃsala* (Skt. *māṃsala*): *taṃ daṭṭhūṇaṃ sāhū saddhā-pulæṇa māsalijjantaṃ* (625).

mūḍaya, m. (not in PSM), "a measure of grain"; variant of *mūḍa*, *mūḍha* (cf. Skt. *mūṭa*, *mūṭaka*, *mūḍaka* "basket"): *to rāya-kule gantuṃ gahio dammāṇa kaṭṭiuṃ lakkho, jaha pūrissaṃ dhannaṃ mūḍaya-paya-aṭṭha-dammehiṃ* (74).

melāvaṇa, n. (not in PSM), "meeting, joining"; action noun from caus. of *mil*: *to rāyā suha-lagge pāṇi-ggahaṇaṃ kuṇai tesiṃ* (232) *hattha-melāvaṇammiṃ dinnaṃ rāeṇa kaṇaya-lakkhaṃ se.*

mojjha, n. (not in PSM), "confusion, stupidity"; from Skt. *mauḍhya*: *maccho vi tab-bhaeṇaṃ mojjhaṃ dāūṇa jāi jalahi-taḍe* (337).

ratta-uḍa, n. (not in PSM), "ascetic (*i.e.*, one clothed in red)"; variant of *ratta-vaṭa ratta-paṭa* (from Skt. *rakta-paṭa*): *iya cintiya so jakkho ratta-uḍā jattha jattha bhunjanti niya-hattheṇaṃ tesiṃ parivesai tattha tatth' eva* (1241); *to kuvvanti avannaṃ ratta-uḍā sāhu-sanghassa* (1243).

laṭṭhaya, n. (?) (not in PSM), "satisfaction, pleasant occurrence"; from *laṭṭha* (Skt. **laṣṭa-lasita*; see Pischel 564), with suffix *-ya* (Skt.*-ka*): *tā jai purassa bāhiṃ ujjāṇe kīlaī pahu kumāro, ahavā majjhi cciya rāulassa to laṭṭhayaṃ hoi* (640).

laṭṭhu, adj. (not in PSM), "agreeable"; variant of *laṭṭha* (for which see under preceding word): *tā jai jippai teṇaṃ to laṭṭhuṃ hoi* (550).

lodda, n. (not in PSM) "theft"; from Skt. *loptra* (cf. Pischel 289 end); the word generally occurs in the compound *lodda-kara* "thief": occurrences in stanzas 1203, 1343, 1355, 1653, 1656.

vāya-pāṇa, n. (compound not in PSM), "drinking (*i.e.* enjoying) the air": *tā picchai niyaḍa-tthaṃ gimhe jala-uvari vāya-pāṇ' atthaṃ, payaḍaṃ niccala-kāyaṃ egaṃ mīṇaṃ mahā-kāyaṃ* (335).

vijāya, adj. (not in PSM), "baseborn, casteless"; from Skt. *vijāta*. The story is that Mahīpāla, disguised as a hunchback, shows some blank pages (palm leaves) successively to a king, a purohita, and a minister, saying that Śakra had given him these as a magic book. To him only who was properly born (*jo vihiṃ jaṇehiṃ jāo*) would letters appear on the leaves. Each of the three fails to see any letters, and so they conclude *ahaṃ vijāo* (429), *imo vijāu tti* (433), *ahayaṃ vijāu tti* (436). Curiously, in all three cases the MSS read *tijā*°.

viḍa-hara, n. (not in PSM), "entertainment hall"; there is a variant form *biḍa*°; the word is erroneously treated in my *Story of Kālaka* (Washington: Smithsonian Institution, 1933), p. 110. The key to the meaning is found in the Ardhamāgadhī *viḍa* "dancer" (see *Ardhamāgadhī Dictionary*, vol. IV, 1932), which is possibly the same word, but in a different aspect, as the Pkt. *viḍa* (Skt. *viṭa*) "dissolute person, rake, pimp." See also under the next word. *to rāyā suha-lagge pāṇi-ggahaṇaṃ kuṇai tesiṃ* (232) *hattha-melāvaṇammiṃ dinnaṃ rāeṇa kaṇaya-lakkhaṃ se, dinno ya pavara-deso bahu-davva-juyaṃ biḍa-haraṃ ca* (233).

viḍa-purisa, m. (not in PSM), "entertainer"; for *viḍa* see preceding word: *puṇa-puṇa pucchantassa vi jāhe na hu dinti uttaraṃ tao, to rannā viḍa-purisā bhaṇiyā bollāvaha imāo* (419) *te vi hu cau-rattīhiṃ nāṇā-hāsehiṃ cheya* (MSS *ttheya*)*-bhaṇiehiṃ, na taranti khoheuṃ jā tā rannā tattha āṇattaṃ* (420).

viḍh, vb. (not in PSM), "cling to"; variant of *veḍh* (Skt. *veṣṭ*): *veḍḍha tti kaliya so vi hu Mahivālo jāva tammi āruhai, to mīṇo sala-salio iyaro to viḍhai gāḍhayaraṃ* (336).

vuṇāviya, pass. pcpl. (not in PSM), "woven"; from caus. stem ultimately from Skt. root *vā*, *vi*, *u*. The Pkt. base *vuṇ* does not appear in PSM as a verb, but is represented in the noun *vuṇaṇa* "weaving"; however, cf. the Hindi verb *bunnā* "to weave": *tab-bhajjāe paḍao vuṇāvio kattio kaha vi* (616).

veḍḍha (or° ā), m. (or f. ?) (not in PSM), "trick, trap"; variant of Pkt. *veḍha* (Skt. *veṣṭa* "enclosure, noose"): *gaha-gahio si tumaṃ ciya jo para-gehammi esi vanceuṃ, atthai gihammi mantī veḍḍhaṃ annaṃ tumaṃ kuṇasu* (172).

veḍḍhā, f. (not in PSM), "boat" (?); MS *A* has gloss *parvata*, but the word is possibly variant of *beḍā* "boat". Perhaps in text we should read *veḍha*: *veḍḍha tti kaliya so vi hu Mahivālo jāva tammi āruhai, to mīṇo sala-salio iyaro to viḍhai gāḍhayaraṃ* (336).

sannāha, m. (not in PSM), "armor"; Sanskrit *saṃnāha*: *viveya-sannāha-sambuya-sarīro* (1771).

sala-saliya, adj. (not in PSM), "pierced by an arrow, severely hurt"; variant of *sara-salliya*; for illustration see stanza quoted under *veḍḍhā*; cf. *aha sā . . . kāma-sara-salliy-angī* (218).

salaha, adj. (not in PSM), "valuable excellent"(?); from Skt. *ślāghya*(?): *rayaṇe . . . salahāṇi tti muṇittā to teṇa samaṃ kuṇai sattiṃ* (103).

sārā, f. (not in PSM), "care, concern"; Skt. *sārā* (see Schmidt, *Nachträge . . . pw*); cf. Hindi *sārā* "custom, usage, practice": *etth'aṇtari se māyā sārā-karaṇ'aṭṭham āgayā dāre, soūṇa kumari-saddaṃ sā cintai kiṃ kuṇai esā* (219).

siva, m. (not in PSM), "jackal"; cf. *sivā*; from Skt. *śiva*: *ekkaṃ khāyai maḍayaṃ annaṃ ca kaḍ'akkha-rokkhiyaṃ dharai, annaṃ ahilasai maṇe masāṇa-siva-sacchahā nārī* (1043).

sunnāṇa, n. (not in PSM), "theoretical knowledge"; coupled in our text with *vinnāṇa*, the two meaning "theoretical and applied knowledge" (cf. Edgerton on "Jñāna and Vijñāna" in the Winternitz Festschrift): *tassa ya viṇoya-ṭhāṇaṃ sunnāṇā-vinnāṇa-saṃjuo atthi, mitto tti ya paḍivanno Mahivālo nāma rāutto* (22).

kattha-sannā, f. (not in PSM), "hand-language, gesture language"; from Skt. *hasta-saṃjñā*: *etto mahāyaṇeṇaṃ dinnāo tattha hattha-sannāo, mullaṃ ṭhaviūṇa tao bhaṇanti eyaṃ imaṃ lahai* (120).

O nekotoryx javlenijax rotatsizma v jazyke xindi.

प्रोफ़ेसर डा॰ आ॰ बरान्तिकोफ़ पी॰ एच्॰ डी॰, लेनिनग्राद

[लेख का विषय है—हिन्दी-भाषा में रकारीभाव की कुछ अवस्थाओं पर विचार]

हिन्दी-कविता की बोलियाँ—ब्रज और अवधी, जिनका हिन्दी कविता के इतिहास में एक विशेष स्थान है, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बड़े ही महत्त्व की हैं। इन दो बोलियों की, ध्वनियों की, नामों और धातुओं के रूप-परिवर्तनों की, कोष की और शैली की विशेषताओं ने बहुत समय पहले से अब तक अनेक भारतीय तथा योरपीय विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। तो भी, बावजूद इस बात के कि ब्रज और अवधी का अन्य पड़ोसी बोलियों से ध्वनियों में और रूप-परिवर्तन में बहुत ही सरल अन्तर है, दुर्भाग्यवश ऐसा कोई ग्रन्थ उपस्थित नहीं है जिसमें ब्रज और अवधी की इन विशेषताओं की वैज्ञानिक विवेचना की गई हो।

ब्रज और अवधी में रकारीभाव के, अर्थात् शैली के निर्म्माणार्थ ल की जगह र के विधान करने के, दृष्टान्तों का उल्लेख अनेक भारतीय और योरपीय विद्वानों ने किया है। ल और र की प्राचीन ध्वनियों में—अर्थात् उन ध्वनियों में जिनका मूल कि संस्कृत की ध्वनियों में खोजा जा सकता है—तथा नये ल और र में जो कि अर्वाचीन भारतीय भाषाओं में दन्त्य और मूर्द्धन्य व्यञ्जनों के ऐतिहासिक परिवर्तन के फलस्वरूप प्रकट होते हैं, स्पष्ट भेद करना चाहिए।

ब्रज और अवधी के बहुत से साधारण प्रयोग के शब्दों में हम गद्य-भाषा के ल के बजाय र की ध्वनि पाते हैं। फिर भी इन दो बोलियों का रकारीभाव पूर्ण नहीं है, और अनेक शब्द-समूहों में ल ध्वनि भली-भाँति बनी हुई है। दूसरी तरफ़ स्वयं खड़ी बोली में बहुत से दो रूपवाले शब्द पाये जाते हैं, जिनमें ल और र वैकल्पिक होते हैं, और उनके वैकल्पिक प्रयोग से उन शब्दों के अर्थों में मामूली अन्तर पड़ता है।

परन्तु वैदिक भाषा में भी इस प्रकार शब्दों के दो रूप प्रायः पाये जाते हैं। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, ल ध्वनि पुरानी र ध्वनि का स्थान लेती हुई दीख पड़ती है। जहाँ कि ऋग्वेद के प्रथम नौ मंडलों में, जिनका उनकी भौगोलिक परिभाषाओं द्वारा अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट है, हम ऐसी बोली पाते हैं जिसमें रकारीभाव का पूरा ज़ोर है, वहाँ दसवें मंडल में, जिसकी भौगोलिक परिभाषाएँ अधिक पूरब की हैं; उन्हीं शब्दों में ल ध्वनि पाई जाती है, जिनमें कि पहले नौ मंडलों में र ध्वनि है। ऋग्वेद के अन्तिम अंश में ल का प्रयोग पहले अंशों की अपेक्षा आठ गुना अधिक है। असकोली का कहना है कि अथर्ववेद में, जो कि निश्चय ही बाद का है, ल का प्रयोग ऋग्वेद से सात गुना अधिक हुआ है। फिर महाकाव्यों तथा शास्त्रीय संस्कृत में ल का प्रयोग प्राचीन संस्कृत की अपेक्षा तीन गुना अधिक है। प्राकृत भाषाओं में ल का प्रयोग और भी अधिक बढ़ जाता है; मागधी प्राकृत में तो वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है; र सर्वथा लुप्त हो जाता और उसकी जगह सर्वत्र ल आ जाता है।

अब तक साहित्यिक बोलियों में र और ल के विपर्यय की व्याख्या करने के सब प्रयत्न विफल हुए हैं, क्योंकि इस विषय का अब तक केवल ऊपरी अध्ययन किया गया है, जिससे केवल इतनी बात सिद्ध हो पाई है कि पहले ल का प्रयोग बढ़ने की प्रवृत्ति रही, और बाद में वह घटती गई। इस विषय के विकास-सम्बन्धी तथा शैली-सम्बन्धी पहलू पर ध्यान नहीं दिया गया। यदि हम तुलसीदास की भाषा पर विचार करें, जिसे कि अत्यन्त रेफ-प्रवृत्ति-युक्त कहना सर्वथा न्यायसंगत है, तो हम देखेंगे कि दो सीमायें हैं जिनके आगे रकारीभाव की प्रवृत्ति नहीं बढ़ती।

१—संस्कृत शब्द अपने ल को सदा बनाये रखते हैं।

२—जन-साधारण की बोलचाल के प्रचलित शब्दों में र नहीं घुसता।

तुलसीदास की भाषा में रकारीभाव उन शब्दों में दीख पड़ता है, जो कि विभिन्न श्रेणियों के पुरुषों, देवताओं और राजाओं के लिए प्रयुक्त होने पर अपने अर्थ में परिवर्तन होने देते हैं। यही बात सूरदास की रचनाओं के बारे में भी है।

यह प्रमाणित हो चुका है कि पच्छिमी आर्य्यावर्त्तः बोलियों में रकारीभाव की प्रवृत्ति थी, जब कि पूरबी बोलियों में ल का प्रयोग विशेष था। यह स्मरण रखना चाहिए कि पूरब के, विशेषकर बङ्गाल तथा उसके समीपवर्त्ती प्रान्तों के, विजय के समय उच्च वर्णों के प्रतिनिधि पश्चिम से आये थे। उदाहरण के लिए, विशेष कर गुप्त-वंश के अभिलेख में प्रायः ऐसा उल्लेख है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय पश्चिम से आये। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि पश्चिम से उच्च श्रेणियाँ रकारीभाव की प्रवृत्ति लाईं, और वह कुलीनता की द्योतक समझी जाने लगी। इसी कारण व्रज और अवधी में उपर्युक्त दशा है, और र वाले रूप ऊँची शैली को सूचित करते हैं।

वैकल्पिक र या ल वाले शब्द रूपों के विकास की ये तीन क्रम-दशायें, अर्थात् (अ) र वाले पश्चिमी रूप, (इ) उनका ऊँचे दर्जों की भाषा का विशेष चिह्न होना, और (उ) उन का शैली को उत्कृष्ट बनाने के लिए प्रयोग किया जाना—अत्यन्त आधुनिक खड़ी बोली में भी प्रतिबिम्बित होती हैं।

संस्कृत के अनेक शब्द-समूह भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि ल वाले शब्द-रूप निचले दर्जों के लोगों के शब्द-कोष के समझे जाते थे। जैसे, नमूने के लिए, शास्त्रीय संस्कृत में कई आन्तरिक अंगों के नाम ल वाले ही हैं;—जानवरों को मारना तथा मृतक शरीर को छूना नीचतम दर्जों के ही कार्य थे। उसी प्रकार रँगने के लिए बर्त्ते जानेवाले रंगों में नाम भी।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन लेखकों की भाषा में, जिन्होंने अपनी रचनाओं में ऊँची शैली का परहेज़ किया है, रकारीभाव का लेशमात्र भी नहीं पाया जाता, उदाहरण के लिए कबीर की भाषा में।]

Poetičeskiě dialěkty xindi—bradž [व्रज] i avadxi [अदधी], —imějuščiě stol′ bol′šoě značěniě v istorii poezii xindi, predstavljajut isključitel′nyj lingvističětskij intěrěs.

Svoěobraziě ix fonětiki, morfologii, slovarja i stilja davno užě privlěkalo vnimaniě mnogix avtorov, kak indijt͜sěv, tak i ěvropějt͜sěv. Dolžno skazat′ odnako, čto bol′šinstvo rabot etix avtorov prěslěduět prěimuščěstvěnno praktičěskiě t͜sěli—oběgčit′ ponimaniě jazyka togo ili drugogo avtora, dialěktičěskiě osoběnnosti kotorogo v značitěl′noj měrě otličny ot sovrěměnnogo litěraturnogo prozaičěskogo jazyka.

Xotja oba nazvannyx poetičěskix dialěkta těsnějšim obrazom svjazany s sootvětstvujuščimi lokal′nymi dialěktami xindi, odnako, dažě pri sobrěměnnoj stěpěni izučěnnosti etix dialěktov, možno skazat′, čto dlitěl′noě upotrěblěniě dialěktov bradž i avadxi v litěraturě sposobstvovalo ix otkloněniju ot sootvětstvujuščix lokal′nyx dialěktov. Eti otkloněnija nabljudajutsja ně tol′ko v oblasti slovara i stilja, kotoryě něizběžno vsěgda otličajut litěraturnyě dialěkty ot dialěktov městnyx, v značitěl′noj měrě ograničěnnyx v oblasti vyrazital′nyx srědstv, no takžě i v oblasti fonětiki i morfologii. Něsmotrja na otnositěl′nuju prostotu fonětičěskix i morfologičěskix javlěnij my, k sožalěniju, i do six por ně iměěm ni odnoj raboty, po svjaščěnnoj nadlěžaščěmu naučnomu rassmotrěniju etix javlěnij v bradžě i avadxi. Dažě dannyě otnositěl′no zvučanija odnix i těx žě form začastuju byvajut različny u različnyx isslědovatělěj i často ně sovpadajut s těmi formami, kotoryě my naxodim v različnyx izdanijax krupnějsix avtorov—Tulsi-Dasa i Sur-Dasa. Ěščě měn′šě vnimanija uděljaětsja voprosu ot ispol′zovanii različnyx fonětičěskix javlěnij v potrěbnostjax stilističěskogo oformlěnija.

Nastojaščaja kratkaja zamětka iměět svoěj t͜sěl′ju popytku pokazat′, kakim obrazom ispol′zuětsja javlěniě rotat͜sizma, to ěst′ fakt zaměny zvuka "l" t͜sěrěz "r" dlja potrěbnostěj stilja.

Javlěnija rotat͜sizma "1 > r" stol′ jarko vyražěny v bradžě i v avadxi, čto davno užě privlěkali vnimaniě isslědovatělěj. Kromě mnogočislěnnyx indijskix avtorov na nix ukazyvajut mnogiě ěvropějskiě avtory, v častnosti *R. Hoernle*, *S. H. Kellog* i dr. Bol′šinstvo avtorov pri rassmotrěnii čěrědovanija zvukov "1" i "r" raznogo proisxožděnija, t. ě. staryě "l" i "r," vosxodjaščiě k sootvětstvujuščim sanskritskim zvukam i novyě "l" i "r", kotoryě pojavljajutsja v novoindijskix jazykax v rězul′tatě istoričěskix modifikat͜sii zubnyx i t͜sěrěbral′nyx soglasnyx. V vidu kratkosti moěj zamětki, ja ograničus′ faktami čěrědovanija staryx "l" i "r", kotoryě v drěvněindijskom jazykě [v vědičěskom i sanskritě] vystupajut v kačěstvě plavnyx. Faktam čerědovanija zvukov "l" i "r" novogo proisxožděnija budět uděléno měn′šě vnimanija.

Pri pěrěxodě ot sovrěměnnogo litěraturnogo jazyka [खड़ी बोली] k dialěktam bradž i avadxi my nabljudaěm v etix poslědnix zvuk "r" [र] na městě zvuka "l" [ल] prozaičeskogo jazyka vo mnogix věs′ma často upotrěbitěl′nyx slovax. Napriměr :

Sur-Dasa :	Kxari-Boli :
बारो	बाला
गारी	गाली
बहराई	बहलाना
बिजुरि	बिजली
दुबर	दुर्बल

Tulsi-Das	Kxari-Boli
टरै	टलना
डारो	डालना
तरवार	तलवार
जाईफर	-फल
चपपुतली	-पुतरी
रोम	रोम, लोम i drugiě.

Količěstvo priměrov možno bylo by uvěličit′ va mnogo raz

Kromě analogičnyx priměrov čěrědovanija staryx zvukov "l" i "r", my nabljudaěm někotooryě fakty čěrědovanija novyx "l" i "r", napriměr :

चेरा चेला i dr.

Na osnovanii etix i im podobnyx faktov mnogiě avtory ukazyvajut, čto dialékt Tulsi-Dasa, ravno kak i dialěkt Sur-Dasa xaraktěrizujutsja sil′nym rotat͜sizmom.

Sověršěnno ponjatno, čto rotat͜sizm etix dialěktov daleko ně polnyj, i v t͜sělom rjadě slov upotrěbljaětsja tol′ko "l". Takovy napriměr : बल, बोला, बालक, ग्वाल, लये, खेलत i drugiě.

Pověrxnostnoě nabljuděniě etix faktov, nabljudajuščixsja v poetičěskix dialěktax bradž i avadxi, možět privěsti k zaključěniju, čto formy s "l" i "r" upotrěbljajutsja čisto slučajno, čto v osnově ix upotrěblěnija nět nikakogo print͜sipa, kak to i utverždajut někotoryě avtory napriměr, *Beames*. Vo vsjakom slučaě upotrěblěnië v poetičeskix dialěktax form s "r", kotorym v kxari-boli sootvětstvujut formy s "l" obraščaět na sěbja vnimaniě.

Dal'nějšěě izučěnië etogo voprosa pokazyvaět, čto i v samom kxari-boli iměětsja značitěl'noě količěstvo dublětov, gdě čěrědujutsja zvuki "l" i "r", pričěm značěnija slov s "l" i "r" xotja i blizki, odnako ně pokryvajutsja odni drugimi. Takovy napriměr ; चरना—चलना, चराना—चलाना, जरना—जलना, जराना—जलाना, पुत्री—पुतली, गर—गल, हर—हल i dr., novyě "l" i "r" : चेरा चेराई—चेला.

Problěma čěrědovanija zvukov "l" i "r" okazyvaětsja ěščě bolěě složnoj, ěsli my obratimsja k drěvnim arijskim jazykam : vědičěskomu i sanskritu.

Užě v vědax my naxodim rjad dublětou, gdě vystupajut to "r" to "l". Napriměr :

पुरु	"mnogo"	पुलु
मिश्र	"směšannyj"	मिश्ल
जर्गुर्	"glotat'" [intěns. ot गृ]	जल्गुल्
पिच्छोर	"svirěl'	पिच्छोल
रोमन	"volos"	लोमन i dr.

J. *Wackernagel* v svoěj grammatikě drěvněindijskogo jazyka (*Altindische Grammatik, I, Lautlehre, Goettingen*, 1896, *s*. 215) s polnoj avtoritětnost'ju otměčaět, čto s těčěniěm vrěměni upotrěblěnië "l" narastaět. Měž těm kak pěrvyě děvjat' mandal, svoěj gěografičeskoj terminologiěj svjazannyě s zapadom, s těpěrěšnim Afganistanom i Pendžabom, dajut dialěkt s sil'nym rotatsizmom, gdě, kromě privěděnnyx priměrov, zvuk "l" sověršěnno ně vstrěčaětsja, užе v děsjatoj mandalě, svjazannoj s bolěě vostočnoj gěografičeskoj terminologiěj, vstrěčajutsja formy s "l", na městě kotorogo v bolěě drěvnix mandalax bylo "r" Napriměr :

म्रुच्—म्लुच्	"gibnut'"
रभ्—लभ्	"polučat'"
रोहित—लोहित	"krasnyj" i dr.

Po vyčislěnijam različnyx avtorov, v poslědnix častjax Rigvědy "i" upotrěbljaětsja v 8 raz čaščě, čěm v bolěě rannix. S drugoj storny, po podsčětam *Ascoli* v Atxarva-Vědě, to ěst' v pamjatnikě, něsomněnno, bolěě pazdněm po svoěmu jazyku, čěm Rig-Věda, zvuk "l" upotrěbljaětsja v 7 raj čašče, čěm Rig-Vědě v tsělom.

Nakoněts v epičěskom i klassičeskom sanskritě upotrěblěnijě "l" v tri raza prěvosxodit po svoěj častotě upotrěblěnië etogo zvuka v doklassičěskoj litěraturě. Pri etom rjad slov, kotoryě v staryx pamjatnikax upotrěbljalis' tol'ko s "r", v klassičěskom vystupajut tol'ko s "l". Takovy :

लघु	"bystryj, lěgkij"
लम्ब	"visět'"
ललाट	"lob"
श्लुक्ल	"světlyj"
श्लथ	"razryxljat'cja" i dr.

Rjad drugix slov, raněě upotrěbljavšixsja isključitěl'no s " r ", v klassičěskom sanskritě soxranjajut eto " r " ves'ma redko i vystupajut počti isključitěl'no s " l ". Takovy :

बहुर	बहुल	" gustoj "
मूर	मूल	" korěn' "
वार	वाल	" xvost, volosy xvosta ".

Narastaniě upotrěblěnija zvuka "1" nabljudaětsja ěščě v bol'šej měrě v prakritax. Kul'minat͜sionnogo punkta eto razvitiě dostigaět v prakritě Magadxi, gdě "r" isčězaět sověršěnno i na ěgo městě javljaětsja "l".

लाज	vměsto	राज	
श्रंतल	,,	श्रन्तर	
पुलिस	,,	पुरुप	i drugiě.

Voprosy prakritskoj grammatiki, kak izvěstno, zanimali indijskix grammatikov značitěl'no měn'šě čěm vaprosy sanskritskoj grammatiki. My možěm poetomu dumat', čto v někotoryx slučajax, uloviv liš' obščuju těnděnt͜siju k zvuku "l," indijskiě grammatiki, běssil'nyě ulovit' obščiě print͜sipy ěgo upotrěblěnija, prosto stilizovali někotoryě dialěkty magadxi, podobno tomu, kak dramatičeskiě prakrity, naprimer, vo mnogix otnošěnijax prědstavljajut soboju často iskusstvěnnyě, stilizovannyě formy, a ně formy, rěal'no upotrěbljavšiěsja v sootvětstvujuščix narodnyx dialěktax.

Vrjad li možno priznat' udovlětvoritěl'nym ob"jasněniě indijskimi grammatikami fakta naličija dublětov s "r" i "l" v sanskritě. Po suščěstvu formula indijskix'grammatikov

र-ल-योर अमेद :

prědstavljaět soboju prostoj otkaz ot ob"jasněnija nabljudaěmyx faktov.

Stol' žě malo udovlětvoritěl'ny i popytki rjada ěvropijskix lingvistov ob"jasint' eto javlěniě. Eto možno viděť xotja by iz utvěržděnija Bartolome (*Bartholomæ*, *K Z.*, 39, 579 A), kotoryj zajavljaět, čto v načalě drěvněindijskomu jazyku, kak i drěvněpersidskomu, byl svostvěněn rotat͜sizm, a potom snova vměsto zvyka "r" javljaětsja "l".

Pišel' (*Pischel*, GGA., 1884, 512), rassmatrivaja fakty čěrědovanija zvukov "r" i "l", prixodit k vyvodu, čto narjadu s zapadnymi dialěktami, obladavšimi rotat͜sizmom, suščěstvovali i vostočnyě dialěkty, soxranivšiě zvuk "l" i dažе rasširivšiě granit͜sy ěgo upotrěblěnija. Vlijaniěm etix poslědnix dialěktov ob"jasnjaětsja proniknověniě from s "l" v klassičeskij sanskrit.

Eto zaključeniě i osnovannoě na izučěnii prakritov, podtvěrždaětsja takžě i někotorymi dannymi novoindijskix jazykov. S někotoroj ogovorkoj my možěm soglasit'sja s utvěržděniěm pišelja o bolěě širokom upotrěblěnii zvuka "l" na vostokě, gdě, něsomněnno, bylo značitěl'noě vlijaniě drěvněindijskix jazykov.

Odnako eto v věs'ma slaboj měrě ob"jasnjaět fakt naličija dublětov s "r" i "l".

Dž. Bimz v svoěj sravnitěl'noj grammatikě novoindijskix jazykov konstatiruět, čto, vo-pervyx, v dialěktax, zanimajuščix v nastojaščěě vrěmja territoriju prakrita magadxi, gdě, po dannym grammatikov i nadpisej, na mĕstĕ zvuka "r" javljaĕtsja "l," v nastojščĕĕ vrĕmja. nabljudaĕtsja obratnaja tĕndĕnt͜sija i my imĕĕm, naprimĕr;

करिश्र vmĕsto काला
कपार ,, कपाल i dr.

vo-vtoryx on ukazyvaĕt, čto v poetičĕskix dialĕktax xindi často javljaĕtsja "r" vmĕsto "l," i, v trĕt'ix, on otmĕčaĕt, čto v nĕkotoryx dialĕktax Indii smĕšĕniĕ zvukov "r" i "l" nastol'ko vĕliko, čto govorjaščiĕ otnosjatsja jako-by sovĕršĕnno bezrazlično k tomu, kakoj zvuk skazat' "r" ili "l." Bimz odnako ukazyvaĕt, čto sootvĕtstvujuščiĕ gruppy nasĕlĕnija soznajut različiĕ mĕždu etimi zvukami i bĕzrazličiĕ k upotrĕblĕniju zvukov "r" i "l" nabljudaĕtsja srĕdi nizšix klassov nasĕlĕnija. V kont͜sĕ kont͜sov on sčitaĕt etu problĕmu, pri sovrĕmĕnnom emu urovnĕ znanij po dialĕktologii, sovĕršĕnno nĕrazrĕšimoj.

Mnĕ prĕdstavljaĕtsja, čto popytki ob"jasnit' fakty čerĕdovanija zvukov "r" i "l" v litĕraturnyx dialĕktax okazalis' sovĕršĕnno besplodnymi potomu, čto k ix razrĕšĕniju podxodili smĕtodom čisto formal'nym. Takoj mĕtod pozvolil tol'ko čisto statističĕski ustanovit' narastaniĕ upotrĕblĕnija zvuka "l" i potom cužĕniĕ ĕgo upotrĕblĕnija.

Semantičĕskaja i stilističĕskaja storona etogo javlĕnija ostavljalas' bez vnimanija. Ravnym obrazom nĕ učityvalas' i klassovaja suščnost' jazykovyx javlĕnij. Mĕž tĕm učĕt etix momĕntov sposobĕn prolit' značitĕl'nuju jasnost' na eti fakty.

Obratimsja k Tulsi-Dasu. Ĕgo dialĕkt s polnym osnovaniĕm kvalifit͜siruetsja obyčno kak dialĕkt s sil'nym rotat͜sizmom. My privĕli rjad primĕrov, gdĕ na mĕstĕ "l" sovrĕmĕnnogo xindi u Tulsi-Dasa nabljudaĕtsja "r". Odnaka, granit͜sy upotrĕblĕnija zvuka "r" vmĕsto "l" nĕ rasširjajutsja u nĕgo do polnoj nĕoprĕdĕlĕnnosti ; oni ustanavlivajutsja s dvuk storon, tak kak ĕst t͜sĕlyĕ katĕgorii, kuda "r" nĕ pronikaĕt.

Izučĕniĕ tĕksta s polnoj ubĕditĕl'nost'ju svidĕtĕl'stvuĕt o slĕdujuščix dvux faktax.

I. Zvuk "r" na mĕsto "l" nĕ pronikaĕt v sanskritskiĕ slova, kotoryĕ pri vsĕx uslovijax soxranjajut svoĕ "l", xotja eti slova často javljajutsja v narodnom, vul'garnom proiznošĕnii. Naprimer:

बालकाण्ड "glava o dĕtstvĕ"
कुलदेव "cĕmĕjnoĕ [rodovoĕ] božĕstvo"
मंगल काजा "blagoĕ dĕlo"
सील "xaraktĕr"
अनुकूल "blagoprijatnyj"
सकल "ves'" i mnogiĕ drugiĕ.

Ravnym obrazom "r" nĕ pronikaĕt v slova, naibolĕĕ často upotrĕbitĕl'nyĕ v narodnom jazykĕ. Naprimĕr.

लेना "brat'"
लगना "načinat'"
लाग "do"
ग्वाल "pastux" i t. d.

Rotatsizmu podvĕrgajutsja u Tulsi-Dasa prĕimuščĕstvĕnno tĕ slova, v kotoryĕ vozmožno privnĕsti raznoĕ sodĕržaniĕ v zavisimosti ot otnĕšĕnija ix k litsam raznyx klassov. Takovy, naprimĕr:

रोम vmĕsto लोम
चप-पुतरी ,, ०पुतली

libo kogda govoritsja o bogax i tsarjax. Naprimĕr.

रैट o Dašaratxĕ
दारी o Kĕkaji i t. d.

Ĕsli my učtĕm ukazaniĕ Bimza o smĕšĕnii zvukov "r" i "l" v sovrĕmĕnnyx dialĕktax nizšix klassov, naprašivaĕtsja vyvod, čto rotatsizm v litĕraturnom dialĕktĕ Tulsi-Dasa javljaĕtsja odnim iz stilističeskix priĕmov, srĕdstvom soobščĕnija slovu xaraktĕra bolĕĕ vysokogo stilja.

Analogičnoĕ položĕniĕ vĕščĕj my naxodim i u Sur-Dasa.

वारो o Krišnĕ, no बालदेव
जरै ,, जलै
गर ,, गला
गारी govorit Jašoda no गाली i t. d.

Tot fakt, čto nĕ dlja vsjakogo lĕksičĕskogo elĕmĕnta so zvukom "r" my možem najti ĕgo dublĕt s "l", ob"jasnjaĕtsja samim xaraktĕrom proizvĕdĕnij Tulsl-Dasa i Sur-Dasa. V ix proizvĕdĕnijax vystupajut prĕimuščĕstvĕnno bogi, tsari, gĕroi, braxmany, i proizvĕdĕnija etix i blizkax im avtorov vydĕržany v vysokom stilĕ.

Nabljudĕnija sanskritologov svidĕtĕl'stvujut o tom, čto zapadnyĕ indoarijskiĕ dialĕkty obladali rotatsizmom, vostočnym že dialĕktam bylo svojstvĕnno "l."

Ĕsli my vspomnim, čto pri podčinĕnii vostoka, v častnosti Bengalii i sosĕdnix provintsij, prĕdstavitĕli vysšix kast v svoĕm bol'šinstvĕ javilis' s zapada, va častnosti nadpisi impĕratorov dinastii Gupta mnogokratno govorjat o darax, kotoryĕ davalis' braxmanam i eti eti braxmany xaraktĕrizujutsja v nadpisjax kak मध्यदेशविनिर्गत, to ĕst' kak vyxodtsy iz tsĕntral'noj, zapadnoj časti Indii, a ravnym obrazom o tom, čto s zapada prixodili prĕdstavitĕli voinskogo klassa कुलपुत्र my možĕm dumat', čto rotatsizm, prinĕsĕnnyj s zapada braxmanstvom i aristokratiĕj i radikal'no izmĕnivšij fonĕtičĕskuju strukturu različnyx novoindijskix jazykov, osoznavalsja kak prinadlĕžnost' jazyka vysšix klassov. (*S. K. Chatterji, The Origin and Development of the Bengali Language, Part I, p. 536.*)

Otsjuda nĕtrudno pĕrĕjti k položĕniju, nabljudajuščĕmusja v dialĕktax bradž i avadxi, kogda formy s "r" polučajut xaraktĕr vysokogo stilja.

Eti tri stupeni razvitija dublĕtov so zvukami "r" i "l", to-ĕst' osoznaniĕ a [mĕstnyx zapadnyx form so zvukom "r" kak "l"] prinadlĕžaščix jazyku vysšix klassov, a vposlĕdstvii kak osoběnnosti s vysokogo stilja, naxodjat svoě otražěniě i v samom sovrěměnnom Kxariboli. Napriměr:

जलना "gorět′"	जरना "goret′ v lixoradkě"
चलना "dvigat′sja"	चरना "dvigat′sja, pastis′"
चलाना "dvigat′"	चराना "dvigat′, pasti"
हल "plug"	हर "plug", osoběnno v vyražěnii हरसोत "pěrvaja borozda"
पुतली "děrěvjannaja kukla, zračěk,"	पुत्री "doč′, děvuška" i t. d.

Ěsli my v spomnim, čto vračami byli braxmany, čto slovo पुतली prinadlěžit dětskomu jazyku i čto korova iměla ogromnoě značěniě v xozjajstvěnnoj i rěligionoj žizni Indii, ně trudno budět ponjat′, počemu dublety s "r" polučili značěniě form vysokogo stilja.

V rjadě slučaěv my naxodim analogičnyě sootnošěnija značěnij dublětov "r" i "l" i v sanskritě. Takovy, napriměr:

ज्वल् "gorět′, pylat′"	ज्वर् "gorět′ v lixoradkě"
ज्वल "plamja"	ज्वर "lixoradka"
चल् "prixodit′ v dvižěniě, drožat′, kolěbat′sja"	चर् "dvigat′sja, idti, pastis′"
कल् "dělat′, prinimat′sja za"	कर् "dělat′, tvorit′"
लोहित "krasnyj"	रोहित "krasnyj, ryžaja lošad′ ili lan′"
ग्ला "vjanut′"	मर् "umirat′"
लज्ज् "smyščat′sja, stydit′sja"	रज् "krasnět′"
लघु "bystryj, lěgkij, něznačitěl′nij, ničtožnyj"	रघु "bystryj, nazvaniě tsarskogo roda Ragxu"
लाघव "lěgkost′, legkomysliě"	

Vslědstviě togo, čto sanskritskiě slovari ně vsěgda dajut važnyě dlja nas tonkiě ottěnki značenij, a takžě vslědstviě togo, čto grammatiki, kotorymi rukovodstvovalis′ sostavitěli slovarěj, začastuju stavili znak ravěnstva měždu "r" i "l", často věs′ma zatrudnitěl′no prědstavit′ sěmantičeskiě ottěnki značěnij. V vide prědpoložěnija my možěm, napriměr, vyskazat′ mysl′, čto, napriměr, iz dvux dublětov रोम i लोम, pěrvonačal′no v raznyx dialěktax iměvšix odno i to-žě značěniě, poslě vxožděnija ix v klassičěskij sanskrit pěrvoě imělo značěniě "volosy", a vtoroě "šěrst′" i liš′ vslědstvii oni sblizilis′ v svoix značěnijax, xotja polnogo sovpaděnija v značěnijax nět i v nastojaščěě vremja, kak pokazyvajut frazěologičěskiě oboroty

रोम रोम से = तन मन से

रोम रोम से आशीर्वाद देना i drugiě, gdě dublět लोम obyčno ně upotrěbljaětsja.

Rjad sanskritskix slov s polnoj jasnost′ju svidětěl′stvuět o tom, čto formy so zvukom "l" osoznavalis′ kak elěměnty slovarja nizšix kast. Napriměr:

उलूखल "stupka"	pri	उरु "širokij"
उपल "věrxnij kaměn′ ručnoj měl′nitsy"	pri	उपरि "v vrěxu"
खल "zloděj, izvěrg"	pri	खर "tvěrdyj, žěstkij".

Sjuda žě otnosjatsja nazvanija različnyx vnutrěnnix organov. Poskol′ku uměršč̌vlěnië životnyx i soprikosnověnië s trupami pavšix životnyx′ vposlědstvii bylo dělom nizšix kast, nazvanija vnutrěnnix orga nov v strěčajutsja v klassičěskom sanskritě tol′ko s "l". Napriměr:

क्लोमन्	"lěgkië"
प्लीहन्	"sělězěnka"
बुली	"jagodit͜sa" i drugië.

Ravnym obrazom so zvukom "l" vystupajut nazvanija t͜světov, v kotoryě proizvodilas′ okraska:

पलित	"sěryj"
नील	"sinij"
मल	"grjaznyj"
काल	"čěrnyj".

Sověršěnno ponjatno, čto détal′noě rassmotrěnië problěmy čěrédovanija zvukov "r" i "l" potrěbovalo by privlěčěnija značitěl′no boléě obširnogo matériala, kotoryj ně mog by uložit′sja v ramkax nebol′šoj zamětki. Zděsj dany tol′ko němnogië, naiboléě prostyě slučai čěrédovanija etix zvukov.

Mně prědstavljaětsja odnako, čto i privěděnnyě kratkië dannyě pozvoljajut otněstis′ skoptičěski k utvěržděniju o bězrazličnom upotrěblěnii zvukov "r" i "l" i běspričinnomu narastaniju, a potom paděniju upotrěblěnija "r" lil "l".

Formy s "r" i "l", povidimomu, pěrvonačal′no byli xaraktěrny dlja različnyx lokal′nyx dialěktov. Odnako, tak kak nositěli zapadnyx dialěktov prinadlěžali na vostokě gospodstvujuščim klassam, poskol′ku kasty braxmanov i kšatriěv v značitěl′noj měrě sostavilis′ iz vyxodt͜sěvzapadnyx častěj Indii, dialěkty kotoryx xaraktěrizovalis′ rotat͜sizmom, formy s "r" stali priznakom vysšix klassov obščěstva, a formy s "l" priznakom dialěktov nizšix klassov.

V silu etogo, uže v sanskritě namětilos′ sěmantičěskoě i stilističěskoě različië dublětov s "r" i "l", kak prinadlěžaščix sootvětstvěnno k vysokomu i nizkomu slilju.

Takoě osoznanië dublětov s "r" i "l" prodolžaět razvivat′sja, projavljajas′ i v novyx indoarijskix jazykax, gdě dublěty s "r" imějut značěnië form boléě vysokogo stilja, čem form so zvukom "l".

Věs′ma xaraktěrno, čto v jazykě těx avtorov, kotoryě izběgali vysokogo stilja, my ně nabljudaěm i elěměntov rotat͜sizma. Takov, napriměr jazyk Kabira.*

* श्री सुनीति कुमार चटर्जी ने रूसी लिपि से रोमन लिपि में अक्षरान्तर किया।

देरेवाली कहावतें

[श्रीमती सुमित्रादेवी शास्त्रिणी]

कहावतों में पुरखों के तजरबे सञ्चित रहते हैं। किसी जाति की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि स्थिति के अध्ययन के लिए कहावतें उपयोगी होती हैं। किसी भाषा के अध्ययन के लिए तो वे और भी महत्त्व की चीज़ हैं, क्योंकि उन में शब्द और मुहावरे मँजे हुए रूप में पाये जाते हैं। उब्भे (उत्तरी) देरे और लम्मे (दक्षिणी) देरे अर्थात् देरा-इस्माइलख़ान और देरा-गाज़ीख़ान की बोली देरेवाली कहलाती है। वह आर्यावर्त्त की सब से पश्चिमी वाणी है। देरेवाली और मुलतानी में नाम का ही अन्तर है। बन्नू, कोहाट, पेशावर, तथा अटक, शाहपुर, झंग आदि की बोलियां भी उस से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। पश्चिमी पंजाब की ये सब बोलियां एक ही भाषा के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस भाषा का नाम पादरी तिस्दाल ने आज से ४५ वर्ष पहले लहँदा रक्खा था। लहँदा (देरेवाली में—लांधा) का शब्दार्थ है उतरता। उतरते सूर्य के उपलक्षण से किसी बोली में इस का अर्थ पश्चिम दिशा भी होगा; देरेवाली में तो पूर्व पश्चिम को हम ड॒िम्भार (=ड॒ीं-उभार=दिन का उभरना), ड॒िलाः (=ड॒ीं-लाह= दिन का उतरना) कहते हैं। हमारी भाषा के नाम के रूप में लहँदा शब्द सर्वथा निरर्थक और अनुपयुक्त है। श्रीयुत प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार ने इस भाषा का नाम हिन्दकी प्रस्तावित किया है, क्योंकि इस की कई बोलियां 'हिन्दकी' या 'हिन्दको' नाम से परिचित हैं[१]।

जहाँ तक मुझे मालूम है, हिन्दकी कहावतों का अभी तक ऐसा कोई संग्रह नहीं हुआ। शाहपुरी बोली का तो एकाध छोटा-मोटा संग्रह हुआ भी है, पर देरेवाली की ओर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया। इस लेख में प्रत्येक कहावत के शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ देने का यत्न किया गया है।

देरेवाली में कुछ विशेष उच्चारण हैं—

स्वरों में—ह्रस्व एकार और ह्रस्व ओकार अधिक हैं; उन के वही चिह्न रक्खे गये हैं जो इस ग्रन्थ के सम्पादकों ने नियत किये हैं। ऐ और औ का उच्चारण सर्वत्र हिन्दी शब्दों की तरह है; जैसे—बैठा और चौड़ा शब्दों में।

व्यञ्जनों में—वर्गों के तृतीय अक्षरों से मिलते हुए चार अतिरिक्त अक्षर हैं, जिन के लिए इस लेख में ग॒ ज॒ ड॒ ब॒ चिह्न रक्खे गये हैं। सर ज्यॉर्ज ग्रियर्सन ने "लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया" में इस उच्चारण-भेद की ओर ध्यान नहीं दिया, किन्तु वह उच्चारण-भेद स्पष्ट है क्योंकि उस के कारण अर्थभेद भी हो जाता है। उदाहरण के तौर पर, गुड्डी = लँगड़ी। गु॒ड्डी = पतंग, गुड़िया। जा = जाए। ज॒ा = (तू) पैदा कर। बुआ = फूफी। ब॒ुआ = दरवाजा। बच्चे = बचे। ब॒च्चे = बच्चे।

र्य की अपेक्षा ऱ्य का उच्चारण हलका होता है जिस के कारण उस का पूर्वगामी स्वर गुरु नहीं होता। ऱ्य का प्रयोग मराठी में भी है, और वही चिह्न इस लेख में अपना लिया गया है।

इस संग्रह में मुझे अपनी पूज्य बहन श्रीमती कौशल्यादेवी विशारदा से बहुत कुछ सहायता मिली है, अतः वे मेरे धन्यवाद की पात्र हैं।

१—'भारतभूमि और उस के निवासी', पृ० २१६-२१।

अक्क न लान्धी, ते करने पा बा॒न्दी !

[करना = नारंगी का फूल]

आक नहीं पाती, और करने पहन बैठती है। हैसियत से ऊँचा काम करना।

अक्ल न शहूर, बाबा मनसाराम कपूर।

अकल (है) न शहूर, पर बाबा (ने) (नाम) मनसा (मनीषी) राम कपूर (धराया है)।

अक्ल वै॒ठा डि॒ट्ठा हाई, ते बख़्त वै॒ठा खाधा हाई।

[बख़्त = भाग्य]

अकल ने बैठे बैठे देखा था, और भाग्य ने बैठे बैठे खाया था॰—भाग्यहीन विद्वान् मारे मारे फिरते हैं और भाग्यशाली मूर्ख मौजें करते हैं।

अक्ल सुत्तूं मिठ्यां चूर्यां।

[सुत्तूं = बिना]

(देखो तो) अकल बिना मीठे चूरमे (पा रहा है)।

अक्खीं थिआं डू॒, ते डे॒खण थिआ नित दा !

(बेचारे का क्या दोष ?) आँखें (तो) हुई (केवल) दो और देखना हुआ नित्य का !

बेपरवाही से देखनेवाले पर मीठी चुटकी।

अग॒ली न पिछली, धाड़ा मारे विचली।

[धाड़ा मारे = लूट मचाये, विचली = मझली]

(न) पहली न अन्तिम, मझली (बीच में आ) लूट मचाये। अपना क्रम छोड़ कर अनधिकार चेष्टा करनेवाले पर आक्षेप।

अगे॒ चिक्कड़ हाई, उत्तुं डाँ॒दां मुत्र्या।

आगे (ही) कीचड़ था, ऊपर से बैलों ने मूता।

अंगल अंगूठा विथ नाल खड़ोतेन।

[विथ = फ़ासला]

अँगुली (और) अँगूठा फ़ासले से खड़े हैं।

कुछ हो, अपने पराये का भेद रहता ही है।

अंगल अंगल चट्टी, नउँ मण माखी घट्टी।

[माखी = माक्षिक, शहद]

अँगुली अँगुली (कर के) चाटी गई, नौ मन शहद घट गई।

अज॒ ख़ा सभाईं ख़ुदा।

[सभाईं = श्वः, आनेवाला दिन = सिन्धी 'सभाणें']

आज खा (लो) कल ख़ुदा (देगा)।

अज्ज तां अज्ज ए, पच्छां तोड़ी कज्ज ए।

[ए=हे (=है) का संक्षेप; पच्छां=आज की रात, कज्ज=ढके रहना या ढकनेवाला; दूसरों के सामने गरीबी या दोष का छिपे रहना, या छिपा रखनेवाला]

आज तो आज है, आज रात तक बहुत है (ढका रहेगा)।

किसी दिन अपूर्व लाभ की बात हो जाय तब यों हर्ष प्रकट किया जाता है।

अट्टा काज तोड़ी, कुड़ी डाज तोड़ी।

[काज=विवाह। कुड़ी=दुलहिन। डाज=दहेज]

आटा विवाह तक, दुलहिन दहेज तक।

जब तक दहेज के कपड़े पहनती है तभी तक दुलहिन होती है।

अठ कोठे अठ पिराः, काई नीं बीबी दे हंगण दी भाः!

[कोठा=अन्दर का कमरा। पिराः=कोठे और आंगन के बीच का कमरा]

आठ भीतरी कमरे (हैं) आठ बाहरी, पर बीबी के हगने की कोई जगह नहीं!

अठ छक्कां, डा निघेरां, अज्जां बीबी निरन्ने-हां!

[छक्कां=छक कर कलेवा करूँ। निघेरां=खा लूँ। निरन्ना=निराहार। हां=हृदय]

आठ (चीज़ों का) कलेवा कर लूँ, दस खा लूँ, अभी तक बीबी (कहती है) भूखे-पेट (हूँ)!

अढाई बूट्यां फत्तू बागवान!

अढ़ाई बूटे हैं, (तो भी) फत्तू बागवान (कहलाता है)!

अद्धा घड़ा हमेशां उछलदे।

आधा घड़ा हमेशा उछलता है।

अनडिट्ठ किराड़ी मणका लद्धा, दुन्नीं ते लटकन्दा!

[अनडिट्ठ=जिस ने कभी अच्छे दिन न देखे हों। किराड़ी=हिन्दू स्त्री; किराड़ शब्द बनिये के अर्थ में बर्त्ता जाता है; पच्छिमी पंजाब में बनिये का पेशा करनेवाले खत्री, अरोड़े, भाटिये ही हिन्दू रह गये हैं, इसलिए किराड़ का अर्थ हिन्दू हो गया है। उसी प्रकार जट्ट और मुसलमान वहाँ समानार्थक शब्द हो गये हैं। कई बार किराड़ और बांमण में भी भेद किया जाता है। लद्धा=लब्ध, पाया। दुन्नीं=नाभि।]

गरीब किराड़ी ने मनका पाया, नाभि पर लटक रहा है! अनदेखी चीज़ पर फूले न समाना।

अन्दर भरया, बाएर भरया, बुए ते काला कुन्नां धरया।
अन्दर सखणां बाएर सखणां, बुए ते बैठा चन्न सुलखणां।

[बुआ=दरवाजा, कुन्नां=बड़ी बटलोई। सखणां=खाली]

(एक का) भीतर भरा (है), बाहर भरा (है) परन्तु (उसके) दरवाजे पर काली बटलोई धरी है। (दूसरा) भीतर से खाली (है), बाहर से खाली है, (किन्तु) दरवाजे पर सुलक्षण चाँद (बना) बैठा (है)।

एक आदमी सब कुछ पास रहते हुए भी दुनिया में शान-शौकत के साथ रहना नहीं जानता। दूसरा कुछ भी पास न रहते हुए ठाठ से रह लेता है।

अन्दर भाण्डे सखणें, बाहुर सड्डींदे शाः !

[सड्डण = पुकारना]

भीतर (तो) बर्तन खाली (हैं), बाहर शाह पुकारे जाते हैं !

अन्धा के मंगदे ? डू अक्खीं ।

अन्धा क्या माँगता है ? दो आँखें ।

अन्धी अन्धा रल्या, हिक्को जुग्गा गल्या ।

[जुग्गा = घर]

अन्धी अन्धा मिल गये, एक ही घर बरबाद हुआ । जो बरबादी दो जगह आधी आधी बँटती, वह एक ही जगह आ पड़ी ।

अन्धे अग्गूं रोवण, ते अक्खीं दा ज़िआन ।

['ते' का अर्थ 'और' या 'पर', किन्तु यहां केवल दो वाक्यों को जोड़ने के लिए है, संस्कृत 'खलु' की तरह । ज़िआन = नुकसान]

अन्धे के आगे रोना, केवल आँखों का नुकसान (करना है) ।

अन्धे, काणे, गुड्डे दी हिक रग वसेक होंदी हे ।

[गुड्डा = लँगड़ा । वसेक = विशेष]

अन्धे, काने, लँगड़े की एक रग ज़्यादा होती है—उनके स्वभाव में कुछ न कुछ अनोखापन रहता है ।

अन्धे दी मुक्क, बेड़ी (या झड़) दी धुप्प, मत्रेई दी भुक्ख, गरीब दी चुप्प ।

[बेड़ी = नाव । मत्रेई = सौतेली मां]

अन्धे का मुक्का, नाव (या बदली) की धूप, सौतेली माँ की (दी हुई) भूख, ग़रीब की चुप्पी (बुरी तरह सताने वाली होती हैं) ।

अन्धे घर लोटी हे ।

अन्धे (के) घर लूट (मची) है ।

अन्न पराया हे, ढिड्ढ तां आपणा हे ।

अन्न पराया है, पेट तो अपना है । दूसरे के घर खाते समय अन्न पर तरस नहीं तो अपने पेट पर तो होना चाहिए ।

अन्न बलाईं दा बन्न हे ।

अन्न बलाओं का बाँध है ।

अन्न खाने से रोगों का सामना करने की शक्ति आती है ।

अन्न होवी तनूर ता, धन होवी तां मित्र वधा ।

अन्न हो (तो) तन्दूर तपा, धन हो तो मित्र बढ़ा । तन्दूर की रोटी के लिए कड़ा आटा बर्ता जाता है, इस कारण उस में आटे का खर्च अधिक होता है ।

अम्मां जाया न बावे जाया, सब्भो लोक पराया।

[जाया = पैदा किया]

(मेरा) माँ का बेटा या बाप का बेटा (अर्थात्, सगा) कोई नहीं, सारी दुनियाँ पराई (है)।

अम्मां डित्ता, बावे डित्ता, साईं न डित्ता, कईं न डित्ता।

माँ ने दिया, बाप ने दिया, (पर) परमात्मा ने न दिया, (तो) किसी ने न दिया।

अराईं, तम्में ताईं, बन्नाँ लंघ ते ख़बर घिनाईं!

[अराईं = पंजाब की एक जाति जो खेती-बागवानी का काम करती है। तम्मां = गरज़। बन्नां = खेत की मेंड़। घिन्नण = ग्रहण, लेना]

अराई गरज़ (रहने) तक (भेंट उपहार देते हैं), (गरज़ न रहने पर कहते हैं) मेंड़ लाँघ और ख़बर लूँ!

अल्ला अल्ला ख़ैर सल्ला।

अल्ला अल्ला (कहते रहो) ख़ैरियत (रहेगी)।

आई गुपाली, विसरी जपाली।

[गुपाली = किसी स्त्री का नाम। जपाली = जपने की माला]

स्त्री आई, जाप की माला बिसरी।

विवाह के बाद पूजा-पाठ भूल गये।

आई हाई भा घिन्नण, वण बैठी चुल्हे दी सैण।

आई थी आग लेने, बन बैठी चूल्हे की साँइन।

आए दी ख़ुशी न गए दी ग़मी।

(न) आये की ख़ुशी, न गए की ग़मी।

आखां धी कूं, सुणावां नूं कूं।

[धी = दुहिता (पालि 'धीता'), बेटी। नूँ = स्नुषा, पतोहू]

कहूँ बेटी को, सुनाऊँ पतोहू को।

एक को लक्ष्य कर दूसरे से बात कहना।

आगा दौड़, पेछा चौड़।

आगे दौड़ (बढ़ते जाना), पीछे चौपट।

आड़ा पाड़ा, आमक कूं दनाः दा साड़ा।

[आड़ा पाड़ा = तुकबन्दी के लिए निरर्थक शब्द हैं। आमक = अहमक। दनाः = दाना, सयाना। सड़न = जलना]

अहमक को सयाने से जलन (होती है)।

आदत न वञे आदती, ख़सलत मूल न जा।

[वञे = जाय; वञण = व्रजन, जाना। आदती = आदतवाली, जन्मसिद्ध। मूल = जड़ से, हर्गिज़। जा = जाय।]

आदत और जन्मसिद्ध स्वभाव हर्गिज़ नहीं जाते।

आदत सिर नाल वैंदी हे।

आदत सिर के साथ जाती है।

आदमी न मनुक्ख, सांभण दा वी डु॒ख!

[सांभण = सँभालना, पालना]

(यह तो न) आदमी है न मनुष्य, (इसके तो) पालने का भी दुःख (है)।

आँदी हे घोड़े चढ़ी, वैंदी हे जूं रोक।

(बीमारी) आती है घोड़े चढ़ी, जाती है जूँ की तरह। बीमारी के आते तो पता नहीं लगता, किन्तु जाती बहुत धीरे धीरे है।

आधे दा कुझ नईं गि॒आ, तां सांधे दा वी कुझ नईं गि॒आ।

[आखण = कहना, आधा = कहता हुआ। सांधा = सहता हुआ]

कहने वाले का कुछ नहीं गया, तो सहने वाले का भी कुछ नहीं गया।

आप कुचज्जी॒ वेड़े डो॒ः।

[चज्ज॒ = सलीका, शहूर, यह पंजाब का बड़ा भावपूर्ण शब्द है, जो संस्कृत 'चर्या' से बना है, और हिन्दी में अपनाया जाना चाहिए। सुचज्जी॒, कुचज्जी॒ दोनों शब्द प्रचलित हैं। वेड़ा = आँगन। डो॒ः = दोष।

आप कुचज्जी, आँगन पर दोष। नाच न जाने आँगन टेढ़ा।

आप चङ्ङा तां जग चङ्ङा।

आप भला तो जग भला।

आप तां ग॒ल्ली बांमणी, जिजमान ई ग॒ल्ये नाल।

[वी = भी, उसी का संक्षिप्त रूप ई]

ब्राह्मणी आप तो बरबाद हुई (सो हुई), यजमान भी साथ (ही) बरबाद हुए।

आपणां अक्ल ते पराया धन हर कईं कूं वउँ डि॒सदे।

अपना अकल और पराया धन हर किसी को बहुत दीखता है।

आपणां घर पिआ वस्से तां लोक किउं हस्से?

[पिआ वस्से = पड़ा बसे, बसा रहे]

अपना घर बसा रहे तो दुनिया काहे हँसे?

घर में कलह-द्वेष न हो तो लोगों को हँसी का मौका नहीं मिलता।

आपणा घर तां हंग भर, पराया घर तां थुक दा वी डु॒र।

अपना घर तो (भले ही) हग (कर) भर, पराया घर तो थूक का भी डर।

आपणां मूं डि॒सदा नईं, व॒ए दा भांदा नईं।

अपना मुँह दीखता नहीं, दूसरे का भाता नहीं।

आपणां वत्तन कश्मीर हे ।
अपना वतन कश्मीर (के बराबर) है ।

आपणी आप निभाइए, उसको ओ जाणे ।
अपनी आप निभाइए, उसकी वह ज़ाने ।

आपणीं पत्त, ते आपणे हत्थ ।
अपनी पत अपने हाथ (होती है) ।

आपणे गुण्यें पुत्र माणिक हेंदेन ।
पुत्र अपने गुणों से माणिक होते हैं । गुणों से मनुष्य की प्रतिष्ठा होती है ।

आपणे घर कुत्ता वी शींः हेंदे ।
अपने घर कुत्ता भी शेर होता है ।

आपणे पेर धोन्दें कडाईं काई बानी सड्डी ए ?
अपने पैर धोते कभी कोई दासी कहलाई है ?

आपणे मूं दा सरावण तां घूं खावण हे ।
अपने मुँह का सराहना तो गू खाना है ।

आपणे मूं मियाँ मिट्ठू ।
अपने मुँह मियाँ मिट्ठू ।

आप न जोगी गवांढ बलाए ।
[जोगी = योग्य । गवांढ़ = पड़ौसी । बलाए = बिठावे]
अपने लायक (जगह) है नहीं, पड़ोसी को बिठावे ।

आप न मरिए ते सर्ग न जा ।
आप न मरिये तो स्वर्ग न जाइए । स्वयं श्रम किये बिना कुछ नहीं मिलता ।

आप बीबी दरमांदी, ते नेक्यां खट्टण जांदी ।
[दरमांदी = दर दर माँगने वाली]
आप (तो) बीबी दर दर माँगती है, और (दूसरों को दे कर) नेकियाँ कमाने जाती है ।

आप होवें तकड़ी, ते किउं लग्गी फकड़ी ?
[होवें = तू होवे । लग्गी = तुझे लगे । फकड़ी = ठगी, चोरी का खटका]
तू खुद तगड़ी हो, तो तुझे ठगी-चोरी का खटका काहे लगे ?

आमक दे लारे ते परन्ये वी कुआरे ।
[लारे = भरोसे । परन्या = परिणीत, विवाहित]
अहमक के भरोसे (रहने से) विवाहित भी कारे (हो जाते हैं) ।

आया मांह पोः, हिक खा ते बिआ जोः।

[जोः = जोत, शुरू कर]

आया पूस महीना, एक खा और दूसरा जोत। पूस का दिन इतना छोटा होता है कि सवेरे का खाना निपटाते ही शाम की रसोई को लगना पड़ता है।

इण मिण, ते मैकूं विच गिण।

[इण मिण = बच्चे की बोली का अनुकरण]

इण मिण, मुझे बीच में गिन। खाहमख़ा दखल देने वाले पर कटाक्ष।

इत्थ न डित्ता, उत्थ न लद्धा, सुञ्ञां जी अज़ाबें बद्धा।

[सुञ्ञां = शून्य, सूना, व्यर्थ में। अज़ाबें = मुसीबतों में]

यहां (इस लोक में) दिया नहीं, वहां (परलोक में) पाया नहीं। व्यर्थ में जीव मुसीबतों में बँधा (रहा)।

इया बुझारत बुझ, जो निन्द्र जिआं नहीं कुज्झ।

यही पहेली बूझ, कि नींद जैसा कुछ नहीं (होता)।

ईसबगोल, ते कुज्झ न फोल।

[फोलण = खोल कर बिखेरना]

ईसबगोल—और कुछ मत खोलो (पूछो)।

यह बात ईसबगोल की तरह लेसदार है, कुछ पूछो मत।

ई जग दी भैड़ी चाल, डेंदी हाँ कुकड़ ते थी वैंदी ए डाल।

इस जग की बुरी चाल है; देती हूँ मुर्ग़ा, और हो जाती है दाल।

इस कहावत पर एक छोटी-सी कहानी यों है—एक स्त्री ने दूसरी को मुर्ग़ा अमानत रखने को दिया, उस ने मुर्ग़ा तो खा डाला और टोकरे के नीचे दाल का कटोरा रख दिया। मालकन ने कहा, मैं तो मुर्ग़ा दे गई थी। इस पर उस ने उक्त कहावत कही।

उखड़्ये डन्द लगदे नईं।

उखड़े दांत (फिर) लगते नहीं। फटे दिल फिर नहीं मिल सकते।

उच्चा लम्मां गभरू पल्ले ठीकरिआं।

[गभरू = दूल्हा या पति, जवाँमर्द]

ऊँचा लम्बा जवाँ मर्द है, पर पल्ले ठीकरियाँ हैं। शरीर का तो खूब अच्छा है, पर निर्धन है।

उजड़ पुजड़ निहाल ए।

(चाहे) खो (कर) (चाहे) गँवा (कर) (हर हालत में) निहाल (खुश) है।

उठ दे मुऊं के आसी ? ज़ाल दी बो।

[ज़ाल = पीलु की पत्ती]

ऊँट के मुँह से क्या आएगा ? ज़ाल की गन्ध। दुष्ट हमेशा बुराई की बात ही कहेगा।

उठ दे सिरूं परूण लह पए।

[परूण = अनाज या आटा छानने की चलनी जिस में दो-तीन सेर के करीब अनाज समाता है]

ऊँट के सिर से परूण उतर गया है। कुछ थोड़ा-सा काम हलका हो गया है।

उठ न रुन्ने, बोरे रुन्ने !

ऊँट नहीं रोये, बोरे रोये।

ऊँट तो बोरों के बोझ को रोता नहीं, उलटा बोरे रोते हैं ! ज़ालिम उलटा मज़लूम की शिकायत करता है !

उठ मुल ते बकरी झूंगा।

ऊँट मोल और बकरी घलुआ।

अनुपात से अधिक घलुआ माँगने पर आक्षेप।

उत्तूं उत्तूं वत्ती घोल घोल घत्ती।

[वत्तण = न्योछावर होना। घोलण = बलिहारी होना, वारे जाना। घत्तण = डालना]

ऊपर ऊपर से (अपने को) वारी वलिहारी (किये) डालती है।

उत्तूं दी चक्खी-मक्खी, विचूं बुड़ बुड़ त्रक्की।

[बुड़ बुड़ = खौलाव के साथ, उगलते हुए। त्रकण = सड़ना]

ऊपर से चिकनी चुपड़ी (है), बीच से सड़ाँद उगलती है।

दिखलावे की सफ़ाई रखने वाले पर आक्षेप।

उत्तूं दी भोली भोली, विचूँ दी पत्थर दी गोली।

ऊपर की भोली भोली, बीच की पत्थर की गोली।

उधार चा के पाए चूड़ा, रन्न ई कूड़ी ते मुणस ई कूड़ा।

[रन्न = स्त्री (तुच्छतासूचक शब्द)। कूड़ी = झूठी, कसूरवार]

उधार उठा कर पहने चूड़ा, (वह) औरत भी कसूरवार और मर्द भी कसूरवार।

उबाल दे पिच्छूं टोये।

[उबाल = जल्दबाज़ी। टोये = गड्ढे]

जल्दवाज़ी के पीछे (परिणाम-स्वरूप) गड्ढे (होते हैं)।

उरसी कुरसी, कन्ध ऐरे ते टुरसी।

[उरसी = औरस प्रवृत्ति, वंशबीज। कन्ध = स्कन्ध, दीवार। ऐरा = आधार, नींव। टुरण = त्वरण, चलना]।

औरस प्रवृत्ति (के अनुसार) वंश-परम्परा (होगी), दीवार नींव पर (ही) चलेगी। जैसे बाप-दादा होंगे वैसी सन्तान होगी।

उलटा चोर कुटवाल कूं नप्पे !
उलटा चोर कोतवाल को पकड़े ।

उवा घड़ी सुलखणी, जेरी शौ नाल विश्रावे ।
[शौ = पति, परमात्मा]

वही घड़ी सुलखनी है जो मालिक के साथ बीते ।

उवो ग॒न्ना मिट्ठा, जेरा चक्ख नईं डि॒ट्ठा ।
वही गन्ना मीठा, जो चख नहीं देखा ।

तभी तक प्रत्येक गन्ना मीठा जान पड़ता है जब तक चखा नहीं जाता ।

ए जग झूठा, डें॒दी हाँ मुंगर वण वैंदे ठूठा ।
[मुंगर = धातु का कटोरा । ठूठा = मिट्टी का प्याला]

यह जग झूठा (है), देती हूँ कटोरा बन जाता है ठूठा ।

यह कहावत "ई जग दी भैड़ी चाल" का जवाब है। कहते हैं कि मुर्गे की बजाय दाल लौटाने वाली स्त्री ने किसी दूसरे दिन पहली स्त्री को बाज़ार से घी ला देने के लिए कटोरा दिया; उस ने भी मौक़ा देख कटोरा अपने घर रख लिया और ठूठे में उसे घी ला दिया। पूछने पर उसे उक्त कहावत बना कर सुनाई ।

ए जग मिट्ठा, अग्गूं कैं डि॒ट्ठा ?
यह जग (तो) मीठा (है ही), आगे किस ने देखा ?

"आक़बत की ख़ुदा जाने अब तो आराम से गुज़रती है ।"

ए त्रै पीड़ाँ मन्द्याँ, पाए, पुत्र, भिरावाँ सन्द्याँ ।
[पाए = पति । भिरा = भाई]

ये तीन पीड़ाएँ बहुत बुरी हैं—पति, पुत्र और भाई से सम्बन्ध रखने वाली ।

पति, पुत्र अथवा भाई इन में से किसी पर कोई आपत्ति आए तो स्त्री को असह्य वेदना होती है ।

ओ चौड़ ते ओ चन्द्रा, ऊं मारी कूडड़ी ते ऊं मार्या जन्द्रा ।
[चन्द्रा = चंट]

वह चौपट (है) तो वह चण्ट (है), उस ने कुण्डी लगाई तो उस ने ताला लगाया ।
दोनों एक दूसरे से बढ़ चढ़ कर बुरे हैं ।

ओ डि॒हाड़ा डु॒ब्ब॒ा, जड्ड॒ां घोड़ी चढ़्या कुब्ब॒ा ।
वह दिन डूबा, जब कुबड़ा घोड़ी पर चढ़ा (विवाह के लिए) ।

ओढर नई बु॒झेंदा बो॒ढर बु॒झेंद़े ।

[ओढर = नवजात शिशु । बुझावण = बूझना, बीमार होना । बो॒ढर = कुछ बड़ा बच्चा किन्तु स्तनपायी]

ओढर (कष्ट) नहीं बूझता, बो॒ढर बूझता है । माता की बदपरहेज़ी का प्रभाव ओढर पर भले ही न हो, बो॒ढर पर होता है । असल में तो ओढर पर अधिक प्रभाव होता है, पर बच्चा बड़ा हो गया है अब दूध का असर उस पर बुरा नहीं पड़ेगा, ऐसा माँ कभी न सोचे, यह शिक्षा इस में है ।

ओ मंगे पिहावी, ओ पत्थर डाले !

वह माँगे पिसाई, वह पत्थर डाले !

कई पीता खीर, कई पीता पाणी, रात हिक्को जीं विआणी ।

किसी ने पिया दूध, किसी ने पिया पानी, रात एक-सी बीती ।

कई गो॒ए द़ी फोसी द़े अग्गूं ई हाल डि॒त्ता हाई !

किसी ने गोबर की चोंथ के आगे भी (दिल का) हाल दिया (कहा) था !

आदमी दुखी होता है तो पत्थर को भी जा सुनाता है ।

कख द़ी चोरी, ते लख द़ी चोरी ।

तिनके की चोरी, और लाख की चोरी ।

दोनों का नाम चोरी है ।

कट्टी कुड॒द़ी हे किल्ले द़े त्राण ते ।

कटड़ी कूदती है खूँटे के बल पर ।

कडा॒ईं तां डो॒मां ई गांवण सट्या हाई ।

कभी तो डोमों ने भी गाना छोड़ दिया था ।—कभी तो हर कोई अपनी प्रकृति छोड़ देता है ।

पंजाब में डोमों का मुख्य पेशा व्याह-शादी में गाना है ।

कणक द़ा पथ, सुत्ते बा॒ल द़ा हत्थ ।

[पथ = कई मनों का एक ढेर]

गेहूँ का पथ और सोते बालक का हाथ (बराबर होते हैं) ।—सोता बालक बहुत बोझल होता है ।

कन्ध ऐरे ते, रोटी पेड़े ते ।

दीवार नींव पर (अनुसार), रोटी पेड़े पर (अनुसार) ।

कन्ध द़ा विछोड़ा, पन्ध द़ा विछोड़ा ।

[पन्ध = पथ, रास्ता]

दीवार का विछोह, दूर देश का विछोह (एक ही है) ।—चाहे दीवार भर का हो चाहे दूर का हो विछोह तो विछोह ही है ।

कन्ध कूं लेपा डेवो, कन्ध ई सूंणी लगदी हे।
दीवार को लीप दो, दीवार भी सुन्दर लगती है।

कन्धाँ कूं कन्न हेन।
दीवारों को (भी) कान हैं।

कन्धी ते वरूटड़ा अज ढट्ठा के कल।
[कन्धी = नदी का कगार, वरूटड़ा = बूटा, पौदा]
कगार पर बूटा, आज गिरा या कल।
बूढ़े आदमी की ज़िन्दगी का क्या भरोसा है ?

कन्धूं डूर, कन्धारूं डूर।
दीवार से दूर (है तो), कन्दहार से दूर (है तो, एक ही बात है)।

कपड़ा आधे तूं मैकूं रख ताः कर, ते मैं तैकूं कड्ढां पातशाः कर।
कपड़ा कहता है तू मुझे रख तह कर, तो मैं तुझे निकालूं बादशाह (बना) कर।

कब्बर चूनेगज, मुर्दा बेइमान।
क़ब्र पर तो चूना फिरा है, मुर्दा बेईमान (है)। ऊपर से सुन्दर, अन्दर से कुटिल।

कम करे गोली, टप वावे ममोली।
काम करे दासी, कूद (कर) बैठे निठल्ली।
घर में जिन्हें एक-सा काम करना चाहिए, उन में से एक तो दासी की तरह काम करती है, दूसरी निठल्ली बैठी रहती है।

कम दा कम, ते दिल्ली तोड़ी वञ।
काम (के बदले) का काम (है), तो दिल्ली तक जा।
दूसरे से कराये काम के बदले में उस का काम करना पड़े, तो शिकायत न करनी चाहिए।

कम पिआरा हेंदे, चम पिआरा नईं हेंदा।
काम प्यारा होता है, चाम प्यारा नहीं होता।
आदमी के काम से मतलब होता है, उस का मुँह तो देखना नहीं होता।

कमले जट्ट कटोरा लद्धा पी पी ढिड्ढ अफरा !
पगले जाट ने कटोरा पाया, पी पी पेट अफरा (लिया) !
दुर्लभ चीज़ पा कर फूले न समाना।

कमल्यां दे सिर कोई सिंघ हेंदेन ?
पगलों के सिर कोई सींग होते हैं ?

कर मजरी ते खा चूरी।
कर मज़दूरी तो खा चूरमा। मेहनत का फल मीठा होता है।

कर वडाई ते पा छाई।

[वडाई = घमण्ड। छाई = धूल]

अभिमान कर, तो धूल पा। ऊँचे बोल का सिर नीचा।

कर्मां नाल विलल्ली झेड़े, कूड़े बन्ने दावे।

[विलल्ली = पगली, भोली। झेड़ण = झगड़ना]

पगली कर्मों के साथ झगड़ा करे! झूठे दावे बाँधे।

कर्मों पर कभी किसी का बस चल सकता है?

कहाणिआं बबाणिआं, मुट्ठीं पुत्र करेन, जेरे घरूं निकम्मे उवे बए सुणेन।

[बबाणिआं = 'कहाणिआं' का अनुकरण शब्द। मुठीजण = मुषित होना, ठगा जाना, गँवाना।]

कथा कहानियाँ, गँवाऊ (निठल्ले) बेटे किया करते हैं, जो घर से निकम्मे (हों) वे ही बैठे सुना करते हैं।

काई सव्वड़ हे जो पूरी नईं आंदी?

(यह) कोई रजाई है जो पूरी नहीं आती?

किसी ऐसी वस्तु के विषय में, जिस का थोड़ा थोड़ा कर के बहुतों में भी बटवारा हो सके, कोई संदेह दिखलाए कि इतने आदमियों को कैसे पूरी पड़ेगी, तब यह कहा जाता है।

काँ, किराड़, कुत्ते ते, विसाः न करें सुत्ते ते।

कौआ, किराड़ (और) कुत्ता (इन तीनों) पर—सोतों पर (भी तू) विश्वास न करना। इनकी नींद बड़ी कच्ची होती है। ज़रा से खटके से जाग जाते हैं।

कां गए हन हंसाँ दी बोली सिक्खण, आपणी ई वञा आए हन।

[वञावण = गँवाना]

कौए गए थे हंसों की बोली सीखने, अपनी भी गँवा आए थे।

कां दी जिब्भा खाधी होई हेस (या, कां दा भेजा खाधा होया हेस।)

(इस ने) कौए की जीभ खाई हुई है (या, कौए का भेजा खाया हुआ है)। बहुत बतियाने वाले के विषय में कहा जाता है।

काज़ी तां मोया कज़ा नाल, तू किउं मोयें रज़ा नाल?

काज़ी तो कज़ा से मरा, तू (अपनी) रज़ा से क्यों मरा? जिसे लाचार कष्ट भोगना पड़े वह भोगे, दूसरा व्यर्थ क्यों भोगे?

काड़सी काड़सी, जीन्द्यां कूं भुख मारसी, तां मोयां कूं क्या तारसी?

['काड़सी' को केवल तुकबन्दी के लिए दोहरा दिया है]

एकादशी जीतों को भूखा मारेगी, तो मरों को क्या तारेगी?

काणी अख न रांधी ॻुज्झी, तैं मारी ते मैं ॿुज्झी।

[ॻुज्झी = गुह्य, छिपी। अख मारण = आंख से इशारा करना ; काणी अख मारण = काने की तरह अर्थात् टेढ़ी आंख से देखना, दुष्टतापूर्ण कटाक्ष]

"कानी आँख" छिपी नहीं रहती, तू ने "मारी" और मैंने बूझी।

कात्यां दा चिलकार ते नौलू जागदा।

छुरियां की झनझनाहट (हुई) और न्योला जागता है। नींद में पड़ा जो व्यक्ति अपने मतलब की बात पर एकाएक जाग पड़े, उस पर अन्योक्ति।

काल पिया ॾुचित्ता, मा पिउ ॾेवण छोड़्या, धीरीं मार्‍या पित्ता।

[ॾुचित्ता = दोतरफ़ा; काल = अकाल]

दोतरफ़ा अकाल पड़ा, माँ बाप ने देना छोड़ा बेटियों ने बाप मारा।
माँ बाप बेटी को देना छोड़ दें तो बेटी भी ऐसा व्यवहार करती है मानो वे मर गए हों।

काले मूल न थींदे बग्गे, भांवें सौ मण साभण लग्गे।

काले हर्गिज़ गोरे नहीं होते, भले ही सौ मन साबुन लग जाय।

किटकिट घड़े दा पाणी सुकेंदी ए।

किचकिच घड़े का पानी (भी) सुखा देती है।

किराड़पुत्र जित्ती टुरचा उत्ती झुरचा।

[झुरण = क्षीण होना]

किराड़पुत्र ने जितना सफ़र किया उतना क्षीण हुआ (धन से)।
सफ़र में हर-हाल ख़र्चा बहुत होता है।

किराड़ दा छोटा भाई, ॼट दा ॼँवाई।

किराड़ का छोटा भाई जाट का जमाई (दोनों को नौकर के समान काम करना पड़ता है)।

किराड़पुत्र वञा के सिखदे।

किराड़पुत्र गँवा कर सीखता है।—नुक़सान उठाने के बाद उसे अकल आती है।

किसबी दा किस्सब चल्ले कुण्ड दी जान ॻल्ले।

[कुण्ड = कुण्ठितबुद्धि, अनाड़ी]

कारीगर की कारीगरी चलती है, अनाड़ी की जान जाती है।—कारीगर की कारीगरी से जो काम हो जाता है, वह अनाड़ी के जान देने से भी नहीं होता।

लिपिपत्र नवां.

यह लिपिपत्र वासिष्ठीपुत्र पुळुमायि आदि आंध्रवंशी राजाओं के नासिक के पास की गुफाओं के ७ लेखों[1] से तय्यार किया गया है. वासिष्ठीपुत्र पुळुमायि के लेख में 'नु' के साथ की 'उ' की मात्रा के अंत में एक आड़ी लकीर और लगी हुई है और 'ह्य' में 'य्' को ऊपर और 'ह' को नीचे लिखा है जो लेखकदोष है. गौतमीपुत्र यज्ञशातकर्णि के लेख में पहिले 'त' को बिना कलम उठाये ही पूरा लिखा है जिससे उसकी आकृति मथुरा के लेखों के दूसरे 'न' (लिपिपत्र ६) से ठीक मिलती हुई है. यह दोष अन्यत्र भी पाया जाता है.

लिपिपत्र नवें की मूलपंक्तियों[2] का नागरी अक्षरांतर—

सिद्ध(द्धं) रञो वासिठिपुतस सिरिपुळुमायिस संवछरे एकु-
नवीसे १० ९ गिम्हाण पखे बितीये २ दिवसे तेरसे
१० ३ राजरञो गोतमीपुतस हिमवतमेरुमदरपवतस-
मसारस असिकअसकमुळकसुरठकुकुरापरांतअनुपविद-
भआकरावतिराजस विझछवतपारिचातसह्यकह्नगिरिमच-

लिपिपत्र दसवां.

यह लिपिपत्र पश्चिमी क्षत्रप[3], त्रैकूटक[4] तथा आंध्रवंशी[5] राजाओं के सिक्कों पर के लेखों से तय्यार किया गया है. क्षत्रपों के छोटे सिक्कों पर लंबा लेख होने से कितने एक सिक्कों पर के कोई कोई अक्षर अधिक सिकुड़ गये हैं जिससे उनकी आकृति स्पष्ट नहीं रही (देखो 'य' का तीसरा रूप; 'स' का दूसरा रूप; 'ह' का तीसरा, चौथा और पांचवां रूप; 'क्ष' का पांचवां रूप; 'ज्ञ' का दूसरा रूप), और कहीं कहीं स्वरों की मात्राएं भी अस्पष्ट होगई हैं. त्रैकूटकों के सिक्कों में 'न, व', 'ह', 'त्त', 'त्र', 'न्य' और 'ण्ण' के रूप विलक्षण मिलते हैं. आंध्रों के सिक्कों के अक्षरों में से अंतिम तीन अक्षर (ष, हा, हि) उपर्युक्त गौतमीपुत्र

---

[1] वासिष्ठीपुत्र पुळुमायि के ४ लेखों से—ऍ. इं; जि. ८, नासिक के लेख, प्लेट १, संख्या २; प्लेट २, संख्या ३; प्लेट ६, संख्या २५; प्लेट ३, संख्या १. आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ५२, नासिक की लेख संख्या १४, १५; प्लेट ५४, संख्या १२, १३. गौतमीपुत्र स्वामिश्रीयज्ञशातकर्णि नामवाले एक लेख से—ऍ. इं; जि. ८, नासिक के लेख, प्लेट १, संख्या २४. आ. स. वे. इं; जि. ४ प्लेट ५५, (नासिक के लेख) संख्या १६. गौतमीपुत्र शातकर्णि के २ लेखों से—ऍ. इं; जि. ८, नासिक के लेख, प्लेट २, संख्या ४, ५. आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ५३, नासिक की लेख संख्या १३, १४.

यदि गौतमीपुत्र स्वामिश्रीयज्ञशातकर्णि, गौतमीपुत्र शातकर्णि से भिन्न और पुराणों में दी हुई आंध्रवंशी राजाओं की नामावली का २७ वां राजा यज्ञश्रीशातकर्णि हो तो उसके लेख का समय ई. स. की दूसरी नहीं किंतु तीसरी शताब्दी होना चाहिये.

[2] ये मूल पंक्तियां वासिष्ठीपुत्र पुळुमायि के नासिक के लेख से उद्धृत की गई हैं (ऍ. इं; जि. ८, नासिक के लेखों की प्लेट १, संख्या २. आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ५२, नासिक की लेख सं. १४).

[3] बांसवाड़ा राज्य के सिरवाणिआ गांव से मिले हुए पश्चिमी क्षत्रपों के २४०० सिक्कों, राजपूताना म्युज़िअम (अजमेर) में रक्खे हुए १०० से अधिक सिक्कों तथा प्रॉ. रापसन् संपादित ब्रिटिश म्युज़िअम में रक्खे हुए आंध्र, क्षत्रप और त्रैकूटक वंशों के सिक्कों की सूची की पुस्तक के प्लेट ९-१७ से.

[4] राजपूताना म्युज़िअम में रक्खे हुए त्रैकूटक वंशी राजाओं के सिक्कों तथा प्रॉ. रापसन् की उपर्युक्त पुस्तक के प्लेट १८ से.

[5] प्रॉ. रापसन की उपर्युक्त पुस्तक के प्लेट १—८ से.

श्रीयज्ञशातकर्णि के द्राविडी लिपिवाले लेख से लिये हैं और दूसरों से भिन्न होने के कारण अंत में अलग दिये हैं.

लिपिपत्र १० वें की मूल पंक्तियों[१] का नागरी अक्षरांतर—

राज्ञो क्षहरातस नहपानस. राज्ञो महाक्षत्रपस घसमोतिकपुत्र-
स चष्टनस. राज्ञो महाक्षत्रपस ईश्वरदत्तस वर्षे प्रथमे.
राज्ञो महाक्षत्रपस दामसेनस पुत्रस राज्ञः क्षत्रपस यशोदाम्नः. राज्ञो
महाक्षत्रपस दामसेनपुत्रस राज्ञो महाक्षत्रपस दामजदश्रियः. राज्ञो महाक्ष-
त्रपस रुद्रसेनपुत्रस राज्ञो महाक्षत्रपस भर्तृदाम्नः. राज्ञ क्षत्रपस रुद्र-
सेनपुत्रस राज्ञ क्षत्रपस यशदाम्न:. राज्ञ महाक्षत्रपसस्वम(स्वामि)रुद्रद(दा)मपुत्रस

लिपिपत्र ११ वां.

इस लिपिपत्र में भाजा, पित्तलखोरा, महाड आदि दक्षिण की भिन्न भिन्न गुफाओं के कई लेखों[२] से मुख्य मुख्य अक्षर ही उद्धृत किये गये हैं.

भाजा के लेख में 'ठ' को त्वरा से लिखने के कारण उसकी आकृति वृत्त सी न बन कर उससे भिन्न बन गई है. महाड के लेख में 'म' की आकृति दो अलग अलग अंशों में विभक्त हो गई है. वास्तव में ये दोनों अंश जुड़ने चाहिये थे. कन्हेरी के लेख के 'लो' के साथ लगी हुई 'ओ' की मात्रा (कलम को उठाये बिना मात्रा सहित अक्षर लिखने के कारण) गांठवाली बन गई है और दक्षिणी शैली के पिछले कई लेखों में ऐसा ही 'लो' मिलता है (देखो लिपिपत्र ३६, ४३, ४४, ४६, ४७ आदि). यदि कलम को उठा कर मात्रा का चिह्न लगाया जाता तो 'लो' की आकृति लिपिपत्र छठे में मथुरा के लेखों से दी हुई 'लो' की आकृति से मिलती हुई होनी चाहिये थी. कार्लि के लेख में 'न' अक्षर की जो आकृति मिलती है वह भी कलम को उठाये बिना पूरा अक्षर लिखने से ही बनी है परंतु कलम को ऊपर की तरफ़ न बढ़ा नीचे की तरफ़ बढ़ाकर आड़ी लकीर खींची है जिससे ग्रंथिवाला रूप (जैसा कि लिपिपत्र ६, ३६, ३७, ३८, ३९ आदि में है) न बन कर यह नया विलक्षण रूप बन गया है, जिसके परिवर्तित रूप लिपिपत्र १३ और १४ में मिलते हैं. जुन्नर के लेख में 'मि' में जो 'म' का रूप मिलता है उसीके परिवर्तित रूप से लिपिपत्र १३ और १४ में दिये हुए 'म' के विलक्षण रूप बने हैं, जो अन्य लेखों में नहीं मिलते. 'व' और 'स' के सिर त्रिकोण आकृति के (भीतर से खाली) बने हैं और कहीं 'इ' और 'ई' की मात्राओं में सुंदरता लाने का यत्न करने से उनकी आकृतियां पहिले से अधिक विलक्षण हो गई हैं (देखो, रि, रि, लि, वी). 'य्य' में प्रथम 'य' तो प्राचीन रूप का और दूसरा 'य' नागरी से मिलता हुआ है जो कलम को उठाये बिना ही पूरा अक्षर लिखने से बना है. नासिक के लेखों के अक्षरों में 'मू' के साथ लगी हुई 'ऊ' की मात्रा के दोनों छोर एक दूसरे के साथ मिल गये हैं और 'न्ये' में 'य' को 'न्' की खड़ी लकीर के मध्य में जोड़ा है. कूड़ा के लेखों के

---

[१] ये मूल पंक्तियां क्षत्रपों के सिक्कों पर के लेखों से हैं.

[२] भाजा—आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ४४, लेखसंख्या ७. पित्तलखोरा—आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ४४, लेखसं. ६. महाड—आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ५६, लेखसं. २, ३, ४. सेलारवाडी—आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ४८, लेखसंख्या १९. बेडसा—आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ४७, लेखसंख्या ३. कन्हेरी—आ. स. वे. इं; जि. ५, प्लेट ५१, लेखसंख्या २, ३, ४, ५, १४, १५. कार्लि—आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ४७, ४८, ५१, ५४, लेखसंख्या ३, ५, ६, ११, १३, १७, १९, २०, २१, २२. जुन्नर—आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ४८–५१, लेखसंख्या २–६, १०, १४, १५, २०, २४, २५, २८. नासिक—एँ. इं; जि. ८, नासिक के लेखों का प्लेट ५, लेखसंख्या १८; प्लेट ३, सं. ६; प्लेट ८, सं. ८; प्लेट ५, सं. २३. आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ४५, लेखसंख्या १९, २२, २४, २५ (नासिक). कूडा—आ. स. वे. इं; जि. ४, प्लेट ३५–३६ लेखसंख्या १, ५, ६, ११, १३, २०, २४.

ख़बरां पें न हिके मर गएं हिके छोड़ गएं ।

ख़बरें पड़ती हैं या तो मर जाने से या छोड़ जाने से। जब तक आदमी पास रहता है उस की परवा नहीं की जाती; पीछे पता चलता है ।

खाई कोलूं चाई पिआरी हेंदी ए ।

खाने से उठवाना प्यारा होता है। बच्चा खिलाने वाले की अपेक्षा उठाने वाले पर अधिक रीझता है ।

खा गुए रंग ला गुए छोड़ गुए सो बोड़ गुए ।

(जो) खा गए (सो) रंग लगा गए (मौज कर गए), (जो) छोड़ गए सो डुबा गए ।

खाडे इच वड़या तां छिंडकां कोल क्या डरना ?

[खाड़ा = हौज़]

हौज़ में घुसना तो छींटों से क्या डरना ?

खाधा घूं, ते रख्या मूं ।

खाया (तो) गू (बन गया), और (किसी को देने के लिए) रक्खा गया (तो) मुरौवत वढ़ी ।

खाधा तां रज के सुत्ता तां मूं कज के ।

[रज्जण = अघाना]

खाया (जाय) तो अघा कर, सोया (जाय) तो मुँह ढक कर ।

खाधा पीता पाया संतोख, भाण्डे मांजण वड्डा औख ।

खाया पिया (तो) संतोष पाया, (पर) बर्तन माँजना बड़ी कठिनाई है ।

खा न पी पुत्र वड्डा पिआ थी ।

खा न पी पुत्र बड़ा होता रह ।

ख़ाली बातों से प्रेम दिखलाना ।

खांदी पींदी नां मरे उघलांदड़ी मर जा ।

[उघलावण = जँभाइयां लेना, बहम करना]

खाती पीती (तो) नहीं मरती, वहम करती करती मर जाती है ।

रोगों का मुख्य कारण बहम होता है ।

खांदी पींदी मकड़ी वाङूं, सुकदी वैंदी लकड़ी वाङूं ।

खाती पीती (है) मकड़ी की भाँति, सूखती जाती (है) लकड़ी की भाँति ।

खान्धें खांधें खू ई खुट वैंदेन ।

[खुट्टण = क्षय होना, समाप्त होना]

खाते खाते (धन के भरे) कुएँ भी ख़तम हो जाते हैं ।

खा पी न मुकर।

खा पी (कर) मुकर मत।

खावण आपणा तात पराई।

खाना अपना पड़ताल पराई। अपना खाना है तो दूसरों की पड़ताल क्यों की जाय?

खांवण दी मैं डु॒त्थी पुत्थी, पाई तां मैडा॒ जुँञ।
कत्तण दी मैं झाँञणी, छिमाईं वाड़ा सुँञ।

[डुत्थी-पुत्थी = फोकी-फाकी; पाई = क़रीब सोलह सेर; जुँञ = एक समय का भोजन; झांञणी = बहुत ही तेज़; वाड़ा = क़रीब आध पाव धुनी हुई रुई का गोला; सुँञ = शून्य]

खाने में मैं बहुत ही ढीली हूँ, पाई भर मेरा एक समय का भोजन है! कातने में मैं बहुत ही तेज़ हूँ—छमाही में एक वाड़ा कभी निकालती हूँ, कभी वह भी नहीं।

खावणा छाण ते पड॒ मारने पिस्सी दे।

खाना चोकर और पाद मारना मैदे के।
अमीरी की झूठी डींगें हाँकना।

खावाँ पीवाँ सत वलाईं, उठी न सग॒गां वु॒ए ताईं।

खाऊँ पीऊँ (तो) सात वलाएँ, (पर) उठ न सकूँ दरवाजे तक (दरवाजे तक भी उठ कर न जा सकूँ)।

खावे गु॒ल्ला मरीजे कल्ला।

खावे (तो) सारा परिवार (और) मारा जाय अकेला—पाप की कमाई करने वाले का धन खाता तो सारा परिवार है, पर फल उसे अकेले ही भोगना पड़ता है।

खावे पा कमावे स्वा, खावे सेर कमावे शेर।

खाये पाव तो कमाये राख, खाये सेर तो कमाये शेर (की तरह)। जो खायगा अधिक वह कमायेगा भी अधिक।

खिल खिल विड़ाईं कलेजे हथ घताईं।

[विड़ावण = हिसाब या बदला चुकाना]

(ऊपर से) हँस हँस (कर) चुका दूँ, (अन्दर से) कलेजे में हाथ डालूँ।
ऊपर से मीठे और अन्दर से घातक बनना।

खिल्या हस्या मन परचाया, नाँ कुझ गि॒आ नाँ कुझ आया।

हँस लिया, मुसकरा लिया, मन बहला लिया (इस से) न कुछ गया न कुछ आया।—खुशमिजाज़ बनने से यदि हाथ कुछ न आय तो जाता भी तो नहीं।

खीर द़ा खीर पाणी द़ा पाणी, गुजरी बेच के पिच्छूंताणी ।

[खीर = क्षीर, दूध]

दूध का दूध (रहा) पानी का पानी (हो गया) ; गूजरी बेच कर पछताई । इस कहावत पर एक कहानी है—एक गूजरी दूध में पानी मिला मिला कर बेचती रही । थोड़े दिनों में उस के पास कुछ रुपये जमा हो गए । उन से उस ने सोने के कंगन बनवाये । एक दिन वह नदी में मुँह हाथ धोने लगी तो उस के हाथ का एक कंगन गिर पड़ा और बह गया । तब उस की समझ में आ गया कि जो कंगन गिर गया वह पानी की कमाई का था और जो बचा है वह वास्तव में दूध की कमाई का है । सो वह बहुत पछताई और उस दिन से उस ने पानी मिलाना छोड़ दिया ।

खुट्टी द़ा दारू कोई नईं ।

आयु-क्षय की कोई दवा नहीं ।

खुआं द्रिआवां द़ा अन्त पाते, बन्द्यां द़ा अन्त कईं नईं पाता ।

कुओं नदियों का अन्त पा लिया गया है, (पर) मनुष्यों (के हृदय) का अन्त किसी ने नहीं पाया ।

खू द़ी मिट्टी खू खा वैंद़े ।

कुएँ की मिट्टी कुआँ (ही) खा जाता है ।

ग़ज़ां मुत्तूं पग॒ां वद़ा कछेंद़े ।

[कच्छण = मापना । वत्तण = फिरना; सहायक क्रिया-रूप में]

गज़ों बिना पगड़ियाँ नापता फिरता है ।

साधनों बिना काम साधने की डींग हाँकना ।

गँढ न पल्ले, ख़ीसा हल्ले ।

गाँठ पल्ले (तो) कुछ है नहीं, जेब हिल रही है । पास में तो कुछ है नहीं, बातें बड़ी बड़ी बनाई जा रही हैं ।

गञ्जी छुट्टी धाँवण्यों तेल मिट्टी लावण्यों ।

गंजी नहाने और तेल-मिट्टी लगाने से बच गई । पच्छिमी पंजाब और सिन्ध में प्राय: मुलतानी मिट्टी से ही बाल धोये जाते हैं ।

गरमी द़ा मण सहीता वैंद़े, वा द़ी रत्ती ई नईं सहीती वैंदी ।

पित्त का मन-भर सह लिया जाता है, वात की रत्ती भर भी नहीं सही जाती ।

ग़रीबां रोज़े रख्ये, ड॒ीं वड॒ड॒े थरा ।

ग़रीबों ने रोजे रक्खे (तो) दिन बड़े हो गए ।

दैव की मार भी ग़रीबों पर ही पड़ती है ।

ग॒ल्ली ते आया, तल्ली ते खाया ।

[तल्ली = हथेली]

गली पर आया, हथेली पर खाया (गया) । घर के अन्दर भी न पहुँच पाया और खा उड़ा लिया गया ।

ग॒ल्ली ते सटेसी, शरीक ते मिन्नत न लैसी ।

[शरीक = रिश्तेदार, दाय में भाग बँटाने वाला]

गली पर फेंकेगी, (पर) शरीक पर एहसान न करेगी ।
चीज़ ज़ाया चली जाय किन्तु किसी को देना नहीं ।

ग॒ाँ न वच्छी, निन्द्र कर हच्छी ।

(तेरे पास) गाय है न वछिया, अच्छी नींद कर ।
गाय वछिया वालों को दिन रात का काम रहता है ।

ग॒ाल नाल ग॒ाल अखाईं, वल्ले नाल नक कपाईं ।

[वल्ला = घुमाव]

बात के साथ बात कहूँ, एक ढंग से नाक काटूँ ।
ढंग से बात कह के दूसरे को शर्मिंदा कर देना ।

ग॒ालीं करेंदे, रम्बे दे ग॒न कोलूं सिध्यां ।

[रम्बा = खुरपा; गन = दस्ता]

बातें करता है खुरपे के दस्ते से भी सीधी ।
बे-सिर-पैर की बातें करता है ।

ग॒ालीं द्यां ग॒ालीं, रोकां दे मोठ ।

बातों की बातें, दामों के मोठ ।

इस कहावत पर एक कहानी चली आती है । कोई आदमी मुलतान जा रहा था । उस के मित्रों, परिचितों में से किसी ने कहा मेरे लिए वहाँ का रेशम लाना, किसी ने कहा चाँदी के बटन लाना, इत्यादि । दाम किसी ने न दिये । एक ने अधन्नी पकड़ाते हुए कहा मेरे लिए दो पैसे के मोठ लेते आना । जब वह लौटा तो जिस ने दाम दिये थे, उसे तो मोठों की पोटली पकड़ा दी । बाकियों से इधर-उधर की बातें करना शुरू किया । जब सब ने अपनी अपनी चीज़ों के विषय में पूछा, तब उसने उक्त कहावत सुना दी ।

गिदड़ कूं जेरे वेले सी लग॒दे, ऊँ वेले खुड॒ खटेंदे ।

[सी = शीत]

गीदड़ को जिस समय जाड़ा लगता है, उस समय बिल खोदता है ।

गुज़र ग॒ई गुज़रान, क्या झुपड़ी क्या मिदान ?

गुज़र हो गई—झोपड़ी (हुई तो) क्या ? (और) मैदान हुआ तो क्या ?

गुड़ दी झा केरी कौड़ी होंदी हे ?

गुड़ की कौन सी जगह कड़वी लगती है ?
सभी स्नेही एक से प्यारे लगते हैं ।

गुमास्ते खांदे शकराँ, ते शाः मरेंदे टकराँ ।
गुमाश्ते शक्करें खाते हैं और शाह टक्करें मारते हैं ।

गो कूं मिली गो, जिश्रां श्रो ते जिश्रां श्रो ।
गोह को गोह मिल गई, जैसा वह है वैसा वह है ।

गोगी आप जोगी ।
[गोगी = छोटी सी मोटी रोटी]
गोगी अपने लायक ही है ।—जिस के पास गोगी है, उसी का पेट उस से मुश्किल से भर पाता है, दूसरे को क्या दे ?

गोरी नार, कजले द़ा सिंगार ।
गोरी स्त्री (का) काजल ही सिंगार हो जाता है ।

घर ए तां जग्ग ए ।
[ए = हे = है]
घर है तो जग है ।

घर कुड़ी जग्ग होका ।
[कुड़ी = बहू, दुलहिन]
घर (में) बहू, लोगों में ढंढोरा ।

घर डाँग नईं बन्दूक ले आओ ।
घर लाठी नहीं है, (कहते हैं) बन्दूक ले आओ ।

घर द़ाणे नईं, "अम्मां पीहण गई ए" ।
घर दाने नहीं है (कहते हैं) अम्माँ पीसने गई है ।

घर द़ा जोगी जोगड़ा, बार द़ा जोगी सिद्ध ।
घर का जोगी जोगड़ा, बाहर का जोगी सिद्ध ।

घर द़ा भेदी लंका ढावे ।
घर का भेदी लंका ढाय ।

घर द़ी सड़ी झर गई, ते झर कूं लग्गी भा ।
घर की जली झरने गई, तो झरने को (भी) आग लग गई ।

घर द़ी गंगा धांद़ा कोई नईं ।
घर की गंगा नहाता कोई नहीं ।

घर द़ी होवे रज्जी, बारूं आवे थाली कज्जी ।
घर की अघाई होवे (तो) बाहर से भी थाली ढकी आवे ।

घर लक्ख दा, बैंर कख दा।
घर लाख का, बाहर तिनके का।

घरूं न फिट्टे ताणी, ते कोई न सड्डे काणी।
घर में से ताना न बिगड़े, तो कोई कानी न पुकारे। घर के लोगों में एकता हो तो बाहर बेइज़्ज़ती नहीं हो सकती।

घरूं सिख डिराणी दी मत, बारूं सिख गवाँढण दी मत।
[डिराणी = दिरानी, किन्तु पति के भाई को—चाहे वह बड़ा हो छोटा—डेर (देवर) कहा जाता है; इस लिए यहां डिराणी का अर्थ जेठानी है]।
घर में से सीख जेठानी की मति, बाहर से सीख पड़ोसन की मति।

घाई घा मारेंदा मर गिआ, अब सावे दा सावां।
[घा मारण = घास काटना]
घसियारा घास काटता काटता मर गया, दूब हरी की हरी।

घिउ खांदे सुक्के, ते पाणी पींदे कुप्पे।
[कुप्पे = मोटे मुसन्डे]
घी खाते सूखे, और पानी पीते मोटे-ताज़े।

घिन्नण कीते भीण विल्याणी, डेवण कीते मुसलमानी।
लेने की ख़ातिर 'बहन सखि' (पुकारती है), देने की ख़ातिर (अपने को) मुसलमानी (बताती है)।

घूं इच जित्ती लक्कड़ मारो उत्ती बो खिन्डदी हे।
गू में जितना लकड़ी चलाओ उतनी बदबू फैलती है।

घूं ई गोए ते चघदे।
[चग्घण = दोष बता कर चिढ़ाना]
गू भी गोबर को चिढ़ाता है।

चङ्के दी चङाई, उलटा सिर कूँ खावण आई।
भले की भलाई उलटा सिर को खाने आई। भले ने बुरे की भलाई की, तो भले को कष्ट ही उठाना पड़ा।

चारे पल्लो मैडे चिक्कड़ भरचे, केरा मल मल धोवां?
मेरे चारों पल्ले कीचड़ से भरे (हैं), कौन सा मल मल कर धोऊँ?

चाकरां दी चूंकरां ते चूंकरां दी कीश कीश।
[चूंकर = चाकर के नमूने पर कल्पित शब्द]
चाकर (के जिम्मे) की (बात) 'चूकर' पर पड़ी, चूकरों की टालमटोल।
एक दूसरे पर छोड़ता है, दूसरा तीसरे पर, इस तरह काम यों ही रह जाता है।

चाँद्णी रात ते मा पिउ दा राज ।

चाँदनी रात और माँ बाप का राज। माँ बाप का राज्य चाँदनी रात की तरह होता है।

चिट्टा सिर धुप ते कीतेस !

[चिट्टा = सफ़ेद]

(अमुक ने) धूप पर (से) सिर सफ़ेद किया है।

बूढ़ा है, किन्तु व्यवहार बुद्धिमत्ता का नहीं।

चिट्टी डाढ़ी ते अट्टा ख़राब।

सफ़ेद दाढ़ी है और (फिर भी) आटा ख़राब (अपनी मिट्टी ख़राब करते हैं)। सफ़ेद दाढ़ी होने पर भी बुराइयों से बाज़ नहीं आते।

चिन्ता चिख़ा बरोबर हे।

चिन्ता चिता समान है।

चिट्टे कपड़े ते सलामां दी चट्टी।

सफ़ेद कपड़े तो सलामों की आफ़त। केवल सफ़ेद कपड़े पहन कर बने फिरने वालों के कारण लोगों पर सलामी की आफ़त ही पड़ती है।

चिट्टे तां वेड़ दे बडुम्बे ई बउं पएन; गुण होवेन।

सफ़ेद तो कपास के डोडे भी बहुत पड़े हैं, गुण हों। गोरे रंग से कुछ नहीं होता; गुण होने चाहिए।

चिट्टे तां भेडक दे वट्टे ई बउं पएन।

[भेडक = दूधिया रंग का पत्थर; वट्टा = पत्थर; भेडक दे वट्टे = दूधिया रंग के पत्थर]

चुआ खुड न मावे पिच्छूं बन्ने छज्ज।

चूहा (स्वयं तो) बिल में नहीं समाता (और अपने) पीछे सूप बाँधे (बाँध लाता है)।

चुल अंगारचों नई रज्जी, मा बाल्यें नई रज्जी।

चूल्हा (कभी) अंगारों से नहीं अघाया; माँ (कभी) बच्चों से नहीं अघाई।

चुल्ल ते, सो दिल ते।

(जो) चूल्हे पर, सो दिल पर। जो समीप होता है उसी से अधिक प्रेम होता है।

चुल दी ख़ैर, कुल दी ख़ैर।

चूल्हे की कुशल, कुल की कुशल। पहले अपनी भलाई करो कुल की भलाई स्वयं होगी।

चुल दे पिच्छूं पंसेरा, हुण उठी सस्सेड़ घर मेरा।
अग्ग खाधा हेई बतेरा, हुण वारा आया ई मेरा।

[खाधा हेई = तूने खाया है]

(बहू कहती है) चूल्हे के पीछे पसेरी [ये शब्द केवल तुकबन्दी के लिए हैं], अब उठ सास, घर मेरा (है)। आगे तूने बहुतेरा खाया है, अब मेरी वारी आई है।

चेत्र विसाख भँवे, जेठ हाड़ सँवे,
सावण भद्र्यों धाँवे, अस्सूं कत्त्ये थोड़ा खावे,
तबीव पुछण न जावे।
चैत बैसाख घूमे, जेठ असाढ़ सोवे,
सावन भादों नहावे, असौज कातिक थोड़ा खावे,
(तो) हकीम (को) पूछने न जावे।

चोर आवे शै छपोजे, चुग॒ल आवे गा॒ल लुकीजे।
चोर आय तो चीज़ छुपाई जाय, चुगलख़ोर आय तो बात छुपाई जाय।

चोर कूं आख्या 'घर भन्न', साध कूं आख्या 'भजदा पई'।
चोर को कहा 'घर फोड़', साधु को कहा 'टूट रहा है'। इधर की बात उधर, उधर की इधर।

चोर दा उगा॒ः गण्ढींकप।
चोर का गवाह गिरहकट।

चोरी कोलूं मीणां हे, जा॒री कोलूं मीणां हे, पोरह्ये दा के मीणां हे?
चोरी से उलहना (मिलता) है, जारी से उलहना है, मेहनत मजूरी में क्या उलहना है?

छत्ते मूं दो आ वैसेन, जुम्मां आया खड़े!
[छत्ते = सिर के बाल; मूं दो = मुँह की तरफ़।]
छत्ते मुँह के सामने आ जायँगे, जुम्मा आया खड़ा है। मुसलमान लोग जुम्मे पर हजामत करवाते हैं। जब कोई किसी के दोष दिखाय तो वह कहता है, समय दूर नहीं है, तुम्हारे दोष भी सामने आ जायँगे।

छा न मक्खण अज़ाया झग्ग॒ण।
छाछ न मक्खन, व्यर्थ का विलोना।

छिक्के ते पड़छिक्का, तुसां वारां ते मैं हिक्का।
[पड़छिक्का = छीकों की परम्परा]
एक छीके पर दूसरा छीका, उस पर तीसरा, (इसी प्रकार) तुम बारह और मैं अकेली।
एक छीके पर टँगे अनेक छीके जैसे एक ही छीके का काम देते हैं, वैसे तुम बारह का मैं अकेली मुक़ाबला कर सकती हूँ।

जँञ पराई ते आमक नच्चे।
पराई बरात पर मूर्ख नाचता है।

ज॒ट कूं किस दी वडा॒ई? थुक दी वडा॒ई।
जाट को किस का अभिमान? थूक का। तुच्छ मनुष्य तुच्छ वस्तु पर इतराता है।

ज॒ट के ज॒ाणे कचालू खा ?

जाट क्या जाने अरबी खाना ? बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद ?

ज॒ट ब॒ुथान, अल्ला दी अमान।

भोंदू जाट, भगवान् पर आश्रित।

ज॒ट्ट कुन्नींचट्ट, पिआला धो ते मुच्छां वट्ट।

जाट देगची चाटे, प्याला धोवे (धो कर पी जाय) और (उस पर भी) मूँछों पर ताव देता है।

जम ते मत होंदी ए।

जन्म पर समझ होती है। आयु के अनुसार समझ।

जम्म न ड॒िता ड॒ुँदवण ते लालां भरचा वात।

[जम्म = 'जम' कर, जन्म ले कर; ड॒ुँदवण ड॒ेवण = दातुन करना; वात = वक्त्र, मुँह]

पैदा हो कर (पैदा होने के बाद से) दातुन नहीं किया तो (भी) मुँह लारों से भरा है! दाँतुन करने से लार टपकनी चाहिए, पर उस के बिना टपक रही है। उम्र भर तो अमुक चीज़ देखने को नहीं मिली, अब नखरे हो रहे हैं।

जवाँ दी ढेरी, ग॒ड॒ु रक्खा।

जौ की ढेरी, गधा रखवाला। दूध की राखी बिल्ली।

ज॒ाए सिखेंदे आए।

[ज॒ाए = पैदा हुए, बच्चे]

बच्चे सीख देते आए (हैं)। आने वाली सन्तति पिछली से अधिक चतुर होती है।

जागद्यां द्यां कट्यां, सम पिआं दे कट्टें।

जागतों की कटड़ियाँ सोतों के कटड़े। बँटवारे के समय जागने वालों ने तो कटड़ियाँ ले लीं और सोने वालों के हिस्से के कटड़े बचे। जागरूक नफ़े में रहते हैं।

ज़ात दी किरली, छतीरां हथ घत्ते।

जाति की छिपकली (हो कर) शहतीरों पर हाथ डाले।

तुच्छ व्यक्ति ऊँचे काम में हाथ डालना चाहता है।

ज॒ाया पुत्र ते वंडो रेत।

पुत्र पैदा हुआ है तो बालू बाँटो। कुपूत है इस कारण।

जितना पोश उतना पाला;
जितना धन उतना डिवाला;
जितना कुटुम्ब उतना मुकाला ।

जितने कपड़े उतना जाड़ा (अधिक कपड़ों वाले को जाड़ा अधिक लगता है); जितना धन उतना दिवाला; जितना कुटुम्ब उतना मुँह काला (अपयश) ।

जित्ती गुड़ तित्ती मिठाई ।

जितना गुड़ उतनी मिठास ।

जित्ती पड़्या उत्ती सड़्या ।

जितना पढ़ा उतना जला (बिगड़ता गया) ।

जित्थां घग्धर वाली वस्से, उत्थां सिन्नां सुक्का मूल न वच्चे ।

[घग्वर वाली = कोई एक स्त्री]

जहाँ घग्घर वाली वसे, वहाँ गीला (हरा) सूखा कुछ भी नहीं बचता ।

जित्थां लग्गी भा, उवा सड़ी भ्का ।

जिस जगह आग लगी, वही जगह जली । जिस तन लागी सोई तन जाने और न जाने कोई ।

जिन्ते सौ तिन्ते पँभ्काः ।

जिधर सौ (गये) उधर पचास (और सही) ।

जिन्द सुख, जहान सुख ।

(अपनी) ज़िन्दगी सुखी (है) तो जहान सुखी (है) ।

अपनी तबिअत खुश हो तभी सब कुछ अच्छा लगता है ।

जिन्द ए तां जहान हे ।

ज़िन्दगी है तो दुनिया है ।

जिन्नां घर दाणे, ओ कमले ई सिआणे ।

जिन के घर दाने (अन्न अर्थात् धन धान्य), वे मूर्ख भी सयाने ।

जिन्नां जुत्ते खू सुख न सुत्ते रू ।

[रू = रूह]

जिन्हों ने कुएँ (रहट) जोते (खेती-बाड़ी की), वे सुखी चित्त से न सोए ।

पच्छिमी पंजाब में खेती कुओं के चौगिर्द ही होती है । और कुओं पर रहट चलते हैं ।

जिन्नां रड़ा भोगिआ सावण तिनां ते वुट्ठे ।

[रड़ा = सूखी भूमि या सूखा मैदान, वुट्ठे = बरसे]

जिन्होंने सूखा भोगा, सावन उन्हीं पर बरसे ।

दुःख के बाद सुख अनिवार्य होता है ।

जिभ आख्या मिट्ठा मिट्ठा, संग आख्या कुझ न डिट्ठा।
जीभ ने कहा मीठा मीठा, गले ने कहा कुछ न देखा। चीज़ स्वादु, तो थी, पर थी इतनी ज़रा सी कि गले तक पहुँची ही नहीं।

जीन्दा शेर ए, मोया मिट्टी दा ढेर ए।
जीवा (मनुष्य) शेर है, मरा मट्टी का ढेर है।

जीवें करनी उवें भरनी।
जैसी करनी वैसी भरनी।

जीवें चोली पाड़ी हेइ, उवें वै कर सी।
जैसे (तू ने) चोली फाड़ी है, वैसे बैठ कर सी।

जुलाब घिन्नण तां पक्के कोठे कूं संध लावण हे।
जुलाब लेना तो पक्के कोठे को सेंध लगाना है।

जूं मुत्तुं सुरकार नईं, धी मुत्तूं हाल नईं।
जूँ के विना खुजलाहट नहीं, वेटी के विना (दिल का) हाल नहीं (कहा जाता)। माँ अपना दिल बेटी के आगे खोलती है।

जे नूं कुआरी, सस गल्यां तूं वारी।
जे नूं परनी सस शीख़ डित्ती घड़नी।
जे नूं पीढ़े वैठी आ के, सस शीख़ डित्ती ता के।
[शीख = लोहे की सलाई, जिस पर कबाब भूना जाता है]
जो (जब) वहू कारी, तो सास गलियों पर वारी (वहू के कूचे पर भी वारी जाती है)। जो बहू व्याही आई, तो सास ने सलाई गढ़ी जाने को दी। जो बहू पीढ़े पर आ के बैठी, तो सास ने सलाई तपा कर दी।

जेरा बाल पिआ चुरके, ऊँदी मा किउँ थुड़के ?
जो बच्चा हगता रहे, उस की माँ क्यों डरे ?
कब्ज़ न होगी तो बच्चा बीमार न होगा।

जेरा बोले, उवो बुआ खोले।
जो बोले, वही दरवाजा खोले।

जेरा सड़े, चार डिहाड़े अग्गे मरे।
जो जले (ईर्ष्या करे), चार दिन पहले मरे।

जेरा सुख हे छज्जू दे चवारे, ओ न बलख़ न बुख़ारे।
जो सुख है छज्जू के चौवारे, वह न बलख़ में न बुख़ारे में।

अपने घर में जो सुख है वह विदेश में हर्गिज़ नहीं। छज्जू भगत का चौवारा लाहौर में अब भी है। यह छज्जू की उक्ति मानी जाती है। वह बहुत दूर दूर घूमा था।

जेरी फुट्टी न विआई, ओ के जाणे पीड़ पराई।

जो न (कभी) फूटी (जिस के कभी गर्भपात नहीं हुआ) और न बियानी, वह पराई पीड़ा क्या जाने ?

जेरे राह न वँञणा, ऊँदा पंध के पुछणा ?

[पन्ध = पन्था, दूरी]

जिस रास्ते न जाना, उस की दूरी क्या पूछना ?

जेरां दे शेर थी खड़ेंदेन।

[जेर = जरायु]

जरायुओं (छोटे बच्चों) के शेर वन खड़े होते हैं। छोटे बच्चे के मरने का भी अफ़सोस कुछ कम न मानना चाहिए। बड़ा हो कर वह भी जवान बन जाता।

जे वस होवी आपणा, पाणी मंग न पी।

यदि अपना बस चले, (तो) पानी (भी) माँग कर मत पी।
जहाँ तक हो स्वावलम्बी बनो।

जैंकूं रक्खे साइयाँ, मार न सग्गे को।

जाको राखे साइयाँ, मार न सकिहै कोय।

जैं खाधी सगले दी डाल, ओ के जाणे टबरां नाल।

[सगला = छोटी देगची। टब्बर = कुनबा]

जिस ने (छोटी सी) देगची की दाल खाई हो वह कुनबों के साथ (रहना) क्या जाने ?

जैंदा खाविए, ऊँदा गाँविए।

जिस का खाइए, उस का गाइए।

जैंदा बाल बुलाया, ओ मा बुलाई।

जिस के बच्चे को बुलाया (दिया, खिलाया) गया, वह माँ बुलाई गई।

जैंदी पेकी पवाई डुक्खी, ओ धी के जलेसी सुक्खी ?

जिस का मायका तरफ़ दुःखी, वह बेटी क्या सुखी (जीवन) गुज़ारेगी ?

जैंदे पिच्छूं चार, ऊकूं कड्ढो मार।

जिस के पीछे चार (आदमी पड़ जायँ) उस को मार निकालो।

जैंदे हत्थ ॾोई, भुक्ख मोया सोई ।

जिस के हाथ चिलड़ा, वही भूखा मरा ।

बाँटने वाला सदा घाटे में रहता है ।

जो कुज्झ करे खीर, न गुर करे न पीर ।

जो कुछ (लाभ) दूध करता है, (सो) न गुरु करता है न पीर ।

जो कुज्झ करे घिउ, करे न मा करे न पिउ ।

जो कुछ (लाभ) घी करता है, (सो) न माँ करती है न बाप ।

जो मन होवी आपणा पर वी उाव्वो ॼाण ।

(तेरा) अपना मन जैसा हो, दूसरे का भी वैसा जान ।

झड़ झिड़कोल ॾीं ॻिआ, विलल्ली दा टॿुर भुक्ख मोया ।

झड़ बदली में दिन चला गया, कुचज्जी का कुनबा भूखा मरा ।

झिक्का न खावे धिक्का ।

[झिक्का = झुकने वाला, विनीत]

झुकने वाला धक्का नहीं खाता ।

टक्के दी रन, ते आने घ्यां ॼलमां ।

टके की लुगाई और आने की जोंकें । स्वयं तो टके की है, पर अपनी चिकित्सा के लिए आना खर्चना चाहती है ।

टप पोंदे तां नैं टप वैंदे, खड़ो वैंदे तां अॾ तूं खड़ो वैंदे ।

[अॾ = खेत में पानी रोकने को डाली गई मट्टी]

फाँद पड़ता है तो नदी फाँद जाता है, खड़ा हो (रुक) जाता है तो मेड़ से (पर) खड़ा हो जाता है ।

ठड्‌ढा घड़ा आप कूं छां ते रखवेंदे ।

ठण्डा घड़ा अपने को छाया में रखवाता है । गुणी की आप से आप कदर होती है ।

ठुल्ली वन्नीं खावे खन्नी, पाए आखे मैंॾी कोठी भन्नी ।
पतली नार खावे चार, पाए आखे मैंॾी सरफ़ेदार ।

[वन्नी = दुलहिन । खन्नी = आधी । भन्नी = टूटी । सरफ़ेदार = किफ़ायतशार]

मोटी दुलहिन आधी (रोटी) खाये (तब भी) पति कहे मेरी कोठी (अन्न की) टूटी । पतली दुलहिन चार खायें, तब भी पति कहे मेरी (स्त्री) किफ़ायतशार है ।

ठुल्ला सुत्र बगवाणी दा, न पेटे दा न ताणी दा ।

[बगवाणी = बागवान की स्त्री; पेटा = बाना]

मालिन का मोटा सूत, न बाने (के काम) का, न ताने (के काम) का ।

मोटी अक़्ल के आदमी पर अन्योक्ति ।

ॾई पारें ॼमद़ी ए।

दही पहरों में जमता है। कर्मों का फल देर में मिलता है।

डंॾा पीर मुस्टंड्यां तकड़्यां ताड़्यां द़ा।

डंडा मोटों मुस्टण्डों का (भी) पीर है। उन्हें भी सीधे रास्ते ले आता है।

ॾण्डुम मोटे दा मोटा, न ला ॼाणे न ओटा।

[ला = लाग, प्रेम। ओटा = घटना]

ढीठ मोटे का मोटा है, न किसी से समवेदना करना जानता है न घटना (जानता है)।

ॾांग ते पहोडी, मुद्दा रोटी तोड़ी,
लक्खी ते करोड़ी मुद्दा रोटी तोड़ी।

[ॾांग = लाठी, पहोड़ी = लकड़ी के डंडों की सीढ़ी।]

(जिस के पास केवल) लाठी और निसेनी (है उस का भी) लच्च रोटी तक (है और जो) लखपति और करोड़पति (है उस का भी) लच्च रोटी तक है।

ॾाची वी ते तोॾा त्री।

[ॾाची = ऊँटनी; तोॾा = ऊँट]

ऊँटनियाँ बीस और ऊँट तीस (बराबर हैं)।

ॾाढे कोल न ॾर, ॾाढे द़ी ॾढाई कोलूं ॾर।

ज़बरदस्त से मत डर, ज़बरदस्त की ज़बरदस्ती से डर।

ॾाढे ते मैं फर न आवां, हीणे ते चढ़ लत्तां ॾेवां।

[फर आवण = काबू पाना]

ज़बरदस्त पर मेरा दाव न लगे, दुर्बल पर चढ़ (कर) लातों से दबाऊँ।

ॾाढे दा सत्तां विआं सौ हे।

ज़बरदस्त का सात बीसे सौ है।

ॾिंगी रोटी खाध्यें कोई ढिढ ॾिंगा थींद़े ?

टेढ़ी रोटी खाने से कोई पेट टेढ़ा होता है ?

ॾिट्ठे नईं सो मिट्ठे नईं।

(जब तक) देखे नहीं (तब तक) मीठे नहीं। देखने के साथ ही मीठे लगने लगते हैं—पति और पत्नी एक दूसरे को।

ॾित्ता गिद्दा भायां दा, काला कुन्नां सायां दा।

दिया लिया भाइयों का, काला देगचा साँईयों का।

कुरूप बहू के माँ बाप बहुत कुछ देवें भी तो वह देन-दहेज़ तो शरीक-बिरादरी में बट जाता है। मालिकों के घर में तो वही रहती है।

ड॒िराणिआं जि॒ठाणिआं, रल वाँवन तां करेन कहाणिआं, नईं तां हड्ड॒ां आं विराणिआं।

[विराणिआं = वैरिनें]

दिरानिएँ जिठानिएँ मिल बैठें (मेल से रहें) तो कहानियाँ कहें, नहीं तो हाड़ों की बैरिनें।

ड॒िस्सण दे वग॒ले विच्चूं मच्छ्यां दे टरकाऊ।

दीखने के बगले अन्दर से मछलियों के हड़पने वाले। बगला भगत।

ड॒ीवा तां कौड॒ी दा लाल ए।

दिया तो कौड़ी का लाल है।

ड॒ीं लत्था पलक निखत्था !

दिन ढला जनाब निकले !

ड॒ुपार तत्ता ग॒ड्ड॒ं मत्ता।

दोपहर तपा गधा मचला।

सुबह ठण्डे वक्त न आ कर दोपहर आने वाले पर आक्षेप।

ड॒ू ते ड॒ू ? चार रोट्याँ।

दो और दो चार रोटियाँ।

ड॒ू घरां दा मिज़मान भुक्खा रांधे।

दो घरों का मेहमान भूखा रहता है।

ड॒ू भाण्डे खड़कदे आएन।

दो वर्तन टकराते आये हैं।

ड॒ू रन्नां त्रीझा धन्नां।

[धन्नां = आदमी का नाम, धनपत का संक्षेप]

दो स्त्रियाँ तीसरा धन्नां।

स्त्रियों के बीच में कोई मर्द बैठे बोले तो उस पर यह व्यंग्य चलता है।

ड॒े के घिनणी, नां रखाईं पिनणी।

[पिन्नण = भीख मांगना]

दे कर लेने वाली (का) नाम रक्खूँ मंगती।

ड॒ैण मोई ड॒द सट मोई।

डाइन मरी दाँत फेंक मरी।

डोडर कां, डोडर कां, पाए दा खव्या पिउ दा नां।

[डोडर कां = पहाड़ी कौआ—यहाँ ये शब्द केवल तुकबन्दी के लिए हैं]

डोडर कां डोडर कां, पति की कमाई बाप का नाम।

डोमां घर विआ, जीवें आवी उवें गां।

डोमों के घर ब्याह (है) जैसा आए वैसा गाओ।

डोरे अग्गूं गाँविए, अन्धे अग्गूं नच्चिए।

बहरे के आगे गाया जाय, अन्धे के आगे नाचा जाय (तो क्या लाभ) ?

ढुट्टी डित्ता बरड़ी खाधा।

[ढुट्टी = एक धूर्त्त स्त्री; बरड़ी = उसी नमूने की दूसरी]

ढुट्टी ने दिया, बरड़ी ने खाया। चुपचाप दिया गया, जिस से कुछ यश नहीं हुआ।

तलवार दा फट मिल वैंदे, ज़बान दा फट नईं मिलदा।

तलवार का घाव मिल (भर) जाता है, ज़बान का घाव नहीं भरता।

तलवार सामणें आवे, सींण सामणें न आवे।

[सींण = समधी]

तलवार सामने आवे, समधी सामने न आवे।

ताड़ी हमेशां डुहत्थेड़ वजदी हे।

ताली हमेशा दो हाथों से बजती है।

तुरत दान महा पुन्न।

[पुन्न = पुण्य]

तुहाडे पीठे दा कोई छाणन हे ?

आप के पीसे का कोई छानना है ? आप के काम में संशोधन की आवश्यकता नहीं।

तूं आपणी भरी निवेड़।

तू अपनी भरी निपटा। (दूसरे की बात में व्यर्थ दख़ल मत दे)।

तूं कौन ? मैं ख़ामुख़ा।

तू कौन ? मैं ख़्वाहमख़्वाह।—दाल भात में मूसलचन्द।

तूं न जाण मैकूं, तां मैं थुकां तैकूं।

तू मुझे न जान (मेरी परवाह न कर) तो मैं तुझे (तुम पर) थूकूं।

तेरांताली ते बारां-वेसी, अन्दर मार बासी परडेसी; बाएर वेदन कई कूं न डेसी।
तेरह चालों वाली और बारह भेस (बनाने) वाली (अत्यन्त चालाक है); अन्दर परदेसी मार बैठेगी, बाहर किसी को पता न देगी।

तैडड़ी हे तां मैडड़ी हे, मैडड़ी कूं हत्थ न ला।
तेरी है तो मेरी है, मेरी को हाथ न लगा।

तैडा मैडा जोड़, मैडे कोठे ते हाथी टोर।
तैडा मैडा नजोड़, मैडे कोठे ते सुई न पोड़।
तेरी मेरी बनी है (तो) मेरी छत पर हाथी चला।
तेरी मेरी अनबन है (तो) मेरी छत पर सुई मत गाड़।

थुक सट के निगलींदी हे ?
थूक फेंक कर निगली जाती है ?

थोड़ा थोड़ा कत्ते निकम्मी मूल न वत्ते।
थोड़ा थोड़ा काते, पर निकम्मी हर्गिज़ न रहे।

दम हिआतीं ते नित्त विसाखी।
प्राण बने हैं तो नित वैशाखी (है)। वैशाखी या वैशाख-संक्रान्ति पंजाब का सब से बड़ा त्यौहार है; वह नववर्षारम्भ का दिन होता है।

दिल विच होवी सच्च, गली ते नंगी थी के नच्च।
(तेरे) दिल में होवे सचाई, तो (भले ही) गली में नंगी हो कर नाच।

दिल्ली दे लड्डू जेरा खावे, पछतावे; जेरा न खावे ओ वी पछतावे।
दिल्ली के लड्डू जो खाए पछताए जो न खावे सो भी पछताय।

दुनिआँ रंग-वरंगी कोई राजा ते कोई भंगी।
दुनिया रंग-बिरंगी कोई राजा तो कोई भंगी।

द्रिखाण कण्ढ वताई, चप्पर उक्खड़ आई।
बढ़ई ने पीठ फेरी, चिप्पड़ उखड़ आई।

धन्न करेंदा कम्म, काली रात कूं।
धन काली (अँधियारी) रात में भी काम कर देता है।

धाता किराड़, भुक्खा भिघाड़।
नहाया किराड़, भूखा बघेला (सा होता है)—हिन्दू को नहाने के बाद बड़ी भूख लगती है।

धिए ड़ी मैं तैकूं आखां, नुएं ड़ी तूं कन्न कर।

अरी बेटी मैं तुझे कहूँ, अरी पतोहू तूँ कान कर। एक को लक्ष्य कर दूसरे से बात कहना।

धी उसरी भीण विसरी।

[उसरी = बड़ी हुई]

लड़की बड़ी हुई, बहन विसर गई।

धी दा डे॒प, कुन्नें दा लेप, कडा॒ई पूरा नई थींदा।

बेटी का देन, देगची का लेप (मट्टी का), कभी पूरा नहीं होता।

धी निवी आई, खा घिन, नूं निवी आई हंडा घिन,

[हंडावण = किसी चीज़ का, विशेष कर कपड़े गहने का, प्रयोग कर के घिसाना]

बेटी नहीं आई तो खा ले, पतोहू नहीं आई तो पहन ओढ़।

धी बन्धण्यें मां संभण्यें।

[बंधणा = लम्बा सा कपड़ा जिस से बन्नू-देराजात के इलाके में गोद के बच्चे को बाँध कर सुलाते हैं; कहते हैं इस से बच्चा ठोस और मज़बूत होता है। संभण = संचय करना]।

बेटी गोद में, माँ (दहेज के कपड़े लत्ते) जमा करने में। बेटी के पैदे होते ही माँ को उस के दहेज की फ़िक्र करनी पड़ती है।

धीरीं आयां कत्त के, मा ठरी वे लोको ठरी।
धीरीं मंगन घग्घरियां, मा सड़ी वे लोको सड़ी।

[वे लोको = अरे लोगो]

बेटियाँ कात के आईं तो मां (की छाती) ठंडी हो गई; बेटियाँ घाघरियाँ माँगें तो मां जल भुन गई।

धीरीं मंग्याँ कई नई, लभ्याँ हर कई हेन।

बेटियाँ माँगीं किसी ने नहीं, पाईं हरेक ने हैं।

धी लांधी हे मा दी डि॒त्त।

बेटी मां बाप की देन पाती है। मां बाप संबन्धियों मित्रों की बेटियों को जैसे जैसे देते हैं वैसे वैस ही बेटियों को उन लोगों से मिलता है।

धोबी दा कुत्ता न घर दा न घाट दा।

धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।

धोब्॒यां दे घर पए चोर, ओ न मुट्ठे मुट्ठे होर।

[मुट्ठे = मुषित]

धोबियों के घर चोर पड़े, (तो) उन का कुछ नुकसान नहीं हुआ, दूसरों का नुकसान हुआ।

ध्रुक ध्रुक मोई, पेक्ये न अपड़ी ।
दौड़ दौड़ मरी, मायके न पहुँची ।

न कावल दी खट्टी, न चौके दी मीत ।
[मीत = मितव्यय]
न काबुल की कमाई, न चौके का मितव्यय । काबुल की कमाई से उतनी बचत नहीं हो सकती, जितनी रसोई की किफ़ायत से ।

न कोह्वण दी न ड॒ोह्वण दी ।
न मार कर मांस बनाने लायक, न दुहने लायक । किसी काम की नहीं ।

नक-कन्न-कप्प्या, ते शरम साईं रख्या ।
नाक-कान-कटा हुआ, और लाज भगवान् ने रखी । बिलकुल निर्लज्ज ।

नक न नासां, पलंगां ते चढ़ ब॒ासां ।
नाक है न नथुने हैं, पलंगों पर चढ़ बैठूँगी । अत्यन्त कुरूप होते हुए भी शाही ठाठों में रहती है ।

नंगी धासी, के निचड़ेसी ?
नंगी नहायगी, क्या निचोड़ेगी ? जिस के पास कुछ न हो, वह किसी को देगा कहाँ से ?

नचदी टपदी रह ग॒ुई, काई भुल बन्दी कूं पै ग॒ुई ।
[बन्दी = बन्दा का स्त्रीलिङ्ग]
नाचती कूदती रह गई, बन्दी को कोई भूल पड़ गई । सब तैयारियाँ यों ही पड़ी रह गईं ।

नच्च न ज॒ाणां, वेड़े ड॒ोः ।
नाच न जानूं आँगन को दोष ।

न ठड्ढे सुख, न तत्ते सुख ।
न ठंडे में सुख, न गरम में सुख ।

नदी-नाव-संजोगां दे मेले होंदेन ।
नदी-नाव-संयोगों के (की तरह) मेल होते हैं ।

न परन्ये हासें न जँञ ढुक्ये हासें ।
[जँञ = बरात; जँञ ढुक्कण = बरात ले जाना]
न (हम) व्याहे थे न बरात ले गए थे । हमारे लिएं यह बात अपूर्व है ।

नवी कुड़ी, नउँ ड॒िहाड़े ।
नयी दुलहिन, नौ दिन (तक) ।

न सराः न सराः, मतां निंदावणी पोवी ।

मत सराह मत सराह; ऐसा न हो कि (फिर) निन्दा करनी पड़े ।

नानी मुणस कीता, चट्टी ड̱ोत्र्यां कूं पई ।

[मुणस = मनुष्य, जार]

नानी ने (दूसरा) मर्द किया, घाटा दोहतों को पड़ा । ननसाल से मिलना वन्द हो गया ।

नाले ड̱ू ड̱ू नाले चोपड़्यां ।

साथ ही दो दो साथ ही चुपड़ी हुईं ।—चुपड़ी और दो दो ।—अनुचित माँग ।

नां-चढ़्या वपारी खट्ट खावे, नां-चढ़्या चोर फाए ड̱िच्चे ।

[नां = नाम; नां-चढ़्या = नामी]

नामी व्यापारी कमा खावे, नामी चोर फाँसी चढ़े ।

नां तैड̱ा घिरां मैड̱ा ।

नाम तेरा, ग्रास मेरा । खाये एक, नाम दूसरे का लगे ।

निकम्मा किराड़ ते वहिआं फोले ।

निकम्मा किराड़ वहियाँ उलटता पलटता है ।

निकलदे दे घरूं ब̱ोरा, ते वड़दे दे घर भोरा ।

[भोरा = छोटा सा टुकड़ा]

निकलते के घर से बोरा, और घुसते के घर टुकड़ा । बाँटने वाले के घर से बोरा निकला, पाने वाले को टुकड़ा मिला । बहुत आदमियों में बाटे तो ढेरों चीज़ थोड़ी थोड़ी आएगी ।

निक्का निक्का कम्म, त्रुट मोई रन्न ।

छोटा छोटा काम, लुगाई टूट मरी । फुटकर काम छोटा छोटा भी जान ले लेता है ।

निमाज़ां बख़्शावण ग̱ुई हाई, रोज़े ग̱ल पा आई ।

[बख़्शावण = माफ़ करवाना]

निमाज़ें छुड़वाने गई थी, रोज़े गले डलवा आई ।

नियत खोटी वहाने ढेर ।

स्पष्ट ।

नीम हकीम ख़तरा जान, नीम मुल्लां ख़तरा इमान ।

[मुल्लां = मुल्ला; इमान = ईमान]

स्पष्ट ।

नूरपुर द्यां गाईं, उत्ते चोर ते उत्ते साईं ।

[नूरपुर = कांगड़ा ज़िले में एक बस्ती, लक्षणा से कोई भी अन्य स्थान]

नूरपुर की गौएँ, वही चोर और वही साईं । नूरपुर में चोर और मालिक का फ़रक नहीं होता—बड़े बड़े आदमी भी चोरी करते हैं ।

नेकी बरबाद, गुनां बाकी ।

नेकी बरबाद, गुनाह बाकी । किसी का जो भला करोगे उसे वह भुला देगा, जो बुरा करोगे याद रक्खेगा ।

पक्खा घिन के अन्दर वड़िए, सव्वड़ घिन के बै॒र निकल्लिए ।

(असौज कातिक में रात को सोने के लिए) पंखा ले कर अन्दर घुसिए; (चैत वैसाख में) रजाई ले कर बाहर निकलिए । असौज-कातिक में ओस में सोना बहुत बुरा है; चैत-वैसाख में अन्दर की बन्द हवा में सोना बुरा है ।

पँचां दा आख्या सिर मत्थे, परनाला उथाईं दा उथाईं ।

पंचों का कहा सिर माथे, पनाला वहीं का वहीं । मुँह से तो मान लेना, अमल में न लाना ।

पट्या पहाड़ निखत्था चुआ, उवो ई मोया ओया ।

खोदा पहाड़ निकला चूहा, वह भी मरा हुआ ।

पड्ड॒ल नूं चङ्गी, खोसल नूं मन्दी ।

[खोसल = चरखा कातते समय तार तोड़ तोड़ फेंकने वाली]

पादने वाली बहू भली, पर खोसल (सूत विगाड़ने वाली) बहु बुरी ।

बूढ़ी औरतों की दृष्टि में कातते समय रूई की रत्ती भी न खराब होनी चाहिए ।

पढ़न वाले दा टोपा, सुणन वाले दी पाई;
ढेरी उन्नां दी जिन्नां तन नाल लाई ।

[टोपा = मापने का एक बर्तन जिस में प्रायः चार सेर अनाज समाता है; पाई = १६ सेर अनाज का बर्तन]

पढ़ने वाले का टोपा, सुनने वाले की पाई; ढेरी उन की जिन्हों ने चित्त से लगाई । सुनने वाले को पढ़ने वाले से चौगुना फल मिलता है और अमल करने वाले को उस से भी कई गुना ।

परडे॒स दी सारी कोलूं घर दी खन्नी चङ्गी है ।

परदेस की सारी (साबुत) से घर की आधी अच्छी है ।

पर मोया ज॒ट्ट, बै॒ठा कबर पट्ट ।

पार साल जाट मरा, (और अब उस का तू साथी) कब्र खोद बैठा । मुद्दतों की बीती बात छेड़ता है ।

पराई आस कुन्नें दी वास ।

पराई आशा तो देगची की बास (मात्र) है (जिस से पेट नहीं भरता) ।

पराई मंझ दा चड्ड̱ा वड्ड̱ा ड̱िसदे ।

[चड्ड̱ा=थनों का उपरला भाग जिस में दूध भरा रहता है]

पराई भैंस सा चड्ड̱ा वड़ा दीखता है ।

पराया ग̱ाणां पा, ते अद्धा हाल वंञा ।

पराया गहना पहन, तो आधा हाल गँवा ।—खोने टूटने का अँदेसा वरावर लगा रहता है जो कि आधा खो देने के वरावर है ।

पराया मोया ते ड̱ुँणीं खाधा ।

पराया मरा तो डाँइनों ने खाया ।—हमें क्या ?

पराये घर उठ मोया नईं लभदा ।

पराये घर मरा ऊँट भी नहीं मिलता ।—क्योंकि अपने घर की तरह वहाँ स्वतन्त्रता से खोजा नहीं जा सकता ।

परूँ दे रोः सुहावणे लगदेन ।

[रोः=पहाड़]

दूर के पहाड़ सुहावने लगते हैं ।

पहाज मक्खण दी ई नईं सिवांदी ।

[पहाज=सौत; सिवांदी=सही जाती]

सौत मक्खन की (बनी हो तो) भी नहीं सही जाती ।

पाए आवणीं पुत्र ज̱ावणीं दी हिको मन पकेसां ।

[ज̱ावणीं=पैदा होना; मन=मीठा मोटा रोट जो उपलों पर पकाया जाता है और त्योहारों, उत्सवों पर खाया जाता है]

पति आने और पुत्र पैदा होने का एक ही मन पकाऊँगी ।

पाणी हमेशां झिक्की झा खड़ोंदे ।

पानी हमेशा नीची जगह ठहरता है ।

पिउ कोल मैं अग̱े ज̱ाई, ड̱ाड̱े दा ग̱ुड़ खा के ।
तमाशा ड̱ेखण मैं गई पड़ड̱ाड̱ा कुच्छड़ चा के ।
बाप से मैं पहले जन्मी, दादा का गुड़ खा कर ।
तमाशा देखने मैं गई, परदादा बग़ल में उठा कर । छोटे मुँह वड़ी वात ।

पुछदा कावल तें कन्धार वञ वड़दे ।

पूछता पूछता कावुल और कन्धार जा पहुँचता है ।

पुत्र कपुत्र तां क्या धन जोड़े ? पुत्र सपुत्र तां क्या धन लोड़े ?

पूत कपूत है तो काहे धन जोड़े ? पूत सुपूत है तो धन काहे चाहिए ?

पुत्र कपुत्र ब॒न्धण्यों सुञापदेन।

पूत कपूत बन्धणे में (शैशव में) पहिचाने जाते हैं।

पुत्रां कोलूं पोत्रे वध वैंदेन।

पुत्रों से पोते बढ़ जाते हैं। मूल से व्याज बढ़ जाता है।

पेकी भुक्ख इचूं धी निकल वैंदी ए, सावरी भुक्ख इचूं नईं निकलदी।

[भुक्ख=ग़रीबी; सावरी=ससुराल की]

बेटी मायके की ग़रीबी में से निकल जाती है, (पर) ससुराल की ग़रीबी में से नहीं निकल सकती।

पेके न सावरे वु॒ड मोई नानावरे।

न मायके न ससुराल, डूब मरी ननियांससुराल। न इधर के रहे, न उधर के रहे।

पेट ई आपणा ए ते कत्त ई आपणा ए।

पेट भी अपना है और छुरी भी अपनी है। अमुक का चरित्र तो निन्द्य है, पर क्या करें अपना ही आदमी है!

पेट न पिआं रोटिआं ते सब्भे ग॒ल्लां खोटिआं;
पेट न पिआ ताम ते याद न आया राम।

[ताम=खाने की ठोस चीज़]

पेट न पड़ी रोटियाँ, तो सभी बातें खोटी।

पेट न पड़ा खाना, तो याद न आया राम।

पेरां दे ब॒ेर होंदेन।

पैरों के बेर होते हैं। परिश्रम से मीठा फल मिलता है।

पैला सुआ, तां क्या हुआ? डू॒झा सुआ भिट्टी दी न्याईं।

[भिट्टण=अशुचि होना, छूने लायक न रहना; भिट्टी=मासिक-धर्म]

पहला प्रसव, तो क्या हुआ? दूसरा प्रसव मासिक धर्म की न्याईं। स्वस्थ स्त्री को पहले प्रसव को तो कुछ अनुभव ही न करना चाहिए और दूसरे का भी कष्ट मासिक धर्म से अधिक न मानना चाहिए।

पैली कूं पिछली नईं मिलदी।

पहली को बाद की नहीं मिलती। पीछे अपनाई हुई दुलहिन अथवा नौकर चाकर पहले वाले की बराबरी नहीं कर सकता।

पैले ड॒ीं मिज़मान, डू॒झे ड॒ीं बईमान।

पहले दिन मेहमान दूसरे दिन बेइमान। अधिक दिन मेहमान न बने रहना चाहिए।

पैसा डि॒त्ता रोक, खल्ला मारया ठोक।

पैसा नकद दिया और जूता ठोक मारा। नकद दाम देने वाला माल ठोक-बजा कर ले सकता है।

फ़ज्जर ग॒ई निमाशां आई।
सवेरे गई सन्ध्या (को) आई।

फुल दी बो कशबो बाग़ तोड़ी वैसी, बन्दे दी नेकी बदी दिल्ली कश्मीर तोड़ी वैसी।
फूल की दुर्गन्धि सुगन्धि बाग तक जाएगी, आदमी की नेकी बदी दिल्ली कश्मीर तक जायगी।

फुल नाई ड॒ेंदी मांगवां, ते ड॒ित्ता बाग लुटा।
[मांगवां = उधार मांगा गया]

उधार माँगा फूल नहीं देती थी, और बाग लुटा दिया। जीते जी रत्ती भर चीज़ किसी को न दी, मरने पर सर्वस्व दूसरों के हाथ चला गया।

ब॒उं गुलामी जुग॒ा चौड़।

बहुत (बहुतों की) गुलामी में घर चौपट। जहाँ बहुतों के हाथ में प्रवन्ध हो वहाँ व्यवस्था नहीं रहती।

ब॒उं पिआर ते ब॒उं ख़ुआर।
बहुत प्यार तो बहुत ख़्वार (बिगाड़)।

ब॒करी खीर ड॒ेसी मेङणे घत के।
बकरी दूध देगी मेंगनियाँ डाल के। काम कर भी दिया तो बहुत कहने सुनने पर और बुरे ढंग से।

बख़्त छित्ता कुत्ता हे, जैंदे पिच्छूं लग वंञे!
भाग्य पागल कुत्ता है, जिस के पीछे पड़ जाए!

बग्गे मूल न थींदे काले, भांवें मल वावेन मुकाले।
गोरे हर्गिज़ काले नहीं होते, भले ही मुँह पर कालख मल बैठें।

बणी बणाई, ते ब॒ुध उवा आई।
बनी बनाई, और बुद्धि वही आई। जो होनहार होता है वैसी ही अक़्ल हो जाती है।

ब॒त्त्री चुए खा, ते राणी हज्ज कूं चली!
बत्तीस चूहे खा कर रानी हज को चली है!

ब॒त्त्री ड॒न्द नईं ब॒त्त्री कात्यां हेन।
बत्तीस दाँत नहीं हैं बत्तीस छुरियाँ हैं। सोच समझ कर मुँह खोलना चाहिए।

बन्दा खुट वैंदे, धन्धा नईं खुटदा।
बन्दा ख़तम हो जाता है, धन्दा ख़तम नहीं होता।

बन्दे दे पिच्छूं बन्दा, बन्दे दा अक्कल अन्धा।

बन्दे के पीछे बन्दा, बन्दे का अक़ल अन्धा। किसी आदमी के पीछे सब लोग पड़ जाँय---सभी उसे बुरा कहने लगें—तो वह घबरा कर अन्धा सा हो जाता है।

बाल ग़मटाल हेंदेन।

बच्चे ग़म टालने वाले होते हैं।

बाल हथ दी कड़छी होंदेन।

बच्चे हाथ की कड़छी होते हैं। बच्चों से काम-काज में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

बालां दा कम अमूंगड़ा होंदे।

[अमूंगड़ा = मुफ़ का]

बच्चों का काम मुफ़्त का होता है।

बाबा टल, पकी पकाई घल।

[बाबा टल = एक पंजाबी सन्त जिन के नाम का लंगर अमृतसर के गुरुद्वारे में है]

हे बाबा टल, पकी पकाई भेज। जो आदमी चाहे कि मेहनत कुछ न करनी पड़े और काम तैयार मिल जाए, उस पर व्यंग्य।

बिल्ली कुत्ता खावे, मनुक्खां अर्थ न आवे।

बिल्ली कुत्ता खा जाय पर मनुष्यों के काम न आवे। जहाँ अव्यवस्था से चीज़ ज़ाया हो, उस पर उक्ति।

बिल्ली कूं ख़ाब छिछड़यां दा।

बिल्ली को छीछड़ों का ख़्वाब। अपने मतलब की बात का ही ध्यान रखना।

बिल्ली शींह पढ़ाया, शींह् बिल्ली कूं खावण आया।

बिल्ली ने सिंह पढ़ाया, सिंह बिल्ली को खाने आया। गुरुद्रोह।

बिशर्मां द्यां दूर बलाईं।

बेशर्मों की बलायें दूर (हो जाती हैं)। एकां लज्जां परित्यज्य त्रिलोक-विजयी भवेत्।

बुड्ढा घिउ पीवे, ते जुआन न थीवे।

बूढ़ा घी पीवे, तो (भी) जवान न होवे।

बुद्धू दी नूं, सुँञ दे पासे मूं।

[बुद्धू = किसी का नाम। सुंञ = शून्य]

बुद्धू की पतोहू, उजाड़ जंगल की ओर मुँह। आदमियों से मिलना जुलना पसंद न करने वाले पर अन्योक्ति।

बू॒टे बू॒टे लग्ग॒ी भा, मैं निम्मीं लाई, लाई एई ख़ुदा ।

पौदे पौदे लगी आग, मैंने नहीं लगाई, ख़ुदा ने लगाई है । वुराई कर के कहना कि परमात्मा की करनी है ।

वु॒ड़ी डि॒ठ्य` पेर डिं॒गे होंदेन ।

नाव देख कर पैर टेढ़े पड़ते हैं । वाहन सामने रहने पर पैदल नहीं चला जाता ।

वे॒र सुणींदा लक्ख दा, अन्दर त्रै पा अट्टा पकदा ।

वाहर लाख का सुना जाता (है), अन्दर तीन पाव आटा पकता है ।

भट्ट भठ्यारी भाटिआ, त्रइये कुपत्ती ज़ात ।

भाट भटियारी भाटिया, तीनों वुरी जात हैं ।

भट्ठ सूनां जेरा कंन त्रोड़े, भट्ठ मूरख` जेरा रंन छोड़े ।

धिक्कार उस सोने को जो कान तोड़े, धिक्कार उस मूर्ख को जो वहू छोड़े ।

भाजी दी भाज॒ी, ते कीं मुथाजी ?

भाजी (के वदले) की भाजी, तो क्या मुहताजी ?

भा दी सड़ी, टिंडाणे कोल डु॒री ।

आग की जली, जुगनू से डरी ।

भांदे दा मैकूं सब्भो कुछ भांदा, न भांदे दा कुझ न भांदा ।

भाने वाले का मुझे सव कुछ भाता (है), न भाने वाले का कुछ नहीं भाता ।

भावें आपणी कन्ध ढै पोवे, तां वी पराई मंझ ज़रूर मरे ।

भले ही अपनी दीवार गिर पड़े, तो भी पराई भैंस ज़रूर मरे ।

भिण्ड्यां तूर्यां, कईं न कीत्यां पूर्यां ।
[भिण्डी तूरी = भिण्डी]

भिण्डियाँ किसी ने पूरी न कीं । भिण्डी की तरकारी से कभी पूरा नहीं पड़ता, क्योंकि वह वहुत सूख जाती है ।

भींण दे घर भाई, ओ वी कुत्ता, सौरे घर जँवाई ओ वी कुत्ता ।

वहन के घर भाई वह भी कुत्ता, ससुर के घर जमाई वह भी कुत्ता ।

भुख सुख हे ।

भूख सुख है । भूख लगना स्वास्थ्य की निशानी है ।

भुन्ना तां रुन्ना होंदे ।

भुरता तो रोया (हुआ) होता है । सिकुड़ जाने के कारण वहुत थोड़ा वनता है ।

भैड़ा जी न धुप्प साह्वे न सी ।

जी वुरा (है) न धूप सहता है न शीत । किसी अवस्था में सन्तुष्ट नहीं रहता ।

भैड़े दी पतशाई, मंगो मीं ते घुल्ले झाई ।
[मीं = मेंह]
बुरे की बादशाही, माँगो मेंह तो चल पड़ता है अन्धड़ ।

मक्खन खांत्रें कईं दे ड॒न्द घसदे्न ?
मक्खन खाते किसी के दाँत घिसते हैं ?

मक्खणां दी पल्ली, टुकरां दी ग॒ल्ली ।
मक्खनों पर पली, (रोटी के) टुकड़ों से दुबला गई ।

मक्खी खाध्यें नां मरे, ते मलमला मर जा ।
मक्खी खाने से नहीं मरता, पर (उस की) मतली (से) मर जाता है । वहम बुरी चीज़ है ।

मखट्टू पुत्र ते खोटा पैसा, औखे वेले कम आँदे्न ।
निखट्टू बेटा और खोटा पैसा, कठिन समय काम आते हैं ।

मच्छी संदे पूगड़े, जमत्रों पए तरेन ।
[संदे = संग-दे, साथ के; पूंगड़ा = जानवर का बच्चा]
मछली के बच्चे पैदा होते ही तैर रहे होते हैं ।

मत्तीं ड॒ंदी बिन्नां कूं, ते लुड़दी वैंदी आप ।
मत देती है दूसरों को, और आप बहती जाती है ।
मत्तीं ड॒ेवेन भींण भाई, मन कूं न लग्गे काई ।
सीख देवें बहन भाई, (पर) मन को कुछ नहीं लगता । किसी भी हितैपी के उपदेश का असर नहीं होता ।

मत्रेई, अल्ला मरेई ! बावे मैंडे लिक्खी;
पेड़ा घड़ें फीती जेडा ताड़ी मारें तिक्खी;
बावे कूं जो आंदा डेखें टिक्की डेवें तिक्खी ।
[फीती = करीब पैसे जितना लकड़ी का एक गोल छोटा सा टुकड़ा]
हे सौतेली माँ, तुझ पर ईश्वर की मार पड़े ! तू मेरे बाप की लिखी है (मेरे बाप ने तुझे मेरे भाग्य में लिख दिया है); तू फ़ीती जितना पेड़ा बनाती है, पर तीखी (ज़ोर की) ताली बजाती है (पेड़ा ज़ोर से थपकाती है जिस से मालूम हो कि भारी रोटी बना रही है) । बाप को जो (तू)आता देखे तो रोटी बड़ी जल्दी देती है (ताकि छोटी रोटी बना के देने की बात बाप को मालूम न हो) ।

मनभवन्दा खाइये ते ज॒ण-भवन्दा हंडाइये ।
मन-भाता खाइये और जन-भाता पहरिये ओढ़िये ।

मन मंगे पतशाइयां, मैं कित्थूँ नित्त कढां ?

मन माँगता है बादशाहियाँ, मैं कहाँ से नित-नित निकालूँ ?

मन हरामी ते हुज्जतां ढेर।

मन हरामी है तो हुज्जतें बहुत हैं।

ममणां ममणां, हिक खा ते विश्रा समणां।

[ममणां ममणां—निरर्थक तुकबन्दी]।

एक खाना श्रौर दूसरा सोना।

मम्मोदाणां, कुज्झ न जाणां।

(मैं तो) भोली-भाली (हूँ) कुछ नहीं जानती। श्रनजानपन का ढोंग करने वाले पर उक्ति।

मर न जी, हलाक पई थी।

[हलाक = श्रत्यन्त दुःखी]

न मर (श्रौर) न जी, श्रत्यन्त दुःखी होती रह। जिस श्रादमी को न मरने दिया जाय न जीने दिया जाए—काम करने की स्वतंत्रता भी न दी जाय श्रौर काम के लिए ज़िम्मेदार भी ठहराया जाय—वह श्रत्यन्त दुःखी रहता है।

मरन्यों मुंग, ते परन्यों सीरा।

[सीरा = हलुश्रा]

मरने से मूँग श्रौर शादी से हलुश्रा। किसी के मरने पर सिर्फ़ मूँग ले लेने से मतलब, श्रौर किसी की शादी पर सिर्फ़ हलुए से।

मर्द दी कण्ढ गुड़ दी हे ते मूं लोहे दा।

मर्द की पीठ गुड़ की है श्रौर मुँह लोहे का।—पुरुष मुँह से कड़ुए पर श्रन्दर से हितैषी होते हैं।

मर्दां दा खट्या खा, डिट्ठा न खा।

मर्दों का कमाया खा, (पर) देखा न खा। स्त्री को पुरुष की कमाई खर्चने को मिलनी चाहिए पर खर्च का हिसाब उस से न माँगा जाना चाहिए।

मर्दां दी पट्ट दी गुंढ होंदी हे।

मर्दों की रेशम की गाँठ होती है। मर्द श्रपने दिल में पक्की गाँठ बाँधते हैं।

मलूक बणन साखड़ा ते गड्डर बणन श्राखड़ा।

श्राराम-तलब बनना सहल (है) श्रौर मोटे रहन-सहन वाला बनना कठिन है।

मांह् सिआला आएड़ा द़र द़र बलदीआं भाईं। हर कईं द़ा अन्त लधोसें कोई कईं द़ा नाईं।

[मांह् = मास, लधोसें = हम ने पाया]

जाड़े का मास आया, दर दर आगें जलती हैं। हर एक का अन्त पाया, कोई किसी का नहीं।

मा कड्ढे धी खावे, घर द़ी बला घर इच राह्वे।

माँ निकाले (दान का संकल्प करे) बेटी खावे, घर की बला घर में रहे।

मा कोलूं धी सिआणी, रिद्धे-पक्के पाए पाणीं।

माँ से बेटी सयानी, रँधे-पके में पानी डाले।—है तो ऐसी लायक कि रंधे-पके में पानी डाल देती है और बनती है माँ से भी सयानी।

मा ॼणेंद़ी सत पुत्र, वख़्त न ॾेंद़ीं वंड।

माँ सात बेटे पैदा करती है, पर भाग्य नहीं बाँट देती।

मा जिआं मासी, कन्ध ऐरे ते आसी।

[कन्ध = स्कन्ध, दीवार]

माँ जैसी मौसी, दीवार नींव के अनुसार आएगी।

माजू द़ी मज्याणी, रातीं परनी ॾिआं चुधर्याणी।

दुहाजू की दूसरी बहू, रात को ब्याही दिन को चौधराइन।

माणक मोती नैं वहें, मिले पिरारबध।

[नैं = नदी]

नदी में माणक मोती बहते हैं पर मिलती है प्रारब्ध।

मा द़ा हां पट्ट, ते ॿाल द़ा हां भट्ठ।

माँ का जी रेशम, पर संतान के जी को धिक्कार।

मा दे़ लेखे पुत्र वड्ॾा पिआ थींदे़, ईं न ॼाणा ॾीं पए खुटदे़न।

माँ की समझ में बेटा बड़ा हो रहा है, यह नहीं जानती कि दिन (उम्र के) घट रहे हैं।—ज्यों ज्यों दिन बीतते हैं जीवन-काल घटता जाता है।

मा धी आपो आप, भुआ भत्रीजी हिको साथ।

[आपो आप = अपनी अपनी जगह पर]

माँ बेटी अलग अलग (होती हैं), पर बुआ भतीजी एक ही साथ की।—बुआ भतीजी का रूप स्वभाव आदि बहुत बार एक-सा होता है।

मा धी न करे, धी हंग हंग घघरे भरे।

माँ (तो उसे) बेटी नहीं बनाती, (पर) बेटी हग हग (माँ के) लहँगे भरे। एक पक्ष की नितान्त उपेक्षा, दूसरे पक्ष का स्नेहाधिक्य।

मा न पावे गा॒खड़ी, धी दी गि॒च्ची आकड़ी।

[गा॒खड़ी = उपलों पर पकी मोटी रोटी]

माँ टिक्कड़ न पावे, (पर) बेटी की गर्दन अकड़ी हुई है।

मा न भींण, कौन करे वींण ?

[वींण = मरने का विलाप]

(न) माँ है न बहन, कौन विलाप करे ?

मा पिन्ने, पुत्र घोड़े घिन्ने !

माँ भीख माँगे, बेटा घोड़े लेवे (खरीदे) !

मा भठ्यारी पुत्र तिल्लेदारी !

[तिल्ला = कलाबत्तू; तिल्लेदारी = बढ़िया बढ़िया पोशाकें पहनने वाला]

माँ भटियारन बेटा राजकीय-वेषधारी !

माया जग॒ विरमाया हे।

माया ने जगत् को भरमाया है।

मारण आले दा हथ नप्पा वैंदे, अलावण आले दा मूं नईं नप्पा वैंदा।

[नप्पण = पकड़ना, अलावण = आलपन]

मारने वाले का हाथ पकड़ा जाता है, (पर) बोलने वाले (बुरा भला कहने वाले) का मुँह नहीं पकड़ा (रोका) जाता।

मार न कुट्ट, आन्द्र च घुट्ट।

[आन्द्र = अन्तस्तल, प्राण]

(न) मार न पीट, और दम घोंट दे। मर्म-वेदना पहुँचाना।

मारे मा, न मारण डे॒।

माँ (ख़ुद भले ही) पीट ले, पीटने नहीं देती।

मिज़मान आया, भगवान आया।

मेहमान आया, (मानो) भगवान् आया।

मित्रां नाल करेंदे ठगिआं, थींदे जनम कसाई।

जो (मित्रों) के साथ ठगी करते हैं (अगले) जन्म (में) कसाई होते हैं।

मिआं करे निका निका, बीबी डेवे हिको धिका।
मियाँ करे छोटा छोटा, बीबी दे (डाले) एक ही धक्का। मियाँ तो थोड़ा थोड़ा कर के जोड़ता है, बीबी उसे एकबारगी उजाड़ डालती है।

मिआं घर नई, बीबी कूं डर नई।
मियाँ घर नहीं, बीबी को डर नहीं।

मिआं बीबी राजी तां कीं ए मुथाजी ?
मियाँ बीबी राज़ी तो (किसी दूसरे की) मोहताजी क्या है ?

मुट्ठी रन्न सवादां दी, ते रक्खे आइतवार।
लुगाई स्वादों की मारी है, और आदित्यवार (व्रत) रखती है। बहुत लोग आदित्यवार को व्रत रखते हैं, और उस में नमक नहीं खाते; कोई स्वादों की मारी मीठा खाने के लिए ही व्रत करती है।

मुड़दा न बोले तां न बोले, बोले तां ख़फ़न ओड़े।
मुर्दा न बोले तो न बोले, बोले तो कफ़न तोड़े। सदा चुप रहने वाला कभी कभी बड़ी चुभने वाली बात कहता है।

मुल्लां गए, मुहावे चुके।
मुल्ला गए, स्नेहकथा समाप्त। मुँह के सामने ही ख़ैरख़्वाही थी।

मुल्लां हर कई कूं थुके, मुल्लां कूं कोई न थुके।
मुल्ला हर किसी को थूके, मुल्ला को कोई न थूके। दूसरे को तो कह सुन लेना, पर ख़ुद किसी की न सहना।

मूं खांदे, अक्खीं शरमान्थेन।
मुँह खाता है, आँखें शरमाती हैं।

मूं दी मिट्ठी, तन दी खोटी।
मुँह की मीठी, भीतर से खोटी।

मूं न मत्था, जिन पिटेंदा लत्था।
मुँह है न माथा, (रोता-) पीटता जिन उतर आया है। गुसैल घृणास्पद चेहरा।

मूरख दा हासा, थी पिआ विणासा।
मूर्ख की हँसी, और विनाश (वैमनस्य) हो पड़ा।

मूरख दा हासा मरोड़ भन्ने पासा।
[पासा = पार्श्व]
मूर्ख की हँसी पहलू मरोड़ (कर) तोड़ डाले।

मूल कोलूं विहाज पिश्रारा होंदे ।

मूल से व्याज प्यारा होता है ।

मैं चङ्ङां के मैडा भाई ? श्रो मिट्टी ते श्रो छाई ।

मैं अच्छा कि मेरा भाई ? वह मिट्टी और वह धूल ।

मैडा नां जिन, न डे न घिन ।

मेरा नाम जिन (है), न दे न ले । रूखा सूखा व्यक्ति ।

मैं न पिन्नां, मैडा ठूठा पिन्ने ।

मैं भीख न मागूँ, मेरा खप्पर भीख माँगे । खुद न माँगना प्रत्युत किसी के द्वारा माँगना ।

मोत्यां दी परख सराफ़ां कोल होंदी हे ।

मोतियों की परख सराफ़ों के पास होती है ।

मोया नई ते आकड़या पए ।

मरा नहीं और अकड़ा पड़ा है । मार कर कहता है कि मरा नहीं, अकड़ा पड़ा है ।

मौत चमेटां मारिश्रां, ते चेता आया झा ।

मौत ने चपतें मारीं तो होश ठिकाने आये ।

रकेब्यां मुञ द्यां, वडायां सुञ द्यां ।

[सुञ = शून्य]

रकेबियाँ मूंज की हैं, बड़ाइयाँ (अभिमान) व्यर्थ की हैं ।

रज खाधे दी मार हे ।

अघा खाये की मार है । अघा कर खाना मिल गया, इसलिए नख़रेबाज़ी हो रही है ।

रन गई सिश्रापे, डुख रोवे आपे आपे ।

लुगाई स्यापे गई, आप से आप (अपने) दु:खों को रोवे । दु:ख की जगह जा कर अपने दु:खों की याद आप से आप आ जाती है ।

रंडुड़ गिश्रा कुड़माई, आपणी करे के पराई ?

[कुड़माई = सगाई]

रंडुआ (किसी की) सगाई के लिए गया, अपनी करे या पराई ?—रंडुए को पहले अपने लिए चाहिए, दूसरे की क्या करायेगा ?

रत्तें दी रंगावी, ते चिट्टें दी धुवावी ।

[रत्ता = रक्त, रंगा हुआ]

रंगदार की रँगाई और सफ़ेद की धुलाई (बराबर पड़ जाती है) ।

रन्न विलल्ली कींवे ज̱ापे ? ग̱ाल करे ते खिल्ले आपे ।
पगली लुगाई कैसे जानी जाय ? बात करे और आप ही हँसे ।

रन्नां अत्तर-तालियां अत्तर ताल करेन ।
ड̱ौंघे विच्चूं कड्ढ के हथाले विच बुड़ेन ।
[अत्तर-तालियां = सत्तर चालें करने वाली, अत्यन्त धूर्त्त । डौंघा = गहरा । हथाला = जिस में हाथ लग जाय, उथला]
धूर्त्त लुगाइयाँ अनेक चालें चलती हैं, गहरे में से निकाल के उथले में डुबोती हैं ।

रन्नां रन्नां आखिए, रन्नां सन्दी वस्ती ।
वसदे जुग̱ चौड़ करेंद्यां, ड̱ुख रनां दी मस्ती ।
[सन्दी = घनी, भरी]
(उन्हें) लुगाइयां कहिए (अर्थात्, वे कहलाती तो हैं लुगाइयाँ), (वह) लुगाइयों की भरी बस्ती है । बसते घर (घराने) चौपट करती हैं, देख (तो) लुगाइयों की मस्ती ।

रब करे सबब ग़रीबां लोकां दे ।
[सबब = कारण, घटनाओं का अनुकूल बनाव]
भगवान् ग़रीब लोगों का रास्ता बना देता है ।

रब सूली दा कंडा कीतेस ।
भगवान् ने सूली का काँटा कर दिया है । जहाँ सूली लगने वाली थी, वहाँ भगवान् ने ऐसा कर दिया कि काँटा ही चुभ कर रह गया । बड़ी आपत्ति के बजाय थोड़ा सा कष्ट हुआ ।

राजे दी धी पाड़ पाड़ सी, निकम्मी मूल न थी ।'
राजा की बेटी फाड़ फाड़ सी, निकम्मी हर्गिज़ न हो । निकम्मी तो नहीं रहती, पर फ़िज़ूल काम करती है जिन से कुछ लाभ नहीं ।

राजे दे घर मोत्यां दा काल हे ।
राजा के घर मोतियों का अकाल है ।

रात आपणी तात हे ।
[तात = (सं०) तात]
रात अपनी तात है । आदमी का दिन का समय दूसरों के अधीन हो तो भी रात अपनी होती है ।

रीस कतींदे सुत्र, रीस न थींदे पुत्र ।
रीस से सूत काते जाते हैं, (पर) रीस से बेटे नहीं (पैदा) होते ।

रीसड़िआं घर वुट्टे, हूसड़िआं घर मुट्टे ।
रीस करने से घर बसे, ईर्ष्या करने से घर उजड़े ।

रुक्खी सुक्खी खा के ते ठड्ढा पाणी पी , नां ड̱ेख परायां चोपड़्चां, ते नां तरसावी जी।

रूखी सूखी खा कर ठंडा पानी पी। पराई चुपड़ी मत देख, ताकि जी न तरसे।

रुप्पा ग̱ुल्ले, सूनां पल्ले।

चाँदी (भले ही) गल जाय (बरबाद हो जाय), (पर) सोना पल जाय। रुपया-पैसा नष्ट कर भी आदमी को अपने स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए।

रूप ब̱ैठा डि̱ट्ठा हाई, ते बख़्त ब̱ैठा खाधा हाई।

रूप ने बैठे बैठे देखा था और भाग्य ने बैठे बैठे खाया था। दे० ऊपर—अक्ल ब̱ैठा०।

रोटी खाओ शक्कर नाल, दुनिआं मेलो मक्कर नाल।

[दुनिआं = संसार, धन]

रोटी शक्कर के साथ खाओ, मक्कारी के साथ धन जोड़ो।

लए शार दे टिक्कड़े कौन कइं दो̱ पट्टे ? फूका डि̱त्यें उड्ड ग̱ुए पंज सत्त कट्टे।

[लया = लइया नामक कस्बा जो सिन्ध नदी के बायें भक्खर से ४६ मील दक्खिन है; टिक्कड़ा = टिकड़ा = पतली पतली मीठी या फीकी मट्ठी। ठीक शब्द 'लइया' और 'टिकड़ा' है, पर यहां पद्य में 'लया' औ 'टिक्कड़ा' कर दिया गया है।]

लइया शहर की मट्ठियाँ, कौन किसी को भेजे ? (जो) फूँक देने से पाँच सात एक साथ ही उड़ गए।

लग्गी लग लड़ाई, शक्कर मैं विंडाई।

[लग—निरर्थक शब्द]

(अहा !) लड़ाई छिड़ गई, (तो) मैंने शकर बाँटी।

लल मरेंदी डिंगे, रब सिधिआं टोरे।

[लल = पगली सी बात; डिंगा = टेढ़ा]

उलटी सीधी हाँक देती है, भगवान सीधी चला देता है।

लाऊ भखाऊ झेड़े घताऊ।

[लाऊ = लगाने वाला, चुगलख़ोर]

चुगलख़ोर, बहकाने वाला, झगड़े डलवाने वाला।

लाल आए डु̱ब ग̱ुए, सुन्दक्के आए तर ग̱ुए। जिनां ते उमैंद नाई, ओ पर्वत चढ़ ग̱ुए।

लाल आए डूब गए, सीप आये तैर गए। जिन पर उमीद नहीं थी वे पर्वत चढ़ गए।

ला लग̱ा वुए ढिंगर।

[लावण = लगाना। ढिंगर = काँटों की बाड़]

(रुपया) लगा लगा कर (भी दरवाजे पर) काँटों की बाड़ ही रही। खर्च कर के भी चीज़ अच्छी न बनी।

लुच्चे खावेन लुचिआं, भलेमानस खावेन जुतिआँ।

लुच्चे लुचुइयाँ खावें, भलेमानस जूते खावें।

लुट्ट गुई खुट्ट, धुवाला कडी न सावा।
[धुवण = खींचना-खसोटना]

लूट चीण हो गई, खसोटने वाला कभी हरा नहीं होता। लूट का माल अपने पास बचने नहीं पाता।

लुड़दा खरबूज़ा पित्रीं दे नां।

बहता खरबूजा, पितरों के नाम। खरबूजा बहा जाता था तो उसे पितरों के नाम संकल्प कर दिया—बचा-खुचा किसी को देना।

लेला गिदोसें उन कीते, हत्थूं चरे कपाः।

मेमना लिया ऊन के लिए, उलटा चरे कपास।

लोक कत्ते गैली वत्ते, लोक चाए गैली ढाए।

लोग कातें पगली घूमे, लोग उठाएँ (चर्खा) पगली बिछाए।

लोभ कूं सोभ काई नई।

लोभ को कोई यश नहीं।—लोभी को कभी यश नहीं मिल सकता।

लोहा लूंण कुटेंदिआं उमरा गुई विहा।

लोहा नमक कूटते उम्र बीत गई। सदा मुसीबतों में ज़िंदगी कटी।

वँञ धिआ रावी, न कोई वंञी न कोई आवी।

जा बेटी रावी, न कोई (तेरे पास) जाए न कोई आए। बेटी को दूर ब्याहना।

वट्टे सट्टे दी कुड़माई, गंजी गुई ते काणी आई।

अदले बदले की सगाई, गंजी गई तो कानी आई।

वड्डा वैरी कौन? सक्के पिउ दा पुत्र।

बड़ा वैरी कौन? सगे बाप का बेटा।

वड्डे घर दी अघरोड़ी नई अज़मावण दी।

बड़े घर की खुरचन (भी) अन्दाज करने की नहीं होती।

वड्यां इच वड्डी बरकत होंदी हे।

बड़ों में बड़ी बरकत होती है।

वड्यां दे मूं ते खल्यां दी पंचाई।
[पंचाई = पंच की हैसियत और अधिकार]

बड़ों के मुँह पर जूतों की पंचाई। बड़ों का पंच बनना जूते खाने के लिए ही होता है।

वधणी आई वधावण कूं, खीर खण्ड खवावण कूं।

हिचकी आई बढ़ाने को (और) दूध खाँड़ खिलाने को। छोटे बच्चे को हिचकी आना स्वास्थ्य का चिह्न है।

वल वल आप कूं, न माई कूं न ॿाव कूं।

फिर फिर (चाहे कुछ भी हो) अपने आप को, न माई को न बाप को।

अच्छे बुरे कर्मों का फल मनुष्य को अपने आप को मिलता है दूसरे किसी को नहीं।

वस्सल भनींदे तां वो उठद़ी हे।

[भन्नण = तोड़ना; भनीजण = तोड़ा जाना]

प्याज़ तोड़ा जाता है तो गन्ध उड़ती है। कोई बात खोले तभी फैलती है।

वांधे ॾांद कूं छमकां !

चलते बैल को साँटियाँ। अच्छा भला काम करते को फटकार बताना।

वांध्यां नद्यां थल करे, थलूं करे द्रिआ।

(ईश्वर की लीला) बहती नदियों को स्थल करती और स्थलों से दरिया कर देती है।

विसविस द़ी कुन्नीं सड़ी ओई होंद़ी हे।

[विसविस = वहम, खाने-पीने रहन-सहन आदि में नियमों का उचित से अधिक ध्यान रखना]

वहम की देगची जली हुई होती है। बहुत वहम करने से मनुष्य नष्ट हो जाता है।

वेला न कुवेला, ते ॿोके अन्धा छेला।

[ॿोकण = मिमियाना]

वख़्त वेवख़्त अन्धा वकरा मिमियावे।

वेला वन्दा साईं दा चोर हे।

निकम्मा आदमी ईश्वर का चोर है।

वेली जट्टी उन वेले।

निकम्मी जाटनी ऊन वेले।

वेले द़ी संध्या कुवेले द़ी निमाज़।

वख़्त की संध्या, वेवख़्त की निमाज़।

शक्करख़ोरयां कूं शक्कर मिल रांधी हें।

शक्करख़ोरों को शक्कर मिलती रहती है। जैसा ख़र्च करने की जिसे आदत हो, वैसी आय भी उसे हो ही जाती है।

शखी कोलूं शूम भला जेरा तुरत ॾेवे जवाव।

(वचन न निभाने वाले) उदार से (तो) सूम (ही) भला जो तुरत जवाब दे दे।

शख़ी शूम दा हिसाब बरोबर थी वैंदे।

उदार कंजूस का हिसाब बराबर हो जाता है।

शरम करे, भुक्ख मरे, घर दा करे ज़िआन।

(जो) शर्म करे (सो) भूख (से) मरे, घर का नुकसान करे।

शरम वाला अन्दर वड़या, विशरम आख्या मैं कोल डरया।

शर्म वाला अन्दर घुस गया (सामने मुकाबला कर तो सकता था परन्तु इज़्ज़त के ख़याल से हट गया), बेशर्म ने कहा, मुझ से डर गया।

शरीक दी कन्ध ढावे, भाँवे आप हेठ आ जावे।

शरीक की दीवार गिरे, भले ही ख़ुद नीचे दब जावे।

शिंहाँ दे मूं कैं धोतेन?

सिंहों के मुँह किस ने धोये हैं?

संग तलूं लत्था, जिआं लड्डू तिआं मट्ठा।

गले से नीचे उतरा, जैसा लड्डू वैसा रायता।

संग तारे, कुसंग बोड़े।

सत्संग तैराए, कुसंग डुबोए।

संग सुई, पेट खुई।

गला सूई, पेट कुँआ। दीखने में पतला दुबला, पर पूरा पेटू।

सच मरचां कूड़ गुड़, पीर पैसा रन्न गुर, जींवें आखी उवें टुर।

(तुच्छ आदमी के लिए) सत्य मिर्चें हैं, झूठ गुड़ है, पैसा पीर है, बहू गुरु है, जैसे कहे वैसे चल (चलता है)।

सजणां सिआवां दी फुल्लां दी अब्रो होंदी ए।

सज्जनों समधियों की फूलों जैसी आबरू होती है।

सट्ठी दा रज्जा।

छठी का तृप्त। सदा का तृप्त। ऐसा विश्वास है कि बच्चे की छठी के दिन माँ अघा कर खा ले तो बच्चा सदा तृप्त-स्वभाव होता है।

सठ सांधी हे पंझाः नई सांधी।

साठ सहती है पचास नहीं सहती। बहुत की हानि करना थोड़े को बचाना।

सड़्यें कूं पड़काठ्यां पिआं डित्यां।

[पड़काठी = (पड़ + काठी) मुर्दा अपने बराबर तौल की लकड़ी से यदि पूरी तरह न जले तब जो और लकड़ी उसे जलाने को डाली जाती है।]

जले को पड़काठियां पड़ीं दीं। मरे को मारना।

सदके मासी, घोले मासी, भणींजा रोटी घर वँञ खासी।

वारी जाय मौसी, बलिहारी जाय मौसी, भानजा रोटी घर जा खाएगा। खाली बातों से प्रेम दिखलाना।

सप्प ई मरे ते दिग्गा ई राहे।

साँप भी मरे और लट्ठ भी रहे।

सरफ़ा करे, पट हंडावे ते मैदा खावे।

किफ़ायत करे (करना चाहे) (तो) रेशम पहरे और मैदा खाए।

सव्वड़ डेख पेर त्रिघरींदेन।

[त्रिघरण = फैलना, त्रिघरावण = फैलाना, त्रिघरीजण = फैलाया जाना]

रजाई देख पैर पसारे जाते हैं।

सव्वड़ इचूं शींह निकल आए।

रजाई में से सिंह निकल आया है। एकाएक कोई भारी मुसीबत आ पड़ना।

सस न निनाण, वीवी आप परधान।

न सास न ननद, बीबी स्वयं प्रधान।

सस न सौरा, पाए ढीजी छोरा निदोरा।

न सास न ससुर, पति मिले (तुझे) निरा छोकरा। माँ बाप आदि बड़ा सिर पर न हो तो शिष्ट संतान नहीं होती।

सस विलेसी गल्लड़िआं, नूं विड़ेसी छल्लड़िआं।

[छल्लड़िआं = कुकड़ियां; वेड़न = लपेटना, विड़ेसी = लपेटेगी]

सास बातों में बहलाएगी, पतोहू कुकड़ियाँ खूब कातेगी।

सहज पके सो मीठा हो।

सहज पके सो मीठा होय।

साईं वद्दे हन कचावे चढ़्चे, उग़ाः वद्दे हन गोते खांदे।

[कचावा = ऊँट की कोहान पर रक्खा जाने वाला लकड़ी का चौकोर खटोला जिस के अन्दर दोनो तरफ़ बैठते हैं; उग़ाः = गवाह]

मालिक कचावे पर चढ़े फिरते थे, गवाह गोते खाते फिरते थे। मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त।

साईं वाले सदा निराले।

स्पष्ट है।

साग॒ ढोढा पच्छां ताईं, खिच्चड़ी डु॒पार ताईं,
सींविआं ड॒कार ताईं, भत्तड़ा निसत्तड़ा चौंके दी ब॒नाली ताईं।

[ढोढा = मिसरोटी। कविता में खिचड़ी' का 'खिच्चड़ी' रूप रक्खा है]

साग-रोटी रात तक, खिचड़ी दोपहर तक, सिवईं डकार तक, सारहीन भात रसोई की मुण्डेर तक।—रोटी खाने से रात तक तृप्ति रहती है, इत्यादि।

बाटी कहे मैं आऊँ जाऊँ, रोटी कहे मंज़िल पहुँचाऊँ,
दाल भात का ऐसा खाना, मेरे भरोसे कहीं न जाना।

साग॒ मथे दा भाग॒, डे॒वो पुत्रां कूं;
दाल मोई पिआर्यां नाल डे॒वो धीरीं कूं;
वड़ियां ग॒ल्हां-सड़िआं डे॒वो नेरीं कूं;

साग—माथे का भाग—पुत्रों को दो;
दाल—(अपने) प्यारों के साथ मोई—बेटियों को दो;
वड़ियां—गालें जलाने वाली—पतोहुओं को दो।

सांझी बा॒ब॒ न रोवे कोई।

साझे के बाप को कोई नहीं रोता।

साधां कूं के सवाधां नाल? सणे मलाई आवण डे॒।

साधुओं को स्वादों से क्या? मलाई से सना आने दो। किसी साधु से पूछा गया कि आप को मलाई हटा कर दूध दिया जाय या मलाई-समेत। उस ने बड़ा वैराग्य दिखलाते हुए उक्त उत्तर दिया।

साल दा त्रै-सौ-सठ डिहाड़ा है।

साल का तीन सौ साठ दिन है।

सावरा साग॒ मथे दा भाग॒, पेकी खट्ट बैठी तक।

ससुराल का साग माथे का भाग, मायके की खाट बैठी ताक। ससुराल में साग-पात खा कर रहना भी अच्छा, मायके में पलंगों पर बैठे रहना भी अच्छा नहीं।

साँवलिआं मनभावलिआं, गो॒री गो॒ए दा पिन्न।
सब्भे गो॒र्यां छोड़ के हिक्का सांवली घिन्न।

[पिन्न = पिण्ड]

साँवलियाँ मनमोहिनियाँ (होती हैं), गोरी गोबर का पिंड। सब गोरियाँ छोड़ कर एक ही साँवली ले।

सिआणा कां विठ ते ॿांदे ।

स्याना कौआ बीठ पर बैठता है । अमुक आदमी स्याना है तो क्यां, वह स्याने कौए की तरह है ।

सिकद्यां दी गंजी त्रोड़े पई मंजी ।

[सिकण = तरसना; मञ्जी = मञ्च, चारपाई]

(सन्तान के लिए) तरसने वालों की गंजी (बेटी अथवा बहू भी) चारपाई तोड़ती रहे । जिन्हें तरस तरस कर बहू अथवा बेटी मिली हो; उन के यहाँ वह अंगहीन होने पर भी आदर पाती है ।

सिकद्यें सिकद्यें रन लद्धी, सिर ते वदे पण्ड ॿद्धी ।

[पण्ड = गठरी, मोटरी]

तरसते तरसते बहू मिली, (उसे) सिर पर गठरी बाँधे (बना कर) फिरता है ।

सिर चिट्टा, अक्कल फिट्टा ।

सिर सफ़ेद, अकल बिगड़ा ।

सिर तूं लत्थी लोई, मैॾा के करेसी कोई ।

सिर से लोई उतर गई, (तो) मेरा कोई क्या करेगा ? निर्लज्ज का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता ।

सिर वॾे सरदारां दे, ढिढ वॾे शउकारां दे, पेर वॾे गँवारां दे ।

सिर बड़े सर्दारों के, पेट बड़े साहूकारों के, पैर बड़े गँवारों के ।

सिंसार ॾुमुई चुंआती हे ।

[चुंआती = अधजली लकड़ी जो काला कर दे]

संसार दुमुँही चुँआती है ।

सिंसारी कण्ड्यां दी वाड़ी हे ।

संसार काँटों की बाड़ है ।

सींग उवे जेरे थल ते गज्जेन, मा-पिउ उवे जेरे पड़दे कज्जेन ।

[थल = खुला मैदान]

समधी वही जो सरे-आम गरजें, माँ-बाप वही जो परदे ढकें (लाज रक्खें) । समधी प्राय: मुँहफट होते हैं, माँ-बाप सन्तान की लाज रखते हैं ।

सुई पा वड़देन, सलाई पा निकलदेन ।

सूई डाल कर घुसते हैं, सलाई डाल कर निकलते हैं । (नौकर चाकर) पहले दीन बन कर आते हैं, पीछे शोख बन कर निकलते हैं ।

सुक्खां कूं ढुंडेंदी हां, ॾुख न वारा ॾे ।

सुखों को ढूँढ़ती हूँ, (पर) दु:ख (सुख की) बारी नहीं (आने) देता ।

सुख्या खावे अन्न, डुख्या खावे धन्न ।

सुखी खावे अन्न, दुखी (बीमार) खावे धन ।

सुत्ती दा अट्टा खा गई कुत्ती ।

सोई (हुई) का आटा खा गई कुतिया । सदा जागरूक रहना चाहिए ।

सौरा आवे तां चरख़ा घूके, सस कैंदे अग्गूं कूके ?

[घूके = घू घू आवाज़ करे; कूके = चीखे]

ससुर आवे तो चरख़ा घूँ घूँ करे (तेज़ी से चले), सास किस के सामने शिकायत करे ?

सौं सिआणे मत हिक्का, सौं विलांगे गंढ हिक्का ।

सौ स्याने मत एक, सौ घुमाव गाँठ एक ।

हँगाई आई, मुत्राई गई ।

[हँगाई = हगना; मुत्राई = मूतना]

हगते आई, मूतते गई । जैसे वे दोनों क्रियायें साथ साथ होती हैं, उसी प्रकार झट आई और झट गई ।

हट्टी ते बावण नईं ढींदा, 'उड़दा उड़दा तोल' ।

दुकान पर बैठना नहीं मिलता, (कहते हैं)—'उड़ता उड़ता (ज़्यादा ज़्यादा) तोल' ।—दुकानदार के साथ उन का इतना लिहाज़-मुलाहज़ा नहीं है कि दुकान पर बैठना भी मिल सके, पर चाहते हैं कि दुकानदार उन्हें ज़्यादा तोल दे । हम उन्हें अपने घर घुसने भी नहीं देना चाहते, पर वे चाहते हैं हमारे घर आ कर खा भी जाँय ।

हत्थूं डिवीजे, ज़ामन न पुवीजे ।

[पोवण = पड़ना; पुवीजण = पड़ा जाना]

हाथ से (पल्ले से भले ही) दिया जाए, (किसी का) ज़ामिन न बना जाय ।

हथ कङ्ङण कूं आरी क्या ?

हाथ कङ्गन को आरसी क्या ?

हथ काना, शार दिवाना ।

[काना = सरकण्डा]

हाथ में मरकण्डा, शहर (भर में) दीवाना (हुआ फिरता है) । लड़का बगल में ढँढोरा शहर में ।

हथ न लग्गे तां वथ किथाईं टुर वैंदी हे ?

[वथ = वस्तु]

हाथ न लगे तो वस्तु कहीं चली (चल कर) जाती है ?

हथ न वैंदा, 'थू खट्टे हेन'।

हाथ पहुँचता नहीं, (कहते हैं) "थू खट्टे हैं"। अंगूर खट्टे हैं।

हथ पुराणे खोसड़े बसन्ते हुणां आएनी।

[खोसड़ा = फटा जूता; बसन्ते हुणां = बसन्ते जी]

हाथ में पुराने फटे जूते (लिये) बसन्ते साहब आए हैं।

हथ विच होवनी रोकड़े, सँवीं-संझ विआह।

[सँवीं-संझ = सांझ होते ही]

हाथ में नकद (पैसे) हों (तो) सांझ होते ही (जल्दी) ब्याह (हो सकता है)।

हरकत इच बरकत होंदी हे।

हरकत (गति) में बरकत होती है।

हाड़ दा ड̱ुम्भ, सावण दा अम्ब, भद्रचों दा अम्बरतफल।

[ड̱ुम्भ = खट्टा तीखा फल]

आषाढ़ का (आम) खट्टा तीखा फल, सावन का (आम) आम, भादों का (आम) अमृतफल।

हिक अखाईं, ड̱ूझा मूं ते!

एक (तो) कहूँ, (और) दूसरे मुँह पर!

हिक खान्दे नईं, हिक लांधे नईं।

एक खाते नहीं, एक पाते नहीं।

हिक चुप सौ सुख।

एक चुप सौ सुख।

हिक चोर, ड̱ूझा चतरा, त्रीझा शरम नईं कतरा।

एक चोर, दूसरे चतुर, तीसरे ज़रा भी शर्म नहीं।

हिक ड̱ीं हे ते ड̱ू पिछावें हेन।

एक दिन है और दो परछाइयाँ हैं। समय सदा एक सा नहीं रहता।

हिक थोक इच कड̱ाईं ड̱ू तलवारां मांवेन?

एक म्यान में कभी दो तलवारें समाती हैं?

हिक दर ब̱न्ने, सै दर छोड़े।

(भगवान्) एक द्वार बन्द करता है तो सौ द्वार खोल देता है।

हिक न आपणा, सभ्भे पराये।

एक अपना नहीं, सभी पराये हैं।

हिक न खट्टां, खावां चार ।
एक नहीं कमाऊँ, (और) खाऊँ चार ।

हिकनां दा तेल नईं ब॒लदा, हिकनां दा मुत्र ई ब॒लदे ।
[हिकनां दा = एकों का]
कइयों का तेल नहीं जलता, कइयों का मूत भी जलता है । अपनी अपनी किस्मत ।

हिक पन्थ ड॒ू कारिज ।
एक पन्थ दो काज ।

हिक पिनणां, ड॒ूझा हलवे दी ख़ैरत ।
एक (भीख) माँगना, दूसरे हलवे की ख़ैरात ।

हिक मच्छी गन्दी, जल सारा गन्दा ।
एक मछली गन्दी, जल सारा गन्दा ।

हिक मोए, व॒ए उग॒म्ये, कड॒ी न खुट्टे राँद ।
[उग॒मण = उद्‌गमन, गर्भ में पड़ना, राँद = खेल]
एक मरे, दूसरे गर्भ में पड़े, खेल कभी ख़तम न होवे ।

हिक हिक ड॒ू यारां, त्रै अठारां ।
एक एक दो ग्यारह, तीन अट्ठारह । एक और एक ग्यारह ।

हिके ईद बरात हिक्के ज़ुम्मेरात ।
या तो ईद बरात या जुमेरात । दोनों तरफ़ अति ।

हिक्के झा खड़ा पाणी ई त्रक वैंदे ।
एक ही जगह खड़ा (हुआ) पानी (भी) सड़ जाता है ।

हिक्के मोले कड॒ाईं चावल निकल्ये ?
[मोला = मूसल]
एक मूसल (मारने) से कभी चावल निकले ? किसी काम में सहसा सफलता नहीं मिलती ।

हीजड़चां दें घर पुत्र जम्या हाई, चुम चुम मार सव्या हानें !
हिजड़ों के घर पुत्र पैदा हुआ था, (उन्हों ने) चूम-चूम कर मार डाला था !

हुण ड॒ुद्धी थणें पोंदी हे ?
अब (क्या) दुही (गई) थनों में पड़ती है ? अब पछताए होत क्या, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत ?

होवणहार हो कर मिटे, सीता किउं वन भोग्ये ?
होनहार हो कर मिटती है, (अन्यथा) सीता ने क्यों बन भोगा ?

१०

वैयक्तिक

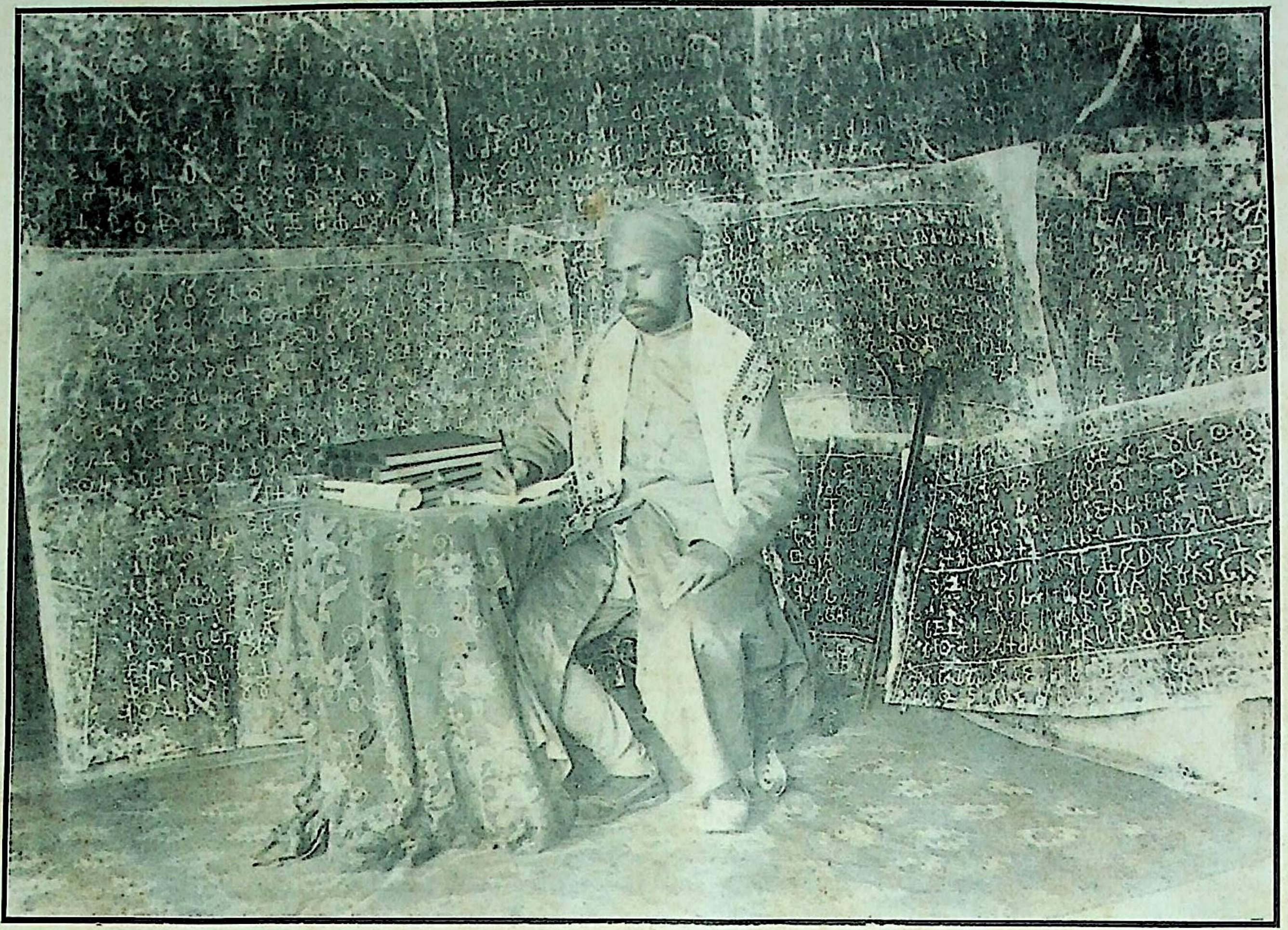

महामहोपाध्याय राय बहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

[ई० स० १८९८ में काठियावाड़ की यात्रा के समय जूनागढ़ में उतारा हुआ चित्र। उस समय आपने गिरिनार की चट्टान पर खुदे हुए सम्राट् अशोक के अभिलेखों की छापें तैयार की थीं, जो इस चित्र में देख पड़ती हैं।]

परिचय

पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द्र ओझा का जन्म विक्रमी संवत् १९२० भाद्रपद शुक्ल द्वितीया को सिरोही राज्य के रोहेड़ा गाँव में एक सहस्र औदीच्य ब्राह्मण के यहाँ हुआ। सहस्र औदीच्यों की एक शाखा सिरोही राज्य के 'गोल' नामक गाँव के नाम से गोरवाल कहलाती है। आबू के आस-पास इन की काफ़ी बस्तियाँ हैं, जिनमें बाइस प्रमुख हैं और बाइस-स्थान नाम से ख्यात हैं। ओझा जी इसी शाखा के हैं। इन के दादा का नाम पीताम्बर और पिता का हीराचन्द्र था, जो तीन भाई थे—सदाशिव, मायाराम और हीराचन्द्र। सब से छोटे हीराचन्द्र एक विद्याव्यसनी और कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। इन के चार पुत्र हुए—नन्दराम, भूर जी, ओंकार जी और गौरीशङ्कर। ६ वर्ष के होने पर बालक गौरीशङ्कर को गाँव की पाठशाला में पढ़ने बिठाया गया, जहाँ इन्हों ने ४ साल तक शिक्षा पाई, जिस में हिन्दी पढ़ना, लिखना, पट्टी-पहाड़ा और थोड़ा-बहुत हिसाब आ गया। ८ साल के होने पर यज्ञोपवीत संस्कार के बाद कुल-परिपाटी के अनुसार इन्हें शुक्ल यजुर्वेद प्रारम्भ करवाया गया। बालक की स्मरणशक्ति बहुत तीव्र थी। एक बार सम्पूर्ण वेद पढ़ लेने के बाद, ४० अध्याय एक-एक करके ४० दिन में ही आप ने अध्यापक को कण्ठाग्र कर के सुना दिये।

बालक की प्रतिभा देख कर पिता ने उसे उच्च शिक्षा दिलाने का निश्चय किया, पर घर की आर्थिक स्थिति बहुत ख़राब थी। इन के दादा पीताम्बर अच्छे व्यापारी थे। मेवाड़ के पहाड़ी प्रदेश भोमट और सिरोही राज्य के बीच सारा व्यापार उन्हीं के ज़रिये होता था। इस के अलावा वे अफ़ीम का भी व्यापार करते थे। इस से उन्हें आमदनी भी ख़ूब थी, पर उन के बाद हीराचन्द्र जी के सब से बड़े भाई सदाशिव ने भोलेपन से आगापीछा बिना सोचे ही लेनदेन में सारा रुपया बरबाद कर दिया। ऐसी हालत में सिवा यजमानी के और कोई धन्धा न रहा। स्वयं हीराचन्द्र को पढ़ने लिखने का बहुत शौक़ था। उन्हों ने बहुत-से ग्रन्थ स्वयं अपने हाथ से नक़ल कर इकट्ठे किये थे। लिखने को काग़ज़ को घोट कर चिकना करना, लाख से पक्की स्याही बनाना, घर में उपयोग के लिए दियासलाई, रंग आदि तैयार करना तथा घावों पर लगाने को नीम का मल्हम बनाना आदि सब काम ये अपने हाथ से करते। घर की हालत सुधारने को उन्होंने अपने बड़े बेटे नन्दराम को बंबई में मुनीमी करने भेज दिया था। बालक गौरीशङ्कर को भी उच्च शिक्षा दिलाने के लिए उस के बड़े भाई के पास बंबई भेज दिया गया।

राजपूताने में तब रेल न थी। उस समय के लोगों के लिए रेल एक अचम्भा था। एक बार बंबई से लौटे आप के एक मित्र ने गाँव में रेल का वर्णन यों किया था—डिब्बों को एक-दूसरे से जोड़ देते हैं, उस के आगे एक लोहे का घोड़ा होता है, जो सब को खींचता है। अस्तु, बंबई जाने को रेल पर चढ़ने के लिए इन्हें गाँव से अपने बड़े भाई ओंकार जी के साथ १६० मील पैदल चल कर अहमदाबाद पहुँचना पड़ा। इस समय आप की उम्र १४ साल की थी। पहले पहल रेल देख कर आप इतने प्रसन्न हुए कि दो घंटे तक लगातार एकटक उस के संचालन आदि की प्रक्रिया को बड़े ध्यान से निहारते रहे।

बंबई में कुछ दिनों तक एक प्राइवेट स्कूल में गुजराती सीखने के बाद गोकुलदास-तेजपाल-सेमिनरी स्कूल में भरती हुए। १७ वर्ष की उम्र में एलफ़िंस्टन-हाई-स्कूल में भरती हुए। इन्हीं दिनों सुबह-शाम विद्यालक्ष्मी-पाठशाला में संस्कृत और प्राकृत का भी अध्ययन चला करता। कालबादेवी में इन के भाई का मकान

एक छोटी-सी तंग कोठरी में था। अतः वहाँ पढ़ने की सुविधा न होने से गौरीशङ्कर मकान के सामने वागीश्वरी के छोटे मन्दिर की परिक्रमा में मिट्टी के तेल का छोटा-सा दिया बाल कर वहीं पढ़ा करते और नींद आने पर वहीं चटाई पर ही सो भी जाते। संस्कृत, अँगरेज़ी और गणित आप के ख़ास विषय थे। सन् १८८५ में २२ वर्ष की अवस्था में मैट्रिकुलेशन पास कर विलसन कालेज में उच्च शिक्षा के लिए भरती हुए। स्कूल में आप पाठ्य विषय के अतिरिक्त प्रथमाध्यापक गोडबोले से अलग भी संस्कृत पढ़ा करते थे। कालेज में आप के मुख्य विषय अँगरेज़ी, संस्कृत, गणित और विज्ञान थे। इन्टर-मिडियेट परीक्षा का पाठ्यक्रम तब एक साल का ही था। आप ने पढ़ाई में बहुत परिश्रम किया, पर ठीक परीक्षा के अवसर पर बीमार पड़ जाने से परीक्षा में बैठ न सके और आपको रोहेड़ा वापस चला आना पड़ा। इस प्रकार कालेज की पढ़ाई का अन्त हुआ। तीन महीने बाद बंबई आकर आप ने डिस्ट्रिक्ट-प्लीडरी की परीक्षा की तैयारी शुरू की, पर क़ानून पढ़ कर वकालत करने की तरफ़ रुचि न हुई। स्कूल में पढ़ते समय आप एलफ़िंस्टन स्कूल के सामने की नेटिव जनरल लाइब्रेरी में जाकर अध्ययन किया करते, और उसके मेम्बर बन गये थे। अब आप ने सुबह शाम ट्यूशन करना और बाक़ी समय एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में व्यतीत करना शुरू किया। ग्रीस, रोम आदि का इतिहास पढ़ने के बाद भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन शुरू हुआ। पुरातत्त्व-सम्बन्धी जितने ग्रन्थ उपलब्ध हुए, सब पढ़ डाले। स्व० डा० भगवानलाल इन्द्र जी के समागम से प्राचीन लिपियों के अध्ययन की तरफ़ रुचि हुई। तब प्राचीन लिपि-सम्बन्धी कोई एक पुस्तक न बनी थी। अतः आप ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर निकले प्राचीन लिपि-सम्बन्धी लेखों के आधार पर प्राचीन लिपियाँ सीखना आरम्भ किया। एक दिन डा० भगवानलाल के यहाँ पड़ी मथुरा की एक कुषण मूर्ति के नीचे खुदे एक अभिलेख को आप ने पढ़ डाला। यह देख कर डाक्टर साहेब बड़े चकित और प्रसन्न हुए। उन्हों ने इन्हें अपने गुजरात के इतिहास में सहयोग देने को कहा।

प्राचीन मुद्राओं का ज्ञान भी आप ने उक्त डाक्टर साहेब की कृपा से प्राप्त किया। डा० भगवानलाल ने अपना प्राचीन क्षत्रप मुद्राओं का सम्पूर्ण संग्रह इन्हें पढ़ने को सौंप दिया।

बंबई की एशियाटिक सोसायटी के सङ्ग्रहालय में सङ्गृहीत सभी अभिलेख प्रायः आप ने पढ़ डाले, 'रास-माला' के लेखक मि० फौर्ब्स की सङ्गृहीत प्राचीन पुस्तकों आदि की एक अलमारी थी, जिसे आप ने छान डाला। उस में राजपूत-इतिहास-सम्बन्धी कुछ हस्तलिखित पोथियाँ थीं, और आबू के शिलाभिलेखों की कुछ छापें भी पड़ी थीं, जिन्हें देखने से राजपूताने का इतिहास जानने की उत्कट अभिलाषा जागी। कर्नल टॉड की 'ऐनल्स ऐंड ऐण्टिकिटीज़ आफ़ राजस्थान' तथा 'ट्रैवल्स इन वेस्टर्न इंडिया' पढ़कर वह और भी भड़की। आप ने राजपूताना में भ्रमण कर अपने ऐतिहासिक ज्ञान को बढ़ाना चाहा, और इस के लिए आप ने पहले पहल उदयपुर को चुना।

अपने गाँव रोहेड़ा से अपनी सहधर्मिणी के साथ गोघंदा के रास्ते तीन दिन पैदल चल कर प्रथम चैत्र वदि १ संवत् १९४४ के दिन आप उदयपुर पहुँचे। उदयपुर में उन दिनों महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास जी की अध्यक्षता में वीरविनोद नामक बृहत् ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा जा रहा था। उस का अन्तिम भाग छपने भी लगा था, उक्त कविराजा और पं० मोहनलाल-विष्णुलाल पण्ड्या में पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता पर विवाद चल रहा था। दोनों ने अपने-अपने पक्ष की पुष्टि में 'पृथ्वीराजरहस्य की नवीनता' और 'पृथ्वीराज-

रासो की प्रथम संरक्षा' नामक पुस्तिकाएँ निकाली थीं। आप से दोनों का मिलना हुआ। पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता न मानने में आप कविराजा से सहमत हुए। साथ ही उक्त दोनों महानुभावों के विचारों में कुछ त्रुटियाँ आप ने सुझाईं। इस पर श्यामलदास जी आप से बहुत प्रभावित हुए और उदयपुर-इतिहास-विभाग में ही रह कर कार्य करने का आग्रह किया, बहुत कुछ ननु नच के बाद आप ने इतिहास-विभाग के सहायक मंत्री का पद इस शर्त पर स्वीकार किया कि सवारियों के दिनों में आप उदयपुर रह कर इतिहास-विभाग में कार्य करेंगे, बाक़ी समय उदयपुर-राज्य के ऐतिहासिक स्थानों में भ्रमण कर उन्हें देखने का इन्तज़ाम राज्य की ओर से हो जायगा। कुछ ही दिनों में मन्त्री की नियुक्ति मेयो कालेज अजमेर में हो जाने से आप मन्त्री पद पर नियुक्त कर दिये गये।

सन् १८९० में उदयपुर में विक्टोरियाहाल संग्रहालय खुलने पर आप उस के क्यूरेटर (अध्यक्ष) नियत हुए। वहाँ आप का किया हुआ प्राचीन मूर्त्तियों, अभिलेखों आदि का संग्रह बड़ा क़ीमती है। दूसरी सदी ई० पू० से सतरहवीं सदी ईसवी तक की सामग्री उस में विद्यमान है।

इसी समय उदयपुर के ज्योतिषी पं० विनायक शास्त्री वेताल के संसर्ग से आपकी रुचि हिन्दी भाषा की तरफ़ बढ़ी। आप ने अपने सब ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखने का संकल्प किया।

इस समय तक भारत की प्राचीन लिपियों के बारे में कोई ग्रन्थ न था। आपने सर्वसाधारण के लिए प्राचीन लिपियों का ज्ञान सुलभ करने के ख़याल से सन् १८९४ ई० में प्राचीन लिपिमाला नामक ग्रन्थ लिख कर उदयपुर में ही एक मुद्रणालय से मुद्रित करवा कर प्रकाशित किया और उसका मूल्य भी नाम-मात्र को ही रखा। ध्यान रहे कि भारतीय लिपियों के क्रमिक विकास एवं प्राचीन लिपियों को सीखने के लिए संसार में यह पहला संङ्कलनात्मक ग्रन्थ था, और वह हिन्दी में लिखा गया। जर्मनी के डा० बुह्लर का जर्मन ग्रन्थ 'इंडिश पालियोग्राफ़ी' भी इस के दो साल बाद निकला और सच पूछिए तो उसे भी प्रेरणा यहीं से मिली।

इन्हीं दिनों राजपूतों के प्रथम इतिहासलेखक कर्नल टॉड से सर्वसाधारण का परिचय कराने के ख़याल से ओझा जी ने उनकी एक जीवनी लिखी, जो खड्गविलास प्रेस, पटना में छपी। नवंबर १९०२ में लार्ड कर्ज़न के उदयपुर आने पर ओझा जी को उदयपुर के ऐतिहासिक स्थान दिखाने का काम सौंपा गया। आप की योग्यता और ज्ञान का परिचय पाकर लार्ड कर्ज़न आप से बहुत प्रभावित हुए। सन् १९०३ में दिल्ली-दरबार के समय वायसराय ने राजा महाराजाओं के अतिरिक्त उदयपुर राज्य की ओर से आप को भी अन्य प्रतिष्ठित महानुभावों में निमन्त्रित किया।

ओझा जी जब बंबई में थे, तभी से उन्हें अपनी जन्मभूमि सिरोही राज्य का कोई प्रामाणिक पूर्ण इतिहास न होना बहुत खटकता था। दिल्ली-दरबार में सिरोही के स्वर्गीय महाराव केसरीसिंह जी से भी आप की बातचीत हुई। महाराव ने कहा कि हमारा पुराना दफ़्तर तो जोधपुर वालों ने जला दिया था। अब कोई सामग्री हमारे पास नहीं है। ओझा जी इस पर हताश न हुए और धीरे-धीरे सामग्री जुटाते रहे। अन्त में अजमेर आने के बाद आप ने सिरोही राज्य का इतिहास लिख डाला। महाराव केसरीसिंह ने उस की छपाई का प्रबन्ध राज्य के ख़र्च से करवा दिया।

आप की इन पुस्तकों का विद्वानों में बड़ा मान हुआ। इस से उत्साहित होकर आप ने प्राचीन अभिलेखों आदि के आधार पर भारत के प्राचीन राजवंशों का एक इतिहास तैयार किया। इसी सिलसिले में मारवाड़ के राठोड़ों का एक इतिहास आप ने लिखा। उस के बारे में महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान जी की ज़बानी सुनकर स्वर्गीय महाराजा सर प्रतापसिंह ने उदयपुर-दरबार को लिख कर आप को जोधपुर बुलवाया और वह ग्रन्थ आद्योपान्त सुना। उक्त ग्रन्थ अब तक जोधपुरराज्य के इतिहास-कार्यालय में सुरक्षित है, और उसी के आधार पर पंडित सर सुखदेवप्रसाद ने अँगरेज़ी में मारवाड़राज्य का संक्षिप्त इतिहास लिखा है।

सन् १९०४ ई० में जब डा० ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं की पड़ताल का काम हाथ में लिया, तब उदयपुर राज्य की तरफ़ से इस सम्बन्ध की रिपोर्ट आप ने ही तैयार की। उन्हीं दिनों ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से मेवाड़ में रहने वाली जातियों के रीति-रिवाज तथा इतिहास लिखने आदि का कार्य भी राज्य की तरफ़ से आपको सौंपा गया।

उन्हीं दिनों इम्पीरियल-गैज़ेटियर-आफ़-इन्डिया बनना शुरू हुआ। राजस्थान गेज़ेटियर तैयार करने का दायित्व कर्नल अर्सकिन पर पड़ा। उन्हों ने अपनी सहायता के लिए ओझा जी को उदयपुर-राज्य से कुछ दिनों के लिए माँग कर आबू बुलाया। १९०७ में ओझा जी का सोलंकियों का इतिहास नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। कर्नल टॉड के ग्रन्थ का अनुवाद तब तक हिन्दी में न था। खड्गविलास प्रेस, पटना ने उस का हिन्दी अनुवाद करवाया, और उस पर टिप्पणियाँ लिखने का काम आप को दिया, इस के १४ प्रकरण आप की टिप्पणियों सहित प्रकाशित भी हुए, जिन में आपने कर्नल टॉड की बहुत-सी ग़लतियों को सुधार दिया।

लार्ड कर्ज़न अपनी उदयपुर-यात्रा में ओझा जी से बहुत प्रभावित हुए थे। उन्हों ने राजपूताना में पुरातत्त्व की शोध का काम चलाने, अजमेर में एक म्यूज़ियम खोलने तथा ओझा जी को उस का अध्यक्ष निश्चित करने का संकल्प किया था, पर उन्हें शीघ्र ही हिन्दुस्तान छोड़ कर जाना पड़ा। अन्त में १९०८ में लार्ड मिंटो की सरकार ने आप को मेवाड़-दरबार से माँग कर राजपूताना-म्यूज़ियम, अजमेर का क्यूरेटर नियत किया। यहाँ आकर आप ने काशी की नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में भी लिखना आरम्भ किया। इन्हीं दिनों 'भारतवर्ष के इतिहास की प्राचीन सामग्री' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका भी आप ने निकाली, जिस पर आप को नागरी-प्रचारिणी-सभा की तरफ़ से एक पदक भेंट किया गया। यहाँ आकर उदयपुर के स्व० मेहता जोधासिंह से मिल कर आप ने राजपूताने की ऐतिहासिक दन्तकथाओं का सङ्ग्रह आरम्भ किया। इस का प्रथम पुष्प खड्गविलास प्रेस, पटना से निकला, कुछ फुट कर दन्तकथाएँ वहाँ से निकलने वाली शिक्षा पत्रिका में भी निकली थीं।

१९११ के दिल्ली दरबार में आप को फिर निमन्त्रित किया गया, १९१४ में आप को सरकार की तरफ़ से रायबहादुर और १९२८ में महामहोपाध्याय की उपाधि दी गई।

१९१८ में आप ने प्राचीन लिपिमाला का दूसरा संस्करण प्रकाशित किया। १९२४ में इसी ग्रन्थ पर आप को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के दिल्ली-अधिवेशन में मंगलाप्रसाद-पारितोषिक दिया गया। १९२० से नागरी-प्रचारिणी पत्रिका को पुरातत्त्व शोध की पत्रिका का रूप दे दिया गया; और आप उस के अवैतनिक सम्पादक

वज़ीरुद्दौला राय बहादुर श्रीसिरेमल जी बापना, बी० ए०, बी० एस्-सी०,
एल-एल० बो०, सी० आई० इ०, प्राइम मिनिस्टर, इंदौर राज्य
[आप ओझा जी के होनहार शिष्य हैं। आपकी राजनीतिज्ञता और
साहित्य-प्रियता सराहनीय है।]

नियत हुए। लगातार १३ वर्ष तक आप वह सेवा करते रहे हैं। अब ७० वर्ष की अवस्था होने पर आप ने वह कार्य छोड़ा है।

१९२७ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भरतपुर-अधिवेशन के आप सभापति हुए; और १९२८ में नडियाद में गुजराती साहित्य परिषद् के इतिहास-विभाग के सभापति। १९२८ में इलाहाबाद में हिन्दुस्तानी एकाडेमी, यू० पी० की तरफ़ से आप ने 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' (६००—१२००) पर तीन महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये, जो उक्त संस्था की ओर से इसी नाम से एक पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए हैं।

ओझा जी के जीवन का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य और उन के समूचे अध्ययन और परिश्रम का फलस्वरूप ग्रन्थ आप का 'राजपूताना का इतिहास' है; जो सन् १९२४ से प्रकाशित होने लगा है। इस की उपयोगिता और प्रामाणिकता निर्विवाद है। यह आप का और राजपूताने का एक कीर्तिस्तम्भ है। अभी तक इस के ४ भाग निकल चुके हैं, जिनमें राजपूताने का प्राचीन इतिहास और उदयपुरराज्य का सम्पूर्ण हुआ है। अभी बहुत कार्य बाक़ी है, जिसे पूरा करने को आज ७० बरस की अवस्था में भी आप युवकों की सी लगन, उत्साह और तत्परता से जुटे हैं।

भगवान आप को चिरायु करें।

Mahamahopadhyaya Rai Bahadur Gourishankar Ojha

AN IMPRESSION

P. SESHADRI, M.A., *Ajmer*

Among those who have brought distinction to Ajmer in recent decades, special mention will always be made of two of her illustrious sons, Dewan Bahadur Har Bilas Sarda and Rai Bahadur Gourishankar Ojha. If the former has been very much in the lime-light on account of his social legislation in the Imperial Assembly, the latter also deserves to be equally well-known, though his has been the comparatively secluded life of a scholar and historian. It is the good fortune of Ajmer to possess two such distinguished citizens and I often imagine them as two luminous planets in the intellectual life of the capital spreading the mellow radiance of their knowledge and wisdom on those who have the privilege of coming within the orbit of their influence.

Being a new-comer to the city of Ajmer I cannot claim much of an acquaintance with Rai Bahadur Gourishankar Ojha, though his name has been familiar to me for a long time. I had heard of him at various university centres, particularly at Benares, as one who had dedicated himself to the study of Hindi and Sanskrit and whose work as an historian was of particular value to scholarship in the field of epigraphical research. Having missed the privilege of meeting

him during my first visit to Ajmer in 1929, I took occasion almost immediately on my arrival here last April to assume the Principalship of the Government College to call on him one afternoon.

As he lives in typically Indian quarters in the old part of the city, it was with some difficulty that I could get at his residence even with the help of a guide. There were lanes to be threaded after leaving the car and many narrow windings to be negotiated before actually reaching his place. There he was in the midst of his books and manuscripts, bearing undoubted marks of old age, but as full of intellectual vigour as any person who has lived solely for the privileges of scholarship. At first sight, almost instinctively, I thought of Browning's Grammarian. As deeper drooped his head and his eyes grew dross of lead, the poet tells us, his disciples begged him to rest from his labours, but

Not a whit troubled,
Back to his studies, fresher than at first,
Fierce as a dragon
He (soul-Hydroptic with a sacred thirst)
Sucked at the flagon.

We sat and talked for some time of inscriptions and monuments, books and manuscripts and all the fundamental material which constitutes the basis of history, though its nakedness is often covered by the graphic narrative of the writer. Imbued with the zeal of the real historian, Pandit Gourishankar spoke enthusiastically of dates and evidence, the details of historical facts interesting him much more than their adequate presentation to the man in the street. His face brightened up with immense satisfaction as he darted upon a correct date, or unravelled the mystery of some little allusion in an historical inscription.

He waxed indignant at some of the wrong conclusions of so-called historians ignorant of epigraphic evidence, without which he rightly held that investigation could never be complete. What impressed me most, though it did not cause any surprise, was that facts had a value in his eyes which amounted almost to religious reverence. I was reminded of the remarks of Augustine Birrell in his eassy on the Muse of History: "Facts are not the dross of history but the true metal and the historian is a worker in that metal. He has nothing to do with abstract truth, or with practical politics or with forecasts of the future……… The true historian therefore seeking to compose a true picture of the thing acted must collect facts, select facts and combine facts." Writing of the actual events of history, did not Lord Beaconsfield say in his *Coningsby*, "the least are of greater importance than the most sublime and comprehensive speculations"?

Rai Bahadur Ojha has been able to accomplish work which will be remembered for a long time. He has written a monumental history of Rajputana though unfortunately it is not available to the English-knowing public being in Hindi; he has given a powerful impetus to the cause of epigraphical research in India and the Ajmer Museum of which he is the Curator and whose valuable historical material he looks after with almost parental affection is entirely his creation. But in any enlightened country provided with better economic resources and with greater enthusiasm for the memorials of history, his talents should have received more adequate response resulting in richer fruits of his scholarship and wisdom.

It was nearly sunset when I said good-bye and as he stood in the middle of the old courtyard of his residence, he spoke feelingly of the great wealth of historical material available in Rajputana and its sad neglect by its princes and people. Dressed in picturesque Marwar costume, as the venerable figure peered at me appealingly in the failing light of the evening, his body bent down by age and his vision getting dimmer and dimmer, he seemed to symbolize the voice of the distant past, conjuring the thoughtless children of to-day to cherish their mighty inheritance with legitimate pride. Will his voice be heard, or be a mere cry in the barren wilderness of the deserts of Rajputana ?

श्रीः

गौरीशङ्करशर्म्मा ओझानामा विराजते नितराम् ।
भारतमध्ये देशे नभसो मध्ये यथा चन्द्रः ॥१॥

सोमस्तोममरीचयः किमु किमु स्वर्निम्नगावीचयः
किंवा सत्त्वगुणाचयः किमथवा कर्पूरपूर्णाचयः ।
इत्थं प्राप्तकुतूहलाभिरनिशं सानन्दमुद्वीक्षिता
देवानान्तरुणीभिरादृतमहो खेलन्ति यत्कीर्त्तयः ॥२॥

महत्तम उपाध्यायो गौरीशङ्करपण्डितः ।
पूजितो विदुषां वृन्दै राजतां राजपूजितः ॥३॥

प्राचीनधर्माचरणाद् यशस्वी
प्राचीनविद्याविमलाशयाढ्यः ।
प्राचीनलेखार्थविभासकोऽयं
जीव्याच्चिरं भारतरत्नभूतः ॥४॥

गङ्गानाथ झा शर्मा

भूलचूक

(विभाग १)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६	२७	मियाँलागी	मिथाँलागी
५९	१४	अामिषभोजि	अामिषभोजी
६०	१२	Indus	Indus script
६०	३५	Far East (1912)	Near East (1913)
६१	३८	yet	is yet
६२	१४	carried	carries
६३	८	similarlity	similarity
६३	९	of course	of course,
६५	७	probable	probably
६५	३८	India,	India, i,

(विभाग २)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	४,६	भड़ि	भीड़
२२	१६	H.	R.
२२	२०	Mankharis	Maukharis

(विभाग ३)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	२०	होता ही	होता ही,
८	१६	मनोकामना	मनःकामना
९	२९	यत्र यत्र	यत्र तत्र
९	३४	अपिषत्र	अपिवत्र
१०	४	सर ययाति नगर	्सर ययातिनगर
१२	७	है।	है कि
१२	३३	को "उल्लोल" संस्कारित देशी शब्द	वाले "उल्लोल" देशी शब्द को संस्कृत कर
१३	७	अभिवादन	अभिनन्दन
५०	८,९,१०	कोगण्ड	कोङ्गद
५०	१३ तथा अन्यत्र इस सम्पूर्ण लेख में	भोमवंश	भौम वंश
५१	३३	छष्ठ	षष्ठ
५२	२०	माधव राजाङ्कर	माधवराजङ्कर
५२	२१	जे	जे से
५३	१५	जाइ अछि	जाउअछि
५५	४,६	जगभुंग, जगभुङ्ग	जगत्तुङ्ग
५६	२१	मिलिथिब्रा।	मिलिथिबा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५७	४	पाइआछे	पाइअछि
५९	३	ठीक	ठिक
८३,८४	अनेक तत्सम शब्दों में	ज, ब	य, व
८४	१९	जाय ।	जाय,

(विभाग ४)

१८	२४	रहाठो	रहाटे
१८	३१	कलचुरके	कलचुरी
१९	१२	मोहिने	मोहिते
१९	१७	लावेड़	तावड़े
१९	२७	पाटपकर	पाटणकर
२०	१०	आरम्भ होता	होता
२१	१०	तातणीनी	तातणी
२४	५	राजद्वरीय	राजद्वारीय
२४	६	संवत्रे	संवत्सरे
२४	७	मुख्यायात्म	मुख्यामात्य
२४	१७	ने	के
२४	२१	रायपुर	रामपुर
२५	२४	तव उससे	इसी से
२६	१६	वकील की	वकील के
२६	३२	१७६७	१७६७ में
२७	१९	मराठा	अंग्रेज़
२८	४	सम्बन्धी महाराणा	तत्सम्बन्धी महाराज
२८	१६	को	से
२८	२३	तख्तसिंह	वख्तसिंह
२८	२४	१८०३	१८०३ में
२८	२५	को	की
३७	२७	ढेवावा	ठेवावा
३८	३३	इतिहासांत महाराजांच्या	इतिहासांत शिवाजी महाराजान्च्या
४०	१३	लुटण्यान	लुटण्यात
,,	१५	दिलीरखान पैकी	दलीरखान या पैकीं
,,	३२	हत्याप्रमाणें	हप्त्याप्रमाणें
४१	१०	का	कीं
४२	१४	चमूद	नमूद
,,	२८	नण्याकरिता	नेण्याकरितां
४३	९	महारानीं	महाराजानीं
४४	३३	उगवन	उगवून

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५	२३	ताव्यांद	ताव्यांत
४६	४	निचाच	तिचाच
,,	२३	समजलें जातें	समजलें जात
४९	२१	स्वानया	स्वारथ्या
,,	२३	जुन्या नांवाखालीं	नांवाखालीं जुन्या
,,	३१	ढपलेला	ठरलेला
४९	३३	१७२४	१७२१
,,	,,	१७३९	१७२९
५०	१९	खळवळले	खवळले
,,	२१	ह्योवांचेंही	दोघांचेंही
,,	२९	चौथसरशमुखीचो	चौथसरदेशमुखीची
५१	१३	१७५७	१७५९
५१	२६	ह्यानीघेतली	ह्यातीं घेतली
५२	१८	पुढें	पुढें सबसिडियरी अलायन्स
५२	२१	साय	साध्य
५३	४	डोले	डोळे
५३	२०	दधिक्ता	दधिक्रा
,,	२३	वापरीति	वापरीत
,,	२८	तेयें	तेथें
५४	१८	विधेची	विद्येची
५६	१७	मुक्तीचा	युक्तिचा
५७	२२	सुद्ध	युद्ध
५८	१	शीच	तशीच
,,	५	सेष	ऐष
,,	११	द्यावीद्ध	द्यावी
,,	१२	उदवलेल्या	उद्भवलेल्या
५९	३३	सोते	होते
६०	३०	उबाघईस	डबघईस
,,	३२	हें	नुकसान होईल हें
६१	२९	लावकीप्रमाणे	लायकीप्रमाणें
६२	७,८	योडयाच	थोडयाच
६२	९	आपतया	आपल्या
६२	२७	पद्यत	पद्धत
६३	३	एकच्या	एकट्या

(विभाग ६)

८	८,११	संवर्पण	समवसरण
९	६	my	may
९	१८	Mahendraverman	Mahendravarman

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	२९	*Pravibhajya*	*pravibhajya*
१०	३	*i.e.*	(*i.e.*
१०	१८	Chandraparbha	Chandraprabha
१४	४	bhūmī	bhūmi
१४	१७	daṇḍ	daṇḍa
१४	३२	Jaina	Jaina paintings

(विभाग ७)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	३४	sort	soil
२१	२०	her	her son
२१	२५	Kings	kings
२२	२१	पयोधिम्याम्	पयोधिभ्याम्
२२	२१	श्रीरिवासिता	श्रीरिवामिता

(विभाग ८)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	७	महा ११४	(महा ११४)
११	१५	मधुमति	मधुमती
११	२१	मा हि् ष्म ति	मा हि् ष्म ती
११	२४	विहित	विहितं
११	३०	सावंतुं कैवृत्त:	सार्वर्तुकैर्वृत:
१२	५	वसमात्त	व समात्त
१२	५	कुन्ति	कुन्ती
१२	६	कांतिमति	कान्तिमती
१३	१९	खट्वांगानाम	खट्वांगां नाम
१३	२०	भष्टांच	भ्रष्टां च
१३	२३	तोर्थमनाडुहंनाम	तीर्थमानडुहं नाम
१३	३१	सन्नदे:	सन्नादै:
१३	३२	सोवितं	सेवितं
१४	२३	देशाची	देशांची
१५	८	ह्याहुन्नूर	ह्या हुन्नर
१५	३०	जमदग्नीचा ता	जमदग्निची तो
१६	११	अनडुह	अनडुह्
१६	१६	एकत्र	एकच
१७	२९	१९०	सन् १९०४
१८	१९	ओख	ओरंब

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDAL
LIBRARY
Jangamwadi Math, Varanasi
ACC No. 8496